अर्जुन
सचित्र-साप्ताहिक
श्रद्धानन्द अंक
वीर श्रद्धानन्द
वार्षिक मूल्य ३॥]
सम्पादक— { इन्द्र विद्यावाचस्पति
कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार
[एक अंक का मूल्य -)

विषय-सूची

अर्जुन

रविवार, ता० २४ दिसम्बर १६३४ ई०

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्

विश्वास का पुजारी

लोग प्रायः आश्चर्य किया करते हैं कि स्व० श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी अपने लगभग ४५ वर्ष के जीवन में इतनी भिन्न-भिन्न संस्थाओं में कार्य कैसे किया? फिर वह भिन्न-भिन्न संस्थायें भी ऐसी कि एक दूसरे से सर्वथा अलग और कहीं-कहीं परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं।

एक समय ऐसा था कि दिल्ली की प्रसिद्ध जामा मसजिद के मिम्बर पर व्याख्यान के लिये खड़ा करके दिल्ली के मुसलमानों ने एक आर्य संन्यासी को अद्भुत सम्मान दिया था। दूसरे समय उन्हीं दिल्ली के मुसलमानों ने उसी आर्य-संन्यासी को इस्लाम का कट्टर दुश्मन समझा, यहां तक कि उन्हीं में से एक ने उन्हें अपनी गोली का निशाना बना दिया। यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है कि प्रेम से प्रेम और द्वेष से द्वेष की भावना पैदा होती है। पहली घटना सूचित करती है कि श्री स्वामी जी को मुसलमानों से इतना प्रेम था कि मुसलमान उन्हें अपना लाडला नेता समझते थे, तो दूसरी घटना से प्रतीत होता था कि मुसलमानों के चित्त में उनकी ओर भयानक अविश्वास का भाव पैदा हो चुका था।

एक समय हम श्री स्वामी जी को आर्यसमाज के प्रचार कार्य में सम्पूर्ण शक्ति का व्यय करते देखते हैं, तो दूसरे समय उन्हीं को हम आर्यसमाज के क्षेत्र को अत्यन्त संकुचित बतला कर उससे असन्तोष प्रकट करता हुआ पाते हैं।

एक समय आता है कि श्री स्वामी जी कांग्रेस के अग्रणियों में गिने जाते हैं। मार्शल-ला की गहरी चोट से व्याकुल पंजाब में कांग्रेस का अधिवेशन करना श्री स्वामी जी का ही काम था। वह उस समय महात्मा गांधी की दाईं भुजा समझे जाते थे। कुछ वर्ष पीछे उनके हृदय में कांग्रेस कार्यक्रम असन्तोष पैदा हुआ तो उससे त्यागपत्र देकर अलग हो गये।

आपने दलितोद्धार सभा बनाकर हरिजनोद्धार का श्रीगणेश किया। जब आगरा में शुद्धि का कार्य प्रारम्भ हुआ तो आप वहां गये और शुद्धि की बागडोर को सम्भाला। गुरुकुल विश्वविद्यालय के लिये आपने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया। परन्तु जब देखा कि उसके संचालकों की और उनकी नीति पर मतभेद है तो गुरुकुल को छोड़ कर दिल्ली चले आये। जब शुद्धि-सभा के कार्य को अनुदार धारा में बहते देखा तो उसे भी छोड़ कर समाज-सेवा का स्वाधीन मार्ग ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री स्वामी जी ने अनेक पहले से विद्यमान संस्थाओं के साथ कार्य किया, अपने ढंग पर कार्य करने के लिये कई नई सार्वजनिक संस्थाओं का निर्माण किया और समय आने पर उन संस्थाओं को छोड़ कर दूसरे क्षेत्र में प्रवेश करने में भी संकोच नहीं किया।

एक पक्षपात-हीन दर्शक, जिसने श्री स्वामी जी के व्यक्तित्व को भली प्रकार नहीं समझा है इस विवेचना से घबरा उठेगा और सोचेगा कि शायद उनके जीवन में, और विचारों में अस्थिरता का अंश काफी था परन्तु असलीयत यह नहीं है। इस अनेक संस्था-विचरण की घटना की तह में कौनसी वस्तु काम करती है यह जानने के लिये हमें यह देख लेना चाहिये कि श्री स्वामी जी के सम्पूर्ण सार्वजनिक जीवन का प्रेरक कारण और पथ-प्रदर्शक कौनसा सिद्धान्त था, और उनके कार्य करने का ढंग क्या था?

श्री स्वामी जी के सारे सार्वजनिक जीवन को हम एक ही लक्ष्य की पूर्ति के लिये एक लम्बी जुस्तजू कर सकते हैं। वह लक्ष्य क्या था? श्री स्वामी जी का विश्वास था कि आर्य-जाति और आर्यावर्त का भविष्य बहुत उज्ज्वल और आशामय है। वह आर्य-जाति को ज़रूर निर्दोष देखना चाहते, संसार में बसने वाली अन्य जातियों के बराबर का देखना चाहते थे। आर्यावर्त को अपनी मातृ-भूमि समझने वाली जाति उनके लिये आर्य-जाति थी, इस प्रकार उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य आर्य-जाति और आर्यावर्त को प्रबल और स्वाधीन बनाना था।

इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये ही उनका सारा जीवन व्यतीत हुआ। जिधर उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई, उधर ही वह झुक पड़े। जो निर्बलता उन्हें सबसे अधिक हानिकारक मालूम हुई, वह उसी के निवारण के लिये लग गये, संस्था को ग्रहण किया और छोड़ा। नई संस्थायें बनाईं और त्याग दीं। यदि उन्होंने किसी संस्था को अपने लक्ष्य की पूर्ति में सहायक पाया तो उसे अपना लिया, और यदि उसे निकम्मा पाया तो छोड़ दिया। वह संस्थाओं के गुलाम नहीं थे, संस्था उनके लिये साधन थी, उद्देश्य थी। उनका व्यक्तित्व इतना बड़ा था, कि वह किसी एक संस्था के डिब्बे में बन्द नहीं किया जा सकता था। वह संस्थाओं के बन्धनों से अधिक महान थे। संस्थायें उनकी औज़ार थीं, वह संस्थाओं के औज़ार नहीं थे।

उनके जीवन का यही लक्ष्य था कि आर्य-जाति अपने सब दोषों को भस्मप्राय करके गौरव और स्वाधीनता के ऊंचे पद पर विराजमान हो। यह उनका विश्वास था कि आर्य-जाति का भविष्य चमकीला है। इस विश्वास पर उन्होंने अपनी सारी शक्ति, सारी सम्पत्ति और सारी विभूति को लगा दिया। यह उनकी विशेषता थी। वह कभी आधे दिल से किसी वस्तु को अनुभव नहीं करते थे। जब अनुभव करते थे तो पूरे दिल से, और जब उसके लिये प्रयत्न आरम्भ करते थे तो सारी शक्ति से। जिस संस्था में काम किया, सारी शक्ति लगा कर किया। जब उसे असमर्थ पाकर छोड़ा तो पूरी तरह छोड़ दिया, क्योंकि उनका लक्ष्य वह संस्था नहीं था, अपितु आर्य-जाति का विशाल भविष्य था।

बात यह है कि वह विश्वास के बन्दे थे। जो लोग विश्वास की महिमा को नहीं जानते, उन्हें स्वामीजी का जीवन परस्पर विरोधों से पूर्ण दिखाई देगा, परन्तु वस्तुतः उसमें एक सुन्दर समानता पाई जाती है। जब मुसलमान स्वामी जी से प्रेम करते थे, तब उनके हृदय में आर्यत्व से कुछ कम प्रेम नहीं था, और जब मुसलमान उनकी जान के प्यासे थे, तब उनके हृदय में इस्लाम से शत्रुता नहीं थी। वह जिस समय जैसा अनुभव करते थे, वैसा ही कहते और वैसा ही करते थे। भय उन्हें किसी भाव को प्रकट करने या कार्य को कर डालने से नहीं रोक सकता था। संसार को वह अपने विश्वास पर ठुकरा सकते थे, यही कारण था कि सामान्य विवेचक को उनके जीवन में परस्पर विरोध दिखाई देता है, क्योंकि सामान्यविवेचक का दिमाग संस्थाओं की सीमा को पार नहीं कर सकता, वह संस्था को साधन नहीं, लक्ष्य ही मानता है। जो व्यक्ति संस्था और आदर्श में भेद नहीं कर सकता, वह श्री स्वामी जी के जीवन के रहस्य को भी नहीं जान सकता।

सम्पादकीय विचार

हिन्दुस्तानियों के लिये स्थान नहीं

दक्षिण अफ्रीका के हिन्दुस्तानी निवासियों की स्थिति बिगड़ती ही जा रही है। कहने को तो दक्षिण अफ्रीका और ब्रिटिश साम्राज्य के राजनीतिक संसार को यही विश्वास दिलाते हैं कि भारतवासियों और गोरों में भेदभाव कम हो रहा है और परस्पर विरोध कम हो रहा है। उस दिन दक्षिण अफ्रीका के प्रसिद्ध राजनीतिक जनरल स्मट्स ने इङ्गलैंड से व्याख्यान देते हुए कहा था कि "यह संसार तभी रहने योग्य हो सकता है, यदि इस में निवास करने वाले पुरुष और स्त्री स्वाधीन हो

सकें, उन्हें केवल क्रिया और भाषण की ही स्वाधीनता न हो परन्तु एक सुखी जीवन व्यतीत करन का भी सुअवसर प्राप्त हो' कितना सुन्दर वाक्य है, परन्तु दक्षिण अफ्रीका में रहन वाले भारतवासियों के साथ गोरे निवासियों की ओर से जो सलूक हो रहा है, उसे देखें तो वह कितना भद्दा है। पुरानी शिकायतें तो अभी चली ही जाती हैं, वर्षों की लीपापोती से भी वह दूर नहीं हुई। नई बात यह है कि जौन्सबर्ग मे लारी चलाने वाली एक कम्पनी को लाइसेन्स देने वाले महकमे न सूचना दी है कि केवल उन्हीं कम्पनियों को लारी चलाने का लाइसेन्स दिया जा सकता है जो दो तरह चलावें। एक फर्स्टक्लास कहलायेंगी और दूसरी सैकण्ड क्लास। फर्स्ट क्लास पर स्पष्ट शब्दों मे लिखा होना चाहिये कि वह केवल गोरों के लिये है और सैकेन्ड क्लास पर लिखा होना चाहिये कि वह कालों के लिये है। गोरों की लारी या कार में काला आदमी न बैठ सकेगा। जनरल स्मटस का पेश किया हुआ आदर्श कितनी सुन्दर रीति से व्यवहार मे लाया जा रहा है। एक लेखक ने कहा है कि बड़ा राजनीतिज्ञ वह है जो कहे वैसा जैसा कहना चाहिये और करे वैसा जैसा करना चाहिये। जनरल स्मटस भी बहुत बड़े राजनीतिज्ञ हैं। बात यह है कि भारतवासी जब तक अपने देश मे ही राजनीतिक गुलाम हैं, तब तक उन्हें देश से बाहिर स्वतन्त्र पुरुषों के से सलूक की आशा नहीं रखनी चाहिये। ब्रिटिश साम्राज्य मे हो या उसके बाहिर भारतवासी केवल तभी सम्मान की दृष्टि से देखे जायेंगे जब अपने देश मे वह सम्मानित होंगे। जब तक वह देश मे परतन्त्र है, तब तक मान लेना चाहिये कि पृथ्वी पर किसी देश में भी उनके लिये आदर का स्थान नहीं है।

हैदराबाद और आर्यसमाज

गत सप्ताह ही में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री नारायण स्वामी जी ने हैदराबाद रियासत और आर्य समाज के सबन्ध में दो वक्तव्य प्रकाशित किये हैं। हमें वह दोनों ही परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। एक बयान में आपने आर्य-जगत् को विश्वास दिलाया था कि अब उस रियासत में आर्य समाज के प्रचार कार्य पर कोई पाबन्दी नहीं रही। दूसरे बयान मे आप फरमाते हैं कि प० रामचन्द्र आर्योपदेशक और प० चन्द्रभान जी उपदेशक के सम्बन्ध मे देशनिकाले की जो आज्ञायें दी गई थीं वह अभी तक वापिस नहीं ली गई। रियासत मे आर्यसमाज पर रुकावटों के सम्बन्ध में वर्तमान आन्दोलन का अन्त प० रामचन्द्र जी के नियोग और फिर पाबन्दी लगने से ही तो हुआ था। वह पाबन्दी जैसी की तैसी विद्यमान है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अब रियासत में आर्यसमाज के प्रचार पर कोई पाबन्दी नहीं रही यह ठीक है कि अभी उस दिन सार्वदेशिक सभा के कुछ अधिकारी रियासत में गये थे और उन्होंने मोक्ष परमात्मा के स्वरूप और डार्विन के विकासवाद पर कुछ व्याख्यान दिये थे, जिन्हें रियासत ने नहीं रोका परन्तु उससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि रियासत में आर्यसमाज के प्रचार पर कोई पाबन्दी नहीं लगाई गई। उपदेशकों पर पाबन्दी लगाई गई थी और वह अब तक विद्यमान है। हमारी राय मे तो सार्वदेशिक सभा ने आर्यजगत् को निराधार आश्वासन देने में बड़ी भूल की है। आर्यसमाज के प्रचार पर बाधा पड़ने से जो उत्साह और आवेश आर्यसमाज में पैदा हुआ था वह तो झूठे आश्वासन के जल से शान्त हो गया, और जो पाबन्दियां थीं, वह अब तक विद्यमान हैं। यदि सार्वदेशिक सभा के महानुभाव हमें यह बतला सकें कि हैदराबाद रियासत में वह कौन कौनसी पाबन्दियें आर्य समाज के प्रचार पर थीं, जो अब हटाली गई हैं तो हम उनके कृतज्ञ होंगे। हम तो समझते हैं कि कानूनी तौर पर खास आर्यसमाज पर पहले भी कोई पाबन्दी नहीं थी जो हटाई गई हो और व्यवहार में आर्य समाज पर जबरदस्त पाबन्दी लगाई गई थी, जो अब तक विद्यमान है। या तो आन्दोलन निर्मूल था, या आश्वासन निराधार है।

सम्मेलन का सभापतित्व

महात्मा गांधी इन्दौर में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन का सभापतित्व स्वीकार नहीं कर सके, अब स्वागतसमिति ने पूज्य मालवीय जी का निर्वाचन किया है। समस्त हिन्दी संसार इस निर्वाचन का स्वागत करेगा। पूज्य मालवीयजी के हिन्दी पर बड़े उपकार हैं। महात्मा जी से दूसरे दर्जे पर यदि भारत के किसी नेता ने हिन्दी प्रचार को अपना विशेष लक्ष्य बनाया है, तो वह मालवीय जी हैं, हम इस चुनाव का अभिनन्दन करते हैं।

शेखावाटी के समाचार

शेखावटी में किसानों पर जमींदारों के अत्याचारों के जो समाचार आ रहे हैं वह सनसनी पैदा करने वाले हैं। आश्चर्य है कि जयपुर की रियासत इस विक्षोभ को दबाने में बहुत सफल नहीं हुई। जयपुर के शासन में कहीं न कहीं कोई पेच अवश्य ढीला है। नहीं तो वहां प्रजा के परस्पर संघर्ष की घटनाओं का ऐसा तांता न लगा रहता। हमारे कुछ आलोचकों ने लिखा है कि हम ठिकानेदारों के अत्याचारों की कहानी को बढ़ा कर प्रकाशित कर रहे हैं। सम्भव है, हमारे संवाददाता के भेजे हुए समाचारों में किसी हद तक अत्युक्ति हो परन्तु हमें जो प्रतिवाद प्राप्त होते हैं, उन्हें हमने कहीं अधिक अयुक्तिपूर्ण पाया है। प्रजा के दो हिस्सों में देर तक ऐसा झगड़ा बना रहे और एक हिस्सा दूसरे हिस्से पर ज्यादती करता रहे, यह रियासत के शासन पर गहरा धब्बा है। जयपुर के शासक को किसी श्रेणी का पक्षपात न करके न्याय करना चाहिये। जबरदस्त तो अपनी रक्षा स्वयं कर सकता परन्तु निर्बल तो अपनी रक्षा के लिये शासक का मुंह ताकता है। शेखावाटी के किसान भी निर्बल होने के कारण शासक की बाट जोह रहे हैं, हमें आशा है, कि जयपुर के शासकों की नींद खुलेगी और वह निर्बल की रक्षा के लिये अपना हाथ बढ़ायेंगे। निर्बल की आह बहुत बुरी होती है, वह बड़े-बड़े विशाल पर्वतों को गिरा देती है। जयपुर रियासत के कर्णधारों को शीघ्र ही सचेत होना चाहिये।

अश्लीलता के विरुद्ध जिहाद

सङ्गीत और चित्रकला मनुष्य के हृदय के उच्चतम उद्गार हैं। मनुष्य अपने हृदय के भावों को जब उनके सुन्दर और उग्र रूप में प्रकाशित करना चाहता है, तब संगीत और चित्र कला का प्रयोग करता है। यही कारण है कि जिन व्यक्तियों ने परमात्मा या प्रकृति की सुन्दरता में अपने को तल्लीन कर दिया है, वह संगीत और चित्र द्वारा ही अपने हृदय को सम्मुख प्रकाशित करते हैं।

आश्चर्य की बात यही है कि मनुष्य के उच्चतम भावों को प्रकाशित करने का जो उपाय है उसी को मनुष्य अपने गन्दे और नीच भावों के कारण कलुषित कर देता है। यह समाचार पढ़ कर चित्र और सङ्गीत से प्रेम रखने वालों को हर्ष होगा कि भारत-सरकार असेम्बली में शीघ्र ही ऐसा कानून पेश करेगी, जिससे समाचार-पत्रों, हैण्डबिलों अथवा पोस्टरों द्वारा ही निकाले गये अश्लील विज्ञापन बन्द हो जायेंगे। इससे आशा है कि गन्दे फिल्मों का प्रचार रुक जायेगा, और फिल्म बनाने वाली कम्पनियां गन्दे फिल्म बनाने बन्द कर देंगी। आशा है, इस नये कानून से एक उपयोगी कारीगरी, जो शिक्षा की सहायिका हो सकती है, वह जनता की गिरावट का कारण बनने से बच जायगी।

—:—

दयालु-हृदय श्रद्धानन्द

(ले०—श्री० सी० एफ० एन्डरूज)

श्री सी० एफ० एण्डरूज

स्वामी श्रद्धानन्द मेरे घनिष्ठ मित्र थे। जितना प्रेम मैं उन्हें करता था, उतना बहुत कम को इस जीवन में मैंने किया है।

हमारी मित्रता में कभी अन्तर नहीं आया। स्वामी जी के श्रेष्ठ चरित्र की महत्ता के कारण ही उनके प्रति मेरा प्रेम इतना सच्चा और गहरा हुआ। स्वामी जी भी मुझे स्नेह करते थे—यह जान कर मुझे बहुत हर्ष होता था।

इस बलिदान दिवस पर मुझे कुछ लिखने के लिये कहा गया है। आज मैं वर्धा में महात्मा गान्धी के साथ बैठा हुआ हू। आज मै उस दिन के बाद के पिछले २० सालों पर दृष्टि-निक्षेप कर सकता हू, जिस दिन मैंने महात्मा गान्धी को अपने मित्र महात्मा मुन्शीराम का परिचय दिया था। हम उस समय दक्षिणी अफ्रीका में थे। गुरुकुल और महात्मा मुन्शीराम के प्रति मेरे उत्साह पर महात्मा गान्धी मुस्कराये थे। वह भी उस समय की प्रतीक्षा में थे, जब कि वह गुरुकुल पहुच कर उस महान् आत्मा के दर्शन का आनन्द स्वयं उठावें। हम दोनों ने एक-दूसरे को वचन दे दिया था कि यदि सम्भव हो, तो हम दोनों इकट्ठे ही महात्मा मुन्शीराम का दर्शन करें।

इस वार्षिक पुण्य-तिथि पर मैं जो सन्देश देना चाहता हू, वह बहुत ही सरल है। मुझे आशा है कि यह आर्य-समाज के प्रत्येक सदस्य तक और उनके द्वारा शेष भारत तक पहुच जायगा। मैं तो यह भी चाहता हू कि यह सन्देश उससे भी पर—बृहत्तर भारत तक—समुद्रों से पार—पहुच जाय, जहा सुन्दर कार्य करते हुए मेरे अनेक आर्य-समाजी मित्र विद्यमान हैं, जो मुझे केवल इसलिये प्रेम करते हैं, क्यों कि मैं स्वामी जी को प्रेम करता था।

मेरा सन्देश यह है कि स्वामीजी का हृदय बहुत दयालु था। जब भी दरिद्रों, दलितों और विपत्तिग्रस्तों के नाम पर उनसे अपील की जाती थी, तो उनका हृदय द्रवित हो जाता था। इस लिये इस वार्षिक स्मृति के दिन स्वामी जी को प्यार करने वालों में से प्रत्येक के हृदय मे पहला विचार यही उठना चाहिये कि वह दरिद्रों की सेवा करे, जिन्हें वह प्रेम करते थे। सबसे अधिक हमें उन हरिजनों की—परमात्मा के पुत्रों की—चिन्ता करनी चाहिये, जिनके लिये उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया था।

म० मुन्शीराम का भव्य दर्शन

"एक महान् भव्य और शानदार मूर्ति जिस को देखते ही उसके प्रति आदर का भाव पैदा होता है, हमारे आगे हम से मिलने के लिये आती है। आधुनिक चित्रकार ईसा मसीह का चित्र बनाने के लिए उसको अपने सामने रख सकता है और मध्य-कालीन चित्रकार उसको देख कर सन्त पीटर का चित्र बना सकता है। यद्यपि उस मछियार की मूर्ति की अपेक्षा यह मूर्ति कहीं अधिक भव्य है, प्रभावोत्पादक है।"

—रम्जे मैकडानल्ड

अमर बलिदान

(ले०—राष्ट्रपति बा० राजेन्द्रप्रसाद)

श्री० बा० राजेन्द्रप्रसाद

स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी के आदर्श जीवन मे बलिदान की भावनाएं प्रारम्भ से ही व्यक्त हो चुकी थीं। उनके द्वारा स्थापित किया गया 'गुरुकुल' देश की सब से पहले स्थापित की गयीं सस्थाओं में से वह महान सस्था है जिसे सार्वजनिक सहयोग भली-भांति प्राप्त है और देश के विद्यालयों में आज वह एक सफल राष्ट्रीय विद्यालय है। हिन्दी भाषा तथा साहित्य मे स्वामी जी को विशेष अभिरुचि थी। आर्यसमाज के महान स्तम्भ होते हुए स्वामी जी ने अस्पृश्यता निवारण के प्रोग्राम को केवल अपनाया ही नहीं था वरन उसे कार्यरूप में भी परिणत किया था। सामाजिक सुधारों के कार्यों को उन्हो ने निर्भयता पूर्वक अपने हाथों मे लिया। वास्तव में वह अग्रगण्य समाज सुधारक थे। शुद्धी-आन्दोलन पर तो उन्होंने अपना अमूल्य जीवन ही न्यौछावर कर दिया। उनके साहसी तथा प्रतिभाशाली जीवन की अपेक्षा उनकी चिरस्मरणीय मृत्यु (अमर बलिदान) देश के युवकों के लिये कहीं अधिक उत्साह वर्धक सिद्ध होनी चाहिये।

—:—

योग्य देश-भक्त

(ले०—श्री गोपालकृष्ण देवधर, प्रधान—सर्वेण्ट्स आव इण्डिया)

स्वामी श्रद्धानन्द जी मेरे निजी मित्र थे और जब उनका गुरुकुल कांगड़ी आरम्भिक अवस्था मे ही था, तभी सन १६०४ मे मुझे उनके साथ रहने का दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ था। स्वामी जी ने अपना जीवन देश की सेवा पर निछावर कर दिया था और इसी कारण उनके जीवन तथा कार्य के विषय मे लिखते हुए मुझे प्रसन्नता होती है। स्वामी जी के विषय में अपने निजी घनिष्ठ ज्ञान के आधार पर कह सकता हू कि उनका जीवन आदर्श था तथा धार्मिक और सामाजिक सुधारो के लिये उनका उत्साह भारत के एक योग्य देश-भक्त पुत्र के अनुरूप ही था।

मैं श्रद्धानन्द बलिदान-जयन्ती उत्सव का पूर्ण सफलता चाहता हू।

—:—

स्वामी जी का मिशन आर्य-समाज के आदि सिद्धान्तों से ऊंचा उठ कर उस स्थान पर पहुच चुका था कि जहां पर समाज नाम का मर्ज रहता ही नहीं।

ओ दुर्गम पथ के नवगामी !

—:*:—

(१)

ओ दुर्गम पथ क नवगामी !
ओ महामहिम ! ओ निष्कामी !
ओ वन्दनीय ! ओ कृती, कुशल !
ओ अग जग क हित हितकामी !

(२)

सून बीहड में यह उपवन !
थी लगन तुम्हारी लासानी।
वह जन-सेवा वह जग-सेवा !
हे तन--मन--धन सरवस दानी !

(३)

अनमोल पलों का मोल न था—
हो गई सुम्नों की पामाली।
सर्व त्याग—त्याग की सीमा थी—
यह रम्य वाटिका थी पाली।

(४)

अध-खिली कली देखी, देखी
दुनिया विस्मय मे सकुचानी।
था तुम्हें मोद, हाँ, तोल न थी
हो गया हृदय पानी-पानी।

(५)

पर उसी समय तुम चले गये,
कर दी कैसे यह नादानी ?
या देवों को इस उपवन की
सुषमा दिखलाने की ठानी ?

(६)

सौरभ पराग से फूलों के,
अब फल रही डाली--डाली।
है शोक यही, तुम यहाँ नहीं,
ओ नन्दन कानन के माली !

(७)

उस ओर तुम्हारी करुणा को,
हम देख रहे है अन्त नहीं।
इस ओर कहें क्या, लज्जित हैं,
'क्या कहें' यही तो ज्ञात नहीं।

(८)

विनिमय थोड़ा भी कर पाते—
इतना साहस सामर्थ्य कहाँ ?
चिर-ऋणी बन हैं फिर बोलो,
कुछ बोल सकें यह समय कहाँ ?

—द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'।

— -——::————

राष्ट्रीय मनोवृत्ति का निदर्शन

स्वामी जी का एक पत्र

२४ सितम्बर १९२०

गुरुकुल
१० आश्विन, १९७७

श्रीमान् लाला रामकृष्ण जी प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,

नमस्ते!

इस समय मेरी सम्मति में असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि के भविष्य का निर्भर है। यदि यह आन्दोलन असफल हुआ और महात्मा जी को सहायता न मिली तो देश को स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जाति के जीवन और मृत्यु का प्रश्न हो गया है।

इसलिए मैं इस काम में शीघ्र ही लगना चाहता हूँ। यदि आपकी सम्मति में इस काम में लगने के लिये मुझे गुरुकुल व आर्य समाज के अन्य कामों से अलग होना चाहिए तो मैं सब काम आप के अधीन करके मैं पृथक् हो जाऊँगा। इस कार्य से रुक नहीं सकता, मुझे यह काम इस समय सर्वोपरि दिखता है।

आपका
श्रद्धानन्द

उक्त पत्र स्वामी जी ने गुरुकुल कांगड़ी से आर्य प्रतिनिधिसभा के प्रधान श्री रामकृष्ण जी को लिखा था। उन दिनों आप गुरुकुल के मुख्यअधिष्ठाता थे और महात्मा गांधी के चलाये हुए असहयोग आन्दोलन को राष्ट्र के लिये जीवन मरण का प्रश्न समझकर आपने प्रधान जी को अपने निश्चय की सूचना दी थी।

इस पत्र से स्वामी जी की राष्ट्र के प्रति उच्च भावना व कर्तव्य बुद्धि का अच्छा परिचय मिलता है।

यह पत्र अर्जुन कार्यालय से प्रकाशित "स्वामी श्रद्धानन्द" से लिया गया है।

सत्य और श्रद्धा का मूर्तरूप
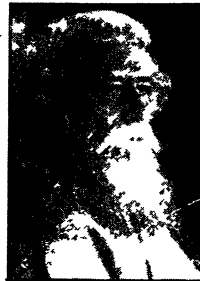
मृत्यु के ऊपर विजय

(ले०—कविवर रवीन्द्रनाथ)

हमारे देश में जो लोग सत्याग्रह करने के अधिकारी हैं और जिनमें उस व्रत का प्राणपण से पालन करने की शक्ति है, उनकी संख्या बहुत कम है। इसलिये देश की यह दुर्गति है। जहां इस प्रकार का चित्त-दैन्य है, वहां स्वामी श्रद्धानन्द के सदृश वीर की मृत्यु कितनी शोकप्रद है। इसके वर्णन की कोई आवश्यकता नहीं। इस में एक बात है, जिनकी मृत्यु जितनी ही अधिक शोचनीय हो, उसी परिमाण में उनके चरित्र और प्राण की महत्ता प्रकट होती है। इतिहास में यह दिखलाई देता है कि जो पुरुष अपना सर्वस्व अर्पण करके कल्याण व्रत को अर्पण करते हैं, उन्हीं के ललाट में अपमान और अपमृत्यु विजय की टीका लगा देती है। महापुरुष आते हैं, प्राण को मृत्यु के ऊपर विजयी करने के लिये, हमारे सत्य को जीवनी की सामग्री बनाने के लिये। खाद्य-द्रव्य में प्राण-संचार करने का जो उपकरण करता है, वही आयु और वैज्ञानिक के परीक्षागार में भी विद्यमान है। किन्तु जब तक उद्भिद और प्राणी वर्ग में वह प्राण-संचार का उपकरण सजीवता का आकार धारण नहीं करता, तब तक प्राणों की पुष्टि नहीं होती। सत्य के सम्बन्ध में यही बात लागू होती है। केवल बातों ही बातों से उस सत्य सम्बन्ध को जीवन-गत कर लेने की शक्ति कितने आदमियों में है? सत्य को बहुत लोग जानते हैं, लेकिन उसे मानते वे ही मनुष्य हैं, जो विशेष शक्तिवान हैं। प्राण देकर सत्य का पालन करने ही से हम उसे सार्वजनिक धरोहर के रूप परिणत कर देते हैं। यह मानना ही बड़ी शक्ति का काम है। जो लोग इस शक्ति की सम्पदा को समाज के अर्पण करते हैं, उनका दान अमित है। सत्य के प्रति निष्ठा रखने का यह आदर्श स्वामी श्रद्धानन्द इस दुर्बल देश को दे गये।

अपनी साधना का परिचायक (सन्यास आश्रम का द्योतक) जो नाम उन्होंने ग्रहण किया था, वही नाम (श्रद्धानन्द) उनके जीवन में सार्थक हो गया। सत्य में उनकी असीम श्रद्धा थी। इस श्रद्धा में सृष्टि-शक्ति है। इस शक्ति द्वारा अपनी साधना को उन्होंने रूपमूर्ति दी है, और उसे वे सजीव कर गये हैं। इसलिये उनकी मृत्यु ने आलोक के समान प्रज्वलित होकर उनकी श्रद्धामयी, भयहीन, कान्तिमान, अमृतछवि को उज्ज्वल करकेप्रकाशित किया।

(यह उद्गार कविवर ने स्वामी जी के बलिदान के अवसर पर प्रकट किये थे। —संपादक)

आर्य संस्कृति का निर्माता

धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परतन्त्रता का शत्रु

(ले० श्री कोंडो वकटपय्या, मुंगेर)

— —

श्री कोंडा वकटप्पया

हमारे राष्ट्रीय नताओं की श्रेणी में स्वामी श्रद्धानन्द का महत्व विशेष स्थान रखता था। की शक्ति अनन्त थी और व्यक्ति महान था। उनकी रग-रग में भक्ति की भावना भरी हुई थी। होंने अपना सारी ... ...क। चारित्रिक ... मातृभूमि की सेवा लगा दिया। आर्य समाज स्वामी के अनथक परिश्रम व लगन के सदैव कृतज्ञ रहेगा।

स्वामी जी के जीवन का एक उद्देश्य था, भारतवर्ष के युवकों चरित्र की पवित्रता सिखा कर न व अर्वाचीन दोनों प्रकार के से शिक्षित करना। चरित्र की त्रता और प्राचीन ज्ञान वास्त- आर्य संस्कृति की प्राप्ति के नितान्त आवश्यक है। इसी य से उन्होंने गंगा के पवित्र तट गुरुकुल खोला था वह आज भी असीम भक्ति और सेवा का ा स्मृति-स्तम्भ है।

यह एक प्रमुख कांग्रेसी नेता भी असहयोग के प्रसिद्ध दिनों में न अपने को सम्पूर्ण रूप से उस प के अन्दर होम कर दिया वृद्धावस्था एवं अस्वस्थ होने भी सम्पूर्ण कष्ट सहे।

हिन्दू-मुसलिम समस्या के हल य व जी-जान से उत्सुक थे। ालों में होने वाले हिन्दू-मुसलिम ों के रक्तपात और लूटमार ने करुणार्द्र हृदय को पिघला। वह दिन रात इस बुराई का करने के लिये कोशिश करने इसी के दो उपाय शुद्धि और ा थे। देश के एक भाग ने विरोध किया किन्तु उनके नश्वर दृढ़ सकल्प के कारण यह न ऊंचे शिखर पर पहुंच गया। इसी के लिये अनथक परिश्रम करते हुए वे बीमार हो गये और उन्हें एक कायर धर्मान्ध मुसलमान ने मार डाला।

इस प्रकार हमारा एक महान नेता उस बुराई से युद्ध करते हुए गिर गया जो बुराई के लिये श्राप रूप है और स्वराज्य-प्राप्ति में आज भी बाधक है।

हम स्वामी जी के चरित्र में विभिन्न मूल्यवान गुणों का विचित्र और दुर्लभ सम्मिश्रण पाते हैं। वे गुण उनकी प्रत्येक घटना में प्रगट होते हैं।

त्याग और साहस का अवतार

पं० जवाहरलाल नेहरू के उद्‌गार

स्वामी जी का नाम याद करके बहादुरी हिम्मत और त्याग की तस्वीर सामने आ जाती है और इस तस्वीर को देख कर कुछ अपनी भी हिम्मत बढ़ जाती है। गुरुकुल के विद्यार्थी तो उनके बच्चे ही हैं और उनके सामने तो यह तस्वीर हमेशा रहती ही होगी। भला उनका और क्या सन्देश दिया जावे? हमारे देश में आज कल स्वतन्त्रता का युद्ध जारी है और हर एक भारतवासी को वीरता की आवश्यकता है। मैं आशा करता हूं कि गुरुकुल के सब विद्यार्थी स्वा० श्रद्धानन्दजी की याद करके वीर सिपाही बनेंगे और देश की आजादी की लड़ाई में भाग लेंगे।

(आपने गत वर्ष गुरुकुल के विद्यार्थियों के पास स्वामी जी के सम्बन्ध में उपर्युक्त उद्‌गार भेजे थे। —सम्पादक)

सत्य और उच्चता की साक्षात् मूर्ति

पंजाब की सेवाओं की स्मृति

लेखक—

डा० सत्यपाल

डा० सत्यपाल

मनुष्य-जीवन में जो भी सत्य और उच्च है, उस सब की स्वामी श्रद्धानन्द साक्षात मूर्ति थे। मुझे अभिमान है कि मैंने उन्हीं के चरणों में बैठ कर धर्म की शिक्षा ग्रहण की थी। वह अपने सिद्धान्तों के लिये जीते थे, और उन्हीं की रक्षा में उन्होंने निधड़क अपना जीवन निछावर कर दिया। वह दया और प्रेम का स्रोत होते हुए भी दृढ़ तथा कठोर थे। वह किसी से घृणा न करते हुए भी किसी के सामने झुकने वाले न थे। उन्होंने देश तथा देशवासियों की भलाई के लिये बड़ा भारी त्याग किया था। उन्होंने पंजाब के मार्शल-ला की भयंकर ज्वालाओं में जल कर भी अत्याचार के शिकारों की जो सहायता की थी उसे कोई क्षण भर के लिये भी नहीं भूल सकता। मुझे भय है कि वर्तमान साम्प्रदायिक झगड़ों और मतभेदों के जोश में हम उनको योग्य सम्मान नहीं कर सकेंगे। मैं स्वामी जी का सदा प्रेम, श्रद्धा, भक्ति, आदर और कृतज्ञतापूर्वक बार-बार याद किया करता हूं।

—**—

अमर कीर्ति चिरंजीवी हो

(लेखक—श्री हरदयाल नाग चांदपुर, बंगाल)

स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द आर्य समाज के शाकाहारी दल के नेता थे। वह स्वयं उच्च जाति के हिन्दू होते हुए भी दलित जातियों पर सवर्णों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों को सहन नहीं कर सके। उन्होंने मनुष्य जाति की सेवा में ही अपना जीवन समर्पण कर दिया। वह इस प्रकार के आदर्श हिन्दू थे जिनके मस्तिष्क में जातीय मतभेद साम्प्रदायिक राग-द्वेष, अस्पृश्यता तथा सामाजिक अयोग्यताएं आदि असमानता फैलाने वाली बातें सदैव के लिये कतई दूर हो गई कुछ समय तक उन्होंने कांग्रेस का कार्य भी अत्यन्त दृढ़ता के साथ सम्पन्न किया था परन्तु बाद में वह सामाजिक सुधार के कार्यों में ही संलग्न हो गये थे। वह वेदों के अपूर्व ज्ञाता थे और उनका वेदों का अनुपम ज्ञान उनके अनुयायियों के लिये सूर्य की भांति प्रकाश देने वाला था। उन्होंने अपने जीवन का अन्तिम भाग दलित जातियों के उत्थान में ही व्यतीत किया।

भारतीय जनता के लिये उनका जीवन-बलिदान और सेवा तथा धार्मिक रूढ़िवाद सामाजिक अत्याचार एवं राजनीतिक परतन्त्रता से मुक्ति पाने के लिये हमेशा उत्तेजना का कार्य करता रहेगा।

वैदिक धर्म की जगत-व्यापी सुकीर्ति का प्रचार करने के लिये अन्त तक पूर्ण परिश्रम के साथ यहां तक जुटे रहे कि उन्होंने अमर शहीद की भांति प्राण त्याग किया। प्रत्येक हिन्दू को उनके अमर बलिदान की हृदय से सराहना करनी चाहिये। स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी की अमर कीर्ति जगत में चिरंजीवी हो!

—

म० मुन्शीराम—दर्शन

श्री म० मुन्शीराम जी का परिवार

बैठे हुए श्री स्वामी जी के पिता ला० नानकचन्द। खड़े हुए दायीं ओर से बड़े भाई ला० आत्माराम ला० मुन्शीराम (मुख्तार)। बालक स्वामी जी का भतीजा रामनाथ।

श्री मुन्शीराम जी का परिवार

पोषिता कन्या कन्या अमृत कला व श्रीमती वेदकुमारी। श्री मुन्शीराम जी दोहती को लिये हैं।

वकील मुन्शीराम

म० मुन्शीराम

वीर और महान्

(ले०—श्रीमती सरोजिनी नायडू)
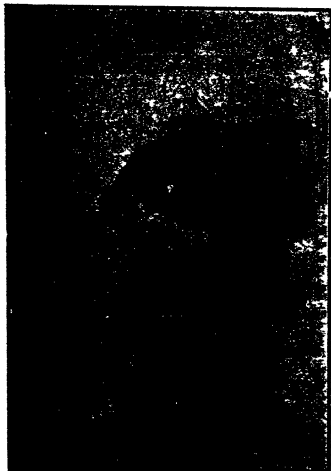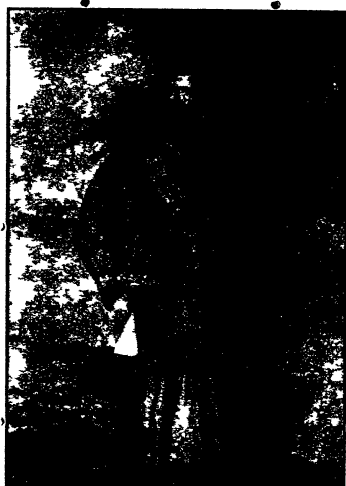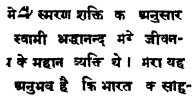
मेरी स्मरण शक्ति के अनुसार स्वामी श्रद्धानन्द मेरे जीवन-काल के महान व्यक्ति थे। मेरा यह अनुभव है कि भारत के साहसिक काल के वह सरक्षक थे। उनके सुन्दर स्वास्थ्य महान व्यक्तित्व तथा अनुपम बुद्धिमत्ता ने उन्हे उनके साथियों का शिर-मौर बना दिया था। एक बार तो वह अपने जीवन-काल में गुरुकुल कांगड़ी जैसे महान विद्यालय के गवर्नर रह चुके थे। मरते दम तक उन्होंने एक महान वीर की भांति जीवन व्यतीत किया। आश्चर्य-जनक कार्यशैली तथा चामत्कारिक बुद्धिमत्ता के वह अद्वितीय उदाहरण थे। उन्होंने भारतीयों के कई सामाजिक तथा राष्ट्रीय सुधारों में बड़ी बहादुरी से कार्य किया था।

निस्वार्थ संन्यासी

(ले०—श्री एस० सत्यमूर्ति एम० एल० ए०)

मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि श्रद्धानन्द बलिदान जयन्ती पर स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन और उनके ध्येय पर आप एक अंक प्रकाशित कर रहे हैं। उन्होंने वस्तुतः ही अपने जीवन को देश और जाति की सेवा में उत्सर्ग कर दिया था। वे एक सच्चे कर्मयोगी और असली अर्थों में सन्यासी थे, जिन्हें अपना कोई स्वार्थ नहीं था और जिन्होंने अपनी जाति की उन्नति में पूर्ण मनोयोग से काम किया था, जिसकी हमें सराहना करनी चाहिये। उनमें एक आदर्श 'हिन्दू' और एक आदर्श 'भारतीय' का सुन्दर मेल था। ऐसे आदमी सर्वदा पैदा नहीं होते। उनका जीवन एवं मृत्यु, दोनों महत्वपूर्ण थे।

मि० सत्यमूर्ति

परमेश्वर करे कि हम उनके उदाहरण से धर्म और देश की सेवा करना सीखें और संसार को दिखावें कि हिन्दू-धर्म एक सहिष्णुता का धर्म है और एक स्वतन्त्र पुरुषों तथा स्वतन्त्र स्त्रियों का धर्म है।

स्वामी जी के धर्मगुरु

महर्षि दयानन्द

स्वामी जी के जीवन सङ्गी

डा० सुखदेव जी

आदर्श आचार्य और समाज-सुधारक पूज्यपाद स्वामी श्रद्धानन्द

——:-——

(ले०—श्री धर्मदेव सिद्धान्तालङ्कार विद्यावाचस्पति)

स्वर्गीय पूज्यपाद धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का पुण्य स्मरण करते ही मेरे मन में दिव्यानन्द का संचार हो जाता है। मैं इसे अपने पूर्व जन्म के अनेक पुण्यों का प्रभाव समझता हू कि मुझे उनके पवित्र चरणों में बैठ कर विद्याभ्यास करने और फिर कई वर्षों तक उनकी सुखदायिनी छत्रच्छाया में समाज-सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ऐसे महात्माओं के सम्पर्क में आना सचमुच बडे ही सौभाग्य का चिन्ह होता है। गुरुकुल का प्रत्यक ब्रह्मचारी उनके अन्दर आदर्श आचार्य के सब लक्षण पाता था। आचार्य शब्द का अर्थ 'आचार ग्राहयति' है अर्थात् जो सदाचार को ग्रहण कराये। श्री पूज्यपाद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का सारा ध्यान ब्रह्मचारियों को सदाचारी बनाने की ओर रहता बडे प्रेम स वे विद्यार्थियों को र्य क विषय में अनुभव और रहस्यपूर्ण उपदेश (विशषतः महाविद्यालय विभाग मे प्रवेश क समय) दिया करते थे, जो उनक लिये सदा मार्गदर्शक का काम करत थे। व सदा कहा करते थे कि आचार्य को ब्रह्मचारियों के लिये न कवल पिता को जैस कि मनुस्मृति मे 'तदा मातास्य सावित्री, पिता त्वाचार्य उच्यते' अन्दि श्लोकों में बताया गया है किन्तु वेद क आदेशानुसार माता का भी स्थान ग्रहण करना चाहिये। अपन जीवन मे उन्होंन इसी आदर्श को पूर्णतया स्थापित किया था। उन्होंन न केवल वैदिक आदेशानुसार 'मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु' कह कर प्रत्येक ब्रह्मचारी के साथ अपना हार्दिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, बल्कि सचमुच गुरुकुल क सभी ब्रह्मचारियों को वे अपना पुत्र समझत और सम्बोधन करत थे। ब्रह्मचारी भी उनक प्रति वही शुद्ध भाव रखत थ। उनके सामन अपन हृदय को खोलन में किसी को कोई संकोच न होता था, बल्कि सारे संशय दूर होकर मन में एक दिव्य शक्ति और आनन्द का अनुभव होता था। वे भय या दण्ड के जोर से नियन्त्रण (Discipline) रखन या शासन करने के विरोधी थे। वे प्रेम क द्वारा ही शासन करते या नियन्त्रण रखते । विद्यार्थियों के साथ उनका सम्बन्ध इतना घनिष्ठ था कि उनकी छोटी छोटी बातों और चेष्टाओं का उन्हें ज्ञान रहता था तथा उनमे वे दिलचस्पी (Interest) दिखाते थे। उनके उपदेश विद्यार्थियों के सरल हृदयों पर कैसा जादू का सा असर करते थे—यह बतान की आवश्यकता नहीं। सन्यासाश्रम में प्रवेश स पूर्व भी मुझे कई बार उनक दिव्य उपदेशामृत को पान करन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे प्रायः वीर्य-रक्षा ब्रह्मचर्य, आर्य-संस्कृति और श्रद्धा पर बल दिया करत थे। सन् १९१४ या १९१५ मे क्वेटा आर्य-समाज क वार्षिकोत्सव क अवसर पर दिये उपदेश में:—

"जब दांत न थे तब दूध दियो,
जब दांत दिये तब अन्न न दई है।
जल में, थल में पशु पक्षिन की
सबकी सुध लेत सो तोइ न लेई है॥
काहे का सोच कर मन मूरख
सोच कर कछु हाथ न ऐ है।
ज्ञान को देत अज्ञान को देत,
अज्ञान को देत सो तोइ न दई है॥

इत्यादि श्रद्धासूचक, प्रभावजनक वाक्य आज भी मेर कानों में गूंज रहे हैं। यद्यपि तब मै कवल ७वीं श्रेणी का एक छोटा बालक था।

अग्ने च श्रद्धां चोपमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम्। व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ इत्यादि उनक अत्यन्त प्रिय वेदमन्त्र थे, जिनकी वे बडे ही हृदयग्राही शब्दो में व्याख्या किया करत थ। उनकी सरलचित्तता का विद्यार्थियों पर बडा ही उत्तम प्रभाव पड़ता था। समविकास अर्थात् शारीरिक मानसिक, आत्मिक शक्तियों के विकास को शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य समझते हुए वे समाज ही पर जोर दते थे तथा इस बात का सदा ध्यान रखत थे कि ब्रह्मचारियों की प्रत्यक शक्ति का विकास हो। कुश्ती, तैरी, घुड़सवारी खल आदि में भी वे उतनी ही दिलचस्पी दिखाते थे, जितनी पढ़ाई तथा सभाओं आदि मे। योगदर्शन आदि की व्याख्या करके तथा वैयक्तिक उदाहरण के द्वारा वे ब्रह्मचारियों क अन्दर श्रद्धा तथा भक्ति-भाव को भी बढ़ान का वे विशेष यत्न करत थ। व स्वय प्रति दिन व्यायाम करते तथा सन्ध्या, अग्निहोत्र, स्वाध्याय आदि नियमों का बडी तत्परता स पालन किया करते थे। उनका सम्पूर्ण जीवन आदर्शरूप था। ऐसे आदर्श-आचार्यों द्वारा ही गुरुकुल जैसी उत्तम संस्थाएं जगत् के लिये आदर्शरूप बन सकती हैं इसमे कोई सन्देह नहीं।

आदर्श समाज सुधारक

जहां श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज एक आदर्श आचार्य थ वहां व आदर्श समाज-सुधारक भी थ। आदर्श समाज-सुधारक क लिये यह आवश्यक है कि उसका वैयक्तिक जीवन अत्यन्त उच्च और पवित्र हो। वह जिस बात का प्रचार करता हो, स्वयम् आचरणरूप मे उसे लाता हो, उसके अन्दर पूर्ण निर्भयता और साहस हो वह सत्यनिष्ठ श्रद्धालु और कर्तव्यपरायण हो। ये सब गुण श्री पूज्यपाद स्वामी श्रद्धानन्द जी क अन्दर कूट कूट कर भरे हुए थे। उनका अपना जीवन सत्यमय और श्रद्धामय था। वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की पवित्रता पर उनका बडा ही जोर रहा करता था। इसी लिये सन्ध्या-हवन, स्वाध्यायादि क नियमपूर्वक श्रद्धा सहित अनुष्ठान पर व बडा बल देते थ तथा स्वय इन सब का भली भांति अनुष्ठान पूर्ण श्रद्धा क साथ किया करते थ। गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था क व पूर्ण पक्षपाती किन्तु कल्पित जात-पात के कट्टर विरोधी थे। अपनी सुपुत्री का विवाह उन्होंन मित्रो और सम्बन्धियो क (यहां तक कि अनक उस समय क प्रसिद्ध आर्य सज्जनों के) विरोध करन पर भी जात-पात तोड कर ही करवाया था। अपन सुपुत्रों को भी जात-पात तोडकर ही विवाहार्थ प्रेरित किया था। उन्होंन इस सुधार को इतना आवश्यक समझा था कि पिछले दिनो यह घोषणा ही करदी थी कि मैं कवल उन्हीं विवाहों मे आशीर्वाद दिया करूंगा जो जात पात तोड कर किये जायें। स्त्री-शिक्षा विषयक सुधार क कार्य को हाथ मे लेन स पूर्व उन्होंन स्वयम् अपनी धर्मपत्नी को शिक्षिता बनान तथा अपनी सुपुत्रियों क लिये उचित शिक्षा दिलान का प्रबन्ध किया था। अस्पृश्यता या अछूतपन क कलंक को हटान क लिये भी सबस पूर्व उन्होंन गुरुकुलादि में हरिजन भाइयों को प्रविष्ट कराया था, जिसका यह परिणाम है कि आज कितन ही हरिजन भाई गुरुकुल में अध्ययन कर के वेद-शास्त्र-प्रवीण स्नातक बन चुके हैं, जिनकी जात-पात को पूछन तक का किसी को साहस नहीं हो सकता। क्रियात्मक सुधारक के रूप में उन्होंन आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी में यह प्रस्ताव रक्खा था कि प्रत्यक सदस्य को अपन घर दलित-जाति क (हरिजन) सेवक को ही रखना चाहिये। यह हर्ष की बात है कि पूज्य महात्मा गान्धी जी अब इस प्रस्ताव का हार्दिक समर्थन कर रहे हैं। यद्यपि उस समय इसे स्वीकृत न किया गया था। पूज्यपाद स्वामी जी का यह अनुभव सिद्ध दृढ़ विश्वास था कि जब तक कल्पित जाति-भेद या जात-पात के भाव तथा आचार जनता मे कायम हैं तब तक शुद्धि अस्पृश्यता निवारण दलितोद्धार आदि क आन्दोलन कभी सफल नहीं हो सकत, इसी लिये वे जात-पात क तोडन पर विशेष बल देते थे और अन्तर्जातीय भोजन और विवाह क कट्टर पक्षपाती थे। वे पूंजीवाद और अधिकार लिप्सा क घोर विरोधी तथा स्वराज्य क लिये प्रबलशाली स्वार्थत्यागी तपस्वी महात्मा थे। श्रद्धानन्द-दल की स्थापना इन्हीं उद्देश्यो की पूर्ति क लिये की गई है। ऋषि दयानन्द के आदर्श-शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के पवित्र सन्देश को आर्य-जनता क सामने रख कर यह दल आर्य-समाज मे आन्तरिक सुधार क लाने और उसे आदर्श जीवित, जाग्रत शक्तिशाली समाज बनान का प्रयत्न कर रहा है। इस लिये वैयक्तिक जीवन के सुधार और पवित्रता क लिये जहां इसक प्रत्यक सदस्य को प्रति दिन सन्ध्या और स्वाध्याय की प्रतिज्ञा करनी होती है वहां क्रियात्मक समाज सुधारों क लिये उसे यह भी प्रण करना होता है कि वह अपना अथवा स्वयं विवाहित होन की दशा मे अपनी सन्तति की जात पात तोड कर ही विवाह करवायगा। इस प्रकार की दृढ लिखित प्रतिज्ञा के बिना जात-पात क भूत स समाज का छुटकारा असम्भव है और जब तक उससे छुटकारा न हो जाय शुद्धि दलितोद्धार आदि क आन्दोलनो में सफलता असम्भव है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वर-वधू क गुण, कर्म स्वभाव को न देखा जाय उसका तो खयाल रखा जाना ही चाहिये किन्तु इस अत्यावश्यक सुधार को लाने के लिये कर्मवीर आर्यों को यह जात-पात तोडने की प्रतिज्ञा अवश्य

कर्तव्यनिष्ठ सन्यासी

(ले०—कुमार गगा नन्दसिह)

स्वर्गीय स्व मी श्रद्धानन्द जी की पुण्य स्मृति आज भी इतनी जा ी है कि उस दुहराने की कतई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । उनकी महानता के सम्बन्ध मे निम्न लिखित पद प्राय' सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होग—

No coward soul is ine
No trembler in the worl l s storm troubled sph ere
I see Heaven s glories hire
And faith Shines ual, arming me from fear

"मरी आत्मा मे दुर्बलता का लेश मात्र भी नहीं है। आपत्तियों म परिपूर्ण ससार क किसा भी क्षेत्र मे कोई वस्तु भयोत्पा क नहीं है । मै सर्वत्र ईश्वर को उज्ज्वल

कर्तव्यनिष्ठ सन्यासी

स्वामी श्रद्धानन्द

प्रकाश रखता हू । मरा दृढ आत्म-विश्वास और श्रद्धा भय को मर पास नहीं फटकन देते "

O God wi hin m breast
Al ight , ev r p rt
De ty

"मर हृदय प सर्वशक्तिमान परमात्मा का प्रकाश सदैव उपस्थित रहता है।'

उन्होंने एक महान् कर्तव्य निष्ठ की भांति हजारों लड़ाइयां एक वीर योद्धा के रूप में लड़ीं। वह विजयी होकर हिन्दू धर्म के लिये बड़ी वीरता के साथ जीवित रहे और उसी के निमित्त प्राण त्याग किया। उन के पवित्र हृदय में द्वेष भय तथा अश्रद्धा का लेशमात्र भी नहीं था। वह अपन जीवन में कठिनाइयों से कभी नहीं घबड़ाये, परिश्रम से भी कभी नहीं थके और अपनी विजयों पर कभी गर्व नहीं किया। उन्होंने अपने ध्येय की पूर्ति सदैव दृढ़ निश्चय के साथ की और वह किसी भी प्रयत्न मे कभी नहीं हिचकिचाय और न कभी कदम पीछे को हटाया। उनका सिवा मित्र के कोई शत्रु न था। उन्होंन अपन हत्यार का भी विश्वास किया। उन के अमर बलिदान ने वास्तव मे हिन्दू धर्म उच्च सिद्धांतों को प्रकाश में ला दिया।

ऐसे महान् हिन्दू के प्रति मैं सम्मानपूर्वक श्रद्धाञ्जलि समर्पण करता हूं। मेरी भगवान से हार्दिक प्रार्थना है कि उक्त अमर बलिदान का उदाहरण हमें दिन प्रति दिन उत्साहित करता रहे।

———

करनी चाहिय। ऐसे सदाचारी सन्ध्या हवन, स्वाध्यादि का श्रद्धा-पूर्वक अनुकरण करन वाले विद्वान कर्मवीर आर्य सज्जनो को ही आर्यसमाजो का अधिकारी चुना जाना चाहिय न कि कवल धनियों को जिनमे म बहुतो को न सिद्धान्त-ज्ञान होता है न धर्म-प्रेम। पूंजीवाद और अधिकार लिप्सा का रोग आर्यसमाज की जड़ को खोखला कर रहे हैं उनका जितनी जल्दी नाश हो उतना ही समाज क लिय हित कर होगा। श्री पूज्यपाद स्वामी श्रद्धानन्द जी स्वदेशी वस्तुओं और खादी क वस्त्रो के प्रयोग क भी बड़े पक्षपाती थ, अत. श्रद्धानन्द दल क सदस्यो को शुद्ध स्वदेशी अर्थात खादी वस्त्रो और यथा सम्भव स्वदेशी वस्तुओं क ही प्रयोग की भी प्रतिज्ञा लेनी होती है। आर्यसमाज की उन्नति मे सब म अधिक बाधा आज कल आर्यों क क्रियात्मक जीवन न होन क कारण पड रही है। ऋषि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द जी क सच्चे भक्तों को अपन जीवन को सर्वथा पवित्र बना लेना चाहिये। इस प्रकार ही हम स्वर्गीय धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द जी क प्रति अपनी सच्ची भक्ति प्रकट कर सकत हैं न कि कवल उन का गुणगान करन म। परम पिता परमात्मा हमे आदर्श आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द जी क सच्च अनुरूप शिष्य बनन की सामर्थ्य प्रदान कर यही प्रार्थना है।

———

सत्याग्रह और बारडोली

(ले०— बैजनाथ महोदय बी० ए०)

सत्याग्रह एक जबरदस्त शक्ति है, इस बात का अनुभव तो हमें अभी अभी इन तीन चार वर्षों में हुआ। अब तो बच्चे बच्चे की जबान पर सत्याग्रह है। वह कुछ कुछ उसकी शक्ति को भी जानने लग गया है। सारे संसार में उसकी कीर्ति छा गई है और हिंसक युद्धों से ऊब कर वह अब इस पुण्य शक्ति के विकास की राह देख रहा है। पर १०, १५ साल पहले यह बात नहीं श्रीमहात्मा जी ने दक्षिण अफरीका में जो युद्ध किया था भारतीय जनता ने—राजनीति में दिलचस्पी रखने वाली जनता ने उसके समाचार पढ़े थे। पर जब तक उस महान शक्ति के प्रत्यक्ष दर्शन का योग उसे नहीं मिला था वह उसकी यथार्थ शक्ति का अनुमान नहीं लगा सकी थी। महात्मा जी भारत में आये तभी से हमें कहना होगा इसका भी पदार्पण भारत में हुआ। चम्पारन का सत्याग्रह एक प्रान्तीय वस्तु थी। वहां तो सत्याग्रह को अपनी शक्ति आजमाने की कहने लायक जरूरत भी न पड़ी। रौलट कानून के विरुद्ध छेड़े गये सत्याग्रह से असल में देश को सत्याग्रह का सब से पहला परिचय मिला है रौलट कानून के समय देश के इस कोने से लेकर उस कोने तक मानो बिजली दौड़ गई थी। अंगरेजी साम्राज्य को भी भारतीय जनता की जागृति शक्ति को देखने का सब से पहला अवसर तभी मिला। उसकी आंखें चौंधिया गईं। तथापि उस समय एक तरफ न जनता को शिक्षित करने को काफी समय मिला था और न उधर सरकार को भी इस नवीन शक्ति का सामना करने के लिये आवश्यक समय मिल पाया था। यहां वहां उपद्रव हुए, गोलियां चलीं कुछ मरे, कुछ घायल हुए कहीं तोड़ टूटे कानून के विरोध में देश भर में हड़ताल हुई हजारों जगहों पर सभायें हुईं, सारे देश के कोने कोने से उस काले कानून का विरोध हुआ और बस जैसे ही पैदा हुआ था, मर भी गया।

पर जनता का पुण्य प्रकोप जाग उठा था, साम्राज्य द्वारा की जान वाली देश की लूट, अन्याय और अत्याचार उसके लिए असह्य हो उठे थे। शीघ्र ही असहयोग घोषित करने की नौबत आई। अदम्य उत्साह था पर महात्मा जी ने शीघ्र ही देखा कि इस उत्साह में अनुशासन Discipline की मात्रा आवश्यक परिमाण में नहीं है। चोरीचोरा ने साक्षी दी और आन्दोलन स्थगित हो गया। अनेक बुजुर्ग देशभक्तों का उत्साह भङ्ग भी हुआ। पर सेनापति की आज्ञा को सबने सर झुकाया। लोग इसे सत्याग्रह की पराजय मान कर टीका टिप्पणी करने लगे। पर इस महाशक्ति की जड़ धीरे धीरे देश में जमती ही गई। एक तरफ जहां हिन्दू-मुसलमानों की आपसी लड़ाई निराशों को अधिक निराश कर रही थी, वहां खेड़ा बोरसद गुड़गांव और झण्डा सत्याग्रह देश में सत्याग्रह के क्रमिक विकास की साक्षी दे रहे थे। एक तरफ कानून के योद्धा धारा सभाओं में—सरकार के अपने अखाड़े में—उससे लोहा ले रहे थे तो दूसरी तरफ महात्मा जी तथा उनके चुने हुए अपरिवर्तनवादी कार्यकर्ता गावों में बैठकर धीरे-धीरे लोक शक्ति का आवाहन करने के लिये जुट पड़े थे।

गुजरात में बारडोली इनका एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। वह बम्बई इलाके की एक अत्यन्त उपजाऊ तहसील है। लोग सम्पन्न हैं। कणबी नामक एक परिश्रमी और सुसंगत जाति की संख्या यहां काफी मात्रा में हैं और सब से बड़ी बात तो यह थी कि यहां के कई लोग दक्षिण अफ्रीका में महात्मा जी की युद्ध नीति का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर चुके थे।

राजनैतिक कार्यकर्ता साधारणतया (अगर अविनय न हो तो, मेरा यह नम्र धारणा है कि) उतावले होते हैं। अपनी जल्दबाजी के कारण हम कितनी ही जगह पास आई हुई और निश्चित विजय को खो देते हैं। जहां शोभा के (Grace) साथ कोई काम हो सकता है, हमारा अविश्वास और उतावलापन ऐसी परिस्थिति में हमें डाल देता है, जहां लज्जित होकर हमें पीछे हटना पड़ता है। दूरदर्शिता की दृष्टि से भी हम गलती कर जाते हैं। आवश्यक मात्रा में बल-सञ्चय करने से पहले ही लड़ाई छेड़ बैठते हैं।

बारडोली में डेरा डालने वाले कार्यकर्ताओं ने इस बात में बड़ी सावधानी से काम लिया। पहले-पहल शिक्षा और खादी से उन्होंने शुरुआत की। प्रांत की आर्थिक दृष्टि से गिरी दशा (Economic Surrey) किया और इसके जरिये से प्रदेश की सारी गरीब अमीर जनता से परिचय प्राप्त कर लिया। बारडोली का 'स्वराज्य' आश्रम गुजरात में खादी का सब से बड़ा केन्द्र था। इस आश्रम के द्वारा ताल्लुक में जगह-जगह प्राथमिक तथा माध्यमिक शालायें खोल दी गई थीं। शिक्षा का पाठ्यक्रम उनका अपना स्वतन्त्र था।

इस प्रदेश की जनता दो हिस्सों में बटी हुई है। उच्च जातियां उजली परज (प्रजा) कहलाती हैं। और निवासी नीची जातियां काली प्रजा कहलाती हैं। उजली परज की आबादी लगभग ३८००० प्रजन में से कणबी २०००० है और काली परज ४६०००। जैसे अछूतों को आज कल हम हरिजन कहने लगे हैं उसी प्रकार काली परज को इधर दस बारह साल से रानी परज भी कहा जाता है। खेती प्रधानतया कणबियों के हाथों में है और काली परज के लोग खेतों पर मजदूरी करके अपना पेट पालते हैं। दुबला गामोत ढोढिया आदि इनके आन्तरिक मतोपभेद हैं। कार्यकर्ताओं ने वहां जाकर कणबी तथा रानी परज के संगठन और सेवा का काम अपने हाथों में ले लिया।

ग्राम-संगठन या सेवा के लिये प्रचार की भी आवश्यकता है। पर वह प्रचार उससे भिन्न होता है जिसे हम आज कल प्रचार करते हैं। प्रचार करते समय प्राय: काम की अपेक्षा अपना ध्यान हम अधिक समझते हैं।

गांवों में जाकर इससे पहिले कि हम से कुछ बन पड़े, हम अखबारों की तरफ दौड़ लगा कर इस बात की डुग्गी पीटने का उद्योग करते हैं कि हम मूल-सग्राम यो जिले का उद्धार करने के लिये निकल पड़े हैं। बोरडोली के सेवकों ने गलती से बचा का इस में भी खूब ध्यान रखा। वे चुपचाप गांव में जाते और जिस किसी तरह उनसे बन पड़ता जनता के लिये अपने को उपयोगी बनाने का यत्न करते। उस के अन्दर मनुष्योचित स्वाभिमान को जगाते। नीति सदाचार, प्रामाणिकता आदि प्राथमिक और जरूरी बातों पर बार-बार कथाओं, व्याख्यानों तथा खानगी बात-चीत में जोर दे देकर धीरे-धीरे उसके अन्दर सोई हुई शक्ति का ज्ञान उसे करा देने का यत्न करना सम्भव है यह बात कई राजनीतिक कार्यकर्ताओं को बहुत मामूली समय लगने वाली तथा कम दिखाई देती है। किन्तु गांवों का संगठन करने वाले तथा राष्ट्र का निर्माण करने वाले के लिये यही सब से पहली और अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है। जनता के अन्दर एक बार स्वाभिमान, सत्यनिष्ठा तथा अपने अधिकारों का भान उन्हें प्रदान करने की शक्ति को जगा देने के बाद वह सत्ता से खुद समझ लेती है। वह खुद अपना नेता बन जाती है। उस की 'भेड़ वृत्ति' को मिटा कर उसके अन्दर सिंह वृत्ति जगा देने की जरूरत है। फिर तो एक-एक आदमी सत्ता के लिये भारी हो जाता है।

फिर जोशीले व्याख्यान दे देकर जनता को उभाड़ने की जरूरत नहीं रह जाती। उसे यह नहीं समझाना पड़ता कि फलां बात में मेरा मान या अपमान हुआ। वह अपने मान-अपमान को खुद समझ लेती है और खुद ही लड़ाई छेड़ देती है। बारडोली में यही हुआ। लड़ाई के लिये उसे उभाड़ने के बजाय उसे तो बार-बार यह समझाना पड़ा कि सोच-समझ कर लड़ाई छेड़नी चाहिये पर वह दृढ़ थी।+

शान्ति-काल में एवं व्यक्तिगत बातों में तो भले ही किसी तरह काम चल जाय पर सामूहिक लड़ाई में तो अनुशासन अनिवार्य है। फिर यह ऐसी चीज है जिसके लिये दृढ़ अभ्यास की आवश्यकता होती है। हम प्रान्तीय परिषद करते हैं, राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन करते हैं, तब स्वयं-सेवकों के तात्कालिक संगठन बना लेते हैं। काम भी वैसा ही होता है। बारडोली में अनुशासन इतना कड़ा था कि सरकार उसके कारण हैरान थी। जनता की मजबूत अनुशासन, गुप्तचर विभाग प्रकाशन और सरदार वल्लभ भाई का नेतृत्व बारडोली की विजय के प्रधान कारण हैं।

लड़ाई का कारण तो प्रायः सर्वविदित ही है। ब्रिटिश-भारत में समय समय पर (तीस-तीस साल में) जमीन का लगान निश्चय करने की प्रथा है। सन् १८९३-४ की लगान की जांच के बाद सरकार ने ताल्लुक पर ४,८५००० से ६,७२००० तक लगान बढ़ा दिया। लगान वृद्धि के

+ इसका ताजा उदाहरण सीकर का जाट-आन्दोलन है।

कारण भी बताने पड़ते हैं। बारडोली के मामले में जो कारण बताये थे वे सब गलत थे, बल्कि सबूत तो यह कहता था कि लगान बढ़ने के बजाय घटना चाहिये। जनता ने वैध उपायों का अवलम्बन करके जब देख लिया कि उनका कोई नतीजा नहीं निकल रहा है, तब सत्याग्रह का अवलम्बन किया। सरकार की तरफ से बहुतेरी धमकियां दी गईं पर औरतों तथा भीलों के समान अकिंचन अवस्था में रहने वाले दुबला राने परज जाति के लोगों ने तक तहसीलदारों तथा कलक्टरों को उस तेजस्विता का परिचय दिया है जिसे देख कर उन्हें लज्जित होकर चल देना पड़ा है।

साम, दान, दण्ड, भेद सभी उपायों से सरकार ने काम लेती थी, पर जनता इतनी मजबूत थी कि सरकार और उसके अधिकारियों की कुछ भी न चलती थी, पर इसका श्रेय स्वयं सेवकों के सगठन और अनुशासन पर भी था। बारडोली ताल्लुके का एक-एक गांव सैनिकों की छावनी बन गया था। स्वयं सेवक आंखों में तेल डाल कर पहरा देते रहते और अधिकारियों को दूर से देख कर ही गांव को सावधान कर देते। बस चारों तरफ सन्नाटा छा जाता। किसानों के मकानों के बारे में पूछ-ताछ करने के लिये तक कोई नजर न आता। मकान माल और मवेशी नीलाम करने के लिये कोई बोली लगाने वाला और जब्त सामान को उठाने वाले मजदूर तक नहीं मिलते थे। और तो ठीक, कीचड़ में गवर्नर की मोटर फंस गई उसे निकालने के लिये आदमी मिलना मुश्किल हो गया था। सरकारी अफसरों को चाय के लिये अगर पाव भर दूध की या शक्कर की जरूरत होती तो वह भी बगैर विभागपति की आज्ञा के उन्हें कोई नहीं दे सकता था। जनता को बहकाने के लिये सरकार की तरफ से जो पर्चे बांटे जाते उनके बंटने से पहले या तो पर्चे गायब हो जाते या उनकी खिल्ली उड़ाने के लिये दूसरे पर्चे बंट जाते। सत्याग्रह गुप्तचर विभाग के सब अधिकारी तंग थे।

समाचार विभाग का सगठन भी आश्चर्यजनक था। चार घण्टे के अन्दर लम्बे से लम्बे अन्तर से प्रधान कार्यालय में खबर पहुंच जाती। और २४ घण्टे के अन्दर अन्दर विभाग पति के पास उसका जवाब पहुंच कर उस पर अमल भी होने लग जाता। कोई यह न कह सकता था कि यह काम इतनी देर में कैसे होगा या मुझसे न होगा। जिस किसी ने ऐसा कहा उसे अयोग्य बता कर अलग कर दिया गया। हुक्म की तामीली अनिवार्य थी।

सारा ताल्लुका (जिसमें लगभग १२५ गांव हैं) १९ विभागों में बांट दिया गया था और प्रत्येक विभाग पर डा० सुमन्त मेहता डा० चन्दूलाल देसाई वृद्ध अब्बास तयब जी दरबार गोपालदास भाई, श्री रविशंकर भाई व्यास आदि जैसे लोकप्रिय चतुर सुस्थैर्य नेता विभागपति मुकर्रर कर दिये गये थे। ताल्लुके में होने वाली प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना को ताल्लुके के अन्दर कोने कोने में फैलाने के लिये सत्याग्रह खबर नामक एक दैनिक शुरू कर दिया गया था। जिसकी प्रतिदिन १८०० प्रतियां छपती थीं और वितरित होती थीं। इस प्रचार का असर आस पास के जिलों तक बड़ौदा की प्रजा पर भी पड़ा उनके अन्दर भी अपूर्व जागृति फैल गई। सरकारी अधिकारियों तथा उनके सहायकों का बहिष्कार जब इतना कठोर हो गया कि उनके ठहरने तथा खान-पीन का सामान मिलना भी कठिन हो गया तब वे पड़ोस के ताल्लुकों में रहने लगे। पर अब तो इस ताल्लुके की प्रजा ने भी निश्चय कर लिया कि वह अधिकारियों की सहायता न करेगी।

सरकार की तरफ से ऊपर से तो बड़ी शान दिखाई जाती। अधिकारी गवर्नर कहने और व्याख्यान देने कि सरकार नहीं झुक सकती इसका मजा चखाया जायगा इत्यादि। पर छः महीने के अन्दर ही उसे प्रजा की मांग को स्वीकार करके लगान की जांच करने के लिये जांच कमीशन नियुक्त करना पड़ा।

युद्ध का इतिहास अत्यन्त रमणीय और शिक्षाप्रद है। और यद्यपि अब तो देश उससे कहीं बड़े और लोमहर्षण युद्ध में से गुजर चुका है तथापि बारडोली के सत्याग्रह ऐतिहासिक दृष्टि में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिस समय सारे देश में निराशा और आत्म विस्मृति की वायु मण्डल छा रहा था बारडोली के वीर किसानों ने देश में नवीन चैतन्य भर के आशा का संचार कर दिया। १९३० ३१ का विजय का रहस्य बारडोली की विजय ही है।

पर सन् १९३० और ३२ के युद्ध के बाद जनता में फिर सत्याग्रह की शक्ति और उपयोगिता के बारे में सन्देह पैदा होने लग गया है। किन्तु हम जरा भी सोचें तो फौरन समझ में आ जायगा कि इस मनोमोहक युद्ध में भी हमने सत्याग्रह को अपनी शक्ति दिखाने का पूरा अवसर नहीं दिया। हमारा सारा यत्न सैकड़ों कानून तोड़ने वालों की सचाई, चरित्र, अनुशासन, बलिदान की शक्ति और अन्य अनेक प्रकार की स्वच्छता की तरफ भी अगर हम उतना ही ध्यान देते तो शायद आज हमें न तो इतनी जल्दी युद्ध स्थगित करना पड़ता और न हम अपने आपको स निराशामय वायुमन्डल में पाते।

पर बीती बातों पर पश्चाताप और शंकायें करना वृथा है। हम सब अपनी दुर्बलताओं को खूब अच्छी तरह समझने लग गये हैं और यदि अब केवल राजनीतिक परिणाम दिखाने की जल्दबाजी को छोड़कर न खामियों को दूर करते हुए देश के सगठन में हम जुट जायगे तो फिर दस साल के अन्दर संसार को एक चमत्कार करके दिखा सकेंगे।

इसी लेखक द्वारा लिखित बारडोली सत्याग्रह का इतिहास 'विजयी बारडोली' सस्ता साहित्य मन्डल नया बाजार दिल्ली से मगा कर पढ़ें।

सच्चा कर्मयोगी श्रद्धानन्द

(ले०—प० दीनदयालु शास्त्री, झज्झर)

श्री स्वामी श्रद्धानन्द् का नाम हिन्दू जाति की नसों में नये रक्त का सचार करन वाला है। अपन जीवन के मध्य काल में व आर्य-समाज के उच्च कोटि क नता थे और मैं उस समय सनातन-धर्म का जोरों स प्रचार कर रहा था। उस समय हमें यह भान न होता था कि हम दोनों कन्ध से कन्धा मिला कर एक मिशन के लिये एक मन होकर काम करेंगे, परन्तु हिन्दुओं की करुणाजनक दशा को देख कर स्वामी जी का आर्द्र-हृदय पिघल उठा और व बड़े उदार-भाव लेकर अपन जावन क सन्ध्या-काल में हिन्दू-सभा क नता बन। उस समय हमें कई वर्ष साथ र काम करन का अवसर मिला और मुझे याद है कि जाति-हित की दृष्टि से कई बार उन्होंन मेर अनुरोध का पालन कर अपन भावों की उदारता दिखाई। उनके हृदय में अनाथ हिन्दू-जाति का दर्द भरा था और इसी कारण हिन्दु-सभा क क्षेत्र मे मेरा उनके साथ अच्छा सहयोग रहा। उन्होंन आर्य-समाज के लिय नहीं; किन्तु हिन्दु-जाति, आर्य-भूमि और आर्य-सस्कृति की रक्षा क व्रत मे अपन प्राणों की आहुति दी है। वह सच्चे कर्मयोगी थे। गुरुकुल कागड़ी उनकी कर्मनिष्ठा का प्रबल उदाहरण है।

मुझे सन्तोष है, उनक देहावसान क समय मैं उनके बहुत निकट था और अन्तिम सस्कार मे उपस्थित रह सका। लाहोर में सब हिन्दु-मतों और सम्प्रदायो की ओर स जो सम्मिलित विराट सभा हुई थी, उसक अध्यक्षरूप म स्वामो जी की आत्मा की पारलौकिक शान्ति क लिये प्रार्थना करान का भी गौरव-पूर्ण कर्तव्य मुझे ही सौंपा गया था। उनका निधन ऐसा हुआ था जिसके कारण उनकी स्मृति आर्य-समाजी, सनातन-धर्मी जैनी, सिख बौद्ध सभी की अपनी सम्पत्ति बन गई है।

आज न स्वामी श्रद्धानन्द् हैं न लाला लाजपतराय। पजाब की वीर-भूमि सूर्य और चन्द्रमा के समान तेजस्वी इन दोनों पुत्रों क अभाव में आज शून्य दिखाई देती है। ऐसे सहयोगियों क पीछे अधिक काल तक जीते रहने के कारण मेरे हिस्से में अब उनकी उत्तम कृतियों के स्मरण करान का कठिन कर्तव्य बचा रह गया है। इस कर्तव्य का पालन करता हुआ मैं सब भाइयों म यही अनुरोध करता हू कि स्वामी श्रद्धानन्द् जी की बलि-दान-तिथि के अवसर पर उस व्रत का श्रद्धापूर्वक स्मरण करना चाहिय, जिसकी सिद्धि क मार्ग में उस वीर कर्मयोगी न अपन उत्कृष्ट जीवन का उत्सर्ग किया है।

सर्वस्व त्यागी संन्यासी

(ले०—श्री श्रीप्रकाश एम० एल० ए०)

स्वामी श्रद्धानन्द जी क बलिदान-दिवस पर मैं उन्हें सादर सप्रेम स्मरण करता हू। उनक प्रत्यक कार्य में साहस भरा रहता था। दूसरों के विचारों की या अधपरम्परा की उन्हें कोई चिन्ता न थी। जो ठीक समझते थे करते थ। उसक लिय अपना सर्वस्व दे देत थे। वर्तमान भारत के वे विशिष्ट पुरुषों में हैं। हम सब उनक योग्य हो सकें यही आज हमारी आशा और अभिलाषा है।

—स्वामी जी धर्म समाज तथा राजनीति तीनों ही क्षेत्रों म रहे और तीनों ही क्षेत्रों मे अपना चिरस्थायी प्रभाव छोड़ गये। लोकमान्य तिलक की भाँति स्वामी श्रद्धानन्द भी अपन समय क प्रसिद्ध लड़ैया थे। सच तो यह है कि जिस लड़त को उन्होंन अपन हाथ में लिया अन्त म विजय प्राप्त करके ही दम लिया।

स्वामी श्रद्धानन्द की पुण्यस्मृति

(ले०—श्री वेंकटेशनारायण तिवारी)

इस बीसवी सदी के जिन भारतीय महापुरुषो क श्रीचरणो में बैठने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है और जिनकी स्मृतियो और पावन कृतियों म मैं अपनी जीवन-यात्रा मे प्रभावित और निमन्त्रित हुआ हू उनमे स्वामी श्रद्धानन्द का एक विशेष स्थान है। शब्द के व्यापक अर्थ में वह महात्मा थे महापुरुष थ। ससार के अधिकाश लोगों ने उन्हे इसी रूप में जाना और पूजा। मेरे लिये भी वह महात्मा और महापुरुष थे और इसी भाव म मै प्रेरित होकर जब उन म पहली बार मिला थो, तब मैंने उनके प्रति अपनी श्रद्धांजली की भेंट चढ़ाई थी। उसी घड़ी स उन्हो ने अपने अपार और अथाह प्रेम-पूरित वात्सल्य से मुक्त अपने विशाल हृदय में समेट कर रख लियो और इस उदारता क साथ रख लिया कि मैं हमेशा क लिये बकौडी पेम का भक्त बन गया। उनकी वीर गति पर मैं रोया। उन आंसुओ म रोया जिनमे कोई अपने पूज्य बड़े क विछोह म रोता है। उस दिन मेरे लिये ससार म एक ऐसा आत्मीय उठ गया, जिसकी अटल सहानुभूति और आत्मीयता का मुझे सकट क समय पर पूर्ण भरोसा था

स्वामी जी सच्चे मित्र थ। जिस का साथ दिया अन्त तक साथ दिया। हा निबाहने में व एक ही थे। पात्र की योग्यता अयोग्यता की उन्हे चिन्ता नहीं, उसकी कृतज्ञता कृतघ्नता की उन्हें परवाह नहीं। व सच्चे थ सत्य क पुजारी थे। साथ ही मतभेद का आदर करना भी वे जानत थे यदि मतभेद की जड़ मे विद्वेष न हो और न हो स्वार्थ का प्रेरणा।

वह वीर थ। इसी लिये वह महापुरुष हुए। इसी लिये वह महात्मा कहलाय। वीरता और हृदय की सकीर्णता एक साथ नहीं रह सकता। उनम वह छू कर भी नहीं गई थी। हृदय उनका विशाल था। दान मे प्यार में विचार मे और त्याग कर्म में देश के लिये आकांक्षाओ मे जिस पहलू से उनक जीवन पर नजर डालिये उसी दृष्टि म उनमें विशालता दिखाई देती है। इस पर भी अनजान उन्हें किसी खास समाज का उपासक समझते और बदनाम करत रहे। उनको मुझे मालूम है साम्प्रदायिकता मे उतनी ही चिढ थी, जितनी किसी राष्ट्रवादी को हो सकती है। परिस्थितियों म विवश होकर उन्हें परिमिति क्षेत्रों मे विवश होकर काम करना पड़ा, परन्तु इसका एक मात्र कारण यह न था कि वह किसी समाज या सम्प्रदाय को कम प्यार करते थ। बल्कि यह थी कि वह सत्य को अधिक प्रिय समझते थे। अन्याय और अत्याचार क वह जन्म-शत्रु थे। आमरण उन्होंन इनक प्रति लड़ाई जारी रक्खी। पीड़ितों और पीड़ा मे उन्हें जो चोट लगती थी, इसका अन्दाजा व ही लगा सकते हैं जो उनक करीब थ।

वह वीर की तरह जिय। वीर ही की तरह उन्होंन मृत्यु को भी अपनाया। अपनी जिन्दगी और मौत से वह हमको दिखा गय कि वीर कैसे जीते और मरते हैं और इसी के द्वारा उन्होंन हमें सिखाया कि उनक देशवासियों को भी जो वीर भूमि म पैदा हुए और वीरों की सन्तान कहलाते हैं वीरों ही की तरह कैसे जीना और मरना चाहिये। उनका नाम इतिहास में अमर है। उनका जीवन हमारे राष्ट्र की पवित्र निधि है।

उनके बलिदान की जयन्ती पर मैं प्रेम और श्रद्धा का तुच्छ अञ्जली चढाता हुआ उनकी स्मृति को बार-म्बार प्रणाम करता हू।

—'वसुधैव कुटुम्बकम्' कहनेवाले श्रद्धानन्द के विशाल आकाश सम हृदय को साम्प्रदायिकता के घेरे म घेरा नहीं जा सकता।

स्वामी जी का जीवन धार्मिक सामाजिक तथा राजनैतिक सभी दृष्टियो म भारत क अपन युग का राष्ट्रीय इतिहास है।

कराची-कांग्रेस की रिपोर्ट।—डिमाई अठपेजी साइज सजिल्द पृष्ठ १६२। प्रकाशक—श्री आर० के० सिधवा और डा० ताराचन्द लालवानी, प्रधान मन्त्री, ४५ वीं भारतीय राष्ट्र-महासभा।

कांग्रेस का करांची अधिवेशन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। जबरदस्त लड़ाई के बाद गान्धी इरविन पैक्ट के रूप में सरकार से बराबरी की हैसियत में समझौता करके कांग्रेस ने जो विजय प्राप्त की थी लोगों में उसका उत्साह छाया हुआ था। पीढ़ियों से खोया हुआ आत्म-विश्वास फिर जागृत हुआ था। हालांकि सरदार भगतसिंह की फांसी ने हमारी उमङ्गों पर एक लात जमा दी थी और राष्ट्रीयता के उग्र जीवित अवतार गणेशशंकर विद्यार्थी की शहादत ने हमारी आंखों को गीला कर दिया था फिर भी अपनी विजय का थोड़ा मद हमारी आंखों में उस समय छाया हुआ था। देशप्रिय सेन गुप्त ने बड़े तपाक से कहा था कांग्रेस के पास अद्भुत शक्ति है, आज कांग्रेस चाहे तो जरा सी देर में इस देश से ब्रिटिश सरकार को उखाड़ सकती है। ऐसी परिस्थिति में स्वभावतः उस अधिवेशन में बड़ा जीवन था। जनता के मौलिक अधिकारों की सर्वप्रथम घोषणा का श्रेय भी इसी अधिवेशन को प्राप्त है। अतः इसकी कार्यवाही रोचक और ज्ञातव्य ही नहीं स्फूर्ति-प्रेरक भी है। सरकारी दमन-दावानल के कुछ विश्राम करते ही स्वागत-समिति ने अधिवेशन की बाकायदा रिपोर्ट प्रकाशित कर दी है यह उसके लिये धन्यवाद की बात है। परन्तु हमें बहुत अफ़सोस है जिस हिन्दी पर कांग्रेस में इतना जोर दिया जा रहा है उसी की इसमें दुर्गति है। स्वागताध्यक्ष और राष्ट्रपति के भाषण दिये तो गये थे हिन्दी में पर इसमें ढूंढे भी हिन्दी में नहीं मिलते अलबत्ता उनके अंग्रेजी रूप मौजूद हैं। प्रस्ताव और कार्यवाही वर्णन सब अंग्रेजी में है। हिन्दी हिन्दुस्तानी में कुछ भाषण हिन्दी में अवश्य दिये गये हैं पर उनकी वाक्य रचना शाब्दिक अशुद्धियों और छपाई-सफाई पर किंचित मात्र ध्यान नहीं दिया गया प्रतीत होता। हिन्दी के प्रति स्वागत-समिति की ऐसी उपेक्षा अक्षम्य है। कराची में हिन्दी की छपाई आदि की असुविधाओं की कठिनाई हम समझ सकते हैं पर उस हालत में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी से इसके लिये मदद ली जा सकती थी। जो हो, 'आफिशियल रिपोर्ट' होने से यह रिकार्ड की चीज तो है ही। आशा है आगे से स्वागत-समितियां इस ओर पूरा ध्यान रखेंगी। कम से कम अ० भा० कांग्रेस कमिटी को तो इसकी देख-भाल रखनी ही चाहिये।

साहित्य-समालोचन

समालोचनार्थ सब पुस्तकों की दो-दो प्रति आनी चाहियें। एक पुस्तक आने पर समालोचना न हो सकेगी।

सुदर्शन (हिन्दी दैनिक) सम्पादक श्री कामताप्रसाद जैन और श्री सुदर्शनलाल जी जैन। प्रकाशक श्री खतीलाल अग्निहोत्री सुदर्शन प्रेस एटा (यू० पी०)। अर्जुन साइज के चार पृष्ठ। मूल्य १ पैसा प्रति अंक।

यह जैनियों का पत्र है, पहले साप्ताहिक निकलता था, अब आठवें वर्ष में दैनिक रूप धारण किया है। विविध समाचार और विषयों का संकलन है परन्तु विचारों में कट्टरता प्रतीत होती है। समाज की कुरीति से पीड़ित एक बहन को दी गई सम्पादक जी की यह सलाह इसकी नीति का द्योतक एक छोटा सा पर स्पष्ट नमूना है—श्रीशास्त्रों की यही आज्ञा है कि पुरुष सदैव निर्दोष है और स्त्री सदैव सदोष है। हम मजहब में अकल को दखल देना कुफ़ समझते हैं। हमारे विचार में तो आप कानों में तेल डाल कर चुपचाप पड़ी रहें इसी में तुम्हारा समाज का और हमारा कल्याण। एक ही सम्बोधन में एक जगह आप और दूसरी जगह तुम पत्र की 'अपनी' सम्पादकीय भाषा की विशेषता का उदाहरण है। निस्सन्देह यह साहस की बात है कि एटा जैसी छोटी जगह से यह दैनिक निकाला गया है। यदि अपनी नीति एवं भाषा में उन्नति करले तो आशा है यह चल निकलेगा।

—मुकुन्दबिहारी वर्मा।

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका—ले०—ऋषि दयानन्द। प्रकाशक—आर्य-साहित्य-मण्डल, अजमेर। पृष्ठ संख्या ४७०। मूल्य ।=)

उत्कृष्ट कोटि का आर्यसामाजिक साहित्य अत्यन्त सुलभ करके आर्य संसार का उपकार जितना आर्य साहित्य-मण्डल ने किया है, उतना अन्य किसी संस्था ने नहीं किया, यह आज निःसंकोच कहा जा सकता है। चारों वेदों का सरल हिन्दी भाष्य ३) में देना साधारण साहस नहीं है। कुछ समय से मण्डल ने ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का सुलभ संस्करण डालने का बीड़ा उठाया है। गत शताब्दी के अवसर पर उसने ।) में सत्यार्थप्रकाश बेच कर प्रकाशन-संसार में हलचल करदी थी। अब उसने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।=) में देकर असमर्थ व आर्य विद्यार्थियों के लिये महान उपकार किया है।

पुस्तक की छपाई सफाई अच्छी है। संस्कृत और भाषा के भागों तथा प्रश्नों व उत्तरों को पृथक् २ पैराग्राफ में छापने से पाठकों को समझने में सुगमता होगी। मूल पुस्तक के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि नवयुग के निर्माता वेदों के भाष्य-कार ऋषि दयानन्द के भाष्य की भूमिका रूप यह ग्रन्थ है। यू० पी० के विश्वविद्यालयों में इसे पाठ्यक्रम में नियत किया जा चुका है।

आर्य-जगत तो आर्य साहित्य-मण्डल के इस प्रयत्न का स्वागत करेगा ही, वेद के प्रेमी अन्य मतावलम्बी भी इसे पढ़ेंगे।

—कृष्णचन्द्र

पेटेन्ट स्लेट तख्ती—हकीम सैयद अब्दुलाशाह साहब जजामी ने इस स्लेट तख्ती का आविष्कार कर विद्यार्थियों का वास्तव में बहुत उपकार किया है। एक तरफ यह स्लेट का काम देती है और एक तरफ तख्ती का। तख्ती में भी एक खूबी है कि मुलतानी मिट्टी लगाये बिना ही पानी से साफ हो जाती है। स्कूलों के विद्यार्थी इस स्लेट-तख्ती का प्रयोग कर भारत के इस नये, छोटे परन्तु उपयोगी आविष्कार का आदर करेंगे, ऐसी आशा है। हकीम साहब ने मुसलमान होते हुए भी अपनी कम्पनी का नाम कृष्ण भारत स्लेट तख्ती कम्पनी रखा है। यह कम्पनी करौलबाग दिल्ली में स्थित है।

प्राप्ति-स्वीकार

तत्त्वार्थ सूत्र जैनागम समन्वय पर एक दृष्टि—ले०—प्रो० बनारसीदास। प्रकाशक—ला० रामलाल जी इन्द्रचन्द्र जी पारख मालीवाड़ा, दिल्ली।

सदुपदेश माला—संग्रहकर्ता चन्द्रभान विद्यार्थी और शिवनाथ विद्यार्थी। प्रकाशक श्री हिन्दू विद्यार्थी सम्प्रदाय कालपी। मूल्य ।-)।

सुलभ पैसा-माला के चार पुष्प—(१) हंसी का फव्वारा (२) छेड़छाड़ (३) काम की बात (४) बड़ी। प्रकाशक—पापुलर हाउस लिमिटेड ब्यावर।

असूल वायोकमिस्ट्री—ले०—डा० के० पी० सक्सेना एम० डी०, एम० बी० एस०। प्रकाशक—आलीजाह दरबार प्रेस ग्वालियर। मू० १)।

धारावाही उपन्यास

अपराधी कौन ?

(ले०—श्री देव)

बीजारोप

(१)

'यारो, आज सगमलाल के बाग पर चढ़ाई होगी। उस बाग का माली बड़ा मूजी है। उस दिन जब हम उसके बाग में घुसे थे, तब उसने बहुत गालियाँ दीं और लाठी से सिर फोड़ देने की धमकी दी। आज उसे मजा चखाया जाय।

'ठीक है। ठीक है। आज वहीं धावा हो।'

प्रस्ताव करने वाले का नाम उम्मेदसिंह था और अनुमोदन करने वालों के नाम थे बशीर, तिरखू और गेंदा। उम्मेदसिंह की आयु लगभग १२ वर्ष की होगी, शेष तीनों लगभग उसकी ही उम्र के थे। यह चान्डाल चौकड़ी एक वृक्ष की छाया में बैठकर युद्ध की तैयारियां कर रही थी।

बशीर बोला, 'भाई, कल तो बहुत ही मजा आया। जब हमने उस बनिये की दूकान पर आकर जलेबी के थाल को उल्टा दिया, तब वह सटी लेकर हम लोगों को मारने भागा इतने में लाला की धोती की लांग खुल गई। जितने में वह लांग बांधता, उतने में हम लोग हाथ और मुंह में जलेबियां भर कर भाग निकले बस लाला जी, आँखें फाड़ते और गालियां बकते ही रह गये।

तिरखू ने कहा 'क्या कहते हो यार, उस वक्त उस लाला का पेट देखने ही के लायक था। मानो आटे की बोरी ऊपर नीचे झूल रही हो।

उम्मेदसिंह ने गप्पों के सिलसिले को काटते हुए कहा कि 'अब समय खोना व्यर्थ है। सब अपने अपने घर चलें, और कोई घन्टे भर में सगमलाल के बाग के पिछवाड़े की ओर जो पीपल का पेड़ है उसके नीचे इकट्ठे हों। दोपहर के समय माली और मालिन दोनों ही चारपाइयों पर लेट कर खुर्राटे भरने लगते हैं। वही वक्त अमरूदों के पेड़ पर छापा मारने का है। उम्मेदसिंह उस शैतान पार्टी का नेता था। वह सूझ और हिम्मत में अपने साथियों से बढ़ा चढ़ा था। सबने उसकी सलाह को स्वीकार किया और अपने अपने घरों की ओर रवाना हो गये।

उम्मेदसिंह ने भी अपने घर की ओर कदम बढ़ाया। इस इतिहास का प्रारम्भ भारत की राजधानी दिल्ली की उस बस्ती में होता है, जिस का नाम सब्जीमन्डी है। दिल्ली के बड़े-बड़े बाजार अपनी-अपनी विशेषताओं के लिये प्रसिद्ध हैं। चाँदनी चौक चौड़ाई के लिये, चावड़ी बाजार वेश्याओं के लिये, खारी बावली मिर्चों की धांस के लिये और सब्जी मन्डी मच्छरों और बदबू के लिये मशहूर है। ऐसी सब्जी मन्डी की बस्ती के एक बहुत ही गन्दे हिस्से में एक छोटा झोंपड़ा था जिस में उम्मेदसिंह और उसकी मा रात में सोया करते और दिन में चूल्हा जलाकर रोटी बनाते थे।

६ वर्ष हुए, उम्मेदसिंह का बाप इन्फ्लुएन्जा की बीमारी से मर गया। वह एक मिल में काम करता था। मेहनती आदमी था। दिन में दस घन्टे परिश्रम करके रुपया ड्योढ़ रुपया कमा लेता था। उसका नाम जवाहरसिंह था। वह जात का चोहान राजपूत था। उम्मेदसिंह की माता का नाम अनारो था। जवाहर सिंह जो कुछ कमाकर लाता था वह अपनी औरत के हाथ पर रख देता था। दोनों की अच्छी निभती थी। हाँ कभी कभी सातवें आठवें दिन झगड़ा हो जाता था, क्योंकि जिस दिन मिल की छुट्टी होती थी, उससे पहली रात मजदूरों की तबाही का द्वार खुलता था। उस रात मजदूरों की पार्टियां शराब चढ़ाती थीं और जुआ खेलती थीं। जवाहिरसिंह उन मजलिसों से अलग नहीं रह सकता था। कुछ न कुछ खोहा आता था। अनारो बेचारी उस रात दुःख की घड़ियां बिताती थी कभी कभी लड़ती झगड़ती भी परन्तु क्या करती। बेचारी लाचार थी। स्वयं जितना मितव्यय कर सकती थी करती थी। परिणाम यह था कि उनके गृहस्थ की गाड़ी किसी न किसी तरह चली जाती थी यद्यपि बचता कुछ भी नहीं था। जो पैसा अनारो के प्रयत्न से बचता था वह जवाहर की बोतल के साथ बह जाता था।

एक प्रातःकाल जवाहिर देर तक चारपाई पर से न उठा। पहली रात उसने मजदूरों की मंडली में शराब पीकर व्यतीत की थी। सुबह तीन बजे घर पर आया, और चारपाई पर पड़ गया। रात ठण्डी थी। हवा लग गई। सुबह उठा तो जोर का ज्वर चढ़ा हुआ था, और गला रुंधा हुआ था। दोपहर बाद मिल के डाक्टर ने आकर देखा तो बतलाया कि इन्फ्लुएन्जा हो गया है। टूटी हुई झोंपड़ी, थोड़ा कपड़ा और पथ्य की कमी भला इन्फ्लुएन्जा का इलाज क्या होता? तीसरे दिन निमोनिया के चिन्ह प्रकट हो गये, और आठवें दिन प्राणों ने शरीर का साथ छोड़ दिया। बेचारी अनारो ६ वर्ष के लड़के के साथ इस भयानक संसार में अकेली रह गई।

पहले तो अनारो को चारों ओर अन्धेरा दिखाई देने लगा। वह बहुत रोई परन्तु कब तक रोती। अपना और बच्चे का पेट केवल आँसुओं से न भर सकी। जब बच्चा भूख से पीड़ित होकर 'मा भूख लगी है, रोटी दे' की रट लगाता तो बेचारी अनारो अपना दुख भूल जाती। कई कई दिनों तक रोजगार की तलाश में घूमने के पीछे एक पड़ौसी ने सलाह दी कि सब से अच्छी बात यह होगी कि जिस मिल में जवाहिरसिंह काम करता था, उसी के सेक्रेटरी के पास जाकर नौकरी मांगो, सेक्रेटरी दयावान आदमी है शायद कोई काम दे दे। अनारो को सलाह पसन्द आई। वह उम्मेद की उंगली पकड़ कर सेक्रेटरी के पास हाजिर हुई और आंखों में आंसू भर कर के कोई रोजगार मांगा। सेक्रेटरी का दिल अच्छा था। जब तक मिल की गांठ पर आंच न पहुंचती हो तब तक वह दया को नहीं छोड़ता था। उसने अनारो को मिल में काम दिला दिया।

तब से अनारो प्रतिदिन काम पर जाती है। कुछ दिन तक तो वह उम्मेद को अपने साथ ले जाती थी। परन्तु यह बड़ा चंचल और शरारती लड़का था। बहुत दिक किया करता था। जब वह आठ वर्ष का होगया तो अनारो उसे सुबह का कलेवा देकर कारखाने चली जाती, और पड़ोसिन से कह जाती कि जरा देखते रहना, उम्मेद इधर उधर न भाग जाय। बारह बजे कारखाना एक घन्टे के लिये बन्द होता था, उस समय अनारो घर आती और सुबह की बनाई हुई रोटियां खुद खाती और उम्मेद को भी खिलाती थी। वह एक बजे फिर मिल में चली जाती, और शाम तक वहीं रहती। इतने समय तक उसकी राय में उम्मेद पड़ोसी के बच्चों के साथ खेला करता था।

परन्तु उम्मेद क्या करता था? वह मा के चले जाने पर घर का दरवाजा बन्द करके बाहिर निकलता और बच्चों से खेलने में लग जाता था। जब तक छोटा था तब तक तो घर के पास ही खेला करता, परन्तु आयु के साथ ही उसकी दुनिया भी बढ़ती गई। आहिस्ता-आहिस्ता वह अपनी पार्टी के साथ दूर-दूर के दौरे लगाने लगा। कभी बोट पर तो कभी जोतगढ़ पर। कभी रोशनारा बाग में तो कभी बफखाने के सामने वाली झील के किनारे। साराश यह कि शैतान बच्चों की वह पार्टी चारों ओर चक्कर लगाती और शरारतें करती थी। उम्मेद अपनी मण्डली के सब बच्चों में मजबूत और चालाक था इसलिये उसे मण्डली का अगुआ बनने में देर न लगी। अनारो अपने बच्चे को मनुष्य समाज के बनाये हुए किसी स्कूल में न भेज सकी, परन्तु कुदरत ने उसके लिये अपने स्कूल के द्वार खोल दिये। वातावरण ने उम्मेद को अपने ढांचे में ढालना आरम्भ कर दिया। ४ वर्ष तक उम्मेदसिंह की स्वाभाविक शक्तियों पर गन्दे वातावरण की प्रतिक्रिया का जो परिणाम हुआ उसकी झांकी हम अभी दिखा चुके हैं। वह एक ऐसा आवारा, शरारती चण्डाल चौकड़ी का अगुआ बन गया जिसने सारी सब्जी मण्डी पर धाक जमा रखी थी।

(२)

सगमलाल के बाग के आम बहुत प्रसिद्ध थे। वह मीठे भी थे और नर्म भी। दिल्ली ठीक फलों के लिये विख्यात है। बाजार में यदि कोई स्वादु फल बिकता हो तो समझ लो कि वह किसी बाहिर की मन्डी से आया है। खास दिल्ली अत्यन्त नीरस है। उसे बाहिर वाले ही रसदार बताते हैं। परन्तु सगमलाल के बाग में अमरूदों की पौद बाहर से लाकर लगाई गयी थी। इस साल उस बाग का ठेका लिया था। नत्थन माली उसकी स्त्री और चार बच्चे बड़ी मेहनत से बाग की रखवाली करते थे। उनके जीवन का तो यही आधार था। और कभी बन्दर बाग पर टूट पड़ते और कुछ फलों को बिगाड़ जाते तो नत्थन के लिये तो मानो भूकम्प आ जाता। उसकी आशाओं का महल टूट जाता क्योंकि इस वर्ष अमरूदों की अच्छी फसल को देख कर उसने लड़की की शादी करने का निश्चय कर लिया था।

(क्रमशः)

किसान ही भारत की संस्कृति है

संसार की एकता संस्कृति से होगी

श्रीमती सरोजिनी नायडू का भाषण

—————:०:—————

'भारत की संस्कृति किसान हैं, केवल टागोर की कविता भारत की संस्कृति नहीं बल्कि वास्तविक अर्थों में किसान ही भारत की संस्कृति हैं।"

गत १६ दिसम्बर को लिटररी लीग की ओर से की गई एक सभा में श्रीमती सरोजिनी नायडू ने संस्कृति' बड़ा पर बड़ा हृदयग्राही भाषण दिया। सभा में पंजाब सरकार के अनेक अधिकारी गण्यमान्य नागरिक और विद्वान् उपस्थित थे। उसके कुछ अंश निम्न लिखित हैं—

लिटररी लीग को चाहिये भारतीय संस्कृति तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिये—संसार भर की संस्कृति का समर्थन करना चाहिये। मैंने संसार का जितना भ्रमण किया है मुझे मानवी एकता की उतना ही अधिक आवश्यकता प्रतीत हुई है। सभी देश वाले एकश्वर प्रेम के गीत गाते हैं। सारे संसार का उपास्य देव एक ही है। तो भी संसार में झगड़े उठ रहे हैं। आप मान चित्र देखिये हर देश जुदा-जुदा रंग में दिखाया गया है हालांकि सब का कलेजा मानवी प्रेम और एकता का संदेश दे रहा है। राजनीतिक दृष्टि से हम में भले ही भेदबन्दी हो पर हमारे दिल विशाल और उदार होने चाहिये। इन सब झगड़ों का बहतर इलाज सांस्कृतिक एकता ही हैं। हमें अपनी संस्कृति पर गर्व होना चाहिये और उसके सही अर्थ समझने की चेष्टा करनी चाहिये। सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से पंजाब पर बड़ी भारी जिम्मेदारी है। यहां हिन्दू मुसलमान, सिख पारसी और ईसाई आदि सभी संस्कृतियों के आदमी रहते हैं। उनमें एकता होनी चाहिये।

संस्कृति युक्त जीवन

संस्कृति की एकता ही किसी देश की इच्छाओं का रूप ग्रहण करना है और फिर देश संयुक्त होकर इस योग्य हो जाता है कि वह अपने संग्राम में सफल हो सके। संस्कृति राष्ट्रीय जीवन के लिये अत्यावश्यक है। हमारे सामने इस समय जो समस्यायें हैं वह हम कल भूल जायंगी। कल हमारे सामने नई समस्यायें होंगी। इन समस्याओं को संस्कृति युक्त व्यक्ति ही हल कर सकते हैं। आज इस दुनिया में अशांति और उसके बड़े कारनामे उठ गये हैं लेकिन महात्मा बुद्ध के शब्द अभी तक मौजूद हैं। उन्हें दुनिया क्या भूल नहीं सकती? इस लिये कि महात्मा बुद्ध ने संसार में सच्चाई मानवी स्वतन्त्रता और आत्म सम्मान का प्रचार किया।

आपने भारतीय युवकों से अपील की कि वह पीठ की ओर न देखें

श्रीमती सरोजिनी नायडू

बल्कि भारत के भविष्य की ओर ध्यान दें वह अपना स्वर्ग खुद तैयार करे वह भावी भारत का स्वप्न देखे। यही स्वप्न और इरादे की दृढ़ता भारतीयों के भविष्य को शानदार बनायगी। क्या भारत में कोई ऐसा युवक है जो इस बात को अनुभव न करता हो कि मातृभूमि गुलामी की जंजीरों में जकड़ी हुई है। वह कौन सा युवक है जो मातृभूमि की गुलामी पर लज्जा से सिर नहीं झुकाता। मेरा सिर लज्जा से झुक जाता है, जब मैं मातृभूमि को वर्तमान अवस्था में देखती हूं।

देशभक्ति का भाव

सांसारिक जीवन में मनुष्य को विभिन्न विभागों में काम करना होता है। कोई मजदूर होता है तो कोई मन्त्री। हम सब में जातीयता और देशभक्ति का भाव कूट कूट कर भरा होना चाहिए। जब किसी जाति में देश भक्ति का भाव पैदा हो जाय तो फिर वह अपनी बुरी अवस्था को अनुभव करने लगता है। संस्कृति ही एक जाति का सच्चा दर्पण है। इस के बिना आप जाति के कष्टों का अनुभव नहीं कर सकते। महात्मा गांधी के शब्दों में संस्कृति का मतलब यह है कि आप का आदर्श मनुष्य मात्र की सेवा हो। इस समय आपके मध्य हजारों नहीं लाखों आदमी कष्ट में हैं गांधी जी कई बार साधारण सी बात करते हैं, लेकिन अगर उस पर ठन्डे दिल से विचार किया जाय तो वह बिलकुल ठीक और सच होती है।

कृषि ही संस्कृति है

महात्मा जी कहते हैं कि कलचर (संस्कृति) ही एग्रीकलचर (कृषि) है। एक आदमी यह सुनकर हंस पड़ेगा, लेकिन जब इस पर गहरी दृष्टि से देखा जाय तो यह ठीक मालूम होता है। आज करोड़ों किसान जो आपको रोटी देने के लिये लहू पसीना एक कर देते हैं और उनकी स्त्रियां आप के लिये सूत कातकर आप को कपड़ा देती हैं, आज उनकी क्या हालत है? भारत की संस्कृति किसान हैं। केवल टैगोर की कविता भारत की संस्कृति नहीं, बल्कि वास्तविक अर्थों में किसान ही भारत की संस्कृति है। हमें अपनी संस्कृति को ठीक दर्जे पर लाने के लिए अपनी मातृ भाषा को अपनाना चाहिये जो, अश्रु बहा रही है। किसानों की हालत बहतर बनायें। कलचर (संस्कृति) के वास्तविक अर्थ यही हैं। इसलिए मैं मिनिस्टर आफ एग्रीकलचर (कृषि-मन्त्री) का स्वागत करती हूं। महात्मा जी का कहना है कि हम प्रेम और स्वास से ही संसार पर विजय प्राप्त कर सकते हैं तलवार से नहीं यह कितनी साधारण बात है लेकिन अक्षरशः ठीक है। भारत तब ऊंचा होगा जब भारतीय यूनिवर्सिटियों में मुसलमान प्रोफेसर संस्कृत पढ़ाते नजर आयंगे और हिन्दू प्रोफेसर फारसी और अरबी पढ़ायंगे। मैं हिन्दू मुस्लिम एकता का यही स्वप्न देखती हूं और यह स्वप्न जरूर पूरा होगा।

श्रद्धानन्द-दर्शन

मुन्शीराम से श्रद्धानन्द

पानी में खड़े होकर बाल तोड़ने की विधि पूरी हो रही है।

अमर बलिदान

गोली लगन क बाद का चित्र

हुतात्मा श्रद्धानन्द (चिता में)

आदर्श शिक्षा-विशेषज्ञ

(ले०—श्री सेवाराम फेरवानी)

मैं उनसे गुरुकुल कांगड़ी में मिला था। वह एक वीर आत्मा थी जो एक महान आदर्श शिक्षा के प्राचीन आदर्श को अमल में लाने का यत्न कर रही थी। मनुष्य जीवन के उस महान माली ने अपने मानवी पौधों की क्यारी गंगा के किनारे हिमालय के चरणों में हरिद्वार के समीप ही लगायी थी। वह ऐसा तीर्थ है जहां वर्ष के प्रत्येक मास में हजारों तीर्थ यात्री आते रहते हैं। और यह क्यारी धीरे धीरे संख्या में रतो कार्यकर्ताओं महत्वकांक्षाओं और बाह्य संसार पर शिक्षा तथा सामाजिक क्षेत्रों में अपना प्रभाव डालती हुई व्यापक बन गई। उन्होंने समझ लिया था कि सामाजिक पुनरुत्थान के लिये शिक्षा सब से प्रबल साधन है। नवीन युग को पूर्व तथा पश्चिम की शिक्षा प्रणालियों में जो कुछ सर्वोत्तम था उसकी आवश्यकता थी। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने उस शिक्षा प्रणाली को विकसित करने का यत्न किया जिसमें गुरु शिष्य के पारस्परिक सम्पर्क से योग्यता को उत्पन्न किया जाता है और उस योग्यता को मनुष्य के मानसिक आध्यात्मिक तथा सामाजिक जीवन मे जो भी कुछ सर्वोत्तम वस्तु हो उसकी ओर झुकने का अभ्यास कराया जाता है। गुरुकुल मनुष्य में इसी योग्यता को उत्पन्न करने तथा प्राकृतिक और सांस्कृतिक सम्पर्कों से उन्नत करने का प्रचुर अवसर देता था। पर्वत की शोभा नदी का शांत शीतलतापूर्ण प्रवाह, विस्तीर्ण सुन्दर रम्य उपवन व वाटिकायें पर्वत की उपत्यका का वन, सुनहली उषा और रंगीन सूर्यास्त, ये सब ब्रह्मचारियों के विकास में सहायक होते थे और व्यावहारिक आदर्शों तथा आदर्शवादियों का भी वहां अभाव नहीं था। वे सब उनके (स्वामी जी के) उच्च प्रयोजन की प्रबल पूर्ति में सहायक होते थे और वहां बैठ कर स्वामी श्रद्धानन्द मानवी जीवन के शांत प्रवाहित स्रोत का निरीक्षण परीक्षण पूजन और पालन करते थे। और उनका काम बार २ धन्य था। उसको करने वाले और देखने वाले धन्य थे और वे ब्रह्मचारी भी धन्य थे जो इस उच्च वातावरण में पले थे।

—**—

मद्रास की धर्म यात्रा में लिया गया चित्र

भारत का सेवक

ले०—श्री मोहनलाल सक्सेना

स्वामी जी के दिल व दिमाग के अनेक गुणों और उनके विविध कामों की स्मृति हमारे मन में इतनी ताजा है कि उनके दुहराने की आवश्यकता नहीं। हम में से जो कोई उनके सम्पर्क में आया वह उनकी निःस्वार्थ लगन शुद्ध ईमानदारी दूरदृष्टि मिशनरी उत्साह और सब से बढ़ कर उनके निर्भीक साहस तथा अनथक परिश्रम से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। उनके विषय में सच-मुच कहा जा सकता है कि जिये भी देश के लिये और मरे भी देश के लिये उन्होंने भारत की धार्मिक सामाजिक शैक्षणिक और राजनीतिक उन्नति के लिये काम किया। उनका दृष्टिकोण ही क्रांतिकारी था। वह प्रत्येक प्रश्न पर बुद्धि-पूर्वक विचार करते थे और अनेक सुधार जो स्वतन्त्रता पूर्व होने चाहिये थे, उनके ही नेतृत्व में आरम्भ हुए। उनका आदर्श जीवन त्याग तथा सेवा का अविच्छिन्न इतिहास है और भारत के प्रत्येक सच्चे सुपुत्र को उसका अनुकरण करना चाहिये। भारत की भावी सन्तति अभिमान और कृतज्ञता के साथ उनका स्मरण करेगी।

———

शव का सम्मान

श्रद्धानन्द बाजार में अर्थी निकाली जा रही है

भारत के लिये पंचवर्षीय आयोजन

एक नवीन कार्यक्रम का मसविदा

(लेखक—श्री चन्द्रराज भण्डारी विशारद)

(गतांक से आगे)

इस लेखमाला के सुयोग्य लेखक श्री चन्द्रराज भण्डारी ने पिछले लेखों में भारत में एक पंचवर्षीय आयोजन की आवश्यकता और उसके मुख्य आधारभूत सिद्धान्तों का विवेचन किया था। इस लेख में उन्होंने उसके तीन पहलुओं पर प्रकाश डाला है, सरकार से कैसे सहायता ली जाय, आर्थिक व्यवस्था क्या हो, आयोजन का संगठन कैसे हो? हमें आशा है, हमारे पाठक और विचारक इस लेखमाला का अध्ययन और मनन करेंगे।

असेम्बली के मेम्बरों का संगठन

लेकिन इन तत्वों को व्यावहारिक रूप बनाने के पूर्व यह बात भली प्रकार ध्यान में रखना चाहिये कि यहाँ पर गवर्नमेन्ट हमारी अपनी नहीं है। इस प्रकार के रचनात्मक कार्यों की सिद्धि में लाखों, करोड़ों रुपये के प्रारम्भिक व्यय की आवश्यकता होती है। ऐसे भारी व्यय की समस्या गवर्नमेन्ट ही आसानी से हल कर सकती है। रूस की शिक्षा और अर्थ व्यवस्था में इतनी शीघ्र जो उन्नति हुई उसका एक प्रधान कारण उसकी अपनी गवर्नमेन्ट का होना था। ऐसी स्थिति में अपनी गवर्नमेन्ट न होने से हमारी कठिनाइयाँ कई गुना अधिक बढ़ जाती हैं। फिर भी मौजूदा गवर्नमेन्ट से हम अधिक से अधिक लाभ उठा सकें इसका हमें अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।

पर इसके लिये असेम्बली के साथी ग़ैरसरकारी सदस्यों का एक मजबूत संगठन बनाने की आवश्यकता होगी। हमारा ऐसा ख्याल है कि अगर मतभेद का विषय न हो, प्रयत्न में कमी न हो और कोई प्रभावशाली व्यक्ति इस कार्य को हाथ में ले तो इसमें बहुत कुछ सफलता हो सकती है। शिक्षा का प्रोग्राम ऐसा है कि अगर गवर्नमेन्ट की कोई कूटनीति काम न कर रही हो तो इस विषय में सभी मेम्बर एक हो सकते हैं। इसी प्रकार आर्थिक समस्या का प्रश्न ऐसा है जिसमें मिल-मालिक और पूँजीपतियों के प्रतिनिधि एकमत न होंगे, फिर भी यदि प्रयत्न किया जाय तो बहुमत इस बात के लिये तैयार हो सकता है। इस प्रकार यदि असेम्बली का बहुमत संगठित करने में हम लोग सफल हुए तो हमारी एक बहुत बड़ी कठिनाई दूर हो जायगी।

असेम्बली के मेम्बरों का यह संगठन हमारे आयोजन में क्या-क्या सहायतायें देगा, यह तो समय-समय पर पैदा होने वाली आवश्यकताओं से तय होगा, फिर भी कम से कम नीचे लिखी बातों की सहायता के लिये तो उसे गवर्नमेन्ट से अवश्य ही अपनी मांग पेश करनी होगी:—

१—भारतवर्ष में गवर्नमेन्ट के जितने भी हाईस्कूल हैं इनके कोर्स में परिवर्तन कराना। जितने फजूल अर्थात् विषय पढ़ाये जाते हैं उनको कम करवा कर, कृषि उद्योग और सैनिक शिक्षा को अनिवार्य करवाना। इस बात का प्रयत्न करना कि गवर्नमेन्ट अपने प्रत्येक हाईस्कूल और मिडिल स्कूल के साथ एक-एक उद्योग शाला की स्थापना कर, जिसमें प्रांत के प्रधान उद्योगधन्धों की मशीनें फिट की हुई हों। इन मशीनों पर सब विद्यार्थी अनिवार्य रूप से अपने प्रान्त के उद्योग-धन्धों की शिक्षा प्राप्त करें। इन्हीं स्कूलों के आस-पास जो मैदान हों उनमें कृषि की व्यावहारिक शिक्षा देने के लिये हर प्रकार के नवीन प्रयोगों को बतलाने की व्यवस्था हो। इसी प्रकार इन स्कूलों के विद्यार्थियों को सैनिक-शिक्षण देने की व्यवस्था की जाय। इन तीन विषयों के बदले में दूसरे विषय जितने भी कम किये जा सकें, कर दिये जायं।

(२) ग्रामों के अन्दर राष्ट्र की ओर से जो पाठशालायें स्थापित की जायं, उन्हें मासिक या सालाना अधिक से अधिक सहायता दिलाने की व्यवस्था की जाय। उन शालाओं के लिये कृषि के व्यावहारिक प्रयोग सिखाने को जमीन के टुकड़े भी मुफ्त में दिलाने की कोशिश की जाय।

(३) जो मशीनरियां विलायत, अमेरिका या जरमनी से आती हैं, उनके बनवाने के कारखाने यहीं पर खुलवाने का उद्योग किया जाय जिससे वे सस्ती पड़ें।

(४) व्यक्तिगत रूप से ग्रामों में जो व्यक्ति मशीनें लगाना चाहें उनके लायसन्स उन्हें आसानी से मिल जायं तथा बड़े स्केल पर कारखाने खोलने वालों को जहां तक सम्भव हो लायसेन्स न दिये जायं इस बात

श्री चन्द्रराज भन्डारी

की व्यवस्था करना।

अगर असेम्बली के मेम्बरों का संगठन उपर्युक्त बातों में आंशिक सफलता भी प्राप्त कर सका, तो हमारी बहुत बड़ी कठिनाइयें दूर हो जायंगी।

खर्च की व्यवस्था

हम ऊपर लिख आये हैं कि इस प्रकार के रचनात्मक कार्यक्रमों को सफल करने के लिये लाखों करोड़ों रुपये के खर्च की आवश्यकता होती है, अगर खर्च में कमी हो गई तो सारी आयोजन शेखचिल्ली की कहानियों से अधिक महत्व की नहीं हो सकती। जैसा कि हम आगे चल कर लिखेंगे कि प्रथम वर्ष में ही शिक्षा का प्रचार करने के लिये कम से कम दस हजार और अधिक से अधिक पच्चीस हजार युवक ग्रामों में भेजे जायं। कम से कम यदि इनका औसत वेतन बीस या पच्चीस रुपया भी मान लिया तो दो लाख से पांच लाख रुपये मासिक व्यय की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार ट्रेनिंग स्कूलों के तथा आर्थिक योजनाओं के इत्यादि सब मिला कर करीब दस लाख रुपये मासिक खर्च की हमको योजना करनी होगी। यह प्रश्न साधारण नहीं है, इसी स्थान पर आकर बड़े २ आयोजन असफल हो जाते हैं। इसके लिये इस विषय में हमें अपनी गृह-व्यवस्था बहुत मजबूत कर लेनी होगी। इस समस्या को हल करने के लिये तीन-चार मार्ग बहुत महत्वपूर्ण हैं।

लाटरी

खर्च की समस्या को हल करने के लिये लाटरी-प्रथा एक बहुत ही उपयोगी वस्तु है और इसमें सफलता भी काफी मिल सकती है। आर्थिक कठिनाई और चन्दे की भरमार के इस युग में आप किसी से एक रुपया भी चन्दा मांगते जावें, तो देने वाले की आंखों में अवश्य कांटा खटकेगा, मगर यदि उसे यह प्रलोभन हो कि अगर मेरी किस्मत अनुकूल हो, तो भर दिये हुये पांच रुपये के बदले में एक लाख रुपया भी मुझे मिल सकता है तो बहुत हर्ष से उस जोखिम में पड़ जायगा और खासकर उस हालत में तो वह बिलकुल संकोच न करेगा, उसे यह विश्वास होगा कि यह सारा कार्य राष्ट्रीय हित की दृष्टि से किया जा रहा है। जब गोआ के समान फारेन कण्ट्री में हमारे देश के पैसे से प्रति मास दो २ लाटरियां खुलती हैं और करीब एक-एक लाख रुपया इनाम में बांट देती हैं तब हमारे देश की, देश के गण्यमान्य पुरुषों द्वारा स्थापित की हुई, राष्ट्रीय हित के ध्येय को सम्मुख रखने वाली लाटरियां क्यों नहीं सफल होंगी?

अच्छी व्यवस्था करने से प्रति मास चार-पांच लाख रुपये की आमदनी सहज ही निकल सकती है। कुछ समय तक यदि इन लाटरियों ने ईमानदारी से इनाम बांट दिया तो फिर कैनवेसिंग की जरूरत न रहेगी घर बैठे लोग उत्साहपूर्वक टिकिट मंगवा लिया करेंगे।

नैतिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करना ही व्यर्थ है क्योंकि जब इस सारे आयोजन में राष्ट्रीय हित की भावना गर्भित है जब इसका उद्देश्य महान् और पवित्र है, तब नैतिक समर्थन भी इस को हो जाता है।

मुट्ठी प्रथा

खर्च के मसले का हल करने का दूसरा उपाय मुट्ठी प्रथा है। प्रत्येक

ग्राम्य स्कूल में एक बड़ी पेटी लगी रहे। इन स्कूलों में जो विद्यार्थी पढ़ने के लिये आवें उनका यह आवश्यक कर्तव्य रहे कि प्रतिदिन एक मुट्ठी अनाज अपने घर से लेते आवें और इस पेटी में डाल दें। इसके सिवाय जब फसल का समय आवे तब प्रति क्लास मे प्रति हल दस सेर अनाज के लिये लिया जाय। अगर ये दोनों प्रथाएं सफल हो गईं तो इनसे इतनी आमदनी हो जायगी जिससे प्रत्येक ग्राम्य स्कूल का खर्चा उसी ग्राम से निकल आवेगा और लोगों को कुछ बोझ भी मालूम न होगा।

सङ्गठन और नियन्त्रण

यह अत्यन्त आवश्यक है कि जो कुछ भी कार्य किया जावे वह चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, उसका सगठन और उसका नियन्त्रण आदर्श रहे बिना इन दो गुणों के पर्याप्त मात्रा में हुए कोई भी आयोजन सफल नहीं हो सकता। इस सारे आयोजन का सगठन कैसे किया जाय यह बात परिस्थिति और सुविधाओं को देख कर उसी समय तय की जा सकती है। फिर भी इस सारे आयोजन के तीन हिस्से किये जा सकते हैं (१) केन्द्रीय संस्था (२) प्रांतीय सस्था (३) जिला संस्था।

(१) केन्द्रीय सस्था—इसका स्थान सारे भारतवर्ष में किसी एक चुने हुए स्थान पर रहे। देश के चुने हुए गण्यमान्य नेता, प्रतिभाशाली विद्वान और महान विचारक इसके सदस्य रहें। इसकी दो कमेटियां रहें। एक शिक्षा सम्बन्धी योजना करने वाली और दूसरी आर्थिक योजना करने वाली। दोनों कमेटियों के सुविधानुसार उचित संख्या में मेम्बर बनाए जायं दोनों कमेटियों पर एक २ प्रेसिडन्ट हों और इन दोनों प्रेसिडेन्टों पर एक प्रधान प्रेसिडन्ट हो। इस संस्था का कर्तव्य सारी योजना का रूप और उसकी नीति को निश्चित करता रहे। समय २ पर मार्ग में जो-जो कठिनाइयां आवें, उनके निराकरण के उपाय यहां से निश्चित किये जावें। संक्षिप्त में आयोजन की सारी जवाबदारी इस संस्था पर रहे। इसके सेक्रेटरी की टेबिल पर इस बात की रिपोर्ट हमेशा मिलनी चाहिये कि सारे देश में कहां कहां पर क्या गतिविधि हो रही है।

प्रांतीय संस्था

(२) प्रांतीय कमेटियां प्रत्येक प्रांत के प्रधान स्थान पर होना चाहिये। इन में भी अर्थ और शिक्षा की दो शाखाएं होनी चाहिए और उनके आवश्यकतानुसार सदस्य होने चाहियें। प्रांत के चुने हुए नेता और धुरन्धर विद्वान इसके सदस्य होने चाहियें। केन्द्रीय संस्था से जो आदेश आवें, उनका पालन कमेटियों से करवाना, प्रांत की आवश्यकतानुसार केन्द्रीय संस्था की सलाह से नवीन योजनाएं बनवाना, स्कूलों के मास्टरों और इन्स्पेक्टरों की देखरेख में करवाना, इत्यादि प्रांत की तमाम जिम्मेदारी इस सस्था पर रहेगी। अपने प्रान्त की रिपोर्ट प्रतिमास सेन्ट्रल बोर्ड के पास भेजना इसका कर्तव्य रहेगा।

(३) जिला कमेटियां का स्थान जिला केन्द्र में रहेगा। प्रत्येक जिले के इन्सपेक्टर का आफिस भी इसी के अन्तर्गत रहेगा। ये इन्सपेक्टर भी इसके वैतनिक सदस्य रहेंगे। जिले के तमाम स्कूलों की, ग्राम पंचायतों की और उद्योगशालाओं की देखरेख करनी इस कमेटी के आधीन होगा। यह कमेटी अपनी साप्ताहिक या मासिक रिपोर्ट प्रांतीय संस्था को भेजेगी।

ये सब संस्थाएं परस्पर एक दूसरे से इतनी सम्बद्ध रहें और इनका नियंत्रण इतना उच्चकोटि का रहे कि प्रति मिनिट देश के अन्दर क्या उन्नति हो रही है, कहां कहां पर क्या भूलें हो रही हैं। ये सब बातें जिला संस्था से लेकर केन्द्रीय संस्था को नक्शे की तरह मालूम हो। नियंत्रण के सम्बन्ध में हमको गवर्नमेंट के पोस्ट विभाग का अनुकरण करना चाहिये।

अस्तु! इतनी बातों का विवेचन करने के पश्चात अब हम यह देखेंगे कि पांच वर्ष के अन्दर हम शिक्षा और अर्थ-सम्बन्धी योजना को किस प्रकार सफल कर सकते हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द

(ले०—श्री धर्मवीर वेदालंकार मन्त्री श्रद्धानन्द ट्रस्ट)

अमर महात्मा श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन त्याग और सेवा की साक्षात् प्रतिमा है। वह जिस दिशा में चल पड़ा उधर ही उसका स्मारक बन गया। उसने एक दिन स्वप्न लिया था। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के पुनरुद्धार का आर्यसंस्कृति के प्रचार का। वह स्वप्न महान था अक्रियात्मक था परन्तु था आदर्शवाद-पूर्ण। उस महान आदर्श के लिये वह मतवाला बना दीवाना बना, भिखारी बना। अन्त में उस स्वप्न को पूरा करने वाला बना। आज गुरुकुल उस मतवाले महात्मा मुन्शीराम और स्वा० श्रद्धानन्द का एक जीवित स्मारक है।

भारत के विशाल और विस्तृत क्षेत्र में कार्य करते हुए उसके हाथों में एक झन्डा रहता था जिस पर यह श्लोक अंकित था—

नाह कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

उसे न सम्पति की चाह थी—न स्वर्ग की कामना थी। उसे एक ही चाह थी और वह थी 'दुख स संतप्त प्राणियों के दुखों का निवारण करना' उसने जहां जिस पर आपत्ति के बादल मंडराते हुए देखे वहां वह सूर्य बनकर चमक उठा और बादलों को तितर-बितर कर दिया।

पटियाला केस में आर्य समाजियों की सहायता करना, धौलपुर राज्य में समाज मन्दिर के मामले में राज्य के विरुद्ध प्रतिवाद करना और अनशनव्रत करते हुए निर्भीकता से डटे रहना स्वर्गीय ला० लाजपतराय को आर्यसमाजी बना कर अपनाना आर्यसमाज तथा आर्यसमाजियों की रक्षा की सदा चिन्ता करते हुए क्रियात्मक कार्य करना उस महात्मा मुन्शीराम वा सन्यासी श्रद्धानन्द का ही काम था। जिन सिख भाइयों ने स्वामीजी के विरुद्ध एक दिन बड़ा आन्दोलन किया था उन्हीं सिखों के लिये आपत्ति के समय में उन्होंने ६२ वर्ष की अवस्था में जेल काटी। मार्शल-ला के दिनों में पन्जाब में जब डायर ओडवायर का अत्याचार पूर्ण आतंक छाया हुआ था और अमृतसर के जलियान वाला बाग में उपस्थित जन-

प० धर्मवीर वेदालंकार

संख्या को सरकार ने मशीनगनों से भून दिया था उसी जमाने में उसी अमृतसर में इन्डियन नेशनल कांग्रेस को आमन्त्रित करना सन्यासी श्रद्धानन्द का ही काम था। रोलट एक्ट के जमाने में घन्टाघर में संगीनधारी सिपाहियों के सामने छाती तानकर यह कहते हुए ललकारना खड़ा हूं गोली चलाओ उस सन्यासी का ही काम था।

वह साहसी और निर्भीक वीर आर्य समाज हिन्दूसमाज, सिक्ख समाज वा राजनैतिक क्षेत्र में अपने महान व्यक्तित्व का एक अमिट स्मारक छोड़ गया है।

महात्मा मुन्शीराम स्त्री जाति की दशा को देख कर विह्वल हो उठा। उसने एक दिन अपनी प्यारी पुत्री वेदकुमारी को एक गीत गाते हुए सुना— ईसा है राम रमैया।
ईसो है कृष्ण कन्हैयो॥

उस दिन उस महात्मा ने अपनी सन्तान को अनार्य-संस्कृति की शिक्षा में शिक्षित होते हुए देख कर एक कन्या स्कूल की स्थापना कर दी जो आज 'जालन्धर कन्या महाविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध संस्था है उस संस्था के द्वारा उसने स्त्री जाति होने वाले अन्याय को दूर किया और स्त्री-शिक्षा व आर्य संस्कृति का प्रचार किया। वह संस्था भी स्वामी श्रद्धानन्द की स्मारक है।

× × × ×

'हिन्दू-समाज का संगठन और एकता उस सन्यासी का एक मुख्य मिशन था। वह सारी उमर लड़ता रहा एक बुराई के खिलाफ वह था, जात पात और छूत-छात। उसका 'हिन्दू-संगठन हिन्दू समाज की जात पात और छूत छात पर कुठाराघात करने में था। उसका शुद्धि और अछूतोद्धार का व्यापक आन्दोलन इसी बुराई के आधार पर था। उसने अछूतों पर अमानुषिक अन्याय देखा—उसका दिल दहल उठा। उसने व्रत किया—संकल्प किया हम अछूत कहाने वाले भाइयों को गले लगा कर—हिन्दु-जाति के अंग बनाने और आर्य संस्कृति में दीक्षित करने का। उसने हिन्दू-समाज में क्रान्ति का बिगुल बजा दिया। जिस बिगुल की चीखती हुई आवाज को आर्य-समाज के साथ २ सनातन धर्म सभा और कांग्रेस ने भी सुना और क्रियात्मक कार्य जारी किया। दलितोद्धार वा हरिजनोद्धार जो कार्य अधूरा रह गया था उसे आज देश के पूज्य नेता महात्मा गान्धी ने सिद्ध करने का व्रत ग्रहण कर लिया है। वास्तव में महात्मा जी के आदर्शों के प्रसिद्ध कार्य महात्मा ही सिद्ध कर सकते हैं। आज श्रद्धानन्द बलिदान जयन्ती के अवसर पर हम उस महान सन्यासी का लाभ सेवक समाज सुधारक आर्य-संस्कृति का रक्षक तथा प्रचारक स्त्री जाति के बन्धनों का मोचक अछूतों का मित्र राष्ट्र निर्माता राष्ट्रीय जागृति तथा हिन्दु जाति के कर्णधार के रूप में देख कर उनके महान व्यक्तित्व से अपने जीवन में नवीन शक्ति स्फूर्ति तथा उत्साह प्राप्त कर सकते हैं।

———

स्वामी श्रद्धानन्द की अमर कृति

गुरुकुल विश्वविद्यालय का प्राचीन भवन

भारतीय नरेन्द्रों को भड़काने का असफल प्रयत्न

पार्लमेंट के ४३ सदस्यों का महाराज पटियाला के नाम पत्र

महाराजाओं का जवाब

महाराजा पटियाला ने गत १७ दिसम्बर को वह पत्र प्रकाशित कर दिया जो पार्लमेंट के ४३ प्रमुख सदस्यों ने आपके नाम भेजा था। उस पत्र के उत्तर में आपने अन्य चार महाराजाओं के साथ जो पत्र लिखा था वह भी प्रकाशित कर दिया गया है।

मम्बरों का पत्र

लन्दन, ४ जुलाई १९३४

(महाराजगण)

आपके तथा आपके देश के सामने खतरा उपस्थित है उसे देखते हुए हम यह पत्र लिखने का साहस कर रहे हैं। हम समझते हैं कि आप और आपके साथ अन्य महाराजे ह्वाइट पेपर के प्रस्तावों को कुछ भय व शंका की दृष्टि से देखते हैं। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि इस देश का एक बड़ा भाग भी इस योजना को ऐसा ही समझता है। हम लोग इस योजना को पार्लमेंट में पास होने देने के लिये कटिबद्ध हैं।

आप नरेन्द्र मण्डल के चांसलर और अपनी स्टैंडिंग कमेटी द्वारा इस खतरे का निवारण कर सकते हैं। ब्रिटिश सरकार का ऐलान है कि वह आप लोगों की सहमति के बिना इस योजना को लागू नहीं करेगी अतः आप इसका विरोध कर इसे रद्द कर सकते हैं। हम जानते हैं कि आप पर इस सुधार योजना को स्वीकार करने के लिये दबाव डाला जा रहा है। यदि आप दबाव में आ जायगे तो आपका नाश निश्चित है और यदि आप दबाव में नहीं आयेंगे तो भय की कोई बात नहीं होगी।

हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि इस देश में ह्वाइटपेपर का विरोध हो रहा है। अनुदार दल का जो वर्तमान काल में सरकार का दल है बड़ा भाग खुले तौर पर या अन्दर ही अन्दर इस योजना का विरोधी है। यदि उनको मालूम हो जाय कि आप लोग भी इसके विरोधी हैं तो निश्चय से पार्लमेंट द्वारा आपकी विजय होगी। आपको मारफत हम सम्पूर्ण राजाओं को विश्वास

महाराजा पटियाला

दिलाना चाहते हैं कि यदि आप अपने निश्चय पर दृढ़ रहेंगे तो हम आपका पूरा साथ देंगे और सम्राट के साथ आपके प्रतिष्ठित सम्बन्धों पर कोई आंच न आवेगी।

हस्ताक्षर—वस्टमिंस्टर के ड्यूक, बक्लाच के ड्यूक, पथोलकी डकज, हाण्टिंगटन की मार्किवस, वाइकाउण्ट फिन्ज एलन, विस्काउन्ट वर्टिस, विस्काउन्ट लिमिंगटन, विस्काउन्ट चर्पलिन, विस्काउन्ट वाल्मा, विस्काउन्ट हरफोर्ड, कनमयर के आर्च विस्टन चर्चिल, लार्ड कार्सन, लार्ड बैनबरी, लार्ड एम्पथिल, लार्ड चार्नवुड, लार्ड लारन्स, लार्ड रडस्डेल, लार्ड किलफोर्ड, लार्ड मऊन्ट टम्पल, लार्ड लेकनफील्ड, लार्ड इंलिंगटन, लार्ड क्वीन बोरो, सर हेनरी पेज-क्राफ्ट, सर अल्फ्रेड नोक्स, मेजर कोर्टल्ड, सर विलियम वलैन्ड, के० एपलिन, सर आर्चिबाल्ड वायड कार्पेन्टर, सर माईकेल आड्वायर, सर रोजर कदरा, सर जार्ज बौरो, मेजर जनरल बनान, लेडी हाऊस्टन, वाईमेस के अर्ल, लार्ड कार्नवालिस, पैट्रिक हामर, हर्बर्ट, विलियम्स, सामर विले, एलन चार्लटन, लार्ड कैरिंगटन, ले० कमांडर पीटर एम्स्।

राजाओं का उत्तर

पटियाला-हाउस नई देहली

२८-१०-३४

मित्र-गण!

आपने महाराजा पटियाला की मारफत जो महत्वपूर्ण पत्र हमें लिखा, उसके लिये हम कृतज्ञ हैं। १९३२ में नरेन्द्र-मण्डल ने उन शर्तों का उल्लेख कर दिया था जिनकी पूर्ति पर हम संघ में शामिल हो सकेंगे। हम देखते हैं कि ह्वाइट पेपर में उनमें से कितनी ही शर्तों को पूरा नहीं किया गया है। इन परिस्थितियों में मार्च १९३३ में मण्डल ने फिर उन विशेष शर्तों को दुहरा दिया था, जिनकी पूर्ति पर ही हम संघीय प्रस्तावों को स्वीकार कर सकेंगे।

यदि संयुक्त पार्लमेन्टरी कमेटी अपनी रिपोर्ट में इन शर्तों को नहीं मानगी तो हम पुनः अपनी राय कायम करने में आजाद होंगे।

हस्ताक्षर—भूपेन्द्रसिंह (पटियाला) उदयभानसिंह (धौलपुर) एस० एम० अब्बासी (बहावलपुर), यादवेन्द्रसिंह (पन्ना), राजेन्द्रसिंह (झालावाड़)।

मालवीय जी इङ्गलैण्ड जायंगे

विश्वस्त-सूत्र मे ज्ञात हुआ है कि पं० मदनमोहन मालवीय आगामी अप्रैल मास में इंग्लैंड जायंगे। वहां आप ज्वा० पार्ल० कमेटी की रिपोर्ट विशेषतः साम्प्रदायिक फैसले के विरुद्ध आन्दोलन करेंगे। सम्भवतः आप एक डेपूटेशन के नेता बनकर जायगे। डपूटेशन में कौन होंगे— इस सम्बन्ध में विचार किया जा रहा ।

रूस और फ्रांस में गुप्त सम्बन्ध

लण्डन के "स्टार" पत्र में प्रकाशित हुआ था कि फ्रांस तथा रूस ऐसी एक गुप्त सन्धि हो गई है कि यदि जापान रूस पर आक्रमण करे तो फ्रांस रूस को ४००० मिलियन फ्रैंक के शस्त्रास्त्र देगा और यदि फ्रांस तथा जर्मनी में लड़ाई हो जाय तो रूस फ्रांस को इतने ही मूल्य का अन्न देगा और दोनों देश परस्पर हवाई तथा सैनिक कमीशनों का अदला-बदला कर लेंगे।

लण्डन के रूसी राजदूत ने तथा पैरिस के जानकार हलकों ने इस समाचार का प्रतिवाद किया है और बतलाया है कि फ्रान्स तथा रूस में केवल इतनी सन्धि हुई है कि दोनों देश किसी तीसरे राष्ट्र से बिना एक-दूसरे की सलाह लिये कोई सन्धि न करेंगे।

अहमदाबाद में आम हड़ताल होगी?

ज्ञात हुआ है कि स्थानीय मिल-मालिक संघ ने कल रात को श्रमजीवी संघ का मुकाबला करने के लिये एक युद्ध-समिति की नियुक्ति की है। श्री कस्तूरभाई लालभाई तथा अन्य ४ मिलों के एजेण्टों को युद्ध-समिति का सदस्य बनाया गया है। श्रमजीवी-संघ द्वारा आम हड़ताल की घोषणा किये जाने पर यह युद्ध-समिति हड़तालियों के प्रयत्नों का भरसक मुकाबला करेगी। समस्त मिलों से हड़तालियों का मुकाबला करने के लिये चन्दा एकत्र किया जायगा और उस मिल को मोवजे रूप में सहायता भी दी जायगी, जिसे हड़तालियों द्वारा नुकसान पहुंचाया जायगा।

सप्ताह की हलचल

कौंसिलों में रिपोर्ट की छीछालेदर

पंजाब कौंसिल में रिपोर्ट अस्वीकृत

यू० पी० कौंसिल में गरमागरम बहस

ज्वायन्ट पार्लमेन्टरी कमटी की रिपोर्ट पर प्रांतीय कौंसिलों में बहस हो रही है। पंजाब-कौंसिल ने तीन दिन की बहस के बाद प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि इस कौंसिल की राय में ज्वायन्ट पार्लमेन्ट कमटी की रिपोर्ट भारतीय आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं करती।

बहस में अनेक सदस्यों ने बहुत अच्छे भाषण दिये। मौ० अफ़ज़ल-हक ने कहा कि इंगलैंड के चर्चिल से हमें इतना डर नहीं, जितना स्थानीय कौंसिलों के चर्चिलों से है। इस रिपोर्ट मे भारत को ऐसी कोई चीज नहीं मिलती, जिस पर वह गर्वानुभव कर सके। चौ० हबीबुल्ला ने रिपोर्ट को अपर्याप्त असन्तोषप्रद और निराशाजनक बताते हुए इस पर किये गये श्रम व व्यय के लिये भी अफ़सोस जाहिर किया। सरदार सम्पूर्णसिंह ने साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध किया।

यू० पी० कौंसिल

यू० पी० कौन्सिल में भी रिपोर्ट पर विचार हुआ। अधिकांश वक्ताओं ने रिपोर्ट के प्रति असन्तोष ही प्रकट किया। ठाकुर बलवन्त सिंह ने कहा रिपोर्ट का पन्ना-पन्ना भारतीयों के प्रति अहिंसा से भरा हुआ है। हाफिज मुहम्मद इब्राहीम ने कहा कि सर्वोत्तम संरक्षण तो सद्भाव ही से हो सकता है। मि० चिन्तामणि ने रिपोर्ट की खूब छीछालेदर की और कहा कि नये विधान से तो वर्तमान स्थिति ही अच्छी है। परन्तु अर्थ-सदस्य ने अंत मे कहा कि चाहे तीन दिन तक गुलगपाड़ा कर लो, अंत मे इसे मानोगे ही।

बंगाल और मद्रास कौंसिलों में भी रिपोर्ट पर विचार हो रहा है। सीमाप्रांतीय कौंसिल की खास बैठक इस पर विचार करने के लिये बुलाई जा रही है।

हाउस आफ लार्डस मे रिपोर्ट स्वीकृत होगई

हाउस आफ लार्ड्स ने बहुमत से ज्वायन्ट सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया। लार्ड सैलिसबरी ने अनुदार दल की ओर से जो संशोधन रखा था, वह ६० के विरुद्ध २३६ के भारी बहुमत से गिर गया।

लार्ड लिनलिथगो, लार्ड सैंकी और लार्ड रीडिंग आदि प्रमुख वक्ताओं ने रिपोर्ट का समर्थन किया।

लार्ड रीडिंग ने रिपोर्ट का समर्थन करते हुए कहा कि

> पहले मुझे भय था कि ३५ करोड़ भारतीयों के मुकाबले मे थोड़े से अंगरेज कैसे ठहर सकेंगे, लेकिन राजाओं के सम्मिलित होने से वह भय जाता रहा है।

प्रस्ताव को पास कराने के लिये नये नये लार्ड लाकर बिठाये गये हैं, यह कहते हुए मजदूर दल ने किसी तरफ भी वोट देने से इन्कार कर दिया।

भागलपुर में भूकम्प

१६ दिस० को सवेरे ४ बजे यहां कुछ सैकण्ड तक हलका सा भूकम्प आया, पर जान-माल के नुकसान की कोई खबर नहीं मिली है।

डा० सत्यपाल को सजा

ता० १७ दिसम्बर की शाम को ४ बजे देहली एडीशनल मजि० मि० पूल ने डा० सत्यपाल को राजद्रोहात्मक भाषण देने के अपराध में १ वर्ष सख्त कैद की सजा दी। सुना है कि वे अपील करेंगे।

—:—

हाथ-कुटा चावल, हाथ-पिसा आटा और गुड़ खाओ

अ० भा० ग्राम्य उद्योग संघ का कार्यक्रम

अ० भा० ग्राम्य-उद्योग-संघ की प्रबन्ध-समिति ने एक अपील निकाल कर अपने तात्कालिक कार्यक्रम पर प्रकाश डाला है।

बोर्ड की एजन्सियां स्थापित करने की बात एक ओर रख कर इसमें जनता से फिलहाल यह कहा गया है कि हाथ-कुटे चावल, हाथ की चक्की से पिसे आटे और गावों में बने गुड़ का व्यवहार बढ़ाया जाय। तेल घानी का किचा अच्छा होता है या मिल का, इस बारे में तो अभी रायें एकत्र की जा रही हैं, परन्तु हाथ-कुटे चावल हाथ-पिसे आटे और गुड़ के बारे में तो ऐसी बहुत सी रायें मिल चुकी हैं, जिनमे निश्चय है कि मिल के पोलिशदार चावल, मिल के पिसे आटे और मिल में बनी शक्कर से वे ज्यादा उपयोगी हैं। यदि इन सलाहों पर ध्यान दिया जाय, तो ग्रामों को आर्थिक लाभ होगा और तन्दुरुस्ती पर भी अच्छा असर पड़ेगा।

गावों की सफाई

साथ ही बोर्ड की यह भी इच्छा जाहिर की गई है कि सफाई का काम ढीला नहीं छोड़ना चाहिये। पढ़े-लिखे को गावों मे जाकर सीधे-सादे तरीके से गावों को सड़कें बनाने, पाखाना पेशाब के लिये नये सुधरे हुए उपाय करने और कुओं-तालाबों के साफ करने तथा ग्रामीणों को पानी के उपयुक्त उपयोग की शिक्षा देने के काम करना चाहिये।

ग्राम्य एजेन्टों के नियम

महात्मा जी का वक्तव्य

म० गाधी ने एक वक्तव्य में कहा है कि मेरे पास कुछेक ऐसे आदमियों के पत्र आये हैं, जो अ० भा० ग्राम व्यवसाय संघ के लिये बतौर एजेन्ट मुफ्त काम करने के लिये तैयार हैं। एजेन्टों की ड्यूटियां निम्न प्रकार होंगी :—

(१) एजेन्ट को सेन्ट्रल आफिस कार्यक्रम पर चलना होगा। (२) प्रत्येक एजेन्ट को अपने इलाके के गांवों स्वास्थ्य व सफाई का ध्यान रखना पड़ेगा। (३) ग्रामों की फालतू उपज के लिये बाजार तलाश करने पड़ेंगे। (४) एजेण्ट को अपने इलाके का लोकमत कार्यक्रम के पक्ष में करना होगा। (५) उसे अपने काम के लिये चन्दा एकत्र करने की इजाजत होगी। सेन्ट्रल आफिस से कोई सहायता मिलेगी। निजी खर्च के लिये चन्दे का रुपया इस्तेमाल करने की इजाजत नहीं होगी। (६) एजेण्ट रुपये-पैसे का ठीक ठीक हिसाब रखना होगा। (७) उसे इस बात की इजाजत होगी कि अपना काम चलाने के लिये वेतनभोगी आदमी रख ले। (८) सेन्ट्रल आफिस उसके कार्य का निरीक्षण करेगा। (९) प्रति मास अपने कार्य की रिपोर्ट सेन्ट्रल आफिस को करनी पड़ेगी। (१०) यदि इस सम्बन्ध मे कुछ गड़बड़ होगी तो एजेन्सी तोड़ दी जायगी

साप्ताहिक डायरी

शेखूपुरा की खबर है कि १२ सशस्त्र डाकुओं न शाहदरा इलाक के दो ग्रामों में जबरदस्त डाके डाले। पहिला मुबारकपुर क एक मालदार जमींदार के घर तथा दूसरा उभो-डामर क साहूकार की दुकान पर डालो।

—पटना का समाचार है कि स्विटजरलैण्ड इन्टरनशनल वाल टियर सरविस तथा बिहार रिलीफ कमटी की ओर मे २००० पीडित परिवारों के लिये मकान बनवान की योजना तैयार की जा रही है।

—लाहौर म खबर आई है कि बहावलपुर के नवाब न आज्ञा निकाली है कि सब कर्मचारी चाहे हिन्दू मुसलमान या ईसाई हो, तुर्की टोपी पहन कर दफ्तरों में आया करें।

—कोनार (लिथुआनिया) का सम्वाद है कि १०६ नाजियों क विरुद्ध कोर्ट माशल आज आरम्भ होगा। उन पर सशस्त्र क्रांति द्वारा लिथुआनिया का एक भाग जर्मनी को देन जर्मनी क नाजी दल म गुप्त सम्बन्ध रखन का तथा आतकवाद का अभियोग है।

मैं चाहता हू कि जिन व्यक्तियों न अपन नाम बतौर एजन्ट काम करन क लिय, मेरे पास भेजे हैं, वे श्री कुमारप्पा वर्धा म पत्र व्यवहार करें। स्मरण रहे कि प्रबन्ध कोई किसी एजण्ट को भी आर्थिक सहायता नहीं देगा।

सुधारों को मत ठुकराओ अन्यथा कुछ भी न मिलेगा

वायसराय का भाषण

वायसराय आजकल कलकत्ते में और सभाओं सम्मलनों व पार्टियों म व्याख्यान दे रहे है। १९ दिसम्बर को एक भाषण में वायसराय ने पार्लमेंटरी कमेटी की रिपोर्ट का समर्थन करते हुए भारतीयो का यह धमकी दे दी कि प्रस्तावित सुधारो को स्वीकार न करना भारत को अनिश्चित काल क लिय वर्तमान अवस्था में रखना है अर्थात यदि ये अस्वीकृत किया गया तो कोई सुधार नही मिलेगा।

—जबलपुर का समाचार है कि यू० पी० पुलिस के एक सिपाही के मणिकपुर में किसी मामले की खोज के लिये कुछ आदमियों के नाम नोट करने पर लोगों न उसे पीटा। सिपाही जान-बचाकर थाने में भागा। थाने से कुछ सिपाहियों व अफसरों का दल घटना स्थल पर पहुचा और कुछ गिरफ्तारियां कीं जिस कारण दुकानदारो न ४ रोज की हड़ताल कर दी। अब मजि० व सु० पु० के समझाने से खुल गया है।

—मेरठ षड़यन्त्र-केस क भूतपूर्व कैदी श्री फिलिप स्प्रैट को १५ दिन तक हिरासत में रखने का हुक्म दिया गया है। आपको कल रात 'इमर्जेन्सी पावर्स एक्ट' के अनुसार गिरफ्तार किया गया है।

—पञ्जाब कौंसिल के देहानी दल (रूरल पारटी) ने पञ्जाब कर्जा बिल पर गवर्नर की की हुई सिफारिशें स्वीकार करली हैं। फलत. २१ ता० को वे कौंसिल में स्वीकृत हो गई। सरकार के साथ मिल कर देहती दलने साहूकारों की सब मांगों को ठुकरा दिया।

—भारत मन्त्री न सरदार बहादुर मोहनसिह (पजाब लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य) को इण्डिया कौंसिल का सदस्य नियुक्त किया है। सरदार बहादुर फरवरी १९३५ क आरम्भ में अपना कार्य भार सम्भाल लेंगे।

—भगभक्त नामक एक व्यक्ति को छ नला रिवाल्वर तथा छः करतूस रखन के अभियोग में नौ वष की सख्त सजा हाईकोर्ट मे मिली है।

—कलकत्ता को समाचार है कि श्री सुभाषचन्द्र बोस को १८ ता० साय ७ बजे पुलिस के पहर में मैडिकल कालिज हस्पताल ले जाया जायगा, क्यों कि वहां उन्हें एक्सर परीक्षा के लिये चार दिन रहना पडेगा।

—पेशावर का समाचार है कि सीमा प्रान्त में गत ११ मास में ४६८ हत्यायें हो चुकी हैं जिनमें म ३८ नवम्बर में हुई हत्याओं में मे ९७ पेशावर में हुई है।

—कपूर्थला में कप्तान अजीज अहमद और लैफ्टिनण्ट सादिक अहमद ना० चौ० अब्दुल अजीज के भाइयों को जिनकी सम्पत्ति कोर्ट आफ वार्ड करदी थी, अब वापिस करदी गई है और उन पर मे पाबन्दियां हटाली गई हैं।

—कलकत्ते में अब तक १०० डाक-हड़ताली गिरफ्तार किये जा चुके है।

—बेलग्रेड क १५ दिसम्बर के समाचार के अनुसार स्कोयल जी म्युनिसिपैलिटी ने निश्चय किया है कि थियटरों व नाचघरों में राग-मजे करन वालों पर ११ बजे के बाद १ पेनी, आधी रात बाद २ पेनो व सारी रात के लिये बेरोजगारों के पोषण के लिय टैक्स लिया जायेगा।

—मार्सेल्ज की खबर है कि शिया फिजो जहाज क डूब जान से २१ आदमियों की जानें गई है।

—मुजफ्फरपुर मे समाचार आया है कि वहा ४ ४५ पर तथा माणिकगज (ढाका) में १-१५ पर भूकम्प के हलके २ धक्के मालूम हुए।

—मालूम हुआ है कि सम्भवतः जनवरी क मध्य में देहली में अ० भा० कांग्रेस कार्य समिति की बैठक होगी।

—मास्को स समाचार मिला है कि सेण्ट्रल बोल्गा प्रान्त के ताशला ग्राम में सोवियट अधिकारियों पर आतक जमान का प्रयत्न करने के अपराध में ४ व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड मिला है।

—इन्दौर में होन वाले अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद के सम्बन्ध म महात्मा गान्धी से उत्तर आन पर स्वागतसमित न प० मदनमोहन मालवीय को सभापति चुना है।

—इस्ताम्बूल (टरकी) का समाचार है कि अनातोलिया प्रान्त में भयकर भूकम्प मे बीस आदमी मर गये, सेंकड़ों घायल हो गये तथा हजारों बे घर-बार हो गये [illegible] कड़ियर के आस पास भूकम्प के धक्के अब तक आ रहे हैं। चायकजूर में धक्का न गांवों को नष्ट कर दिया है। रेडक्रास सोसायटी की ओर म वायुयानों द्वारा सहायता पहुचाई जा रही है।

—नई देहली मे भारतीय व्यापारिक सघ क फेडरेशन की कार्य-समिति की बैठक ला० श्रीराम के निवास स्थान पर हुई जिसमें निश्चय किया गया कि ज्वा० पा० क० की रिपोर्ट भारत क व्यापारियों को अस्वीकार है, क्यो कि इसकी सिफारिशें भारतीय राजनीतिज्ञों की मांगों से बहुत कम व व्हाइट पेपर की योजनाओं से भी गई बीती है। उनकी राय है कि इन सरक्षणों मे भारतीय व्यवसाय को हानि पहुचेगी।

—अक्तूबर में ११ लाख पौंड सूत विदेशो स आया।

मधुबनी में ता० १६ को सवेरे एक असाधारण दृश्य नजर आया—

भिन्न भिन्न कुए-तालाबों में क्रमशः पानी घटने-बढ़ने लगा, जिससे वहां नहाते हुओं को बड़ा आश्चर्य हुआ। कुछ कुओं का पानी तो बिलकुल ऊपर तक आ गया और फिर बैठ गया। यही विचित्र बात मधुबनी के आस-पास के गांवों में भी हुई।

—विमलप्रसाद जैन के भाई जुगमन्दरप्रसाद को पजाब क्रिमिनल ला अमेण्डमेन्ट एक्ट के अतर्गत २४ घण्टों में दिल्ली से बाहर हो जाने का नोटिस मिला है।

—लखनऊ में कांग्रेस के भावी अधिवेशन करन की तैयारियां शुरू हो गई हैं। लेकिन सेठ अचलसिंह आदि इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि अधिवेशन आगरे में किया जाय, क्योंकि कराची कांग्रेस ने आगरा में अधिवेशन करने का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया था।

—खालसा दरबार ने ज्वायन्ट सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट को रद्द करन का निश्चय किया है।

—भारत के विभिन्न विभागों में श्रद्धानन्द सप्ताह मनाया गया।

—भारत सुधार-बिल २२ जनवरी को प्रकाशित कर दिया जायगा।

—सरकारी गजट के अनुसार इण्डियन टैरिफ एक्ट और रिजर्व बैंक की कुछ धारायें १ जनवरी १९३५ से लागू हो जावेंगी।

—एक प्रस्ताव में इण्डियन कामर्स फेडरेशन की वर्किंग कमिटी न मोदी-विलियम समझौते का विरोध किया है।

नाम देख ले

'नमूने व सचित्रसूची विभाग, ७० ६० स प्राप्त कीजिय

LALIMLI
FABRICS

स्थानीय प्रतिनिधि —
प० जयनारायण मिश्र, एजरटन रोड (नई सड़क) देहली।
सिंघल एण्ड सन्स ३ ताज बिल्डिङ्ग कुलड़ी बाजार मसूरी

482 IPB

कानपुर वूलन मिल्स।

वैस्टर्न इंडिया लाइफ इन्शोरेन्स कम्पनी लि०,

हेड आफिस—सतारा स्थापित १९१३

विशेषताए

सर्वोत्तम जब्त न होने वाली धारा — सर्वोच्च रिजर्व का अनुपात

सब से अधिक मितव्यता — सुरक्षित व लाभदायक धन विनियोग — बोनस सब से अधिक

प्रीमियम की दरें कम — स्त्री का बीमा होता है

स्त्री पुरुष दोनो का सम्मिलित बीमा भी होता है।

वार्षिक किश्त पर २॥ प्रति सैकड़ा छूट

जीवन बीमा कराने का यही ठीक कम्पनी है

पूरे ब्योरे के लिये निम्न पते पर पत्र-व्यवहार करें —

वेस्टर्न इण्डिया लाइफ इन्शुरन्स कम्पनी लिमिटेड सतारा।

मैनेजर
हेड आफिस

अलीगढ़ में

'अर्जुन'

कहां मिलता है

(१) मास्टर छोटेलाल जी बुकसेलर,
अचल रोड, अलीगढ़।

(२) सिंगल एन्ड कम्पनी,
न्यूज़ पेपर एजेन्ट, मानिक चोक, अलीगढ़।

(३) मि० बाबूलाल शर्मा,
न्यूज़ पेपर एजेन्ट, अलीगढ।

एम्पायर आफ इन्डिया लाइफ एश्योरेन्स कम्पनी, लि०

(स्थापित १८९७)
(हेड आफिस बम्बई)

(२८ फरवरी १९३४ को समाप्त होने वाले साल का कारोबार)

नया कारोबार	१ ३० ०० ००० रु० से अधिक
आय	७३ ३७ ००० रु० से अधिक
पावना (एसेटस)	४ ३७ ५१ ००० रु० से अधिक
दावे अदा किये गये	४ ०० ०० ००० रु० से अधिक
चालू बीमा	११ १८ ०० ००० रु० से अधिक

व्यय का अनुपात २२ परसेन्ट   पोलिसी रद्द होने का अनुपात ४ परसेन्ट

एजेन्सी के नियम बड़े मुनाफे के हैं। विवरण के लिये लिखिये —

दी ब्रांच सेक्रेटरी चांदनी चौक देहली।

नेशनल इनश्योरेन्स कं० लि०

हेड आफिस—नेशनल इनश्योरेन्स बिल्डिङ्ग ७ कौन्सिल स्ट्रीट, कलकत्ता।

१९३३ का लेखा

नया कारोबार १ ६७ ०० ००० रु० से ऊपर

कम्पनी हर प्रकार से उन्नतिशील है।

सब प्रकार का जीवन बीमा निहायत कम प्रीमियम दर पर किया जाता है।

विशेषतायें

स्त्रियों का सम्मिलित स्थायी प्रतिबन्ध पालसिया तिगुन लाभ की पोलसिया बच्चों के विवाह व शिक्षा के प्रबंध का पालसिया भी जारी की जाती हैं। एजेन्सी के लिये लिखिये —

मोहनलाल निर्मलदास
ब्रांच सेक्रेटरी देहली ब्रांच गङ्गानिवास
चांदनी चौक पो० ब० १०१ देहली।
टेलीफोन नम्बर ५१६४

मि० गुरसरननिवास
एजेन्सी सुपरिंटेन्डेन्ट लश्कर ग्वालियर
या मि० एस० एन० दास गुप्त चीफ
एजेन्ट अलाहाबाद सरकल
८ क्लाइव रोड अलाहाबाद।

आग, मोटर व जोखम आदि के बीमे के लिये—

नेशनल फायर एन्ड जनरल एश्योरेन्स कम्पनी लि०

हेड आफिस —नेशनल इनश्योरन्स बिल्डिङ्ग ७ काउन्सिल हाउस स्ट्रीट कलकत्ता को लिखें।

देहली एजेन्सी —गङ्गानिवास चांदनी चौक पो० १००१ देहली। टेलीफोन न० ५१६।

आर० जी० दास एन्ड क०
मैनेजर।

पं० रामगोपाल विद्यालंकार प्रिंटर और पब्लिशर के लिये अर्जुन प्रेस, श्रद्धानन्द बाजार देहली में छपा।

अर्जुन
सचित्र-साप्ताहिक
वर्ष १
अङ्क ३
॥ अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे, न दैन्यं न पलायनम् ॥
लाला श्रीराम
खान अब्दुलगफ्फार खां
मि० आर्थर हैण्डर्सन
डा० सत्यपाल
वार्षिक मूल्य ३॥)]
सम्पादक— इन्द्र विद्यावाचस्पति
कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार
[एक अङ्क का मूल्य -)
C. G. M. T. C. DELHI

विषय-सूची

—— ० ——

अर्जुन

रविवार, ता० १५ दिसम्बर १९३५ ई०

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्

राष्ट्रीय मुस्लिम नेताओं से निवेदन

भारतवर्ष इस समय एक बड़े मानसिक संग्राम में से गुजर रहा है। सदियों तक हम ऐसे वायुमंडल में रहे हैं, जो धार्मिकता के अणुओं से भरपूर था। मुसलमान राज्य काल में वह वायुमंडल और भी अधिक गहरा हो गया। राजा और प्रजा का भेद धार्मिक रेखाओं से सीमित था, इस कारण राजनीति का संघर्ष धार्मिक संघर्ष के रूप में परिणत हो गया। जो व्यक्ति राज्य से विद्रोह करता था, वह प्रायः राज्य के धर्म का भी बागी बन जाता था। इस प्रकार राजनीति उथल-पुथल में से गुजर कर भी मध्यकालीन भारत धार्मिक दृष्टिकोण से बाहिर न जा सका। परन्तु भारत में अंग्रेजी का आधिपत्य होने के साथ ही परिस्थिति बदल गई। यदि केवल दो धर्म होते एक राजा का और दूसरा प्रजा का तो परिस्थिति वैसी ही बनी रहती, राजनीति का रंग धार्मिक ही रहता। परन्तु राज्य का धर्म ईसाई है, और प्रजा हिन्दू, मुसलमान, पारसी आदि कई मार्गों में नियुक्त है। राजनीति और धर्म की सीमायें एक नहीं रहीं। उनमें बहुत अन्तर हो गया। ब्रिटिश सरकार ने इस परिस्थिति को बहुत शीघ्र पहिचान लिया और भारत में ब्रिटिश राज्य को धार्मिक दृष्टि से पक्षपात हीन बनाने का यत्न किया। यद्यपि ब्रिटिश राज्य से अब तक ईसाई मिशन को सहायता मिलती है तो भी व्यवहार में सरकार धर्म को भिन्नता का कारण नहीं बनने देती। एक अंग्रेज़ भारतवर्ष अपने को इंग्लैंड का वासी अंग्रेज़ समझ कर राज्य करता है, ईसाई समझ कर नहीं। इसका प्रधान कारण यह है कि योरप की जातियां अपनी राजनीति को धर्म से सर्वथा अलग कर चुकी हैं। एक अंग्रेज़ इंग्लैंड की राजनीति में भी ईसाई बन कर प्रवेश नहीं करता, केवल अंग्रेज बन कर प्रवेश करता है। उसकी सांसारिक मनोवृत्ति ही नैतिक और राष्ट्रीय बन गई है। इसी कारण वह भारत में भी नैतिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही शासन करता है। वह भारतवासियों को एक अधीन देश के व्यक्ति समझ कर उन पर राज्य करता है, उन्हें ईसाई भिन्न प्राणी समझ कर नहीं। भारत से ब्रिटिश राज्य की सफलता के अनेक कारणों में से एक यह भी है। यदि अंग्रेज़ ईसाई दृष्टिकोण से भारत का शासन करते, तो भारत की प्रजा कभी की एक होकर खुले विद्रोह के लिये खड़ी हो चुकी होती, क्योंकि तब तो वह संघर्ष ईसाई और ईसाई भिन्न का हो जाता, जिसमें हिन्दू मुसलमान पारसी सब एक हो जाते। परन्तु बड़ी दूरदर्शिता से अंग्रेजों ने भारत शासन से धार्मिक दृष्टिकोण को विदा कर दिया।

इस परिस्थिति के कारण भारतवासी अंग्रेजों की अपेक्षा बहुत निर्बल हो गये क्योंकि जहां अंग्रेज भारत के शासन में केवल राजनीतिक दृष्टिकोण से देखते थे वहां भारतवासी अभी उसी मध्य कालीन धार्मिक वातावरण में विचर रहे थे। यदि सारे भारतवर्ष में केवल एक ही धर्म के मानने वाले लोग बसे हुए होते तो कोई हानि न होती, परन्तु हमारे भाग्यों से भारत के अनेक धर्म हैं। धार्मिक दृष्टि से भारतवासी बिखरे हुए हैं यदि धार्मिक दृष्टि मुख्य रहेगी तो भारतवासी कभी एक न हो सकेंगे। वह केवल राजनीतिक 'राष्ट्रीय दृष्टि से ही भिन्नताओं को भुला कर एक मंच पर आ सकते हैं। एकता के बिना देश का स्वाधीन होना असम्भव है। अंग्रेज़ हर तरह से प्रबल हैं। उनका दृष्टिकोण राजनीतिक है वह अनुभवी शासक हैं, उनकी युद्ध शक्ति पृथ्वी पर अद्वितीय है, इन सब कारणों के साथ एक बड़ा कारण यह मिल जाता है कि भारतवासी अभी तक धार्मिक वायुमंडल में सांस ले रहे हैं, जिससे उनके राष्ट्रीय बन्धन दृढ़ नहीं होने पाते। अपने जीवन को धार्मिक बनाना एक वस्तु है, सार्वजनिक जीवन के हरेक पहलू को साम्प्रदायिक दृष्टि से देखना दूसरी वस्तु। हमारा यह दोष है कि हम अब तक भी मार्ग जीवन अपनी आंखों पर से धार्मिक साम्प्रदायिक ऐनक को नहीं उतार सकते। परिणाम यह है कि हम एक नहीं हो सकते। एकता के लिये जो यत्न किये जाते हैं, वह सफल नहीं होते क्योंकि हम अपने साम्प्रदायिक मतभेदों को राजीनामों द्वारा सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, जो सर्वथा असम्भव है। जब तक हमारा सार्वजनिक दृष्टिकोण धार्मिक या साम्प्रदायिक है, तब तक भिन्नता का दूर होना सर्वथा असम्भव है। स्मरण रखना चाहिये कि राजी नामा भिन्नता को दूर नहीं करता, वह उस पर मुहर लगाता है। यदि हम भिन्नता को दूर करना चाहते हैं तो उसका एक ही उपाय है कि हम लोगों का दृष्टिकोण ही बदल जाय। हम सार्वजनिक जीवन में साम्प्रदायिकता को सर्वथा निकाल दें। जब कोई राजनीतिक मामला पेश हो तो हम अपने को हिन्दू मुसलमान या पारसी न अनुभव करते हुए केवल भारतवासी अनुभव करें। जब हमें कोई अंग्रेज दिखाई देता है तब हम यह नहीं सोचते कि वह एक ईसाई है, बल्कि यही सोचते हैं कि वह एक ऐसी जाति का सदस्य है, जो भारत पर शासन करती है। इसी प्रकार जब हम किसी भारतवासी को देखें, तो हमारे मनमें यह भाव उत्पन्न न हो कि हम किसी हिन्दू या मुसलमान को देख रहे हैं, प्रत्युत यह भाव पैदा हो कि हम एक ऐसे देश वासी को देख रहे हैं, जिस पर अंग्रेजों की हुकूमत है। हमारी दृष्टि राजनीतिक ही होनी चाहिये—तभी भारत के राजनीतिक जीवन में से भिन्नता की जहर को दूर किया जा सकता है।

यों तो उपर्युक्त की परिवर्तन-सभी भारत वासियों में आवश्यकता है, हिन्दू भी इस रोग के वैसे ही रोगी हैं जैसे मुसलमान, परन्तु एक बात हमें बड़े दुःख से माननी पड़ेगी। हिन्दुओं में एक ऐसा समूह पैदा हो गया है, जो सार्वजनिक जीवन में साम्प्रदायिकता को जहर समझता है और जैसा समझता है वैसा कहता है। वह हिन्दुओं को प्यारी से प्यारी और पुरानी से पुरानी रूढ़ियों को धक्का पहुंचा कर भी अपने देश की राजनीति को साम्प्रदायिकता से मुक्त कराने का प्रयत्न करता है परन्तु मुसलमानों में अभी ऐसे सुधारक दल का अभाव है। कालिजों में और ऐसे नौजवानों में जो अभी व्यावहारिक क्षेत्र में नहीं आये, विशुद्ध-राष्ट्रीय विचारों के मुसलमानों की कमी नहीं है, परन्तु सार्वजनिक जीवन में प्रवेश होते ही एक मुसलमान में परिवर्तन आ जाता है और वह स्वयं या जाहिल मुसलमान जनता के नाम पर कट्टर साम्प्रदायिक बनने की चेष्टा करने लगता है। हमारे सार्वजनिक जीवन में सौभाग्य से कुछ ऐसे मुसलमान नेता भी हैं, जिनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय है, परन्तु हम ऐसे राष्ट्रीय दृष्टिकोण को क्या करें, जो अपने विशुद्ध मनोवैज्ञानिक रूप में मुसलमान जनता के सामने आने से घबराता है। यह हमारे राष्ट्रीय जीवन का दुःखद पहलू है कि हमारे ऊंचे से ऊंचे राष्ट्रीय नेता जाहिल मुसलमानों के साम्प्रदायिक संस्कार को गहरी चोट लगाने से डरते हैं। वह बिलकुल खुलकर उन बुराइयों के विरुद्ध आन्दोलन नहीं करते, जिनके कारण नासमझ मुसलमान भारत के राष्ट्रीय जीवन के लिये खतरनाक बन रहे हैं। गहरी नींद के तोड़ने के लिये जोरदार धक्के की जरूरत होती है। साम्प्रदायिता की अफीम के कारण उत्पन्न भारतवासियों की इस गहरी राजनीतिक नींद को भी तब तक नहीं तोड़ा जा सकता, जब तक इनकी धार्मिक-साम्प्रदायिक भावनाओं पर बलवान् आघात न हों। हिन्दुओं में ऐसे आघात पहुंचाने वाले लोग पैदा हो गये हैं। दुःख की बात है कि मुसल-

सम्पादकीय विचार

अंगरेज राजनीतिज्ञों की मिली भगत

ब्रिटिश पालियामेन्ट में ज्यायन्ट पार्लमेन्टरी रिपोर्ट के समर्थन का प्रस्ताव स्वीकार होगया। कहा जाता है कि प्रस्ताव बहुत भारी बहुमत स पास हुआ। पक्ष में ४६१ और विरोध मे ४६ मत थ। आज तक वतमान मन्त्रिमन्डल को इतना बड़ा बहुमत प्राप्त नहीं हुआ।

माल राष्ट्रीय नताओं को अभी तक एक विशेष भीरुता न नहीं छोड़ा। वह अभी अपन जाहिल अनुयायियों के भावो को ठस पहु चान स घबराते हैं। यही कारण हैं कि वह एक प्रकार स अनुयायी-विहीन नता ही बने हुए हैं। नहीं तो क्या यह सम्भव था कि मो० अब्दुलकलाम आजाद् डा० अन्सारी और डा० महमूद जैसे नताओ के रहत भी कांग्रेस अमम्बली के चुनाव में केवल तीन मुसलमान कुर्सियो पर कब्जा कर सकती और यदि सच पूछो तो उन तीनो में से शायद् एक का भी श्रेय मुसलमान कांग्रेसी नताओ को नहीं है। एक खान अब्दुलगफ्फार खा को छोड़ कर शायद् ही किसी मुसलमान राष्टीय नता को यह कहन का साहस हो कि उसके मुसलमान अनुयायी हैं इसका कारण केवल यह है कि वह लोग मुसलमानों क साम्प्रदायिक कुसस्कारो को गहरी ठस पहु चान से घबरात हैं आग खडे होकर उन्हें फटकारन की हिम्मत नहीं रखत। मुसलमान नता अपन अनुयायियो को मनोवृत्ति को राष्ट्राय नहीं बना सके। इस लिये वह उन्हें अपन साथ दूर तक नहीं लेजा सकत। हम यह कहन का साहस करत ह कि मो० अब्दुलकलाम या डा० अन्सारी का राष्ट्रीय क्षेत्र म नतृत्व हिन्दू अनुयायियो के भरोस पर ही ह मुसलमान अनुयायियो के भरोस पर नहीं। क्या राष्ट्रीय मुसलमान नता इस शोकजनक परिस्थति मे परिवर्तन करन का प्रयत्न न करेंग।

ब्रिटिश पार्लमेन्ट में क्या हुआ। जरा इसके रहस्य पर तो दृष्टि डालिये। इस प्रस्ताव क सम्बन्ध में पार्लमेन्ट में तीन पारटियां थीं, पहली और मुख्य पारटी तो सरकारी थीं, जिसक नता मि० बाल्डविन हैं। वह अनुदार दल क नाम से विख्यात हैं। दूसरी पारटी को, जो अनुदार दल का ही एक भाग है, चर्चिल पारटी के नाम से पुकारा जा सकता है, क्योंकि उसका सब से जबरदस्त वकील मि० चर्चिल है। तीसरी मजदूर पारटी थी। इनमें से पहली पारटी व्हाइटपेपर की प्रधान समर्थिका होन के कारण प्रस्ताव म सहमत थी। हाउस आफ कामन्स में सब स बड़ी पारटी वही है।

कहा जाता था कि जब प्रस्ताव पालियामन्ट क सामन आयगा, तब उसका बहुत जबरदस्त विरोध होगा। अनुदार दल को एक बड़ा भाग उसका विरोधी है। वह रिपोर्ट को क्रांतिकारी समझती है। यह भी आशा थी कि मजदूर-दल भारत का प्रश्न लेकर पार्लमेन्ट में प्रस्ताव का विरोध करगा क्योंकि वह व्हाइट-पेपर को अपर्याप्त समझता है।

खूब जोरदार भाषण हुए। सभी न अपनी भाषण-शक्ति की परीक्षा दी। जब सम्मति देन का समय आया तब क्या हुआ? मजदूर दल क सशोधन क विरोध में अनुदार दल क सभी सदस्यों न राय दी, और चर्चिल दल क सशोधन का विरोध करन में मजदूर दल भी शामिल होगया। परिणाम यह हुआ कि दोनों सशोधन गिर गय और वर्तमान प्रस्ताव स्वीकार हो गया। वस्तुत वर्तमान प्रस्ताव क स्वीकार होन में तीनों ही दलों का हाथ है। एक सशोधन चर्चिल पारटी की राय स गिरा और दूसरा मजदूर पारटी की वोटों स। परिणाम यह हुआ कि मूल प्रस्ताव की शानदार विजय हुई।

इसे हम ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की मिली भगत कह सकत हैं। विरोधी दल वस्तुतः वर्तमान प्रस्ताव को गिराना चाहत तो उन्हें इसक विरोध में सम्मति न देकर केवल सरकार के विरुद्ध ही सम्मति देनी चाहिय थी। असली बात यह है कि अंगरेज राजनीतिज्ञ भारतवर्ष के सम्बन्ध में सोचते हुए कभी उस दृष्टिकोण को सामने नहीं रख सकते जो भारतवासियों को बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है। प्रथम तो यह कि इगलैंड का कोई राजनीतिक दल भारत के प्रश्न पर जीत-हार या जीवन-मृत्यु का निर्णय नहीं कराना चाहता। भारत को पारटी की जद् से बाहिर रखा जाता है। भारत के सम्बन्ध में यहा तक तो उचित समझा जाता है कि शाब्दिक सम्मति प्रकट करदी जाय, परन्तु यह अत्यन्त आवश्यक और अनुचित समझा जाता है कि उस पर कोई पारटी जीत हार की बाजी लगा दे एक प्रकार स भारत के विषय में उसी दल की नीति चलती है, जो इगलैंड की राजनीति में प्रबल हो। दूसरे दल उस पर टीका तो कर देत हैं परन्तु विघ्नकारी नहीं होन। पार्लमेन्ट में रिपोर्ट सम्बन्धी प्रस्ताव पर जो बहस हुई, उसमें भी यही सत्य दिखाई दिया, देखन में कुश्ती थी, परन्तु वस्तुतः पहलवान आपस में मिले हुए थ। दोनों दलों न ससार की दृष्टि में सरकारी प्रस्ताव का विरोध किया परन्तु दोनों ही दलों न एक दूसर के विरुद्ध सरकारी प्रस्ताव का समर्थन किया। परिणाम यह हुआ कि सरकार की जबरदस्त जीत हुई।

इस बहस क सम्बन्ध में कुछ बातें विशेष ध्यान देन योग्य हैं। मि० रम्समेकडानल्ड साहिब मौन रहे। मि० लायडजार्ज अपन बन्धु बांधवों सहित अनुपस्थित रहे। मजदूर-दल का विरोध प्रायः यहीं तक परिमित रहा कि भारत-वासियों को औपनिवशिक स्वराज्य देन का जो वायदा किया गया था वह पूरा क्यों नहीं किया गया। आत्मनिर्णय और पूर उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की तो कोई चर्चा ही नहीं थी। भारतीय दृष्टिकोण तो किसी की दृष्टि में ही नहीं था।

कुछ भारतवासी अब तक भी विलायत की ओर दृष्टि गाड़ रहते हैं। वह कभी तो मजदूर-दल स आशायें बांधन लगते हैं, और कभी उदार दल से। अंगरेज भारतवर्ष के लिय समान हैं, चाहे वह किसी भी दल के सदस्य हों। उनके लिये इगलैंड और इगलैंड का भूमन्डल व्यापी साम्राज्य सब स प्रथम है। भारतवर्ष उनके लिये गौण है। पार्लमेन्ट की ताजा बहस से यदि कुछ बात सिद्ध हो रही है तो यही कि भारतवासियों को किसी अंगरेज के मुह की ओर न देख कर केवल अपनी भुजाओं की ओर ही देखना चाहिये।

रेडियो या रोटी

हमारे सम्वाददाता तथा प० नरदेव शास्त्री के लेखों न सर्व साधारण का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि देहरादून के जिले में ब्राडकास्टिंग का स्टेशन बनगा, और देहात में रेडियो का प्रबन्ध किया जायगा, जिसके लिय ग्राम के लोगों को तरह-तरह की दलीलों से उद्यत किया जा रहा है। ग्रामवासियों से कहा जाता है कि रेडियो द्वारा उन्हें मुफ्त गान सुनाय जायगे। खेती कैसे करनी चाहिय, और टिड्डी-दल से कैसे बचना चाहिय—ऐसे-ऐसे प्रश्नों के उत्तर उन्हें रेडियो-द्वारा सुनाये जायगे। ऐसे ही सब्ज बाग दिखा कर ग्रामवासियों से चन्दा भी लिया जा रहा है। प्रश्न यह है कि क्या भारतवर्ष के जमींदार या किसान इतन समृद्ध हैं कि उनकी जब में से रेडियो के लिये पैसा लिया जाय? मनुष्य को सबस पहले रोटी चाहिय और फिर कपड़ा। उनके बाद जीवन की शेष आवश्यकतायें हैं। उन आवश्यकताओं के पूर्ण हो जान पर शौक की चीजों की बारी आती है। रेडियो का नम्बर शौक की वस्तुओं में पीछे है। यह तो अमीरों को भी आसानी स नसीब नहीं होता। ऐसे-ऐसे शौक के लिय उन देहातियों स पैसा लेना जिनकी आवश्यकतायें भी कठिनता स पूरी होती हैं बड़ा अन्याय है। सयुक्त प्रान्त की सरकार ने क्या सोच कर यह आयोजन किया है यह समझना कठिन है। एक विदेश में राज्य करन वाली सरकार प्रायः चाहती है कि सम्वाद भजन और सवारी ले जाने क जितन साधन हैं, वह उसत हों और उसक हाथ में रहें। रेडियो भी सम्वाद भेजने का एक साधन है। जैसे रेल और तार शासन को चलान क मुख्य साधन हैं, वैसे रेडियो भी सरकार के लिये अत्यन्त उपयोगी हो सकता है। सरकार बड़ी प्रसन्नता से अपन हाथों को दृढ़ करन क लिये रेडियो लगा सकती है परन्तु उसका खर्च ग्रामवासियों पर डालना कहां का न्याय है?

विश्व-नाटक के पात्र

नोबेल प्राइज़ का विजेता आर्थर हैण्डर्सन

इ गलैंड के मि० आर्थर हैन्डर्सन को शाति के लिय प्रयत्न करन के उपलक्ष में नोबेल प्राइज मिला है। इंगलैंड-वासी इससे बहुत प्रसन्न है। योरोप वाले आश्चर्य-चकित है और भारतवासी आखे मल कर पूछत हैं कि क्या हम सपना देख रहे है।

मि० आर्थर हैन्डर्सन इ गलैंड की पुरानी मजदूर-पारटी के एक प्रधान नेता हैं। वह मि० रम्म मकडानल्ड क दायें हाथ हैं। जब तक मजदूर-पारटी इतनी प्रबल नहीं हुई थी कि वह इगलैंड में मन्त्रि-मन्डल बना सके, तब तक मि० रेम्से मेकडानल्ड प्रभृ को बड़े शाति प्रेमी और उन्नति के समर्थक समझे जाते थ। वह अन्तर्जातीय शक्ति चाहते थ वह पराधीन जातियों क लिय आत्म-निर्णय का प्रयोग चाहत थ वह पू जीवाद और साम्राज्यवाद क कट्टर विरोधी थे। अ गरज जाति या यों कहिये ए ग्लो सैक्सन जाति की अपनी विशेषतायें हैं। उनका चरित्र ससार से विलक्षण है। उनके स्वभाव म दृढ़ता और धैर्य का राजीनाम ओर धूर्तता क साथ अद्भुत मेल है। ए ग्लो सैक्सन जाति के व्यक्ति की यह विशषता है कि वह जल्दी पैर आग नहीं बढाता। परन्तु जब एक बार बढ़ा लता है तो पीछे पैर नहीं रखता। छोटा मोटा धक्का या प्रतिरोध उसक कदम को नहीं उखाड सकता। इतना ही नहीं बड़े मे बडे पराजय को भी वह स्वीकार नहीं करता, और मैदान छोड़ने का नाम नहीं लेता। इन गुणों के साथ साथ दो दोष भी हैं। वह सिद्धान्त या सचाई के वहम में पड़ना पसन्द नहीं करता। सिद्धान्त और सचाई उसके औजार हैं, जो समय पर काम लाये जाते हैं वह उनका औजार नहीं। इस कारण सिद्धान्त और सचाई के मामले में रात-दिन राजीनाम किये जात हैं और मजा यह कि अपनी नैसर्गिक धूर्तता से दुनिया को यही बतलाता है और शायद अपन हृदय को भी यही बतलाता है कि वह सिद्धान्त और सत्य पर दृढ़ है स्वभाव का यह विशषतायें ही इ गलैंड की सफलता और निष्फलता क कारण हैं। इ गलड साम्राज्य चलान म सफल परन्तु दूसरे के हृदयों में अपने लिय आदर भाव पैदा करन में निष्फल हुआ है। इ गलड का मजदूर दल पहल म ही अगरजीपन का एक नमूना रहा है। उसन साम्यवाद क सिद्धान्त पर राजीन म का पैबन्द लग कर वध-मजदूर-दल नामकी एक एसी वस्तु तैयार की है कि दुनिया म उसका उपमा मिलना कठिन है। मि० आरर हैन्डर्सन उसी मजदूर-दल क नता और सचालकों मे मे एक हैं।

ब्रिटिशमज दूर दल क सिद्धान्तों की परीक्षा क तीन अवसर आय। पहला अवसर योरोप के महायुद्ध क समय आया। लड़ाई की घोषणा रुस और जर्मनी में हुई। फ्रांस रूस का मित्र बन कर बीच में आ कूदा। इधर इगलड एक प्रकार से युद्ध से बिलकुल असम्बद्ध था। यह आवश्यक नहीं था कि वह युद्ध में कूदता। इ गलैंड का मजदूर-दल भी अन्य ससार के मजदूर दलों की भाति शाति की शपथ लेता था और ससार को नि शस्त्र करना चाहता था। उस समय इगलैंड में उदार-दल का शासन था। जब मध्य योरोप में युद्ध की चण्डी गरजने लगी तो साम्राज्यवादी इ गलैंड भला कैसे दूर रह सकता था। जर्मनी क दमन और साम्राज्य-विस्तार का ऐसा दूसरा अवसर कहाँ मिलता। इ गलड भी लड़ाई में शामिल हो गया। वह मजदूर-दल की सिद्धात-परीक्षा का समय था। यदि उस सिद्धान्त और सचाई से कुछ भी प्रेम होता तो वह युद्ध का प्रबल विरोध करता। परन्तु अ गरज ही क्या जो साम्राज्य के लिये सिद्धान्त के साथ राजीनामा न करे, जब युद्ध के चलाने के लिये सब दलों का सम्मन्धित मन्त्रिमडल बनाया गया तो उसम मजदूर दल भी सम्मिलित हो गया और जरा मजे की बात तो देखिये कि यहा शाति के प्रचारक और नोबल प्राईज क विजेता मि० हंडसन साहब ही मन्त्री क आसन पर बिठाय गय थ। जब तक सम्मिलित मन्त्रिमडल युद्ध को चलाता रहा हन्डरसन साहब उसक सदस्य बन रहे।

दूसरा अवसर तब आया जब मजदूर-दल शक्ति-सम्पन्न होकर इगलैंड क भाग्यों का निर्माता बना। भारतवर्ष में उस समय स्वराज्य का आंदोलन चल रहा था। ब्रिटिश सरकार जो डोमिनियन स्टेटस भारत को देना चाहती था उसे भारतवासी पर्याप्त नहीं समझत थ। इस पर देश में घोर असन्तोष की लहर चल गई, और महात्मा जी न नमक-सत्याग्रह जारी कर दिया। मजदूर दल तो केवल भारत क लिय ही नहीं अपितु सारी दुनिया क लिय आत्म-निर्णय क सिद्धान्त का समर्थक था। भारतवर्ष भी आत्म-निर्णय के असूल पर चलना चाहता था। भारत में कैसी शासन-प्रणाली हो इसका निर्णय वह स्वय करना चाहता था। यदि मजदूर-दल और उसक नता पूरी तरह सोलहो आन अगरेज न होते तो शायद भारत का राजनीतिक इतिहास किसी दूसरी तरह ही लिखा जाता। परन्तु मजदूर दल उस समय भी कसौटी पर आया, और खोटा साबित हुआ। भारत में आर्डिनन्स राज्य की पहले पहल स्थापना मजदूर दल के समय में ही हुई। आर्डिनन्स राज्य का दूसरा नाम नगा स्वेच्छाचार रखा जा सकता है। आत्म-निर्णय के पक्ष का समर्थन करन वाली राजनीतिक पारटी नगे स्वेच्छाचार की नीति का सचालन करे, यह भी दृश्य इ गलैन्ड में ही दिखाई दे सकता था। नगे स्वेच्छाचार का समर्थन करन वाले मन्त्रिमन्डल में मि० हेन्डरसन विशेष स्थान रखत थ। मि० रम्म मेकडानल्ड क दूसरे दर्जे पर वही थ। मि० हैन्डरसन न अपना शाति प्रियता का नाति को भारत में आर्डिनन्स राज्य क रूप में चलते बहुत शान्ति म रखा।

तीसरा अवसर तब आया जब मजदूर-पारटी क अधिकाश सदस्यों न अनुदार दल क साथ मिल कर मन्त्रिमन्डल बनान म इन्कार कर दिया। उस समय एक ओर मजदूर दल क वह सदस्य थ जो अभी शक्ति की शराब म इतन मस्त नहीं हुए थे, वह मन्त्रिमन्डल म दूर रहना चाहत थ। परन्तु मि० रम्मे मेकडानल्ड और मि० हन्डसन साम्राज्य क सचालन का मजा ले चुक थ। उन्होंन मजदूर-दल को छोड़ना स्वीकार किया। परन्तु उस अनुदार-दल का साथ न छोडा जो सिद्धान्त रूप म मजदूर दल का कट्टर विरोधी है।

मि० हैण्डर्सन साम्राज्यवाद के प्रधान समर्थक और साम्यवाद के घोर विरोधी अनुदार दल म मिलकर इ गलैंड की वर्तमान नीति का सचालन कर रहे हैं। इधर कई वर्षों इगलैंड को नि शस्त्रीकरण का नया शौक पैदा हुआ है। बात यह है कि इगलैंड का पेट अब भर गया है। इधर ऊपर मे बटोर कर उसन बहुत कुनबा इकट्ठा कर लिया है। महायुद्ध में जर्मनी के अधिकांश उपनिवेश भी ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल हो गय हैं। अब और क्या चाहिये, यही उनका जुड़ा रहे तो अच्छा है। लड़ाई मे इगलैंड जो कुछ प्राप्त कर सकता था, प्राप्त कर चुका। अब उसे युद्ध म हटाते हैं। क्योंकि उसमे साम्राज्य की दीवार में कहीं न कहीं छेद हो जान का भय है। इस कारण इगलैंड न नि शस्त्रीकरण का बीड़ा उठाया है। उसन शक्ति और सुलह क नाम पर एक लम्बे-नाटक का आयोजना कर रखा है, जिसका प्रधान अभिनेता मि० हैन्डर्सन को कहना चाहिये।

(शेष पृष्ठ ' पर)

बन्दीखाने में:—

खोलो, मेरे बन्धन खोलो !
हाय ! मौन बन मुझे न मारो कोई मुझ से बोलो ॥
वह प्रभात की स्वर्णिम रेखा,
नभ मे नक्षत्रों का लेखा,
रजत रश्मियों को कब देखा,
देखा था युग बीते हैं यह आकुलता लो तोलो !
अब तो कोई बन्धन खोलो !

पत्थर की इन दीवालों मे,
विजडित लोहे के तालो मे,
'शासन-शासन' के नालों मे—
पलता हू, है यही दया बस रो लो चाहे रो लो !
कब तक ? कोई बन्धन खोलो !

मै जग देखू जिय हुलसाऊ
तट पर सन्ध्या-गीत सुनाऊं
तन मे मुक्त पवन छू आऊ
चार पलों के लिये (मुक्ति दो) पी लूगा विष घोलो—
सुन लो कोई बन्धन खोलो !

—द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' ।

———: :———

जाग मुसाफिर अब तो जाग !

आलस नींद बहुत दिन सोया,
सुन्दर समय व्यर्थ ही खोया,
हुआ सवेरा उषा थिरकती
खुले पूर्व के भाग। जाग मुसाफिर अब तो जाग !
सारा विश्व सचेत खड़ा है:
धर्म कर्म का पर्व पड़ा है,
कुछ करले भरले नव युग के
उर मे नव अनुराग। जाग हितैषी अब तो जाग !
क्यो पागल से पड़े अकेले,
बढ़-चढ़ जा ओ अलबले,
बुला रही वसुधा बलिवेदि
उठ ! चल कर कुछ त्याग। जाग मुसाफिर अब तो जाग !
—हितैषी भलावलपुरी 'प्रेमी'

— ——::———

(पृष्ठ ५ का शेष)

मि० हन्डर्सन एक नर्म स्वभाव वाले, योग्य और वाग्मी राजनीतिज्ञ हैं। वह बहुत दूर तक किसी भी विषय की सरल शब्दो मे दार्शनिक व्याख्या कर सकते है। कई वर्षो से वह अन्तर्राष्ट्रीय सुलह की सुदीर्घ व्याख्या कर रहे है। इधर इगलैड के बन्दरगाहों पर जहाजो के निर्माण के कारखाने घटाटोप धुंआ छोड़ते हुए अपना काम कर रहे हैं हवाई जहाजो और तोपो, और गोलो और टैंको की उपज उसी वेग से जारी है और उधर निःशस्त्रीकरण कानफ्रेन्स के अधिवेशन धड़ाधड़ हो रहे हैं। एक अधिवेशन असफल होता है तो भी मि० हन्डर्सन दूसरे अधिवेशन को बुला लेते है। भाषण पर भाषण हो रहे हैं, वक्तव्य पर वक्तव्य निकाले जा रहे हैं कि किसी तरह शस्त्रों का बनना बन्द हो, परन्तु इगलैंड और फ्रास जर्मनी और इटली के कारखानों मे हथियारो की तैयारी का वेग बढ़ता जाता है। फिर भी शाबाश है मि० हेन्डर्सन को, कि निःशस्त्रीकरण की चर्चा किये ही जाते हैं। जब हथियार बनाने के कारखाने की चिमनी प्रातः काल मजदूरों के बुलाने के लिये सीटी बजती हैं तो मि० हैन्डर्सन कानो मे अगुली दे लेते होंगे, और फौरन निःशस्त्री करण के सम्बन्ध मे ब्राडकास्ट द्वारा ससार मे शान्ति पर भाषण सुनाने लगते हैं।

धन्य है, ऐसे शांति प्रेमी मि० हन्डर्सन और उनसे भी अधिक धन्य हैं वह निर्णायक लोग, जिन्हों ने उन्हें शान्ति-प्रेम के कारण नोबेल पाइज का अधिकारी समझा है।

———

वीणा की झंकार

परोपकार इसे कहते हैं। जहाँ उसे उपकार समझा जाय, वहां से हरेक आदमी परोपकारी बन जाता है, पर असली उपकार यही है कि जनाब, आप हजार बार इन्कार कीजिये उपकार का घूंट आपके गले मे उतार ही दिया जायगा।

* * *

हिन्दुस्तानी असभ्य थे, कोरे जगली थे, योरपियन लोगों को उनकी हालत पर दया आ गई, वह हिन्दुस्तानियो को सभ्यता सिखाने के लिये हजारों मील की यात्रा करके आपहुचे। नासमझ हिन्दुस्तानियों ने बहुत हाथ पांव पटके, कि सभ्यता का घूंट न पियेंगे, पर परोपकारी योरपियन कहां मानने वाले थे।

* * *

डाक्टर का यही तो धर्म है। बीमार ने दवा पीने से इन्कार किया तो डाक्टर यही करता है कि उसे लिटाकर और हाथ पांव दबाकर मुंह मे डालकर दवा पेट में उतार देता है। परोपकारी पश्चिमवासियो ने हिन्दुस्तानी मरीज को शिकजों में कसकर सभ्यता कानून और अमन की कड़वी दवा उसके मुंह में ठूस ही तो दी।

* * *

पर हिन्दुस्तानी भी बहुत ही नाशकि और मूर्ख हैं। हरक घूंट पर अड़ते हैं, हाथ पाव मारते हैं, और चिल्लाते हैं। अब इंगलेड ने भारतवर्ष पर बड़ी कृपा करके दवा की एक नई खुराक तैयार की है, जिससे भारत वर्ष के सब रोगों को एक दम ही समाप्त हो जाने की आशा है। क्योंकि मरीज की यह रात दिन की चीख पुकार और हलचल समाप्त हो जायगी।

* * *

परन्तु यह मरीज बड़ा नासमझ है कि दवा न लूंगा-न लूगा। परन्तु डाक्टर भी कमाल का परोपकारी है। दवा तैयार किये जा रहा है। थोड़े दिनों की और बात है। दवा बिलकुल तयार होकर बोतल मे डाल दी जायगी, और हिन्दुस्तान के लिये रवाना कर दी जायगी।

* * *

यह अहमक हिन्दुस्तानी जरूर शोर मचायेंगे और कहेंगे कि हम दवा नहीं लेते, पर डाक्टर कहां मानने वाला है। छाती पर सवार होकर बीमार के गले में दवा को उतारेगा। तुम कहोगे 'नहीं-नहीं' वह कहेगा 'जरूर'।

* * *

संसार इस परोपकार का दूसरा नमूना नहीं दिखा सकता। लेने वाला कहता है कि 'भाई मैं नहीं लेना चाहता'। पर देने वाला कहता है 'मैं जरूर दूंगा। तुझे जरूर लेनी पड़ेगी। भलमनसाहत से न लेगा तो जबरदस्ती से, लाठी के जोर से दूंगा। ऐसे परोपकारियों को नारद बाबा का नमोनमः।

* * *

इधर सुनते हैं, दिल्ली के देहातियों में सभ्यता के प्रचार का काम परोपकारियों की ओर से बड़े जोर शोर से उठाया गया है। नागलोई में एक नुमायश होगी। तरह तरह की चीजें दिखाई जायंगी। रस्मोरिवाज और ललितकला की शिक्षा देने के लिये नाच का भी खास प्रबन्ध किया जायगा।

* * *

कुछ लोग इस पर भी बावेला कर रहे हैं। इन गवारों से कोई पूंछे कि भाई आखिर तुम लोग कब तक ऐसे ही बुद्धू बने रहोगे। नाच देखने से मनुष्य शाइस्तगी सीखता है और फिर चीफ कमिश्नर साहिब भी खुद तशरीफ लायेंगे। ऐसे शुभ अवसर पर देहातियों को नाच द्वारा कुछ सभ्यता का उपदेश दे दिया जाय तो क्या हर्ज है।

* * *

यार लोगों ने तरीका तो अच्छा निकाला है। उस दिन दिल्ली में जमींदार एसोशियन का जलसा था। था। ख्याल था कि भोले-भाले जमींदार लोग आसानी से ग्रामोफोन बन कर कह देंगे कि 'हां-हजूर' आपकी व्हाइटपेपर स्कीम हमारे लिये बहुत अच्छी है। पर जमींदारों में भी बागी घुस गये है। सारा गुड़ गोबर कर दिया। प्रस्ताव पास न होने दिया।

* * *

नागलोई मे सब बागी सीधे हो जायगे। कुछ तो चीफ कमिश्नर साहब के आने का जोर, और उस पर नाच और गाना। जब तबले और सारंगी की मस्ती में देहाती लवलीन होंगे, तब परोपकारी लोग बोतलों का प्रसाद बांटेंगे और फिर यार लोग देख लेंगे कि कौनसा माई का लाल है जो ऊंचे स्वर से न पुकार उठेगा कि 'हां, ठीक है, जनाब आप जो कुछ फरमा रहे हैं! सब कुछ ठीक है।

—नारद

—

भारत के लिये पंचवर्षीय आयोजन

एक नवीन कार्यक्रम का मसविदा

(लेखक—श्री चन्द्रराज भण्डारी विशारद)

(गतांक से आगे)

साम्यवाद

असहयोग आंदोलन की गिरती हुई अवस्था में देश के अन्दर जो नवीन प्रोग्राम बने उनमें साम्यवाद का प्रोग्राम प्रमुख है। इसके प्रधान विधायक पं० जवाहरलाल नहरु हैं, जो इस समय सारे भारत में महात्मा गांधी के पश्चात् दूसरे नम्बर के प्रमुख नेता हैं। उनके जीवन का एक-एक परमाणु त्याग, तपस्या और सारी मानव जाति के पवित्र हित की भावनाओं से भरा हुआ है। इस में कोई सन्देह नहीं कि साम्यवाद का प्रोग्राम मानव-जाति के लिये उच्च-संस्कृति का एक दिव्य सन्देश है। अभी तक के अनुभवों से यही कहा जा सकता है कि समाज की आर्थिक समस्या को हल करने तथा मानवीय संस्कृति का ध्येय ऊंचा उठाने में अभी तक संसार में जितने आयोजन बने, उन में साम्यवाद ही सब से अधिक सारगर्भित और सफल है। मगर इसके साथ ही यह भी सत्य है कि अभी तक सारे संसार मे यह आंदोलन केवल रूस मे ही सफल हो सका है और वह भी अनेक परिवर्तनों के साथ। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि दूसरे देशों मे साम्यवाद की आवश्यकता महसूस नहीं होती, अथवा उनके यहां आर्थिक संकट की समस्या नहीं है। मगर, आज तो हम यह देख रहे हैं कि रूस को छोड़कर प्रायः संसार के तमाम देशों मे इसका जोरों से विरोध हो रहा है तथा इसके पनपने में बहुत बाधाएं खड़ी की जा रही हैं।

ऐसी स्थिति में जब कि संसार के स्वतन्त्र और शिक्षित देशों में इस आंदोलन की यह हालत है, तब भारतवर्ष के समान गुलाम और अज्ञान से आच्छादित देश में मानवीय संस्कृति के इस उच्चतम कार्यक्रम की सफलता की आशा इस समय कैसे की जा सकती है। सबसे बड़ी बात जो इस कार्यक्रम की सफलता में सन्देह पैदा करती है, वह यह है कि यहां के मौलिक संस्कारों में साम्यवाद की गन्ध भी नहीं है। दूसरे देशों में तो केवल राजकीय और आर्थिक कारण ही मानवीय समानता में बाधक हो रहे हैं। मगर यहां तो उन से भी बीस गुना अधिक धार्मिक और सामाजिक कारण समानता के मार्ग में रोड़ा अटका रहे हैं। गत असहयोग आंदोलन में भी इन जातीय और धार्मिक मतभेदों का ताण्डव नृत्य हम भली प्रकार देख चुके हैं और हम यह भी महसूस कर चुके हैं कि इस आंदोलन की असफलता के अनेक कारणों में यह कारण भी बहुत प्रबल था।

अतएव इस आंदोलन के बारे में भी यह कहा जा सकता है कि सिद्धान्त रूप में हम इसे चाहे स्वीकार कर लें, मगर इसका जो कान्स्टीट्यूशन रूस में बना हुआ है, उसकी नकल के द्वारा हम इस देश मे सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। खास करके सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे रूस की जो व्यवस्था है वह यहां पर कदापि सफल नहीं हो सकती। व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावनायें यहां पर इतनी मजबूती के साथ जमी हुई हैं कि उनको बदलने में बहुत लम्बे समय की दरकार होगी। जब से मानवीय संस्कृति का आरम्भ हुआ है, हम व्यक्तिगत सम्पत्ति के आदी हो रहे हैं। कुछ तो ये संस्कार स्वयं ही अपने मन में मजबूती के साथ स्थान कायम किये हुये हैं और कुछ इन्हें उन लोगों का समर्थन मिल जाता है, जिनके स्वार्थ की सारी भित्ति ही इन पर ठहरी हुई है। राज्य, धर्म, पूंजी आदि के ठेकेदारों का स्वार्थ अभी भी दुनिया में अपना मजबूत अस्तित्व कायम किये हुए है। ऐसी स्थिति में सम्पत्ति के राष्ट्रीय करण की समस्या कम-से-कम भारत में तो अभी सफल नहीं हो सकती।

कहने का तात्पर्य यह है कि साम्यवाद और अहिंसात्मक आन्दोलन के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी हमको अपना कांस्टीट्यूशन बिलकुल नवीन और विचारपूर्ण बनाना होगा। समय चाहे कुछ अधिक लग जाय मगर हमको अपनी राष्ट्रीय मजबूती ऐसी सुदृढ़ कर लेनी होगी जो समय के वज्र-प्रहार से भी न हिल सके।

इस सारी वस्तुस्थिति पर विचार कर लेने के पश्चात अब हम अपने आयोजन के तात्विक और व्यावहारिक रूप पर कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं—

श्री चन्द्रराज भण्डारी

नवीन आयोजन की रूप-रेखा

उपर्युक्त प्रसिद्ध कार्यक्रमों के अलावा और भी छोटे बड़े कार्यक्रम देश के सामने चल रहे हैं मगर उनके संचालकों तकको यह विश्वास नहीं है कि उनके आंदोलन देश को अन्तिम मकसद तक पहुंचा देंगे। वे केवल उन्हें आपत्तिकाल का धर्म समझ कर धकाये चले जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में उन सब की आलोचना करना व्यर्थ है।

ऐसे विकट समय में देश के सामने ऐसे कार्यक्रम की बड़ी भारी आवश्यकता है जो सीधे और साफ रास्ते से उसे अपने मकसद पर पहुंचा दे। ऐसे कार्यक्रम की रूप-रेखा तैयार करते समय हमको यह ध्यान रखना होगा कि इस समय संसार में चलने वाले प्रत्येक आन्दोलन के प्रधान और अच्छे तत्व हमारे कार्यक्रम में आ जायं और उनमें जितनी बुराइयां हैं उनसे उनको बचाया जाय।

आयोजन के मूल-सिद्धान्त

सब से पहले हम को इस बात पर विचार करना होगा कि इस नवीन आयोजन की स्थापना इस समय हमें किन सिद्धान्तों पर करनी होगी?

पहला ही प्रश्न जो हमारे सामने उपस्थित है वह यह कि इस आन्दोलन में सहयोग के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाय या असहयोग के? इस बात पर विचार करते समय हमको यह बात मद्दे नजर रखनी होगी कि हमें इस समय क्रांति के रचनात्मक अंग की ओर ही अधिक ध्यान देना है। इतने दिनों के अनुभव से हम यह बात भली प्रकार जान चुके हैं कि जब तक आन्दोलन की [illegible] का प्रबल धक्का सहन करने के योग्य न हो जाय तब तक विनाशात्मक (Destructive Programme) क्रान्ति का कोई भी कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता। हम यह नहीं कहते कि रचना का सभी कार्यक्रम पहले पूरा कर लिया जाय। हम जानते हैं कि रचना का कार्य अनन्त है और वह विनाशात्मक आंदोलन की सफलता के पश्चात ही भली प्रकार फल-फूल सकता है उसके पहले उसकी गति बहुत धीमी रहती है। मगर यह सब होने पर भी इतनी रचना तो हमको अवश्यमेव पहले करना ही पड़ेगी जो ध्वंसात्मक कार्यक्रम के भावी प्रबल धक्के को सहन करने योग्य हो जाय।

ऐसी स्थिति में जब कि हमें अपनी सारी शक्तियां रचनात्मक आन्दोलन में लगानी है असहयोग का सिद्धान्त कभी सफल नहीं हो सकता। असहयोग का सिद्धान्त ध्वंसात्मक क्रान्ति का एक सिद्धान्त है और उसमें वह सफल भी हो सकता है। मगर रचनात्मक कार्यक्रम (Constructive Programme) के अंदर तो यह सिद्धान्त हानिकर ही सिद्ध होगा। रचना का कार्य तो सहयोग की भावनाओं से ही सफल हो सकता है। इसमें हमें अपने मूल सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए अधिक से अधिक जितना भी सहयोग प्राप्त हो सकेगा करना होगा। फिर चाहे वह गवर्नमेन्ट के द्वारा हो चाहे जनता के द्वारा, चाहे जमींदारों और पूंजीपतियों के द्वारा हो चाहे मजदूरों और किसानों के द्वारा, चाहे हिन्दुओं के द्वारा हो चाहे मुसलमानों के द्वारा।

दूसरा प्रश्न हिंसा या अहिंसा का है यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिये कि भारत को केवल अपना ही उद्धार करना है प्रत्युत अपने उद्धार के साथ उसे सारे संसार को विश्वभाव का सन्देश देना है—सारी मानवीय संस्कृति को एक कदम आगे बढ़ाना है। जिस भारत का नेतृत्व कृष्ण, बुद्ध, महावीर और गांधी जैसे विश्वभाव के अनुयायियों ने किया है उस देश का अन्तिम लक्ष्य हिटलर

(हिंसा या अहिंसा) (सहयोग या असहयोग)

श्रौर मुसोलिनी के लक्ष्य की तरह राष्टवाद के सकीर्ण दायरे मे जाकर समाप्त हो जाय यह बात मानी नहीं जा सकती। भारत का राष्ट्रीयता जाग्रत होगी मगर अपने साथ ही साथ वह संसार मे विश्वभाव को भी जाग्रत करेगा और अन्त में उसी में लीन हो जायगा।

ऐसी स्थिति मे भारतीय आन्दोलन में हिंसा की भावनाएं नहीं पनप सकतीं और न इस समय ऐसी भावनाओं के लिये किसी प्रकार क्षेत्र ही तैयार है। अगर इस समय मे लोगों का जबरदस्ती से व बलात्कार पनपीं भी तो बहुत शीघ्र अपने साथ सारे आन्दोलन को लेकर डूब जायगा।

नवीन आयोजन का कार्यक्रम स्थिर करने के पूर्व तीसरा प्रश्न जो हमारे सम्मुख उपस्थित होता है वह यह कि नवीन विज्ञान के द्वारा परिचलित यंत्र कला का इस आयोजन में स्वीकार किया जाय या नहीं गांधीवाद यंत्र कला के विरुद्ध है। मगर १८ वर्ष के लम्बे अनुभवों ने हमको यह बतला दिया है कि चरखा या उसी के समान दूसरी वस्तुएं भारत की अर्थ समस्या को हल करने में बिलकुल नाकामयाब हैं। हाल ही में ग्राम संघ की नवीन योजना में भी महात्मा जी ने देश के प्राचीन उद्योग धन्धों को पुनर्जीवित करने का बीड़ा उठाया है सम्भवतः महात्मा जी के महान व्यक्तित्व के प्रताप से इस प्रोग्राम में भी कुछ हलचल पैदा हो जाय मगर लम्बी दौड़ ( ) के पश्चात् मालूम होगा कि इस प्रकार का कोई भी प्रोग्राम देश की आर्थिक समस्या को हल नहीं कर सकता। जब हम को देश की आर्थिक मसला हल करना है तब हमको सारी वस्तु स्थिति को सामने रखकर ही काम करना होगा। इस मामले में केवल अन्धानुकरण से काम नहीं चल सकता। यंत्रकला के बिना अब किसी भी देश का आर्थिक प्रतिस्पर्धा के मैदान में टिक सकना असम्भव है जिस प्रकार हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में हमारा आयोजन गांधीजी का अनुसरण करेगा उसी प्रकार यंत्रकला के सम्बन्ध में वह रूस का अनुगामी होगा। जिस प्रकार रूस ने अपने देश के एक छोर से दूसरे छोर तक विद्युत शक्ति को सुलभ कर दिया है और थोड़े ही समय में अपने यहां की आर्थिक समस्या को उसने हल कर लिया है उसी प्रकार हमको भी देश के एक छोर से दूसरे छोर तक छोटे छोटे गावों से लेकर बड़े २ शहरों तक विद्युत शक्ति का जाल बिछा देना होगा तथा गांव में हर तरह की छोटी छोटी इण्डस्ट्रीज कायम करके उनका परिचालन विद्युत् शक्ति द्वारा करना होगा। इस यंत्रकला के पहुंचते ही छोटे २ गावों में अत्यन्त शीघ्रता से नवजीवन और नवीन सभ्यता का संचार हो जायगा।

लेकिन यंत्रवाद से उत्पन्न बुराइयों—साम्राज्यवाद और पूंजीवाद से बचाना होगा। व्यवस्था और आयोजन ऐसा होना चाहिये जिसमें यंत्रकला का पूरा पूरा लाभ भी हम ले सकें और बेकारी की विषमता का दुःख भी हम न उठाना पड़े। इस सम्बन्ध का व्यवहारिक विवेचन हम आगे चल कर करेंगे।

सहयोग अहिंसा और यंत्रकला के सिद्धान्तों को स्वीकार करने पर अब हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपने आयोजन में जिस मार्ग का अवलम्बन करना चाहें उसका निश्चय करें।

वैसे देखा जाय तो भारत की सामाजिक स्थिति का प्रत्येक अङ्ग टूट टूट कर नष्ट भ्रष्ट होने के समीप पहुंच गया है। राजनैतिक धार्मिक सामाजिक आर्थिक सभी अङ्गों में पुनर्निर्माण की आवश्यकता महसूस हो रही है पर यदि सर्वाङ्ग निर्माण एक साथ प्रारम्भ किया जायगा तो उसमें सफलता की आशा कम है।

हमारा ख्याल है कि यह सारा पुनर्निर्माण का महान समस्या एक मात्र जनसमाज की शिक्षोन्नति से ही हल हो सकता है। अगर कोई ऐसा कार्यक्रम बनाया जाय जिसमें देश के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रत्येक स्त्री पुरुष का मस्तिष्क उचित शिक्षा के प्रकाश से प्रकाशित हो जाय। यदि हमारी बहुत बड़ी समस्या का सर्वाङ्गीण प्रचार हुआ यानी धर्म राज्य समाज इत्यादि सभी संस्थाओं की बुराइयां एक साथ दूर हो जायगा।

मगर शिक्षा का प्रचार भी तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक मनुष्य की रोटी का सवाल हल नहीं होता धर्म राज्य और समाज के कष्टों को दूर करने के लिए तो शिक्षा का प्रचार होने तक मनुष्य कुछ सब्र भी कर सकता है मगर रोटी का सवाल तो ऐसा है जिस दिन में दो २ अनिवार्य रूप से हल करना ही पड़ता है चाहे शिक्षा का प्रचार हो चाहे न हो। इस प्रश्न के हल के लिए मनुष्य किसी भी सिद्धि की प्रतीक्षा नहीं कर सकता।

उपरोक्त दोनों समस्याओं में एक गुण यह भी है कि इनके सम्बन्ध मे किसी जनसमुदाय का मतभेद नहीं हो सकता। शिक्षा प्रचार के लिये हिन्दू मुसलमान सनातनी सुधारक गरम नरम, जनता पूंजीपति और मजदूर किसान सभी में प्रत्यक्ष मतभेद नहीं हो सकता।

इन दोनो कार्यक्रमों के सिवाय समाज राज्य धर्म-सम्बन्धी जितने भी प्रयोग हैं उन में बहुत बड़ा विरोध बढ़ने की सम्भावना है। अतएव अब तक यह दोनों प्रोग्राम अपनी रचना पूरी न कर लें तब तक प्रत्यक्ष रूप में इन बातों पर अधिक जोर न दिया जाय अप्रत्यक्ष रूप मे तो इन संस्थाओं पर जो प्रभाव पड़ने वाला है वह पड़ेगा ही।

उपरोक्त सारे विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि देश की मौजूदा परिस्थिति में जो भी आयोजन बनाया जाय, उसमें दो ही बातों की प्रधानता रखी जाय। (१) शिक्षा और (२) अर्थ।

(क्रमशः)

—

यूरोप के कुछ राजनीतिक कर्णधार

जर्मनी के सेनापति

मि० वॉन ब्लामबर्ग

कहा जाता है कि आप का हिटलर से सेना में नाजियों के हस्तक्षेप के विषय पर मतभेद हो रहा है। आप हस्तक्षेप के विरुद्ध हैं।

फ्रांस के पर-राष्ट्रसचिव

मि० पीयरी लेवल

आपने राष्ट्र-संघ की बैठक में युगोस्लेविया का पक्ष लेते हुये हंगरी पर इस दोषारोपण का समर्थन किया कि युगोस्लेविया-नरेश की हत्या में उसका हाथ है।

फ्रांस का सेनाध्यक्ष

मार्शल पीटेन

मि० डूमर्ग के अवकाश ग्रहण करने पर आप ही फ्रांस के राष्ट्रपति बनेंगे। ऐसा विश्वास किया जा रहा है।

इटली के सर्वेसर्वा

मि० मुसोलिनी

इटली के आर्थिक पुनर्निर्माण के सिलसिले में आपने हुक्म जारी किया है कि सब व्यापारी अपने विदेशी पावने इटली-सरकार को बेच दें। नियम उल्लंघन करने पर सजा मिलेगी।

इंग्लैन्ड के युद्ध-सचिव

मि० हैलिशम
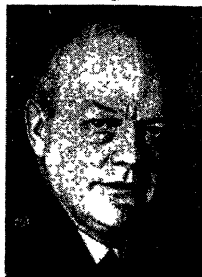
अभी आपने घोषणा की है कि इंगलैंड को फ्रांस व जर्मनी की सैनिक तैयारियों से डरने की जरूरत नहीं है।

इंगलैंड के राजदूत
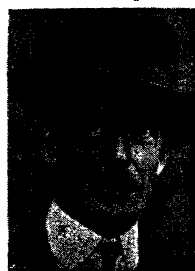
लार्ड एंथनी ईडन

आप राष्ट्र-संघ में युगोस्लेविया और हंगरी के पारस्परिक समझौते के लिये बहुत प्रयत्न कर रहे हैं।

भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं मिलेगा

पार्लमेंट में ज्वायंट सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट स्वीकृत

मजदूर-दल का संशोधन गिर गया

४९ पक्ष मे ४९१ विपक्ष में

सर सेम्युअल होर न करतलध्वनि के बीच ६ तारीख को हाउस आफ कामन्स में निम्न सरकारी प्रस्ताव पेश किया —

'यह हाउस सिलेक्ट कमेटी की सिफारिशों को भारतीय शासन विधान मे संशोधन करने का आधार मान कर स्वीकार करता है और उचित समझता है कि उस रिपोर्ट के आधार पर एक बिल पेश किया जाय।

स्कीम का उद्देश्य

विस्तार की बातों मे न जाने का आग्रह करते हुए आपने कहा तथा भारत मे सद्भाव रखने वाले व्यक्तियों से अपील की कि वे कुल योजना को एक साथ ग्रहण करें और यह विश्वास करें कि

कमेटी तथा सरकार की यही इच्छा है कि भारत को स्वशासन का अधिक से अधिक मौका दिया जाय और इसके लिये वे एसी स्कीम पेश कर रहे हैं जो हमारा विश्वास है भारत को हमेशा ब्रिटिश साम्राज्य का भागीदार रखने में सहायक होगा और जिस भविष्य मे प्रगति होने के बीज मौजूद हैं।

तीन निष्कर्ष

कमेटी सैकड़ों बैठकें करके ढेरियों गवाहियां लेकर और विस्तृत आवेदन पत्रों पर विचार करके तथा भारत व बर्मा के सार्वजनिक व्यक्तियों से विचार विनिमय करके तीन मुख्य निष्कर्षों पर पहुंची है—(१) प्रांतीय स्वतन्त्रता (२) अ० भा० संघ और (३) संरक्षणों के साथ उत्तरदायित्व।

ब्रिटिश शिक्षा और भारतीय अनुभव का परिणाम

उक्त तीन निष्कर्ष आपने बताया कि विधान सम्बन्धी सिद्धान्तों पर विचार करने वाले के दिमाग की उपज नहीं हैं बल्कि १०० साल की ब्रिटिश शिक्षा और इतने ही समय के भारतीय अनुभव का फल है। क्योंकि भारत के राजनीतिज्ञों की कई पीढ़ियों में पार्लमेंट की नकल करने की शिक्षा दी गई है, बाल विवाह मन्दिर-प्रवेश अस्पृश्यता-निवारण जैसे भारत के सामाजिक प्रश्न अधिकाधिक आगे आ रहे हैं और यह बात अधिक से अधिक स्पष्ट होती जाती है कि जिम्मेदार भारतीय राजनीतिज्ञ ही उन्हें सम्हाल सकते हैं। साथ ही आर्थिक दृष्टि से आवागमन के उत्तम साधनों के कारण तथा ऊंचे तटकर की वजह से यह अनिवार्य हो गया है कि भारतीय रियासतें भी केन्द्रीय भारतीय शासन में सीधा भाग लें।

प्रांतीय स्वतन्त्रता

की सफलता के लिये आपने कहा कानून और व्यवस्था को मिनिस्टर के सुपुर्द किया जाना आवश्यक है।

अखिल भारतीय संघ

के सम्बन्ध में आपने कहा कि यदि केन्द्र का मौजूदा रूप में ही छोड़ कर हम प्रांतों में उत्तरदायी सरकारों की स्थापना कर दें तो इससे भारत की एकता नष्ट होने का भय है। दूसरे एसा होने पर केन्द्रीय सरकार को लोकमत का सहारा न रहेगा। प्रांतीय सरकारों की कृपा पर उसे अवलम्बित रहना पड़ेगा। भारत की आर्थिक साख पर इसका (मना) पर इसका बहुत बुरा असर पड़ेगा और देशी नरेशों व देशी रियासतों का हालत आसपास के शक्तिशाली प्रांतों के मुकाबले में बहुत कमजोर हो जायगी। अतः प्रान्तीय स्वतन्त्रता को स्वीकार करने पर अ० भा० संघ अनिवार्य हो जाता है और अ० भा० संघ हो तो यह भी आवश्यक है कि वह भारतीय संघीय धारा सभा के प्रति उत्तरदायी हो तथा देशी नरेश भी उसमें शामिल रहें।

संरक्षणों के साथ उत्तरदायित्व

के सम्बन्ध में आपने कहा कि जिसने इस समस्या पर निष्पक्ष-रूप मे विचार किया है वह हरेक स्पष्ट रूप से यह जान गया है कि प्रांतीय स्वतन्त्रता तथा अ० भा० संघ की सफलता के लिये कुछ ऐसे संरक्षणों का होना आवश्यक है जिससे सरकार की स्थिरता एवं सुरक्षा में कोई बाधा न पड़े।

ये संरक्षण विधान की प्रगति रोकने के लिये नहीं हैं न इसी लिये बनाये हैं कि एक हाथ जो दिया जाय उसे दूसरे हाथ से ले लिया जाय। हर हालत मे तो हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत व बातों के ही सीधे परिणाम हैं।

सेना नहीं सौंपी जा सकती

सेना के सम्बन्ध में आपने कहा कि वस्तुस्थिति इस समय यह है कि हिन्दुस्तान स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकता और भारतीय सेना का एक बड़ा हिस्सा ब्रिटिश तथा इम्पीरियल सैनिकों का है। इम्पीरियल सेना को इम्पीरियल पार्लमेंट के अलावा और किसी के मातहत नहीं किया जा सकता।

> संरक्षणों की दृढ़ता से उपयोग किया जायगा।
>
> —सर होर
>
> रिपोर्ट के पत्रे-पत्रे मे अविश्वास भरा हुआ है।
>
> —मेजर एटले
>
> भारतीय जिस चीज के लिये चिल्ला रहे थे, उसकी जगह रिपोर्ट ऐसा बम का गोला है जो उनकी मौजूदा स्वतन्त्रता को भी नष्ट कर देगा।
>
> —कर्नल वेजवुडबेन
>
> 'अब समय आ गया है कि हम डोमिनियन स्टेटस के भ्रमात्मक शब्द को छोड़ दें, जिसने बहुत गलतफहमियां पैदा की हैं।'
>
> —आर्च बिशप कैंटरबरी

हाउस आफ कामन्स मे ६ दिसम्बर से ज्वायंट सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट पर बहस शुरू हुई, जो १२ तारीख को समाप्त हुई।

सर सेम्युअल होर

भारतीय तथा प्रान्तीय सरकारों का समर्थन

पिछले तीन सप्ताहों में आपने कहा, मेरे दरयाफ्त करने पर भारत के गवरनर-जनरल, भारत-सरकार तथा सब प्रान्तीय सरकारों ने अपनी यह सम्मति प्रकट की है कि सिलेक्ट कमेटी की स्कीमों को आधार मान कर भारतीय शासन-विधान बनाया गया तो वह कार्यान्वित हो सकेगा।

संरक्षण कागजी नहीं

विशेष उत्तरदायित्व के नाम से जो संरक्षण हैं उन्हें ब्रिटेन की अपेक्षा भारत के हित में बताते हुये पुलिस संरक्षणों पर आपने बहुत जोर दिया और आतंकवाद के विरुद्ध गवरनर-जनरल व गवरनरों को दिये जाने वाले विशेषाधिकारों को भी ठीक ही बतलाया। साथ ही इस बात पर भी जोर दिया कि संरक्षण कोरे कागजी नहीं हैं, मौके पर उनका दृढ़ता से उपयोग किया जायगा।

कांग्रेस और सुधार

असेम्बली-चुनाव में कांग्रेस की जीत पर आश्चर्य प्रकट करते हुए आपने कहा कि वायसराय और मैं तो कई सालों से इसके लिये प्रयत्न ही कर रहे थे कि कांग्रेस असहयोग के ऊजड़ क्षेत्र से किसी प्रकार वापस कौंसिलों में आकर जिम्मेदारी के साथ सार्वजनिक कार्य करने लगे। कांग्रेस की कांस्टिट्युएन्ट असेम्बली की मांग बिलकुल अव्यावहारिक है। मैं जानता हूं कि कांग्रेस ने इस स्कीम के विरुद्ध प्रस्ताव पास किया है परन्तु मुझे आशा है कि बाद में वह पुनः विचार करेगी।

पन्ने पन्ने में अविश्वास

मेजर एटली (लेबर) ने रिपोर्ट का विरोध करते हुए कहा कि—

(शेष पृष्ठ २५ पर)

महिला-जगत

क्या तलाक हिन्दू-संस्कारों के विरुद्ध है ?

(ले०—श्री जगेश्वरनाथ वर्मा, बी० ए०, एल-एल० बी०)

कहा जाता है कि तलाक को हिन्दू संस्कारों के विपरीत होने के कारण ही विवाह-पद्धति में स्थान नहीं दिया गया है। किन्तु जैसा कि आगे देखेंगे, वास्तव में ऐसा नहीं है। हम यह मान लेने को तैयार हैं कि जहां तक स्मृतियों का सम्बन्ध है, उनमें कुछ को छोड़कर अधिकांश स्मृतिकारों न या तो तलाक को निकृष्ट बताकर इसका विरोध ही किया है या किसी विशेष कारण वश इस विषय में मौन भग करन का साहस ही नहीं कर सके हैं।

जिन्होंन तलाक की अवहेला की है, उन्होंन भी केवल स्त्रियों ही को इस अधिकार से वचित किया है — पुरुषों के विषय में वह भी कोई ऐसा स्पष्ट विधान नहीं कर गय हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि शास्त्रानुसार कोई भी व्यक्ति एक ही समय में एक से अधिक कितनी ही स्त्रियों का स्वामी बन सकता है। अतएव वह दूसरी स्त्री को पत्नी-रूप में ग्रहण करन स पूव पहली स्त्री का परित्याग करन क लिय बाध्य नहीं है। फिर तलाक क प्रश्न पर माथा पच्ची करन की आवश्यकता ही क्या थी ?

पुरुषों को यथेच्छ कई२ स्त्रियों क स्वामी बन सकन की आज्ञा दकर तथा स्त्रियों के आत्म-रक्षा के अधिकार (तलाक) का अपहरण करक समाज न अपनी न्याय-प्रियता का कैसा सुन्दर परिचय दिया है ? यह कहना अक्षम्य असत्य है कि मोक्ष हिन्दुओं में वैवाहिक संबन्ध क अटूट होन के कारण शास्त्रों के एक दम प्रतिकूल है। हमार धर्म ग्रन्थों में ऐसी कितनी हा परिस्थितियों का उल्लेख है जिनकी उपस्थिति मे विवाह-सम्बन्ध धर्मव्यवस्था के विरुद्ध हो जान के कारण अविच्छिन्न नहीं रह सकता।

औरों की बात तो जान दीजिय, स्वयं मनु न लिखा है :—

काममामरणात्तिष्ठेद्‌गृहे कन्यातु मत्यपि
नचैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित।
उन्मत्तं पतिन क्लीबमबीज पापरोगिणम्
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च
दायापवर्तनम्।

यह निश्चित है कि कानून द्वारा केवल उसी रीति या प्रथा का निषध किया जाता है जो किसी समय या स्थान की विशेष स्थिति में बुरी असंगत और त्याज्य समझी जाय। इस लिये हम कह सकते हैं कि शास्त्रकारों ने तलाक का प्रतिषध करके ज्यादा से ज्यादा यह सिद्ध कर दिया है कि उनके समय में यह प्रथा किसी न किसी रूप में भारत म विद्यमान थी और स्मृतिकार इसका अस्तित्व मिटा देन के लिय यथासाध्य युद्ध करन में तल्लीन थे। नीच कही जान वाली जातियों में तो तलाक की परिपाटी परम्परा म चली आती थी, इस म भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

अपन समय की सर्वस्वीकृत प्रथाओं का प्रतिपालन करना और कुप्रथाओं का खन्डन करना ही स्मृतिकारों का मुख्य कार्य था। इस म तो केवल यही पता चलता है कि जहा तक मोक्ष का सम्बन्ध है, एक निर्दिष्ट समय में विद्वानों न इसका विरोध करना आरम्भ कर दिया था। और विरोधियों की सख्या दिन-दूनी रात-चोगुनी बढ़न लगी थी। इसी बहुमत की छाया स्मृति-साहित्य में भी मिलती है। फिर भी इस में सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में तलाक की प्रथा कभी न कभी अवश्य आम थी। और समय के हेर फर के साथ साथ इस विषय में लोगों का यह मत भी परिवर्तित होता गया और यह प्रथा धीरे धीर निन्दनीय होती गई। किंतु फिर भी थोड़े बहुत नीचे दर्जे के लोग इसका अनुसरण करते रहे और धर्म-शास्त्रों को अपन व्यावहारिक जीवन में हस्तक्षेप करन की आज्ञा न दे सके।

यह कहना ठीक नहीं है कि तलाक हिन्दू-संस्कृति के विपरीत और विवाह के उद्देश्य के प्रतिकूल है। अभी भी ऐम शास्त्र-लिखित प्रमाणों का एक दम ह्रास नहीं हुआ है, जिससे यह प्रथा सनातन सिद्ध होती है। कौटिल्य प्राचीन स्मृतिकारो में विशेष स्थान रखता है, मनुस्मृति की रचना से बहुत पहले कौटिल्य-कृत अर्थशास्त्र उपलब्ध था। यहा यह एक बात विशेषरूप से दर्शनीय है कि वर्तमान मनुस्मृति का एक अङ्ग तो कौटिल्य ही के विचारों की छाया मात्र प्रतीत होता है। किन्तु दूसरे अङ्गो में मनु और कौटिल्य में भारी मत भेद दिखाई देता है। केम का विचार है कि प्रस्तुत मनुस्मृति का एक अङ्ग तो सम्भव है कौटिल्य ही क समय का या उसम भी पुराना हो। पर दूसर अङ्ग निःसन्देह उसम बाद क हैं। इसम अनुमान किया जाता है कि मनुस्मृति क हम तक पहुचन म उसका वास्तविक रूप बहुत कुछ भ्रष्ट हो चुका है।

कौटिल्य-कृत स्मृति की रचना का समय निर्धारित करत हुए कन न लिखा है कि ईसा म ३०० वर्ष पूर्व आर १०० वर्ष बाद क युग म किसी समय उसकी रचना हुई है। इस प्राचीन ग्रन्थ में मोक्ष (तलाक) का जिन शब्दों में समर्थन किया गया है वह इस प्रकार है :—

"नीचत्वं परदेश वा प्रस्थिते
राज किल्बिषी।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः
क्लिबिशोपि वा पतिः"।

आगे चलकर कौटिल्य फिर कहता है :—

अमोक्ष्या भर्तुरकामस्य द्विषती भार्या
भार्यायाश्च भर्ता।
परस्पर द्वेषान्मोक्षः। अमोक्षो धर्म
विवाहानामिति॥

पहले श्लोक में कौटिल्य स्त्रियो को अपरिमित अधिकार दे गया है कि वे अपन पति से सम्बन्ध विच्छेद कर सकती हैं, यदि उनका स्वामी दुराचारी हो, विदेश वासी हो राजद्रोही हो, नपुन्सक हो, उनकी हत्या कर डालन को धमकी देता हो, या जाति च्युत हो

यदि विवाह संस्कार का अभिप्राय सतानोत्पत्ति ही मान लिया जाय तो ऊपर गिनाई गई परिस्थितियों में इस आशय की पूर्ति की कोई आशा नहीं हो सकती। अतएव स्त्री-पुरुष दोना उस समय तक गृहस्थ धर्म का उचित पालन करन में असमर्थ रहेंगे, जब तक कि वे बन्धन मुक्त न हो जाय।

कौटिल्य की दृष्टि मे विवाह ससारिक जीवन के सुख का मूल कारण भी है :—

अमोक्ष्या भर्तुरकामस्य द्विषती भार्या,
भार्यायाश्च भर्ता परस्पर द्वेषान्मोक्षः

अत अगर सतानोत्पत्ति व पुण्य कार्य की पूर्ति मे कोई बाधा न हो तो तलाक दन की उस समय तक आज्ञा नहीं दी जा सकती जब तक स्त्री-पुरुष दोनो एक दूसर स घृणा न करत हो। दाम्पत्य जीवन पारस्परिक प्रेम के अभाव के कारण भार हो जाता है। घर म हर घड़ी कलह रहन स पति-पत्नी के साथ २ सतान का चरित्र भी दूषित हो जाता है और उनकी उन्नति क मार्ग बन्द हो जात हैं, जिसम केवल समाज, सम्प्रदाय, या देश ही की हानि नहीं होती वरन् मनुष्य मात्र को क्षति पहुचती है।

कौटिल्य के मतानुसार अगर स्त्री पुरुष दोनो मे स कोई एक दूसर स घृणा कर तो तलाक की आज्ञा नहीं दी जानी चाहिय। यहा यह बता दना अनुचित न होगा कि हिंदू शास्त्रकार न जहा तक तलाक का सम्बन्ध है पुरुषो को 'शरय मोहम्मदी' की तरह एक दम स्वच्छाचारी तथा स्वच्छन्द नहीं बना दिया है जिस स वे जब चाहे स्त्रियो का परित्याग कर सकें। वरन तलाक के अधिकार को सीमाबद्ध कर के भारी अनर्थ की सम्भावना का सदा के लिय गला घोट दिया है।

तलाक को उपेक्षा करन वालों का कथन है कि कौटिल्य का भी यही मत है कि जिस वैवाहिक-सम्बन्ध पर धर्मशास्त्र की छाप लगी हो वह हर हालत में अविच्छिन्न है और स्त्री या पुरुष कोई इसको भग नहीं कर सकता। ऐसा कहन के लिय वह प्रायः कौटिल्य के इन शब्दो का आश्रय लेते हैं :—

"अमोक्षो धर्म विवाहानाम्।"

पर यह युक्ति उस समय एक दम सार-हीन मालूम होती है, जब कौटिल्य को कुछ स्थितियों में तलाक का समर्थन करत देखत है। क्योंकि यदि विपक्षियों का यह तर्क ठीक मान लिया जाय तो इसका यह मतलब होगा कि उस युग मे दो प्रकार के विवाह-सस्कार होत थे। एक तो वे जिनकी पूर्ति विधिविधान-पूर्वक हुई हो, और दूसर वह जो नियम-धर्म स विमुख होकर पूर्ण हुए हो। पर दूसर प्रकार क विवाहों का प्रचलित होना तो स्वय विरोधियों को भी स्वीकार न होगा और न ही ऐस विवाह-सम्बन्ध स मोक्ष प्राप्त करन क लिय स्मृतिकारो न अपना समय नष्ट किया होगा। प्रत्यक्ष है कि जो लोग विवाह करन क लिय धर्मोल्लंघन करने का साहस कर सकत हैं वे

तलाक के लिये धर्मपरायण बन कर शास्त्रों की शरण लेने की मूर्खता क्यों करेंगे? अब कौटिल्य के इन शब्दों का यही अर्थ हो सकता है कि जिन स्थितियों का ऊपर वर्णन किया जा है उनके अतिरिक्त वैवाहिक सम्बन्ध हर प्रकार में अखण्डित है।

दूसरा धर्म-ग्रन्थ जो इस विषय पर प्रकाश डालता है पाराशर स्मृति है। इस कृति का मूल कारण कलियुग के आचार विचारों का निर्दिष्ट करना है। प्रस्तुत स्मृति कन के मतानुसार ईसा के १०० वर्ष से ५०० वर्ष बाद तक के युग में लिखी गई है। याज्ञवल्क्य ने (जो ईसा के २०० से ३०० वर्ष पश्चात के युग में हुए हैं) अपनी कृतियों में पाराशर स्मृति का उल्लेख किया है इससे सिद्ध है कि मूल ग्रन्थ बहुत पुरानी कृति है।

पाराशर स्मृति विधवा-विवाह और तलाक का इन शब्दों में समर्थन करता है —

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणाम् पतिरन्यो विधीयते॥

नारद स्मृति का भी यही विधान है कि यदि पुरुष क्लीव हो तो स्त्री मोक्ष प्राप्त करने की अधिकारिणी है —

त्रीनृतून् समतिक्रम्य कन्या-प्युद्वहयेत वरम्।

(नारद)

अर्थात कन्या* ३ महीने तक प्रतीक्षा करे तदुपरान्त अपना दूसरा विवाह कर ले।

गौतम भी उक्त वर्णित स्मृतिकारों से पूर्णतया सहमत हैं। अतः यह निर्विवाद है कि प्राचीन भारत में तलाक प्रथा धर्मानुकूल था, पर जब इसका विरोध किया जाने लगा तो विपक्ष की पुष्टि के लिये स्मृतियों में से इस सम्बन्ध के अंशों को निकाल डाला गया इसका प्रमाण मनु के इन शब्दों में मिलता है —

'प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्।'

गौतम और दूसरे स्मृतिकारों ने भी लिखा है कि वह नारी जिसका स्वामी किसी धर्म-कार्य के सम्पन्न करने के लिये विदेश चला गया हो, ८ वर्ष तक उसकी राह देखे और सधवा जिसका पति विद्योपार्जन के निमित्त विदेश गया हो ६ वर्ष तक प्रतीक्षा करे, और वह स्त्री जिसका भर्ता यश अर्जन इत्यादि के लिये देश छोड़ गया हो वह ३ वर्ष तक उसके लौटने की कामना करे।

बड़े आश्चर्य की बात है कि मनु और उसके अनुयायी सभी इसके आगे बिलकुल मौन हैं और इस विषय में एक शब्द भी मुंह से नहीं निकालते हैं कि यथाविधि नियत समय का अन्त हो जाने के बाद भी यदि किसी का पति न लौटे तो उस अबला को क्या करना चाहिये? एक दूसरे श्लोक में मनु ने पुरुषों के लिये भी ऐसा ही समय नियत किया है और उन्हें आदेश दिया है कि समयान्त पर वह दूसरा ब्याह कर ले। इन दोनों श्लोकों के अवलोकन से पता चलता है कि स्त्रियों को भी यही अधिकार दिया गया था पर बाद में विपक्ष ने प्रस्तुत स्मृतियों में से यह अंश निकाल निकाल दिया है। जिससे उक्त श्लोक अधूरा और सार-हीन रह गया है।

समझ में नहीं आता कि प्रतीक्षा के समय के अनन्तर यदि स्त्री मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती तो फिर प्रतीक्षा करने का क्या आशय था? इसके अतिरिक्त मनु के मोक्ष के पक्ष में होने का एक और प्रमाण यह है कि अगर किसी स्त्री का ऐसे पुरुष से पल्ला बांध दिया जाय जो क्लीव उन्मादी या कुष्ठ ग्रस्त अन्य किसी असाध्य रोग से पीड़ित हो और वह उसे छोड़ कर दूसरा सम्बन्ध करे तो मनु के मतानुसार अक्षम्य नहीं है।

कन के मतानुसार मनुस्मृति ईसा की मृत्यु से ५०० वर्ष पहले और २०० वर्ष बाद के युग में पुनः लिखी गई है। ठीक यही बात अन्य ग्रन्थों पर भी लागू है। एक ऐतिहासिक उदाहरण से हमारे इस कथन की ओर भी पुष्टि हो जाती है। यह घटना इस प्रकार है कि बंगाल के नन्द नाई एक ब्राह्मण ने केवल अपने पक्ष के समर्थन के लिये दत्तक चन्द्रिका नामी एक जाली पुस्तक की रचना करके उसे प्राचीन ग्रन्थ बताते हुए प्रमाण स्वरूप पेश किया था। ऐसी और भी कितनी ही बातें हैं जिनसे उस समय के भ्रष्ट ब्राह्मणों की करतूतों का भण्डाफोड़ होता है और पता चलता है कि नन्द की तरह अन्य लोग भी इसी प्रकार अपनी नीचता का ढिंढोरा पीटते रहे हैं।

कम से कम यह मान लेने में तो कोई आपत्ति नहीं है कि समयानुकूल हमारी रीतियों में सदा से परिवर्तन होता रहा है। रामनद के प्रसिद्ध अभियोग में प्रिवी-कौंसिल ने भी इसे स्वीकार कर लिया है। और यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि एक समय तलाक की प्रथा को निन्दनीय समझ कर धर्म-ग्रन्थों में से निकाला जा चुका है फिर भी इसका मतलब यह नहीं है कि एक अच्छी बात जो कभी किसी विशेष कारण-वश बुरी समझी जाने लगी थी। यदि सब वही हमारे लिये हितकर हों तो हम उसे केवल इस लिये अस्वीकार करदें कि वह कभी त्याज्य समझ ली गई था। रोगी को पथ्य न देने से त्याज्य या सदा के लिये बुरा नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त यदि हमें शास्त्रों में पहले कभी घर न बढ़ाने का अधिकार था तो अब भी उस अधिकार का सदुपयोग किया जा सकता है।

* यहां कन्या शब्द का प्रयोग भ्रमोत्पादक है। सम्भव है इस श्लोक में भी बाद में कुछ काट-छांट की गई हो। —लेखक

सिगरेट शराब नहीं पियेंगी

पांच हजार युवतियों की प्रतिज्ञा

ब्रिसबन के रोमन कैथोलिक आर्कबिशप शराबखोरी और धूम्रपान के विरुद्ध जबरदस्त आंदोलन कर रहे हैं। इनका यह आंदोलन मुख्यतया युवतियों के चरित्र एवं स्वास्थ्य-सुधार के लिये है। उपासना के समय वह प्रत्येक युवती से शपथ कराते हैं कि २५ वर्ष की उम्र तक शराब न पियेंगी। उनका कहना है कि अब तक पांच हजार युवतियां ऐसी प्रतिज्ञा कर चुकी हैं। भारतवर्ष के छात्र और युवकों में सिगरेट का प्रचार बढ़ रहा है। क्या वे इससे शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकते?

रूसी स्त्रियां पहले से बहुत सुखी हैं

एक प्रोफेसर का आंखों देखा वर्णन

'रूस वाले समाज को नया रूप देने के लिये आजकल बड़ा भारी परीक्षण कर रहे हैं।' यह कहते हुए दिल्ली-मिशन कालेज के प्रो० स्पीयर ने लाहौर में अपने आंखों देखे वर्णन सुनाये और रूसी स्त्रियों के बारे में कहा है —

रूसी स्त्री की दशा में जितना परिवर्तन हुआ है, उतना परिवर्तन किसी और की दशा में नहीं हुआ। कम्यूनिस्टों ने यह चेष्टा की है कि स्त्रियों को अपने भरण पोषण के लिये आदमी का मुंह ताकना न पड़े। रसोई धातु और पति की दासता के झंझट को भी कम करने की चेष्टा की गई है। सरकार ने अपनी ओर से रसोई घर खोले हैं जहां स्त्री पुरुष आकर भोजन कर जाते हैं। हरेक कारखानों में बच्चों को खिलाने और प्रसूति का प्रबन्ध है। उन्हें हर काम में मर्दों की बराबर समझा जाता है।

रूस में विवाह ठेका नहीं समझा जाता। भावी दम्पती को एक घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर कर देने होते हैं।

आज कल रूसी स्त्रियां पहले की अपेक्षा बहुत प्रसन्न और सुखी हैं।

—

अप्रत्यक्ष निर्वाचन-विधि

(ले० श्री दत्तात्रय बी० वाग्ले एम० ए० एल० एल० बी० अजमर)

ज्वायन्ट पार्लमेंटरी कमेटी की रिपोर्ट के सम्बन्ध में भारतीय लोकमत क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर उपरोक्त रिपोर्ट के प्रति देश-व्यापी विरोध, निराशा तथा घृणा की भावनाओं ने स्पष्ट दे दिया है। पहले व्हाइट पेपर के संरक्षणों, गवर्नर तथा गवरनर जनरल क विशेष उत्तरदायित्व (Special Responsibilities) तथा विशेष अधिकार (Special powers) और सेना तथा वैदेशिक-विभाग आदि पर गवर्नर जनरल के एकाधिकार की योजनाओं ने भारतीयों के पास कुछ रहने ही नहीं दिया था और अब इस कमेटी ने रही सही कमी को भी पूरा कर दिया है। किन्तु यह सब जिस चतुरता व चालाकी स किया गया है, उसका ज्वलन्त उदाहरण सिलेक्ट कमेटी की उस योजना म ही मिल सकता है, जिसक अनुसार केन्द्र की मुख्य प्रतिनिधि सभा असेम्बली क भारतीय प्रतिनिधियों क निर्वाचन की पुरानी प्रथा की बजाय एक नवीन प्रथा के उपयोग की सिफारिश की गई है।

इस नवीन निर्वाचन विधि का नाम है 'इन्डायरक्ट मथड आफ इलेक्शन'। अन्य उपयुक्त पर्यायवाची के अभाव मे हम इस विधि को हिन्दी में 'अप्रत्यक्ष' निर्वाचन विधि कहें तो अनुपयुक्त न होगा। भिन्न २ निर्वाचन विधियों के गुण दोष तथा परिणामों के विषयों मे जो लोग अनभिज्ञ हैं, उन्हें इस परिवर्तन में विशेष दोष अनुभव न होगा। विचार पूर्वक देखन से अनुभव होगा कि यह निर्दोष दीखने वाला परिवर्तन 'विष-कुम्भ पयोमुख' स कम घातक नहीं है।

चुनाव की पुरानी व नवीन विधि

अभी तक भारतीय धारा सभा क सदस्यों को चुनने की जो विधि प्रचलित है उससे लगभग सब लोग परिचित हैं। इस प्रथा को 'डायरक्ट मथड आफ इलेक्शन' (Direct Method of Election) कहते हैं क्योंकि इसके अनुसार प्रत्येक मतदाता जिस उम्मेदवार को चुनना चाहता है उसके लिय स्वय अपन हाथ मे 'वोट' दे सकता है। 'व्हाइट-पेपर' न भी इसी पुरानी प्रथा का समर्थन किया है, किन्तु ज्वायन्ट सिलेक्ट कमटी न जिस विधान की योजना की है उसके अनुसार वोटर 'हाउस आफ असम्बली' के सदस्यो को स्वयं न चुन सकेगा। निर्वाचको के इस कार्य को उनक प्रांत की कौंसिलें करेंगी। असेम्बली में जान वाले जनता क प्रतिनिधियों को जनता स्वय न चुन सकेगी।

जहाँ प्रांतीय कौंसिले न होगी जैसे देहली, अजमर तथा बिलोचिस्तान, वहाँ असम्बली क मेम्बर को या तो सरकार नामजद करगी या जनता द्वारा निर्वाचित एक अस्थायी निर्वाचक-सभा (Electoral College) उन्हे चुनगी। मेम्बर का चुनाव होत ही यह निर्वाचक सभा भी बर्खास्त हो जायगी। उदाहरणार्थ देहली व अजमेर क वोटरों को प्रथम कुछ लोगो को उस निर्वाचक सभा क लिय चुनना पड़ेगा और तब निर्वाचक सभा क ये सदस्य चाहे जिसे जनता की प्रतिनिधि बना कर भज देंगे।

परिवर्तन क कारण

अब प्रश्न यह है कि जिस प्रचलित निर्वाचन विधि को कायम रखन की 'व्हाइट पेपर' न सिफारिश की, भारत के प्रत्येक राजनीतिज्ञ न तथा गोलमेज कानफरन्स क हर एक सदस्य न जिसका जोरदार शब्दों मे एक स्वर म समर्थन किया, जो प्रथा ससार की समस्त मुख्य प्रतिनिधि सभाओं क लिय प्रचलित है और विशेष कर सघ-शासन व्यवस्था (Federal Constitution) में जो प्रथा अनिवार्य समझी जाती है तथा जिस प्रथा को गत बारह वर्षों मे कार्यान्वित कर भारतवासियों न सफल बनाया है, आज उस ज्वायन्ट कमेटी क्यों बदलना चाहती है ? और विशेष कर उस अवस्था में जब कि भारतवर्ष में भी सघ-शासन की स्थापना (Federation) का कमेटी स्वय समर्थन करती है।

ज्वायन्ट कमटी न उपरोक्त सारे प्रश्नों पर विचार किया और उनकी यथार्थता को भी अस्वीकार नहीं किया। किन्तु यह सब होन पर भी कमेटी न अप्रत्यक्ष निर्वाचन को ही प्रचलित करन का निश्चय किया और इसका कारण वही प्रसिद्ध व अन्तिम है कि जो अन्य सब युक्तियो क असफल होन पर अंग्रेज भारत क लिय उपयोग मे लाते हैं। अर्थात भारतवर्ष की परिस्थिति इतनी विचित्र तथा भिन्न है कि जो सिद्धान्त सर्वमान्य हैं उन्हे भी हम भारतवासियों क लिय उपयुक्त नहीं समझते। उनका कथन है कि भारत इतना विशाल देश है कि सघ-शासन व प्रजातन्त्र का प्रयोग इसमे पूर्व कभी इतने बड़े परिमाण पर नहीं किया गया। अतः व्हाइट-पेपर के अनुसार जब ३७५ सदस्यों का एक विशाल धारा सभा का आयोजन किया जा रहा है और भारतवासियों को पूर्ण उत्तरदायित्व देने क लिए १४ प्रतिशत लोगों को मत देने का अधिकार दिया जा रहा है, तब वर्तमान प्रचलित निर्वाचन विधि को कायम रखन का परिणाम यह होगा कि भारतवर्ष को हम जो प्रतिनिधि-शासन व्यवस्था दे रहे हैं उसका महत्व सर्वथा नष्ट हो जायगा क्योंकि प्रतिनिधि शासन की वास्तविकता क लिय यह आवश्यक है कि निर्वाचित प्रतिनिधि सदा अपन निर्वाचकों के सम्पर्क मे रहे तथा उसक निर्वाचक सदा अपन प्रतिनिधियों क कार्यों पर नजर रख सकें। परन्तु प्रचलित प्रत्यक्ष निर्वाचन विधि क रहते यह सर्वथा असम्भव है और इसका कारण है भारत की विचित्र परिस्थिति। भारत में अभी रेल, तार, डाक आदि एक दूसर को सम्पर्क में लाने वाले साधनो की बड़ी कमी भी है। दूसरे यहा इतनी भिन्न-भिन्न भाषायें हैं कि प्रतिनिधि और उसके निर्वाचकों मे वास्तविक सम्बन्ध स्थापित होना कठिन है। सब से बड़ी कठिनता तो यह है कि अधिकांश निर्वाचक सर्वथा अशिक्षित हैं। इन बाधाओं के अतिरिक्त ज्वायन्ट सिलेक्ट कमटी के सदस्यो को सब स अधिक चिन्ता इस बात की थी कि भावी फेडरल असेम्बली का उम्मीदवार किस प्रकार इतने बड़े २ निर्वाचन क्षेत्रोंके वोटरों तक अपन विचार पहुचा सकेगा। भावी शासन-व्यवस्था के एक-एक निर्वाचन क्षेत्र में लगभग दो-दो लाख मतदाता होंगे। अतः यदि प्रचलित निर्वाचन विधि का ही उपयोग किया गया तो किसी प्रकार का भी उत्तरदायित्व-पूर्ण प्रतिनिधित्व असम्भव हो जावेगा, क्योंकि बहुसंख्यक निर्वाचकों क प्रति न तो उन का प्रतिनिधि अपना कोई उत्तरदायित्व अनुभव करगा और न ही निर्वाचक उसे अपन विचारों का यथार्थ प्रतिनिधित्व करन पर विवश कर सकेंगे।

अतः कमेटी इस परिणाम पर पहुची कि यदि उपरोक्त सारी कठिनाइयों को दूर करन का कोई उपाय है तो वह है अप्रत्यक्ष निर्वाचन विधि। इस विधि क प्रयोग स विशेष निर्वाचन क्षेत्रों तथा बहुसंख्यक निर्वाचकों क कारण जो बाधाएं उत्पन्न होंगी वे दूर की जा सकेगी क्योंकि अप्रत्यक्ष निर्वाचन में इन निर्वाचकों को यह अधिकार ही न रहेगा कि वे केन्द्रीय धारा सभा क लिय किसी को अपना प्रतिनिधि चुन सकें। उनके इस कार्य को प्रांत की कौंसिल करगी।

न रहेगा बांस न बजेगी बांसरी

ज्वायन्ट कमेटी का यह उपाय ठीक वैसा ही है जैसा कि किसी रोग को दूर करने क लिय रोगी का ही अन्त कर दिया जावे। कुछ कठिनाइयों तथा दोषों को दूर करन क लिय जनता स उनका महत्वपूर्ण अधिकार ही छीन लिया गया, जिससे न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी।

ज्वायन्ट कमेटी की लचर दलीलें

इस नवीन निर्वाचन विधि की हानियों पर विचार करन स पूर्व यह देखना आवश्यक है कि ज्वायन्ट कमेटी न जिन कारणों की आड़ मे यह बल बोई है, व कहां तक युक्तिसंगत तथा यथार्थ हैं। भारत की विचित्र तथा विभिन्न परिस्थिति का तर्क एक ऐसा दुधारा हथियार है कि जिसका अपनी सुविधानुसार अंग्रेज राजनीतिज्ञ चाहे जिस प्रकार उपयोग कर सकते हैं। उसका एक मात्र उद्देश्य किसी प्रकार अपनी नीति का समर्थन करना मात्र होता है।

भारत जैसे विशाल देश म कभी संघ शासन (Federation) की स्थापना इससे पूर्व नहीं हुई यह कहकर सब मे अनिवार्य समझी जाने वाली प्रत्यक्ष निर्वाचन विधि का विरोध करते समय सम्भवतः ज्वायन्ट कमेटी यह भूल गई कि सघ-शासनों मे आदर्श समझा जाने वाला 'अमरिका' वर्गक्षेत्र में भारत स ठीक दुना है और भारत क भावी निर्वाचकों की सख्या की दृष्टि स लगभग तिगुना है। 'व्हाइटपेपर' क अनुसार मताधिकार बढ़ जान पर भी हमारी जनसख्या का केवल १४ प्रतिशत भाग निर्वाचक हो सकेगा बाकी ८६ प्रतिशत भारतवासी मताधिकार स हीन स सर्वथा मूक रहेंगे। अतः भावी शासन की कठिनतायें बतान

के लिये भारत की ३५ करोड़ जनसंख्या का उदाहरण देना सर्वथा असंगत और अनुपयुक्त है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष निर्वाचन के महत्वपूर्ण अधिकार से वंचित करने के लिये भारत की विशाल जनसंख्या का होवा दिखाना केवल एक बहाना मात्र है।

विपरीत इसके इतिहास में आप को एक भी ऐसा उदाहरण न मिलेगा कि जब भारत जैसे 'महाद्वीप' में कभी वर्तमान अंग्रेजी शासन के समान 'केन्द्रीय शासन (Unitary Government) की स्थापना की गई हो। आधुनिक शासनविशेषज्ञ तो एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि बड़े-बड़े देशों के लिये 'केन्द्रीय शासन' सर्वथा अनुपयुक्त है। संघ शासन का तो आविष्कार ही बड़े देशों में केन्द्रीय शासन की अनुपयोगिता व हानियों के कारण हुआ है। विशाल देशों में प्रान्तीय-स्वाधीनता (Provincial Autonomy) और केन्द्रीय सत्ता तथा एकता (Central Authority and Unity) के आवश्यक किन्तु परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय करने के लिये संघ की स्थापना अनिवार्य समझी जाती है। आदर्श शासन व्यवस्था के लिए ये दोनों सिद्धान्त इतने आवश्यक हैं कि केन्द्रीय शासनों को भी अधिकार-विभाजन' (Devolution of Authority) की शरण लेकर संघ शासन के आदर्श को स्वीकार करना पड़ रहा है। अतः अप्रत्यक्ष निर्वाचन की योजना करके हमारे भावी संघ के स्वाभाविक विकास में भारत की विचित्र स्थिति की लाकर दलील देकर रोड़ा अटकाना सर्वथा निंदनीय है, क्योंकि प्रत्यक्ष विधि द्वारा निर्वाचित मुख्य प्रतिनिधि सभा (Lower Chamber) के बिना वास्तविक संघ (Federation) की स्थापना कठिन है।

इससे भी विचित्र कारण जो ज्वायन्ट कमेटी ने अपनी योजना के समर्थन में दिया है वह है उसकी 'भारतवासियों को वास्तविक प्रतिनिधि शासन देने की चिन्ता'। कमेटी का विचार है कि यदि हमने निर्वाचन कायम रखा तो भारत को सच्चा स्वराज्य प्राप्त न हो सकेगा। हमें वास्तविक 'स्वराज्य' देने की ब्रिटिश सरकार को हम से भी अधिक चिंता है यह कम आश्चर्य की बात नहीं है? इसमें सन्देह नहीं कि 'स्वराज्य' व प्रतिनिधि शासन की वास्तविकता के लिये यह आवश्यक है कि जनता के प्रतिनिधि सदा जनता के समर्थन से रहें तथा लोकमत को शिक्षित करें। इसी प्रकार जनता को भी अपने प्रतिनिधियों को अपनी इच्छा तथा आवश्यकता के अनुकूल चलाने तथा उनके प्रत्येक कार्य पर नजर रख कर जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व का अनुभव कराने की सुविधा तथा अवसर प्राप्त होना चाहिये। परन्तु इसका उपाय यह नहीं था कि प्रत्यक्ष के स्थान में अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रचलित किया जावे। संयुक्त कमेटी की राय में विशाल निर्वाचन क्षेत्रों तथा उनमें बहुसंख्यक निर्वाचक होने के कारण यदि प्रचलित निर्वाचन विधि का ही उपयोग किया गया तो उपरोक्त प्रतिनिधित्व का आदर्श असम्भव होगा किन्तु कमेटी की यह युक्ति सर्वथा निर्मूल है। प्रथम तो यह विचार ही भ्रमपूर्ण है कि भावी शासन में निर्वाचनक्षेत्र बड़े होंगे क्योंकि इन क्षेत्रों का परिमाण फैडरल असेम्बली के सदस्यों की संख्या के विपरीत अनुपात पर निर्भर है, भावी असेम्बली में ब्रिटिश भारत के निर्वाचित सदस्यों की संख्या २५० होगी अतः समस्त ब्रिटिश भारत लगभग २५० निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया जावेगा और परिणामस्वरूप उस समय के निर्वाचनक्षेत्र वर्तमान क्षेत्रों से आधे से भी कम होंगे। क्योंकि आज कल असेम्बली में केवल १०४ निर्वाचित सदस्य हैं। इसमें सन्देह नहीं कि निर्वाचन क्षेत्र छोटे होने पर भी निर्वाचकों की संख्या अब से कहीं अधिक होगी क्योंकि जिस अनुपात से क्षेत्र छोटे होंगे उससे कहीं अधिक अनुपात से निर्वाचक बढ़ेंगे परन्तु इसका उपाय अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा उनके अधिकार छीनना नहीं था। असेम्बली के सदस्यों की संख्या और अधिक बढ़ाकर निर्वाचन क्षेत्रों का परिमाण निर्वाचकों की संख्या की वृद्धि के अनुपात से और अधिक घटाया जा सकता था और इस प्रकार निर्वाचकों की संख्या का प्रश्न हल हो जाता। अमरिका की जनसंख्या यद्यपि भारत की जनसंख्या का तीसरा हिस्सा भी नहीं है किन्तु फिर भी वहां की मुख्य प्रतिनिधि सभा हाउस आफ रिप्रेजेन्टेटिव्ज के सदस्यों की संख्या ४०० है। अतः भारत जैसे देश की केवल ३५० सदस्यों की प्रतिनिधिसभा में आसानी से वृद्धि की जा सकती थी, जिससे उपर्युक्त निर्वाचन-क्षेत्रों तथा निर्वाचकों की दोनों समस्यायें सरलता से हल हो जातीं व जनता को उसके स्वनिर्णय के अधिकार से वंचित करने की भी आवश्यकता न होती। किन्तु ज्वायन्ट कमेटी इस उपाय का अवलम्बन कैसे करती? उसका उद्देश्य तो बन्दर-न्याय के अनुसार 'व्हाइट पेपर' द्वारा दिये गये यत्किंचित अधिकारों को भी छीनना था न कि उनमें और वृद्धि करना।

दूसरे यदि हम यह मान भी लें कि भावी निर्वाचन-क्षेत्र बड़े होंगे तथा उनमें निर्वाचकों की संख्या के कारण अनेक कठिनतायें उत्पन्न होंगी तब भी यह समझना कठिन है कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन' द्वारा उन कठिनताओं का किस प्रकार निराकरण होगा। मेरे विचार में तो निर्वाचन विधि के प्रश्न से इस विषय का कोई विशेष सम्बन्ध ही नहीं है। जब तक निर्वाचकों की संख्या कम न हो तब तक किसी भी विधि से निर्वाचन हो, ये कठिनायें—यदि वास्तविक हैं तो—अवश्य उत्पन्न होंगी और अप्रत्यक्ष निर्वाचन में तो जहां प्रांतीय कौंसिलें नहीं हैं और भी अधिक होंगी, क्यों कि वहां निर्वाचकों को असेम्बली के एक प्रतिनिधि के स्थान में निर्वाचक-सभा के लिये अनेक प्रतिनिधि चुनने पड़ेंगे। अतः स्पष्ट यह न कह कर कि भारतीयों को और मताधिकार न देने चाहियें उन्होंने अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा उस मताधिकार को ही निस्सार कर दिया।

जिस निर्वाचक और निर्वाचित के आवश्यक सम्पर्क की आड़ लेकर अप्रत्यक्ष निर्वाचन का समर्थन किया गया, वह सम्पर्क तो इस अप्रत्यक्ष विधि के कारण नष्ट हो जायगा। जनता के हाथ से अपने प्रतिनिधि को चुनने का अधिकार जाते ही, निर्वाचित सदस्य जनता के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व अनुभव न करेगा और न जनता के विचारों तथा हितों की उसे चिन्ता होगी। ऐसी स्थिति में उसे प्रतिनिधि कहना व्यर्थ है। उम्मेदवार का एकमात्र उद्देश्य निर्वाचक सभा के मुट्ठी भर सदस्यों को प्रसन्न करना मात्र होगा, क्योंकि वे ही उसके भाग्य-विधाता होंगे। किन्तु उसके प्रति भी उम्मेदवार का उत्तरदायित्व चुनाव होते ही समाप्त हो जायगा, क्योंकि तब इस अस्थायी निर्वाचक सभा का अस्तित्व मिट जायगा। अतः अप्रत्यक्ष निर्वाचन का एकमात्र परिणाम यह होगा कि हमारा प्रतिनिधि सिवाय अपने अन्य किसी के प्रति अपने को उत्तरदाता न समझेगा।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन का समर्थन करने के लिये संयुक्त कमेटी ने जो एक और युक्ति दी है वह है भारतवर्ष में अनेक भाषाओं का होना। भाषा विभिन्नता के कारण प्रतिनिधि तथा उनके निर्वाचकों में इच्छित सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। कमेटी के इन 'सर्वज्ञ' सदस्यों को हमारी भाषा विभिन्नता की कैसी विचित्र कल्पना है? सम्भवतः वे समझते हैं कि भारत में प्रत्येक मनुष्य अपनी अलग बोली बोलता है अन्यथा एक ही निर्वाचन-क्षेत्र के प्रतिनिधि तथा निर्वाचकों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न भाषाओं की कल्पना करना कठिन है।

अन्त में रेल, तार, डाक तथा शिक्षा की कमी के प्रश्न को लेकर ज्वायन्ट कमेटी ने प्रत्यक्ष निर्वाचन विधि की कठिनाइयों को दर्शाने का यत्न किया है किन्तु यह युक्ति भी उतनी ही असंगत है कि जितनी अन्य। अन्य अनेक सभ्य देशों में भी इन साधनों की कमी है। किन्तु वहां प्रत्यक्ष निर्वाचन में कोई कठिनता नहीं होती। ज्वायन्ट कमेटी के अनुभवी तथा विज्ञ सदस्यों से यह छिपा नहीं था कि भारत में भी कांग्रेस जैसी सुसंगठित राजनीतिक पार्टी उपस्थित है। वर्तमान असेम्बली के चुनाव ने इस विषय में कांग्रेस की शक्ति तथा संगठन का जो परिचय दिया है वह ज्वायन्ट कमेटी इतनी शीघ्र भूल नहीं सकती।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सम्बन्ध में ज्वायन्ट कमेटी ने जो उपरोक्त अनेक युक्तियां दी हैं उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर प्रत्येक विचारशील मनुष्य इसी परिणाम पर पहुंचे बिना न रहेगा कि ज्वायन्ट कमेटी का एकमात्र उद्देश्य व्हाइट पेपर में दिये गये थोड़े बहुत अधिकारों को भी सर्वथा निष्फल तथा नष्ट करना मात्र है। कमेटी की युक्तियों का निर्णय यह तो निकल सकता था कि भारत की विशालता, विचित्रता, रेल, तार व शिक्षा की कमी बृहत निर्वाचन-क्षेत्रों तथा बहुसंख्यक निर्वाचकों के कारण उत्पन्न हुई अनेक बाधाओं तथा कठिनाइयों के कारण भारतवासियों को किसी प्रकार के अधिकार न देने चाहियें तथा जो दिये गये हैं वे भी वापिस लेने चाहियें। क्योंकि जैसा हमने ऊपर बताने का प्रयत्न किया ज्वायन्ट कमेटी की इन युक्तियों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष निर्वाचन से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः इतने उत्तम तर्क तथा सुन्दर युक्तियों के पश्चात यह परिणाम न निकाल कर केवल अप्रत्यक्ष निर्वाचन की योजना करना अंग्रेजों की कूट-

(शेष पृष्ठ १८ पर)

मुगलकालीन संस्कृति

हिन्दू मुस्लिम एकता का सुन्दर प्रयत्न

सर तेज बहादुर सप्रू का भाषण

गत ५ दिसम्बर को सर तेज बहादुर सप्रू ने पंजाब लिटरेरी लीग में निम्न लिखित भाषण दिया —मैं इस स्थान पर राजनीतिक प्रश्नों पर विचार नहीं करना चाहता। जब कभी मुझे समय मिला है मैं बराबर भारतीय इतिहास का अध्ययन करता हूं और पिछले १५ महीनों में मैंने भारतीय इतिहास—खासकर गत ४०० वर्षों का इतिहास पढ़ता रहा हूं। इसके पढ़ने के पश्चात इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि अगर कोई भारत को समझना चाहता है तो उसे मुगलकालीन इतिहास को पढ़कर उसका तत्व समझना चाहिये। इससे पाठकों को बहुत सी बात समझ में आ जायगी और उनकी सहानुभूति बढ़ जायगी। आज की कितनी ही समस्याओं को समझने के लिये मुगलकालीन इतिहास पढ़ने की बड़ी भारी जरूरत है। कुछ अंश तक यह सत्य है कि आज भारत की जो अवस्था है वह विगत १९ वीं शताब्दी के परिणामस्वरूप है।

किन्तु यह सत्य है कि मुगल साम्राज्य के अन्तिम दो तीन सौ वर्ष भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण वर्ष थे और इनकी तुलना रोम के इतिहास से की जा सकती है। मैं इसी परिणाम पर पहुंचा हूं कि अगर भारत पर मुगल शासन का कुछ प्रभाव पड़ा तो उस काल की राजनीतिक और शासन सम्बन्धी बातों का प्रभाव नहीं पड़ा बल्कि प्रभाव पड़ा उस बात का जिसे उन लोगों ने देश में एक संस्कृति की स्थापना के लिये किया।

कितने ही यूरोपियन आलोचक कहेंगे कि उनमें बड़ी विभिन्नता थी और एक वर्ग दूसरे से अलग था। मैं भी इसी बात को मानता हूं कि वे अलग अलग थे और एक ऐसे बिन्दु पर दोनों न पहुंच सके जहां दोनों मिल सकें। किन्तु जब वे संस्कृति पर विचार करेंगे तब क्या वे साहसपूर्वक कह सकते हैं कि मुगल काल में केवल मुस्लिम अथवा केवल हिन्दू संस्कृति थी? उस समय उन्हें पता चलेगा कि दोनों सम्प्रदायों के सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप तत्कालीन संस्कृति का जन्म हुआ था। कुछ हिन्दुओं ने फारसी में बड़ी सुन्दर कवितायें लिखीं और कुछ मुसलमा-

सर तेजबहादुर सप्रू

नों ने हिन्दी में सुन्दर कवितायें लिखीं क्योंकि १५० वर्ष पहले जब वर्तमान शासन प्रणाली की स्थापना नहीं हुई थी तब दोनों ही सम्प्रदायों के विचारों के आदान प्रदान का माध्यम एक ही था। हमारा वर्ष बाद जब मुगल काल पर और भी धूमिल छाप पड़ जायगी उस समय भी लोग इस बात के लिये उन लोगों की प्रशंसा करेंगे कि एक ही संस्कृति के विकास के लिये इन लोगों ने प्रयत्न किया था। परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि पिछले चालीस पचास वर्षों में जो मनोवृत्ति पनपती आ रही है वह मेरे ख्याल में बहुत ही शोचनीय मस्तिष्क की उपज है।

तत्कालीन संस्कृति की एकता उन का पारस्परिक विभिन्नताएं न्यूनतम हो गयी थीं और ऐसा उनकी सहिष्णुता के कारण हुआ था। मुझे तो संस्कृति की यह एकता आज विछिन्न हुई दिखायी पड़ती है। संस्कृति की यह एकता दोनों सम्प्रदायों में जितनी एकता स्थापित करती है उतनी वेस्ट मिनिस्टर के किसी भी विधान से नहीं हो सकता। परन्तु आज इस संस्कृति पर खतरा आ गया है। दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे से अलग होते जा रहे हैं। अगर हिन्दू यह सोचते हों कि एक दिन ऐसा आयगा कि भारत में मुसलमान नहीं रह जायगे अथवा अगर मुसलमान भी ऐसे ही विचार हिन्दुओं के सम्बन्ध में रखते तो हिन्दुओं और मुसलमानों का ऐसा सोचना उनकी अज्ञानता का सूचक है। मेरा विश्वास है कि अगर इतिहास के विभिन्न कालों में धर्म के कारण दोनों सम्प्रदायों में वैमनस्य उत्पन्न हुआ है तो संस्कृति ने दोनों में ऐक्य की स्थापना हुई है।

शुद्धाहार और शुद्ध वस्त्र

श्री पूनमचन्द ने नागपुर में विद्यार्थियों को भाषण देते हुए कहा—

आज कल उच्च शिक्षा की प्राप्ति में जो भारी व्यय और शक्ति का अपव्यय होता है उतना बदले में लाभ नहीं होता। यदि विपुल धन खर्च कर हमने कोई डिग्री प्राप्त करली परन्तु तो भी हम अपना आजीविका सुलभता से न चला सके और न अपने कर्तव्याकर्तव्य को समझे तो ऐसी उच्च शिक्षा से क्या लाभ? विद्यार्थी प्रति मास घर से मनीआर्डर मंगाया करते हैं यदि मनीआर्डर में जरा विलम्ब हुआ तो घर वालों को भला बुरा कहने लगते हैं पर वे यह नहीं सोचते कि आज कल के जमाने में पैसा कितनी कठिनाई से अर्जन किया जाता है। हमारे विद्यार्थियों को घर की आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रहता उनका एकमात्र यही लक्ष्य रहता है कि किस प्रकार शान और फैशन में अपने दिन गुजरें।

केवल स्कूली ज्ञान में अपने आप को विद्वान समझ लेना भारी भूल है। सच्चा ज्ञान तो पाठ्य पुस्तकों के बाहर विविध पुस्तकों में भरा है। जो सामान्य और व्यावहारिक ज्ञान में शून्य है वह यदि डिग्री धारी बन भी गया तो उससे समाज और देश को क्या लाभ? मैं तो सच्चा ज्ञान और सच्ची शिक्षा उसी को मानता हूं जो हमें अपने कर्तव्य का बोध करावे।

मैं विद्यार्थियों को अक्सर देश की लम्बी-लम्बी बात करते हुए पाता हूं। परन्तु अफसोस की बात यह है कि हमारा देश क्या है उसकी संस्कृति क्या है उसकी आवश्यकता क्या है और हमारी उसके प्रति में कहां तक जिम्मेदारी है इसका विचार करते हुए वे कम ही दिखाई देते हैं। विद्यार्थियों को यह खूब अनुभव कर लेना चाहिये कि जब तक वे अपने राष्ट्र और राष्ट्र धर्म को न पहचानेंगे तब तक उनकी शिक्षा और उनकी लम्बी लम्बी बातें सब व्यर्थ है।

मैं विद्यार्थियों के लिए दो बातों को प्राथमिक महत्व देता हूं वह है शुद्धाहार और शुद्ध वस्त्र परिधान बिना शुद्ध आहार के आत्मा की ज्योति प्रगट नहीं हो पाती और बिना उस ज्योति को प्रगटाये मनुष्य को सच्चा कर्तव्यानुभूति नहीं होती। शुद्ध वस्त्र परिधान शरीर और आत्मा दोनों की शक्ति को बढ़ाता है। एक वक्त जहां ज्ञानपूर्वक मनुष्य ने शुद्ध वस्त्र परिधान किया कि उसके कर्तव्य के द्वार स्वयमेव खुल जाते हैं और उसे अपना कर्तव्य स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगता है। शुद्धाहार और शुद्ध वस्त्र वाले व्यक्ति के मार्ग में सहस्त्र सहस्त्र बाधायें भी रोड़ा नहीं डाल सकतीं तो एक आध की बात ही क्या। मैं शुद्धाहार करने और शुद्ध वस्त्र धारण करने की प्रतिज्ञा करने का अनुरोध करता हूं। मैं इन दोनों का खूब अच्छा अनुभव कर चुका हूं और अपने अनुभव में मुझे जो आशातीत लाभ हुआ है उसके आधार पर आपको भी एतदर्थ चाहता करता हूं। याद रखिये हीन आत्मा संसार में अपना उल्लेखनीय अस्तित्व नहीं रख सकता। व्यक्ति का सर्व परि कर्तव्य आत्मा को बलिष्ट बनाना है आत्मा को बलिष्ठ बनाने में ये दोनों ही मूलाधार हैं।

हाथ का कुटा चावल

महात्मा गांधी का ग्राम सुधार आंदोलन केवल किसानों के हित की दृष्टि से ही नहीं मनुष्य के स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से भी अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है। हाथ के कुटे चावलों का प्रयोग करने से अनेक बीमारियां नहीं होतीं। आयुर्वेद शास्त्र मे नहीं चिकित्सा का विधान है वहां प्रत्येक रोग के दूर करने के उपाय भी बतलाये गये हैं। वेद में मूसल उलूखल मांजना पेषना और चुनने का बहुत विधान है सोमयाग में और चन्द्र की चतुर्दशी यज्ञ में नहां अग्नि इन्द्र और प्रजापति का पूजन होता है वहां खैर वृक्ष की लकड़ी का मूसल तथा बबूल वृक्ष का उलूखल बनाने का विधान है। खैर की छाल और बबूल की छाल खून को शुद्ध करती हैं। १८ प्रकार के कुष्ठ को उपरोक्त दोनों वृक्ष लाभप्रद हैं। सफेद कोढ़ (फुलबहरी) को खैर का काढ़ा आराम करता है। खैर के वृक्ष के नीचे उठने से बाल रक्त और फोड़े फुन्सी तथा भयंकर व्रण आराम होते हैं।

दूध मथने का मथना (रई) भी खैर का होना चाहिये उसमें मथे हुये दही दूध मक्खन रक्त को शान्त करने वाले होते हैं। काकर की छाल उपदंश फिरंग रोग को आराम करती है काकर का गोंद स्त्रियों के प्रदर और कमर के दर्द को आराम करता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि हाथ से कूटे चावल अथवा हाथ का पिसा आटा लाभकारी होता है

प्रकृति ने प्रत्येक चावल आटा वाले फल कन्द मूल आदि पौष्टिक द्रव्यों में पांच भौतिक तत्वों का समावेश कर रखा है। दांतों से चूस कर गन्ने का रस पीने से ही शारीरिक बल पैदा होता है। किन्तु लोहे के यन्त्र से पेरा हुआ रस वायु पैदा करता है।

—शिवचन्द्र वैद्य

चश्मा उतार दो

इस युग की चकाचौंध में हमारी आंख अधिक खराब होती जा रही है। ६० फी सदी व्यक्तियों की आंखों में कोई न कोई मन्द दृष्टि का रोग प्रवेश पाता दिखाई देता है। दृष्टि सुधारने के लिये डाक्टर प्रायः चश्मा की आशा पर चढ़ाते हैं। स्वाभाविक रूप से भी आंख सुधर सकती है इसकी कल्पना बहुत कम व्यक्ति करते हैं। पलकें बार बार गिराने से भी आंखों की ज्योति बढ़ती है— इस कथन को सुन कर तो हमारे बहुत से पाठक हंस भी सकते हैं पर बात सच है। थकी आंखों को विश्रांति देने का उपाय बार-बार पलकें मारना ही है। जिन्हें लिखने पढ़ने का बहुत अभ्यास हो वे दिन में अपनी पलकों को कई बार गिराया उठाया करें इसमें उनकी दृष्टि के अनेक दोष दूर हो जायगे। किसी एक पदार्थ के एक ही स्थान पर दृष्टि जमा कर देखने से आंखों पर जोर पड़ता है अतः पदार्थ के चारों ओर देखना ही श्रेयस्कर है। पढ़ते समय प्रत्येक पंक्ति के प्रारम्भ और अन्त में पलक गिराना चाहिये। कई पाठक बिना पलक गिराये ही पढ़ते जाते हैं इसमें उनकी आंखों पर दबाव पड़ता है और वे खराब हो जाती हैं। लिखते समय कलम की निब की ओर देखना चाहिये। और बीच बीच में पलक गिराते रहना चाहिये। इस तरह लिखने से हस्ताक्षर भी सुधर जायगे। सिनेमा का आजकल बाढ़ आ रही है। सिनेमा से नेत्रों की ज्योति क्षीण होती है यह बात बहुत प्रचलित हो रही है। यदि चित्रपटों के दृश्यों को बिना पलक गिराये देखा जायगा तो यह निश्चित है कि आंख खराब हो जायगी परन्तु यदि पर्दे के चारों ओर नजर दौड़ाई जायगी तो नेत्र बिगड़ने के बजाय सुधर जायगे। इसी प्रकार स्त्रियें सीते वक्त भी दृष्टि को एक ही जगह जमाये रहती हैं—बड़ी विलम्ब में पलकें गिराती हैं इसी से हम कहते हैं बार-बार पलकें गिराने का अभ्यास रखिये।

स्वास्थ्य-सुधार

दन्त-रक्षा के नियम

१—दांतों को नित्यप्रति दोनों समय प्रातः व सायंकाल दन्तधावन (दांतुन) अथवा किसी उत्तम दन्त मंजन से साफ करना चाहिये यदि दांतुन करने का दोनों समय मौका न मिल सके तो प्रात काल तो अवश्य ही दातुन करना चाहिये।

२—जहां तक हो सके दातुन करने के लिए मोलसिरी बबूल नीम आक वट (बरगद) करंज (कंजा) पीपल खैर गूलर बेल और आम इन वृक्षों की दांतुन जो बारह अंगुल लम्बी सीधी और सब से छोटी अंगुली के समान मोटी हो उसे लें और उसके अग्र भाग को नरम कूंची के सदृश्य बना लें उस कूंची से धीरे धीरे प्रत्येक दांत को घिस घिसकर साफ करे। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि दातुन के घिसने से मसूड़े नहीं छिलने पावें मसूड़ों को बचाकर दांतों को साफ करना चाहिये।

३—कोई चीज खाने या भोजन कर लेने के बाद तुरन्त ही खूब कुल्ले कर डालने चाहियें। जिससे दांतों में खाये हुए पदार्थ का कुछ भी अंश लगा नहीं रहे।

४—अत्यधिक गरम बहुत ठंडी और ज्यादा खट्टी खारी व चरपरी चीजों के खाने से दांतों व मसूड़ों को नुकसान पहुंचता है इसलिये ऐसी चीजें नहीं खानी चाहिए।

५—बहुत से आदमी दांतों को कुरेदते रहते हैं या दांतों से भारी बोझ उठाते हैं यह ठीक नहीं है— क्यों कि ऐसा करने से दांतों की जड़ें ढीली पड़ जाती हैं और दांत जल्दी ही उखड़ जाते हैं।

६—हमने देखा है बहुत से शिक्षित व अर्द्ध शिक्षित लोग बालों के बने हुए टूथ ब्रुश द्वारा दांतों को मांजते हैं। यह रिवाज बहुत बुरा है। इसे छोड़ देना चाहिये कारण यह है कि बाल चाहे किसी भी प्रकार के हो दांत व मसूड़ों को नुकसान पहुंचाते हैं। इस लिये इस टूथ ब्रुश द्वारा दांतों को साफ करने की प्रथा को छोड़कर दातुन अथवा अंगुलियों से दन्त मन्जन करना चाहिये।

दांतुन से दांतों को साफ करना तो अच्छा है ही परन्तु यदि समय समय पर अथवा कहीं बाहर यात्रा या परदेश आदि में दातुन नहीं मिल सके तो ऐसे मौके पर दन्त मंजन बहुत काम देते हैं इसके सिवाय जब दांत व मसूड़ों में भयंकर रोग पैदा हो जाते हैं तो ऐसे समय तो बिना उत्तम दन्त मंजन के काम नहीं चलता।

बिजली के खतरे से बचने के उपाय

१—नौसिखुओं से फिटिंग न कराइये और सस्ती फिटिंग के लोभ में पड़कर व्यर्थ ही अपनी विपत्ति न बढ़ाइये।

२—बिगड़े हुये टेबिलफैन (या टेबिल लैम्प) से काम मत लीजिये।

३—इधर उधर हटाई जाने वाली दुकान की बत्ती का होल्डर, पातल का न रख कर रबर का रखिये। बिजली की प्रवाह बन्द किये बिना बत्ती का बल्ब न बदलिये और न लैम्प या पंखे को ही उठाइये।

४—इसी तरह टेबिल पर चलते हुये पंखे या जलते हुए लैम्प की तार की डोरी को भी बिजली का सम्बन्ध काटे बिना हाथ मत लगाइये। सम्भव है कुछ खराबी आ जाने के कारण उसमें भी बिजली का प्रवाह आ गया हो।

५—साल में एक बार किसी योग्य आदमी से फिटिंग तथा पंखे आदि की जांच करा लिया कीजिये।

६—दो छेदों वाला प्लग न लगवा कर तीन छेदों वाला लगवाइये। इसके दो छेदों में तो बिजली का प्रवाह ले जाने वाले दोनों तार लगा दिये जायगे और तीसरे छेद वाला तार ज़मीन में खूब गहरा गाड़ दिया जायगा, जिसमें बिजली का धक्का लगने की सम्भावना न रहेगी।

७—सतर्क रहते हुए बहुत ज्यादा भय भी न कीजिये क्योंकि बिजली के धक्के की अपेक्षा यह विश्वास कि बिजली से आदमी फौरन मर जाता है ज्यादा नुकसान पहुंचाता है। (संकलित)

न्यूथियेटर्स, कलकत्ता की आने वाली फिल्में

न्यूथियेटर्स कम्पनी न पूर्णभक्त, चण्डीदास, सीता आदि सर्वोत्कृष्ट फिल्में बनाकर भारतीय सिनमा-जगत में अपना नाम अमर कर लिया है। इस कम्पनी की आन वाली फिल्मों के नाम 'भूकम्प क बाद', 'कारवान-ए-हयात' व 'देवास' है।

'भूकम्प क बाद'

नामक फिल्म दिसम्बर क तृतीय सप्ताह में परद पर आ जायगी। इस ोर व के० सी० ड काम करत हैं।

'कारवान-ए-हयात'

नाम को फिल्म भी तयार हो चुकी है। इसका प्रदर्शन बम्बई व कलकत्ता म शीघ्र हा किया जायगा। शामा जुत्शी, सहगल, नवाब आदि अभिनता व अभिनत्रियां इस में काम करती है।

'देवास'

नाम की फिल्म बगाला मे होगी। इसका शूटिंग शीघ्र शुरु होगा।

राजपूताना फिल्म लिमिटेड

अजमेर म उपरोक्त नाम म एक फिल्म-कम्पनी की स्थापना हुई है। इस कम्पनी क डायरक्टर रायसाहब प० मिट्ठनलाल भार्गव बी० ए०, एल एल० बी० एडवोकेट (जनरल एशोरन्स सोसायटी क चेयरमन) श्री मथुराप्रसाद शिवहरे आदि अनुभवी व ख्याति लब्ध महानुभाव हैं। जैसा कि विवरण-पत्रिका को देखन स विदित होता है, यह कम्पनी सिनमा की दुनिया म युगान्तर पदा करन क लिय बनाइ गई है।

वर्तमान फिल्म-कम्पनियो न अब तक अधिकांश ऐसी ही फिल्मे बनाई हैं जिन म आशकी माशूकी का ही बोल-बाला है। अब राजपूताना फिल्म्स लिमिटेड न ऐस फिल्म बनान की घोषणा की है, जिन म सामाजिक सुधार, ग्राम्य पुनर्निर्माण व सवसाधारण को शिक्षित बनान में सहायता मिलगी। उन्नति की दौड म पिछड़े हुए भारत को वस्तुतः इस समय ऐसी ही कम्पनियों का आवश्यकता है। हमे श्री मथुराप्रसाद शिवहरे सरीख अनुभवी व्यवसायी म बहुत कुछ आशायें। ईश्वर कर उक्त कम्पनी की महत्त्वाकांक्षाये सफल हों।

सिनेमा की दुनिया

कहां कितने सिनेमा घर हैं

सयुक्त अमरीका	१७८००
कनडा	११००
जापान	१६१८
जर्मनी	५११
रूस	३८००
ग्रेट ब्रिटेन	४९५०
भारतवर्ष	५००

माइमैन उर्फ पियाप्यारे

इम्पीरियल फिल्म कम्पनी का यह खल खासा है। मिस सुलोचना, डी० बिल्लिमोरिया, मा० गुलाम मोहम्मद, मा० हादी, मिस चन्दा आदि प्रख्यात अभिनता व अभिनत्रियां इस में काम करती हैं।

फोटोग्राफी रिकार्डिङ्ग और सीन-सीनरी इम्पीरियल क अच्छ होत हैं। प्रस्तुत फिल्म मे भी इन बातो का भली प्रकार खयाल रखा गया ह।

हां, डायरक्टर साहब कहीं-कहीं भूल कर गय हैं। एक तो मिस चन्दा क गान कई रख दिय गय ह। हमारे खयाल मे किश्ती मे बैठकर गाया हुआ एक गाना ही पर्याप्त था। दूसर पुरान किले की लड़ाइ को बहुत तूल दे दिया गया है। उस इतना लम्बा करन की जरूरत नहीं थी।

यह तो हुई फिल्म की एक-दो त्रुटिया अब इसकी विशषताओं की ओर लीजिय। दो रगीन चित्र दखत ही बनत ह। नावो व मोटर-नावो की दौड़ सुन्दर प्रतीत होती है। बन्दूकों की लड़ाई क दृश्य भी खराब नहीं है। सब म मजदार घटना तो वह रही, जहां राजकुमारी चन्द्रा पेदल चलती है और रोहित डाकू मोटर में। जयसिंह (गुलाम मोहम्मद) का बार-बार एक आंख की ऐनक चढ़ाना भी हास्योत्पादक है।

अभिनय की दृष्टि स चन्द्रा (सुलोचना), जयसिंह (गुलाम मोहम्मद), रोहित (बिल्लीमोरिया), व गुमनाम बुढ़िया का पार्ट सराहनीय है।

फिल्म निर्माताओं से

यदि फिल्म-निर्माता भारतीय मूक जनता क हित को दृष्टि म रख कर फिल्म बनायगे; तो राष्ट्र उनका आभारी होगा। निःसन्देह जनता की रुचि जिम्मदार व्यक्तियो द्वारा ही बदली जा सकती है।

—ट्रीब्यून

अमरीकन फिल्म स्टारों की तनख्वाहें

सयुक्त अमरीका मे प्रमुख फिल्म स्टारा को प्रति सप्ताह निम्न प्रकार तनख्वाह मिलता है—

ग्रेटा गारबो	१८०० पाउंड
विलरो ग्रेफर	१,००
मौरस क्यूमिलर	१,०० ,,
जान बरीमोर	१३००
नारमा शायरार	१४०० ,,
एन हार्डिग	१२००

और भारतीय फिल्म स्टारा म किसी को ४०००) मासिक म अधिक नहीं मिलत।

"भक्त-सञ्जीवनी"

इसक सवन म हर प्रकार क बुखार नया या पुराना, ताप-तिल्ली, जिगर, मन्दाग्नि बदहजमी भूख का न लगना कब्ज, दस्त पचिस आव, पट का दर्द, वाय गोला आदि समस्त उदर-विकार और प्रमेह को भी लाभ पहुचाती है। दस वर्ष म हजारों रोगियो पर आजमाई हुई है स्वस्थ भी सवन कर सकता है। इतन पर मूल्य लागतमात्र १) बोतल डाक-खर्च अलग। 'भक्त-औषधालय जोगीवाड़ा मकान न० २८२६ (नई सडक) देहली।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन-विधि

(पृष्ठ १४ का शेष)

नाति तथा चातुरी के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? जो गुड़ देने से मर उसे विष क्यों दिया जाय इस नाति का प्रयोग करके ज्वायन्ट कमेटी ने अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा वही उद्देश्य सिद्ध किया है जो श्वेतपत्र को सर्वथा वापिस लेने से किया जा सकता था। और यही कारण है कि मैं अप्रत्यक्ष निर्वाचन विधि की योजना को 'विषकुम्भ पयोमुखम्' से कम घातक नहीं समझता।

राष्ट्रीयता पर कुठाराघात

अपने शासकों को स्वयं चुनने का अधिकार इतना महत्वपूर्ण है कि उसके बिना किसी भी देश में स्वभाव निर्णय तथा राजनैतिक उत्तरदायित्व का भाव उत्पन्न नहीं हो सकता और इस भावना के बिना राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव असम्भव है। ज्वायन्ट कमेटी ने अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा हमारे देश में उगती हुई राष्ट्रीयता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व के आदर्श की आड़ लेकर नष्ट करने की योजना की है।

दुर्भाग्य से हमारा देश बहुत काल तक प्रान्तीय साम्प्रदायिक तथा जातिगत आदि राष्ट्रीयता विरोधी विचारों का आगार रहा है किन्तु अब हम इन घातक भावों की हानियों को अनुभव करने लगे हैं और अब हमारे विचारों में भारतीय एकता तथा 'स्वदेशाभिमान की मात्रा बढ़ रही है। यह भला इंगलैंड के कूटनीतिज्ञ शासकों को कब सहन हो सकता था ? अतः श्वेत-पत्र तथा ज्वायन्ट कमेटी की साम्प्रदायिक तथा अप्रत्यक्ष निर्वाचन की योजनाओं द्वारा वे हमको फिर उसी राष्ट्रीयता-विरोधी वातावरण में लाना चाहते हैं। केन्द्रीय धारा सभा के लिये अपना प्रतिनिधि चुनते समय जनता के हृदय में भारत की एकता तथा अखिल भारतीय प्रश्नों में अपने हित अनहित का कल्पना उत्पन्न हुये बिना नहीं रह सकती थी किंतु अब अप्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रथा के कारण निर्वाचनों के सन्मुख सदा प्रान्तीय व साम्प्रदायिक प्रश्न रहेंगे स्वदेश तथा राष्ट्रीय एकता के भावों का प्रादुर्भाव होने के लिये सर्वसाधारण को बहुत कम अवसर मिल सकेगा। एकता न अ राष्ट्रीयता के स्थान में विभिन्नता व प्रान्तीयता ही हमारा लक्ष्य बन जावेगा। हमारी राजनैतिक एकता को नष्ट करने का इससे अधिक घातक और क्या उपाय हो सकता है।

विश्व-वैचित्र्य
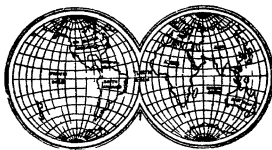
५६ दिन में चांद तक पहुंच सकते हैं

एक वैज्ञानिक ने हाल में पूर्णरूपेण हिसाब लगा कर बतलाया है कि यदि स्काट और कैम्बल (जिन्होंने लन्डन मलबूर्न हवाई दौड़ में इनाम प्राप्त किया है) १७४ मील प्रति घन्टे की रफ्तार से ५४ दिन तक उड़ते रहें तो चांद तक पहुंच सकते हैं।

—:०:—

एक साथ ७ बच्चे जने

करम्न के चुगशान जिले में एक मल्लाह की स्त्री ने एक साथ ७ बच्चे जने हैं। जच्चा व बच्चे मजे में हैं।

—:—

बन्दर पर मुकद्दमा

हाल में लेम्बथ (इंगलैंड) नामक स्थान पर सेशनजज की अदालत में एक विद्वान बन्दर के विरुद्ध कई व्यक्तियों पर हमला करने के अभियोग में मुकद्दमा पेश हुआ है। कहते हैं कि उक्त बन्दर ४ यूरोपियन भाषा जानता है।

एक मक्खी १॥ मास के करीब जिन्दा रहती है और इस बीच में ७०० के लगभग अण्डे देती है।

वर्तमान प्रजासत्तात्मक युग में प्रत्यक्ष निर्वाचन को नागरिता व राजनैतिक शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन समझा जाता है किंतु ज्वायन्ट कमेटी की नवीन योजना जनता के लिए निर्वाचनों की इस उपयोगिता को सर्वथा नष्ट कर देगी। अजमेर देहली आदि स्थानों में जहां प्रान्तीय कौंसिलें आदि नहीं हैं असेम्बली को निर्वाचन ही राजनैतिक शिक्षा तथा नागरिकता की भावनाओं के प्रकार का एक मात्र साधन था किन्तु अब ज्वायन्ट कमेटीकी दया से इन स्थानों का राजनैतिक जीवन ही एक प्रकार से नष्ट हो जावेगा।

आदमी के सिर पर सींग

बिलासपुर से खबर मिली है कि वहां एक २४ वर्षीय युवक के सिर पर सींग का आपरेशन हुआ है। कहते हैं कि उक्त युवक के सिर पर २० वर्ष की उम्र में सींग उग आया और वह ४ इंच ऊंचा तथा ३ इंच मोटा था। डाक्टरों का कहना है कि जिन्दगी में उन्होंने अभी तक ऐसा आदमी नहीं देखा था।

—

पढ़ा-लिखा पैदा हुआ

नालगिरी के पास एक गांव में एक ब्राह्मण देवता के घर में एक लड़का पैदा हुआ। उसे शहद चटाया गया। संयोगवश कुछ शहद उसको उंगली पर लग गया और उसकी हाथ साथ वाली मेज पर लगा। लोगों ने देखा कि उस पर 'अम्मा' शब्द लिखा हुआ था। माता-पिता यह देखकर हैरान रह गये। लड़का अभी तक जीवित है।

—

७ वर्ष की उम्र में गणितज्ञ

सायप्रस में एक चमार के ७ वर्षीय लड़के को 'आइन्स्टीन (एक प्रमुख गणितज्ञ) कहा जाता है। उसने निम्नांकित दो प्रश्नों का उत्तर ३० सेकिण्ड में दे दिया—

'तुम्हारी उम्र कितने घंटे है ?'

'६ पौंड ७ शिलिंग ७॥ पैन्स में कितने फारदिंग होते हैं ?"

—

हाथ मिलाना बन्द

रोम में फैसिस्ट पार्टी के सेक्रेटरी ने यह घोषणा की है कि जो लोग दायां हाथ उठाने की बजाय बायां हाथ मिलायें, उन पर नजर रक्खी जाय।

इस घोषणा का अभिप्राय परिचितों के परस्पर मिलाप के समय हाथ मिलाने की रस्म को बन्द करना है।

—

हंसी-दिल्लगी

गांव का पुजारी मन्दिर की मरम्मत कराने के लिये चन्दा एकत्र करता फिर रहा था। चन्दा मांगते वह एक बनिये की दुकान पर पहुंचा और रुपया मांगा। बनिये ने जवाब में कहा—

पुजारी जी ! आज कल बहुत मन्दा है। सुबह से शाम तक धेली के पैसे नहीं बटूरे जाते। इसके अतिरिक्त मुझे बाजार का कर्जा भी चुकाना है। इस लिये मैं आपको कानी कौड़ी भी नहीं दे सकता।'

पुजारी—"लेकिन तुम्हारे सिर पर जितना कर्ज कृष्ण भगवान का है उतना किसी दूसरे का नहीं है। लाओ चन्दा!'

बनिया—'यह तो ठीक है—मगर, वह कर्ज-वसूली के लिये अपने एजन्ट कभी नहीं भेजता!'

* * *

पिता—"कहो आज स्कूल में तुम्हें पहला दिन कैसा मालूम हुआ ?"

पुत्र—"मेरे चारों तरफ जो लड़के बेंच पर बैठे थे, वे तो बहुत अच्छे थे—मगर कुरसी पर जो बुड्ढा बैठा था, वह मुझे पसन्द नहीं आया।"

* * *

तुम्हारे शरीर में कितनी पसलियां हैं ?"

जनाब मैं गिन नहीं सकता, क्यों कि हाथ लगाने ही मुझे गुदगुदी होने लगती है।

* * *

माली—"क्या यह गेंद तुम्हारी है ?"

लड़का—'कोई खिड़की तो नहीं टूटी है ?"

माली—"नहीं बेटे।"

लड़का—'फिर तो यह मेरी ही गेंद है।'

* * *

एक छोटा बालक चिल्लाता हुआ चौराहे पर पहुंचा और पहरा देते हुए सिपाही से बोला—

'मि० पुलिसमैन आध घंटे से एक आदमी मेरे पिता से लड़ रहा है। जल्दी चलो।'

पुलिसमैन—तुमने मुझे पहले से ही क्यों न बुलाया था ?'

बालक—क्योंकि १ मिनट पहले तक मेरे पिता उस आदमी को दबोचे हुए थे।'

आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान

प० घासीराम का अन्तिम दर्शन

हिजली के दो नजरबन्द

श्री मोतीलाल पाँडे श्री लालचन्द पाँडे

श्रीधर दयाल

आपने गुरुकुल वृन्दावन को १००० दान दिया है।

नोबेल प्राइज के निराश उम्मीदवार

डा० जान मौट

यूरोप का रहस्यमय व्यक्ति

सर बजिल जहरोफ

नोबेल प्राइज के निराश उम्मीदवार

मिगुल यूनामुना

कहानी

सरला

(लेखक—श्री ओंकारनाथ गुप्त 'दिनकर')

स
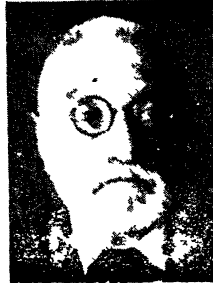
वह एक बाल-विधवा थी। अपने जीवन की स्वर्णमयी उषा में ही वह अपना सर्वस्व खो चुकी थी। वह अपने देवता की पूजा करने के हेतु सूर्योदय की प्रतीक्षा में सामग्री जुटा ही रही थी कि काल-राहु दीप्तिमान दिनेश को निगल गया और वह केवल माथा ठोक कर रह गई, कुम्हलाई पद्मनी सी।

वह दुखिनी थी! निष्ठुर दैव ने उसका सौभाग्य-सूचक महरा ध्वंस कर उसे दुखगर्त में धकेल दिया था। उन्मादिनी सी वह अपने दुखद-राज्य को बाहन किये ईश्वरीय-न्याय पर सन्तोष किये बैठी थी। अपने परमेश्वर की ममता से वंचित रहकर उसने भगवान-सेविका होने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। संसार सागर में अपनी जीर्ण तरी का सुचारु-रूप से संचालन करने के हेतु वह भगवान् से प्रार्थना किया करती थी परन्तु आह! उसकी इस साधना में उसकी बढ़ती हुई उमर सहायक न होकर बाधक थी। विरह पीड़ा एवं वेदना की तरंगें उसकी जीर्ण तरी को जगा देती थी।

वह युवती थी। शरीर के रोम-रोम से यौवन टपका पड़ता था। चिर विवाह के संताप से कनकमात्र और भी अधिक आभासित होता था मधुमास का वह शीतलमन्द सुगन्ध-सन्त समीर उसे किसी अज्ञात दिशा की ओर बहा ले जाता था। उस एक तीव्र पीड़ा का अनुभव होता था। नील वर्ण गगन में गौरवान्वित विहार करते हुए निशिनाथ की किरणें उसे नाराच तीर सी प्रतीत होती थीं। शायद वह उन्हें सहन करने में असमर्थ थी बालक की भांति वह उठती थी।

उसका नित्य का नियम था अश्रु-प्रवाह करना। एकान्त में अश्रुमुक्ता के हार पिरो-पिरो कर पुनः धूलि में रमा देना ही उसकी दिनचर्या थी। आह, उसका यह संसार कितना नीरस था कितना शून्य था।

उसका दुख था असहनीय। उसने संताप में अपने माता-पिता को भी द्रवित कर दुखी बना दिया था। उसकी चिंता ही उसकी वेदना का कारण थी। उसके सुख के लिये वे सर्व त्याग करने को और धन समाज, तथा प्राण तक विसर्जन करने को उद्यत थे। उनका एक मात्र अभिलाषा सरला को सुखी बनाने की थी और उसके लिये प्रयत्न कर रहे थे।

र

वि० आ० कार्यालय में मन्त्री महोदय विचार मग्न बैठे थे। सहसा एक अपरिचित व्यक्ति ने कमरे में प्रवेश किया।

'आइये, पधारिये!' नम्रभाव से मन्त्री जी ने कहा। एक क्षण तक दोनों मौन रहे।

निस्तब्धता भंग करते हुए मन्त्री महोदय ने पूछा—'मेरे योग्य सेवा?'

'मैंने एक पत्र आपके नाम भेजा था।' आगन्तुक ने कहा—'परन्तु उस का उत्तर अभी तक न मिल पाया।'

'श्रीमान जी का शुभ नाम?'

'मुझे शरच्चन्द्र एडवोकेट कहते हैं।'

'अच्छा तो आप बनारस से पधार रहे हैं' मन्त्री जी ने कहा।

'जी हाँ' उन्होंने कहा।

'अभी हम इस विषय में कुछ नहीं कर सकते। दुःख है कि आप को इतना कष्ट उठाना पड़ा।'

'बात यह है कि मुझे यह काम अत्यन्त शीघ्र करना है।'

शरच्चन्द्र इतना कह ही पाये थे कि विनयकुमार ने अन्दर प्रवेश किया। उन्हें आते देख मन्त्री जी ने आदरपूर्वक कहा—'आइये मि० विनय!'

'आपका परिचय' बैठते हुए विनयकुमार ने एडवोकेट की ओर संकेत करके पूछा।

आप बनारस के श्री शरच्चन्द्र एडवोकेट हैं।

आपके दर्शनों से मुझे बड़ा हर्ष हुआ' हाथ मिलाते हुए विनयकुमार ने कहा।

मन्त्री ने एडवोकेट महोदय से पूछा 'आपकी पुत्री की अवस्था?'

'यही १७-१८ वर्ष' सहमते हुए शरच्चन्द्र बोले।

'यदि कोई उसे देखना चाहे तो आपको कुछ आपत्ति तो न होगी।' हिचकिचाते हुए विनयकुमार ने पूछा, और उत्तराभिलाषी वह उनके मुख की ओर उत्सुकता से देखने लगा।

'कुछ नहीं' उन्होंने कहा।

'तो अब आप बनारस कब पधार रहे हैं।'

'कल सायंकाल' शरच्चन्द्र जी बोले।

तो मैं आपसे कल स्टेशन पर ही वेटिंगरूम में मिलूं ना।'

एडवोकेट महोदय कुछ लज्जित से हुए। विनय के प्रति स्नेह का अंकुर उनके हृदय-क्षेत्र में अनायास ही उत्पन्न होगया।

ला

विनयकुमार एक प्रतिष्ठित एवं धनाढ्य पिता के इकलौते पुत्र हैं। आप पर लक्ष्मी की असीम कृपा है। वे और उनकी माता केवल दो ही प्राणी एक बड़ी सम्पत्ति के स्वामी हैं। सामाजिक विचार आप में कूट-कूट कर भरे हुए हैं। आपकी शिक्षित माता की हार्दिक अभिलाषा है कि आप उच्च शिक्षा प्राप्त कर संसार में नाम प्राप्त करें। विनय एम० ए० के अन्तिम वर्ष में शिक्षा पा रहे हैं। माता विद्याध्ययन-काल में विवाह करना पुत्र के प्रति अक्षम्य भूल समझती थी। इसी लिये विनय अभी तक अविवाहित हैं।

सन्ध्या का समय है। अन्धकार का राज्य क्षण-प्रतिक्षण विस्तृत और प्रगाढ़ होने लगा। चाँद और सितारे संसार के नक्शे को अवलोकन में व्यस्त हैं। मा-बेटा इस सन्धि-वेला का अवलोकन कर रहे थे। नौकर ने भोजन का थाल लाकर उनके सम्मुख रख दिया। किन्तु विनय मग्न ही बने रहे।

'विनय भोजन करो ना' माता ने कहा।

'करता हूं माता जी' कह कर विनय भोजन करने लगे।

'तो क्या निश्चय किया विनय!' माता ने विनय की ओर देखते हुए पूछा।

'यही कि मैं सरला के कष्ट दूर करने में भरसक प्रयत्न करूंगा।' विनय ने दृढ़ता-पूर्वक कहा।

'तो क्या उसके दुख दूर करने का यही एकमात्र उपाय है कि तुम उसके साथ विवाह करो? क्या किसी दूसरी रीति से उसकी सहायता नहीं कर सकते?' माता ने पूछा।

'नहीं माता जी! मैं अपने कई मित्रों से उसके साथ विवाह करने का आग्रह कर चुका हूं। किन्तु सब यही उत्तर देते हैं कि तुम्हीं करलो ना' वे ऐसा करके जाति और समाज का विरोध करने को तैयार नहीं।

'तो क्या तुम्हें उस विरोध का सामना नहीं करना पड़ेगा?'

'करना पड़ेगा या नहीं, यह तो समय आने पर ज्ञात होगा। किन्तु यदि करना भी पड़ेगा तो मुझे इसकी चिन्ता नहीं। मैं उसका प्रतिकार करने को उद्यत हूं।' यह कहते हुए तेज की एक अपूर्व आभा विनय मुख मन्डल पर आभासित हो उठी। 'अधिक से अधिक लोग मेरा जाति-बहिष्कार कर देंगे, खान-पान बन्द कर देंगे और इससे अधिक?'

दूसरे दिन ही जब लोगों ने उक्त विवाहित जोड़ी को देखा तो सब उनके इस महान त्याग एवं साहस पर मुग्ध थे। समाज के गौरव! उत्साही नवयुवक धन्य है। ऐसे नवयुवक ही असहाय-सहाय और अबलाओं के बल बन सकते हैं। शेष सब तो ढकोसला और आडम्बर है।

—

धारावाही उपन्यास

अर्जुन में प्रकाशित होगा

साप्ताहिक अर्जुन के आगामी अंक से एक मनोरंजक धारावाही उपन्यास प्रकाशित किया जायगा। पाठक धैर्य से प्रतीक्षा करें।

नागपुर विश्वविद्यालय हिन्दी साहित्य-समिति के प्रथम वार्षिकोत्सव के अवसर पर जो गत ता० ८ और ९ दिसम्बर को विश्वविद्यालय लायब्ररी हाल में अत्यन्त समारोह के साथ मनाया गया कर्मवीर के यशस्वी सपादक प० माखनलाल जी चतुर्वेदी ने सभापति पद से जो विद्वतापूर्ण काव्यमय एवं ओजस्वी भाषण दिया उसके कुछ अंश ये हैं —

राष्ट्रभाषा का स्वरूप

आज से सोलह वर्ष पूर्व दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार के लिये गांधी जी ने कुछ तरुणों का मांग की थी। हमारे प्रांत से मैंने प० हृषिकेश जी का नाम सूचित किया। फलत वे मद्रास इलाके में गये और उनके तथा उनके परिश्रमी साथियों के प्रयत्नों का फल है जो सात लाख मद्रासी भाई राष्ट्रभाषा सीख चुके हैं। मद्रास सरीखे अहिन्दीभाषी प्रांत में यदि इतनी विस्मयजनक सफलता मिली तो कोई कारण नहीं कि हमारे प्रांत में भी यदि सच्चे कार्यकर्ता मिलें तो ऐसा ही कार्य न हो।

आज भारत में यह प्रश्न उठता है कि राष्ट्रभाषा का असली स्वरूप क्या होना चाहिये? क्या वह सूर और तुलसी की हिन्दी हो सकती है या साहित्यिक आचार्यो और महारथियों की? मेरा तो यह मत है कि भारत की राष्ट्रभाषा तो वह हिन्दी है जो संतों की ग्रामीणों की या तीर्थयात्रियों की भाषा होती है। राष्ट्रभाषा का व्यापक स्वरूप बनाने के लिये हिन्दी को अपने संकुचित दायरे में से निकलना पड़ेगा। उसमें बंगालीपन भी होना चाहिये मराठीपन भी होना चाहिये गुजरातीपन भी होना चाहिये सब पन होने चाहिये। इस लिये भाषा स्वतन्त्र रूप धारण करे।

तुकाराम और तुलसी

हिन्दी का प्रचार किसी भाषा के विरोध या द्वेष की भावना से नहीं किया जाना चाहिये। यदि रामदास को त्यागकर कबीर को पढ़ने का कोई प्रचार करे तो मैं कहूंगा कि कि कबीर के ग्रन्थों को जला दो यदि तुकाराम को भूलकर तुलसी के पाठ करने का कोई हिदायत देता हो तो मैं कहूंगा कि तुलसी रामायण को जमीन में गाड़ दो। लेकिन सत्य बात तो यह है कि रामदास और तुकाराम सूर और तुलसी, सभी अपने अपने युग के निर्माता थे द्रष्टा थे महात्मा थे। सभीने विश्व के सत्य को खोजा और जैसा पाया वैसा लिख दिया। अत सभी वन्दनीय हैं। लेकिन जब हम राष्ट्रीयता के चश्मे से से देखते हैं तब हमे मानना चाहिये एक राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिये एक ही भाषा की मातृभाषा के अलावा होना आवश्यक है।

प्रकृति से शिक्षा लो

राष्ट्रभारती का स्वरूप

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का भाषण

राष्ट्रभारती के चरणों में

अपने प्रान्त और भाषा का अभिमान हर एक के दिल में होना चाहिये। किन्तु वह कदापि अपना सीमा न लांघे। निर्मल राष्ट्रीयता के लिये उसके बलिदान की जरूरत पड़े तो उस के देने में तनिक भी हिचकिचाहट न होना चाहिये। माली तो श्रमपूर्वक अपने पुष्पों के पौधों की सेवा करता है उन्हें बढ़ने देता है फलने-फूलने देता है। पुष्प उसकी सौंदर्यप्रिय मनोवृत्ति की साध है। किन्तु उसे जब किसी महान देवता की पूजा करनी पड़ती है तब वही माली निर्दय बनकर अपने कुसुमों को छोना सूजी से छेद छेद कर एक माला का निर्माण करता है और वह माला देवता के चरणों में अर्पित कर अपने को धन्य मानने लगता है। इसी तरह जब हमें राष्ट्रीयता का आवाहन मिले तब अपनी परिमितताओं और संकीर्णताओं को भूलकर हम माँ के चरणों में अपनी श्रद्धांजलियां अर्पित करना चाहिये।

भाषा की प्रतिभा

सन् १९१ में जब स्व० लोकमान्य तिलक के साथ मैं यात्रा कर रहा था तब उन्होंने कहा था कि हिन्दी में मुझे बाणेदारपणा (ओजस्विता) नहीं दीख पड़ता। एक राष्ट्रभाषा होने के पक्ष में तो मैं अवश्य हूं किन्तु इस कमी की पूर्ति कैसे की जाय? यह सत्य था। आज खुशी की बात है कि आपकी स्वागतकारिणी के सभापति तथा प्रान्त के भूतपूर्व मिनिस्टर श्री कन्नमवार ने हिन्दी को यह सार्टिफिकेट दिया है कि उसमें जोर है मर्दानगी है। सच तो यह है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा होने के सर्वथा योग्य है किन्तु जब तक हिन्दी बोलने वालों में देशभक्ति की चमक उत्पन्न न हो तब तक उस भाषा में तेज नहीं आवेगा।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी

साहित्य और जीवन

लोग साहित्य को जीवन से भिन्न मानते हैं। काम कला के लिये की आवाज उठाने वाले महारथी साहित्य को जीवन से जुदा मानते हैं। वे कहते हैं साहित्य अपने लिये ही है। साहित्य का यह धन्धा नहीं है कि वह हमेशा मधुरध्वनि ही निकाला करे और पैर में घुंघरू बांधकर मनोरंजन ही किया करे। साहित्य सम्पूर्ण जीवन का प्रतिबिम्ब है। धर्म राजनीति सब उसके अंग हैं। जीवन को हम एक रामायण से मान लें। रामायण जीवन का प्रभात की मनोरम बालकांड ही नहीं है किन्तु करुणा के रस में ओतप्रोत अरण्यकांड भी है और धधकती हुई युद्धाग्नि में प्रज्वलित लंकाकांड भी है। मेरे मित्र मुझसे पूछते हैं आपके कवि और राजनीतिक साथ ही साथ जिंदा कैसे रह लेते हैं मैं कहता हूं भाई संध्या होती है गगन के दीपक जलने लगते हैं शांति का राज्य स्थापित हो जाता है। तब मैं अपनी बांसुरी लेता हूं और एक तरफ बैठकर सब मैं उसे बजाने बैठ जाता हूं मेरे वेणुवादन से कोई पागल होवे या न होवे मैं तो हो ही जाता हूं। रात्रि की निस्तब्धता के गायन से मैं प्रेरणा पाता हूं और जब प्रभात होता है विश्व के सहारकों से लड़ने की मुझे आज्ञा मिलती है तब मैं उसी बांसुरी से रण के नक्कारे पर डंके की चोट लगाता हूं और रणक्षेत्र की तरफ कूच कर देता हूं। साहित्य ही जीवन की भित्ति है। उसमें रेलगाड़ी के डिब्बों की तरह अलग अलग अंगों के लिये स्थान नहीं है।

नवीन और पुरातन

कुछ लोगों का मत है कि नया जमाना नवीनता का तकाजा करता है। उसमें पुरातनकालीन साहित्य के लिये जगह नहीं है। लेकिन यह स्मरण रहे कि यदि आप ऐसा साहित्य-निर्माण करना चाहते हैं जो वर्षो और युगों के पर्तों पर टिक कर भविष्य की वस्तु बने तो आपको पुरातन साहित्य की अवश्य ही सहायता लेना पड़ेगी। जीवन-साहित्य के धनुष पर निश्चय की तार रख कर जितना पीछे उसे आप खींचेंगे उतना ही आगे वह जावेगा। अगर भविष्य के निर्माण में भूतकाल से सम्बन्ध स्थापित करने वाली कड़ी वर्तमान है। अत वर्तमान साहित्य गतकाल के साहित्य से कदापि भिन्न नहीं हो सकता।

साहित्य में विनोद

विनोद साहित्य का एक अंग है। चाहे तो विनोद को आप साहित्य का एक पागलपन कह सकते हैं। विनोद प्रतिभा का विश्रामागार है। बुद्धि से अवकाश-ग्रहण है। उसमें सत्य होता है। शिवत्व होता है और खिलखिला डालने वाला सौंदर्य तो उसमें होता ही है। विचार इस मनोवृत्ति में मदारी के बन्दर की तरह गुलाटें खाते हैं और नाच कूद के लोग निभाते हैं। किंतु इसके यह माने हरगिज़ नहीं हैं कि बुद्धि के ईश्वरीय गेरावन पर म्युनिसिपल कमेटी का कचरा ढोया जाय विनोद की सामग्री होना है। विनोद की आड़ में पाप का आक्रमण करना गन्दे छींटे उड़ाना अधःपतन के अड्डे स्थापित करना है

साहित्य क्या है?

कुछ लोग गर्व के साथ कहते हैं हम साहित्य वाहित्य में कुछ नहीं करना हम तो राजनीतिज्ञ हैं। हमारे यहां विचार हम करते नहीं हैं। हम अपने जीवन का साहित्य के अमृत से तर करके अमर बनने का इरादा करें या स्वप्नमात्र देखा करते हैं। इंग्लैंड का प्राइम मिनिस्टर मैकडानल्ड जिसने न के सत्र हाथ में लेने के पहले ताल तो रहे कलम हाथ में लेता है कल्ह राजनीतिज्ञ टकनर्स्ड गानलात का गद्दी से उतरने के बाद साहित्य के चरणों में बैठकर रचना को जो कर्म करने अपने दिन बिताते हैं। हम जब तक साहित्य को व्यापक ज्ञान का अन्तर्ज्ञान नहीं समझ सके तब तक हम दुनिया के सभ्य राष्ट्रों की बराबरी में नहीं बैठ सकते। साहित्य कल्पनाओं के मन्दिर में ज्ञान का—

बिजली की व्यापक चकाचौंध है। वह मानव हृदय का मुग्ध संस्कार है, मानव सुख के फूला लड़ाके सिपाहियों के रक्त-बिन्दुओं का संग्रह है। साहित्य वह जहाँ कल्पना की जीभ लिखने लगे, और कलम की जीभ बोलने लगे। साहित्य अनन्त जाग्रत आत्माओं के ऊँचे और गहरे स्वप्न हैं। वह मानव जीवन का आजतक पनपी हुई सुसंस्कृत महत्ता का मन्दिर है। वह प्रयत्नों की जमीन को परिणामों के आसमान से मिलाने वाला सुनहरा जीना है। साहित्य पशुत्व और मानवत्व के बीच का सीमारेखा है। यदि साहित्य के नाम पर भगवान व्यास और वाल्मीकि श्रीकृष्ण और राम का निर्माण न करते तो पतित और पीड़ित मानव समाज किसका नाम लेकर अपने दुखों में शान्ति पाता? यदि साहित्य स्वर्ग न उतार देता मन्दिरों में किसकी आरती उतरती? वहाँ उल्लू बोलें चमगादड़ टंग रहें। मस्तिष्क के मन्दिर में भी तो साहित्य की मूर्ति में खाली है यही तो हो रहा है। हम साहित्य के प्रति उदासीन रह हो नहीं सकते। साहित्य को तलाक देकर न तो राष्ट्रीयता ही पनप सकती है न मानवता।

प्रकृति की पुस्तिका

मैं विद्यार्थियों से अपील करता हूँ कि वे सजीव साहित्य का अध्ययन करें। आप लोग तालीम पाते हैं। किताब के कीड़े बन जाने के बाद भी दुनियावी ज्ञान की दृष्टि से आप प्रायः शून्य रहते हैं मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप, इस तंग वातावरण में से निकलकर जरा खुली हवा में जाइये और प्रकृति की पुस्तिका को देखें जो विश्व के कोने कोने में फैलकर आपको प्रतिक्षण उसका अध्ययन करने के लिये आमन्त्रित करती है। नगाधिराज की चोटियों में गिरिकन्दराओं में निवास करने वाले, तथा नदी सरोजों में विहार करने वाले देवता की पूजा करना तो सीखो। हम शिव की पूजा करते हैं लेकिन उस शिव के सदृश और जो कहता हुआ किसान है उसकी ओर ध्यान तक नहीं देते। एक शिव के सिर में गंगा बहती है दूसरे किसान रूपी शिव के सिर में पसीना बह रहा है। एक के गले में सांप लटका हुआ है, दूसरे के गले में कन और कर को सांप लटका हुआ है। एक नग्न है और वह नग्नता उसकी पवित्रता का द्योतक है। दूसरा नग्न इसलिये है कि हम उसकी लज्जा ढकने के लिये एक गज कपड़ा भी नहीं दे सकते। एक को तो हम पूजा करते हैं दूसरे को हम निर्दयता से पैरों तले रौंदते

है आप उस बेचारे को भी याद कर अक्षरों की तालीम तो पुस्तक भले ही दे किन्तु जीवन की तालीम तो सेवा ही दे सकती है। यदि प्रकृति की गोद में आप नम्रता, अध्ययन-प्रियता और हृदय ले कर जावें तो वह आपकी सबसे बड़ी शिक्षक बन सकती है।

साहित्य-समालोचन

समालोचनार्थ सब पुस्तकों की दो-दो प्रति आनी चाहियें। एक पुस्तक आने पर समालोचना न हो सकेगी।

साम्यवाद या गांधीवाद—लेे०—श्री मंगलानन्द प्रभाकर प्रकाशक—पुस्तक एजन्सी दरीबा कलां, दिल्ली। पृष्ठ संख्या १२५। मू० १।

आज कल साम्यवाद की चर्चा है। हिन्दी जनता भी स्वभावतः साम्यवाद के सम्बन्ध में अधिकाधिक जानने के लिये उत्सुक है। साम्यवाद पर अनेक पुस्तकें भी लिखी गई हैं। श्री मंगलानन्द ने प्रस्तुत पुस्तक में साम्यवाद का प्रतिपादन करते हुए गांधीवाद की भी व्याख्या करने का साहस किया है। आपकी पुस्तक का सारांश यह है कि भारत की समस्या का हल साम्यवाद है गांधीवाद नहीं। ऐसा मत रखने का प्रत्येक को अधिकार है। लेकिन प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने जिस ढंग से गांधीवाद की आलोचना की है वह निहायत भद्दा और कुरुचिपूर्ण है।

लेखक ने गांधीवाद को समझने का बिलकुल यत्न नहीं किया। आपकी लेखन-शैली व गम्भीरता दिखाने के लिये यहाँ दो-तीन उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा—

सत्याग्रह से गांधी जी स्वराज्य हस्तगत करना चाहते हैं। असम्भव है! एक हंसने का विषय है। कोरी मूर्खता है। जब हम दूसरे से रोटी भी आज माँग कर नहीं खा सकते तब क्या एक स्वर्णराज्य भीख मांगने से या सत्याग्रह जैसे मरियल शस्त्र से पा सकते हैं? सोचना ही पागलपन है। (पृष्ठ २५)

"हमारी स्वतन्त्रता की लड़ाई का सेनापति एक अहिंसक महात्मा है न कि खून में देश को डुबो देने वाला एक हिंसक। क्या हम देश छोड़ कर सन्यास ले लें या देश पर मर मिट कर स्वाधीनता का सच्चा आनन्द लें? (पृष्ठ ४१)

'गांधीवाद का विष' नामक अध्याय में लेखक ने प० जवाहरलाल के स्वतन्त्र विचारों और प्रभावशाली भाषण (लाहोर की कांग्रेस के सभापतिपद से दिये गये) की खूब प्रशंसा करते हुए लिखा है—'परन्तु गांधीगरी का अदृश्य जादू किसी पर विदित भी न हुआ। उन्होंने ऐसा वशीकरण मारा कि युवक-सम्राट जवाहरलाल जी को पंडाल से बाहर निकलने के पूर्व ही अपने विचार सड़ियल प्रतीत होने लगे। वे अहिंसावतार गांधी के पट्ट शिष्य बन गये। उसी दिन से इस युवक का पतन समझो।' (पृष्ठ १४७) इसी तरह एक और अध्याय 'गांधीवाद का कोढ़' लिखा है। उसमें तो और भी अनर्गल अशिष्ट बातें लिखी हैं। हमें आश्चर्य है कि ऐसी भ्रष्ट पुस्तक को छापा क्यों गया, लेखक साम्यवाद और हिंसात्मक क्रांति में विश्वास रखते हैं। परन्तु साम्यवाद को समझते भी मालूम नहीं होते। इसी लिये साम्यवाद के सिद्धान्त की विवेचना करने की अपेक्षा आपने दो एक हिन्दी पुस्तकों से रूस की वर्तमान उन्नति पर ही अधिक लिखा है।

हम प्रकाशक से अनुरोध करेंगे कि वह इस भ्रष्ट पुस्तक की सब प्रतियों को जला कर देश-प्रेम का परिचय दें। लेखक से भी एक बात कहनी है कि वे अपनी लेखनी केवल उसी विषय पर चलावें, जिस पर उनका अधिकार हो।

स्वार्थी संसार (नाटक)—लेे०—श्री शिवरामदास। प्रकाशक—उपन्यास बहार आफिस, बनारस। पृष्ठ संख्या १०७। मूल्य १)।

श्री शिवरामदास इससे पहले भी बहुत से नाटक लिख चुके हैं। उनके प्रायः सब नाटकों में वर्तमान कुटिल संसार की सामाजिक बुराइयों का नग्न-चित्र खींचा जाता है। प्रस्तुत नाटक का भी उद्देश्य स्पष्ट है।

यदि पाठक इसमें साहित्यिक भाषा, पात्रों का चरित्र-चित्रण ढूंढने का प्रयत्न करेगा, तो उसे अवश्य निराश होना पड़ेगा। लेकिन लेखक का ऐसा उद्देश्य भी नहीं जान पड़ता। सर्वसाधारण के लिये 'रंगमंच' पर खेलने लायक नाटक लिखना ही उनका उद्देश्य जान पड़ता है और इसमें वे सफल हुए हैं। लेकिन यदि उद्देश्य के साथ ही स्वाभाविकता चरित्रों के विकास व भाषा-परिवर्तन की ओर भी कुछ अधिक ध्यान देते, तो नाटक अधिक उपयोगी हो जाता। धर्मपाल का आदर्श की बातें करते हुए पिता को गालियां सुनाने लगना असंगत जान पड़ता है। इसी तरह तोताराम का अपनी लड़की से अपना कलुषित हृदय खोल देना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। तोताराम का चरित्र दिखाने के लिये स्वगत या किसी अन्य मित्र के साथ वार्तालाप दिखाया जा सकता था। आशा है, लेखक आगे से इन निर्देशों का ध्यान रखेंगे।

—कृष्णचन्द्र

रामायण सार—संकलनकर्ता—श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, प्रकाशक—तेजनारायण वाजपेयी, कुमार प्रेस १०९ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट कलकत्ता; पृष्ठ संख्या २७८, मूल्य ॥)।

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरित मानस का सार है। रामायण धर्मग्रन्थ है, इसलिये प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति को इसकी आवश्यकता अनुभव होती है। संग्रहकर्ता महोदय ने गागर में सागर भरने का प्रशंसनीय कार्य किया है। चूंकि रामायण बड़ी पुस्तक है और एक सप्ताह से कम में खत्म नहीं हो सकती, इसलिये इस पुस्तक में इसका सार निकाल कर रख दिया गया है। इस में कथा का सिलसिला टूटने नहीं पाया है और साधारण धर्म, राज धर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि सम्बन्धी विचार भी नहीं छूटने पाये हैं। पुस्तक की छपाई भी अच्छी है।

उलझन,—लेे०—श्री चन्द्र शर्मा प्रकाशक—सेवदत्त एण्ड कम्पनी, चेम्बरलेन रोड, लाहौर। पृष्ठ संख्या १०१, मूल्य ॥।); छपाई साफ व सुन्दर।

यह पुस्तक ११ सुन्दर कहानियों का संग्रह है। प्रायः सब कहानियां एक दूसरी से बढ़-चढ़ कर हैं। 'उलझन' शीर्षक वाली कहानी तो वस्तुतः उलझन ही है। पाठक उसमें उलझे बिना नहीं रहता। चन्द्र शर्मा की कहानियों में मैंने यह विशेषता पायी कि वे छोटी, सरस और भावपूर्ण हैं। 'चन्द्र' जी से हिन्दी साहित्य को बड़ी बड़ी आशायें हैं।

— जगन्नाथ गुप्त

कुछ समाचारपत्रों में बून्दी राज्य के बारे में जो लेख प्रकाशित हुआ है जिससे बाहर के लोग जो बून्दी से बिल्कुल अपरिचित है यही अनुमान करेंगे कि परदेशियों ने रियासत बून्दी में कोई घोर अन्धेर मचा रखा है। निम्नलिखित कुछ पंक्तियाँ वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डालने के लिये लिखी गई है।

देशी और परदेशी के प्रश्न को कुछ समय के लिये एक ओर रख कर न्याय से देखा जाय तो रियासत बून्दी आज इस बात पर गर्व कर सकता है कि उसके उच्च पदाधिकारियों में से एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो किसी रूप में भी रिश्वत लेता हो। पुराने जमाने में बून्दी की पोल मशहूर थी। परन्तु आज अन्य रियासतों वाले भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि यदि बून्दी की उन्नति की ओर यही खबर रहा और महाराजाधिराज श्रीमान ईश्वरीसिंह जी यदि अन्य राज्य कर्मचारियों के साथ प्रेम तथा उदारता से सहयोग करते हुए स्वयं राज्य कार्य व हर प्रकार के सुधार में दिलचस्पी लेते रहे तो वह दिन दूर नहीं जब कि यह छोटी सी रियासत बहुत उन्नति कर जायगी।

बून्दी के कई महकमों पर अनेक आक्षेप किये गये हैं। कहा गया है कि पोलीस और अन्य महकमों पर रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा है परन्तु अस्पताल और शिल्प पर कुछ ध्यान नहीं दिया जा रहा। सत्य यह है कि गत वर्ष पोलीस पर कुछ भी नया खर्च नहीं किया गया। केवल दो जगह जहाँ कि बाहर के कैदियों के गुजरने के लिये ख्याल किये जाते हैं पोलीस लाइन बनवाई गई है। वह भी पोलीस डिपार्टमेन्ट ने गाँव का कच्ची चुनाई में पुरानी बनी हुई इमारत में वृद्धि करके अपने ही बजट की बचत में बनवाई है। दूसरी ओर मेडिकल डिपार्टमेन्ट में बड़े अस्पताल के अलावा हिन्डोली और केशवराय पाटन में नये सिहायन उम्दा और अप टु डेट चिकित्सालय बनवाये गये हैं। जहाँ एक डाक्टर काम करता था वहाँ आज पांच डा० हैं। लेडी डाक्टर का कदाचित जहाँ पहले नाम भी नहीं सुना गया होगा। वहाँ आज मैटर्निटी हास्पिटल अलहदा खोल दिया गया है। बड़े अस्पताल में मरीजों के रहने की जगह दुगनी कर दी गई है और और बढ़ाई जा रही है। क्या यह बातें ठीक नहीं और क्या इनसे यह सिद्ध नहीं कि उक्त आक्षेप मिथ्या हैं।

रियासती दुनिया

बून्दी में परदेशी का प्रश्न

(ले० एक परदेशी)

(राजपूताने की प्रायः सभी रियासतों में देशी परदेशी का आन्दोलन थोड़ा बहुत चल रहा है। इस लेख में उसके एक पहलू पर विचार किया गया है। आशा है रियासती प्रजा इस प्रश्न रुचि लेगी —सम्पादक)।

आगे चल कर लेखक महोदय ने इस बात पर शोक और क्रोध प्रगट किया है कि परदेशी यहाँ नौकरियें और व्यापार करते हैं। परदेशियों के व्यापार करने के आक्षेप का उत्तर हम आगे चलकर देंगे हाँ परदेशी आफिसरों के बारे में इतना ही कहना है कि इनमें से हर एक को राज्य ने स्वयम् खोज २ कर मंगाया है। क्यों बुलाया है यह तो बून्दी वाले भाई ही जाने क्योंकि इन आफिसरों के आने के पहले का हालत इन आफिसरों की अपेक्षा बून्दी निवासी भाई ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं।

देशी और परदेशी

रियासतों में देशी और परदेशी का प्रश्न हर जगह उठाया जाता है। इस विषय की बारीकी में देखा जाय तो यह दुःखप्रद होता हुआ भी अति मनोरंजक है भारतीय निःसन्देह बहुत सभ्य हैं परन्तु यदि बाहर की अन्य सभ्य जातियाँ यह सुनें कि जिस भारतवर्ष को वह एक राष्ट्र समझती हैं उसी में दस मील दूरी पर जाकर मनुष्य परदेशी कहलाने लग जाते हैं तो वह कदाचित विश्वास भी न करें। हिन्दुस्तान में ही एक हिन्दुस्तानी को अपने दूसरे हिन्दोस्तानी भाइयों द्वारा परदेशी कह कर पुकारा जाना एक अद्भुत तमाशा नहीं तो क्या है? क्या बून्दी वाले सारे भारत के लिये अमेरिका बनाना चाहता है? बून्दी ही नहीं जैसा कि कहा जा चुका है यह प्रश्न करीबन सब रियासतों में उठाया जा रहा है और कुछ समाचारपत्रों में तो इससे सम्बन्ध रखने वाले लेख और समाचार इस जोर से छापे जाते हैं कि वास्तविक राजनैतिक दुर्घटनाओं पर भी इतना जोर नहीं दिया जाता। इस विषय का बाहरी स्वरूप कुछ ऐसा है कि जब तक गौर से न देखा जाय इस सम्बन्ध में उठाई हुई आवाज बिल्कुल सत्य और उचित जान पड़ता है। और हालांकि अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि यह आन्दोलन वास्तव में केवल रियासतों में कुछ विशेष लोगों द्वारा परिचालित होता है। इन भाइयों ने कदाचित कभी ख्याल भी नहीं किया कि वह और उनके भाई अंग्रेजी भारत में क्या आर्थिक लाभ उठा रहे हैं। कलकत्ता बम्बई आदि भारत के सब से बड़े व्यापारिक केन्द्रों में ० फीसदी से ज्यादा व्यापार रियासती मारवाड़ियों के हाथ में है। आज यदि इन्हें वहाँ से निकाल बाहर किया जाय यह कह कर कि भइया जाओ यहाँ तो केवल यहीं के आदमी दुकान खोल सकते हैं और व्यापार कर सकते हैं तो रियासतों की क्या दुर्दशा हो यह पूछिये रियासत बीकानेर से जोधपुर से व राजपूताने की अन्य सब बड़ी रियासतों से जहाँ पर कि गाँव २ में इने अंग्रेजी राज्य में दुकान खोल हुये और व्यापार करते हुये मठों के बनाये शाही महल और अट्टालियाँ धर्मार्थ खोले हुए ग्लव स्टेशन तक मिलें। हम पूछते हैं कि स्वयं सैकड़ों और हजारों की संख्या में जाकर अंग्रेजी राज्य में वहाँ के लोगों के बराबरी के अधिकार से व्यापार व अन्य कार्य करना और अपनी रियासत में यदि कोई अंग्रेजी राज्य वाला दाखिल भी जाय तो उसके पीछे पड़ जाना स्वार्थ अन्याय और ज्यादती नहीं तो क्या है? क्या यही बात बून्दी पर लागू नहीं है? क्या बून्दी में ऐसे कोई सेठ नहीं जिनकी दुकानें और सारा कारोबार अंग्रेजी राज्य व अन्य किसी रियासत में है? क्या ऐसे लोग नहीं जिनकी नौकरियें अंग्रेजी राज्य में हैं? ऐसे व्यक्ति आपको बीसियों और सैकड़ों की तादाद में मिलेंगे और बाहर के आदमी (जिन्हें यह परदेशी शब्द से पुकारते हैं जैसे कि इनमें कोई राष्ट्रीय सम्बन्ध ही न हो) तो यहाँ गिनी चुनी संख्या में ही मिलेंगे। ऐसी अवस्था में देशी और परदेशी के उठाये हुये शोरोगुल का कारण स्वार्थ और अविद्या नहीं तो क्या है?

हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि रियासतों में बेरोजगारी और दीनता बढ़ती जा रही है परन्तु यह कह देना उचित होगा कि यह बेरोजगारी और दीनता अंग्रेजी भारत की बेरोजगारी और दीनता का प्रतिबिम्बमात्र है क्योंकि रियासतों और अंग्रेजी भारत के भाई बहन जैसे निकट सम्बन्ध होने के कारण रियासतों पर पड़े बिना नहीं रह सकता इसकी जुम्मेवार न रियासत है और न ही अंग्रेजी भारत वाले इसकी एक मात्र जुम्मेवार जैसा कि सब जानते हैं इन दोनों की पराधीनता जिस रियासतों की प्रजा और उसके भाई अंग्रेजी भारत वाले (परदेशी) परस्पर सहयोग व प्रेम से ही हरा सकते हैं

झाबुआ में सुधार

भारतीय देशी राज्य प्रजा परिषद के संयुक्त मंत्रियों ने निम्नलिखित वक्तव्य प्रेस को दिया है—

झाबुआ शासन के वास्ते भारत सरकार के दीवान नियुक्ति के निर्णय के विपरीत झाबुआ के सिंहासन हीन शासक की वर्तमान कौंसिल की योजना स्वीकार की गई है। यह कौंसिल राना की इच्छानुसार है जनता का इसमें प्रतिनिधित्व नहीं है। इस प्रकार एक भारतीय जूनियर सिविलियन द्वारा शासन चलाने की माँग ठुकरा कर जनता की माँग पर भी ध्यान नहीं दिया गया किन्तु झाबुआ की जनता को यह जान कर सन्तोष हो रहा है कि मालवा एजेन्सी के पोलिटिकल एजेन्ट श्री० के० एस० फिच शासन व्यवस्था में काफी दिलचस्पी ले रहे हैं।

बड़वानी राज्य में दो लाख रु० कम लेने से राज्य की आर्थिक अवस्था में कुछ सुधार अवश्य हुआ इसी प्रकार जनता की अन्य शिकायतें व राज्य की अव्यवस्था की भी बारीकी से जाँच होने की आवश्यकता है। निम्नलिखित व्यक्तियों को राजा के दुर्व्यवहार नाजायज हिरासत व जेल आदि के कारण मावजा व जुर्माना मिला है

श्री सौभाग्यमल पाटोदी ७
केसरीमल बड़ारा
हेमराज लोढ़ा ८
चुन्नीलाल मोदिया १
नन्दा तेली १
सदीक अहमद १

इसके अतिरिक्त अन्य लोगों की जाँच का परिणाम क्या आता है यह देखना को है।

म० गाँधी को सीमाप्रान्त में जाने की आज्ञा नहीं मिली

लार्ड विलिङ्गडन

सीमांत में जाना अवांछनीय

महात्मा गान्धी

वायसराय का उत्तर
अभी पत्र-व्यवहार जारी है

म० गांधी ने वह पत्र व्यवहार प्रकाशित कर दिया है जो उन मे और वायसराय मे सीमाप्रांत जाने के सम्बन्ध मे हुआ था। वायसराय ने म० गांधी के वहां जाने को आपत्तिजनक और अवांछनीय बताया है। अभी तक म० गांधी का पत्र व्यवहार जारी है।

महात्मा जी का वक्तव्य

पत्र-व्यवहार प्रकाशित करते हुए महात्मा जी ने एक वक्तव्य भी प्रकाशित किया है जिसमें इस बात को दुर्भाग्य पूर्ण बताया है कि अखबारों में उनके और वायसराय के बीच होने वाले पत्र व्यवहार की मनमानी खबर प्रकाशित हुई है। वायसराय से पूछ कर पत्र-व्यवहार प्रकाशित करने को बात कहते हुए महात्माजी लिखते है —

परन्तु मैं जनता को इस बात से आगाह करता हूं कि वह यह न समझ लें कि पत्र-व्यवहार समाप्त हो गया और मैं वायसराय की राय के विरुद्ध सीमाप्रान्त जाकर गिरफ्तार होने के पहले मौके की प्रतीक्षा में हूं।

इस समय सविनय अवज्ञा करने की मेरी कोई इच्छा नहीं है।

मेरा उद्देश तो यही है कि परमेश्वर के एक विनम्र सेवक के रूप में सीमाप्रान्त के उन लोगों से मिलूं और उनको जानूं जोकि अपने को खुदाई खिदमतगार कहते हैं।

क्योंकि अब उनका नेता गिरफ्तार कर लिया गया है इसलिये मेरी यह इच्छा और भी बढ़ गई है लेकिन

मेरा तत्कालिक उद्देश्य सरकारी आज्ञा भंग करने से पूरा नहीं हो सकता। अतः इसके लिये आवश्यक अनुमति प्राप्त करने को मैं उन सब वैध उपायों से काम लूंगा जो कि सम्भव हैं यदि मेरे उद्देश्य पर सन्देह हो मुझे वहां जाने से रोकने का कारण हो तो मैं इस सन्देह को दूर करने का प्रयत्न करूंगा। मेरा प्रयत्न तो यही है कि मनुष्य की हैसियत से जहां तक सम्भव हो मैं सरकारी आज्ञा भंग करने के हरेक अवसर को टालूं। अतः आम जनता तथा खास कर सीमाप्रान्त के मित्रों से मैं कहूंगा कि वे धीरज रक्खें। पर अन्त में क्या होगा यह ठीक समय पर उन्हें मालूम हो जायगा। साथ ही पत्र सम्पादकों से भी मेरी प्रार्थना है कि बिना मुझ से सचाई जाने इस सम्बन्ध में वे कुछ प्रकाशित न करें।

महात्मा जी का पत्र

वायसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी को वर्धा से १५ नवम्बर को म० गांधी ने पत्र भेजा जिस में लिखा कि आधे दिसम्बर के बाद अपने तईं यह जानने-समझने के लिए कि खान साहब अब्दुलगफ्फार खाँ के अहिंसा के उपदेश ने उन के अनुयायियों में कहां तक प्रवेश किया है मैं सीमाप्रांत जाना चाहता हूं। साथ ही ग्राम्य-उद्योगों की वृद्धि में भी मैं उन की मदद करना चाहता हूं। यह कहने की जरूरत नहीं कि सरहदियों में सरकारी कानून भंग की भावना फैलाने का मेरा कोई इरादा नहीं है।

हालांकि सीमाप्रांत जाने के सम्बन्ध में मुझ पर कोई कानूनी पाबन्दी तो नहीं है तथापि मैं ऐसी कोई बात नहीं करना चाहता जिसके कारण सरकार से मेरा संघर्ष हो। जहां तक मनुष्य की हैसियत से सम्भव हो मेरी दिली इच्छा है कि मैं ऐसे संघर्ष में न पड़ूं।

अतः क्या आप कृपा करके इस सम्बन्ध में वायसराय के विचार जान कर मुझे सूचित करेंगे?

प्राइवेट सेक्रेटरी का जवाब

महात्मा जी के उक्त पत्र के उत्तर में २५ नवम्बर को वायसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी ने, वायसराय की ओर से इस बात पर हर्ष प्रकट करते हुए कि आज्ञा भंग करने की महात्मा जी की कोई इच्छा नहीं है लिखा कि

इस प्रश्न पर सीमाप्रांत की सरकार तथा अपनी कौंसिल से सलाह कर वायसराय और वे सब इस सर्वसम्मत निश्चय पर पहुंचे हैं कि अभी आप का सीमाप्रांत जाना वांछनीय नहीं है।

अवांछनीय क्यों है?

उक्त पत्र पर २८ नवम्बर को महात्मा जी ने फिर पत्र भेजा जिस में यह बताने के लिए कहा कि उन को सीमाप्रांत जाना अवांछनीय क्यों है और अभी से आप का क्या अभिप्राय है?

'अभी' का अर्थ

इस के उत्तर में ९ दिसम्बर को प्राइवेट सेक्रेटरी ने लिखा कि 'अभी' से मतलब यह है कि जब तक वायसराय को यह सन्तोष न हो जाय कि आपका वहां जाना आपत्तिजनक न होगा उन्होंने हाल के वर्षों की घटनाओं तथा वर्तमान परिस्थिति पर पूर्ण विचार करके ही ऐसा निश्चय किया है।

पत्र-व्यवहार प्रकाशित करने की इजाजत

इसके बाद ८ दिसम्बर को महात्मा जी ने तार देकर अखबारों में मनमानी खबरें प्रकाशित होने की वजह से पत्र-व्यवहार प्रकाशित करने की इजाजत मांगी और साथ ही यह भी लिखा कि मैं ईश्वर से प्रार्थना करते हुए सीमाप्रांत जाने संबंधी अपने कर्तव्य पर विचार कर रहा हूँ।

इस पर १० दिसम्बर को तार से प्राइवेट सेक्रेटरी द्वारा पत्र-व्यवहार प्रकाशित करने की इजाजत मिली।

भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य नहीं मिलेगा

(पृष्ठ १० का शेष)

इसके पन्न-पन्न में भारतीयों के प्रति अविश्वास भरा हुआ है, जब कि हम जानते हैं कि जो भी भारतीय ऊचे ओहदे पर गया वह किसी अङ्गरेज से कम योग्य साबित नहीं हुआ। कांग्रेस दल ही ऐसा है जो किसी शासन-विधान को चला सकता है। कांग्रेस ही देश के युवकों मे बलिदान की मांग कर सकती है। अपनी माग पर ही वह चुनाव में सफल रही है।

मि० ड्रमाकफ़्ट (लिबरल)

न साधारणतः रिपोर्ट का समर्थन किया, पर संघीय धारा सभा में अप्रत्यक्ष चुनाव का विरोध किया।

लार्ड वूल्मर

कजरवेटिव विरोधियों के प्रमुख थे। आपन मि० फुट म असहमत होन हुए कहा कि सरकारी प्रस्ताव-समस्या को हल करन क सर्वोत्तम उपाय नहीं है और वे भारत तथा साम्राज्य को बुराइयों, खतरों एव दुर्घटनाओं मे डाल देगे। सरकार इन सुधारों मे जो मशीन तैयार कर रही है उस पर कांग्रेस कब्जा कर लेगी, जो मि० डि वेलरा को तरह भारत से अंगरजों को निकालन पर तुली हुई है।

कांग्रेस क प्रभावपूर्ण होन के आपन ये कारण बतलाये—

(१) वही एक सगठित दल है, (२) इतिहास बताता है कि गरम सदा नरमों को हजम कर जाते हैं सो कांग्रेस माडरेटो को खत्म कर देगी (३) चुनाव के समय मनमाने वादे करके तथा वक्तव्य निकाल कर ससार के सब से अज्ञान (भारतीय) मतदाताओं पर वह अपना जादू चला लेगी।

आपने केन्द्र को उत्तरदायित्व दिये बगैर पहले सिर्फ प्रान्तीय स्वतन्त्रता, वह भी कुछ हेर-फर के साथ देने पर जोर दिया।

चांद की जगह बम

करनल वजवुड ने सुधारों की कड़ी आलोचना की। आपन कहा कि भारत में इनसे कोई खुश नहीं है, बल्कि भयभीत हैं। वह तो 'जिस चांद के लिये चिल्ला रहे थे, उसकी जगह ऐसा बम का गोला है' जो उन की मौजूदा स्वतन्त्रता को भी नष्ट कर देगा। साम्प्रदायिक निर्वाचन को भी आपन जोरों से विरोध किया और कहा कि प्रजातन्त्र में एक बार यह विष घुसा नहीं कि फिर कभी प्रजातन्त्रीयता नहीं हो सकती। राजाओं को प्रभुत्व देन का भी आपन विरोध किया।

सर डोनल्ड सोमरवेल

न सुधारों का समर्थन करते हुए कहा—यदि वर्तमान अवसर खो दिया गया तो भविष्य में संघ कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायगा।

दूसरे दिन का विवाद मजदूर दल के मि० मोरगन जोन्स के भाषण से आरम्भ हुआ।

बर्मा का पृथक्करण

बाद में सहकारी भारत-मन्त्री मि० बटलर न बर्मा के पृथक्करण का विस्तार मे उल्लेख किया और इसमें बर्मा का हित बताया, साथ ही बर्मा को ब्रिटिश सरकार का एक जबर्दस्त अधिकृत प्रदेश बताया।

मजदूरदल क सशोधन के विरुद्ध सर जान साइमन का भाषण हो जाने क बाद मि० चर्चिल न ७० मिनट तक पुन• अपने पक्ष का प्रतिपादन किया। आपन कहा कि आयर्लैण्ड और दक्षिण अफ्रीका मे भारत की तुलना करना ठीक नहीं है। 'मोण्टफोर्ड स्कीम में अनेक बड़े बड़े प्रयोग किये गये, परन्तु, बहुतों का यह विश्वास है कि वही भारत की आज की सारी गड़बड़ी की जड़ है।

भारत की एकता अपने आप कोई उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य तो भारत का हित है।

सर आस्टिन चैम्बरलेन

न मि० चर्चिल को जवाब देते हुए रिपोर्ट का समर्थन किया।

भारतीय भावनाओ पर ज्यादा ध्यान दो

मि० लेन्सबरी ने भारतीय पक्ष लिया। आपन कहा कि भारतीयो की भावनाओं पर ज्यादा ध्यान दिया जाना चाहिये। इस बात को भी हमें याद रखना चाहिये कि हम ३५ करोड़ भारतीयो के हित पर विचार तो कर रहे हैं, पर विचार में भारतीय कोई भी शामिल नहीं है।

भारत को निश्चितरूप से यह जानने का अधिकार है कि डोमीनियन स्टेटस अब सरकारी नीति रही है या नहीं ? भारत के सम्बन्ध मे मैं आप को चुनौती देता हू। वाइसरायों राजकुमारों तथा ड्यूक आफ कनाट के द्वारा हमने उन्हें स्वराज्य का सन्देश भेजा है। पर इन प्रस्तावों में ऐसा कुछ नहीं है। इन से आम लोगों को कोई अधिकार नहीं मिलता, व भारतीयों को अपन मामलों का प्रबन्ध और नियन्त्रण स्वय करने का ही हक मिलता है।

मि० बाल्डविन

न अपन अंतिम भाषण में सबकी बातों का जवाब दिया और नये सुधारो क बार में कहा—

यह सच है कि कांग्रेसियों न इसमे इन्कार किया है तथा अन्य राजनैतिक दलो न इनकी बहुत टीका टिप्पणी की है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जिम्मेदार भारतवासी इसक शुरू होन पर इसमें भाग नहीं लेंगे।

संशोधन गिरा, प्रस्ताव पास

अन्त में मत लिये गये, जिसमें भारत को डोमीनियन स्टेटस देन सम्बन्धी मजदूर-दल का सशोधन तो ४६ के विरुद्ध ४६१ क भारी बहुमत से रद्द हो गया और रिपोर्ट को भावी शासन सुधार का आधार मानने का मूल सरकारी प्रस्ताव १२७ के विरुद्ध ४१० क बहुमत से पास हुआ।

हाउस आफ लार्डस की बहस

'डोमिनियन स्टेटस' शब्द छोड़ने पर जोर

हाउस आफ लार्डस में १२ तारीख को लार्ड (इरविन) के प्रस्ताव क साथ ज्वायण्ट सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट पर जो बहस शुरू हुई थी १३ ता० को भी वह जारी रही।

डोमीनियन स्टेटस शब्द छोड़ो

केण्टरबरी क आर्चबिशप न इस दिनका विवाद शुरू करते हुए कहा कि अब समय आ गया है कि हम 'डोमीनियन स्टेटस' क भ्रामक शब्द को छोड़ दें जिसन कि बहुत गलतफहमिया पैदा की है।

लार्ड सेलिसबरी का विरोध

लार्ड सेलिसबरी न प्रस्तावों का विरोध करते हुए कहा कि सिलेक्ट कमेटी न इस बातपर ध्यान नहीं दिया है कि उसके प्रस्ताव सम्भव भी हैं या नहीं और परस्पर विरोधी बातों का हल न कर उनको दरगुजर करने की कोशिश की है।

सप्ताह की हलचल

सीमान्त गांधी ने सफाई नहीं दी

अदालत मे बयान

बम्बई १३ दिसम्बर

आज चीफ प्रेसीडन्सी मजिस्ट्रेट क इजलास में खान अब्दुल गफ्फार खां का मामला पेश हुआ सरकारी वकील न इस्तगासे क तीन गवाहों से जिरह की, इसक बाद खां की ओरसे श्री भूलाभाई देसाई न निम्न बयान पेश किया:—

मूलतः अनुवाद सही है और मेरे कानूनदा दोस्तों के कथनानुसार उसमें ऐसी बातें हैं, जो ताजीरात हिन्द की उस धारा में आ सकती है जिसके मातहत मुझ पर जुर्म लगाया है।

मैं एक वफादार कांग्रेसमैन हू और फिलहाल जेल न जाने की उसकी नीति को मैंने स्वीकार किया है, इसलिए राजद्रोहात्मक बाते कहने की मेरी कोई इच्छा नहीं थी। अत• मुझे इस बात के लिए अफसोस है कि चाहे अनिच्छा से ही क्यों न

अब्दुलगफ्फार खां को ? साल की कैद

अभी खबर मिली है कि शनिवार को मजिस्ट्रेट ने दो साल की सजा सुना दी।

हो पर मैंने अपने भाषण में ऐसी बात कहीं जिन पर मुकदमा चल सकता है।

अगर मेरे सारे भाषण को पढ़ा जाय, तो मुझे आशा है कि अदालत को यह सन्देह नहीं रहेगा कि सरकार पर दोषारोपण करने के बजाय आन्दोलन के निर्दोष पहलू पर जोर देना ही मेरा उद्देश्य था।

इस्तगासे की कार्यवाही

तदनन्तर मि० वोकर पब्लिक प्रोसीक्यूटर न खान अब्दुलगफ्फार का वह भाषण पढ कर सुनाया जो उन्होंने २७ अक्तूबर को बम्बई मे दिया था। मि० वोकर न आगे कहा कि भाषण खतरनाक था और उसमें राजद्रोह की झलक थी। भाषण में सरकार क विरुद्ध कई बात कही गई। उदाहरणतः

सरकार हिन्दू मुसलिमों को भिड़ाती है, सीमान्त में पठानों को तंग करती है इत्यादि।

इस्तगासा की ओर से निम्न अभियोग लगाये गये:---

(१) सम्राट का वफादार प्रजा में असन्तोष पैदा करना।

(२) भारत-सरकार के विरुद्ध लोगों को भड़काना।

फैसले के लिए आगामी शनिवार की तारीख लगा दी गई

—:—

डा० सत्यपाल पर मुकद्दमा

डा० सत्यपाल पर १२ नवम्बर को चुनाव के सिलसिले में दिये गये एक भाषण पर मि० पूल की अदालत मे राजद्रोह के अभियोग मे मुकदमा चल रहा है। पबलिक प्रासीक्यूटर ने पहले ही प्रेस-रिपोर्टरों को भाषण के अंश न छापने की ताकीद करदी है। मि० आसफअली ने डाक्टर साहब की ओर से पैरवी की। उन्होंने कहा कि सरकारी अनुवादक का अनुवाद गलत है। फिर सारे भाषण का सारांश चुनाव के लिए अपील करना थो, न कि ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध नफरत फैलाना। भाषण के किसी एक वाक्य को पृथक कर वक्ता की मनोवृत्ति को नहीं पहचान सकते। इस तरह तो बाइबिल भी राजद्रोहपूर्ण हो जायगी, जिसमें तलवार से शासन करने वाली सरकार का तलवार से नाश होना लिखा है। एक भी गवाह सरकार ऐसा पेश नहीं कर सकी जिसे वह भाषण सुनकर ब्रिटिश राज्य से नफरत हो गई हो।

फैसला १७ दिसम्बर को सुनाया जायेगा।

———

सेन्टल बैंक आफ इन्डिया

गवर्नमेन्ट आफ इंडिया के अर्थ-विभाग में प्रकाशित की गई एक विज्ञप्ति द्वारा यह घोषणा की गई है कि रिजर्व बैंक आव इंडिया के सब से पहले सेन्ट्रल बोर्ड के लिये निम्न लिखित ८ डायरक्टर नियुक्त किये गये हैं—

बम्बई रजिस्टर—सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, एफ. ई. दीनशा।

कलकत्ता रजिस्टर—सर एडवर्ड बेन्थल, रायबहादुर सर बद्रीदास गोयनका।

दिल्ली रजिस्टर—खां बहादुर नवाब सर मुजामिल्ला खां।

अलीगढ़—सर सुन्दरसिंह मजीठिया।

मद्रास रजिस्टर—दीवानबहादुर एम. रामचन्द्र राव।

रंगून रजिस्टर—यू-बाह ओह।

साप्ताहिक डायरी

८ दिसम्बर, १९३४

—मनिला (इटली) की खबर है कि वहां सातवें तूफान से उत्तरी लूज़ोन द्वीप मे १६ फिलोपाइनी डूब गये।

—जोसफ रायटर नामक एक आस्ट्रियन को, जिसे हाल ही मे पुलिस पर हमला करने के अभियोग मे ६ मास की सजा हुई थी, जब दो यूरोपियन अफसर लोनावला से बम्बई ले जा रहे थे। वह चलती गाड़ी से कूद कर भाग गया।

६ दिसम्बर, १९३४

—नागेर करथल (मद्रास) का समाचार है कि दक्षिण ट्रावनकोर में कादिया पट्टनम के समुद्र तट पर स्थित एक गाँव में ईसाइयों तथा मुसल्मानों का एक मस्जिद के सामने बाजा बजाने पर झगड़ा हो गया जिसमे ४ ईसाई घायल हुए।

—लाहौर में मौ० हबीबुर्रहमान लुधियानवी के सभापतित्व में मजलिसे-अहरार-ए हिन्द की कार्यकारिणी की एक बैठक हुई, जिसमें कपूर्थला राज्य के विरुद्ध अहरार आन्दोलन बन्द करने का निश्चय हुआ।

—लन्दन ६ दि० के समाचार के अनुसार दो जापानी नाविक अफसरों के सिंगापुर आ जाने से पुलिस ने कई धावे मार जिसमे कुछ कागजात जब्त किये और दोनों को सिंगापुर छोड़ने का हुक्म दिया गया।

१० दिसम्बर, १९३४

—बड़े दिनों में इन्दौर में होने वाले अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्वागत समिति ने सर्व सम्मति से म० गांधी को सम्मेलन का सभापति चुना है।

—हैदराबाद (दक्खन) की खबर है कि गोवद गांव में दो पार्टियों के झगड़े के मुकदमे का गुलबरगा के सेशनजज ने फैसला सुना दिया है जिसमें १७ अभियुक्तों को प्राण दन्ड दिया और बाकी दो को छोड़ दिया।

—श्री अभ्यंकर एम० एल० ए० अपने पैरों का इलाज कराने बम्बई पहुंच गये हैं और डा० देशमुख ने मुआयने के पश्चात कहा कि कोई खतरा नहीं है।

—इलाहाबाद का समाचार है कि स्थानीय प्रेस कर्मचारियों की एक मीटिंग पुरुषोत्तम पार्क में हुई, जिसमें यूनियन बनाने का निश्चय करने के पश्चात एक प्रस्ताव द्वारा श्री एम० एन० राय की रिहाई की मांग की गई और जब तक वे रिहा न हो, जेल बदलने की प्रार्थना की गई, जहां उनका इलाज हो सके।

—स्वर्गीय जगमोहनलाल (ढाका के एक प्रख्यात व्यापारी) पटना-यूनिवरसिटी को अपने नाम पर एक मेडिकल कालेज स्थापित करने के लिये ४ लाख रुपये देने की वसीयत कर गये हैं।

—खबर है कि अ० भारतीय हिन्दू महासभा के कानपुर अधिवेशन में इस प्रस्ताव पर विचार किया जायगा कि ज्वाइन्ट पार्लमेंटरी कमेटी की सिफारिशों व साम्प्रदायिक फैसले के सम्बन्ध में हिन्दू दृष्टिकोण को समझाने के लिये एक डेपूटेशन लन्दन भेजा जाय।

—महाराजा कपूर्थला ने आज एक भाषण में यह स्पष्ट घोषित कर दिया है कि रियासत के प्रधान-मंत्री के पद पर कर्नल फिशर (राजनैतिक विभाग) को नियुक्त किया जायगा। फिलहाल यह नियुक्ति २ वर्ष के लिये होगी। कर्नल फिशर जनवरी १९३५ के अन्त तक अपने पद को चार्ज ले लेंगे।

—आज बारसदों के अ० कमिश्नर ने स्थानीय जेल मे एक अदालत की, और करीब ४०० व्यक्तियों को जिन्हें चिमनई नामक प्रख्यात बागी की सहायता करने के अभियोग में जाब्ता फौजदारी की ११०वीं धारा के अनुसार गिरफ्तार किया गया था, अदालत में पेश किया गया। गिरफ्तार व्यक्तियों को ५००)-५००) की जमानत पर छोड़ दिया। साथ ही उन्हें नोटिस दिये गये कि नकचलनी से रहने के लिये उन से क्यों दो-दो हजार रुपये की जमानत न ली जाय।

—लन्दन का १० दिसम्बर का समाचार है कि मजदूर दल के सदस्य मि० मार्गन जोन्स के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए मि० बटलर ने कहा कि श्री शरतचन्द्र बोस को असेम्बली में उपस्थित होने की इजाजत नहीं मिल सकती क्योंकि आप राजबन्दी हैं और देश की आन्तरिक शान्ति को कायम रखने के लिये आपको जेल में रखना आवश्यक है।

११ दिसम्बर १९३४

—चटगांव की खबर है कि चार बवाराधीन कैदियों को जेल अनुशासन भंग करने के अपराध में ८-८ मास की सख्त सजा दी।

—बंगाल के जिलों में ३५२६ मनुष्यों ने, १९३४ में आत्म हत्यायें की।

—मिदनापुर जिला मजि० ने बंगाली भद्रलोक नवयुवकों का मिदनापुर के मुख्य-मुख्य स्थानों में साइकिल पर घूमना बन्द कर दिया है।

—मद्रास कौंसिल में जस्टिस पारटी की एक बैठक बोबली के राजा की अध्यक्षता में हुई जिसमें जस्टिस पारटी के चीफ व्हिप चेट्टी नाथ के कुमार राजा मि० एम० ए० मुथिया चट्टी (मद्रास के मेयर) पर यह दोष लगाया कि उन्होंने पारटी का साथ न देकर कांग्रेसी उम्मेदवार की सहायता की। उन्होंने प्रस्ताव पास होने के पूर्व ही इस्तीफा दे दिया जो पास कर लिया गया।

१२ दिसम्बर १९३४

—लखनऊ में हविट रोड तथा लटूश रोड के संगम पर तीन शस्त्रधारी व्यक्तियों ने एक बनिये पर आक्रमण किया और घायल करके भाग गये। मुट्टन नामक एक व्यक्ति की गिरफ्तारी हुई है।

—कानपुर काटन मिल के ६०० कर्मचारियों ने वेतनों में वृद्धि कराने के लिये हड़ताल करदी है और सुनते हैं मिल-मालिकों ने नोटिस निकाला है कि यदि वे काम पर न आवेंगे तो उनकी जगह दूसरे आदमी लगा लिये जायंगे।

—मालूम हुआ है कि भारत की आर्थिक कठिनाइयों के कारण परशिया और अफगानिस्तान के चांदी के सिक्कों को भारत मे आने से रोकने पर भी, सुना जाता है, लगभग ५००० सिक्के भारत में रोजाना आ रहे हैं।

—पंजाब यूनिवरसिटी के एक एम० ए० ने शेखूपुरा में धोबी का कार्य आरम्भ कर दिया है।

—:०:—

सपरिषद गवरनर-जनरल द्वारा निम्न लिखित ४ डायरक्टर नियुक्त किये जायंगे:—

सर होमी मेहता (बम्बई), ए. ए. ब्रूस (रंगून), ला० श्रीराम (दिल्ली), आदम हाजी मोहम्मद सेठ, मद्रास।

एक सरकारी अफसर भी सपरिषद गवरनर जनरल द्वारा नियुक्त किया जायगा।

जे. डब्ल्यू. केली सी. आई. ई. करन्सी का कन्ट्रोलर।

इस प्रकार उक्त डायरक्टरों, गवरनर तथा दो डिप्टी गवर्नरों सहित रिजर्व बैंक आफ इंडिया का पूरा सेंट्रल बोर्ड बन जायगा।

—:—

प० रामगोपाल विद्यालंकार प्रिंटर और पब्लिशर के लिये अर्जुन प्रेस, श्रद्धानन्द बाजार देहली में छपा।

वर्ष १

अङ्क ३०

सोमवार २४ जून सन् १९३५ ई० Monday 24th June 1935.

स्वर्गीय देशबन्धु चितरञ्जनदास

वार्षिक मूल्य ३।।)]   सम्पादक—कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार   [एक अङ्क का मूल्य -)

विषय-सूची

—::*::—

Wear "FLEX" SHOES
हमेशा फ्लेक्स शूज़ पहनिये
कीमत के लिहाज़ से फ्लेक्स शूज सबसे बढ़िया हैं। जो कि आपको हर जगह मिल सकते हैं।
"FLEX" OXFORD SHOES from Rs. 4/4 per pr
हरएक जगह फ्लेक्स एजेन्सी में नए मोसम के मुताबिक फ्लेक्स शूज़ मौजूद हैं।
फ्लेक्स शूज़ हर तरह के मौके के वास्ते मिल सकते हैं। आम पहनावे के वास्ते आक्सफोर्ड शूज़ और अन्दर बाहर पहिनने के वास्ते पम्प शूज और सिलीपर बड़े उम्दा हैं। फ्लेक्स के बढ़िया वेलटेड शूज़ मजबूती व खूबसूरती में विदेशी जूतों के मुकाबले में हैं लेकिन कीमत में उनसे कहीं कम हैं।
"FLEX FULL SLIPPERS from Rs. 3 12 per pr
GUARANTEED
FLEX
LATEST STYLES
FINE FITTINGS.
ALL-LEATHER SHOES

साप्ताहिक डायरी

१५ जून

—मेरठमें शोराब दरवाजेके पास चमारों और मुसलमानों में झगड़ा हो गया, जिससे एक दर्जन से अधिक चमार घायल हुये हैं। झगड़े का कारण चमारों का एक धर्मशाला बनाना बताया जाता है। पुलिस मामले की तहकीकात कर रही है।

—बम्बई हाईकोर्ट में महन्त दामोदरलाल ने नाथद्वारा विषयक जो दावा किया हुआ था, उसे वापिस लेने की उन्होंने दरख्वास्त दे दी है।

—गाजियाबाद म्यूनिसिपैलिटी ने युक्तप्रान्तीय सरकार द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार कमेटी की सीमा में पतंग उड़ाना मना कर दिया है।

—धर्मी का पति गोपा और भाइ नाथिया सिरोही वालों के बहकाने में आगये हैं और वह एकाएक बम्बई से गायब हो गये हैं।

१६ जून

—कमाण्डोका 'इम्प्रेस आफ ब्रिटेन' नामक जहाज "काफरिस्तान" नामक ब्रिटिश स्टीमरसे मेकलेगन द्वीप तथा केमपाइन्ट के बीच कोहर के कारण टकरा गया।

—शिकारपुर के हिन्दुओं ने १००० श्राद्ध क्वेटा में भूकम्प से मरे हुये हिन्दुओं के लिये किये। २०० ब्राह्मणों ने श्राद्ध संस्कार की रसम अदा की। २००० बच्चों के सिर मुंडवाये गये।

—दादू (करांची) में बड़े जोर का हवाई तूफान आने से मकानों की छतें उड़ गई और वृक्ष जड़ से उखड़ गये।

—आगरा की एक बारात मोटर लारी में सवार थी। लारी के टकराने से बारात के ४ आदमी मर गये और २१ घायल हुये।

१७ जून

—लाहौर की गुफारखां की फीरोज मिल्स में भीषण आग लगने के फलस्वरूप ४ व्यक्ति जल कर मर गये ५००००) की हानि हुई बताई जाती है।

—लाहौर म्यूनिसिपैलिटी ने क्वेटा भूकम्प पीड़ितों की सहायतार्थ १५०००) देने का निश्चय किया है।

—सरकार की ओर से यह प्रकाशित हुआ है कि क्वेटावासियों को मलबे के अन्दर दबी हुई सम्पत्ति के सम्बन्ध में अपनी दरख्वास्त डिप्टी कमिश्नर या पोलीटिकल एजण्ट के पास छपे हुये फार्मों पर तुरन्त भेज देनी चाहिये।

—प० बचरदास दोशी को अहमदाबाद जिला मजिस्ट्रेट की आज्ञा का उल्लंघन करने के अभियोग में गिरफ्तार कर लिया गया है।

—अजमेर शूटिंग केस के सम्बन्ध में दो गिरफ्तारियां और हुई हैं, जिन में से एक गवर्नमेण्ट कालिज के द्वितीय वर्ष के विद्यार्थी हैं।

—अमृतसर सदर पुलिस स्टेशन के सब इन्सपेक्टर मलिक बशारत हयात को रिश्वत लेने के अभियोग में बरखास्त कर दिया गया हैं।

—महाराजा भावनगर के जन्म दिवस के समारोह में विद्यार्थियों और अनाथालयों में इनाम बांटे गये। अनेक विधवाओं के लिये आजीवन पेनशनें नियत की गई।

—पोरबन्दर स्टेट में १९३३-३४ में १४ लाख की बचत हुई है।

—७ जून को समाप्त होने सप्ताह में बंगाल के विभिन्न जिलों में ३६ डाके पड़े हैं।

—लाहोर केन्द्रीय टेलीग्राफ आफिस के कर्तारास नामक एक क्लर्क को गबन के अभियोग में १२ साल सख्त कैद की सजा दी हुई है।

—बम्बई खुफिया पुलिस ने गिरगांव के कई मकानों की तलाशी ली और जब्तशुदा साहित्य बरामद किया।

—इलाहाबाद पुलिस ने 'अभ्युदय प्रेस पर छापा मारा और वहां से एक सार्वजनिक नोटिस की असली कापी अपने साथ ले गई।

—सुजानगढ़ पुलिसने एक चोरी के सम्बन्ध में लाडनूं (मारवाड़) के एक सुनार के घर पर छापा मारा और ६० तोले सोना और ३०६ तोले चांदी बरामद की।

१८ जून

—त्रिच्कल इकन्द्रम (मद्रास) में भीषण अग्निकांड के कारण एक कार, एक होटल, तीन दुकान तथा एक मकान जल कर राख हो गया। एक लाख की हानि का अन्दाजा किया जाता है।

—बम्बई के श्रमजीवी नेता श्री० नैयब सेठ को भारतीय दण्ड विधान की धारा १२४ "अ' के अनुसार गिरफ्तार कर लिया है।

—फतेचन्द अग्रवाल नामक एक मारवाड़ी ३०००) के नोट लिये हुये बड़े बाजार कलकत्ते से गुजर रहा था ३ व्यक्तियों ने उस पर हमला करके रुपया छीन लिया और फरार हो गये।

—बग्ली में एक पति ने अपनी स्त्री को इसलिये मार डाला कि वह उसके साथ उसी समय चलने को राजी न हुई

—लाहौर षड्यन्त्र केस के अपूर्व इन्द्रपाल की अपील हाईकोर्ट में आज पेश हुई।

—मि० सी० डब्ल्यू० कारसन ग्वालियर के नये अर्थसदस्य बनाये गये हैं।

१९ जून

—मिडिलवेस्ट (अमेरिका) में बाढ़ आने से १७८ आदमी डूब गये। नेब्रास्का, टैक्सास, ओकलहोमा आदि में ६० लाख डालर का नुकसान हुआ है।

—कोलम्बो के एक स्कूल से कुछ विद्यार्थी साहसिक कार्यों के करने के लिये घर से जंगल में भाग गये।

—खबर है कि नये शासन विधान के मातहत पंजाब कौन्सिल के चुनाव के लिये अभी से तैयारियां हो रही हैं। सर फजलीहुसेन के मुकाबिले में अताउल्लाशाह बुखारी को खड़ा होने पर जोर दिया जा रहा है।

—पीर शाहनशाह ने एक वक्तव्य द्वारा सरकार से खान अब्दुलगफ्फार खां को साबरमती जेल से बदलने की प्रार्थना की है।

—बम्बई कारपोरेशन में गोवध बन्द कराने की एक सुन्दर योजना पेश की गई है।

—बम्बई से चलने वाली मद्रास मेल गाड़ी के इंजिन पर घोर वर्षा के कारण लाइन के पास की पहाड़ी से भारी पत्थर गिर पड़ा।

—राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबू ने करांची में कांग्रेस-भवन का शिला न्यास किया।

२० जून

—म० गांधी को एक लाख की प्रतिज्ञान थैली देने के लिए इन्दौर में हरिभाऊ जी सरगर्मी से आन्दोलन कर रहे हैं।

—ट्रांसवाल (दक्षिण अफ्रीका) कौंसिल में यह कानून बन गया है कि एशिया निवासी गोरी मेमों को नौकर न रख सकें।

—नवासे के मन्दिर से २०००) रु० की स्वर्ण मूर्तियां चोरी चली गयी हैं।

—बम्बई सरकार ने फ्री प्रेस जरनल की २००००) रु० की जमानत जप्त कर ली है। क्वेटा में प्रवेश निषेध पर लिखे गये लेखों पर सरकार को आपत्ति थी।

—हरिजन सेवक संघ कालीकट में एक चमड़े का कारखाना खोलने पर विचार कर रहा है।

—पार्लमेंट के एक सदस्य ने अपनी पत्नी के विरुद्ध तलाक की दरख्वास्त दी है, क्योंकि आगा खां के पुत्र से उसका अनुचित सम्बन्ध था।

२१ जून

—पेशावर में भयंकर अग्निकांड से बहुत भारी क्षति हुई है। आग बुझाने के लिए फौज को बुलाना पड़ा।

—शेखूपुरा के समीप चनाब का बन्द टूट जाने से कई गांव बह गये। तीन आदमी लापता हैं।

—ईरान के राजदूत ने एक विज्ञप्ति द्वारा सब भारत-प्रवासी ईरानियों को अंग्रेजी पोशाक पहनने की सलाह दी है।

—करांची कारपोरेशन ने एक मत से राजेन्द्र बाबू को अभिनन्दन पत्र देने का निश्चय किया है।

—शोलकी (गोंडल) बस्ती में बिजली गिरने से १४ आदमी मर और चार घायल हो गये।

सप्ताह की हलचल

केन्द्रीय सहायता कमेटी

राष्ट्रपति कराची में

वायसराय भी क्वेटा जायेंगे

कलकत्ता सहायता नहीं देगा

राष्ट्रपति बा० राजेन्द्रप्रसादजी ने निम्न लिखित सदस्यों की क्वेटा के भूकम्प पीड़ितों की सहायता करने के लिये सेन्ट्रल रिलीफ कमिटी नियुक्त कर दी है—

सेठ जमनालाल बजाज सरदार बल्लभभाई पटेल प० मदनमोहन मालवीय सर प्रफुल्लचन्द्रराय श्री० भूलाभाई देसाई सेठ घनश्यामदास बिड़ला, श्री० मथुरादास विसन, जी डा० खानसाहब, श्रीमती पेरिन कप्तन, मि० जमशेदमहता शेख अब्दुलमजीद दीवान बहादुर मुरलीधर, डाक्टर गोपीचन्द लाला दुनीचन्द (अम्बाला) सरदार शार्दूलसिंह कवीश्वर मौ० अब्दुलकादिर कस्तूरी लाला दुनीचन्द [लाहोर] लाला घसीटूराम (डेरागाजीखां), श्री० जयरामदास दौलतराम तथा डा० चोथराम। डा० चोथराम उक्त कमेटी में सेक्रेटरी के रूप में कार्य करेंगे।

राष्ट्रपति बा० राजेन्द्रप्रसाद ने सिंध के कमिश्नर से भी लगभग ४५ मिनट तक बातचीत की। ज्ञात हुआ है कि उन्होंने यह बात बहुत ज़ोर देकर कही कि गैर सरकारी संस्थाओं को यदि क्वेटा में प्रवेश करने दिया जाता तो अनेक व्यक्तियों के जीवन की रक्षा हो जाती और कुछ सम्पत्ति भी बचा ली जाती।

वायसराय क्वेटा जायेंगे

भूकम्प से हुई क्षति को अपनी आंखों से देखने के लिये वायसराय बलूचिस्तान जाने वाले हैं। कहते हैं कि आप स्थानीय अधिकारियों से क्वेटा के भविष्य के बारे में विचार विनिमय करेंगे। आप के आते ही मि० स्टग स्पेशल भूकम्प कमिश्नर भूकम्प-पीड़ित इलाके को पमायश शुरू कर देंगे।

कलकत्ता सहायता न देगा

गत १९ मई को यूरोपियन ग्रुप के नेता मि० हालमस ने कलकत्ता कारपोरेशन की बैठक में क्वेटा के भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिये खोले गये वाइसराय फंड में कारपोरेशन की ओर से १५,०००) दिये जाने का प्रस्ताव उपस्थित किया। थोड़ी देर तक वादविवाद होने के पश्चात डिपुटी मेयर ने उक्त प्रस्ताव को अनियमित ठहरा दिया। डिपुटी मेयर ही उक्त बैठक के अध्यक्ष थे।

७५ मील भूमि फटी

'स्टेट्समैन' का विशेष सम्वाद दाता लिखता है कि ३१ मई को क्वेटा में जो भूकम्प हुआ, उसमे मस्तुंग और कलात के बीच में ७५ मील तक पृथ्वी में दरारें फट गई है। यह दरार शुरू में ७ फीट से लगाकर २० तक चौड़ी है और आखिर में २३ इंच चौड़ी हैं।

लोगों का कथन है कि भूकम्प से पहले चिल्तन की पहाड़ियों में से एक विचित्र रोशनी उठी, जिससे एक दम चारों ओर प्रकाश हो गया। यह रोशनी दरार के साथ साथ बढ़ती हुई दृष्टिगोचर होती थी।

भूकम्प से कलात के पास एक प्याला नुमा कुआँ बन गया है।

सिविल प्रबन्ध

बलोचिस्तान के एजेन्ट सर नारमन केटर शिमला से क्वेटा लौट आये हैं। आशा है वह इस सप्ताह के अन्त तक फौज से अब्ज़ा ले बलोचिस्तान का प्रबन्ध सम्भाल लेंगे। शिमला से एक आर्डिनेन्स जारी करके उन्हें वहां काम करने के लिये विशेषाधिकार दिये जायेंगे ताकि सिविल अधिकारी लूट मार रोक सकें और सफाई करा सकें आवश्यकता पड़ने पर कूड़ा के बालकों को अलग करा सकें, तथा अनमोल अंकिरा को क्वेटा से बाहर निकाल सकें।

जर्मनी की नौसेना

ब्रिटेन से संधि

लण्डन से १९ जून को वैदेशिक मन्त्री सर सेम्युअल होर ने एक विज्ञप्ति द्वारा यह घोषणा करदी कि ब्रिटिश गवर्नमेंट ने जर्मन सरकार के उस मसविदे को स्वीकार कर लिया है, जिसमें उसने अपनी नौसेना ब्रिटिश साम्राज्य की नौसेना का ३५ प्रतिशत रखने की प्रार्थना की थी। ब्रिटिश गवर्नमेंट उक्त मसविदे को भविष्य में नौसेना सबधी शक्ति को सीमित करने के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण समझती है। उसको यह भी पक्का विश्वास है कि समझौता हो चुका है और यह समझौता दोनों राष्ट्रों के लिये निश्चित रूप से स्थाई होगा। आशा है कि संसार के समस्त राष्ट्रों की नौसेना को सीमित करने के लिये भी यह मसविदा अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। ब्रिटिश गवर्नमेंट जर्मनी की सरकार द्वारा सुझाये गये उन तरीकों से भी सहमत हो गई है जिनके अनुसार जर्मनी में नौसेना को ३५ और १०० के अनुपात में सीमित किया जावेगा।

पनडुब्बियों के वज़न को जर्मनी ब्रिटेन के मुकाबले में ४५ प्रतिशत तक बढ़ा सकेगा।

कानफरेन्स की आयोजना

फ्रांस को ब्रिटिश गवर्नमेंट ने अपने विशेषज्ञों को लण्डन में भेजने के लिये पहले ही लिख दिया है जिससे आगामी नौसेना कान्फरेन्स पहले ही से पूरी तैयार की जा सके। इसी प्रकार से इटली तथा रूस को भी अपने २ विशेषज्ञों को उक्त तैयारी के लिये लण्डन भेजने को लिखा गया है।

मि० एडिन पैरिस जायेंगे

मि० एन्थोनी एडिन २० जून को पैरिस जायेंगे और वह वहां जा कर फ्रांस की गवर्नमेंट के दिमाग से एंग्लो-जर्मन सन्धि से उत्पन्न हुये विचारों को हटाने का भरसक प्रयत्न करेंगे।

फ्रांस की महत्वकांक्षा

उक्त समझौते के सम्बन्ध में फ्रांस गवर्नमेंट ने जो पत्र ब्रिटिश गवर्नमेंट को लिखा है उससे यह स्पष्टरूप से सिद्ध होता है कि फ्रांस की सरकार अपनी नौसेना को और भी अधिक बढ़ाना चाहती है।

जर्मन गवर्नमेंट अपना कार्यक्रम पेश करेगी

आगामी कुछ ही दिनों में ब्रिटेन तथा जर्मनी के प्रतिनिधियों में इस बात का भी निबटारा हो जायगा कि भविष्य में नौसेना सम्बन्धी सामग्री दोनों देशों में कितनी मात्रा तक तयार की जा सकेगी।

श्रीमती कमला नेहरू

आपरेशन सफलतापूर्वक होगया

बर्लिन से खबर मिली है कि १८ जून को श्रीमती कमला नेहरू का आपरेशन सफलतापूर्वक समाप्त होगया। डा० अटल ने बर्लिन से माता स्वरूपरानी नेहरू के पास भुवाली के पते निम्न तार भेजा है—

'कमला नेहरू का आपरेशन अच्छी तरह हो गया।'

यह खबर तार द्वारा प० जवाहरलाल नेहरू के पास जेल में भी भेज दी गई है।

पुलिस की सरगर्मियां

क्या नया केस चलेगा?

दैनिक 'अर्जुन' के गाजियाबाद स्थित सम्वाददाता को मालूम हुआ है कि पुलिस एक नया षड्यन्त्र केस चलाना चाहती है। मेरठ के लाल पर्चा केस तथा अजमेर गोली कांड को भी उसी में मिलाया जायगा। मथुरा, खुरजा, खेकड़ा, गाजियाबाद, मेरठ आदि स्थानों पर बहुत सी तलाशियां हुई। बहुत से गिरफ्तार भी किये गये हैं।

अजमेर में एक अभियुक्त ने पुलिस को लम्बा बयान दिया है, ऐसा भी मालूम हुआ है। पुलिस बहुत सतर्क हो गई है। खयाल किया जाता है कि और भी गिरफ्तारियां होंगी। कई जमानत पर रिहा भी हो गये है।

इण्डिया बिल का द्वितीय वाचन

लार्ड सभा में इण्डिया बिल का द्वितीय वाचन बहुमत से पास हो गया। इसका विरोध भी खूब हुआ। एक्सीटर के बिशप लार्ड विलियम गेस्की ने मिसाल से कहा कि आज कल सब राष्ट्रों में प्रजातन्त्र फेल हो रहा है। इस लिये उसे भारत में भी प्रचलित नहीं करना चाहिये।

चीन जापान का संघर्ष

सरकार स्तीफा देगी

चीन और जापान की स्थिति अभी तक पहले जैसी ही भीषण है। दो चार जगह गोलियां चलने की भी खबरें मिली हैं। चीन सरकार ने ६ प्रधान शक्तियों से बीच में पड़ने की प्रार्थना की है लेकिन किसी ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। जापान की कुछ शर्तें तो स्वीकार हो भी गई हैं, लेकिन सब शर्तों को स्वीकार करना कठिन है। नानकिंग सरकार के अधिकांश सदस्यों की राय तो यह है कि सरकार स्तीफा देदे, लेकिन शर्तों पर हस्ताक्षर न किया जाय।

सोमवार ता० २४ जून १९३५ ई०

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्

संसार में शक्ति का दौरदौरा

शक्तिहीन होना ही पाप है

(ले०—श्री० इन्द्र विद्यावाचस्पति)

जापान चीन पर हावी होता जा रहा है। उत्तरीय चीन पर तो उसका अबाधित राज्य सा स्थापित हो रहा है। संसार जानता है कि चीन प्रान्तों पर अधिकार करने का जापान को कोई अधिकार नहीं है। चीन भी इस बात को समझता है। परन्तु वह क्या करे नानकिंग की सरकार के सिर पर जब जापान का अल्टीमेटम फेंका जाता है तो सिवा सिर झुकाने के उसके पास कोई उपाय शेष नहीं रहता। वह सिर झुकाकर जापान की आज्ञा को मान लेता है और अपने शरीर के प्यारे अङ्गों को बलात्कारों द्वारा कटते देखकर चुप रह जाता है। इसके कारण क्या हैं?

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के समझने वाले जानते हैं कि इसके मुख्य कारण दो हैं। एक तो चीन की निर्बलता, और दूसरा अन्य देशों की बलात्कार के रोकने में अशक्ति। चीन की अशक्ति उसकी राजनीतिक परिस्थिति का परिणाम है। आज भी चीन पर एक ही शासन का पूरा अधिकार स्थापित नहीं हो सका। चीन दलों में बटा हुआ है। वह अपने सैनिक शरीर का पूरा स्वामी नहीं। चीन का जो भाग बोल्शेविक असर में है, उसका झुकाव रूस की ओर है। जो भाग बोल्शेविक प्रभाव में नहीं, वह बोल्शेविज़्म से और इसी कारण रूस से इतना डरता है कि वह जापान को भी गनीमत समझता है। चीन के एक भाग की सरकार दूसरे भाग की सरकार पर झपटने के लिये सदा तैयार रहती है। यह घर की फूट है, जिसने चीन को सर्वथा अपाहज बना रक्खा है। जापान की सामुद्रिक, स्थलीय और हवाई युद्ध शक्ति बहुत उन्नत हो गई है। चीन उसका सामना नहीं कर सकता। घर की फूट उसे शत्रु का सुलभ शिकार बना रही है। वह जापान का सामना नहीं कर सकता।

उधर जापान की महत्वाकांक्षा का अन्त नहीं है। वह एक छोटा सा देश है। उसकी जनसंख्या प्रतिदिन बढ़ रही है। वह कहां रहे और अपनी रोजी कहां तलाश करे? व्यापार की वृद्धि के लिये भी जापान ऐसे स्थान टटोलता है जहां उसे दूसरी जाति की प्रतिस्पर्धा का भय न हो। जापान के आसपास के द्वीप गोरों के प्रभुत्व में आ चुके हैं, एक ओर अमरीका ने अपने पांव फंसा रखे हैं, तो दूसरी ओर इंग्लैंड का साम्राज्य फैला हुआ है। जापान अपने को चारों ओर से फौलादी दीवारों से घिरा हुआ पाता है केवल एक ही दिशा उसे ऐसी दिखाई देती है जिधर उसका पांव बढ़ सके। वह दिशा चीन की है। जापान शक्तिसम्पन्न है और चीन शक्तिहीन है। जापान चीन में अपना प्रभुत्व चाहता है। वह चाहता है कि चीन में उसका हाथ ऊंचा रहे। व्यापार चले तो जापान का, यदि पूंजी लगे तो जापान की। यदि चीन को इंजिनियरों या अर्थविशेषज्ञों की आवश्यकता हो तो वह जापान से ही आने चाहियें। यदि चीन की सरकार को रुपया कर्ज लेने की जरूरत हो तो जापान से ही लेना चाहिये। जापान इस प्रकार से चीन पर अपना अबाधित प्रभुत्व चाहता है। चीन की अशक्ति उसकी सहायता कर रही है। चीन का उत्तरीय भाग जापान के वश में आ रहा है

यदि कोई दूसरा समय होता तो जापान इस स्वच्छन्दता से और बेफिक्री से मनमानी न कर सकता, क्योंकि तीन शक्तियां उसका हाथ पकड़तीं। अमरीका इंगलैंड और रूस—यह तीन शक्तियां ऐसी हैं, जो चीन पर जापान के प्रभुत्व को पसन्द नहीं कर सकतीं। इससे उन देशों के राजनीतिक हित और गौरव को बड़ी ठेस पहुंचती है। अमरीका ने चीन से बड़ा लाभ उठाया है। लगभग एक शताब्दी तक चीन का शासन अमरीका के धन और जन पर ही चलता रहता है। जापान उस असर को दूर कर रहा है। वह अमरीका के गले में हाथ देकर बाहिर निकाल रहा है। अमरीका का हित और गौरव चाहता है कि वह जापान के आक्रमण को रोके, पर अमरीका ने अपने लिये एक नीति बना रखी है जिसे मनरो सिद्धांत के नाम से पुकारा जाता है। उस सिद्धांत का अभिप्राय यह है कि अमरीका न अपने इलाके में किसी अन्य देश का दखल चाहता है और न दूसरों के मामले में स्वयं हस्तक्षेप करना चाहता है। अमरीका संसार में रहता हुआ भी संसार से अलग रहना चाहता है, क्योंकि उसे साम्राज्य की लालसा नहीं है। उसके पास भूमि और द्रव्य की कमी नहीं है। जापान चीन से अमरीका को निकाल रहा है, तो भी अमरीका चुप है। जापान को मालूम है कि अमरीका लड़ना नहीं चाहता।

दूसरा देश जो जापान की वर्तमान नीति से असन्तुष्ट है, इंग्लैंड है। इंग्लैंड अपने को पूर्व का स्वामी समझता है। भारत के कारण एशिया में उस की स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण है। इस स्थिति की रक्षा के लिये पहले इंग्लैंड व जापान ने बड़ी गहरी सन्धि कर रखी थी वह सन्धि जापान और इंग्लैंड के हितों को एक साथ बांधती थी, उसका कारण भी था। रूस दोनों का शत्रु था। इंग्लैंड भी रूस से डरता था और जापान भी। दोनों मित्र बन गये। इंग्लैंड ने रूस के दलन में जापान की खूब सहायता की। रूस कुचला गया, और अन्त में इंग्लैंड का मित्र बन गया। अब इंग्लैंड को रूस के विरुद्ध जापान की आवश्यकता न रही। दोनों की सन्धि टूट गई। जापान स्वतन्त्र हो गया, और उसने चीन पर प्रभुत्व जमाना आरम्भ कर दिया। अब इंग्लैंड के सामने मार्ग तो स्पष्ट पड़ा हुआ है। उसे जापान का हाथ रोकना चाहिये परन्तु जापान जानता है कि इंग्लैंड लड़ना नहीं चाहता। शायद गत दो सदियों में इंगलैंड की स्थिति इतनी कमजोर कभी नहीं हुई, जितनी आज-कल है। उसने चादर को नाप बिना ही हाथ-पांव फैला लिये थे जो लाचार होकर सुकेड़ने पड़े। जितना फैलाव है, वह भी संभाला नहीं जा रहा है। आयरलैंड स्वतन्त्र हो ही गया। मिसर और भारत क्रान्ति के द्वार पर खड़े हैं उपनिवेश तो मौका ही देख रहे हैं। आज इंगलैंड पर कोई मुसीबत आये तो वह बिलकुल अलग होने को तैयार बैठे हैं। इंगलैंड एक ऐसे सम्मिलित कुटुम्ब का स्वामी है जिस का प्रत्येक सदस्य अलहदा होने की धमकी दे रहा है। ऐसे कुल के बुजुर्ग के लिए दुश्मनों से लड़ना बहुत कठिन है। इंग्लैंड लड़ाई से घबराता है और इस बात को जर्मनी और जापान समझ गये हैं, केवल इंग्लैंड ही क्या — योरप के बहुत से देश युद्ध से घबराये हुए हैं। उनकी इस निर्बलता से लाभ उठा कर जर्मनी और जापान — और इटली — मन मानी कर रहे हैं। १९१४ से पूर्व क्या कोई अनुमान भी लगा सकता था कि जापान चीन को खाता जायगा और इंग्लैंड दूर बैठा हुआ टुकर टुकर मुंह ताका करेगा।

तीसरा देश, जो जापान की बढ़ती से असन्तुष्ट हो सकता है, रूस है। रूस और चीन की सीमा मिलती है। स्वाभाविक है कि यदि चीन की निर्बलता से लाभ उठाया जा सके तो रूस को पीछे न रहना चाहिये, परन्तु दो बातें ऐसी हैं, जो रूस को लड़ने से रोकती हैं, पहली बात तो यह है कि रूस की पूर्वीय सीमा उसके केन्द्र से बहुत दूर है, इस कारण पूर्वीय सीमा पर युद्ध करना उसके लिए अत्यन्त कठिन है। गत रूस जापान युद्ध में यह सिद्ध हो चुका है। अब रूस आसानी से पूर्वीय युद्ध में शामिल नहीं होगा। दूसरी बात यह भी है कि रूस का वर्तमान बोल्शेविक शासन विदेशी युद्ध के विरोध में ही स्थापित हुआ है। जार और उसके पीछे

सम्पादकीय विचार

एक लिपि की आवश्यक्ता

हमने गत सप्ताह अन्त प्रान्तीय साहित्य संघ की उपयोगिता बताते हुए लिखा था कि इससे प्रान्तीयता की क्षुद्र भावना का विनाश होगा। प्रान्तीयता की भावना को नष्ट करने के लिए लिपि के एकीकरण की भी अत्यन्त आवश्यकता है। यदि सब प्रान्तीय भाषाओं की लिपि एक हो जाय तो न केवल सब प्रान्तीय भाषायें एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ जायगी लेकिन विभिन्न प्रान्त निवासी भी एक दूसरे के पास पहुंच जावेंगे, एक दूसरे के साहित्य से, एक दूसरे की मनोवृत्तियों और विचाराधाराओं से परिचित हो जायगे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने गत अधिवेशन में काका कालेलकर के संयोजकत्व में लिपि समिति नियुक्त की है। काका कालेलकर ने विभिन्न प्रान्तीय विद्वानों को निमन्त्रित किया है। हमें आशा करनी चाहिये कि वे अपनी योग्यता से सब प्रान्तों के साहित्यिकों को एक लिपि के सवाल पर सहमत कर लेंगे। लिपि के सुधार पर भी उक्त लिपि समिति विचार करेगी। प्राचीन लिपि विज्ञान के अद्वितीय विद्वान महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और प्रेस टाइप की मशीनरी के आविष्कर्ता हरिजी गोविल आदि को भी निमन्त्रित किया गया है। यदि एक संशोधित लिपि पर सब विभिन्न प्रांतीय विद्वान सहमत हो जावें तो प्रांतीय-भाषाओं की प्रेस सम्बन्धी बहुत सी कठिनतायें भी दूर हो जावेंगी और वे बहुत उन्नत हो सकेंगी। हमें निश्चय है कि यदि इस दशा में गंभीरता, लगन और धैर्य से प्रयत्न किया गया, तो इसमें सफलता अवश्य मिलेगी।

मध्यम श्रेणी के लोगों के हाथों से रूस की प्रजा ने राष्ट्र शक्ति इसीलिये छीन ली कि वह स्वदेश के हित को विदेशी युद्ध पर कुर्बान कर रहे थे। साम्यवादी सरकार लड़ाई में नहीं पड़ना चाहती।

इस प्रकार अमरीका, इंग्लैंड और रूस लड़ाई छेड़ने से घबराते हैं। जापान इस स्थिति को समझता है और उससे लाभ उठाना चाहता है। चीन निर्बल होने के कारण जापान के आक्रमणों को रोक नहीं सकता। जापान युद्ध शक्ति के बल पर मनमाना कर रहा है। राष्ट्र संघ एक नपुंसक संस्था है, एक धोखे की टट्टी है। तब बेचारे चीन की रक्षा कौन करे।

निर्बलता राजनीति में सब से बड़ा पाप है। चीन उसी पाप का फल भोग रहा है।

दहेज की प्रथा पर बलि

आशापुरा (जयपुर) से एक मनुष्य के दहेज की वेदी पर बलिदान होने का समाचार मिला है। घटना यह बताई जाती है कि वह बरात का उचित सम्मान न कर सका और पूरा दहेज न दे सका इसपर बरातियों ने उसे खूब बुरा-भला कहा। वह अपने अपमान को सहन न कर सका। उस ने अपनी आत्म हत्या कर ली। दहेज की प्रथा ने हजारों घरों को बरबाद किया है। गरीब हजारों माता पिता अपनी शक्ति से अधिक धन देने के कारण तबाह हो गये हैं। उन्हें अपना घर-बार तक बचने के लिए विवश होना पड़ता है। न जाने कब इस राक्षसी प्रथा का नाश होगा। यह ठीक है कि बहुत से नवयुवक यह नहीं चाहते कि उनके पिता दहेज के लिए उनके विवाह के अवसर पर इतना झगड़ा करें। लेकिन अपने पिता आदि को समझाने के लिए उनमें साहस का अभाव होता है। कन्या के पिता से उस की प्राण प्रिय पुत्री को लेकर ही सन्तोष करने वाले अनेक नवयुवक मिल जाते हैं लेकिन आवश्यक्ता यह है कि वे निर्भय होकर अपने वृद्धजनों को कह दें कि दहेज की चर्चा न करें। बिना साहस के दहेज की राक्षसी प्रथा कभी दूर नहीं हो सकती।

राजेन्द्रबाबू की अपील

यह जान कर क्वेटा के भूकम्प पीड़ितों को अवश्य सन्तोष होगा कि राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबू ने उनकी सहायता के लिये बड़े जोरों से काम करना शुरू कर दिया है। अन्य सब कार्यक्रम छोड़ कर भूकम्पपीड़ितों की सेवा को उन्होंने मुख्य कार्यक्रम बना लिया है और इसके लिये वे सिन्ध और पञ्जाब का दौरा भी कर रहे हैं। यह ठीक है कि यदि उन्हें भूकम्प के एक दम बाद क्वेटा जाने दिया जाता तो वे बहुत सी जानें बचा सकते, सम्पत्ति का बटवारा ठीक समय कर सकते तथा भूकम्प पीड़ितों को हार्दिक आश्वासन दे सकते। लेकिन देश के दुर्भाग्य से सरकार ने उन्हें यह कार्य वहां जा कर नहीं करने दिया। परन्तु इन बाधाओं से वे निराश नहीं हुए। क्वेटा से बाहर गये हुए भूकम्प पीड़ितों की सेवा का संगठन वे अत्यन्त योग्यता से करने लगे हैं। हमने अर्जुन के गतांक में भूकम्प-पीड़ितों का भविष्य समस्या की गम्भीरता पर कुछ प्रकाश डाला था। भूकम्प पीड़ितों की समस्या का अत्यन्त व्यय साध्य है। अर्जुन के प्रत्येक पाठक से हमारा अनुरोध है कि वह यथाशक्ति राष्ट्रपति के कोश में सहायता दे। अर्जुन के पाठकों ने बिहार के भूकम्पपीड़ितों की खास सेवा की थी। अब हमें फिर आशा है कि वे अपने कर्तव्य का पालन करेंगे।

जर्मनी की विजय

जर्मनी और ब्रिटेन में जो सामुद्रिक सेना संधि हुई है उसे पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हर हिटलर को अपने प्रयत्न और आन्दोलन में सफलता हो रही है। उसने बड़ी दृढ़ता के साथ जर्मनी की मांगों को रखा। उसने सारे संसार को यह जता दिया कि जर्मनी समानाधिकार लेकर छोड़ेगा, वह हीन स्थिति में रह नहीं सकता। सब राष्ट्रों ने पहले तो इसे गीदड़ भभकी समझा, लेकिन वह अपनी मांगों पर डटा रहा। राष्ट्रसंघ में उसकी बात नहीं सुनी गयीं, उसने राष्ट्रसंघ को धता बता दिया। अब सब राष्ट्रों की आंखें खुलीं। फ्रांस जर्मनी की मांगों का विरोध करता रहा। फ्रांस के कूट सन्धि चक्र बड़े जोरों से चलने लगे। जर्मनी को घेरने वाले अनेक राष्ट्रों से फ्रांस ने सन्धि कर ली। एक बार ऐसा मालूम होने लगा कि राजनैतिक युद्ध में जर्मनी हार रहा है, लेकिन ब्रिटेन के साथ की गई इस सन्धि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जर्मनी राजनैतिक युद्ध में भी अन्य राष्ट्रों का मुकाबला कर सकता है। वर्सेलीज सधि के अनुसार जर्मनी जल सेना नहीं रख सकता था, लेकिन इस सन्धि द्वारा वह अपने तटवर्ती समुद्र में बहुत शक्तिशाली नौसेना रख सकेगा। ब्रिटेन की सेना सारे साम्राज्य में फैली हुई है, जर्मनी की सम्पूर्ण सेना वहीं रहेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि उस समुद्र पर जर्मनी का प्रभाव बहुत हो जायगा। फ्रांस यद्यपि इस सन्धि को पसन्द नहीं करता, तथापि अभी तक उसे इस सन्धि का तीव्र विरोध करने का भी साहस नहीं हुआ है। स्थलसेना व वायुसेना तो जर्मनी कायम कर ही चुका है। जल सेना कायम करना कहीं अपने पुराने औपनिवेशिक साम्राज्य को पुनः प्राप्त करने की भूमिका तो नहीं है?

रूजवेल्ट का नया बिल

संयुक्तराष्ट्र अमरिका के राष्ट्रपति मि० रूजवेल्ट का नया टैक्स बिल वर्तमान समय की गति का अच्छा परिचायक है। इसके अनुसार धनिकों की व्यक्तिगत बड़ी भारी आर्थिक आय व उत्तराधिकार में मिलने वाली आमदनी पर १६ फी सदी तक टैक्स लगाया जायगा। साम्यवाद का सिद्धान्त है कि किसी आदमी को विरासत में जायदाद नहीं मिलनी चाहिये उस पर तो राष्ट्र का अधिकार है। मि० रूजवेल्ट का बिल उसी दिशा में पहला कदम है। भारत में यह कब आयगा?

विश्व-नाटक के पात्र

देशबन्धु चितरंजनदास

कलकत्ते के घाट पर श्रद्धालुओं के उद्योग से देशबन्धु चितरंजनदास की एक विशाल मूर्ति स्थापित की गई है। उस मूर्ति का सिर आकाश से बातें कर रहा है। उसका कलेवर साधारण से बहुत बड़ा है। उसको शान निराली बतलाई जाती है।

वह मूर्ति एक उपलक्षमात्र है। देशबन्धुदास ने भारत की राजनीति में, जो ऊंचा और शानदार स्थान प्राप्त कर लिया है, मूर्ति की ऊंचाई और शान उसकी एक स्थूल निशानी है। कुछ समय के लिये, योग्यता और भाग्य के सहारे से देश के राजनैतिक जीवन में नाम पा जाना, या ऊंचे स्थान पर जा बैठना बहुत आसान है, परन्तु जाति के भूतल पर पांव के स्थायी निशान छोड़ जाना राष्ट्र के उद्धार का एक नया मार्ग बतला जाना, इतिहास के पृष्ठों पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा जाना इतना आसान नहीं है। देशबन्धुदास उन व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने केवल अपने समय के लिये देश के सार्वजनिक जीवन में एक विशेष स्थान को नहीं भरा था, अपितु सदा के लिये देश की सन्तानों के हृदयों में अपना स्थान बना लिया है, क्योंकि वह तो मनुष्य की देह में एक जीता जागता आदर्श था, चमकीली देशभक्ति का एक पाठ थो, और मुर्दा दिलों का प्रोत्साहन था।

ऐसे विचारकों की कमी नहीं है जो देश को बहुत सुन्दर स्कीमें बना कर दे सकते हैं। उनमें योग्यता भी होती है और कल्पना भी। उनको योग्यता की धाक देश पर बैठ जाती है। अन्य लोग उनसे विचार लेते हैं और उसे कार्य में परिणत करते हैं एक दूसरी तरह के व्यक्ति भी बहुत मिल जायेंगे, जो दिये हुये विचारों और बनी हुई स्कीमों के अनुसार कार्य करने में चतुर होते हैं। वह कार्यकुशल व्यक्ति सेना के अच्छे उपनायक हो सकते हैं। परन्तु ऐसे विरले होते हैं, जिनमें दोनों विशेषतायें हों। जो स्कीम बना भी सके, और कार्य परिणत भी कर सकें। आदर्श की रचना भी करें, और उसकी ओर बढ़ने का रास्ता भी तलाश करे। ऐसे व्यक्ति महापुरुष कहलाते हैं क्योंकि उनमें विचार और क्रिया का उत्तम मिश्रण रहता है।

देशबन्धुदास ऐसे महापुरुषों का एक उत्तम नमूना थे। उनमें कल्पना भी थी, और क्रिया भी। वह कवि भी थे, और कारीगर भी। उन्होंने भारत की राजनीति में देश का एक नया आदर्श स्थापित किया, और उस तक पहुंचने का एक मार्ग भी आविष्कृत किया।

राजनीति में देशबन्धुदास के स्थान का निर्णय करने से पूर्व हमें यह देख लेना चाहिये कि उनके कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने के समय देश में कौनसी प्रवृत्तियें काम कर रही थीं। दो प्रवृत्तियें तो प्राचीन थीं। कुछ लोग अपने आप को लिबरल कहते थे। उनकी नीति 'नर्म नीति' कहलाती थी। वह भीख नीति के मानने वाले थे। दूसरी नीति का नाम गर्म नीति था। उसके समर्थक स्वराज्य की लड़ाई को स्वावलम्बन के

स्वर्गीय देशबन्धु चितरञनदास

सिद्धान्त के अनुसार चलाना चाहते थे। जिस समय देशबन्धु ने एक मुख्य कार्यकर्त्ता के रूप में राजनीति में प्रवेश किया, उस समय कांग्रेस में से नर्मदल लगभग निकल चुका था, और राष्ट्रीय संग्राम की बागडोर गर्म दल के हाथ में, जिसके नेता लोकमान्य तिलक थे, आ चुकी थी। देशबन्धुदास लोकमान्य तिलक के एक प्रतिष्ठित अनुयायी के रूप में राजनीतिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए।

उनके राजनीति में आने के पश्चात एक और प्रवृत्ति पैदा हुई। महात्मा गांधी ने राजनीति में सत्याग्रह नामक शक्ति का नवीन आविष्कार किया। वह शस्त्र देश भर के सामने रौलट ऐक्ट के विरुद्ध आन्दोलन के रूप में उपस्थित किया गया। यह एक तीसरी प्रवृत्ति थी, जो शीघ्र ही भारत के राष्ट्रीय वातावरण पर छा गई। देशबन्धुदास ने आरम्भ में इस प्रवृत्ति का थोड़ा सा विरोध किया क्योंकि उनका दिमाग उस प्रवृत्ति की असम्भवता को समझ रहा था, परन्तु मार्ग इतना आदर्शवाद से भरा हुआ था, उसके पेश करने वाले का व्यक्तित्व इतना महान् था कि देशबन्धुदास तथा उसी प्रवृत्ति के अन्य भारतवासी देर तक उस प्रवृत्ति का सामना न कर सके। उनकी देशभक्ति इतनी प्रबल थी कि केवल सम्भव असम्भव के मतभेद के कारण उन्हें महात्मा जी का विरोध करना उचित प्रतीत नहीं हुआ।

देशबन्धुदास महात्मा जी के सत्याग्रह में पूरे जोर शोर से कूद गये। कलकत्ते के सर्वोत्कृष्ट कानूनदां

देशबन्धु स्मृति मन्दिर

गत १६ जून को इसका उद्घाटन किया गया था।

को जो पुष्कल आमदनी हो सकती है, उसे लात मारी। फूलों की सेज पर पले हुए शरीर को तपस्या की भट्टी में झोंक दिया। अपनी सम्पूर्ण शक्ति देश की सेवा में अर्पण कर दी। थोड़े ही समय में नवयुवक चितरंजनदास केवल कलकत्ते का ही नहीं, बंगाल का सर्वमान्य नेता और बताज बादशाह बन गया। उस समय देशबन्धुदास महात्मा गांधी के सब से बड़े लैफ्टिनन्ट समझे जाते थे।

यहां तक तो देशबन्धुदास का नेतृत्व महात्मा गांधी के नेतृत्व का एक अंग था, परन्तु १९२२ के पश्चात जब सत्याग्रह तथा असहयोग का दौरा देश में हलका हुआ तब एक ऐसी मुर्दनी सी छा गई कि उसके तोड़ने का कोई उपाय नहीं दिखाई देता था। उबाल उतर चुका था। देश में निराशा का अंधेरा छाया हुआ दिखाई देता था। उस समय देशबन्धुदास के दिमाग ने काम किया और उस अंधेरे में प्रकाश की रेखा पैदा की। उसने लड़ाई का एक ऐसा मार्ग निकाला, जो सत्याग्रह के प्रतिकूल होते हुये भी समय के अनुकूल था। उस मार्ग का नाम हम 'चौमुखी लड़ाई' रखते हैं।

वह मार्ग उस समय नया दिखाई देता था, परन्तु वस्तुत: वह बिलकुल नया नहीं था। वह उस नीति का ही दूसरा रूप था, जिसके समर्थक लोकमान्य तिलक थे। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी—यह दोनों महापुरुष एक ही मन्दिर के पुजारी होते हुए भी दो मार्गों के अनुयायी थे। म० गांधी का मार्ग अधिक आदर्शवादी था, लोकमान्य तिलक का मार्ग अधिक क्रियात्मक। लोकमान्य मनुष्यों को मनुष्य समझ कर चलते थे, महात्मा गांधी उन्हें देवता बना कर आगे कदम रखना चाहते थे। महात्मा गांधी का मार्ग आदर्शप्रेमी भारतवासियों को बहुत प्यारा लगता था, परन्तु भारत से बाहिर का संसार वैसी सीधी चाल से नहीं चलता। लोकमान्य तिलक की नीति मनुष्य के गुण और अवगुण दोनों को लेकर चलती थी, पर महात्मा गांधी की नीति मनुष्य के उत्कृष्ट अंश के आधार पर ही बनाई गई थी। लोकमान्य तिलक लक्ष्य—स्वराज्य को साधनों से स्थान देते थे, महात्मा गांधी साधन सत्याग्रह को लक्ष्य—स्वराज्य—से ऊंचा स्थान देते हैं, देशबन्धुदास इन दोनों में लोकमान्य तिलक की नीति के प्रवर्तक थे। देशबन्धुदास ने, जिस नीति का आविर्भाव किया वह लोकमान्य तिलक की नीति का समयानुसार बदला हुआ रूप था।

देशबन्धु की यह विशेषता थी कि उनकी कल्पना जिस कविता को बनाती थी, उनकी कार्य शक्ति उसे कर डालती थी। वह सपना भी ले सकते थे और सपने को जीवित रूप में ला सकते थे। देशबन्धु ने जिस समय चौमुखी लड़ाई का झण्डा ऊंचा किया, और नक्कारे पर चोट देकर देश के नौजवानों को ललकारा—तब एक बार तो देश भर में बिजली सी दौड़ गई। बंगाल में तो मानो आग की लपटें निकलने लगीं। भावुक बंगाल भी उससे पूर्व कभी भावुकता की वैसी जबरदस्त लहर में कभी नहीं बहा था। उस लहर में देशबन्धु ने अपना सर्वस्व बहा दिया और उनके साथ ही हजारों देशभक्तों ने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। उस समय देश के

(शेष पृष्ठ २७ पर)

वेदना !

[१]

अरी निष्ठुरते, तेरी राह—
दुखी हृदय की आत्म कहानी,
कसक, आह, आँखों का पानी,
इठलाती मद-भरी जवानी,
लुटा रहा यह पागल—
जीवन की कुछ संचित चाह !
अरी निष्ठुरते, तेरी राह !!

(२)

अरी निष्ठुरते, तेरी राह—
अब तक देखा बहुत तमाशा,
घटा न मन की प्रेमपिपासा,
पल पल बढ़ती रही निराशा,
डूब रहा सौंदर्य सिन्धु में—
थक कर मिली न थाह !
अरी निष्ठुरते, तेरी राह !!

[३]

अरी निष्ठुरते तेरी राह—
मलयानिल मस्ती में डाले,
छल क कुछ सुस्मृति में छाले,
बढ़ी वेदना कौन सम्भाले,
उमड़ रहा है अन्तस्तल में—
बेढब आह प्रवाह !
अरी निष्ठुरते, तेरी आह !!

—कुंजविहार पण्डित 'कण्टक'

मोती

(समस्या)

भई सो भई अब चेत करो,
पतलून उतार कसो भाई धोती;
व्यर्थ की वृत्त-कथा तजि के,
गहो हाथ वैदिक शिक्षा की पोथी।

स्वदेशी हो तन पर, स्वतन्त्रता हो मन पर,
जगादो स्वदेशी की जगमग ज्योति।
खेती कला व्यवसाय करो,
सब बन करके चमकेंगे मोती ही मोती।

—जगन्नाथ उपाध्याय

प्रकृति-प्रेम *

(१)

मेरा हृदय उछलता है हाँ,—
तभी मस्त हो हर्ष विभोर;
नील व्योम में इन्द्र धनुष हो
(मिले क्षितिज के दोनोंछोर)।

(२)

बाल्य काल में मेरे था—
यह इसी रूप में ऐसा ही।
और आज मैं युवा हुआ अब,
इन्द्र धनुष है वैसा ही।

(३)

यह ऐसा हो रहे मनोहर—
वयोवृद्ध जब हो जाऊं।
और नहीं तो आँखें मूंदूं—
इस मिट्टी में मिल जाऊं।

(४)

मानव का है जनक बाल ही
स्रष्टा है सब बातों का।
(अभी संस्मरण है ताजा ही—
गत दिवसों का, रातों का)।

[५]

मेरी अन्तिम आकांक्षा है,
अभिलाषा है यही हिये।
प्रकृति पुजारी बना रहूं मैं
रहूं हृदय में प्रेम लिये।

[६]

मेरे भावी के सारे दिन—
और प्रकृति मेरी प्यारी।
प्रेम रज्जु में बंधे परस्पर—
रहें (रहे जग सुखकारी)।

—द्विजेन्द्रनाथ मिश्र

राष्ट्र-भाषा

प्रबल, प्रतापी, परिपूरन, पियूष-पगी,
दीन हिन्द-वासियों की भव्य अभिलाषा है।
सरला, सुभाव भरी नागरी गुणागरीय,
राष्ट्रीय जीवन की प्राण-प्रद स्वासा है।
कलित-कलेवर कमनीय 'करुणेश' रची,
कटिये कलेश बची एक यही आशा है।
ओज भरी, चोज भरी, खोज भरी भारत की
ललित लिलाट-बिन्दी हिन्दी राष्ट्र-भाषा है।

'करुणेश' दिल्ली

* कविवर वर्ड्सवर्थ की The Rain bow का रूपांतर

पं० बेचरदास दोशी

अहमदाबाद में न आने की आज्ञा को उल्लंघन करने के अपराध में आप गिरफ्तार कर लिये गये हैं।

श्रीमती अमृतकौर

आपने पंजाब के अनेक नेताओं व संस्थाओं के अनुरोध से अपना उपवास स्थगित करने की घोषणा की है।

श्रीगो० कृ० देवधर

आपकी अध्यक्षता में सर्वेंट्स आफ इण्डिया सोसाइटी का ३० वाँ वार्षिकोत्सव मनाया गया।

मि० रूजवेल्ट

आपने न्यू रिकवरी एडमिनिस्ट्रेशन को कायम रखने के लिये बनाये गये नये बिल को स्वीकार कर लिया है।

मैक्स बेयर

आप विश्वविजयी मुक्केबाज थे लेकिन ब्रिटेन के एक डाक मजदूर ने इनको गत सप्ताह आपको हरा दिया।

डा० सत्यपाल

आप अभी जेल में बन्द हैं, लेकिन पंजाब कांग्रेस कमेटी ने आपको ही अध्यक्ष चुना है।

गुलाबचन्द

आप की रहस्यपूर्ण हत्या के सम्बन्ध में दिल्ली सेशन्स जज के यहाँ बहुत सनसनीखेज मुकद्दमा चल रहा है।

पटियाला नरेश

आपने घोषणा की है कि आप नये बनने वाली संघ सरकार में अवश्य सम्मिलित होंगे।
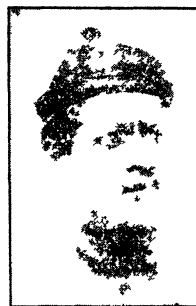
रामप्रताप

रामप्रताप की रहस्यपूर्ण हत्या के सम्बन्ध में भी दिल्ली सेशन्स जज के यहाँ बहुत सनसनीखेज मुकद्दमा चल रहा है।

अशिक्षा और दरिद्रता

ब्रिटिश शासन की देन

एक फ्रांसीसी पर्यटक के विचार

——:**:——

पिछले दिनों पीरो लोगारडी नामक एक फ्रांसीसी पत्रकार ने भारत की यात्रा करके यहाँ की राजनैतिक परिस्थिति पर अपने देश के पत्रों में लेख लिखे, उनके एक लेख के कुछ अंश यहाँ दिये जाते हैं, जो कई पत्रों में उद्धृत हो चुके हैं।

दो दृश्य

दिल्ली का स्टेशन है। प्लेटफार्म पर लाल दरियाँ बिछी हुई हैं, एक सुन्दर सफेद गाड़ी प्रतीक्षा में खड़ी है, सेना के सिपाही हथियारबन्द खड़े हैं, भारत के कमान्डर-इन चीफ हिज एक्सीलेन्सी दी फील्ड मार्शल दिल्ली से बाहर जा रहे हैं। करीब एक दर्जन दर्शक आपके देखने के लिये वहाँ उपस्थित हैं।

दूसरे दिन उसी समय, उसी स्टेशन के उसी प्लेटफार्म पर, जहाँ न अब दरी बिछी है और न सिपाहियों का पहरा है, जनता की अपार भीड़ हो रही है। मामूली पुलिस उसका प्रबन्ध नहीं कर सकती, करीब सौ स्वयंसेवक प्रबन्ध कर रहे हैं और जनता उनके अनुशासन में चलती है। थोड़ी देर बाद गाड़ी स्टेशन पर आ पहुंची, लाखों की संख्या में उपस्थित जनता के जय-घोष से प्लेटफार्म गूंज उठा। एक दुबला पतला, श्यामवर्ण आदमी, दोनों हाथ जोड़े हुये गाड़ी में से उतरा, लोगों ने उसे हार पहिनाये, वह जनता के अभिवादन के लिये सिर झुकाता हुआ, जनता के एक जुलूस द्वारा ले जाया गया। वह व्यक्ति कांग्रेस का प्रधान राजेन्द्र बाबू है। इंगलैंड में वे राष्ट्रीय कांग्रेस को 'एक मुट्ठी भर लोगों का आन्दोलन' या एक 'छोटा अल्पमत' कहते हैं।' पर एक मुट्ठी भर दृढ़ विश्वासी लोग ही दूसरी जाति का संचालन करते हैं जैसे एक मस्तिष्क सारे शरीर का संचालन करता है।

भारत की गरीबी

पत्रकार ने आगे लिखा है:—मैं पं० जवाहरलाल नेहरू से मिलना चाहता था, पर मालूम हुआ, वे जेल के सींखचों में बन्द हैं, इस लिये मैं एक दूसरे प्रभावशाली कांग्रेस नेता से मिला, उन्होंने मुझ से कहा—"सचाई यह है कि हम एक मुद्दत से इंगलैंड की कामधेनु बने हुये हैं और उसके बदले में उसने हमें दो चीजें दी हैं—निर्धनता और अशिक्षा। हमारी निर्धनता का दृश्य तुम गांवों में जाकर देख सकते हो। क्या यह सरकार के ऊपर लाञ्छन नहीं है कि ऐसी धनी और उर्वरा भूमि के किसान गरीब हैं। मेरे पास इसके लिये कोई जवाब नहीं था, क्योंकि अपने भ्रमण में मैं उस गरीबी का दृश्य देख चुका था।

अशिक्षा

के सम्बन्ध में सरकार द्वारा प्रकाशित एक मोटी किताब उठाकर उसमें दिये गये आंकड़ों से मुझे बतलाया गया—पैंतीस करोड़ भारतीयों में केवल दो करोड़ ऐसे मिलेंगे, जिन की पढ़े-लिखे व्यक्तियों में गिनती कर ली जाय। सवा दो करोड़ से कम व्यक्ति लिख पढ़ सकते हैं यानी पांच साल के लड़कों को छोड़कर प्रति हजार पीछे करीब आठ। पचीस लाख आदमी अंग्रेजी जानते हैं यानी प्रति दस हजार पीछे एक सौ साठ पुरुष और अठारह स्त्रियां। इस अशिक्षा का कारण क्या है? निर्धनता—सात आठ वर्ष के लड़के स्कूल में पढ़ने नहीं जा सकते हैं, क्योंकि उनके स्कूल जाने का मतलब है घर वालों को एक मुट्ठी अन्न कम मिलना, ऐसे देश में जहाँ रोज के अकालों की मार से गरीब लोग पिस जा रहे हों। वहाँ शिक्षा का प्रचार कैसे हो?

फिर भी भारत में शिक्षा का प्रबन्ध कुछ तो है। हिन्दू यूनिवर्सिटी एक सुन्दर विश्वविद्यालय है। इस का विज्ञान-विभाग, इसके बड़े-बड़े हाल, मशीनरी से भरी हुई इस की गेलरियां, इस के लेक्चर-रूम और सम्पूर्ण संसार से चुने हुए अधिकारी देख कर मेरा हृदय प्रसन्न हो गया। रियासतों में भी अनेक अच्छे स्कूल चल रहे हैं।

कपूर्थला में, जहाँ मैं भारतीय नरेशों में सब से अधिक सुशिक्षित और शौकीन राजा का मेहमान था, मैंने ऐसा एक स्कूल देखा। स्कूल में विज्ञान, साहित्य, हिन्दी, पंजाबी उर्दू, अंग्रेजी और फ्रेंच पढ़ाये जाते थे। मैंने विद्यार्थियों को विक्टर ह्यूगो व जोन पकार्ड की पुस्तकों से अनुवाद करते देखा। जब मैंने स्कूल-अध्यापक को विद्यार्थियों की जानकारी और शुद्ध उच्चारण के लिए बधाई दी तो वह बहुत खुश हो कर मुझे कहने लगे कि—इन विद्यार्थियों ने फ्रेंच इसी साल से शुरू की है। मैं चाहता हूं कि आप दूसरी कक्षा के मेरे विद्यार्थी देखते, लेकिन आज उन की 'क्लास' नहीं लगी।

मैंने महाराजा से भी बहुत बातें कीं। उन्होंने कहा कि—भारत में आज-कल बड़ी नाजुक हालत है। लेकिन मुझे निश्चय है कि शासन-सुधारों के प्रचलित होने पर बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जावेंगी। भारतीय-राजा अपने देश के हितैषी हैं। वे ब्रिटिश-सरकार से भी बना कर रहने के उत्सुक हैं। वे इंगलैंड-नरेश से प्रेम व मित्रता के सूत्र से बन्धे हुए हैं।

महाराज ने बतलाया कि उन्होंने अपने राज्य में प्रतिनिधि-मण्डल कायम किया है, यानी प्रजा-प्रतिनिधियों को भी अपने राज-काज संचालन के हक दिये हैं। आपने कहा कि सेना के बजट व्यक्तिगत घरेलू खर्च और वैदेशिक सम्बन्ध के अधिकार अपने-अपने हाथ में ही रखे हैं।

मैंने महाराजा को बताया कि मैं उनका स्कूल देख कर बहुत खुश हुआ हूं। उनकी आंखें चमकने लगीं, क्योंकि वे अपने शासन की प्रशंसा सुनकर असीम प्रसन्न होते हैं। उन्होंने कहा—पिछले २० सालों से मैंने कपूरथला में शिक्षा को अनिवार्य कर दिया है। इसका परिणाम यह है कि आज हमारे यहाँ अशिक्षा कम है।

जिस वक्त आप से पूछा गया कि इंग्लैंड-सरकार भारत में अनिवार्य शिक्षा कर देने के लिये क्यों नहीं जोर देती, तो महाराज ने कहा—"इस मामले में मैं अपनी कोई राय देने का साहस नहीं कर सकता।" इस जवाब के साथ मुझे एक हिन्दुस्तानी पत्र के उस कार्टून की याद आ गई, जिस में इंगलैंड की कैंची हिन्दुस्तान की कारीगरी, स्वतन्त्रता और शिक्षा की दीप-ज्योति को कतर रही थी।

दोनों के दृष्टिकोण में अन्तर

लेख में आगे कहा गया है—एक कांग्रेसमैन से पूछा गया तो उन्होंने बतलाया कि सरकार हिन्दुस्तानियों को इस लिए शिक्षित नहीं बनाती कि जैसे ही वे पढ़-लिख कर अपनी गरीबी दूर कर लेंगे तो वे इस अंग्रेजी-राज्य के जुए को अपने कंधे से उतार फेंकेंगे।

सरकारी आदमी का इस सम्बन्ध में यह कहना है—कांग्रेस एक खुराफाती संस्था है, हम उस की अधिकांश मांगों को पूरा करना चाहते हैं। हम उसे स्वराज्य भी देंगे, पर इंगलैंड की हिन्दुस्तान में जो पूंजी लगी हुई है, उस की रक्षा के लिए विशेष अधिकार रक्खेंगे। धनी हिन्दुस्तानी तो अपना माल अंग्रेजी-बैंकों में ही रखते हैं, हिन्दुस्तानियों में नहीं। मैं विश्वास दिलाता हूं कि हिंदुस्तान को जो सुधार मिल रहे हैं, वह कांग्रेस के दबाव के कारण नहीं मिल रहे हैं। सचाई कहां है? सुधार आवश्यक हैं और अंग्रेज भी इस आवश्यकता को महसूस करते हैं और इसी लिये सुधार कर भी रहे हैं। लेकिन, उन की गति बहुत कम है। जनता में संतोष की जगह असंतोष ही बढ़ रहा है और प्रत्येक नई रियायत उनका असंतोष बढ़ाती जाती है।

लेखक ने अपने लेख के अन्त में लिखा है—एक महान् देश की यह गरीबी और दासता ब्रिटिश साम्राज्य के सफेद चोगे पर काला धब्बा है। हिन्दुस्तान को स्वतन्त्रता देने से ही इंगलैंड की इज्जत मिल सकती है।

———

महिला-जगत्

स्त्रियों की पंचवर्षीय योजना

मैसर की स्त्रियों का अशिक्षा के विरुद्ध जिहाद

(ले०—श्री बा० सि० ठाकुर)

———:**:———

मैसूर दक्षिण भारत की एक समुन्नत रियासत है। ब्रिटिश भारत से यह कई बातों में बढ़ी-चढ़ी है। अब यहां स्त्री-शिक्षा की दिशा में एक ऐसा कदम उठाया जा रहा है, जो यदि सफल हो गया तो ऐसी आशा की जाती है कि पांच साल के अन्दर-अन्दर रियासत की आधी (अर्थात ५० प्रतिशत) स्त्रियां शिक्षित हो जायंगी।

मैसूर स्टेट वीमन्स कान्फरेन्स (रियासत के महिला-सम्मेलन) को इस बात का श्रेय है कि उसने रियासत-भर की बालिग् अर्थात् युवा स्त्रियों को शिक्षित करने के लिए एक पंच-वर्षीय योजना तैयार की है। योजना बनाने वालों का ऐसा ख्याल है कि अगर इस योजना में रियासत की सरकार ने पर्याप्त आर्थिक सहायता प्रदान की तो निश्चित किये हुए पांच वर्षों के अन्दर-अन्दर रियासत की ५० प्रतिशत (अर्थात् आधी) स्त्रियां अवश्य शिक्षित हो जायंगी।

योजना क्या है ?

स्टेट वीमन्स कान्फरेन्स के मैसूर-राज्य में, आठ इलाके या जिले हैं। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये उनमें से हरेक जिले में एक ग्रेजुएट (डिग्रीधारी) महिला को नियुक्त किया जायगा, जो वहां की स्थानीय महिला-सभा के अध्यक्ष की सहायता से योजनान्तर्गत सामाजिक एवं शिक्षा-सम्बन्धी कार्य करेगी तथा कान्फरेन्स के आदर्शों का प्रसार करेगी। कार्य-विस्तार के लिए जिलों, ताल्लुकों और गांवों में भी कान्फरेन्स की शाखायें खोली जायंगी और सभी ताल्लुकों और गांवों में सामाजिक एवं शिक्षा-सम्बन्धी काम के केन्द्र स्थापित किये जायंगे। वेतनिक और अवैतनिक दोनों तरह के कार्य-कर्ता रक्खे जायंगे।

सामाजिक कार्यों के लिए नियमित रूप से ऐसे स्वास्थ्य-गृह खोले जायंगे, जिनमें सैनिक विषयों की शिक्षा दी जायगी तथा जिनमा द्वारा सन्तति, बच्चा-सम्बन्धी एवं स्वास्थ्य-विषयक ज्ञान कराया जायगा। गरीबों और जरूरतमन्दों को दवाई मुफ्त बांटी जायगी और प्रति सप्ताह निश्चित किये हुए दिनों में निश्चित समय पर गांवों में आकर स्वास्थ्य-सफाई-सम्बन्धी वार्तालाप किया जायगा तथा ऐसी विज्ञप्तियां बांटी जायंगी, जिन में बताया जायगा कि ग्रामों के पुनरुत्थान के लिए क्या-क्या किया जाना चाहिये और उसमें स्त्रियां क्या भाग ले सकती हैं। नैतिक और धार्मिक शिक्षा दी जायगी, पुराण पढ़े जायंगे और हरि-कथा होंगी, लिखने-पढ़ने और हिसाब रखने की शिक्षा दी जायगी। जेल व अस्पतालों में स्त्रियों को लेजाकर वहां की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराया जायगा, साथ ही प्रसव के वक्त प्रसूति-गृहों में जाने के लिए स्त्रियों को प्रेरित किया जायगा। दिमागी इलाजों के अस्पतालों (पागलखाने आदि) में जाकर वहां दिये जाने वाले भोजन एवं इलाज पर सूक्ष्म दृष्टि रखनी होगी। हर महीने संगीत-समारोह होंगे, आवश्यक विषयों पर व्याख्यान दिये जायंगे और बालिग् स्त्रियां कसीदे आदि का जो काम करेंगी, उसकी बिक्री की व्यवस्था की जायगी। घरेलू और मर्दाने खेलों तमाशों की व्यवस्था होगी। साथ ही दूध की भी व्यवस्था की जायगी।

शिक्षा की दिशा में साप्ताहिक क्लासों की व्यवस्था की जायगी, जिन में उनके आस-पास रोज-मर्रा होने वाली घटनाओं की ओर स्त्रियों की दिलचस्पी पैदा की जायगी, जिन स्त्रियों ने बचपन में स्कूली-शिक्षा नहीं पाई, उन्हें भारत के इतिहास और संसार के भूगोल की शिक्षा दी जायगी। समाचार-पत्र पढ़ कर सुनाये जायंगे। पुराणों और इतिहास की कथायें सुनाई जायंगी। हरि-कथा की ओर स्त्रियों की अधिक रुचि होती है, इस लिए वे इस कार्य की ओर उत्साह के साथ बढ़ेंगी। धार्मिक और नैतिक ज्ञान-शिक्षा के साथ नागरिक-जीवन के कर्तव्यों का भी ज्ञान कराया जायगा। चलते-फिरते पुस्तकालयों को उत्साहित करके मातृ-भाषा के सचित्र समाचार-पत्रों को जारी किया जायगा। ये कुछ खास तरीके हैं, जो उनके ज्ञान को अच्छी तरह खोलेंगे। आधुनिक समस्याओं पर विज्ञप्तियां बांटी जायंगी। बहस व मुबाहिसे में भाग लेने के लिए उत्साहित किया जायगा।

तात्पर्य यह है कि इस छोटे-से प्रोग्राम में सब आवश्यक बातें आ गई हैं। इससे अर्थोपार्जन के लिए बुद्धि बढ़ेगी और अन्धकार दूर हो कर जागृति पैदा होगी। स्त्रियों को अपनी जिम्मेदारी का ज्ञान होगा। इस समय डिप्टी कमिश्नरों की स्त्रियां स्थानीय सभाओं में मन्त्रिणियों की हैसियत से सोसायटी का कार्य कर रही हैं। इससे अधिक और कोई उपाय नहीं है, जिसके द्वारा कान्फरेन्स के कार्य को गांवों और ताल्लुकों में एक दम फैला दिया जाय और स्त्रियों को एक साथ अपना लिया जाय, पर सोसायटी को एक बड़ी भारी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है कि जब डिप्टी कमिश्नरों की बदली हो जाती है तो उनकी स्त्रियों को भी स्थान छोड़ देना पड़ता है। इस अवस्था में कार्य वहीं अधूरा रह जाता है। अतः काम स्थायी रूप से जारी रखने के लिये गांवों और ताल्लुकों में एक "क्वालिफाइड लेडी" की आवश्यकता का महसूस किया जाना स्वाभाविक ही है।

मैसूरी स्त्रियों के इस प्रयत्न से भारत की अन्य स्त्रियों को भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उन्हें भी अपनी प्रगति के लिए इसी प्रकार कोई समिति व कार्यक्रम बनाकर काम करना चाहिये। ऐसा हो तो वे उसी प्रकार निश्चित अवधि में अग्रगामी हो सकती हैं, जैसे रूस में पंचवर्षीय आयोजन के फलस्वरूप रूसी प्रजा हुई है।

———

आप चूड़ियां किस से पहनती हैं— स्त्रियों से या पुरुषों से ?

पुरुषों से चूड़ियां पहनने के खिलाफ़ चेतावनी

[ले०—श्री किशोरीदास वाजपेयी]

—(::)—(::)—

हमारे देश की सौभाग्यवती महिलायें मंगल प्रतीक समझकर अपने हाथों में चूड़ियां सदा पहनती हैं। जब वियोग दशा में सब आभूषण दूर हो जाते हैं और शरीर की कृशता हद दर्जे को पहुंच जाती है, तब भी चूड़ियां हाथों में पड़ी हुई सौभाग्य सूचित करती रहती हैं। इसी लिये एक कवि ने काग उड़ा कर प्रिय-आगमन का शकुन लेती हुई नायिका की दशा दर्शाते हुए लिखा है—

'उड़ि काग-गरं परीं चारिक चूरी।'

खैर, हम कविता नहीं कर रहे हैं, एक काम की बात कह रहे हैं।

यों भारतीय स्त्री चूड़ी को बहुत महत्व देती है। पहिले मनिहारिनें घर घर जाकर चूड़ियां पहना आती थीं। परन्तु अब उनकी जगह आदमी चूड़ी पहिनाने घूमने लगे हैं, जिनमें से अनेक मनचले गुण्डे होते हैं। औरतें इन्हें घर के भीतर बैठा कर चूड़ी पहनती हैं, जब कि घर के पुरुष भी प्रायः वहां उपस्थित नहीं होते। ऐसे अवसर का लाभ उठा कर ये स्त्रियों से इधर-उधर की चर्चा छेड़ते हैं, और फिर हंसी मजाक तक की नौबत आ पहुंचती है। बड़ी-बड़ी पर्दे वालियां तक, जो अपने घर वालों के सामने या तो निकलती ही नहीं, और यदि निकलती हैं तो लम्बा घूंघट काढ़कर, एक-दो बार के बाद उनसे ऐसी हिल-मिल जाती हैं कि संकोच को प्रायः तिलांजलि ही दे बैठती हैं। चूड़ी चढ़ाते वक्त इधर-उधर से हाथ दाबना और स्त्री के कष्ट व्यक्त करने पर रहस्य-पूर्ण आवाजकशी करना तो मनिहारों (चूड़ी पहनाने वालों) के लिये एक साधारण बात हो गई है, जो है तो बड़ी आपत्ति-पूर्ण, पर रहती है प्रायः उपेक्षित ही। कभी-कभी तो इन लोगों के द्वारा स्त्रियों के बहका-बहका कर पथ भ्रष्ट करने एवं भगा-भगा लेने तक की खबरें सुनाई पड़ती हैं। फिर भी हम चेत नहीं रहे—यह कितने दुख की बात है।

हम लोगों को उचित है कि घरों में स्त्रियों को अच्छी तरह समझा दें और कड़ी हिदायत करदें कि किसी आदमी के हाथ में अपना हाथ देकर चूड़ी कभी मत पहनो। चूड़ी वालों से कह दिया जाय कि खबरदार तुम घर के भीतर पांव न रखना। चूड़ी बेचने वाली स्त्री से ही चूड़ियां पहननी चाहियें।

———

स्त्री-श्रमजीवियों की समस्या

मजदूर स्त्रियां

संसार में मशीनों के प्रचलन से जहां बहुत से लाभ हुए, वहां उससे हानि भी कम नहीं हुई। इसका सबसे भयंकर परिणाम यह हुआ कि इसने गृह-उद्योग धन्धों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। पूंजीपतियों के कारखाने खुल गये और उनमें मजदूर लोग एक बड़ी तादाद में कारखानेदारों के गुलाम बनकर काम करने लगे। जब मालिकों के अत्याचार बढ़ने लगे तो मानव-प्रकृति के अनुसार समाज को भी अपना संगठन और प्रचार करने की बात सूझी। सरमायेदारों ने पहिले तो उन मांगों का विरोध किया पर समय की प्रगति को वे अपनी माली ताकत से रोक न सके। यहां तक कि पूंजीपतियों की हिमायती और उनके ही बल पर चलने वाली सरकारों को भी मजदूरों की सुविधा के लिये कानून बनाने पड़े, मिलों में

काम करने वाली स्त्रियों

और बच्चों के लिये भी बहुत फैक्टरी कानून बने। सब से पहिले सन् १८९१ में एक कानून बना, जिस के अनुसार स्त्रियों का रात के समय काम करना बन्द किया गया। इसके बाद सन् १९ १ में दूसरा कानून बना जिस के अनुसार स्त्रियों को दिन-रात के चौबीस घंटों में से केवल (!) ग्यारह घंटे काम के लिये नियत किये गये। इसके अलावा उन्हें काम करने के समय बीच में डेढ़ घण्टा आराम करने के लिये दिया गया। सन् १९२२ के नये कानून द्वारा स्त्रियों के काम का समय प्रातःकाल साढ़े पांच बजे से लेकर सायंकाल के सात बजे के बीच में स्थिर किया गया। औरतों से एक ही दिन में दो कारखानों में काम कराये जाने से मिल-मालिकों को रोका गया और मैनेजरों को आज्ञा दी गई कि वे औरतों और बच्चों को कानून द्वारा प्रतिपादित काम के घंटों को बता दिया करें। लेकिन उक्त

कानून की धारायें

कपास ओटने और रूई कातने के कारखानों में लागू नहीं होती हैं। सन् १९२२ के कानून में कुछ और भी धारायें हैं, जिनमें खतर की जगह में स्त्रियों और बच्चों से काम लिया जाना गैर कानूनी है। खानों में रोजाना काम करने वाले मजदूरों के लिये कुछ कानून भिन्न हैं। सन् १९२८ के खानों सम्बन्धी कानून के अनुसार औरतों के काम के घंटे सन् १९३० की पहली अप्रैल से १२ घंटे मुकर्रर किये गये। औरत मजदूरों की रक्षा के लिये ये कानून काफी नहीं हैं। इंग्लैंड, अमेरिका, जर्मनी, फ्रांस और इटली के औरत-मजदूर रक्षा-कानून इन कानूनों से अधिक उदारतापूर्ण हैं।

हिन्दुस्तान के फैक्टरी कानून

औरतों के लिये रात में साढ़े दस घंटे आराम के लिये रखने हैं और प्रातःकाल साढ़े पांच बजे से सायंकाल के सात बजे तक काम का समय निर्धारित करते हैं। लेकिन उन में ऐसी कोई धारा नहीं जिस से ऋतु बदलने के साथ उनके काम करने का समय भी बदल दिया जाय और साधारण कारखानों तथा जहरीली चीजें तैयार करने वाले विशेष कारखानों में कुछ भेद स्थापित हो सके। काम का समय इस प्रकार से निश्चित किया जाना चाहिये कि मजदूरों के लिये काम भार रूप न हो जाय। हिन्दुस्तान गर्म देश है। गर्मी के दिनों में मजदूर लगातार काम नहीं कर सकते इसलिये उनको गर्मी के मौसम में दिन का काम कुछ कम कर देना चाहिये और रात का काम बढ़ा देना चाहिये। गर्मी के दिनों में सुबह साढ़े पांच से साढ़े ग्यारह तक और शाम को साढ़े तीन से साढ़े आठ तक काम लेना चाहिये। इस प्रकार काम कानून के अनुसार भी होगा और औरतें उसको सुविधापूर्वक भी कर सकेंगी। जाड़े के मौसम में समय के परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं है।

जहरीली वस्तुयें बनाने वाले कारखानों में काम के समय का विभाग उचित रीति से और हर एक बात का ध्यान रखकर किया जाना चाहिये। कपड़े बनाने वाले कारखानों में गर्मी के मौसम में आराम करने का समय शाम के आठ बजे से सुबह के छः बजे तक और जाड़ों में सात बजे रात से सुबह सात बजे तक रहना चाहिये। Multile shift system को तोड़ देना चाहिये। फैक्टरी इन्सपेक्टर शिकायत करते हैं कि मिल-मालिक, मजदूरों का शोषण इस प्रकार से करते हैं कि इन्सपेक्टरों की आंखों में भी धूल झोंक देते हैं।

—(सैनिक)

उपनिवेश व्यवस्थापिका मंडल का विकास

(ले०—श्री रमेश वर्मा)

उपनिवेश पार्लियामेंट में भी ब्रिटिश पारलियामेंट की तरह दो भाग होते हैं। लोअर हाउस (छोटी सभा) और अपर हाउस [बड़ी सभा]। अभी तक बड़ी सभा का वहां अच्छी तरह विकास नहीं हुआ है। कनडा के प्रान्तों में तो क्वीवक प्रान्त को छोड़ कर अन्य किसी प्रांत में दूसरी चेम्बर नहीं है। जहां संघात्मक शासन प्रणाली है, उन देशों में तथा दक्षिण अफ्रीका यूनियन और आयरलैंड में बड़ी सभा को 'सिनट' कहते हैं। कनडा में लोअर हाउस को ब्रिटिश हाउस आव कामन्स की तरह हाउस आव कामन्स का ही नाम दिया गया है। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में उसे 'हाउस आव रिप्रेजेन्टिव' [प्रतिनिधि सभा]। आयरलैंड मे डेल अयरन Dail-) earem) या म्बर आव डेपुटीज तथा अ'म्बली भी कहते हैं। प्रान्तीय सभाओं के सही नाम विशेषतः सत्र पार्लियामेंट से उन्हें पृथक करने की दृष्टि से लिये जाते हैं। साधारण व्यवस्थाओं में उनके लिये पार्लियामेंट शब्द का ही प्रयोग होता है।

छोटी सभाओं का निर्माण प्रजातन्त्रीय ढंग पर हुआ है। साधारणतः सभी पुरुष और स्त्रियों को आवश्यक शर्तों के साथ मताधिकार गया है। प्रत्येक मतदाता को पार्लियामेंट के मेम्बर चुने जाने का अधिकार है। क्वीवक प्रान्त (कनडा) और यूनियन अफ्रीका में स्त्रियों को वोट और मेम्बरी के अधिकार मिलने के सबंध में खूब आन्दोलन हुआ है। कनडा की प्रान्तीय सभाओं में स्त्रियां मंत्री पद प्राप्त कर चुकी हैं। वहां केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में भी स्त्रियां मम्बर हैं। किन्तु आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड इस प्रगति में पिछड़े हुये हैं।

मताधिकार

मत पर्चियों द्वारा लिए जाते हैं, आस्ट्रेलिया के कई राज्य तथा कनडा के कई प्रान्तों में विशेष वोट का भी नियम है, जिस को न्यू साउथ वेल्स और न्यूजीलैंड ने तोड़ दिया है। तसमानिया, आयर्लैंड तथा कनडा के कुछ प्रान्तों में आनुपातिक ढंग के प्रतिनिधित्व की प्रथा भी प्रचलित है, कहीं-कहीं ऐसा भी नियम है कि अनुपस्थित व्यक्ति का भी वोट लिया जा सकता है तथा वह डाक द्वारा अपना वोट दे सकता है। कामनवेल्थ और उसकी रियासतों में प्रत्येक वोटर को अनिवार्य रूप से अपना वोट देना पड़ता है। यदि बिना किसी विशेष कारण के वोटर अपना मत नहीं देता तो उसे इस के लिए सजा मिलती है। मेम्बरी के लिए खड़े हुए उम्मीदवारों में से यदि वह किसी को पसन्द नहीं करता तो उसकी यह दलील जायज नहीं मानी जाती। वैसे सभी उपनिवेशों में प्रायः प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष को मत देने का अधिकार है, पर 'दक्षिण अफ्रीका' यूनियन में देशी बाशिन्दे अथवा एशिया वालों को पारलियामेंट के मेम्बर होने का अधिकार नहीं था तथा निर्वाचन का अधिकार भी वहां के गोरे लोगों को ही था। केप आव गुड होप में सन १८५३ के कानून के अनुसार यह प्रथा उठ गई है। जनरल हर्टजोग के निर्णय के अनुसार वहां गोरे लोगों को ही देशी लोगों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है। यह भेदनीति दक्षिण अफ्रीका में अभी तक बनी हुई है। ऐसे ही न्यूजीलैंड में वहां के मूल निवासी माओरी कौम के अधिकार बहुत सकुचित रखे गये हैं। वहां की छोटी सभा में मोरी जाति के चार मेम्बर होते हैं। आस्ट्रेलिया और कनडा मे भी एशिया वालों के लिए चुनाव सम्बन्धी अड़चनें हैं। पर कामनवेल्थ में भारतीयों को वोटसम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं। उत्तरी अमेरिका और आस्ट्रेलिया के अर्मस्कृत लोगों को निर्वाचन के अधिकार प्राप्त नहीं हैं।

दोनों सभाओं का परस्पर सम्बन्ध

दोनों सभाओं में परस्पर कैसा सम्बन्ध रहे यह बात किसी भी देश में अब तक निश्चित नहीं हो पाई है। कनडा की सीनट (बड़ी सभा) कभी भंग नहीं हो सकती। हां, सरकार विशेष परिस्थिति में अपने पक्ष के लिए आठ मेम्बर तक नामजद कर सकती है। सन १९१२ ई० में जिस समय सर रुदर्फ़ोर्ड लोरियर कनडा के गवर्नर जनरल थे, उस समय कनेडा पार्लियामेंट में मि० बार्डेन ने साम्राज्य की सामुद्रिक रक्षा की सहायता के लिए ३५,०००,००० डालर की मांग पेश की तो सीनेट ने इसे अस्वीकार कर दिया। इस से कनडा सीनेट की लोकसत्तात्मक शक्ति का परिचय मिलता है, क्योंकि उसके मेम्बर आजन्म चुने जाने के कारण उन पर गवर्नर जनरल का अंकुश नहीं रहता। साथ ही सन १९२५ और १९२६ ई० के बीच में आर्थिक बिल के सम्बन्ध में में कनडा सीनट का छोटी सभा के साथ खूब झगड़ा रहा और छोटी सभा को उसने तरह दे दी। नोवास्काटिया के गवर्नर को अपने मंत्रिमण्डल की सलाह से इच्छानुसार मेम्बर घटाने बढ़ाने का अधिकार है, जिससे वह अपनी नीति के अनुसार शासन कार्य चला सके, पर सन् १९२६ ई० में वहां दोनों सभाओं के बीच ऐसी उलझन खड़ी होगयी कि गवर्नर और उसका मन्त्रि-मण्डल शासन कार्य चलाने में असमर्थ होगया और वहां की व्यवस्थापिका सभा को भंग होना पड़ा। क्वीवक प्रांत की बड़ी सभा भंग नहीं हो सकती पर वह वहां की जनसभा (असेम्बली) के साथ कभी रार मोल नहीं लेती। न्यूफाउंडलैंड की सभा में मेम्बरों की वृद्धि सम्राट् की इच्छा पर निर्भर है, वहां का प्रधान शासक जब चाहे तब अपने पक्ष के मेम्बर नियुक्त करके अपनी नीति से काम ले सकता है। अब वहां भी यह बात नहीं है और दोनों सभाओं का ठीक ठीक सम्बन्ध निश्चित हो गया है। आस्ट्रेलिया कामनवेल्थ और उसके राज्यों में बड़ी सभा अधिक लोकसत्तात्मक है क्योंकि वहां बड़ी सभा का चुनाव भी जनता द्वारा ही होता है, पर मन्त्रिमण्डल बनाने और सालाना बजट पास करने के सारे अधिकार वहां की छोटी सभा को ही हैं। दूसरे साधारण कानून तथा कुछ अंशों में बड़ी सभा की आवाज भी सुनी जाती है। पर न्यूसाउथवेल्स में सन् १९२८ ई० में छोटी सभा के विरोध करने पर भी बड़ी सभा ने 'मनी बिल' पास कर दिया। न्यूजीलैंड में भी दोनों सभाओं की अधिकार मर्यादा के सम्बन्ध में कई बार उखाड़ पछाड़ हो चुके हैं और अन्त में कोई ख्यालगी की नीति ही स्वीकार हुई, जिसके अनुसार बड़ी सभा को छोटी सभा के कार्यों को दुहराने मात्र का अधिकार दिया गया। यूनियन सरकार (अफ्रीका) में जनरल स्मट्स के जमाने में वहां की सीनट को भी इतना ही अधिकार रहा, यद्यपि इस से पूर्व जनरल हर्टजोग के जमाने में उसकी शक्ति बहुत बढ़ी चढ़ी थी। कामनवेल्थ (आस्ट्रेलिया) में दोनों सभाओं मे मतभेद हो तो दोनों की सम्मिलित बैठक में उसका निर्णय हो सकता है, जिसमें छोटी सभा का ही दखल विशेष रूप से रहता है। आयर्लैण्ड में तो बड़ी सभा को आर्थिक मामलों में जरा भी चूं चपड़ करने का अधिकार नहीं है और दूसरे मामलों में भी उसका नाममात्र का दखल है, इस प्रकार वहां बड़ी सभा की अनावश्यकता भी प्रगट की जा चुकी है। वहां की जन सभा (Dail) की ही शक्ति प्रधान है। सीनट का तो लोगों ने महज अपना रक्खा है। आस्ट्रेलिया कामनवेल्थ तथा उसके राज्यों में बड़ी सभायें, प्रजातन्त्र की ओर बढ़े जाने वाले छोटी सभाओं के दुरुपयोग को रोकने के लिये हैं। क्वीन्सलैंड जहां बड़ी सभा नहीं है, वहां इस तरह की घटनाएं हो चुकी हैं, जिसमें छोटी सभा ने लगाम छोड़कर प्रजातन्त्रीय भावों की ओर कदम बढ़ाया। वास्तव में तो आजकल बड़ी सभाओं का केवल यही काम रह गया है कि वे द्रुतवेग में आड़ लगावें और उसे साधारण प्रवाह के साथ चलने दें। पारलियामेंट की कार्रवाही बन्द हो जाने तथा सभाओं की शक्ति को मर्यादित रखने के बहुत से नियम हैं, पर वे पूरे अमल में नहीं आते।

सम्राट प्रतिनिधि और उपनिवेश सरकार का सम्बन्ध

उपनिवेशों में सम्राट प्रतिनिधि या गवर्नर जनरल को विशेष अधिकार होते हैं अर्थात् वह समयानुसार उपनिवेश पारलियामेंट के कानूनों को रद्द कर सकता है और देश में अपनी व्यवस्था के अनुसार शासन-कार्य चला सकता है। पर असल में वह अपने मन्त्रि-मण्डल की सलाह से ही विशेष अधिकारों का प्रयोग करता है। उत्तरदायी शासनाधिकार-प्राप्त सभी उपनिवेशों में यही प्रयोग काम में लाया जा रहा है। साम्राज्य सरकार में यह नियम है कि जब एक मन्त्रि मण्डल पर अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाता है, तब वह लोकमत की परीक्षा के लिये सम्राट से पुनः निर्वाचन के लिये प्रार्थना

करता है। तब पारलियामेंट का नया चुनाव होता है। किन्तु उपनिवेश-सरकार में एक मन्त्रि-मण्डल पर अविश्वास पैदा हो जाने पर गवर्नर उसी व्यवस्थापिका सभा के अन्य मेंबरों के सहयोग से दूसरा मन्त्रि-मण्डल बना सकता है। विशेषकर आस्ट्रेलिया में पहिले यही प्रयोग काम में लाया गया क्योंकि वहां की पारलियामेंट का कार्यकाल बहुत छोटा होने के कारण प्रारम्भ में बार बार मन्त्रि-मण्डल टूटने से अधिक आर्थिक क्षति तथा शासन सम्बन्धी अड़चनें उठानी पड़ीं। पर सर आर मनरो फर्ग्युसन (सन १९१४—२१) ने इस नये प्रयोग को छोड़कर ब्रिटिश पद्धति को ही प्रचलित रक्खा। कनडा में सन १९२६ ई० में जब मि० मैकेंजी किंग का मन्त्रि मण्डल शासन कार्य चलाने में असफल रहा तो उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड बाइंग ने मि० किंग की नये चुनाव की प्रार्थना को अस्वीकार करके वर्तमान व्यवस्थापिका सभा में से ही दूसरा मन्त्रि मण्डल बना लिया। फल यह हुआ कि मि० मैगन का यह नया मन्त्रि-मण्डल विरुद्ध पार्टी का चैलेंज सहन न कर सका और शासन-कार्य चलाने में असमर्थ रहा। इसलिये फिर नया चुनाव हुआ और उसमें मि० किंग के दल की ही विजय रही। इस तरह लार्ड बाइंग की नीति असफल साबित हुई।

इसी के फल स्वरूप सन १९२६ की साम्राज्य परिषद् में मि० किंग ने प्रस्ताव किया कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर सभी जातियों के समान पदों को दृष्टि में रखते हुए उपनिवेश के गवर्नर जनरल का वही पद होता है जो ब्रिटिश संयुक्त राज्य में सम्राट् का है। अतः गवर्नर जनरल सम्राट् का प्रतिनिधि है न कि साम्राज्य सरकार का एजेन्ट। उपनिवेश सरकार के कार्यों के साथ उसका वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा सम्राट का इंगलेंड की सरकार के साथ रहता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह मन्त्रि मण्डल के किसी कार्य का अस्वीकार ही नहीं कर सकता है। अपितु एक बार व्यवस्थापिका के भंग होने पर यदि मन्त्रि मण्डल फिर उसके भंग करने का आग्रह करे तो अपना शासन-कार्य चलाने के लिये वह उसे अस्वीकार कर सकता है। किन्तु परिषद् में दलबन्दी के कारण पैदा हुई अड़चनों को दूर करने के लिये उसे मन्त्रि-मण्डल की सलाह ही स्वीकार करनी पड़ती है। सन १९२४ में सम्राट ने मजदूर मन्त्रि मण्डल के प्रधान मि० रामसे मेकडानल्ड की प्रार्थना पर पारलियामेंट को भंग कर दिया और दूसरा मन्त्रि मण्डल बनाने का प्रयत्न नहीं किया।

गवर्नर जनरल की दूसरी स्थिति का अर्थ यह लगाया गया कि वह उपनिवेश सरकार और सम्राट के बीच मध्यस्थ शक्ति है, अतः उपनिवेश-सरकार की कारवाही उसके द्वारा सम्राट-सरकार तक पहुंचनी चाहिये। परन्तु यह कायदा भी आगे स्थिर नहीं रह सका। सन् १९२७ ई० में कनडा, आयरलैंड और यूनियन सरकारों ने यह नियम बना लिया कि उपनिवेश सरकार के कागजात गवर्नर जनरल द्वारा सम्राट सरकार के पास भेजे जाने की आवश्यकता नहीं है। पर उपनिवेश सरकार जो कार्य तथा नीति निर्धारित करे उसकी सूचना गवर्नर जनरल तक पहुंचनी चाहिये पर इस प्रयोग में भी अब शिथिलता आ गई है।

मन्त्रि-मण्डल का चुनाव

मन्त्रि मण्डल के पदाधिकारियों का चुनाव प्रधान मन्त्री की इच्छा पर निर्भर रहता है जो प्रायः अपने ही दल में से चुनता है। आस्ट्रेलिया मजदूर सरकार का मन्त्रि मण्डल तो वहां का मजदूर संघ (इंगलैंड के लेबर यूनियन की तरह की संस्था) ही चुन देता है। इससे प्रगट होता है कि वहां की मजदूर पार्टी का कैसा दृढ़ संगठन है और उसकी सरकार में मजदूर जनता का कैसा हाथ रहता है। आयरलैंड के प्रधानमन्त्री का चुनाव वहां की पारलियामेंट (डेल) ही करती है जो डेल की राय से अपने सहायक मन्त्री चुनता है। यदि मन्त्रि-मण्डल के विरुद्ध डेल का बहुमत हो तो वह टूट जाता है। मन्त्रि मण्डल में प्रधान मन्त्री का व्यक्तित्व ही सब कुछ होता है। उसे अपने कानून और व्यवस्था की पाबन्दी बड़ी मुस्तैदी से करनी होती है अन्यथा इसमें थोड़ी भी शिथिलता आने पर मन्त्रि-मण्डल पर अविश्वास का प्रस्ताव आ सकता है और वह भंग हो जाता है। आवश्यकतानुसार मन्त्रि मण्डल अन्य दलों का भी सहयोग प्राप्त कर सकता है। उपनिवेश मन्त्रि-मण्डल में बाहर के व्यक्ति लिये जाने का भी कायदा है किन्तु ऐसा यदाकदा ही होता है। पिछले कई सालों में कोई उदाहरण ऐसा नहीं उपस्थित हुआ, जिसमें व्यवस्थापिका से बाहर के किसी व्यक्ति को मन्त्रि-मण्डल में लिया गया हो। केबिनट मन्त्री को अपना प्रभाव रखने के लिये यह आवश्यक होता है कि वह दोनों सभाओं में से किसी का भी मेम्बर हो, विशेषकर उस छोटी सभा का मेम्बर होना चाहिये, क्योंकि बड़ी सभा में जनता का अच्छा प्रतिनिधित्व नहीं है। मन्त्रि मण्डल की बैठकों में गवर्नर जनरल किसी विशेष समय और विशेष परिस्थितियों में ही बैठता है। प्रधान-मन्त्री द्वारा उसे सारे कार्यों की सूचना मिलती है। मन्त्रि मण्डल का सारा कार्य प्रधान मन्त्री के निरीक्षण में होता है। दक्षिण अफ्रीका, और आयर्लैण्ड में मन्त्री गण दोनों सभाओं में बोल सकते हैं, पर वोट केवल उसी सभा में दे सकते हैं, जिसके वे मेंबर होते हैं। कामनवेल्थ में मेंबरों को यात्रा सम्बन्धी सभी सुविधाओं के साथ एक हजार पौंड सालाना व्यय के लिये मिलता है। वर्ष भर में पारलियामेंट के अधिवेशनों की संख्या कानून द्वारा निश्चय की गई है। आयर्लैंड में तो इस पद को उठाने का प्रस्ताव हो रहा है।

दल-बन्दी

ब्रिटिश संयुक्त राज्य में उत्तरदायी सरकार का विकास दल-बन्दी के साथ हुआ है। कनाडा में तो यहां तक नौबत आ पहुंची है कि गवर्नर जनरल के हाथ की समस्त शक्ति वहां का व्यवस्थापिका-मण्डल ही अपने अधिकार में रखना चाहता है। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रणाली में एक पार्टी का दूसरी पारटी के साथ भारी विरोध रहता है, जिस में सिद्धान्त के मुकाबिले व्यक्तित्व को ही प्रधानता दी जाती है। परन्तु ब्रिटिश पारलियामेंट में मजदूर दल के संगठन के साथ यह बात अब लुप्त होती जाती है, क्योंकि मजदूर दल अब अपने सिद्धान्तों के बल पर लड़ता है। कनाडा में लिबरल और कंजरवेटिव दो दल हैं। महासभा के बाद वहां किसान पारटी का बड़ा दौर दौरा हुआ, जिस का प्रभाव अब भी पश्चिमी प्रान्तों में है। अन्य प्रान्तों में उक्त दोनों दलों का प्रधानत्व है। क्वीबक में लिबरल दल और अन्य प्रान्तों में कंजरवेटिव-दल का बोलबाला है। न्यू फाउण्डलेंड में किसी दल के स्थान में व्यक्तित्व का गौरव ही प्रधान है। पर जिस समय न्यू फाउण्डलैण्ड को कनाडा के शासन में सम्मिलित करके उसको कनाडा का ही एक प्रान्त बनाने का आयोजन हो रहा था, उस समय वहां के लोकमत ने प्रबल विरोध करके अपने देश के स्वतन्त्रता सिद्धान्त का पालन किया। आस्ट्रेलिया कामनवेल्थ के तीन दलों में सन १९२३ ई० तक मजदूर पारटी का जोर रहा। यूरोपीय युद्धकाल में आस्ट्रेलिया में इसी दल की सरकार कायम थी। इसके बाद वहां किसान हितों के पक्ष वालों का जोर बढ़ा, जिन्होंने व्यापार और शिल्पकला के पक्ष वाले दल का मुकाबिला करके किसान हितों को प्रधानता दी। न्यूजीलैंड में पहिले उदार दल की तूती बोलती रही पर पीछे वहां रिफार्म पारटी के नाम से एक दल बना जिसने जोरों से उदार दल का मुकाबिला किया। सन १९२२ के बाद वहां सर जे० वार्ड ने उदार और अनुदार दोनों दलों को मिला कर अपनी प्रधानता करली। दक्षिणी अफरीका यूनियन में जनरल बोथा और जनरल स्मट्स के प्रधानत्व में दक्षिण अफरीकन पारटी की खूब प्रबलता रही, जिसने डच लोगों की प्रतिनिधि नेशनलिस्ट पार्टी का मुकाबला किया। एक छोटी मजदूर पारटी भी थी, जो सम्पन्न प्रजा के गोरे लोगों तथा खानों में काम करने वाले अंगरेज, डच और यूनियन वालों का प्रतिनिधित्व करती थी। सन् १९२० ई० में जनरल हर्ट जोग के प्रधानत्व में प्रजातन्त्र दल का अभ्युदय हुआ, जिसमें यूनियनिस्ट भी मिल गये। इस प्रकार दक्षिण अफरीका पार्टी बनी जिसने प्रवासी लोगों की भरती का समर्थन किया। सन १९२४ में जनरल स्मट्स का पराभव हुआ और जनरल हर्ट जोग की शक्ति बढ़ गई। १९२९ के चुनाव में फिर हर्ट जोग की विजय हुई। मजदूर पार्टी, जिसने अब तक सरकार का साथ दिया था, बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो गई, यद्यपि स्थानीय संस्थाओं में जनरल स्मट्स का प्रभाव बना रहा। नेटाल के बारे में लोगों ने राष्ट्रीय दल के लिये ही अपना मत दिया। इस प्रकार बहुत दिन तक दक्षिण अफरीका के देशी लोग और यूरोपियनों के अधिकारों में संघर्ष होता रहा। आयरलैंड के शासन विधान में शपथ लेने की प्रथा के विरोध में झगड़ा रहा। डेल (पार्लियामेंट) के एक दल ने तो कौंसिल में भी जब सन १९२७ में प्रवेश किया तो अहिंसा-नीति द्वारा अपने विरोधी दल का मुकाबिला करने के लिये। अब वहां की डेल में मि० कासग्रेव और डी वेलरा की पारटियां ही मुख्य विरोधी हैं, पर डी वेलरा की शक्ति ही प्रधान है, उसने शपथ प्रथा को आयरलैंड के शासन-विधान में से उखाड़ कर फेंक दिया है।

पारटियों का संगठन भी ब्रिटिश पद्धति का ही अनुकरण है। वहीं से बड़ी पारटी को भी बड़ी सावधानी,

(शेष पृष्ठ २७ पर)

सफाई और गांधी जी

प्लेगाक्रांत गांवों में गांधी जी के भाषण

अभी सरदार वल्लभभाई पटेल म० गांधी को बोरसद के प्लेगाक्रांत गांवों में ले गये थे। वहां उन्होंने जो भाषण दिये, उसके कुछ अंश निम्न लिखित हैं—

सफाई

'यह समझ कर कि प्लेगरूपी शत्रु अब हट गया है, आप लोग सो न जाना, बल्कि यथासम्भव प्रयत्न करना कि वह फिर कभी सिर न उठावे।" एक दो सभाओं में उन्होंने कहा 'चूहे और पिस्सू छूत फैलाते हैं, इस लिये डाक्टरों का कहना है कि चूहों और पिस्सुओं को नष्ट कर देना चाहिये पर चूहे और पिस्सू तो ईश्वर के सन्देशवाहक हैं। इनके द्वारा ईश्वर हमें चेतावनी देता है। मैं प्रत्यक्ष अपनी आंखों से देखता हूं कि जिन गांवों में आपको प्रकृति ने अच्छी से अच्छी जलवायु और स्वास्थ्यकर जमीन प्रदान की है वहां आप प्रकृति के नियमों को ऐसा भंग करते हैं कि यह मालूम होने लगता है कि वहां महामारी ने हमेशा के लिये अपना डेरा जमा रखा है। आप चूहों और पिस्सुओं का तो नष्ट कर देंगे, पर यदि अपने अपने घरों और आंगनों को इतना साफ न रखा कि चूहे और पिस्सू पैदा ही न हों तो वे तो वहां बराबर पैदा होंगे ही। उन्हें मारने से होगा ही क्या? मेरे जैसा अहिंसाव्रती मनुष्य तो यही कहेगा कि चूहों और पिस्सुओं को भी जीने का उतना ही अधिकार है जितना कि मुझे है और इस लिये उन्हें नष्ट करने के बजाय मुझे खुद ही नष्ट हो जाना चाहिये। पर मैं इस जन्म में अहिंसा की इस कोटि तक नहीं पहुंच सकता, शायद अनेक जन्मों में भी न पहुंच सकूं, और आप लोग भी शायद न पहुंच सकें, लेकिन आप ऐसी स्थिति तो पैदा कर सकते हैं, जिससे चूहे और पिस्सू कभी घर बना ही न सकें। मैं चाहता हूं कि आप ऐसी स्थिति पैदा करें। मैं चाहता हूं कि स्वयंसेवकों ने सफाई का जो काम किया है, उसे आप स्थायी रूप दें। घरों के फर्श उखाड़ डालें चूहों के बिल खोद डालें और फिर फर्श ऐसे बनायें कि जिसमें चूहे बिल बना ही न सकें।

खुद भंगी बनो

बोरसद में गांधी जी ने लोगों को नागरिक धर्म विस्तार के साथ समझाते हुए कहा, 'यह शर्म की बात है जो यहां प्लेग चार साल रहा। खास बोरसद की सिर्फ तेरह हजार की आबादी है और तालुका की आबादी १४४००० की है। खास बोरसद और बोरसद तालुका में प्लेग को नेस्तनाबूद कर देना कोई ऐसी बात नहीं, जो अशक्य हो। पर सारे गांव के लिये सिर्फ कुछ भंगी रखने से यह काम पूरा होने का नहीं। आप सब लोग खुद भंगी न बनेंगे, खुद सफाई का काम न करेंगे, तो सरदार और उनके स्वयंसेवकों के प्रयत्न करने पर भी यह बात नहीं कि प्लेग यहां न आवे। सच बात तो यह है कि स्वयंसेवकों ने जो काम पूरा किया है उससे आपकी जिम्मेदारी और अधिक बढ़ गई है। आपने सफाई का यह काम चालू न रखा तो सारा परिश्रम व्यर्थ ही जायगा।

स्वराज्य कौन ले सकता है?

पिछले दिनों आप लोगों ने सविनय अवज्ञा के युद्ध में जो वीरता दिखाई थी और जो कष्ट सहन किये थे तथा त्याग किया था उस सब के लिये मैं आप को बधाई देने आया था। लेकिन आज मैं आप से यह कहने आया हूं कि जो लोग सरकार के खिलाफ लड़ सकते हैं, वे नहीं, किन्तु इस प्लेग जैसे विकट संकट से जो मोर्चा ले सकते हैं वही स्वराज्य भोग सकेंगे। मैं आपसे यह कहूंगा कि जब से मैंने 'स्वराज्य' शब्द सीखा तभी से मैं इस किस्म के काम में रस लेता आया हूं। सन १८९३ में ही जब मेरे सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ हुआ मेरी मुख्य रुचि इस प्रकार के रचनात्मक कामों में रही है। सरकार के साथ लड़ने का मौका तो मेरे जीवन में बहुत देर से आया। पर यह कहा जा सकता है कि वह अनेक वर्षों के ठोस रचनात्मक कार्य की पुख्ता नींव पर खड़ी की हुई इमारत है। मैंने म्युनिसिपलिटी के हर कायदा-कानून का यथाशक्ति पालन किया है और जिस सरकार ने मुझे अनेक बार जेल की सजा दी है वह भी मेरी नियम-पालन की योग्यता को जानती है। मैंने पहले पहल दक्षिणी अफरीका में जब भंगी का काम सीखा, तब से मैं यह जोर देकर कहता चला आ रहा हूं कि इस किस्म के काम से ही हम स्वराज्य भोगने योग्य बनेंगे। आप यह तो कहेंगे ही नहीं कि स्वराज्य प्राप्त हो जाने के बाद आप सो जायंगे और इस की परवा नहीं करेंगे। स्वराज्य का अर्थ अराजकता नहीं। आप को स्वराज्य मिलने के बाद भी इन सब प्रश्नों का हल करना ही पड़ेगा। याद रखिये कि जिस मनुष्य ने सविनय अवज्ञा के लिये आवाज उठाई था वही मनुष्य इस प्रकार के आवश्यक काम के लिये आपको आज आमन्त्रण दे रहा है। जब तक आपने अपने शरीर और अपने घर को नीरोगी नहीं बना लिया तब तक आप खादी की उत्पत्ति का तथा ग्राम उद्योगों को पुनरुज्जीवित करने का रचनात्मक कार्य भी नहीं कर सकते, और इसी से यह सफाई का काम तमाम रचनात्मक कार्यों का मूलाधार है।'

शारीरिक शक्ति प्राप्त करो

गांधी जी आठ दिन बोरसद में रहे। इस बीच में उन्होंने डा० भास्कर पटेल से इस आशय के अनेक पर्चे प्रकाशित करवाये कि मकान चूहों से और मनुष्य का शरीर किस प्रकार रोगों से सुरक्षित हो सकता है। एक भाषण में गांधी जी ने कहा कि 'प्लेग पीड़ित चूहे या पिस्सू से प्लेग पीड़ित मनुष्य कहीं ज्यादा खराब हैं। आप तब तक इन संक्रामक रोगों को नष्ट नहीं कर सकते जब तक कि आप अपने शरीर को इस प्रकार का नहीं बना लेते कि उसे रोग की छूत लगे ही नहीं। प्रकृति ने तो हमें रोगों के साथ लड़ने की काफी शक्ति दी है पर हमने उसके नियमों की उपेक्षा करके उस शक्ति को गंवा दिया है। आहार विहार के नियमों का समुचित पालन करके हमें उस गंवाई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करना चाहिये।

सरकार ने भी इस प्रश्न में संक्रामक प्लेग को काबू में लाने के लिये जरूरी कार्रवाई करने का वचन दिया है। पर अगर लोग जाग्रत न हुए और सफाई के काम को उन्होंने स्थायी रूप से चालू न रखा तो प्रयत्न भी निष्फल हो जायगा। लोगों यह काम चालू रखने के लिये समझाना ही गांधी जी का बोरसद आने का एकमात्र हेतु था।

(हरिजन सेवक से)

धारावाही उपन्यास

अपराधी कौन ?

(ले०—श्री देव)

उम्मेद का अतीत जीवन बहुत बड़ा नहीं है। उसकी वृद्ध माता ने ही उसे पाला था। शिक्षा न पाकर गली के कुछ शरारती लड़कों की संगत में शरारतें करना सीख गया था। एक दिन फेरी वाले की नारंगियाँ लूटने के कारण पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया। उसे जेल में भी तीन मास रहना पड़ा। वहीं बेतों का कठोर दंड भी मिला। जब जेल से वह रिहा हुआ, उसकी माँ मर गयी थी। अपने एक दोस्त बशीर के बाप की मदद से वह मिल में भरती होगया, जहाँ अपनी लगन और परिश्रम से वह लाइन जाबर होगया। एक दफा जेल के साथी मानसिंह ने उसे डाके के लिये उकसाया भी, परन्तु वह इस पाप के लिये सहमत न हुआ।

—सम्पादक)

(गतांक से आगे)

मिल के परिश्रमी जीवन के कारण उसके बालपन की स्मृतियाँ दब सी गई थीं। धुंधले से प्रकाश में कभी २ माँ की मूर्ति अस्पष्ट रूप से दिखाई देती थी। स्मृति भटक कर कभी २ जेल और मानसिंह की ओर घूम जाती थी, परन्तु मिल के मजदूर का वर्तमान इतना कोलाहलपूर्ण होता है कि भूत या भविष्य की हल्की आवाज उसमें सुनाई नहीं देती। उम्मेद केवल वर्तमान जीवन व्यतीत कर रहा था। उसका पुराना दोस्त बशीर उसी कारखाने के इंजिन विभाग में काम करता था। वह भी उम्मेद की तरह मिलमय जीवन व्यतीत कर रहा था। दोनों मित्र कारखाने की दिनचर्या की किश्ती पर बैठ कर जीवन नदी के प्रवाह में बहे जा रहे थे।

हड़ताल

(१)

कल इतवार की छुट्टी है, इस कारण आज की रात मजदूरों के लिये प्रमोद और विनाश की रात है। सुबह जल्दी उठकर कारखाने जाने की चिन्ता नहीं, और न दिन भर खड़ा रहना पड़ेगा। इसलिये रात भर जागकर मन बहलाया जा सकता है, यह सोच कर मजदूर लोग अपनी लाइन में स्थान २ पर एकत्र होगये हैं, और जुआ व शराब की सहायता से अपने दुःख और थकाने वाले मजदूर जीवन में से जीवन का रस निचोड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं। सातवें दिन कुछ विश्राम मिलता है। सुनसान मन में कमी करने के लिये हृदय मनोरंजन का दरवाजा तलाश करता है। हाथ में गाढ़े पसीने की कमाई के कुछ पैसे आ गये हैं। परिवार साथ नहीं कि दिल बहलाने का कुछ उपाय हो। यदि कुछ आदमियों का परिवार साथ है भी तो संगदोष बड़ा बलवान है। इच्छा न रहे भी साथियों का साथ देना ही पड़ता है। शनीचर की रात को अधिकांश मजदूर अपनी सप्ताह भर की बचत पी जाते हैं और बहुत से तो कर्ज के नीचे दब जाते हैं। मिलों के मालिक मजदूरों के मनोरंजन और भलाई का दावा भरते हैं। मजदूरों की कमाई का कुछ हिस्सा मजदूर हित के नाम पर इकट्ठा किया जाता है और उसका कुछ भाग सिनमा फुटबाल आदि के खेल तमाशों में खर्च भी किया जाता है, पर वह कारखाने के हजारों मजदूरों के सर्व हिस्से को भी नहीं छूता। कुछ मजदूरों का कुछ समय के लिये मनोरंजन हो जाता है, परन्तु योरोप के मजदूरों को जो विनोद और सुख की सामग्री प्राप्त हो जाती है, भारतीय मजदूर उसका शतांश भी नहीं पाते। फिर विलायत के मजदूर जब गिरे हुए मनोरंजन से नहीं बच सकते, तो भारतीय मजदूर कैसे बच सकेंगे।

हाँ, तो उस रात स्थान स्थान पर जुए के जमाव हो रहे थे। जिस लाइन में उम्मेद की कोठरी थी, वहाँ भी एक चौकड़ी जमी हुई थी। उस चौकड़ी के उस्ताद या गुरुघण्टाल वह हमारे पूर्व परिचित तिवारी जी थे, तिवारी जी कनौजिया ब्राह्मण थे, शुद्धता के अवतार थे और धर्म का अक्षरशः पालन करने वाले थे। जब रसोई बनाने बैठते, तब एक अंगोछा कमर पर लपेट लेते, बाकी सब कपड़े उतार कर खूंटी पर टाँग देते थे। वह अंगोछा रसोई बनाने और खाने के लिये रिजर्व था। जब से खरीदा गया, तब से धोने की नौबत नहीं आई। मैल से चिकट हो गया था, परन्तु था बिलकुल शुद्ध, क्योंकि तिवारी जी उसे केवल भोजन के समय पहिनते थे और उस अंगोछे में केवल तिवारी जी के शरीर की मल थी, और तिवारी जैसे उच्च ब्राह्मण के शरीर का मैल अशुद्ध कैसे हो सकता है। रसोई बनाते बनाते यदि पसीना आ जाता तो उसी के छोर से पोंछ देते। जब खाना बना कर खा चुकते, तब उसे खूंटी पर टाँग देते और दूसरे कपड़े पहिन लेते। इतने समय तक कोई दूसरा आदमी उन्हें छू नहीं सकता था। इन कारणों से वह मजदूरों के धर्मगुरु माने जाते थे। वह प्रायः कहा करते थे कि 'भय्या, हमने सब कुछ कर लिया। जुआ खेला शराब पी, जवानी उम्र में दूसरों की औरतों तक को न छोड़ा, पर अपना धर्म नहीं छोड़ा। आज तक कभी दूसरे का छुआ खाना नहीं खाया और कभी चौके से बाहिर जल ग्रहण नहीं किया'। श्रोता लोग धर्म की इस व्याख्या को सुनकर मुग्ध हो जाते और तिवारी जी को वशिष्ठ मुनि का कलियुगी अवतार मानते थे।

जुए का दौर चल रहा था। चार आदमी खेल रहे थे, बाकी देख रहे थे। थे तो वह दर्शक, पर उन में खिलाड़ियों से भी अधिक जोश पैदा हो रहा था। उस समय बशीर खिलाड़ियों में था और उम्मेद दर्शकों में। तिवारी जी पूरे जोश पर थे। हाथ पर हाथ मार रहे थे। दर्शक लोग अधेड़ तिवारी जी के शरीर की फुर्ती और जोश को देखकर आश्चर्यान्वित हो रहे थे। उनका प्रतिद्वन्द्वी इंजिन खाने का छोटा अफसर हाजी नसार अली था। वह मिल में हाजी जी के नाम से मशहूर था। बड़ी पाकदाढ़ी रखता था। दो बार हज कर आया था। माथे पर काला दाग लग रहा था कि ५ बार की नमाज में कभी कमी नहीं आती। दाढ़ी का सब से लम्बा बाल नाभि को छूता था। तस्बीह जेब में रहती थी। हाजी जी को उनके जानने वाले अपना मजहबी लीडर मानते थे। उधर तिवारी जी, इधर हाजी जी—बड़े जोर की भिड़न्त थी। तिवारी जी का साथी बशीर था, और हाजी जी का साथी रामनारायण।

जुआ फिसाद की जड़ होती है ही। बात ही बात में तिवारी और हाजी में कहा सुनी होने लगी। बशीर तिवारी जी की ओर से बोलने लगा और रामनारायण हाजी जी की ओर से। दर्शकों में भी दो दल हो गये। दो चार ने तिवारी की पीठ ठोकी, तो दो-चार ने हाजी की। गरमागरम बातें होने लगीं और वाक्यरूपी तीर छूटने लगे। शीघ्र ही पारा बहुत ऊंचा चढ़ गया और एक दूसरे को रिश्तेदार औरतों के सम्बन्ध में भयानक धमकियाँ दी जाने लगीं। सभी जोश में थे, बीच-बचाव कौन करे? मामला यहाँ तक बढ़ गया कि आस्तीनें चढ़ने लगीं। मुसलमानों के खून में गरमी अधिक होती है। अन्य सब की अपेक्षा हाजी और बशीर का तकरार अधिक गरम हो गया। हाजी अफसर था और बशीर उनके अधीन कर्मचारी। पर जुए के जोश में दोनों बेहोश थे। झगड़े में दोनों बराबरी पर उतर आये। हाजी ने अपनी आयु और ओहदे के जोश में आकर बशीर के मुंह पर एक तमाचा जमा दिया। बशीर तमतमा उठा। वह अपने आप को भूल गया और उसने भी हाजी साहिब के दाढ़ी सुशोभित मुंह पर एक घूंसा जमा दिया, हाजी साहिब को ऐसे ठोस जवाब की आशा न थी। उन्होंने सोचा था, अफसर का तमाचा है, पच जायगा।

(क्रमशः)

———

स्वास्थ्य-सुधार

योषापस्मार या हिस्टीरिया

(श्रीमती राजकुमारी मिश्रा 'रमा')

आज कल बहुत-से लोग हिस्टीरिया के शिकार पाये जाते हैं। अधिकतर इस व्याधि से पीड़ित स्त्रियाँ ही पाई जाती हैं। प्रायः इस का दौरा युवावस्था के प्रारम्भ काल से ही होता है। फिर भी कभी २ प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था तक देखने में आता है, यद्यपि बारह वर्ष से कम उम्र वाले को यह रोग नहीं होता फिर भी कभी कभी ५-७ वर्ष के बालक या बालिका में भी पाया जाता है। मुख्यतः मानसिक व्याधियों से ग्रस्त रहने वाले परिवारों में यह व्याधि अधिक पाई जाती है। अधिक लाड़ प्यार, ईर्षा क्रोध आदि की अधिकता से ही इस व्याधि की उत्पत्ति होती है। शारीरिक रोग इस व्याधि का कारण बनता ही नहीं, यदि कभी बना भी है तो या तो अधिक बीमारी भोग कर अच्छे होने के बाद या यदि गर्भाशय में कुछ रोग हो, तभी यह बीमारी पैदा होती है। गर्भाशय से सम्बन्ध रखने के कारण ही इस का हिस्टीरिया नाम रखा गया है। इस विषय में मतभेद भी बहुत है लेकिन Ovary और गर्भाशय के रोग दूर करने से ही यह व्याधि जड़मूल से नष्ट हो सकती है।

यह व्याधि आजकल बहुत प्रचलित है, शायद ही कोई इससे अपरिचित हो। इस लिये हम यहाँ पर खास लक्षणों का ही वर्णन करेंगी। अधिकतर मानसिक चिन्ताओं के कारण ही इस की उत्पत्ति होती है। इसका जब वेग शुरू होता है तब ये लक्षण होते हैं। एकाएक हँसना या रोना, गला रुंध जाना, हाथ पैर ऐंठने लगना आदि। कभी कभी हाथ पैर ऐंठने के पहले छाती या पेट में पीड़ा मालूम होती है। धीरे धीरे वेग बढ़ता जाता है और साथ ही साथ गला भी अधिक रुंधता जाता है। श्वास लेने में भी कष्ट होता है। रोगी गिर पड़ता है और हाथ-पैर अधिक ऐंठने लगते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखिये तो मालूम होगा कि रोगी अकस्मात् बेहोश होकर नहीं गिरता। वह बड़ी सावधानी से जहाँ तक होसके, बिछौने पर ही गिरता है फिर भी रोगी बिल्कुल बेहोश सा ही मालूम होता है। शरीर का ऐंठना बड़ा ही असमंजस होता है। हाथ की मुट्ठी बंध जाती है, और मुट्ठी के अन्दर अंगूठा प्रायः दबा हुआ होता है। मुख बन्द होजाता है रोगी दाँत किटकिटाया करता है। कुछ देर में वेग कम हो जाता है। कभी कभी पेट भी फूल जाता है और जब होश आजाता है तब बहुत पसीना छूटता है, और खूब पेशाब भी होती है। हिस्टीरिया का वेग कम से कम ५ मिनट और अधिक से अधिक एक या दो घंटे तक रहता है।

इस रोग का निदान करना भी कठिन है; क्योंकि अपस्मार और हिस्टीरिया के लक्षण प्रायः एक से ही होते हैं। कभी कभी निदान करना कठिन हो जाता है। फिर भी जहाँ तक मेरा अनुमान है वहाँ तक तो हिस्टीरिया के लक्षणों से अपस्मार के लक्षण विपरीत होते हैं।

जिस कारण से हिस्टीरिया हुआ है, वह कारण जब तक नहीं जान लिया जाता तब तक प्रायः कोई औषधि लाभ नहीं करती है। फिर भी उपचार किया जाता है आयुर्वेदिक शास्त्रानुसार तो स्नायु शोधक औषधियाँ तथा वायुदोषनाशक औषधियों का ही प्रयोग किया जाता है। किन्तु खास करके मानसिक स्थिति सुधारने की ही कोशिश करना चाहिये। रोगी को मानसिक कष्ट क्या है, यह जानने का भी प्रयत्न करना चाहिये और जहाँ तक हो सके उस कष्ट को निवारण करने का प्रयत्न भी करना चाहिये। रोगी को बहुत हलका भोजन देना चाहिये, और कब्ज न रहने पाये यह भी ध्यान रहे। रोगी को शुद्ध वायुसेवन कराना चाहिये, तथा प्रसन्न मन रखना चाहिये।

इतिहास का पाठ (१)

ब्राह्मण का आत्मोत्सर्ग

राष्ट्रीय आपत्ति का निवारण

मेवाड़ के एक जंगल में दो घुड़सवार परस्पर लड़ने की तैयारी कर रहे थे। एक के हाथ में तीक्ष्ण भाला था और दूसरे के हाथ में तेज बरछा। दोनों के चेहरों पर वीरता व दृढ़ता टपक रही थी। दोनों की आँखें क्रोध से लाल हो रही थीं। वे एक दूसरे की जान लेने पर तुले हुए थे।

ये दोनों थे मेवाड़ के महाराणा प्रतापसिंह और उनके भाई शक्तसिंह। दोनों में चिरकाल से द्वेषाग्नि धधक रही थी। आज वे दोनों आपसी झगड़े का सदा के लिये अन्त कर देना चाहते थे और एक दूसरे का प्राणान्त करने के लिये जंगल में आये थे।

'हमारे छोटे से देश पर संसार के सब से अधिक शक्तिसम्पन्न मुगल साम्राज्य की क्रूर दृष्टि है। चित्तौड़ पहले ही छिन चुका है। रहा सहा राज्य छीनने के लिये भी अकबर अपने साम्राज्य का सम्पूर्ण जन, धन व बुद्धिबल लगा रहा है। ऐसी विषम स्थिति में दो भाइयों का पारस्परिक कलह तो देश को रसातल में पहुंचा देगा—हमारी स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी। कई बार दोनों भाइयों को समझाया। वे नहीं माने। आज, सुना है वे एक दूसरे को मार डालने के लिये जंगल में गये हैं। इस भ्रातृ विद्वेष का—राष्ट्र की इस आपत्ति का कैसे निवारण करूं। ठीक है, ठीक है, आत्म बलिदान ही इस आपत्ति का निवारण कर सकेगा। मेवाड़ के राजपुरोहित के हृदय सागर में इस प्रकार की विचारधारा बह रही थी।

*　　*　　*　　*

दोनों सहोदरों ने अपने ताव हथियार एक दूसरे पर छोड़ दिये थे। दोनों ही सोच रहे थे कि उनके शत्रु का अन्त हो गया है, लेकिन एक क्षण में वे दोनों देखते हैं कि एक शांत तेजस्वी मूर्ति ने—उनके कुल पुरोहित ने वे घातक वार—दोनों घोड़ों के बीच में आकर—अपने शरीर पर ले लिये हैं। कुल पुरोहित भ्रातृ विद्वेष—राष्ट्रीय आपत्ति का निवारण करने के लिए अपना बलि देगया है। दोनों भाइयों के सिर ग्लानि से झुक गये। शक्तसिंह राज्य के लिए फिर भाई से नहीं लड़ा और राज्य छोड़ कर चला गया।

राष्ट्र की रक्षा के लिये मेवाड़ के इस सच्चे ब्राह्मण का यह अपूर्व बलिदान अमर रहेगा।

सूर्योदय के नियम

सूर्योदय के समय सूर्य की ओर आँखें बन्द कर के कुछ समय तक देखने से भी नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। इसका अनुभव बहुतों ने किया है। कई बार तो एक ही बैठक में ही नेत्र-ज्योति सुधर गई है। जिस समय सूर्य की किरण हलकी गिरती हो उसी समय उसकी ओर देखना चाहिये। देखने का तरीका यह है। सूर्य के सामने खड़े हो जाओ हथेली से आँखें मूंद लो। और देखो! खड़े खड़े शरीर को इतस्ततः हिलाओ जिससे सूर्य प्रकाश आँखों के चारों ओर गिर सके। दस पन्द्रह मिनिट तक इस अभ्यास को जारी रखो। फिर छायादार स्थान में जाकर हथेली अलग कर पलकें खोल लीजिये। सूर्य की ओर खुली आँखों से हर्गिज मत देखिये। आँखों को हथेलियों से ढाँप लेना भी आँखों को अच्छी विश्रांति देता है। शून्य वस्तुओं की कल्पना, हरियाले स्थलों का निरीक्षण भी आँखों की ज्योति बढ़ाता है। यदि प्राकृतिक उपायों से नेत्र चिकित्सा की जाय तो आँखों के आपरेशन नहीं से हो जाय और मनुष्य जाति का असीम उपकार हो।

जीवन बीमा पथ-प्रदर्शक—संग्रहकर्ता शम्भूदत्त भारद्वाज। प्रकाशक-मेसर्स भारद्वाज एण्ड कंपनी। हमीर निवास, पालबीछला अजमेर। मूल्य २)।

बीमा-व्यवसाय भारत में नित्य-प्रति बढ़ता जा रहा है, रोज नयी २ कम्पनियाँ खुल रही हैं, हजारों एजन्ट इसी कार्य पर अपना गुजारा कर रहे हैं। प्रतिस्पर्धा खूब बढ़ रही है। ऐसी हालतों में बीमे के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेना प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का कर्तव्य होना चाहिये। इस विषय की अंग्रेजी में कई पुस्तकें है। हिन्दी में उक्त पुस्तक ही हमने पहली पुस्तक देखी है। लेखक ने बीमासम्बन्धी सब आवश्यक और ज्ञातव्य बातों का उल्लेख विस्तार से कर दिया है। बीमासम्बन्धी परिभाषायें तथा नियम, कम्पनी चुनाव की शर्तें, एजेन्टों के लिये आवश्यक हिदायतें, प्रार्थनापत्र, हुकनामा, दावों का निपटारा आदि करने के नियमों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। १०५ पृष्ठों में भारत की प्रत्येक बीमा कम्पनी के विभिन्न पालसियों के प्रीमियम, शर्तों आदि की विस्तृत तालिकाएं दी हैं। इस से बीमा कराने वाला एक ही पुस्तक में सब कम्पनियों के प्रीमियम दर व साधारण शर्तों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तीसरे खण्ड में भारतीय जीवन बीमा कम्पनियों के गत तीन सालों के आमद खर्च, वेल्युएशन, बैलैंसशीट और वार्षिक वृत्तों का रिपोर्ट दी हैं। इससे पाठक प्रत्येक बीमा कम्पनी की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन कर सकता है। इस तरह यह पुस्तक उन बीमेदारों के लिये बहुत उपयोगी हो गई है, जो पालिसी लेने से पहले कम्पनियों की तुलना कर लेना आवश्यक समझते हैं। इनके अतिरिक्त एजेन्टों, प्रबन्धकर्ताओं और संगठनकर्ताओं के लिये भी पुस्तक उपयोगी है।

उन कम्पनियों का परिचय नहीं दिया, जिन के हेड आफिस विदेशों में हैं, परन्तु इसके साथ २ यदि लेखक विदेशी कम्पनियों पर भारतीय सरकार के कानूनों की पाबन्दी [illegible] शिथिलता आदि की अनेक [illegible]टियाँ देकर भारतीय बीमादारों को सचेत कर देते, तो अधिक अच्छा होता। हमने एक ऐसा ट्रैक्ट देखा है, जिस में भारतीय कम्पनियों की [illegible]टियों का खूब दिग्दर्शन कर विदेशी कम्पनियों की उपयोगिता सिद्ध किया गया है। विदेशी कम्पनियों के

साहित्य-समालोचन

समालोचनार्थ सब पुस्तकों की दो-दो प्रति आनी चाहिये। एक पुस्तक आने पर समालोचना न हो सकेगी।

ऐसे आंदोलन का जवाब भी यदि दे दिया जाता, तो अच्छा होता। अन्त में हमें आशा है कि बीमा से सम्बद्ध हिन्दी संसार इसका आदर करेगा।

—कृष्ण

एशिया की महिला-क्रांति—लेखक—श्री जगदीशप्रसाद माथुर दीपक, प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य मन्डल बाजार सीताराम देहली। मूल्य १); साइज—१८×२२ १६ पेजी; पृष्ठ संख्या १३६; कागज व छपाई सुन्दर।

प्रस्तुत पुस्तक में रूस, चीन जापान, बर्मा, फारस, भारत आदि देशों की महिलाओं के स्वतन्त्र संग्राम व जागरण का संक्षिप्त इतिहास है। यद्यपि लेखक ने दरिया को कूजे में भरने का असफल प्रयत्न किया है, मगर फिर भी मेरी राय में इस से भारत के हिन्दी भाषा-भाषियों की कुछ जानकारी अवश्य बढ़ेगी। इस युग में स्त्रियों का प्रश्न पृथ्वी भर के मनुष्यों के लिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। प्राचीनकाल से स्त्रियों को पुरुषों ने अपना गुलाम बना रखा है। कहीं २ तो धर्म और सभ्यता के नाम पर यह गुलामी एक गर्व की वस्तु बन गयी थी। अब स्त्रियों ने गुलामी से ऊब कर स्वतन्त्रता की ओर कदम बढ़ाया है और पुरुषों की भांति अपने अधिकारों को मांगने की कोशिश की है। योरोप, अमरीका, चीन, जापान आदि देशों की महिलाओं ने तो बहुत हद तक स्वतन्त्रता प्राप्त भी कर ली है और भारत प्रभृति देशों की महिलाएं इस पथ पर अग्रसर होती जा रही हैं। इस पुस्तक में उक्त प्रकार की बातों का ही समावेश है। मूल्य १) अधिक जचता है। आशा है लेखक महाशय भविष्यमें इसी विषय की कोई पूर्ण कृति हिन्दी संसार के सम्मुख पेश करके साहित्य की अधिक सेवा कर सकेंगे।

—जगन्नाथ

मालती—ले०-श्री सुरेन्द्रशर्मा, प्रकाशक—चांद प्रेस लिमिटेड चन्द्रलोक, इलाहाबाद। पृष्ठ संख्या ३३४. मूल्य सजिल्द ३)।

मालती एक शिक्षाप्रद उपन्यास है, जिसमें एक सुशील, कर्तव्यपरायण, परोपकाररत हिन्दू-नारी का चित्र खींचा गया है। वह एक साधारण गृहस्थ की पत्नी है, परन्तु अपने परिश्रम, लगन, सेवाभाव और कर्तव्यनिष्ठा से जनता के हृदय में कैसे स्थान ग्रहण कर लेती है, इसका चित्रण अत्यन्त योग्यता से इस उपन्यास में किया है।

यद्यपि कथानक में विशेष रोचकता, या चमत्कार नहीं है, मालती का जीवन अनेक रहस्यमयी घटनाओं से ओतप्रोत नहीं है, परन्तु फिर भी उपन्यास पढ़ने में आनन्द आता है। मालती शनैः शनैः आत्मिक, सामाजिक उन्नति करती जाती है, समाज की विभिन्न समस्याओं—स्त्री-शिक्षा, और गरीबों की चिकित्सा के अभाव को वह अनुभव करती है और मार्ग में आने वाली अनेक बाधाओं को पार करती हुई लोक सेवा में अपना जीवन का उत्सर्ग कर देती है।

उपन्यास-कार ने मालती को एक आदर्श देवी के रूप में उपस्थित किया है, साधारण नारी के रूप में नहीं। उसके हृदय में कभी भी दुर्बलता ने स्थान ग्रहण नहीं किया। वह सदा ऊंची ही चढ़ती रही है। भावों के घात प्रतिघात का चित्रण इस लिये अच्छी तरह नहीं किया जा सका। उपन्यास की स्वाभाविकता भी इस लिये कुछ कम होगई है। पाठक साधारण मनुष्य का चित्रण चाहता है। एक देवता का जीवन आकर्षक तो होता है, लेकिन वह पाठक के जीवन से बहुत दूर की चीज—केवल पूजा करने की चीज बन जाता है, उसका अनुकरण करने की उत्सुकता पैदा नहीं होती।

मालती का पति रामदीन एक साधारण व्यक्ति है, लेकिन वह भी मालती की आदर्श लगन से प्रसन्न होकर उसके मार्ग में बाधक न बन कर सहायक हो गया है। समाज की अनेक समस्याओं पर लेखक ने सुन्दरता से प्रकाश डाला है। उपन्यास पढ़ने योग्य है।

—कृष्ण

प्राप्ति-स्वीकार

साहित्य का सपूत—लेखक—श्री जी० पी० श्रीवास्तव। प्रकाशक—चांद प्रेस, चन्द्रलोक, इलाहाबाद। मू० १॥)

वीरांगना पन्ना—ले०—डा० धनीराम 'प्रेम'। प्रकाशक वही। मू० ॥)

कायापलट—ले०—श्री शीतलासहाय बी० ए०। प्रकाशक वही। मू० १॥)

देवी जोन—ले०—श्री डा० धनीराम 'प्रेम'। प्रकाशक वही। मू० १॥)

शरीर और व्यायाम—ले०—श्री गणेशदत्त शर्मा गौड़। प्रकाशक—वही। मू० २)

साधक सहचरी (गुजराती)—ले०—मुनीश्वर सौभाग्यचन्द्र। प्रकाशक—महावीर साहित्य प्रकाशन मन्दिर, साबरमती। मू० ।)

दशवैकालिक सूत्र—लेखक और प्रकाशक वही मूल्य ।)।

बीमा-शिक्षक १९३५—ले०—श्री रा० प्र० चन्दोला। प्रकाशक—चन्दोला ब्रादर्स, मालीवाड़ा दिल्ली। मू० २)

ऋग्वेद संहिता (चतुर्थ अष्टक) टीकाकार—प० रामगोविन्द त्रिवेदी, प्रकाशक—वैदिक पुस्तक माला, सुलतानगंज, (ई० आई० आर०) मू० २)

असूल सुरागरसानी (उर्दू)—ले०—मि० आर० राइ। प्रकाशक—मि० डब्ल्यू० एम० हनफी, मेरठ। मू० २॥)

हरफन उस्ताद—ले० एस० एम० सी० एम० इटावा। प्रकाशक—बोहरा चुन्नीलाल पैंशनर गवर्नमेंट आफ इंडिया, अलीगढ़। मू० २)

महिला समाज—ले० श्री ओंकारनाथ दिनकर। प्रकाशक—परिवर्तन प्रकाशक विभाग, अजमेर। मू० ।)

सूर सागर (संख्या ४)—सम्पादक श्री ज० पु० रत्नाकर। प्रकाशक नागरी प्रचारिणी सभा काशी। मू० १)

जिस पुस्तक की दो प्रतियाँ आई हैं, उनकी समालोचना आगामी अंकों में होगी।

उत्तरी ध्रुव (साइबीरिया) का एक हिम-दृश्य

हिमालय के लोहाघाट अल्मोडा के समीपवर्ती तीन दृश्य

अमेरिका में नयी फिल्म

म० गांधी को बदनाम करने का कुत्सित प्रयत्न

हमारा कर्तव्य

(लेखक—श्री लक्ष्मणप्रसाद उदीवाल)

फिल्म जगत में अब मेयोवाद का प्रचार बढ़ता जा रहा है। कुछ दिन हुए कि अमेरिका वालों ने न जाने किसके इशारे पर 'इण्डिया स्पीक्स,' 'बंगाली' और 'दी लाइफ ऑफ ए बंगाली लान्सर' नामक चित्र बनाकर अपनी क्षुद्रता और भारत विद्वेष का परिचय दिया था।

सहयोगी 'वैराइटीज़' के हॉलीवुड-स्थित संवाददाता ने विशेष सूचना दी है कि वहां एक 'विशेष चित्र' बना है। उस चित्र में संसार की सर्व-श्रेष्ठ विभूति महात्मा गांधी को पश्चिमीय युवती के साथ आलिंगन, चुम्बन, चाटन तथा प्रेमाचार करते दिखलाया गया है। इस चित्र को समस्त संसार में दिखलाने की योजना पर विचार हो रहा है। साथ ही यह भी पता लगा है कि महात्मा गांधी के उपर्युक्त चित्र को काट-छांट कर भारत में भी दिखाया जायगा।

यह है अमेरिकन चित्र-निर्माताओं की नीचता की पराकाष्ठा। उपरोक्त चित्र द्वारा विदेशों में गुप्त रूप से महात्मा गांधी का व्यभिचारी सिद्ध कर यह दिखाना चाहते हैं कि भारत का महापुरुष जब इतना कामी है, तो साधारण जनता का कुछ कहना नहीं।

अमेरिका वाले तो जो करना था, सो कर चुके। पर हमारा इस समय परम कर्तव्य है कि इस नीचता का जी जान से विरोध किया जाय। मेरे मन में तो निम्न उपाय काम में लाये जायें, तो हमारा उद्देश्य पूर्ण होगा।

प्रत्येक भारतवासी यह प्रण कर ले कि जब तक अमेरिका के फिल्म निर्माता अपने कुकर्म का पश्चात्ताप न कर तथा ऐसे फिल्म बनाना बन्द न करें, तब तक हम अमेरिका का कोई चित्र न देखेंगे। मुझे विश्वास है कि ऐसा करने से अमेरिकन फिल्म निर्माता अपनी जेब पर प्रहार होते देख, अवश्य झुकेंगे।

भारत को कलंकित करने वाले चित्रों का खूब विरोध किया जाय। प्रत्येक सिनेमा-प्रधान नगर में 'मोशन पिक्चर्स सोसाइटी' के आधीन समिति स्थापित की जावें। उन लोगों को ऐसे चित्रों के विरुद्ध प्रदर्शन करना, हैंडबिल छपवाकर जनता में वितरण कराना मुख्य कर्म होना चाहिये।

भारत-सरकार व ब्रिटिश सरकार का कर्तव्य स्पष्ट है। ऐसी फिल्मों का निर्माण आगे से न हो सके और इन फिल्मों का प्रदर्शन बन्द हो जाय, इसके लिये उसे अपनी ओर से कुछ न उठा रखना चाहिये। म० गांधी भारत के हृदय-सम्राट् ही नहीं, सम्पूर्ण संसार की भी सर्व-श्रेष्ठ विभूति हैं। उन्हें आज का ईसा कहा जाता है। उनके विरुद्ध झूठा प्रचार अत्यन्त निन्दनीय और शरारतभरा है। सम्भव है ब्रिटिश सरकार या भारत सरकार उस फिल्म को रोकने में अपनी असमर्थता प्रकट करे। लेकिन इससे भारतीयों को विश्वास नहीं होगा। यदि ब्रिटेन के किसी राष्ट्रीय नेता के सम्बन्ध में ऐसी फिल्म बनती, तो ब्रिटिश सरकार जो कुछ करती, उसे वह अब करना चाहिये। यदि ब्रिटिश सरकार ऐसी फिल्मों का जबर्दस्त विरोध करे तो यह असम्भव है कि ऐसा फिल्में चल सकें। यदि वह पूर्ण प्रयत्न करे, तो भारतीयों के हृदय में भी एक अच्छा स्थान ग्रहण कर सकेगी, लेकिन क्या वह ऐसा करेगी?

सिनेमा की दुनिया

ऐसे फिल्म किस लिए?

यह अवश्य रोका जाना चाहिये

एक जरूरी काम से दूसरे शहर जाना पड़ा। कार्य समाप्त करके शाम का समय काटने की समस्या आ खड़ी हुई। आखिर तय पाया कि सिनेमा चला जाय। पता लगाते २ 'कैपिटल' पहुंचा। वहां इश्तिहार पढ़कर मालूम हुआ कि आजकल 'मुफलिस आशिक' चल रहा है। फौरन उल्टे पैर वापिस हुआ। यहां अपने पाठकों से यह कह देना चाहता हूं कि उन में से जो जरा भी परिमार्जित रुचि के हों वे इस फिल्म को हरगिज न देखें प्रत्येक दृष्टि से निहायत रद्दी फिल्म है। अस्तु, पूछते पूछते दूसरे सिनेमा र—'इम्पीरियल' पहुंचा। दूसरी घण्टी बज चुकी थी इसलिये टिकट कटा कर खेल का विज्ञापन बिना देखे ही—चौअन्नी वालों में दाखिल हुआ (कोई कोई पाठक शायद नाक भौं सिकोड़ें, लेकिन हैं हम में से अधिकांश चौअन्नी वाले ही, यह मैं खूब जानता हूं! खैर), खेल शुरु हुआ। यहां पर मैं एक छोटी सी अप्रासंगिक बात बहुत संक्षेप में कह देना चाहता हूं, वह यह कि मेरे कई भाई साहब हिन्दुस्तानी बोलती फिल्में देखने के सख्त खिलाफ हैं। इसलिये नहीं कि वे यूरोपियन स्टाइल के आदमी हैं। हैं पूरे भारतीय—शिक्षा दीक्षा, रहन, सहन, आचार विचार सभी से लेकिन हिन्दुस्तानी फिल्मों से वे निराश हो चुके हैं। मैं उनकी यह बात नहीं मानता। मेरी राय में अनेक भारतीय फिल्म ऐसे बन चुके हैं, जो परिष्कृत रुचि के दर्शकों को सभी दृष्टियों से आनन्दित कर सकते हैं। लेकिन इधर पिछले कुछ दिनों से मैं जैसे फिल्म देख रहा हूं, और खास कर आज जो फिल्म देखा—उससे मैं इतना अवश्य मान गया हूं कि बड़े भाई साहब की राय एकदम गलत नहीं है। हिन्दुस्तानी फिल्म बहुत जांच पड़ताल के बाद देखने चाहियें। इश्तिहारबाजी और साथ ही अखबारों की आलोचना तक से बड़ा धोखा हो जाता है। अस्तु, खेल जो कुछ मैंने देखा उसका विस्तार कर के मैं अपने पाठकों का धैर्य छुड़ाना नहीं चाहता। संक्षेप में यही देखा कि ४०, ४५ साल के खूसट 'नायक' महाशय इस्लाम का झण्डा लिये मैदानों, पहाड़ों और जंगलों में पैदल भाग चले जा रहे हैं। उनके ५०—६० पिछलग्गुए भी इसी दशा में दिखाई दिये। नायक महाशय का प्रेमिका का एक हजरत 'काफिरों' के सरदार के यहां महल में पहुंचा आये थे। नायक महाशय पहिले तो इन काफिरों के हाथ पड़ गये, लेकिन वहीं उस दुश्मन की लड़की, इन पर आशिक हो गई और उसकी सहायता से अपनी प्रेमिका के पास रात को महल में जा पहुंचे। वहां चांदनी में बैठ कर प्रेमी और प्रेमिका दोनों ने 'थियट्रिकल' तर्ज में खूब गजलें गाई। —हैरानी की बात यह है कि दुश्मन के घर में इतना गला फाड़ने पर भी किसी के कान में जूं नहीं रेंगी!—नायक महाशय ने अन्त में कुछ झगड़ा झंझट के बाद अपनी प्रेमिका को तो पा ही लिया—साथ ही दुश्मन की लड़की—इस नई माशूका को भी हथिया लिया—मुसलमान बना कर!—यह है संक्षेप में कहानी। इस सारे खेल में २-३ बातों पर बड़ा जोर दिया गया है। एक तो इस पर कि इस्लाम ऐसा पक्का और पूरा मजहब है कि उस के मानने वाले को दूसरे मजहब वाले युक्तियों से भी कभी 'कनवर्ट' नहीं कर सकते। दूसरी बात यह है कि जब एक व्यक्ति एक मुख से कई रोटियां खा सकता है—एक आंख से कई रूप देख सकता है, तब एक दिल से कई औरतों से मुहब्बत क्यों नहीं कर सकता?—परिणामत: नायक महाशय दो दो प्रेमिकाओं पर हाथ साफ करते हैं! अन्त में यह भी प्रभाव डालने की कोशिश की गई है कि इस्लाम के बन्दे 'काफिरों' पर हमेशा फतह हासिल करते हैं और काफिरों का तो इस दुनिया में नामो-निशान भी बाकी न बचना चाहिये"—यह है खेल का सारांश। इस कथा से ही पाठक यह अनुमान लगा लेंगे कि फिल्म के दृश्य-नाटकीय सज्जा अभिनय-संगीत आदि किस कोटि के होंगे। सैटिंग्स का यह हाल है कि कहानी तो चल रही है, शायद १७ वीं सदी की, और महल दिखाये जा रहे हैं, 'अप-टू-डेट' बीसवीं सदी के! अभिनय किसी पात्र का असाधारण रूप से अच्छा तो कहा ही नहीं जा सकता, बल्कि कई स्थल पर ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है, मानो अभिनय का अच्छा खासा मजाक किया जा रहा है। दर्जनों दुश्मन तलवारें लिये खड़े हैं और सिर्फ एक 'इस्लाम का—बन्दा' बारी बारी से सब को धराशायी करता जा रहा है! किसी दुश्मन को हारने और गिर पड़ने में जरा भी उज्र नहीं!! संगीत 'चलता' हुआ है। 'अशरफली' की २-१ गजलें सुन ली जा सकती हैं। सारे खेल में 'सुलताना' ही एक पात्री है, जिसे चाहे देख लिया जाय, चाहे सुन लिया जाय। उसी के नाम पर खेल की इश्तिहार-बाजी भी की गई है। फोटोग्राफी और ध्वनि आंकलन अवश्य, ठीक कहे जा सकते हैं। खेल का नाम 'औहर तक़दीर' रखा गया है।

(शेष पृ० २७ पर)

दस्तकार

(एक सच्ची कहानी)

(ले०—श्री बलदेवमित्र बिजली नैपाल)

मैं नैपाल से एक शादी में शामिल होने के लिये देहली आया। जहां मुझे सीदीपुरा में ऐन्स पाल इनैमल ऐण्ड पाटरी वर्क्स देखने का अवसर मिला जो हाल में ही जारी हुआ है। निम्नलिखित करुण कहानी वहीं के एक कार्यकर्ता ने मुझे सुनाई—

मुझे बी० ए० पास करने के पश्चात ऐसा ज्ञात होने लगा कि मैं न केवल देश और जाति के लिये ही बोझ हूं बल्कि स्वयं अपने लिये भी भार हो रहा हूं। इससे पहले मेरा जीवन दुःख से कोसों दूर था। ७०-८० रुपए मासिक पिता का भेजा हुआ मनीआर्डर ईश्वरीय बरकत से कम न था। मैं विद्यार्थी जीवन में खूब गुलछर्रे उड़ाया करता था।

वह आनन्द जीवन का लम्बा समय गुजर चुका। उन दिनों मुझे चिन्ता भी नहीं थी मां बाप रिश्तेदार तथा अड़ौस पड़ौस सब मुझे आदर की दृष्टि से देखा करते थे। मैं बाबू था पूरी ठाठ से रहा करता था सूट बूट तथा हैट मेरे शरीर की सजावट थे, मेरा हुक्म ईश्वरीय हुक्म था। मेरे पिता अपने मित्रों से मेरी बड़ाइयों के पुल बांधा करते थे। वे कहते मेरा लड़का बी० ए० पास करने के पश्चात यह होगा और वह होगा। लेकिन मैं क्या हुआ यह मुझे एक वर्ष के अन्दर ही अन्दर अच्छी तरह ज्ञात होगया। मेरी करुण कहानी का किस्सा एक प्रार्थना पत्र से आरम्भ हुआ जो मैंने बी० ए० पास होने के बाद एक नहर के दफ्तर में क्लर्की के लिए दिया था। उसके पश्चात् आज तक मैंने कितने ही प्रार्थना पत्र दिये जिनकी गणना तक मुझे याद नहीं

हां इतना कह सकता हूं कि मैं लिखता लिखता तंग आगया। अब मेरे निकट सम्बन्धी मुझ से और खासकर मेरी बेकारी से तंग आगये। अब मैं उनके लिये बोझ था देश के लिये बोझ था जाति के लिये बोझ था और खुद अपने लिये बोझ था लोग मुझसे पूछते—कहो कहीं लगे हो मैं सिर फेर लेता। बाप कहता—आवारा कहीं का, दिन रात बेकार खाते खाते तो कूए भी खतम होजाने हैं कब तक बहुत्रा बनकर बाप की कमाई खावोगे पढ़ाया लिखाया यहां तक कि शादी भी करदी अब गले का हार बन बैठे हो जाओ कहीं बाहर जाकर अपना काम सम्भालो। मुझसे नहीं पाला जाता।' मां कहती—नवाब कहीं का तुम्हारे लिये कहीं नौकरी नहीं। देखो नरेन्द्र का लड़का ओवरसीयर हो गया। फलां की दुकान पर १००) रुपये रोज की बिक्री होती है। मैं बुत बना रहता और दिल ही दिल में कहता—बी० ए० क्या हुआ जान का बवाल हुआ। परेशान रहने लगा। मेरा स्वास्थ्य गिर गया। खाना पीना जाता रहा। प्रार्थनापत्र लिखता बड़े उत्साह से लिफाफे बन्द करके भेजता मगर मेरी किस्मत तो बेकारी का पट्टा लिखवाकर आई थी इसलिये मैं बेकार था।

* * *

चन्दन मेरा पड़ोसी तथा बचपन का क्लासफैलो था। वह मैट्रिक पास करने के बाद टैकनिकल कालेज में चला गया था जहां उसने तीन साल के अन्दर रोगनी बर्तन दस्ती तस्वीरें और चीनी के खिलौने बनाने का कार्य सीख लिया था और अब अपने ही मकान में इण्डियन काटेज इण्डस्ट्रीज के नाम से काम कर रहा था। वह सूट नहीं पहनता था उसके कपड़े सादे और ढीले ढाले होते थे। उसकी स्त्री के पास क्रीम पाउडर साड़ी वगैरह नहीं थे। उसके यहां नौकर नहीं था बेचारे दोनों दिनभर परिश्रम करते शाम को चन्दन बाजार जाकर अपने दिनभर की कमाई की मेहनत पाता और खुशी खुशी घर चला आता था मैं उसे पहले घृणा की दृष्टि से देखा करता था उसकी सादगी पर मुझे हंसी आती थी। तथा मैं उस से मिलना जुलना एक पढ़े लिखे जन्टिलमैन के लिये बुरा समझता था लेकिन अब वह मेरी शान्ति और सुख का सागर था मैं प्रायः उसके यहां चला जाता और अपने मन को लगाने के लिये उसके खिलौनों की मट्टी गूंदता रहता। मैं उसकी सादी जिन्दगी पर खुश होता और उसे भाग्यशाली समझता। वह सुखी था वह न कभी अर्जी लिखता था और न कहीं भेजता था उसे नौकरी की इच्छा न थी वह बाबू शब्द से घबराता था वह परिश्रमी था मजदूर और दस्तकार था।

मैं बेकारी से तंग आगया जी वन हौवा सा दीखने लगा यहां तक कि मैं अपनी परछांई से भी डरने लगा। मुझे इस दुःख से छुटकारा प्राप्त करने के लिये मौत की गोद भली मालूम होने लगी। माता पिता स्त्री बच्चे रिश्तेदार और सम्बन्धी सब स्वार्थी प्रतीत होने लगे घर में मौनता थी आस्मान पर तारों की टिमटिमाती हुई रोशनी अपनी आंख मिचौनी से मेरे दुःखमय जीवन पर हंस रही थी। मैं उठा धीरे से दरवाजा खोला और चल दिया। गली से निकलते ही कुत्ते की भौं भौं ने मुझे 'आ जा' कहा। मैं समझा कि इन भी मैं बोझ महसूस हो रहा हूं। इस विचार में डूबा हुआ चलता गया यहां तक कि नदी का किनारा आ गया। नदी से उठती हुई लहरें मेरे स्वागत के लिए किनारे की तरफ आई मैं बढ़ा—बढ़ा और बढ़ा। मैं चाहता था कि सूर्य निकलने से पहले मेरे जीवन का अन्त हो जावे कि इतने में मुझे मेरे पीछे पानी में किसी के चलने की आवाज सुनाई दी। मैंने मुड़ कर देखा यह चन्दन था जो घर से मेरे पीछे हो लिया था उसने मुझे पकड़ लिया और किनारे पर ले आया उसने मुझे सांत्वना दी और उसके उपदेश की ध्वनि मेरे कानों में हर समय गूंजती रहती है। वर्तमान शिक्षाप्रणाली बेकारी पैदा करने की एक कल है। वर्तमान सभ्यता भी बेकारी को बढ़ाती ही जाती है। दस्तकारी कारीगरी और शिल्प विद्या लोप नष्ट हो रही है यदि आज देश में शिल्प विद्याओं का नाश न होता तो भारत के हजारों सपूत हर साल रेल गाड़ी के नीचे सिर देकर आत्महत्या का पाप न करते। आओ बहुत हो चुका! बी० ए० बन बाबू बने। बेकार हो कर दर दर की ठोकरें खाईं अब मजदूर बनो! पुरुषार्थी और कार्यशील बनो! शिल्पकार और दस्तकार बनो! स्वयं कमाओ खाओ और परिवार को रोटी दो। सुबह मेरे साथ काम करो खिलौनों का गारा गूंदो, मिट्टी उठाओ चीनी कूटो और बाकायदा बन कर अपने दुःखमय जीवन को सुख और शान्तिमय बनाओ तुम मनुष्य हो ईश्वर ने तुम्हें दिल दिया है दिमाग दिया है और उसमें विचारने की प्रबल शक्ति दी है संसार कायम है कर्म्म का हथौड़ा तुम्हारे हाथ में है उठाओ और खूब चोट लगाओ निशाना बांधो कामयाबी तुम्हारी बांदी बनेगी। ये शब्द थे जो चन्दन के मुख से निकले और मेरे रोम रोम में समा गये मुझे अपने अन्दर एक नया जीवन प्रतीत होने लगा। मैंने सुना कि वायु की सरसराहट भी यही आलाप रही है। अब मजदूर बनो उद्यमी और क्रियाशील बनो। नदी की उठती हुई तरंगें भी अपना सिर किनारे से टकरा कर यही राग अलाप रही थीं कारीगर और शिल्पकार बनो स्वयं कमाओ खाओ और परिवार का पोषण करो। मैं उठा और चन्दन के पीछे हो लिया। सूर्य देवता आकाश में पूरे ठाठ से अपने रथ पर सवार थे। मुझ में एक जान थी हिम्मत थी बरकत थी और बरकत के साथ ही एक हरकत थी जिसके बल-बूते पर मैं संसार में इज्जत का जीवन व्यतीत करना चाहता था

* * *

आज तीन साल हो गये हैं चन्दन और मैं दोनों साथ साथ हैं। इण्डियन काटेज इण्डस्ट्री का काम खूब जोरों पर है। लगभग ३०० आदमी प्रति दिन काम कर रहे हैं। देश के स्वदेशी प्रचार ने हमारी दस्तकारी को चार चांद लगा दिये हैं पचासों युवक यह काम सीख कर मेरठ अमरोहा अजमेर सहारनपुर लाहौर अमृतसर, जालन्धर लखनऊ आदि में अपनी जीवन नौका पार कर रहे हैं। इनैमलिंग का काम भी साथ जारी है। चीनी के खिलौनों की मांग दिन प्रति दिन बढ़ रही है। चन्दन के उस्ताद जो इस कार्य में बहुत चतुर थे अब विदेश से और ट्रेनिंग हासिल करके वापस आ गये हैं। कारखाने की एक शाखा देहली में खोल दी है जिसके वही इंचार्ज और मालिक हैं।

अब न मैं किसी दफ्तर में अर्जी देता हूं और न मुझे \ \ y सुनना पड़ता है। मैं पहले बी० ए० था लेकिन बेकार। अब मैं मजदूर हूं उद्यमी और कार्यशील हूं मुझे अपनी और अपने परिवार की रोटी की फिक्र नहीं करनी पड़ती। मैं कारीगर हूं।

आंखों में धूल

(ले०—श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र निर्गुण)

आजकल हिन्दी संसार में साहित्यिक सपूतों की सृष्टि बड़ी ही शीघ्र गति से हो रही है। जान पड़ता है कि प्रत्येक हिन्दी पाठी साहित्यिक बन कर ही दम लेगा। यहीं पर अगर रुकते तो गनीमत थी लेकिन रुकें क्यों? चलिये आगे, ये आयें 'कवि पुंगव' पूछिये कि कितने हैं? तो संख्या ही नहीं! जो तुक मिला दे वह कवि है। कुछ महानुभाव उठे तो 'तुक की दुम ही तोड़ डाली। पूछा यह क्या किया? बोले—इस से बड़ी अड़चन थी भावों का संकोचन हो जाता था। अब ठीक है। भावों की अभिव्यक्ति के लिये बेतुकी' कर दी। एक छलांग और मारी। लगे हाथों छन्दों का भी श्राद्ध कर लो। कुछ मूढ़ रोने लगे यह क्या कर डाला? उत्तर दिया— पन्त जी ऐसा ही लिखते हैं और 'निराला' जी की रचनाएं इसी तरह की हैं। अब कहिये। लेकिन ये कविराज (?) फिर भी अच्छे हैं। केवल शैली के नक्काल हैं, पर इन्हें तो देखिये! एक पद अपना और एक पद किसी अन्य 'कवि' का, पकाई खिचड़ी और रख दी सामने, कहिये साहब कैसा स्वाद है? बड़ा अच्छा है, जीते रहो पट्ठे! तुम ही हिन्दी की नाक हो।

उस दिन देहली के 'चित्रपट' का मासिकांक मिला। रूप रंग आकार प्रकार का क्या कहना। खूब सुन्दर बड़ा पसन्द आया। उलट पलट कर देखा, लेखों और रचनाओं का संकलन भी बढ़िया है। कविताएं भी हैं, एक कविता है 'आंखों में' लेखक हैं कोई श्री बालगोविन्दप्रसाद 'श्रीवास्तव'। 'श्री वास्तव' शायद उपनाम है। रंग बिरंगे कागज पर रंग बिरंगी स्याही में कविता छपी है। पढ़ी भाई दो पद पढ़े तो बड़ा आश्चर्य हुआ ये तो बन्धुवर श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' की 'आंखों में' कविता पुस्तक का उद्धरण है! यह कविता कैसी? सोचा शायद 'प्रेमी' ने अपना नाम बदल दिया हो। लेकिन इस पर विश्वास न हुआ, नाम बदलने की क्या आवश्यकता आ पड़ी, भोले प्रेमी ने यह छल करना कहां सीखा। और तब अपनी प्रिय पुस्तक 'आंखों में' निकाली और इस कविता से मेल किया। देखा तो कहीं २ आपने परिवर्तन और संशोधन भी किया है। अब और भी सन्देह हुआ— 'प्रेमी' ने ही यदि कविता प्रकाशित की है तो भला परिवर्तन क्यों किया?

अब देखिये—श्री वास्तव जी की कविता के द्वितीय, तृतीय, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, और अन्तिम पद तो नितान्त नकल है जो कि पुस्तक में क्रमशः २, ८, ३, १२ १, ४५ पृष्ठ पर हैं। अब अवशिष्ट पदों को लीजिये। पहिला पद पुस्तक में यों है—

आंखों में पिछली अतृप्ति है
आंखों में प्रियतम का प्यार।
त्याग, वियोग, विलाप पिपासा,
प्राणों की आकुल मनुहार।

इस में तीसरे चरण को श्रीवास्तव जी ने ऐसे लिखा है—'त्याग, वियोग, मिलाप, पिपासा। जहां कवि अपने दुःखों का वर्णन कर रहा है, वहां बीच में आपने 'मिलाप' जाने किस दृष्टि से करा दिया?

चौथा पद है—

आंखों में है सिन्धु किनारा,
आंखों में है सुन्दर द्वीप।
आंखों में सागर का तल है,
आंखों में हैं छूछे सीप।

इस में तीसरा और चौथा चरण यों बदला है— आंखों में है सागर तल भी आंखों में हैं छूछे सीप। तीसरे को तो शायद सानुप्रास होने के लिये चोला बदलना पड़ा है, परन्तु चौथे में यह 'भी' का हौआ जाने क्यों छिपा दिया?

पांचवां पद यह है—

आंखों में है जीवन नौका।
आंखों में उसकी पतवार॥
आंखों में है चतुर खिवैया।
आंखों में है पारावार॥

इस में आपने केवल 'खिवैया' को गंवारू समझ कर 'खेवैया' बना कर नागरिक कर दिया। अजी साहब! सजा दिया लेकिन इसमें जो सोलह मात्राओं की जगह सत्रह हो गई इसका उत्तरदायित्व किस पर होगा?

नवें पद को पढ़िये—

नयनों की नौकाओं में भर,
हृदय सिन्धु में चुन मोती।
मेरी पीड़ा अपने धन पर
इतराती गर्वित होती॥

इसमें चौथे चरण का परिवर्तन यह हुआ है—

इतरा कर गर्वित होती।'

अर्थात पहिले इतरा लेती है, उसके बाद गर्व करती है क्योंकि इतराना और गर्व करना साथ साथ नहीं हो सकता यही बात है न?

दसवां पद देखिये—

आंखों में मेरी मद प्याली,
प्याली में सकुचाती चाह।
कितना मादक पी जाने पर,
प्याली ठुकराना है! आह॥

आप कहते हैं 'कितनी मदिरा पी जाने पर' क्योंकि मादक तो कुछ और भी हो सकता है और आप ठहरे पूरे शराबी, सो मदिरा ही पिया किये।

ग्यारहवां पद इस प्रकार है—

आंखों में है छोटे हृदय की
जिस में है मेरी दूकान।
देकर अमर प्रेम अभिलाषा
पाना अन्तर पार महान॥

आप ने लिखा 'पाना अन्तर पीर महान्" और क्यों? 'प्रेमी' ने महान् को महान लिख दिया था, उसे आप ने शुद्ध रूप में पेश किया और 'अन्तर' की पूंछ उखाड़ कर फेंक दी! खूब किया।

बारहवां पद भी देख लीजिये—

आंखोंमें वह मधुर मिलन की
सुन्दर मतवाली लाली।
आंखोंमें यह विरह निशा है,
मतवाली काली काली॥

लेकिन, श्री वास्तव जी लिखते हैं कि 'मतवाला काली काली' क्योंकि 'लाली' नहीं है, उसमें श्री वास्तव जी स्वयं बैठ गये हैं।

मेरा न तो श्री वास्तव जी से परिचय है और न विरोध पर किसी 'कवि' की कृति को विपद्ग्रस्त देख कर भी चुप रहना कम-से-कम मेरे सिद्धांत के प्रतिकूल है। केवल इसी लिये कुछ लिख रहा हूं।

सम्भव है कि श्री बालगोविन्द-प्रसाद 'श्री वास्तव' ही श्री हरिकृष्ण विजयवर्गीय 'प्रेमी' हों। ऐसी दशा में मैं क्षम्य हूं क्योंकि ('प्रेमी' मेरे श्रद्धेय हैं) उन्हें अपनी रचना में परिवर्तन करने का पूर्ण अधिकार है और मेरा कुछ कहना अनधिकार।

मैंने उससे कहा कि यदि इसी तरह यूनीवर्सिटि डिग्री के शेप ग्रेजुएट भी नौकरी को लात मार कर व्यवस्था की ओर लग जावें और उसमें काम करने में घृणा न करें, खिलौनों का ही काम शुरू कर दें जैसे कि आप बना रहे हैं तो देश की बेकारी दूर हो जाय और विदेशी खिलौने तथा अन्य सामान आने बन्द हो जावें।

उसने कहा — हां, बात तो आपकी ठीक है — लेकिन, जब हम दस्तकार बनें, तब न?

बाल-बन्धु-परिषद्

बालकों की एक कुटेव

'हरिजन-बन्धु' में आचार्य श्री० किशोरलाल मशरूवाला लिखते हैं—

"आमतौर पर यह देखा जाता है कि डेढ़-दो वर्ष की छोटी उम्र के बालकों में भी अपनी इन्द्रियों को छूने की आदत होती है। लड़कियाँ पेन्सिल आदि लेकर उसके द्वारा गन्दे खेल खेलती हैं। लेकिन अकसर देखा गया है कि जाँघिया या 'नेकर' पहनने के बाद बालक इस कुटेव को भूल जाते हैं। कभी कभी यह आदत इतनी मजबूत हो जाती है कि इसी में से बालक हस्त मैथुन का शिकार बन जाता है एक बहन ने इस विषय पर मेरा ध्यान आकर्षित करते हुये इस सम्बन्ध में कुछ सूचनायें चाही हैं।

बहुतेरे माँ बाप इस आदत की उपेक्षा करते हैं; वे देखते रहते हैं, पर बालकों को रोकते नहीं। कभी-कभी नासमझ मातायें और नौकर आदि बालकों को स्वयं ही यह गन्दी आदत सिखाते हैं। लेकिन यह उचित नहीं है। बहुधा लोग इस कुटेव को छुड़ाने के लिये बच्चों से बुरा-भला कहते हैं, या उन्हें धमकाते हैं। यह भी ठीक नहीं। इस सम्बन्ध में आवश्यक तो केवल यही है कि धीमे से बालक का हाथ वहाँ से हटा दिया जाय या उसे हटाने को कहा जाय। जाँघिया पहनाये रखना भी एक उपाय है।

लेकिन इस सम्बन्ध में एक दूसरी महत्त्व की बात तो उस स्थान की स्वच्छता है। बालक तभी अपनी इन्द्रिय को छूता है जब गन्दगी के कारण वह खुजलाने लगता है। बहुत कम लोग ऐसे हैं जो छोटे बच्चों की इन्द्रिय को पेशाब के बाद भली भाँति धोते हों। जब बालक बैठे बैठे पेशाब करता है, तो उसका नीचे का भाग भी गन्दा हो जाता है। इस जगह पर धूल लगने या मिट्टी का खार जमने से खुजली चलने लगती है और बालक उसे खुजलाने को विवश हो जाता है। इसलिए आवश्यकता यह है कि शरीर के दूसरे भागों की तरह ही ये भाग भी स्वच्छ रक्खे जाँय।

धोये हुए अंगों को सूखे गमछे से न पोंछकर यों ही हवा में सुखाने से भी खुजली पैदा हो सकती है। इसलिये पेशाब-पाखाने से निपटने के बाद बालक के अंगों को भली-भाँति धोकर उन्हें पोंछ देना चाहिये।

इतने पर भी यदि यह मालूम हो कि खुजली बन्द नहीं हो रही है तो कोई खुजलीनाशक वस्तु लगानी चाहिये। इससे बालक इस कुटेव में फँसने से बचेगा और खुजलाने की उसे आवश्यकता भी न रहेगी। मैदे जैसा कोई भी महीन आरो पाउडर की तरह लगाने से खुजली मिट जाती है।

मेरी नैया

मेरी नैया मेरी नैया।
कागज की है मेरी नैया॥

आओ शीला, साता सुषमा,
आओ मेरे मोहन भैया।
जमुना जी के जल पर अपनी,
तरावें कागज की नैया॥१॥

मेरी नैया मेरी नैया।
कागज की है मेरी नैया॥

रंग बिरंगी, नन्हीं, हलकी
प्यारी प्यारी है यह नैया।
लाल पोत का जामा पहिन,
बैठा उस में नाव खिवैया॥

मेरी नैया, मेरी नैया।
कागज की है मेरी नैया॥

लो, बैगनी हूँ मैं उस में
भलुआ * बबुआ कृष्ण कन्हैया।
देखो, पाल उड़ाती फर-फर
बह जाती कागज की नैया॥

मेरी नैया, मेरी नैया।
कागज की है मेरी नैया॥

—[illegible]

* भालू

अलोप

यदि चाहते हो तुम सब को देखो तुम्हें कोई न देख फिर गायब धन पुरुष, भूत, वर्तमान, भविष्य के दुःख सुख की सब बात, रोग और उसके दूर करने तथा लोक परलोक का ज्ञान ईश्वर और मृत आत्माओं के दर्शन आकाश, पाताल पृथ्वी वायु और वाणी प्रश्नोत्तर, देवी देवता आधीन सिद्ध बन जाओ, ऋण उद्धार धन, सन्तान जायदाद खेल विक्रय, उच्च पद, राज सम्मान, इच्छित नौकरी, रोजगार लाभ, सब मुल्कों की सैर, प्रेमी या प्रेमिका का दूसरे को आधीनता से छुड़ा अपने गले का हार बनाना, परीक्षा में पास, मुकदमे, वैर न। हर काम में विजय और जो चाहो करना। यह अद्भुत चमत्कार ३) की वी० पी० से आदेश सहित मंगाओ। नाजायज काम न करने की प्रतिज्ञा पत्र भरना होगा। उत्तर के लिये टिकट व जवाबी कार्ड आवश्यक है। श्री १०८ स्वामी पृथ्वी निवास, मुरादाबाद, यू० पी०।

क्वेटा भूकम्प के तीन चित्र

बाबू मुहल्ला
शहर का सबसे घना आबाद हिस्सा था।

मस्तुंग के सरकारी क्वार्टर

ब्रूस रोड, क्वेटा

भूकम्प ... भारत सरकार के प्रकाशन विभाग ... खान बहादुर श्री आफ़ी ...

पिछली पहेली

अभी तक बहुत कम बालकों ने पिछली पहेली का उत्तर भेजा है। सब पिछला अंक देखकर पहेली के उत्तर भेजें।

—सम्पादक 'अर्जुन'।

कूपन

श्री भाई जी

मुझे बाल-बन्धु परिषद का सदस्य बनना स्वीकार है प्रत्येक देश के प्रत्येक धर्म जाति और रङ्ग के बालक बालिकाओं को अपना भाई बहन मानूँगा और संसार में प्रेम और एकता स्थापित करने के लिये 'विश्व-बन्धुत्व' का पालन करूँगा।

नाम
मुहल्ला आदि
स्थान का पूरा पता

व्यापार-डायरेक्टरी

आवश्यक वस्तुयें निम्न पते से खरीदिये—

५) प्रतिवार

२।) प्रतिवार

२।) प्रतिवार

१।) प्रतिवार

३) प्रतिवार

२।।) प्रतिवार

२।।) प्रतिवार

व्यापार संसार

बम्बई का व्यापार

मई मास की रिपोर्ट

स्टेटिस्टिकल ब्रांच न्यू कस्टम्स हाउस, बम्बई ने गत मास में बम्बई से होने वाले विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में निम्नलिखित आंकड़े प्रकाशित किये हैं.—

	मई १९३४ रुपये	मई १९३५ रुपये
व्यापारिक पदार्थों का आयात	४,११,२३,४६८	५,१०,६४,६५१
भारतीय पैदावार का निर्यात	३,२१,५८,१८७	३ ५६०० २३६
विदेशी वस्तुओं का निर्यात	१३ ५१,६२४	१६,६१ ८९०
सोने का आयात	३,४३,८८९	१४,३० ४७६
चांदी का आयात	११,७१,०३६	५९८००७
करेंसी नोटों का आयात	३४,४८५	६२०४५
सोने का निर्यात	५ १८,६७,७०१	१ ६१,०४ २४३
चांदी का निर्यात	१०,८३०००	६ ४०,०००
करेंसी नोटों का निर्यात	×	×

स्वदेशी बीमा कम्पनी

१९३४ की रिपोर्ट

१९३४ का स्वदेशी बीमा कम्पनी की रिपोर्ट हमारे सामने है। यह वर्ष इस कम्पनी के लिये सफल कहा जा सकता है। जहां गत वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष ७३५ पालिसियां अधिक गयीं। प्रीमियम की आमदनी ९२८९९(॥=) से बढ़कर २०२१९५)रु० होगई। जीवन-कोष ११५५०) रु० से बढ़कर ६७९८५) रु० होगया। इस रिपोर्ट से यह भी ज्ञात होता है कि कम्पनी ने यू० पी० के बाहर भी अपना क्षेत्र बढ़ाया है। आशा है, इस के अधिकारी आगामी वर्ष और भी अधिक उन्नति करेंगे।

रेलवे की आय में दो लाख की कमी

समस्त सरकारी रेलों की आय ११ मई १९३५ से २० मई १९३५ तक (१० दिन) २ करोड़ ६१ लाख रुपये हुई। परन्तु पहली मई सन १९३५ से १० मई सन १९३५ तक (१० दिन) उक्त रेलों की आय २ करोड़ ६३ लाख हुई थी। इस प्रकार सरकार को अन्तिम १० दिन की आय में पहले १० दिन की अपेक्षा २ लाख रुपये का नुकसान हुआ।

फसल को हानि

मैमनसिंह जिले में नदी के एकाएक बढ़ जाने से चावल और जूट की फसलों को नुकसान पहुंचा है।

पंजाब की फसल और मौसम

रोहतक में फसल को हानि

लाहौर ११ जून—१७ जून को जो सप्ताह समाप्त हुआ है—उसमें पंजाब के अधिकांश जिलों में हलकी सी वर्षा हुई, इससे खड़ी फसलों को लाभ पहुंचा। खड़ी फसल की हालत आमतौर पर औसत दर्जे की है। रोहतक में ईख और कपास को कीड़ा लगा हुआ है, उस मारने की चेष्टा की जा रही है। तहसील भलवाल (शाहपुर) और राजनपुर तहसील (डेरागाजीखां) में तम्बाकू की फसल को ओले से हानि हुई। बसन्त की अतिरिक्त फसल कट रही है चारों ओर पानी की भी प्रबन्ध है।

गेहूं की पंजाब में हालत

१६ जून तक समाप्त होने वाले सप्ताह में पंजाब में गेहूं की हालत अच्छी रही और अब यह अनुमान किया जाता है कि करांची का स्टाक लगभग ५०००० टन का है। बाजारों का टोन लगभग स्थिर सा रहा है। युक्तप्रान्त की हालत अधिक अच्छी नहीं है क्योंकि अभी स्टाक हर जगह पिछले वर्ष से कम है और पैदावार को भी काफी नुकसान हुआ है।

गेहूं

करांची, अमृतसर और हापुड़ में गेहूं का भाव गतसप्ताह निम्न लिखित रहा।

ता०	करांची (प्रतिखण्डी)	अमृतसर (प्रतिमन)	हापुड़ (प्रतिमन)
१७	२२।=)	३।-)	३॥=)
१८	२२।)	३-)	३॥-)॥
१९	२२॥	३।॥	३॥-)८
२०	२२)	३।॥।	३॥-)
२१	२२)	३)॥	३॥-)।

फिर सोना चला

१६ जून को समाप्त होने वाले सप्ताह में बम्बई से ३६६७६२३) रु० का सोना विदेशों में भेजा गया।

सोना-चांदी

गत सप्ताह सोने चांदी का उतार चढ़ाव इस तरह होता रहा—

सोना

ता०	पाटला	नेशनल	गिन्नी
१७	३४॥=)	३४॥=)	२२॥-)
१८	३४॥=)	३५॥)	२२॥)
१९	३४॥=)	३५॥)	२२॥-)
२०	३४॥=)	३५॥=)	२२॥-)॥
२१	३४॥=)	३५॥=)	२२॥-)
२२			

चांदी

ता०	विलायती	नजाबी	देसी
१७	७८।)	५६।)	७४)
१८	७८॥।)	७५।॥)	७४)
१९	७६॥=)	७५)	७०॥
२०	७६॥=)	७४॥।)	७२॥)
२१	७६-)	७३।)	७०)
२२	७६=)	७४॥।)	७०)

मौसम

मानसून शुरु

भारत के अनेक भागों में वर्षा का जोर होने लगा है। बम्बई और अहमदाबाद में इस सप्ताह अच्छी वर्षा हुई। २१ ता० की रिपोर्ट के अनुसार बरमा आसाम और दक्षिणी बंगाल में मानसून जोरों पर है। दिल्ली में थोड़ा सा ठण्डा मौसम हो कर फिर गर्मी शुरु होगई है। पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रान्त व काश्मीर में आंधियों का जोर रहा। यू० पी० में अभी तक तापमान साधारण से कुछ अधिक है। दक्षिणी बर्मा, आसाम, उड़ीसा, कोंकण, उत्तरी हैदराबाद, मलाबार, उत्तरी मद्रास आदि में साधारण वर्षा हो रही है। उत्तरी बरमा छोटा नागपुर, पूर्वी बिहार, मध्यप्रान्त राजपूताना (पूर्वी) बम्बई, दक्षिण हैदराबाद, दक्षिणी मद्रास की ओर वर्षा कम है।

भविष्य वाणी

बरमा, आसाम में वर्षा का जोर होगा। मालाबार, कोंकण तथा खाड़ी बंगाल के चारों ओर बढ़कर मौनसून के बिहार तक पहुंचने की सम्भावना है। पंजाब और उसके आसपास आंधी तूफान की सम्भावना है।

गत १ जून से निम्नलिखित स्थानों पर इतनी वर्षा हो चुकी है—

स्थान	वर्षा
अहमदनगर	३.८
अहमदाबाद	२.८
अमरावती	५ ३
बम्बई	१२.६
बंगलौर	६.५
चटगांव	१४.२
कटक	४ ४
कालीकट	१३ ०
कालम्बो	१ ८
दारजीलिंग	११ ४
करवार	१४ ३
मैसूर	३ ५
महाबलेश्वर	१३ ४
मरमागोआ	१ ३
पूना	५
रंगून	८ ०
रत्नागिरि	१८ ४
शोलापुर	३ ३

शीशे को संरक्षण नहीं मिलेगा

टैरिफ बोर्ड ने अपनी रिपोर्ट में शीशे के व्यवसाय को १० साल तक संरक्षण देने की सिफारिश की थी। लेकिन भारत सरकार ने तब तक संरक्षण देने से इन्कार कर दिया है जब तक भारतवर्ष में सोडा एश काफी मात्रा में मिलने न लगे। सरकार का कहना है कि शीशे के लिये कच्चा माल जब तक पैदा नहीं होने लगता भारतीय व्यवसाय पनप नहीं सकता। शीशे के लिये प्रयुक्त होने वाले विदेशी सोडा एश पर टैक्स सम्बन्धी सुविधायें करने की घोषणा भी हुई है।

नागरी लिपि के सुधार की योजना

(पृष्ठ २६ का शेष

डा० निरंजनप्रसाद चक्रवर्ती कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी के प्रधान अध्यापक श्री ललिताप्रसाद शुक्ल, लाहौर के वकील शंकरराम चन्द्रदत्त, बम्बई हाईकोर्ट के एडवोकेट श्री कन्हैयालाल मुंशी, बम्बई के पुस्तक-प्रकाशक श्री किशोरीलाल अग्रवाल और इन्दौर तथा गुजराती लिपि के अधिकारी श्री हरिजी गोविन्द।

इन्दौर में यह स्थिर हुआ था कि श्री प० ललिताप्रसाद शुक्ल श्री बाबू सुनीति चटर्जी और श्री हरिजी गोविन्द की एक उपसमिति बने और वह समिति इस विषय की योजना तैयार करे। डा० सुनीति चटर्जी के यूरोप जाने के पहले कलकत्ता में इस उपसमिति की बैठक हुई और योजना बन गयी है। श्री गोविन्द ने वर्तमान अक्षरों के आधार में कुछ परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया है वे ऐसे हैं परिवर्तन के विरोधी हैं जो भारत के छापेखानों और शिक्षा प्रणाली की वर्तमान अवस्था में सम्भव नहीं है।

श्री गोविन्द द्वारा प्रस्तावित नये अक्षर एक मास के अन्दर ही जनता में प्रदर्शित किये जायेंगे।

नागरी लिपि के सुधार की योजना

काका कालेलकर की विज्ञप्ति

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा आयोजित लिपि सम्मेलन के सयोजक तथा चेयरमैन काका कालेलकर ने निम्न वक्तव्य प्रकाशित कराया है—

लिपि परिषद् की बैठक हाल में इन्दौर में हुई थी और उनकी सिफारिश पर प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने एक कमेटी इस उद्देश्य से स्थापित की कि वह नागरी लिपि में उन्नति करने के लिये आवश्यक सिफारिशें करे नागरी लिपि को अधिक सहज अधिक वैज्ञानिक और उसे लिखने (छापने) के लायक अधिक उपयोगी बनाने की ओर कितने ही सार्वजनिक उत्साही व्यक्तियों का ध्यान गया है। अब वह समय आ गया है कि कोई केन्द्रीय संस्था इस काम को अपने हाथों में ले और समस्या हल करने के लिये कोई ऐसी स्कीम बनाये जो नागरी लिपि का व्यवहार करने वाली आम जनता को मंजूर हो।

हिन्दी मराठी और गुजराती में नागरी लिपि का ही व्यवहार एक या दूसरे रूप में होता है। बंगाली आसामी, उड़िया, गुरमुखी और शारदा लिपि भी किसी न किसी रूप में नागरी लिपि में हो लिखी जाती है। इन सब लिपियों का व्यवहार करने वाले लोग नागरी लिपि की उन्नति में दिलचस्पी रखते हैं। तामिल, तैलगू, कनाड़ी और मलयालम लिपियों की बुनियाद भी संस्कृत वर्णमाला पर है। नागरी लिपि उन्नति होने से उसका असर दक्षिण की लिपियों पर भी अवश्य पड़ेगा।

प्राचीन काल में संस्कृत भाषा का अन्तः प्रान्तीय प्रचार और वर्तमान काल में हिन्दी का राष्ट्रीयभाषा के तौर पर प्रचार होने से, नागरी लिपि को अखिल भारतीय प्रश्न की बुनियाद पर उन्नतिशील बनाने की समस्या सामने उपस्थित हो गई है। इस लिये जो लोग नागरी का सर्वव्यापी व्यवहार चाहते हैं उनसे मैं अपील करता हूं कि वे हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की लिपिकमेटी से सहयोग करें।

म० गांधी इस वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष हैं और वे स्वयं इस विषय में बड़ी दिलचस्पी ले रहे हैं। आशा है कि यदि लोकमत उचित सहयोग के साथ इस विषय पर प्रकाश डालेगा तो कुछ समय के भीतर काम चलाने लायक यह समस्या हल हो जायगी। जो सज्जन और संस्थायें इस राष्ट्रीय समस्या में दिलचस्पी रखते हों, उनसे प्रार्थना है कि वे अपनी सम्मति और स्कीम जरूरी प्लेटों और हिदायतों के साथ शीघ्र ही भेजें। इन सब पर कमेटी में बहस होगी और कुछ समय के बाद उन्हें जनता के सामने पेश किया जायगा। आशा की जाती है कि हम नागरी लिपि का वास्तविक भाव रखते हुए उसमें ऐसी अच्छी उन्नति कर सकेंगे जो वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हमारे अनुकूल हों।

सब चिट्ठी पत्री निम्नलिखित पते से भेजनी चाहियें.—

लिपि समिति कार्यालय मगनवाड़ी,
वर्धा (मध्य प्रदेश)

लिपि समिति के नीचे लिखे सदस्य आगामी २५ जून को वर्धा में निमन्त्रित किये गये हैं—

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष म० गांधी अजमेर के राजपूताना अजायब घर के रायबहादुर प० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पंजाब विश्व विद्यालय के वायस चांसलर डा० ए० सी० वुलनर, कलकत्ता विश्वविद्यालय के भाषा और उच्चारण विशेषज्ञ प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी लिपि परिषद् के सभापति और उद्योगकर्ता काका कालेलकर अन्नमलाई विश्वविद्यालय के डा० के० आर० पिसरोटी मद्रास सरकार के प्राचीन लिपि पाठोद्धारकारी

(शेष पृष्ठ २५ पर)

विषय-सूची

साप्ताहिक डायरी

३ अगस्त

—रावी नदी में पानी की बाढ़ के कारण 'सैयदवाला' कस्बे का आधा भाग जल मग्न होगया है। बहुत से मकान, मीनार गिर पड़े हैं। लोग भाग रहे हैं।

—पेशावर की खबर है कि वहां सुन्नारियों के दो दलों में भयंकर लड़ाई होगई। इसमें दो आदमी मर और तीन की दशा चिन्ताजनक है।

—हाजिरी और बोनस के जिन नये नियम पर कोलार की सोने की खानों में हड़ताल हुई थी, उन मैसूर माइनिंग कम्पनी के अधिकारियों ने रद्द कर दिया है। हड़ताली मजदूर काम पर आ रहे हैं।

—इलाहाबाद में गरम अफवाह है कि पं० जवाहरलाल नेहरू अक्तूबर मास में रिहा होजायेंगे, क्योंकि इनको मामूल कैद-अवधि खतम होने से पहिले उन्हें ४ मास की रियायत मिलेगी।

४ अगस्त

—बरसी के सेशन्स जज ने एक सुनार को मार देने के अभियोग में ४ व्यक्तियों को फांसी और २ को तीन-तीन वर्ष की कड़ी कैद की सजा दी है।

—एक हिन्दू धर्मशाला पर अधिकार जमाने के लिये सिक्खों के जत्थे अभी तक स्कापर (काश्मीर) जा रहे हैं। इस सिलसिले में ३० सिक्खों को सजा हो चुकी है और उनपर कुल मिला कर ४०००) जुर्माना हो चुका है।

—बड़ौदा में जगदीश मिल के हड़ताली मजदूरों व पुलिस में मुठभेड़ हो गई। पुलिस ने गोली चलाई, जिस से कई मजदूर घायल हुए।

—मथुरा जिले में खेतों में मजदूरी बढ़ाने के मामले पर दो-तीन गांवों के लगभग २०० आदमी परस्पर लाठी-लाठियों से खूब लड़े, जिस से १२ व्यक्ति सख्त घायल हो गये।

—डा० खान साहब एम० एल० ए० ने एक वक्तव्य में कहा है कि "खुदाई खिदमतगारों पर लगाये गये प्रतिबन्ध अन्याय-पूर्ण हैं, सरकार सिद्ध करे कि सीमा प्रांत के स्वयंसेवक पठान हिंसक हैं।'

—अहमदाबाद के पास के एक जंगल में सशस्त्र पुलिस वालों और डाकुओं में ३ घण्टे तक लड़ाई हुई। एक डाकू घायल हो कर गिर पड़ा और शेष भाग गये।

—लाहौर शहीदगंज मस्जिद के सम्बन्ध में भाषण देने के कारण ३ मुसलमानों को फिर गिरफ्तार कर लिया गया है।

—'सरपंच' के सम्पादक पंडित केशव मिश्र ने इलाहाबाद के सिटी-मजिस्ट्रेट की अदालत में पायोनियर, प्रताप, वर्तमान, हकीकत प्रयागपंच और मिल्लत के सम्पादकों पर मानहानि का दावा दायर कर दिया है।

५ अगस्त

—अफगानिस्तान में बाढ़ आने से खूनारकाल के पास देवगुल दर्रे में जन-धन की भारी हानि हुई है। २२ आदमी डूब चुके हैं।

—बम्बई में डौक-वर्कर्स यूनियन के वार्षिक चुनाव में झगड़ा हो गया। पुलिस ने बीच में पड़ कर लाठी-चार्ज किया और ३ व्यक्तियों को गिरफ्तार कर लिया।

—अजमेर के असेम्बली चुनाव केस में वादी श्री मुकुटबिहारीलाल ने अपनी दरख्वास्त वापिस ले ली।

—लाहौर की खबर है कि पंजाब में एक दिन में दुर्घटनाओं से १२ व्यक्ति मर गये।

—बंगाल और बिहार में पुलिस ने बहुत से मकानों की तलाशी लेकर बम, बारूद, कारतूस व डायनामाइट बरामद किया है।

—गाजियाबाद में पुलिस ने आधीरात को एक मकान पर छापा मारा और ढाई डाम कोकीन बरामद की।

—क्रीट (यूनान) में ६००० हड़तालियों ने सरकारी दफ्तरों पर हमला कर दिया। फलतः पुलिसवालों व हड़तालियों में मुठभेड़ हुई, जिस से ३० आदमी घायल हो गये।

६ अगस्त

—जोधपुर में एक कसाई ने एक हिन्दू साध्वी को लाठ और पत्थरों से नृशंसता-पूर्वक मार डाला।

—हापुड़ में शाम को ६ बजे भूकम्प का धक्का आया, जो कई सेकिण्ड तक रहा। जमीन में गड़-गड़ का शब्द भी हुआ था।

—पटना की खबर है कि प्रातः काल ४ बजे प्रसिद्ध आर्य-सन्यासी स्वामी मुनीश्वरानन्द जी का देहान्त हो गया।

—लाहौर की सरकारी विज्ञप्ति से ज्ञात हुआ है कि ७ अगस्त से लाहौर के पत्रों पर से सेन्सर उठा लिया जायगा।

—मुरारियां वाला (कानपुर) के पास सिक्खों के दो दलों में भीषण लड़ाई हो गई। फलतः ३ सिक्ख मर गये।

—बर्मा कौंसिल में मिनिस्टरों में अविश्वास का प्रस्ताव, प्रस्ताव के समर्थकों की कमी के कारण, पेश न हो सका।

—मुरादाबाद के आसपास एक अज्ञात खूंखार जानवर ने आतंक फैला रक्खा है। वह रात में आक्रमण करके कई लड़कियों को मार चुका है।

—रूस में हाल में 'परोस्टेड' नामक एक नई मशीन बनाई गई है, जिसमें बैलून व पैराशूट (उतरने की छत्री) दोनों शामिल हैं। इस मशीन का परीक्षण किया जा रहा है।

—लाहौर शहीदगंज मसजिद के मामले में ८ अभियुक्त माफी मांगकर छूट गये। शेष पर मुकदमा प्रारम्भ हो गया। १२३ अभियुक्तों ने सफाई के लिए लगभग १००० गवाहों का नाम लिखाया है।

७ अगस्त

—लाहौर किनारी बाजार में एक कुएं पर जिस हिन्दुओं की मिलकियत बताया जाता है, मुसल्मानों द्वारा छत बनाने से हिन्दुओं और मुसलमानों में मन मुटाव-सा हो गया है। हिन्दुओं ने उच्च-अधिकारियों के नाम दरख्वास्तें भेज दी हैं।

—काने ग्राम (वजीरिस्तान) में गत शुक्रवार को प्रलयकारी हवाई-तूफान आया, जिस से बहुत से मकान उड़ गये और वृक्ष गिर पड़े।

—कलकत्ता हाईकोर्ट के जजों ने आसाम सरकार की एक अपील खारिज करते हुये कहा है कि 'आसाम क्रिमिनल ला अमेन्डमेंट एक्ट का प्रान्त के बाहर कोई महत्व नहीं है'।

—रावलपिण्डी के एक खान ने अपने अधीनस्थ एक मंदिर को मिस्मार करने का निश्चय किया है जिससे वहां के हिन्दुओं में सनसनी फैल गयी है। हिन्दुओं ने सरकार से प्रार्थना की है कि मंदिर उन्हें दिला दिया जाय।

८ अगस्त

—कलकत्ते का समाचार है कि मटियाबुर्ज के पास गंगानदी में एक नाव पर २० बंगाली नवयुवकों ने डाका डाला और ३ व्यक्तियों के छुरा भोंककर बहुत सा माल लूट लिया। अभी कोई गिरफ्तारी नहीं हुई।

—जमशेदपुर के पास खोरकोई नदी में नाव दुर्घटना के कारण १२ आदमी डूब गये।

—अमरिका के मशहूर उड़ाके विलीपोस्ट सनफ्रांसिस्को से रूस जाते हुये अलास्का से आगे बढ़ गये।

—सहारनपुर जाते हुए लोक सेवक संघ के सदस्य श्रीछबीलदास लारी दुर्घटना में सख्त घायल होगये।

—मेरठ षड्यंत्र केस के भू० पू० अभियुक्त श्री मिरजकर गिरफ्तार हो गये।

—सेठ जमनालाल बजाज गांधी जी की एक लाख की थैली के सिलसिले में इन्दौर गये हैं।

—श्रीमती जफरअली उर्फ सावित्रीदेवी जेल से ५ साल की कैद भुगतकर रिहा होगई। उन के पति ने उनको तार द्वारा तलाक की सूचना भेज दी है।

९ अगस्त

—जोधपुर में आबकारी विभाग वालों और रींवा ग्राम के जागीरदार के आदमियों में गोली चल गयी। जमींदार मारा गया। कई दासियां और आदमी भी घायल हो गये।

—लाहौर म्युनिसिपैलिटी में अव्यवस्था होने के कारण बहुत सम्भवतः वह तोड़ दी जायगी और अंग्रेज अफसर रखा जायगा।

—लन्दन के 'डेली एक्सप्रेस' के कथनानुसार बहुत सम्भवतः सिंध के पहले गवरनर मि० जिन्ना बनाये जायगे।

—वैस्टर्न इंडिया मैच फैक्टरी बम्बई के १००० मजदूरों ने हड़ताल कर दी।

—जी० आई० पी० रेलवे के वाडी बन्दर के मजदूरों ने हड़ताल कर दी है।

—ढाका में जिला मजिस्ट्रेट ने १२ से ३० साल तक के उम्र वालों पर बहुत से सार्वजनिक स्थानों पर जाने की पाबन्दी एक साल के लिये और बढ़ा दी है।

—दिल्ली के भू० पू० चीफ कमिश्नर थाम्पसन का आपरेशन के बाद देहान्त हो गया है।

—नये आर्थिक कानूनों के कारण फ्रांस के डाकवालों में अत्यन्त असन्तोष फैल गया है और हड़ताल ने भीषण रूप धारण कर लिया है।

—बंगाल सरकार पब्लिक सैक्यूरिटी ऐक्ट की अवधि ५ साल के लिये और बढ़ाने की सोच रही है।

—डेनज़िग और पोलैंड में एक व्यापारिक समझौता हो गया है।

—श्री केलकर और अणे ने नेशनलिस्ट पार्टी की स्थापना कर दी है और मालवीय जी से अन्तिम स्वीकृति शीघ्र ली जायगी।

सप्ताह की हलचल

अबीसीनिया पर विषैली गैसों से हमला होगा ?

इटली को आर्थिक सहायता नही मिली

जापान और जर्मनी अबीसीनिया को सहायता देंगे

—— : ——

यद्यपि इटली और अबीसीनिया के मामले पर राष्ट्र-संघ में समझौते की चर्चा जारी है तथापि दोनों देशों की युद्ध की तैयारियों में कोई अन्तर नहीं आया।

इटली में लगभग सवा बाईस लाख सैनिक और कम से कम १५ हजार विशेषज्ञ युद्ध के लिये तैयार हैं परन्तु बजाय स्थल के इटली हवाई जहाजों से गैसों के सहारे अबीसीनिया को कुचल देने की स्कीम बना रहा है। मालूम हुआ है कि लड़ाई की शुरुआत में वह ४०० हवाई जहाजों द्वारा अबीसीनिया में ऐसा गैस फैला देने का इरादा कर रहा है जिस से अबीसीनियन अन्धे से बन जाय और उनकी आँखों से आँसू ही आँसू बहने लगें। इसमें भी सफलता न मिली तो फिर जहरीली गैस का प्रयोग किया जायगा परन्तु विश्व-व्यापी लोकमत और मनुष्यता के ख्याल से अपने बस भर इससे बचने की चेष्टा की जायगी—साथ ही ऐसा करके वह उन लोगों को अपना बिलकुल विरोधी भी नहीं बना लेना चाहता, जहाँ कि वह बस्ती बसाना चाहता है।

उक्त गैसों से स्व रक्षा के लिये इटली के सैनिकों को ऐसी नकाबें दी जा रही हैं जो इसी काम के लिये खास तौर पर बनाई गई हैं। लिमिली में ?? भर के ५०० बम अथवा ?? या घातक गैस को ?? जाने वाले द्रुतगामी वायुयानों के उपयोग की तैयारी में शिक्षा दी जा रही है। फायट के कारखाने में ५० द्रुतगामी वायुयान बन चुके हैं और अब उन पर अभ्यास किया जा रहा है। ५०६ नये वायुयानों का आर्डर दिया गया है। प्रत्येक वायुयान में, दो एञ्जिन होंगे और ३०० मील प्रति घण्टा उनकी रफ्तार होगी।

उधर अबीसीनिया भी जर्मनी व जापान से गैस से बचाने वाली नकाबें और नये किस्म के हथियार मंगा रहा है।

इटली को फ्रांस से भी बहुत कुछ सहूलियत मिलने की सम्भावना है। अफ्रीका की फ्रेंच सीमा से इटैलियन सेना गुजर सकेगी। यह भी खबर है कि ब्रिटेन के बहुत से अफसरों, सैनिकों, डाक्टरों और नर्सों ने इटली को सहयोग देने का वचन दिया है। इसके लिये इटली-सरकार 'फोरन लीजन' भी कायम कर रही है जो विदेशी नागरिकों को सेना में भर्ती करेगा।

इटली के मार्ग में एक बहुत बड़ी कठिनता आ गई है। उसने इंग्लैंड फ्रांस और अमेरिका से रुई तथा अन्य युद्धपयोगी सामान उधार लेना चाहा, लेकिन किसी ने भी आर्थिक सहायता देनी स्वीकार नहीं की।

वस्तुतः इटली की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है कि वह अन्य राष्ट्रों से सहायता लिए बिना कोई बड़ा युद्ध छेड़ सके और अन्य देशों को यह विश्वास नहीं कि वह रुपया वापस दे सके।

————

५ मरे : ७ घायल

चम्पारन में दंगा

सरकारी वक्तव्य

चम्पारन जिले के फेनहारा ग्राम में कई महीनों से हिन्दुओं व मुसलिमों के बीच संघर्ष चला आ रहा था। बकरईद के मौके पर कुछ शरारती लोगों ने फेनहारा ग्राम के एक मन्दिर में एक जिबह किए हुए बछड़े का सिर फेंक दिया था। इस घटना से दोनों सम्प्रदायों में तनाव बढ़ गया।

५ अगस्त की शाम को महावीर झण्डे के जलूस का रास्ता नियत कर दिया गया और हिन्दुओं ने उसे स्वीकार कर लिया। पहले दिन अर्थात् ३ अगस्त को कोई झगड़ा नहीं हुआ परन्तु ४ अगस्त को तीसरे पहर हिन्दू जलूसियों ने समझौते की अवहेलना की और नियत किये गये मार्ग को छोड़ दिया। हिन्दुओं की भीड़ अधिकाधिक उग्र होती गई और जब वह ईदगाह पर हमला करने लगी तब पुलिस को गोली चलानी पड़ी। जिस से ५ हिंदू मरे और ७ घायल हुए।

कांग्रेस और समाजवादी दल में संघर्ष नहीं होगा

मन्त्री साम्यवादी दल का वक्तव्य

कांग्रेस और उसके अन्तर्गत साम्यवादी दल में कुछ समय से संघर्ष बढ़ रहा था। परन्तु अब मालूम पड़ता है कि दोनों संस्थायें अपनी २ भूल समझ गई हैं। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने जहाँ श्री शंकर की बात मान कर मजदूर सम्बन्धी समस्याओं पर गम्भीरता से विचार करने का निश्चय किया है, वहाँ कांग्रेसवादी दल ने भी अपना रुख बदला है। काशी में इस दल की कार्यकारिणी समिति में इस प्रश्न पर विचार हुआ है। उसके बाद साम्यवादी दल के प्रधान मन्त्री श्री जयप्रकाशनारायण ने निम्न लिखित आशय का वक्तव्य दिया है—

कांग्रेस समाजवादी दल कांग्रेस को पूर्ण समाजवादी सिद्धांतों को स्वीकार करने के लिये परिवर्तित करने का यत्न करना छोड़ दे। अर्थात् समाजवादी दल कांग्रेस पर कब्जा करने का यत्न न करेगा प्रत्युत सब से मिलकर देश के मजूर किसान तथा मध्यवर्गीय जनसमूह के लिए जिनको आज हर तरह से शोषण हो रहा है, पूर्ण राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का यत्न करेगा।

मतलब यह कि जहाँ पहले केवल मजूर वर्ग की आकांक्षाओं पर ही जोर दिया जाता था, वहाँ अब सब शोषित वर्गों की आकांक्षाओं का ख्याल किया जायगा।

कांग्रेस समाजवादी दल की कार्यसमिति यह स्पष्ट कर देना उचित समझती है कि हमारी नीति यह कभी नहीं था कि कांग्रेस पर आक्रमण किया जाय या उसकी शक्ति घटायी जाय। कांग्रेस एक आदर्श है और एक संस्था है और इन दोनों की रक्षा करना तथा बढ़ाना ही वस्तुतः हमारा लक्ष्य रहा है।

————

श्री सक्सेना ने नाम वापिस ले लिया

स्वागत-समिति के प्रधान पद की उम्मेदवारी से

श्रीयुत मोहनलाल सक्सेना एम० एल० ए० ने आगामी कांग्रेस की स्वागत समिति के सभापति पद की उम्मेदवारी से अपना नाम वापिस ले लिया है।

संयुक्त प्रां० कांग्रेस कमेटी की कार्य-समिति ने निश्चय किया था कि यदि लखनऊ के कांग्रेस कार्यकर्ताओं में दो सप्ताह के अन्दर अन्दर कोई समझौता नहीं हुआ तो समिति कांग्रेस अधिवेशन का स्थान बदलने के संबंध में विचार करेगी।

——

अमरीका में धनवानों पर टैक्स

श्री रूजवेल्ट का बिल

५ अगस्त को धनवानों पर टैक्स लगाने सम्बन्धी बिल संयुक्त अमरीका के हाउस आफ रिप्रेजेन्टेटिव (प्रतिनिधि-सभा) में पास होगया। इस बिल के अनुसार उन व्यक्तियों पर, जिनकी आमदनी ५० हजार डालर से अधिक है, टैक्स बढ़ा दिया जायगा। अब यह बिल सीनेट में पेश होगा।

——

बंगाल के बेताज बादशाह

श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

आप की पुण्यतिथि इस सप्ताह मनाई गई।

चित्र-परिचय

श्री जमनालाल बजाज

आपने एक वक्तव्य प्रकाशित किया है कि आप कांग्रेस का सभापतित्व स्वीकार नहीं करेंगे।

श्री भूलाभाई देसाई

आप ने राष्ट्रपति को एक पत्र लिखा है कि देशी प्रजा के सम्बन्ध में वे कांग्रेस की नीति से पूर्ण सहमत हैं।

लार्ड जटलैंड

आप भारत के नये मंत्री हैं और नये शासन विधान को कार्यान्वित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

श्री रासतफारी

आपने कहा है कि अबीसीनिया इटली के सामने कभी नहीं झुकेगा।

सोमवार ता० १२ अगस्त १९३५ ई०

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्

निर्वाचन क्षेत्रों की तैयारी

नया शासन-विधान अब कानून का रूप धारण कर चुका है, इसलिए राजनीतिक क्षेत्रों में एक विशेष हलचल पैदा हो गई है। देश का प्रत्येक राजनीतिक दल नये शासन-विधान में अपने अस्तित्व को कायम रखने और उसे अधिक स्थिर, अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये अभी से प्रयत्न कर रहा है। मद्रास की जस्टिस-पार्टी अभी पिछले असेम्बली-चुनाव के धक्के से ही नहीं संभल पायी है। महाराष्ट्र की डैमोक्रेटिक-पार्टी अपने नये सिरे से संगठन के लिये विशेष चिन्ता करने लग गयी है। संयुक्त प्रान्त में लिबरल दल भी सोचने लगा है कि भावी शासन-विधान में उसकी स्थिति क्या होनी चाहिये, उसे किस दल से सहयोग करना चाहिये। इधर कांग्रेस के 'पार्लमेण्टरी-नेता' भी अत्यन्त गम्भीरता से भावी विधान में कांग्रेसी-दल की नीति पर विचार करने लगे हैं। यह भी विचार किया जाने लगा है कि क्या किन्हीं शर्तों पर अन्य राजनीतिक-दलों से भी चुनाव के सम्बन्ध में सहयोग किया जा सकता है या नहीं? ये सब दल अपने-अपने कार्य को प्रारम्भ करने वाले हैं, लेकिन संयुक्त प्रान्त के जमींदार दल ने तो ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी पार्टी को संगठित करना प्रारम्भ भी कर दिया है। पिछले गतांक में नवाब छतारी के इस दल का संगठन करने पर लिखा जा चुका है। जमींदार-दल के दूसरे प्रमुख सदस्य और संयुक्त प्रान्तीय सरकार के स्थानीय संस्थाओं के मन्त्री नवाब सर मुहम्मद यूसुफ ने अपने पद की हैसियत से प्रान्त के भ्रमण करते हुए जमींदार-दल का बड़े जोरों से प्रचार शुरु कर दिया है। नगीना में म्युनिसिपल बोर्ड के अभिनन्दन-पत्र के उत्तर में उन्हों ने जो भाषण दिया है, वह उन के अपने दल के संगठन के प्रचार का एक अच्छा उदाहरण है। नये शासन-विधान के मातहत आने वाले चुनावों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं—"जब तक तुम अपने को सुगठित नहीं करते, जब तक तुम सम्पूर्ण समस्या पर गंभीरता से विचार नहीं करते, जबतक अपनी सब कठिनताओं को अपने सामने नहीं रख लेते, जब तक तुम उन विध्वंसकारी कार्यक्रमों का जो जनता को गुमराह करने वाले सिद्ध होंगे, मुकाबला करने के लिए, अपने को सन्नद्ध नहीं कर लेते, जबतक तुम उनकी परीक्षा करने, विश्लेषण करने और उनका प्रतिवाद करने की स्थिति मे नहीं पहुंच जाते, (यह मोटा टाइप हमारा है) तबतक शक्ति प्राप्त करने में तुम्हें बहुत कठिनाइयां होंगी।' मोटे टाइप में दिये गये शब्द स्पष्टरूपेण किसी दल का विरोध करने के लिये कहे गये हैं। और वह दल कौनसा है, यह कुछ आगे स्पष्ट हो जायगा। अपने भाषण में वे आगे कहते हैं कि तुम से जो प्रतिज्ञाएं करते हैं कि तुम्हारे करों में कमी हो जायगी, उन प्रतिज्ञाओं को वे कहां तक पूरा कर सकेंगे, यह भी तुम्हें अभी से सोच लेना चाहिये। करों को हटाने से म्युनिसिपैलिटियां या जिला बोर्ड अपना काम कैसे करेंगे। इस वाक्य में स्पष्टतः यू० पी० के कांग्रेसी दल की ओर संकेत किया गया है। कुछ दिन पूर्व संयुक्त प्रांत की कांग्रेस कमेटी ने स्थानीय संस्थाओं पर अधिकार करके कर कम करवाने का कार्यक्रम रखा था। उस प्रांत में साम्यवादी समाज का जोर भी अधिक है, कांग्रेस में साम्यवादियों की संख्या ज्यादा है। इस ओर इशारा करते हुए नवाब साहब ने कहा है—"हमें फासिज्म, नाजिज्म और बोलशेविज्म आदि की फिलासफियों से प्रभावित नहीं होना चाहिये। ये आदर्श देश के जमींदारों और किसानों व पूंजीपतियों और मजदूरों में संघर्ष उत्पन्न कर देंगे।" स्पष्टतः ये शब्द कांग्रेस के विरोध में कहे गये हैं। किसानों के हित की आवाज केवल कांग्रेस की ओर से उठ रही है। वस्तुतः नवाब साहब को विश्वास है कि नये चुनाव में कांग्रेस का जोर अधिक रहेगा, लिबरल आदि अन्य कोई दल जोर न पकड़ सकेगा, इसलिए उसी के विरुद्ध अभी से बाकायदा आंदोलन जारी कर दिया गया है।

कांग्रेसी कार्यकर्ता इस ओर से उदासीन नहीं रहेंगे, यह हमारा विश्वास है। लेकिन हम उनकी सेवा में यह निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि विरोधी दल इस बार अपनी सम्पूर्ण शक्ति लेकर चुनाव के अखाड़े में उतरना चाहता है। जमींदार के पास इस युद्ध के लिए पैसा बहुत है और गांव की निरीह भोली किसान जनता पर उसका दबदबा भी कम नहीं है। इन दोनों का प्रयोग वह आगामी चुनाव में पूरे जोर से करेगा। उसे वस्तुतः भय है कि कांग्रेसी सदस्यों के बहुमत के आगे जमींदारों के अनुचित हितों की रक्षा न हो सकेगी और उनका आज का वैभव, जो किसानों के पसीने की कमाई से बना है, कायम न रह सकेगा। इसीलिये वह पूरा जोर लगा कर अपने वैभव की रक्षा करना चाहता है।

इसीलिये कांग्रेसी कार्यकर्ताओं का भी कर्तव्य है कि वे आज के समय को व्यर्थ की बातों में न खो कर अभी से निर्वाचन क्षेत्रों को तैयार करने में लगा दें। उनके संगठन कार्य का श्रीगणेश अभी जल्दी से शुरु हो जाना चाहिये। विरोधी छोटा भी क्यों न हो, उसकी उपेक्षा न करनी चाहिये। फिर जमींदारों के पास तो सत्ता और धन दोनों पर्याप्त संख्या में है, जिनका प्रभाव चुनाव पर कम नहीं पड़ता। इसलिये कांग्रेसी नेताओं का कर्तव्य स्पष्ट है कि वे भी निर्वाचन क्षेत्र को अभी से तैयार करना शुरु कर दें, ताकि समय पर कठिनता न हो।

नया वायसराय

आखिर नये वायसराय का नाम घोषित कर ही दिया गया। लार्ड लिनलिथगो का नाम पहले से ही लिया जा रहा था, इसलिये इस घोषणा से हमें कोई आश्चर्य नहीं हुआ। बहुत संभवतः वे इस पद पर इस कारण नियुक्त किए गये हैं कि ज्वाइंट पार्लमेंटरी सिलेक्ट कमेटी के उनके अध्यक्ष रहने के कारण भारतीय स्थिति और नये शासन-विधान से वे भलीभांति परिचित हैं इसलिये वे नये शासन-विधान को और सज्जनों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह चला सकेंगे, इसमें सदेह नहीं करना चाहिये। ज्वायंट पार्लमेंटरी सिलैक्ट कमेटी की लम्बी बैठकों में नये शासनविधान की प्रत्येक धारा और उपधारा पर खूब विस्तार से विचार हुआ है। लार्ड लिनलिथगो प्रत्येक प्रश्न पर ब्रिटेन के राजनैतिक दलों—और खासकर अनुदार और प्रतिगामी दलों के—दृष्टिकोण से खूब अच्छी तरह परिचित होगये हैं। नये शासन-विधान से परिचित होने के कारण वे जहां उसे भली भांति चला सकेंगे, वहां हम भारतीयों को यह भी समझ लेना चाहिए कि वे उन्नति विरोधी अंगों का प्रभावशाली रूप से प्रयोग करने में संकोच न करेंगे। अखबार के नियमित पाठकों से यह अविदित नहीं है कि ज्वायंट सिलैक्ट कमेटी की सिफारिशें व्हाइट पेपर की सिफारशों से कहीं उन्नतिविरोधी थीं। १९१९ की प्रस्तावना पर आग्रह, औपनिवेशिक स्वराज्य का नाम तक उड़ा देना, संघीय असेम्बली और कौंसिलों का अप्रत्यक्ष चुनाव तथा गवर्नर जनरल के भेद भाव-विरोधी विशेषाधिकारों में वृद्धि आदि उस सिलैक्ट कमेटी की रिपोर्ट के विशेष अंग हैं, जिसके लार्ड लिनलिथगो प्रधान थे। तब उनसे यह आशा

नहो की जा सकतो कि वे उन्नति विरोधी अंशो की उपेक्षा करेंगे। यदि हम यह कहें कि ब्रिटेन के प्रतिगामी दल और अनुदार दल के दृष्टिकोणो का समन्वय उनकी शासन नीति होगी तो हम ऐसी कोई बात न कहेंगे, जिसकी सम्भावना ही न हो। यह निश्चित है कि वे मि० लैंसबरी के संशोधनों और सिलैक्ट कमेटी के सामने पेश की गई भारतीय दल की मांगों के विरोधी हैं। इसी से उनकी भावी नीति का कुछ अन्दाजा लगाया जा सकता है।

सम्पादकीय विचार

मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों से भी

सिंध के प्रमुख कांग्रेसी कार्यकर्ता श्री सिधवा ने ठीक समय पर देश को और विशेषकर कांग्रेस को एक चेतावनी देकर बहुत उचित किया है। उनका कहना है कि भावी शासन-विधान में कांग्रेस की ओर से कौंसिलों और असेम्बली का चुनाव लड़ा जायगा, यह निश्चित ही होगया है। कांग्रेस के कार्यकर्ता अभी से चुनाव की सफलता के लिए तैयारियां जोरों से शुरू कर देंगे और विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में कुछ ही समय बाद चुनाव का आंदोलन जोरों से शुरू होजायगा। श्रीयुत सिधवा कहते हैं कि कांग्रेस को केवल हिंदू निर्वाचन क्षेत्रों में ही चुनाव का बिगुल नहीं बजाना चाहिये। किन्तु मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों में योग्य और राष्ट्रीय विचार के प्रभावशाली मुसलमानों को भी खड़ा करना चाहिए। वस्तुतः उनकी सूचना बहुत महत्वपूर्ण है। दुर्भाग्य से यह सच है कि भारतीय मुस्लिम जनता पर सांप्रदायिक नेताओं का अधिक प्रभाव है। वे भारतीय बन कर देश की राजनैतिक समस्याओं पर विचार नहीं करते। असेम्बली के गत चुनाव में भी मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र में केवल एक मुसलमान खड़ा किया गया था। अन्य स्थानों में कांग्रेसी मुसलमान उम्मीदवार क्यों नहीं खड़े किये गये, इसका बहुत सम्भवतः यही कारण था कि कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को उन क्षेत्रों में विजय की आशा ही न थी या वे मुसलमान जनता को नाराज नहीं करना चाहते थे। जब तक कांग्रेस मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों पर अधिकार नहीं करती, तब तक वह कौंसिलों में कांग्रेस अपना अमोघ पूर्ण नहीं कर सकती। सिंध पंजाब, सीमाप्रांत और बंगाल में तो मुसलमान सदस्यों का बहुमत होगा ही, अन्य प्रांतों में भी मुस्लिम सदस्यों की सहायता के बिना कुछ नहीं हो सकता। मुसलमानों के स्वतंत्र दल पर कांग्रेस को निर्भर नहीं रहना चाहिए। भावी शासन विधान की कौंसिलों में सरकार अपनी पूरी शक्ति सहित तैयार रहेगी, इसलिए उसका मुकाबला भी पूरी तैयारी के साथ होना चाहिए। वहां ऐसे ही सदस्य जाने चाहियें, जो पार्टी के नियंत्रण में बंधे हुए हों। इसलिए कांग्रेस को इस बार अपना विशेष ध्यान इधर देना चाहिए। अपने को राष्ट्रीय कांग्रेसी कहने वाले मुस्लिम नेताओं का कर्तव्य भी स्पष्ट है। उन्हें चाहिए कि वे एक बार साम्प्रदायिकता में डूबी हुई मुस्लिम जनता के समुद्र में कूद पड़ें और उसे बलपूर्वक साम्प्रदायिक वातावरण से ऊपर ले आवें। इस कार्य में आने वाली कठिनाइयों से उन्हें डरना न चाहिए। यदि इस समय उन्होंने अपना कर्तव्य पालन न किया, तो उनका यह देश विद्रोह ही होगा।

---

२० मिनट में १५ करोड़

५ अगस्त से १५ अगस्त तक सरकार ने १५ करोड़ रुपया लेने के दिन नियत किये थे। ५ अगस्त को १० बजे बैंक खुले और २० मिनट बाद सरकार को तार द्वारा सब स्थानों पर सूचना दे देनी पड़ी कि कर्ज की रकम पूरी हो चुकी है और अब कर्ज नहीं लिया जायगा। यह कर्ज कोई ज्यादा सूद पर नहीं दिया गया था, केवल तीन फीसदी सूद पर २० मिनट में सरकार को १५ करोड़ रुपया मिल गया। जहां यह भारत-सरकार की साख की उन्नति की सूचना देता है वहां यह इस बात का भी प्रबल प्रमाण है कि आज देश की व्यावसायिक व व्यापारिक दशा कितनी खराब है। विदेशों से सैकड़ों प्रकार की छोटी बड़ी चीजों से भारतीय बाजार छाया हुआ है। यहां कितनी अधिक व्यावसायिक उन्नति की आवश्यकता है, यह सभी जानते हैं, लेकिन बाजार इतना खराब है कि पूंजीपति अत्यन्त आवश्यक व्यवसायों व व्यापार में पैसा लगाने से डरते हैं। क्या सरकार व्यावसायिक उन्नति की ओर विशेष रूप से ध्यान देगी?

सब के दिल की बात

"मैं जानता हूं कि भारत वासी क्या चाहते हैं। वे वैसी ही सरकार चाहते हैं, जैसी श्री जेम्स के देश (इंग्लैंड) में है।" मद्रास के यूरोपियन एसोसियेशन की ओर से बुलाई गई सभा में श्री सत्यमूर्ति ने श्री जेम्स के एक सवाल का जवाब देते हुए उपर्युक्त शब्द कहे थे। इस एक वक्तव्य में श्री सत्यमूर्ति ने प्रत्येक भारत वासी के दिल की बात कह दी है। ब्रिटिश अधिकारी बार बार पूछते हैं कि आखिर बताओ तो सही कि तुम क्या चाहते हो। इसका जवाब श्री सत्यमूर्ति ने बहुत स्पष्ट शब्दों में दे दिया है। जो ब्रिटिश जनता अपने देश में अधिकार चाहती है, वही हम भी चाहते हैं। इसी में हमारी सब मांगें आ गई हैं।

मजदूर-नेताओं से

हर्ष की बात है कि भारतीय मजदूर-नेताओं के दोनों दल बम्बई में मिल गये हैं। अ० भा० ट्रेड-यूनियन और नेशनल ट्रेड-यूनियन के कार्य-कर्ताओं ने मिल कर 'अखिल भारतीय ज्वायण्ट लेबर बोर्ड' बनाया है। यह बोर्ड नागपुर के अधिवेशन के समय पृथक हुए दो दलों को एक करके भारतवर्ष के शिथिल मजदूर आन्दोलन को फिर से संगठित करने का प्रयत्न करेगा। हम इस प्रयत्न का स्वागत करते हैं। आज भारतीय मजदूरों की जो दुर्दशा है, उसका प्रधान कारण मजदूर-नेताओं की आपस में फूट है। बम्बई की पिछली हड़ताल का दुःखजनक अन्त इसी कारण हुआ था। अब दोनों दल मिल गये हैं और हमें आशा है कि अब मजदूर आन्दोलन उन्नति करेगा, इस अवसर पर एक निवेदन हम मजदूर नेताओं से अवश्य करेंगे। वह यह कि वे जहां मजदूरों की आर्थिक कठिनाइयों के लिये मिल मालिकों के अत्याचारों से उनकी रक्षा करें वहां वे मजदूरों की सामाजिक कुरीतियों से भी रक्षा करने की ओर कम ध्यान न दें। हमारा यह अपने अनुभव के आधार पर यह विश्वास है कि मजदूरों की आर्थिक दुरवस्था का प्रधान कारण उनकी सामाजिक कुरीतियां तथा जुआ और शराब हैं। यदि हम मजदूरों का वास्तविक हित चाहते हैं, तो इस की ओर उपेक्षा रत्ती भर भी न करनी चाहिये।

प्रेस एक्ट की अवधि

प्रेस आर्डिनेंस की अवधि आगामी दिसम्बर में समाप्त हो जायगी, इसलिए सरकार असेम्बली के आगामी अधिवेशन में अवधि बढ़ाने के लिये जोर देने की तय्यारी कर रही है। आर्डिनेंस अखबारों पर एक ऐसी नंगी तलवार है, जो उन्हें ईमानदारी से कुछ भी लिखने से रोकती है। इस आर्डिनेंस की वजह से सम्पादक न जनता के दुःखों को प्रकाश में ला सकता है और न देशहित की प्रतिकूल नीति की ही ठीक तौर से आलोचना कर सकता है। श्रीयुत एण्ड्रूज ने ठीक ही कहा है— "इंगलैंड या फ्रांस जैसे स्वतंत्र देश में ऐसा प्रेस एक्ट एक भी मिनट बरदाश्त नहीं किया जा सकता।" कलकत्ता के पत्रकार सम्मेलन में इस बिल पर विचार किया जायगा। हमें आशा है कि वहां उपस्थित प्रतिनिधि इस के विरुद्ध प्रबल और प्रभावशाली आंदोलन की योजना अवश्य निश्चित करेंगे जिससे सरकार को बाधित किया जा सके कि वह आर्डिनेंस की अवधि और न बढ़ा सके।

श्री मोहन लाल का त्याग

लखनऊ के कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में स्वागत समिति के सम्बन्ध में मतभेद उग्र हो चुका था, यह पाठकों से अविदित नहीं है। अब श्री मोहनलाल सक्सेना एम० एल० ए० ने स्वागत समिति के अध्यक्षपद की उम्मीदवारी से अपना नाम वापिस ले लिया है इससे हमें आशा करनी चाहिये कि स्थिति जरूर सुलझ जायगी। हम श्री मोहनलाल का इस त्याग के लिये अभिनन्दन करते हैं। वस्तुतः जिस संस्था के गौरव की रक्षा हमारा उद्देश्य हो उसी के पदों के लिये परस्पर लड़कर उसकी अप्रतिष्ठा करने से बढ़कर कोई अदूरदर्शिता नहीं हो सकती। श्री मोहनलाल ने कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के सामने एक आदर्श रखा है। इस के लिये उन्हें प्रत्येक कांग्रेसी बधाई देगा।

सुदूर पूर्व या प्रशान्त सागर की समस्याएं

(ले०—श्री महाव्रत विद्यालंकार)

प्रशांत महासागर के पूर्वीय तट पर चीन महादेश तथा उस से उत्तर पश्चिम की ओर दो तीन दिन की जहाजी यात्रा की दूरी पर जापानी द्वीपसमूह है। इन दोनों पीत देशों के सामने ही पश्चिमीय तट पर अमेरिका महादेश है। दक्षिण में डच अधिकृत ओर्नियो, जावा इत्यादि तथा अंग्रेज अधिकृत आस्ट्रेलिया महाद्वीप-न्यूजीलैंड इत्यादि द्वीप हैं। चीन के दक्षिण में फ्रेंच अनाम भी है। चीन के उत्तर में मंचूरिया से ऊपर साइबेरिया का पूर्वीय विस्तार है, जिस पर सोवियट रूस का अधिकार है। इस प्रकार प्रशांत महासागर के पूर्वीय तट पर पीतकाय जातियां—जापान चीन अनाम स्याम है तथा दक्षिण पश्चिम तट पर गोरी जातियां—डच, अंग्रेज तथा अमेरिकन हैं। इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत हो सकता है कि एक ओर जहां सफेद और पीली जातियों के बीच संघर्ष की सम्भावना है वहां जापान की प्रबल सैन्यशक्ति तथा उसके द्वारा चीन महाप्रदेश पर अधिकार की प्रबल महत्वाकांक्षा के कारण पीत जातियों में भी खूब संघर्ष मचा हुआ है। यदि चीन और जापान दोनों पूर्वीय देश आर्थिक और सैनिक दृष्टि से समान सबल होते तो प्रशांत महासागर से गोरी जातियों के बल के नष्ट होने की आशा की जा सकती थी परन्तु यह सम्भावना अभी बहुत दूर है। चीन में मंचू राजवंश के पतन को २५ वर्ष हो चुके। वहां प्रजातन्त्र की स्थापना भी हो चुकी परन्तु चीन अभी तक अपनी आन्तरिक कमजोरियों से छुटकारा नहीं पा सका। इस के अनेक कारणों में से प्रधान कारण यही प्रतीत होता है कि डा० सन्यातसेन की कुओमिङ्तांग (नेशनलिस्ट) पार्टी चीन की राजनीतिक और आर्थिक उन्नति के व्यावहारिक तरीकों को अख्तियार किये बिना सफल नहीं हो सकती।

जो बात चीन में डा० सन्यातसेन की पार्टी एक मिशन था उनकी इन्हीं कदमावस्थाओं के साथ लागू होती है वही अनेक अंशों में हमारे देश में महात्मा गांधी जी की पार्टी तथा उनके विचारों द्वारा दोहराई जाती है। मंचू राजवंश के पतन के बाद कुओमिङ्तांग का कर्तव्य था कि कृषि प्रणाली में सुधार किये जाते व्यवहार में कोरे शब्दों से ही किया जाता कृषक जनता को महाजनों के कर्जों से बचाया जाता विदेशियों को दी गई रियायतें शनै २ घटा कर समाप्त की जातीं नवीन व्यवसाय प्रारम्भ किये जाते तथा आंतरिक और बाह्य व्यापार की तरक्की की जाती परन्तु इस दशा में कुछ नहीं हुआ। डा० सन्यातसेन के जीवनकाल में प्रजातन्त्र के प्रति प्रेम और भक्ति जादू करती रहीं परन्तु उनके दिवंगत हो जाने पर जैसे चिंग शासन में बोगस वैध शासन द्वारा केन्द्रीय सरकार की स्थापना की गई थी वैसे ही बोगस 'रिपब्लिकन सरकार की स्थापना की गई।

चीनी प्रजातन्त्र भक्तों की आंखें अपने महान पिता की मृत्यु के शोकाश्रुओं से अभी गीली ही थीं कि भिन्न २ प्रांतों के स्थानीय शासकों ने केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध बलवा कर दिया और अपने २ प्रांतों के शासक बन बैठे। प्रांतीय शासकों की बगावत के साथ २ कुओमिङ्तांग के केन्द्रीय संगठन पर भी चांगकाई शेक सदृश महत्वाकांक्षी व्यक्तियों का अधिकार हो गया। डा० सनयातसेन की मृत्यु के तीन वर्ष के अन्दर ही चीनी प्रजातन्त्र तथा उसकी नेता पार्टी अपने लक्ष्य से विमुख होगई। डा० सनयातसेन की मृत्यु के बाद ही चीन में जनसाधारण की विशाल प्रगति का जन्म हुआ—जिस पर साम्यवाद तथा व्यापार संघ की छाप थी। इस प्रगति का दण्ड पर शंघाई तथा अन्य तटवर्ती व्यवसायिक नगरों की श्रेणीबद्ध चेतनापूर्ण समाज तथा देहातों का अत्यन्त सदियों का पददलित कृषकसमाज था। यदि चीन में इस प्रगति को उन्नति मिलती और १९२७ का विश्वासघात न होता (जिसमें चांगकाई शेक की मुख्य हाथ था) तो ऐसी आशा की जाती थी कि चीन से विदेशी शिकारियों का अन्त हो जाता चीन भी रूस के अनुकरण में साम्यवाद के पथ की ओर अग्रसर हो जाता और अतीत के अपमानों का प्रतिशोध कर सकता। परन्तु चीनी पूंजीपतियों और विदेशीय साम्यवादियों की साजिश से चीन को पुनः घातक-स्वार्थियों और गृह-कलहों के कुचक्र में पड़कर अपने राजनैतिक सम्मान तथा जन धन सबकी बलि देनी पड़ी। इस समय नेशनलिस्ट पार्टी—तथा उस के कर्ता धर्ता चांगकाई शेक की अध्यक्षता में चीन अपना विशाल जन संख्या तथा भौतिक सम्पत्ति के होते हुए भी—जो उस की सर्वतोभद्र उन्नति में बड़े सहायक होसकते हैं अत्यन्त निर्बल राष्ट्र बना हुआ है। चीन की नेशनलिस्ट पार्टी तथा उस के वर्त्तमान देशद्रोही नेता इसके एक उत्तम उदाहरण हैं कि एशियाटिक देशों को कैसी नेशनलिस्ट पार्टी नहीं चाहिए। एशिया के स्वतन्त्रताभिलाषी देशों के लिए चीन की नेशनलिस्ट पार्टी एक उत्तम पाठ है। जिस किसी देश के नेशनलिस्ट पार्टी कहलाने वाले नेता स्वदेशीय जनता के हितों की अवहेलना कर स्वार्थवश विदेशीय पूंजीपतियों साम्राज्यवादियों के हितों की अधिक चिन्ता करने लगते हैं—वहां की नेशनलिस्ट पार्टियां चीनी कुओमिङ्तांग की तरह ही स्वदेश के साथ द्रोह करेंगी। स्वदेश के प्रति घातक नीति का परिणाम यह हुआ कि जापान ने चांग सोलिन का घात करवा कर शनै शनै कुओमिङ्तांग के नेताओं के देखते देखते मंचूरिया को मंचूकुओ बना कर हथिया लिया और अब शनै शनै उत्तरीय चीन पर भी अधिकार की सम्भावना हो रही है। चीन के राजनैतिक जीवन में सम्भवतः इससे बढ़ कर अपमान का अवसर कभी नहीं आया जैसा कि जापानी सेनापतियों की नवीन मांगों में हुआ है। कुओमिङ्तांग यदि संभलती यदि उन्हें स्वदेश की रक्षा का तनिक भी ख्याल होता तो वह जापान का विरोध करती। परन्तु पिछले दिनों की घटनाओं में यह स्पष्ट है कि कुओमिङ्तांग के नेता चुप कर गये और जापान के मूक आक्रमण के सामने उन्हें झुकना पड़ा।

चीन की स्वतन्त्रता के इन संकट के दिनों में यदि किसी को चीनी स्वतन्त्रता की चिन्ता है तो उन्हीं मजदूर किसानों के गोरिल्ला दलों का, रूढ लोक की साम्यवादी फौजों की उन की पार्टी और उनके नेताओं को जिनका पीछा करता हुआ चांग काईशेक यूनान तक पहुंच गया था। इन्हीं के दमन में सम्पूर्ण विदेशीय साम्राज्यवादियों का वह इतना प्रेम भाजन बना हुआ है। इस समय निस्सन्देह जापान को चीन में सफलता मिलती दिखती है परन्तु साथ ही हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि साम्यवादी रूस के पड़ोस में रहते हुए चीन अपनी विशाल जन संख्या को भूख अकाल बाढ़ों तथा तूफानों के अतिरिक्त राजनैतिक उथल पुथलों के कारण महान क्षति को सहन करता हुआ इन संक्रामक विचारों के आक्रमण से नहीं बच सकता। चीनी किसान समाज अभी अपनी मांगों और पार्टी को संगठित नहीं कर सका है अस्तु किन्तु निकट भविष्य में वह अपने सहयोगियों को पाता जा रहा है। चीन के साम्यवाद के लिए क्षेत्र वैसा ही तैयार है जैसा रूस में था। और जैसा अन्य एशियाटिक देशों में हो सकता है। यदि चीनी साम्यवादियों को राजनैतिक संग्राम में सफलता मिल गई जो जनता की आर्थिक कठिनाइयों को राजनैतिक संगठन का रूप दे सके तो वह दिन दूर नहीं जब जापान को अपनी ज्यादतियों का फल भोगना पड़े। चीन यदि जापान को अपनी भूमि से बाहर खदेड़ने में समर्थ होजायगा तो जापान को भी अपनी आंतरिक आर्थिक अवस्था के कारणों से पथ बाधित हो उसी तरह क्रांति के पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा जो चीन के विशाल क्षेत्र पर अधिकारहीन से रुक सकता है। जापान की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा को किसी कदर साम्राज्यवाद के ह्रास के दिनों में—जबकि सब साम्राज्यवादी देशों के बीच आंतरिक प्रतिस्पर्धा और विरोध अपनी उग्रता की चरम सीमा पर पहुंचता जा रहा है पूरा होने का अवसर मिल सकता है परन्तु उसके साथ २ उसकी विपरीत दिशा में भी अनेक उत्साहजनक चिन्ह दिखाई दे रहे हैं यदि चीन में श्रमजीवी शक्तियां अपने को सुसंगठित करने में समर्थ होगई तो स्वाभाविक ही उनका रुख सर पश्चिम की ओर होगा और यदि जापान चीनी नेशनलिस्ट पार्टी के साथ मिल कर चीन पर अधिकार करने में सफल हो गया तो पुनः किसी न किसी दिन प्रशांत महा

(शेष पृष्ठ ४७ पर)

बन्दी जीवन में राखीकी याद

——:**:——

भय्या राखी पहनाती हूं,
बहिनी तेरा यही दुलार।
आज अचानक आंसू बन कर,
गिर गिर पड़ता है सौ बार॥

तू बन्धन राखी का दे कर,
लेती रक्षा का मधुभार।
भाई बन कर मैं भी तेरा,
हरता था नित कष्ट अपार॥

जियो ! जियो !! हे भय्या मोर-
यह कह कर हस देना मौन।
तिलक चढ़ाना हार पिन्हाना।
बहिनी भूल सकेगा कौन॥

मधुमेवा पकवानों का मैं, देता था तुम को उपहार।
उसको लेने को भी कब तुम, बहिना होती थीं तय्यार॥
आज बैठा बन्धन में मैं हूं, सहचर मेरी यह प्राचीर।
रुन झुन रुन झुन बड़ी बजतीं, बंधी कलाई पर जंजीर॥

एक आह बस उर मे उठती,
बहिना तुम को लेता टेर।
फिर हो जाता मौन वहीं पर,
चिन्तायें झट लेतीं घेर॥

स्वाधीन होकर आनो बाहर,
तभी सजाना अपना वेष।
बन्धन में है मुक्ति कहां यह,
जननी का मुझ को आदेश॥

बहिना अब तुम यही मनाओ,
बन्दी का छूटे सब क्लेश।
पराधीनता इस देश में,
कदापि रहे न उसका शेष॥

—नन्दलाल ज्योतिर्विद

——::*::⊙::*::——

राखी

——:**:——

लाई हो बहिना तुम राखी,
कैसे इसे बंधाऊं मैं।
क्यों कर इसका मान मान —;
—सच्चा भैया कहलाऊं मैं॥

नहीं करों में बल-पौरुष है,
रक्षा को नारी-कुल की।
फिर कैसे रक्षा-बन्धन के,
दृढ़ व्रत में बंध जाऊं मैं॥

ललनाओं के दारुण-दुख की;
नित नव अकथ कहानी सुन।
नहीं खौलता रक्त रगों में;
कायर सा बन जाउ मैं॥

बिलख रहे शिशु दो दानों को,
फूटी कौड़ी पास नहीं।
तब कैसे बिन दिये दक्षिणा;
राखी बहिन बंधाऊं मैं॥

तुम ने गूंथीं तार तार में,
नेह-भरी नव आशायें।
किन्तु निराशामय जीवन में,
कैसे वे अपनाऊं मैं॥

राखी ! ओ राखी !! तुम ही तो,
कह दो, क्या अधिकारी हूं।
कैसे तुम्हें बंधाने का फिर,
दुस्साहस दिखलाऊं मैं॥

किन्तु बहिन निस्वार्थ भाव से,
हित चित से राखी लाई।
किस मुंह से इनकार करूं अब,
कैसे विमुख फिराऊं मैं॥

हूं 'कल्पेश' धर्म-संकट में,
हो कैसे उद्धार प्रभो।
ऐसे सबल करो कर जिन में,
हंस राखी बंधवाऊं मैं॥

—'कल्पेश'

———:०:———

राखी

———०:०———

भारतीय सभ्यता की धाक थी जहां में जब,
भाई थे वीर, जिन स्व-प्रान सदा राखी है।
बहिनों की लाज बचे, चाहे प्राण जांय भले,
अब लों इतिहास राजपूतों का साखी है॥

उलटा जमाना, सोचा—'राखी-राखी या न राखी'
चिन्ता है स्वरक्षा की हो भैया अस भाखी है।
भली है, बुरी है - रूढ़ि-आज भी प्रचारित है,
रक्षा का बन्धन—बीरनो न सही 'राखी' है।

—'रमेश'

श्री० चार्ल्स फ्रीर एंड्रूज

आप म० गांधी से मिलने के बाद शीघ्र ही इंग्लैंड को रवाना होने वाले हैं।

जनरल ग्रेजियानी

अफ्रीका की ओर रवाना होने वाली इटैलियन सेनाओं के आप सेनापति हैं।

नवाब बहावलपुर

आप बहुत सम्भवतः अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के वाइस चांसलर बनेंगे।

श्री सदानन्द

फ्री प्रेस जनरल, नवशक्ति और नवभारत आदि पत्रों को पुनरुज्जीवित करने पर आप विचार कर रहे हैं।

श्री कमलादेवी चट्टोपाध्याय

बनारस यूनिवर्सिटी में आपका भाषण होने नहीं दिया गया।

सर हेरी हेग

आप यू० पी० के गवर्नर हैं और आजकल यू० पी० में दौरा कर रहे हैं।

श्री सुभाषचन्द्र वसु

आपने विदेशों में भारतीय प्रचार की जो योजना रखी थी, वह अस्वीकृत करदी गई है।

श्री रफीअहमद किदवई

आपने कहा है कि पदग्रहण का प्रश्न कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में पेश होना चाहिये।

श्री मुकुटबिहारी भार्गव

आपने श्रीभागचन्द्र सोनी के विरुद्ध चुनाव की दरख्वास्त वापस ले ली है।

विशाल भारत और स्वा० सत्यदेव

(ले०—श्री कबूलचन्द्र विशारद)

उस दिन कार्यवशात मैं मसूरी चला गया। हरिद्वार की जल वायु ने मेरे पेट में गड़बड़ कर दी। मैंने सोचा कि चलो, मसूरी चल कर हवा बदल आवे। वहां 'तिलक पुस्तकालय' में मई सन १६३५ का 'विशाल भारत' मेरे देखने में आया। श्री स्वामी सत्यदेव जी के विरुद्ध उस में लेख देख कर मैं विस्मित हो उठा। फिर जब 'चाय चक्रम' में सम्पादकीय अशिष्टता की पराकाष्ठा देखी तो मुझे अत्यन्त दुःख तथा क्षोभ हुआ। स्वामी सत्यदेव जी के विरुद्ध इस प्रकार का लेख! जिस व्यक्ति ने अपनी जन्म-भूमि पंजाब प्रांत को छोड़ कर अपने जीवन का श्रेष्ठतम भाग संयुक्त-प्रान्त में बिताया और वहां हमारी भाषा को अपनाकर "हिन्दी, हिन्दु, हिन्दुस्तान" का झण्डा बुलन्द किया — यह भी उस वक्त, जब 'विशालभारत' का कहीं पता भी न था और जिसने हिन्दी के सन्देश को मद्रास तक पहुंचाया— उस व्यक्ति के विरुद्ध इस प्रकार की बातें !

सयोगवश एक मित्र से भेंट हो जाने पर मुझे पता लगा कि स्वामी जी भी यहीं हैं। मैं फौरन उनके पास पहुंचा। झड़ी लगी हुई थी, स्वामी जी अपने कमरे में खाट पर बैठे थे। मेरी आवाज सुन कर वे प्रसन्न हो गये और प्रेम से मेरा स्वागत किया। मैं तो उद्विग्न था ही। मैंने स्वामी जी से कहा — "पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने आप के विरुद्ध मई के 'विशाल भारत' में बतरह विष उगला है। क्या आप इसका कुछ उत्तर नहीं देंगे?" स्वामी जी मुस्करा कर बोले —"अरे, कोई निन्दा करने वाला भी तो चाहिये। पण्डित बनारसीदास मेरे क्यों बखिलाफ है, यह तो तुम्हें भली भांति मालूम ही है, फिर अब उसका गुस्सा क्या करना।" मैं स्वामी जी के साथ ढाई वर्ष तक निरन्तर लेख लिखने का काम करता रहा हूं। मुझे मालूम है कि पंडित बनारसीदास जी नई देहली में स्वामी जी के निवास स्थान पर आये थे और तीन रुपये पृष्ठ के हिसाब से 'विशाल भारत' के लिये लेख मांगे थे। मुझे यह भी मालूम है कि स्वामी जी ने सन १६३२ के 'विशाल भारत' में कई लेख लिखे थे और सन १६३३ के जनवरी मास में उनका आखरी लेख 'विशाल-भारत' में छपा था। ये लेख मेरे हाथ के लिखे हुए थे और मैं यह भी जानता हूं कि बार-बार तकाजा करने पर चतुर्वेदी जी ने स्वामी जी का पारिश्रमिक नहीं भेजा और बराबर टालते रहे। मुझे यह भी मालूम है कि 'विशाल भारत' के कहानी-अंक की समालोचना के कारण बेचारे आचार्य चतुरसेन शास्त्री को चतुर्वेदी जी का मुफ्त में कोपभाजन बनना पड़ा था और इसी द्वेष के कारण उनका 'इस्लाम का विष वृक्ष' चतुर्वेदी जी की कृपा से मिट्टी में मिल गया। कहानी अंक की यह समालोचना मेरे हाथ की लिखी हुई थी, इस कारण मुझे चतुर्वेदी जी की अशान्ति और व्यथा का पूरा हाल मालूम था। उस समालोचना से हिन्दी-संसार में काफी चहल पहल रही थी। बाद में 'भारत' के सम्पादक की वजह से जब चतुर्वेदी जी को यह मालूम हुआ कि कहानी-अंक की समालोचना में स्वामी सत्यदेव जी का हाथ है, तो उनके क्रोध का पारा १२० डिग्री तक चला गया था। वे बदला लेने का मौका ढूंढ रहे थे। परन्तु बदले का अवसर नहीं मिला क्योंकि स्वामी जी सन १६३४ में जर्मनी चले गये।

अब स्वामी जी के जर्मनी से लौटने पर चतुर्वेदी जी ने बदला लेने के लिये लंगर-लंगोटे कस लिये हैं, लेकिन स्वामी जी तो इस प्रकार की लड़ाई के पक्षपाती नहीं हैं। वे साहित्य क्षेत्र में अश्लीलता और गन्दगी फैलाने के नितान्त विरोधी हैं। जनता में 'विशाल भारत' के मई के अंक में स्वामी जी पर किये गये आक्षेपों के कारण गलतफहमी फैल सकती है, इसी कारण कर्तव्य-बद्ध हो कर मैंने यह लेख 'अर्जुन' के पाठकों के सम्मुख रखने का निश्चय किया। मैंने स्वामी जी से कहा — "आप कुछ मत लिखिए। मैं 'विशाल भारत' के उस अंक में लिखी हुई बातों के विषय में आप से प्रश्न करता जाता हूं, कृपया आप उनके उत्तर देकर मुझे अनुगृहीत करें।" स्वामी जी बोले — "बहुत अच्छा।"

मेरे पास 'विशाल भारत' में किये गये आक्षेपों के नोट मौजूद थे, सो मैंने प्रश्न किया — "चतुर्वेदी जी ने आप पर कायरता का इलज़ाम लगाया है। उस लेख के उस भाग के लिए, जो आप ने पिछले साल योरुप प्रस्थान करते समय लिखा था, वह भाग यह है — "भारतवर्ष में रह कर यदि मैं अपने देश-वासियों के परम-प्यारे लेकिन अत्यन्त हानि-कारक पक्षपातों के विरुद्ध बोलूंगा, तो लोग मेरे बहुत खिलाफ़ हो जायगे और दुष्ट लोग जनता को बहका कर मेरे पथ में अधिक बाधाएं उपस्थित कर देंगे। अपने देश-वासियों से दूर रह कर जब मैं इनके मिथ्या विश्वासों और लचर प्रमाद-वाद की धज्जियां उड़ाऊंगा, तो इनकी आंखों पर पड़ा हुआ पर्दा जल्द उठ सकेगा। निरोग और ताजा विचारों के अभाव के कारण यह पुरानी आर्य-जाति विनाश के गढ़े में गिरी जा रही है। इसे बचाना हमारा कर्तव्य है।'

यूरोप में रह कर काम करने का दूसरा बड़ा लोभ यह भी होगा कि कम्यूनिज्म का जो विष भारत के अबोध नवयुवकों में स्वार्थी और जल्दबाज लीडर फैला रहे हैं, उस की बुराइयां यूरोप में बैठ कर अच्छी तरह से दिखाई जा सकेंगी। इसके सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं?

स्वामी जी गम्भीर होकर बोले— "यदि मेरे देशवासी नवयुवक मेरे इतना लिखने पर ही 'मेरी पिछली सारी सेवाओं को भूल कर मुझे कायर समझने लग जायंगे, तो ऐसी जनता को मैं किसी प्रकार से बहादुरी नहीं सिखला सकता हूं। चूंकि मैं पांच वर्ष के लिये जर्मनी जा रहा था, इस कारण मैंने यह सोचा कि जनता के रूढ़िवाद के विरुद्ध तो मुझे लिखना ही है और अच्छी तरह से लिखना है। दूर रहने से जनता को शायद अधिक मौका मेरी बातों पर गम्भीरता से विचार करने का मिले। क्योंकि मैंने प्रायः देखा है कि विदेश में बैठे हुए प्रवासी-भाइयों के लेखों को उनके देशवासी बड़े गौर से पढ़ते हैं और उनके लेखों की अधिक कदर करते हैं। बस, इसी विचार से मैंने ये वाक्य लिखे थे। चतुर्वेदी जी को कायरता और बहादुरी का फैसला करने का मौका तो मैंने दिया ही नहीं, क्यों कि मैं तो अब जनता के बीच में बैठ कर उन के मिथ्या विश्वासों की धज्जियां एक ऐसे प्रान्त में बैठ कर उड़ाने लगा हूं कि जहां जरा सी बात में छुरियां चल जाती हैं। लाहौर में बैठ कर बुद्धिवाद का प्रचार करना, इस्लाम के विरुद्ध व्याख्यान देना और पीर-पैगम्बरों के मिथ्या विश्वासों की जड़ हिलाना खालाजी का घर नहीं है। चतुर्वेदी जी लाहौर में आकर आर्यसमाजी अथवा मुसलमान जनता के विरुद्ध जरा मुंह खोल कर दिखलावें तो सही, तब उन्हें फौरन आटा-दाल का भाव मालूम हो जाय। अन्ध विश्वासों से ओत-प्रोत जोशीले प्रांत में मैंने बुद्धिवाद का पौधा लगाने का निश्चय किया है। मेरी कायरता अथवा बहादुरी का फैसला भावी सन्तान करेगी।"

मैंने स्वामी जी से फिर पूछा— "चूंकि आप साम्यवाद के विरुद्ध लिख रहे हैं, इस लिए चतुर्वेदी जी तथा उनके विचार के लोगों को यह टिप्पणी करने को अवसर मिला है कि स्वामी जी शायद पूंजीपतियों के हत्थे न चढ़ गये हों। आप इस विषय में क्या कहते हैं?"

इस पर स्वामीजी खूब हंसे और कहने लगे—"चतुर्वेदी जी ने अभी तक मेरे स्वभाव को नहीं पहचाना। मैं सत्य, केवल सत्य के लिये जीता हूं। रुपये से मुझे खरीदने वाला आदमी अभी तक मेरी नज़रों से नहीं गुजरा। मैं अपनी लेखनी के बल से अपना सारा कार्य कर रहा हूं। चूंकि मैंने योरुप में ५ वर्ष रहना था और मुझे मालूम नहीं था कि मेरी आंखों के इलाज में कितना रुपया खर्च होगा, मुझे जर्मनी की परिवर्तित अवस्था का ज्ञान भी नहीं था, इस कारण मैंने प्रभु से सहायता के लिये प्रार्थना की थी। अब चूंकि मुझे स्वदेश लौट आने के कारण रुपये की मार नहीं है, इस लिए मैं निश्चिन्त हो कर अपना कार्य कर सकूंगा। किसी भी पूंजीपति ने आज तक मेरे विदेशगमन, आंखों के इलाज अथवा और किसी काम के लिये मुझे पांच सौ या हजार रुपया नहीं दिया। केवल बुद्धगया मन्दिर के सम्बन्ध में प्रोपेगेण्डा करने के लिये सन १६२२ में स्वामी विश्वानन्दजी ने मुझे आर्थिक सहायता दी थी, जिस के फलस्वरूप गया। कांग्रेस के मौके पर 'हमारी गुलामी के कारण' पुस्तिका

(शेष पृष्ठ २० पर)

महिला-जगत

राखी की प्रेरणा

प्रतिस्पर्धा नहीं, आदान प्रदान

सूखा ग्रीष्म गया। तपन अब भी है, किन्तु उसके साथ वर्षा की सुनहली आशा लगी हुई है। चित्ताकर्षक हरियाली चहुँओर छा रही है। मोर बोल रहे हैं और कोयल कुहुक रही है। ऐसे रम्य और सुखद वातावरण में राखी का सुन्दर त्यौहार हमारे सामने उपस्थित है।

बहन भाई का सुन्दर पर्व दिन, कितनी पुरानी स्मृतियों को जागृत कर रहा है!

एक बहन है और एक भाई। बहन नवनीत-सी स्निग्ध, कमल-सी कोमल, छुईमुई-सी विनम्र और सूरजमुखी-सी उत्फुल्ल है। इसके विरुद्ध भाई कर्कश, कठोर, उद्दाम और गम्भीर है। बहन अपने कोमल करों से सूत का पतला रक्षा बंधन भाई की बलिष्ठ भुजा में बांध रही है और भाई कृतज्ञ भाव से उसे ग्रहण करता हुआ, उसके बदले में अपने भारी कर्तव्य-पालन का दृढ़ निश्चय कर रहा है। दोनों ही सुखी हैं। दोनों के मनों में एक विचित्र आनन्द का आभास हो रहा है। मन की सारी कलुषतायें और दुर्भावनायें मिटाकर, सशक्त अशक्त की भावना को विस्मृत कर, दबाव और दासता के भावों से ऊंचे उठ कर, निश्छल और पवित्र नूतन भावनाओं में वे एक-रस हो रहे हैं। उनको देखकर, कौन कह सकता है कि स्त्री पुरुष की दासी है और पुरुष स्त्री का स्वामी?

बहन भाई का यह स्नेह, एक-दूसरे के भावों का कैसा सुन्दर आदान प्रदान है! राखी या रक्षा बन्धन तो उन भावों का आवश्यकता का बाह्य निदर्शन मात्र है, वस्तुतः तो स्त्री अपनी शुभ कामनाओं के साथ पुरुष को अपनी शक्ति प्रदान करती है और पुरुष उस शक्ति से सशक्त बन कर रक्षा बन्धन को ग्रहण करने के रूप में इस बात का निश्चय करता है कि वह उच्छृंखलता से बचता रहेगा और स्त्रियों के भी उसी प्रकार मुक्त जीवन व्यतीत करने में बाधक नहीं बनेगा, जैसा कि वह स्वयं अपना व्यतीत करना चाहता है। मतलब यह है कि स्त्रियों पर अत्याचार करने या उन्हें कुदृष्टि से देखने का वह कभी साहस न करेगा, स्त्रियों के प्रति बहन का-सा निश्छल और सरल स्नेह भाव रक्खेगा, यही नहीं, बल्कि जिस प्रकार अपनी बहन पर किसी के द्वारा कुदृष्टि पड़ना या अत्याचार होना वह नहीं सह सकता उसी प्रकार बहन की जाति अर्थात स्त्रियों का भी ख़याल रक्खेगा और यह सब इसलिये नहीं कि स्त्री बलहीन है और पुरुष बलवान बल्कि इसलिए कि पुरुष का जो बल है वह स्त्री के ही त्याग और कष्ट सहन का फल रूप है। माता के त्याग से वह बना है बहन की शुभ कामनाओं ने उसे सशक्त बनाया है और पत्नी की आत्म विस्मृति एवं सेवा ने उसे ऊंचा उठाया है, तब वह भी भला क्यों न त्याग, स्फूर्ति एवं सेवा की मूर्त्त-रूप स्त्रियों के प्रति सद्भावनाओं और कृतज्ञता से उत्पन्न कर्तव्य-भाव से प्रेरित हो? इसी कर्तव्य भाव से प्रेरित हो, स्त्रियों को अमन चैन से रहने का आश्वासन दे, वह उनका रक्षक बना है। हम कहीं यह भूल न जाय, इसलिये मानो हर साल 'रक्षा-बन्धन' का महोत्सव मनाया जाता है।

इस प्रकार रक्षा-बन्धन' और कुछ नहीं, भावों के आदान-प्रदान का एक सुन्दर और सुसंस्कृत बाह्य रूप है। सृष्टि के अभिन्न अंग स्त्री पुरुष में यह सुन्दर सुखद, पवित्र भावों का सञ्चार करता हुआ हर साल इस बातकी स्मृति कराने आता है कि स्त्री-पुरुष में कोई छोटा बड़ा नहीं है, बहन भाई की तरह दोनों एक ही नियन्ता की सृष्टि हैं, अलबत्ता परस्पर के आदान प्रदान से उन्हों ने अपना कार्य विभाजन कर रक्खा है।

यही वह भावना है, जिसको यदि हम भलीभांति हृदयङ्गम कर लें तो स्त्री पुरुषों में आज जो होड़ और दबाव की बाजी लग रही है उसका बड़ी खूबी के साथ अंत हो सकता है।

यही राखी की सर्वोच्च प्रेरणा है।

पुरुषों से प्रतिस्पर्धा के मार्ग पर आरूढ़ बहन, राखी के इस पवित्र पर्व दिन, क्या इस प्रेरणा पर कान देंगी?

—मुकुटविहारी वर्मा

नारी की उत्पत्ति

(ले०—श्री० एफ० डब्लू० बन)

हिन्दुओं के ब्रह्मा जब नारी की रचना करने बैठे, तब उन्होंने देखा कि उनका सारा मसाला पुरुष की रचना में ही समाप्त हो गया है कोई भी ऐसा ठोस पदार्थ बाकी नहीं बचा। अब तो ब्रह्मा जी बड़े चक्कर में पड़े कि क्या करें। अन्त में बहुत सोच विचार कर उन्होंने चन्द्रमा की गोलाई ली लताओं की वक्रता ली, नन्हीं टहनियों से चिमटना लिया दूर्वादल का कम्पन लिया, नरकुल की क्षीणता ली पुष्पों का खिलना लिया पत्तियों की ताजगी ली, हाथी की सूंड का आकार लिया, हरिणियों की दृष्टि ली मधुमक्खियों का पंक्तियों का चिपकना लिया सूर्य रश्मियों की प्रसन्नता भरी झांकी ली, मर्घा का रुदन लिया वायु की चंचलता ली शशक की भयातुरता ली, मयूर का घमण्ड लिया कमल की कोमलता ली वज्र की कठोरता ली, शहद की मधुरता ली बाघ की क्रूरता ली, अग्नि का ताप लिया, बर्फ की ठंडक ली, तोते की अनवरत टें-टें ली, कोयल की मधु कूक ली, कौए की मक्कारी ली और सारस की वफादारी ली। इन सब मसालों को खरल में डाल कूट पीस कर एक दिल किया। और उसी से नारी की रचना करके ब्रह्मा ने उसे मनुष्य को दे दिया।

एक सप्ताह बाद मनुष्य लौट कर ब्रह्मा के पास आया, और बोला— भगवन्, आपने जो जन्तु दिया है उसने तो मेरी जिन्दगी वबाल में डाल रक्खी है। वह दिन भर लगातार बात करती रहती है मुझे इतना परेशान किया करती है कि सहन करना मुश्किल है कभी अकेला नहीं छोड़ती। उस पर हर घड़ी ध्यान देना पड़ता है, वह मेरा सारा समय ले लेती है वह बिना बात की बात पर रोती है बिना बात की बात पर मुस्कराती है और हर वक्त बेकार रहती है। मैं उसके साथ नहीं रह सकता। आप ही ने उसे दिया है, आप ही उसे वापस ले लीजिये।

ब्रह्मा ने कहा, 'अच्छा' और उसे ले लिया।

एक सप्ताह बीत जाने पर फिर मनुष्य ब्रह्मा के पास पहुंचा और कहने लगा—'भगवन! जब से मैंने उस जन्तु को लौटाया है तब से मुझे जीवन बहुत एकाकी नीरस जान पड़ता है। रह रह कर याद आती है क्योंकि वह मेरे लिये कैसी प्रसन्न होकर नाचती थी, कैसी मस्त होकर गाती थी, कनखियों से कैसे प्यार से ताकती थी। वह मेरे साथ चलती थी मुझसे चिपट जाती थी। उसकी हंसी में संगीत था, दर्शन में सौंदर्य था, स्पर्श में कोमलता थी। भगवन! उसे फिर मुझे लौटा दीजिये।

ब्रह्मा ने कहा अच्छा, और नारी को फिर मनुष्य को लौटा दिया।

केवल तीन ही दिन बीते कि मनुष्य फिर ब्रह्मा के पास आया, और बोला—भगवन मेरी समझ में कुछ नहीं आता कि क्या होता है फिर भी आखिरकार इसी नतीजे पर पहुंचा हूं कि स्त्री मेरे लिये आनन्द की अपेक्षा दुख की वस्तु है। अतः आप उसे फिर वापस ले लीजिये।

किंतु ब्रह्मा ने बिगड़ कर कहा—निकल यहां से जाओ भागो। जैसे तुम से बने वैसे इसे सम्हालो। मैं अब ज्यादा तुम्हारी बात नहीं सुनूंगा।

इसपर मनुष्य बोला—किंतु मैं स्त्री के साथ नहीं रह सकता।

ब्रह्मा ने उत्तर दिया—लेकिन तुम उसके बिना भी तो नहीं रह सकते।

ब्रह्मा ने यह कह कर मनुष्य को निकाल बाहर किया और अपने काम में लग गये। मनुष्य कहने लगा, मैं न तो स्त्री के साथ ही रह सकता हूं और न उसके बिना ही फिर क्या करूं?

(विशाल भारत से)

—क्या स्त्रियां प्रजनन के लिये ही बनाई गई हैं?

'तीन एम० ए० पास स्त्रियां' का उत्तर

(ले०—श्री धर्मानन्द आयुर्वेदालंकार, देहरादून)

'अर्जुन' के विगत साप्ताहिक संस्करण में मेरे स्नेही बन्धु भिषग्‌रत्न श्री अत्रिदेव गुप्त का—देहरादून की 'तीन एम० ए० पास स्त्रियां' के सम्बन्ध में—उन्हें उद्‌बोधन करते हुये*—एक अद्भुत लेख छपा है। उसमें उच्चशिक्षा को स्वास्थ्य-ह्रास का कारण बताया गया है।

परन्तु इस बात को देहरादून का कौन सामाजिकव्यक्ति नहीं जानता कि लक्षित बहिनों के माता पिताओं का शारीरिक स्वास्थ्य उन बहिनों की अपेक्षा भी कहीं अधिक गिरा हुआ है। मुझे उन तीन बहिनों के पिताओं के चिकित्सक होने का अवसर हासिल है।

परन्तु ये तीनों पिता किसी युनिवर्सिटी के एम० ए० नहीं हैं। बहुत ही मामूली शिक्षा इन्होंने प्राप्त किया है। जिस युग में इन्होंने बचपन और नौजवानी बिताई, वह युग सस्ता, सरल और संघर्ष-रहित था। फिर भी तीनों की ऐसी कमजोर शारीरिक अवस्था क्यों? यहां कदाचित् मेरे बन्धु का सिद्धांत कुछ अस्पष्ट या गर्त्त में रह गया हो। तीनों पिताओं के दुर्बल छोटे पिंजर'' पर आज देहर में कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में इन की अथक सेवाओं का प्रशंसक न हो। बड़े २ बलिष्ठ नौजवान कार्यक्षमता में इनकी पहुंच को नहीं पा सके हैं।

यदि ये तीनों बहिन अपने माता-पिताओं से उपरोक्त गुण या दुर्गुण विरासत में हासिल करती हैं तो कोई कारण समझ में नहीं आता कि भिषग्‌रत्नजी—'आपका दिल छोटा है, दिमाग भी छोटा है, आप पीछे रहें तो ठीक। एम० ए० बनने का चाव छोड़ दीजिये' प्रभृति उपालम्भों से उनका सत्कार करें। इतना तो प्रसंगवश हुआ। अब आइये, उनके शेष लेख पर विचार करें।

भिषग्‌रत्नजी के लेख में दो बातें नजर आती हैं। आप यह सिद्ध करना चाह रहे हैं कि "पुस्तकों की शिक्षा विशेषकर अंगरेजी शिक्षा" में स्त्रियों को न उतरना चाहिये, यद्यपि इस सिद्धि को आपने अपने लेख में अत्यन्त गौण रूप दे दिया है। इस सम्बन्ध में जहां तक और जैसा आपका विचार है, उससे मैं सोलहों आने सहमत हूं, परन्तु इतना और बढ़ा देना चाहता हूं कि यह शिक्षा-प्रणाली पुरुषों के लिये भी उतनी ही विघातक है, जितनी कि स्त्रियों के लिये है। और पुरुषों के लिए भी आप ही के शब्दों में जरा सा परिवर्तन कर "इसका स्पष्ट नतीजा आंखों पर चश्मा देखिये, सिर दर्द, थोड़े परिश्रम से भी थकान हो जाता है साथ ही 'वीर्य-सम्बन्धी' बीमारी अस्सी प्रतिशत को मिलती है।" बड़ी आसानी से दोहराया जासकता है। इस प्रकार आप केवल स्त्रियों को ही "भगवान की रचना के विरुद्ध धार के उलट न चलिये" का उपदेश क्यों दे रहे हैं, जबकि हमारे नवयुवक भी भगवान् को रचना के विरुद्ध "धार के उलटे" चल रहे हैं। आप ही के शब्दों में—क्या अंगरेजी शिक्षा के 'इस संघर्ष में सम्भवतः'—नवयुवकों के—'माथे में'—भी—'खून''—में—"निकलेगा"? स्मरण रखिये कि विष सर्वदा पुरुष और स्त्री दोनों के लिये एकसा विघातक है, इस में प्रकृति ने कोई विशेष भेद नहीं रखा।

आप के लेख के दूसरे आशय को, आपकी निम्न स्थापनाएं बड़े जोर के साथ प्रकट कर रही हैं। आपकी स्थापनाएं हैं:—

१—"स्त्री का मस्तिष्क और हृदय दोनों पुरुषों से वजन में कम होते हैं।" "उनको भारी दिमाग की जरूरत नहीं।"

२—स्त्रियों को तो प्रकृति ने प्रजनन कार्य के लिए 'ही' बनाया है।"

३—"पढ़ कर आप सिवाय नौकरी के कुछ भी नहीं कर सकतीं।"

४—"फिर आप विवाह न करने की धुन में आ जायें, जहां यह धुन आप को चढ़ी, वहां आपके शरीर में घुन भी लग जायगी—यह सत्य है।"

अब हम क्रमशः, आप की स्थापनाओं को एक एक कर तुला पर तोलते हैं:—

१—स्त्री का मस्तिष्क और हृदय दोनों पुरुषों से वजन में कम होते हैं, आपकी यह स्थापना साधारण स्थापना है।

यद्यपि स्वर्गीया श्रीमती एनी बेसेण्ट और देवी सरोजिनी आप और हम से बड़ा मस्तिष्क तथा बड़े हृदय रखती हैं, फिर भी मैं बहुत अंशों में आपके कहे हुए इस तथ्य को स्वीकार कर लेता हूं। लेकिन आपका इस तथ्य से आगे बढ़कर यह कहना, क्योंकि महिलाओं का मस्तिष्क प्रकृति ने कम वजनदार या छोटा बनाया है, इसलिये आप पुरुषों से आगे बढ़ने का यत्न न कीजिए" उतना ही ठीक है, जितना बड़े सिर और बड़े दिल वाले मेरे परिचित (सुक्खू) हरिजन से—मुझे या आप को, इस दुनिया की दौड़ में पीछे रहने की सलाह देना है।

मुझे प्रतीत होता है—मेरे मित्र भूल रहे हैं, वे आज से ५—६ दशक पूर्व प्रचलित मस्तिष्क की वजन-सम्बन्धी 'थ्यूरी' को बहुत अधिक महत्त्व दे रहे हैं, यद्यपि आज के जीवन-शास्त्रियों के लिए वह थ्यूरी गई बीती थ्यूरी है। यदि मेरे मित्र, पाव लोव वानशेफर, पर्ल, और जिना लोम्ब्रोसो प्रभृति जीवन-शास्त्रियों तथा एलबर्ट माल प्रभृति मस्तिष्क-विदों के आधुनिक अन्वेषणों से परिचित होते तो संभव है, वे ऐसा लिखने का साहस न करते। और तो और इस वजन-सम्बन्धी थ्यूरी को मस्तिष्क-शास्त्र के आदि आचार्य (गाल) ने भी इतनी प्रधानता नहीं दी, जिन मायनों में मेरे बन्धु दे रहे हैं। आश्चर्य की बात है इस विचार-स्वातन्त्र्य के युग में अट्ठानवे फीसदी जनता के वोट प्राप्त करने वाले जर्मनी के सर्वेसर्वा हर हिटलर भी स्त्रियों को घर का मार्ग दिखाने के लिये जिस युक्ति को ग्रहण करने में संकोच कर गये, उस युक्ति का आश्रय लेकर मेरे मित्र स्त्रियों के विरुद्ध बखौफ आर्डिनेन्स जारी करना चाहते हैं। हिटलर ने क्यों स्त्रियों के लिए दूसरा कार्यक्षेत्र चुना, इस सम्बन्ध में मुझे यहां कुछ नहीं कहना है। हरेक जानता है कि जर्मनी की बेकार समस्या कितनी प्रबल थी, कार्य-विभाजन द्वारा उसका सामयिक हल करना कितना आवश्यक था, जिसे हिटलर ने किया है।

मैं अपने बन्धु से पूछता हूं क्या आप नहीं जानते कि औसतन श्वेत पुरुष का मस्तिष्क और हृदय औसतन रंगीन पुरुष के मस्तिष्क और हृदय से बड़ा वजनदार होता है। यह एक भली भांति परिगणित सचाई है। उस अवस्था में क्या आप भी भारतीयों को यह सलाह देंगे कि आपका मस्तिष्क और हृदय छोटा है, अतः आप श्वेतों के पीछे ही रहिये, आगे बढ़ने का नाम न लीजिये।

एक और बात। मैंने विश्व-विभूति महात्मा गांधी के भाल का कई बार सूक्ष्म निरीक्षण किया है। हृदय की शारीरिक परीक्षा का तो अवसर नहीं मिला, परन्तु मैं बहुत कुछ उस के परिमाण के सम्बन्ध में कल्पना कर सकता हूं। इधर मेरे बुद्धू धोबी के सिर का घेरा अवश्य महात्माजी से सवाया-ड्योढ़ा होगा, यद्यपि उसे कोई 'हाइड्रोकेफेलस' प्रभृति रोग नहीं है। इसी प्रकार हृदय का परिमाण तथा वजन भी अवश्य उन से बड़े हैं। परन्तु मुझ में इतना सामर्थ्य नहीं कि किसी पत्र में 'महात्माजी' को बुद्धू धोबी के पीछे ही रहने के लिए कहूं, क्योंकि उनका मस्तिष्क और हृदय उससे छोटा है।

वास्तविक बात यह है कि मस्तिष्क की उत्तमता उसके भिन्न २ शक्ति-केन्द्रों के स्वाभाविक अथवा अभ्यासजनित विकास पर निर्भर करती है, न कि उसके परिमाण और वजन पर ही सब कुछ अवलम्बित है। चाहे पुरुष हो या स्त्री हो, दोनों के मस्तिष्कों में साहित्य या विज्ञान स्वाभाविक प्रतिभा के रूप में अथवा सतत अभ्यास द्वारा विकसित हो सकते हैं। इस विकास के लिए मस्तिष्क के घटने बढ़ने की विशेष आवश्यकता नहीं और न इसमें स्त्री या पुरुष का लेना-देना है।

नोबल-पुरस्कार-विजेताओं की सूची में, स्त्रियों को अपनी उन्नति के लिए प्राप्त अवसर के अनुसार, दलिहा प्रभृति कितनी ही देवियों का नाम देख लीजिये। उधर रेडियम-आविष्कर्त्री मादम क्यूरी की वैज्ञानिकता का भी माप ले लीजिए।

(आगामी अंक में समाप्त)

*प्रथम लेख के सम्बन्ध में कुछ मिथ्या धारणा फैल गई है। वह लेख किन्हीं विशेष महिलाओं को लक्ष्य में रखकर नहीं लिखा गया था और न उससे किन्हीं व्यक्तियों को अपमानित करने की इच्छा लेखक की थी। उसमें तो एक बात उठाकर अपने विवादास्पद विषय पर ही विचार किया है। फिर भी यदि उससे किसी को दुःख हुआ हो, तो हम क्षमा-याचना करते हैं। —सं०

हमारी राष्ट्रवाणी

——::*::——

वह एक ज़माना था कि हिन्दी दिल्ली और आगरे के बाज़ारों में सर पर टोकरी लिये घूमती थी। बचपन था, गरीबी थी, दुनियां निकट नहीं आती थी। सोने के हौदे चमकते थे, हीरे मोतियों से लदा हुआ हाथी झूमता था, पर इस दुखिया के अंचल में मुश्किल से ही अन्न के दाने पड़ते थे। भूख प्यास की मारी हिन्दी या तो पेट के लिये कंकड़ चुनती थी या घोंसले के लिये सूखे तिनके! चिकनी इमारतों की भिन्न भिन्न खिड़कियां रह रह कर इस भिखारिणी पर चबाया पान उगलती थीं! हिन्दी चौंकती चीखती यमुना के कगारों में आकर बसती थी। आसमान नीला था सूरज में चमक थी और तारे जगमगाते थे पर वीणा की सोई आवाज़ सी वह क्या है यही उस समय इसका आत्मचिन्तन था।

कुछ दिनों के बाद दुनिया ने यह देखा कि इसे राजपूताने में आश्रय मिला है। वहां के भाट और चारण बड़े प्यार से इसका लालन पालन करते थे। यह कमलों का रंग देखती थी, मोरों की कथायें याद करती थी और अपने स्वामी के इशारे पर राजा महाराजाओं के दरबारों में नूपुर लगा कर झनक उठती थी। आंखों में नाचती प्यालों में झलकती कानों में गूंजती यह सदा अपने स्वामियों के सामने हाथ बांधे खड़ी रहती थी। युद्ध की तय्यारी में रणवाद्य बन कर गरजती थी। पशुओं के शिकार में राह दिखलाती थी। शयन कक्ष में फूलों की पंखड़ियां बिखरती थी। इस तरह दिन में तारे दिखला कर आधी रात में यह अपने स्वामी भाट के लिये मान चांदी के कुछ टुकड़े घर लाती थी।

वह थे महात्मा कबीर जो इसे रास्ते में मिले थे। उस समय सन्ध्या का अवसर रहा होगा विलासिनी एक जलाशय में ताज़े तोड़े हुए फूलों पर पानी डाल रही थी। कबीर प्रथम दृष्टि में ही सब कुछ समझ गये। उन्होंने इसके पैर के घुंघरू उतार डाले काजलवाली आंखें धो दीं और बल खा खाकर बंधे हुए बालों को एक हलके झटके से खोल दिया। उनके साथ रह रह कर विलासिनी कुछ ही दिनों में तपस्विनी बनी और कातर वाणी की तुतलाहट टूट गई। जिस समय उस महात्मा 'सुनो भाई साधो' के कण्ठ से लग कर यह हिन्दी प्रेम का ढाई अक्षर बनी। उस समय मन्दिर और मसजिद में सवेरा हुआ। 'सर पर कफ़न लपेटे कातिल को ढूंढ़ने वाली भक्ति का उन्माद कुछ ऐसा रहा कि कम्बलों की वर्षा से 'पानी भीगने लगा'। तुलसी के राम अयोध्या वापिस लौट आये और 'सूर के हरि खंजरियों में बोल उठे। नानक की दूब हरी हुई। एक रस उमड़ा एक तार झनका और एक आग सुलगी। फिर मीरा के हाथ के ज़हर पर जो यह जादू की चर्खी सी फिरी तो उस कालकूट के मधुर अमृत बनने में देर न लगी।

(२)

कई युगों के बाद इस चांदनी का अंचल बड़े २ कंगूरों में उलझ गया था। कोयल कूक चुकी थी पपीहे टेर चुके थे और जनपथ में अंधेरा ही अंधेरा था। इसी ढंग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जग की अन्धेर नगरी की राह पर थे। कौशिक इस उन्मुक्त प्राणी ने गंगा की लहरों पर चढ़ के पहले पहल राष्ट्रभारती के मन्दिर में दीप जलाया। वे यार कृष्ण के सखा थे राधारानी के गुलाम थे पर सब से पहले वे स्वदेश की एक मुट्ठी धूल थे जो आदमी की तरह बोलती थी और दीवाल की तरह सुनती थी।

इतने में १९वीं शताब्दी समाप्त हुई और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के बलिष्ठ कन्धों पर चढ़ कर हिन्दी ने सवेरा झांका। व्रज और वृन्दावन का घेरा फैल कर हिमालय सिन्ध कन्याकुमारी और बर्मा तक जा पहुंचा और इस घेरे में करोड़ों कण्ठ एक स्वर से गा उठे। वेष बदला भूषा बदला भाषा बदली। हमारा शृङ्गारिक प्रेम विश्व प्रेम बना। हमारी 'आह और वाह' झाड़ फानूस के महलों से बाहर निकली। हिन्दी अब किसी नगर या ज़िले की बोली नहीं थी अखिल देश की वाणी थी। हमारा अगर दिल था तो दर्द की भाषा वही हिन्दी हमारे शरीर में प्राण बन कर यही कूकती थी। हिमालय में वह उठती थी कन्याकुमारी में वह लहराती थी सिन्ध में वह चौंकती थी तो बर्मा में वह नाचती थी। मन्दिर को प्रणाम करती मस्जिद को सलाम करती, गिरजों में घुटनों के बल बैठ जाती थी। इसकी उत्तप्त ज्वाला में अब रासलीलायें भस्म हो चुकी थीं। कामिनियों की गाथा सुनाने वाली बांसुरी अब खण्ड खण्ड हो चुकी थी। यह सवेरा हमारे यहां संसार की गोद में झूलता हुआ आया और इसमें हमारे इतिहास के पन्ने पन्ने झलक उठे थे। व्रजभाषा अपने धवल आश्रम में बैठी संन्यास ले रही थी और जाग्रतों की बोली राष्ट्रजीवन के प्रवेश द्वार पर मंगल गान बनी हुई खड़ी थी। भगवान बुद्ध भगवान महावीर भगवान वाल्मीकि और भगवान वेद व्यास फिर एक बार इस भाषा में बोल उठे थे। मन्सूर सूली पर कैसे चढ़ा था हसन को प्यास कब लगी थी और हमारे यहां सिकन्दर कब आया था— ये बातें हमारी हिन्दी हमें बतला रही थी। चीन की मुहब्बत जापान की तड़प और इंगलैंड का परिवर्तनशीलता हमारे कानों में कुछ कह रही थी। इसी अवसर पर तुलसी सूर और कबीर की याद हमारे दिल में फिर ताज़ा हो आई और मीरा के चित्र घर घर में टंगे। वह दिल्ली और आगरे के बाज़ारों में भटकने वाली हिन्दी अब हमारी राष्ट्रवाणी थी। भारतवर्ष से प्रेम करने वाले इसे हिन्दी कहते थे और हिन्दुस्तान से मुहब्बत रखने वाले इसे उर्दू के नाम से पुकारते थे।

(३)

आज हमें यह स्मरण करते हुये बड़ी खुशी होती है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा होने जा रही है इसमें बंगाली का वैभव है गुजराती का सजीवन है मराठी की चुहल है कनाड़ी की मधुरता है और संस्कृत का अजस्र स्रोत है प्राकृत ने इसका शृंगार किया है और उर्दू ने इसके हाथ में मेंहदी लगाई है। यह आर्यों के स्वर में गाती है और अनार्यों की ताल में नाचती है। हिन्दी अब राष्ट्रभाषा है। केवल हिन्दुओं की ही भाषा नहीं है। यह राष्ट्रों के उत्थान और पतन को समझती है। जाति जाति और फिरके फिरके के अन्दर प्रेम संचार करने की भावना इसे मस्त बना रही है। जड़ प्रकृति की ठोकर से यह खड़ी हुई है और साधना के आलिंगन से इसे स्फूर्ति मिली है आप संसार के किसी कोने में रहिये आप का दर्द इस भाषा में छिपा नहीं रहेगा। आपकी उंगली में छोटी अंगूठी इस महान वाणी को छू चुकी है। इसमें अब आर्य अनार्य, आत्मा परमात्मा का भेद नहीं है। भेद केवल यह है कि अब यह वसुन्धरा के पत्थर तक को चूमने लगी है।

बौद्धों की शान्ति शृंखला को हम भूले नहीं हैं हमारा साहित्य जाग्रत है। जैनियों की दिव्य आत्मा राष्ट्रभाषा के शरीर में वर्तमान है। पारसियों की सदाचारशीलता हमारी निधि है। मुगलों की आन पर हम मरते हैं। पठानों की शान पर हिन्दी फ़िदा है। राष्ट्रभाषा हिन्दी ने दश रूखा है काल समझा है और पात्र को प्यार किया है। रात बीतने ही नींद टूटी है सवेरे हो यह जगी है। यह आपकी प्रेममयी वाणी है और हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा है।

आज के इस नवीनयुग के सुनहले आंगन में हिन्दी की खिड़कियां चारों ओर खुली हैं। फूल में भौंरा और भौंरा में फूल को देखने का आदत अब ज़रा दिन सो गई है। अब फूल खिलते हैं किसी की तलवार के कर। भौंरे गुंजार करते हैं किसी के प्रेममय स्वर में। तालाबों के बीच में खेलने वाले हमारे कवि आज समुद्र की लहरों की शान देखकर उन्हें मुंह में फूंकते हैं। सफ़ेद और लाल कमलों की गुणावलि को छोड़ कर उन्हीं कमलों को बेच कर रोटी कमाने वाले मल्लाहों का रोना ही आज हमारे कवियों की कविता है। कहानियां लिखने वाले भी अब चौंक उठे हैं। किसी की स्याही खून की है। कोई आंसू में कलम डुबो रहा है। किसी की आंखों में दोज़ख की आग है और कोई दिल्ली का दलाल है। ये कहानियां आज हमें बतलाती हैं कि दुनियां वह स्थान है जहां सदा पाप से घृणा और पापियों से प्रेम होना चाहिये। जीवन मरण की इस रंगभूमि में मानवों का आत्मबल वह ललकार है जो धूप, वर्षा और शीत में कभी न मिटे वे मेंहदी में खेलने वाली उंगलियां अब सूत के डोरों में उलझती हैं। अब के गायक उत्थान के गीत गाते हैं उनके गीतों में एक आत्मा के बदले विश्वात्मा की तड़प होती है। वे रोते हैं दूसरों के लिये और हंसते हैं तीसरों के लिये। अब हिन्दी के पास अपनी महान भाषा है अपना गौरवपूर्ण साहित्य है और यह सर्वथा भाव की भूखी है।

इसके पास जो शब्दों की कमी है वह अधिक दिन टिक न सकेगी। आप के स्नेहार्द्र कण्ठ के फूटते ही इसके चरणों में शब्द पुष्प की वर्षा होगी। इसका व्याकरण आप को छोड़ कर अन्यत्र जा नहीं सकता। किसी ने मरा मरा कह के राम कहा था और म० गांधी के एक हल्के ने इसकी लिपि सीधी कर दी है। आज बीसवीं सदी का सवेरा है और

राष्ट्र भाषा हिन्दी गरीबों के लिये दया, धनियों के लिए सद्भावना राजा महाराजाओं के लिए सलाह और मनुष्य मात्र के लिए प्रेम का संदेश लेकर आप के पास आई है। आप का घर हो इस का घर है और यह सब से पहले अपने घर में उजाला कर दुनिया की मस्जिदों में दीपक जलायगी। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हमारे सामने खाइयां नहीं हैं। हमें अभी कांटों पर सरपट दौड़ना है और ठोकरें खानी हैं। पश्चिम की भोग लिप्सा और पूर्व की अहम्मन्यता से हमें बचना है, हमें अग्नि परीक्षा देनी है। इस लिए राष्ट्र भाषा अपनी राह पर अन्धी न रहे। यद्यपि दक्षिण में मद्रास के आस-पास हमारी प्रेम-मयी वाणी गूंज उठी है, तथापि बंगला और उर्दू में कुछ भाई ऐसे हैं, जो हमारी नीयत पर अभी संदेह करते हैं। इस लिए हमारे प्रेम की पुचकार कुछ ऐसी मधुर होनी चाहिये कि वन भर के मोर थिरक उठें। यह आज का रहा-सहा विभेद कल न रहेगा और परसों हमारी फुलवारियों में विश्व की मंगल कामनाएं हंस उठेंगी।

(४)

हिन्दी का जीवन 'राष्ट्र-भाषा' की उपाधि ग्रहण करने तक ही सीमित नहीं है। हमें अभी थोड़े दिनों में बहुत कुछ करना है। भाषा एक प्रेमसूत्र है, संगठन की आधारशिला है। इसी प्रेम-सूत्र में हमें विश्व को नहीं, तो उसके एक बड़े टुकड़े को बांधना है।

कहते हैं हिन्दुस्तान गावों में रहता है। यदि यह सत्य है तो फिर हिन्दी शहरों की धर्मशालाओं में कब तक रहेगी? इसे सारे देश का भ्रमण करना चाहिये। इसका भार हमारे ही सबल निर्बल कन्धों पर है, हिन्दी गांव गांव घूमे, बन बन फिरे और घर घर बसे। यह गांव के किसानों को बोने काटने का समय बतलाये, काले काले मेघों की सूचना दे और जब उनकी आंखों के सामने हरी-भरी फसलें खड़ी हों तो उनकी हर्ष-वाणी बन कर गूंज उठे। उनकी जातीय-पंचायतें, सामाजिक विवाद और धार्मिक चर्चा—इसी भाषा में हों। यह उनके पसीने की बूंद हो और हर्षित नयनों की जल धारा हो। इलाहाबाद हिन्दी पढ़ले और कलकत्ता हिन्दी बोल ले तो कोई बड़ी रियासत खड़ी नहीं हो जाती। जरूरत है, इस की कि पैंतीस कोटि कण्ठ एक स्वर में गाएं, एक स्वर में रोएं। हिन्दी के खजाने में 'कैलाश' का गौरव, 'ताजमहल' की सिसकी और 'चित्तौड़' की याद होनी चाहिये। यहां 'गंगा' की रेती चमके, 'यमुना' की छवि लहराए और 'नर्मदा' अपने आंसू से पत्थरों को धोती रहे। वर्मा के मन्दिर कितने ऊंचे हैं, अजन्ता की गुफाओं की रेखाओं में किस की आत्मा खड़ी है और बुद्ध गया के 'बोधिसत्व' की शाखायें कहां कहां फैली हैं—इन सारी चीजों को हम अपनी राष्ट्र भाषा से जान सकें। आगरे की मोती मस्जिद, अमृतसर के स्वर्णमन्दिर और नेपाल के पशुपतिनाथ को राष्ट्रभाषा अभी भी याद करेगी तो कोई बहुत देर नहीं हुई है। निष्ठुर काल जिस समय हमारी महान संस्कृति को अपहरण कर ले जा रहा था उस समय उस का एक छोटा सा टुकड़ा आज का हंसता हुआ 'नेपाल' है। उसके उन्मुक्त संगीत से अब हमारी हिंदी अलग नहीं रह सकती। गंगा और वागमती में कोई बहुत अन्तर नहीं है। प्रेम ही ईश्वर है, ईश्वर ही प्रेम है और राष्ट्रभाषा हिन्दी इसी पुण्य प्रेम की परिभाषा है।

*यह भाषण गित १५ जून को हिमाचल-हिन्दी-भवन दार्जिलिंग के चतुर्थ वार्षिकोत्सव के अवसर पर श्री गोपालसिंह नैपाली ने दिया था।

धारावाही उपन्यास

अपराधी कौन ?

(ले०—श्री देव)

उम्मेद का अतीत जीवन बहुत बड़ा नहीं है। उसकी वृद्ध माता ने ही उसे पाला था। शिक्षा न पाकर गली के कुछ शरारती लड़कों की संगत में शरारतें करना सीख गया था। एक दिन फेरी वाले की नारंगियाँ लूटने के कारण पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया। उसे जेल में भी तीन मास रहना पड़ा। वहीं बेंतों का कठोर दंड भी मिला। जब जेल से वह रिहा हुआ, उसकी माँ मर गयी थी। अपने एक दोस्त बशीर के बाप की मदद से वह मिल में भरती होगया, जहाँ अपनी लगन और परिश्रम से वह लाइन जाबर होगया।

कुछ मजदूर युवती श्यामा से कुछ गुण्डे शरारत करने लगे। लेकिन उम्मेद के बीच में पड़ने से वे भाग गये। उम्मेद उसकी घायल माँ को उसके घर पहुंचा गया। श्यामा पर आसक्त मिल का खजांची मि० भरूचा भी सहानुभूति दिखाने के लिये घर पहुंचा और उसकी माँ को १०) रु० देने लगा।

—सम्पादक

(अंक २४ से आगे)

फिर श्यामा की ओर देखकर कहा 'श्यामा, देखो, तुम्हारी माँ इस बात को नहीं समझती, कारखाने वाले अपने मजदूरों को तकलीफ में मदद दिया करते हैं, उसे लेने में कोई हर्ज नहीं"

श्यामा ने समझा कि माँ सचमुच बूढ़ी होगई। इतना भी नहीं समझती कि मजदूरों की मदद कारखाने वाले किया ही करते हैं। उसे भरूचा ने माँ से अधिक अक्लमन्द समझा, यह बात भी उसे अच्छी लगी। उसने भरूचा की बात का कोई उत्तर न देते हुये माँ से कहा 'माँ, कारखाने की ओर से मदद लेने में कोई हर्ज नहीं। यह तो हमारी मेहनत का ही इनाम है।'

माँ चुप होगई। वह श्यामा को अपने से समझदार समझती थी। बुढ़ापे में भोली मातायें अपने बच्चों की समझदारी पर प्रायः अत्यधिक विश्वास करने लगती हैं। सुखदेई भी भोली माता थी। भरूचा ने आगे बढ़ कर १०) का नोट श्यामा के हाथ में दे दिया।

श्यामा ने कृतज्ञता भरे नेत्रों से उसकी ओर देखा, और फिर देगची में कड़छी चलाने लगी।

भरूचा फिर हालचाल दर्याफ्त करने की सूचना देकर, उन्मत्त सी आँखों से श्यामा की ओर देखता हुआ वहाँ से चला गया।

(५)

सुबह मिल में काम हो चुकने पर उम्मेद सीधा सुखदेई के घर पहुंचा। सुखदेई के शरीर में कई स्थानों पर पीड़ा विद्यमान थी। श्यामा घर को झाड़ बुहार कर चूल्हे में आग सुलगाने का यत्न कर रही थी। उम्मेद ने बाहिर से दरवाजा खटखटाया, तो श्यामा ने पूछा "कौन है ?" उम्मेद ने जवाब दिया "मैं हूं उम्मेदसिंह'। श्यामा उम्मेद को तो पहिचान गई थी, परन्तु नाम से अपरिचित थी। बोली "कौन उम्मेदसिंह। उम्मेद ने कहा वही जो कल तुम लोगों को घर पहुंचा गया था।

जब से उम्मेद वहाँ से गया, श्यामा के दिल में तब से बराबर उसका एक अस्पष्ट सा चित्र बना रहा था। रह रह कर उसका स्मरण आता था। कारखाने के द्वार पर का सारा दृश्य, बदमाशों की शरारत, उम्मेद का बीच में कूदना, और माँ बेटी की रक्षा करना, फिर घर तक पहुंचाना, और वहाँ सहानुभूति पूर्ण स्निग्ध दृष्टि से श्यामा को देखना—यह सब बातें चल चित्रों की तरह श्यामा के हृदय पट पर घूम जाती थीं और वह उन्मत्त सी और विह्वल सी होकर दरवाजे की ओर देखती, और लम्बा साँस लेकर रह जाती। ऐसा अनुभव उसने अपने जीवन में पहली ही बार किया था। दो साल तक गृहस्थी रही और पति का प्रेम भी पाया, परन्तु वह प्राप्त धन का उपभोग था। अप्राप्त और शायद अप्राप्य परन्तु मनचाही वस्तु के लिये जो एक घोर तृष्णा पैदा होती है, वह तीव्रता और घनता में अपना साथी नहीं रखती। श्यामा भी अपने हृदय में एक तीव्र और घनी अधीरता का अनुभव कर रही थी।

परन्तु उम्मेद का शब्द सुन कर श्यामा स्तब्ध सी रह गई। कुछ न बोल सकी। माँ जाग रही थी। उसने क्षीण स्वर में श्यामा से कहा 'अरी सुनती नहीं है क्या' दरवाजे पर कल वाला बाबू खड़ा है। दरवाजा क्यों नहीं खोलती ?' इस ने श्यामा का संकोच तोड़ दिया। वह झटपट उठी और दरवाजे का पल्ला खोलती हुई बोली साँकल तो बन्द नहीं था आप आ क्यों नहीं गये ?'

उम्मेद अन्दर आ गया। उसके दुख की दशा भी श्यामा जैसे ही थी। वह भी अपने हृदय को श्यामा से शून्य नहीं पा सका था। उठते बैठते और काम करते, सभी समय उस धूलि-धूसरित साँवले गोल चेहरे की छाई उम्मेद की आँखों के आगे घूमती रही थी। दोनों के भावों में भेद इतना ही था कि जहाँ श्यामा के चिन्तन में उत्सुकता के साथ भय या संकोच मिला हुआ था, वहाँ उम्मेद का चिन्तन दृढ़ उत्सुकता से मिश्रित था।

उम्मेद की दृष्टि अन्दर आते ही श्यामा के चेहरे पर पड़ी। आज उसे वह चेहरा कल से भी अधिक सुन्दर और आकर्षक प्रतीत हुआ। कल चेहरे पर गर्द थी बाल बिखरे हुए थे और कपड़े अस्तव्यस्त थे। आज सावधान दशा में श्यामा बहुत ही भली मालूम होती थी। श्यामा ने भी उम्मेद को देखा। उसके दिल को क्या हो रहा था, उसे वह स्वयं नहीं जानती थी। उसे केवल इतना ही अनुभव हो रहा था कि वह उम्मेद की ओर निरन्तर देखना चाहती है, पर देख नहीं सकती। नीचे आँखें किये ही उसने कहा—

"आइये, बैठिये ! माँ आप को बहुत याद करती थीं।"

उम्मेद ने सुखदेई की खाट के सिरहाने पड़े हुये एक लकड़ी के सन्दूक पर बैठते हुए कहा।

"मैं भी तो माँ को कल से याद कर रहा हूं। एक मिनट भर के लिये भी आप लोगों का ध्यान दिल से नहीं हट सका। हाँ—तो माँ, तुम्हारा दर्द कैसा है ?"

"अभी तो वैसा ही है, बेटा ! बूढ़ा शरीर ठहरा पुरानी हड्डियों में जान ही कितनी है ? भला हो तेरा, जो तूने हमारी सुध तो ली नहीं तो हम लोगों का और कौन है ?

"ऐसा न कहो माँ, तुम शीघ्र ही ठीक हो जाओगी। आज मैं मालिश के लिए एक दवा भी लेता आया हूं। इसके मलने से दर्द जाता रहेगा, यह कहते हुए उम्मेद ने कोट की जेब से एक शीशी निकालकर श्यामा के हाथ में दे दी। श्यामा ने ले ली। इस लेन देन में स्पर्श से श्यामा के शरीर में बिजली सी क्यों दौड़ गई, इसे वह भी समझ न सकी।

थोड़ी देर तक उम्मेद सुखदेई से बातें करता रहा। श्यामा देखने में तो घर के कामकाज में लग गई, परन्तु उसका ध्यान उम्मेद की ओर ही लगा था।

वह न देखती हुई भी देख रही थी, न सुनती हुई भी सुन रही थी। उम्मेद सुखदेई से कह रहा था—

'देखो माँ, मुझ से कोई बात छुपा न रखो। क्या मुझे मालूम नहीं कि तुम लोग किस गरीबी से गुजारा कर रही हो। तुम्हारा काम कैसे चलेगा। तुम्हें खर्च के लिये मुझ से लेने में ऐतराज न करना चाहिये। मुझे तुम अपना ही बेटा समझो।"

सुखदेई ने उत्तर दिया।

"बेटा, ईश्वर तेरा भला करे। तू ने मुझे माँ कहकर मेरे दिल को ढारस दिया। मैं गरीब हूं। मेरी बेटी जन्म की दुखिया है। बेचारी ने दो दिन की चाँदनी देखी थी, फिर अन्धेरी रात होगई। जब से श्यामा के चचा परलोक गये, तब से मुझे कोई हितू न मिला। तेरे प्रेम ने एक ही दिन में मेरा दिल मोह लिया है। बेटा, मैं तुझसे संकोच क्यों करूंगी ? कल मैंने रुपया लेने से इन्कार कर दिया था, क्योंकि इस गरीबी में भी मैंने किसी दूसरे के सामने हाथ नहीं पसारा पर अब तो मैं तुझे दूसरा नहीं समझती। तूने मुझे माँ कहा है तो मैं भी बेटा जानती हूं।'

'तब तो तुम्हें खर्च के लिये कुछ लेने में एतराज न होगा ?'

'पर बेटा, कल शाम, वह जो मिल का पारसी बाबू है, वह आया था, और १०) का नोट दे गया था। वह मेरे पास वैसा के वैसा धरा है। वह कहता था कि १०) मालिक ने भेजे हैं। अरी श्यामा दिखाना वह नोट '

पारसी बाबू के नाम पर उम्मेद के माथे पर त्योरी चढ़ गई।

(क्रमशः)

विद्यार्थियों की फैशनपरस्ती

——:*:——

(ले०—आचार्य प्र० च० राय)

——:*:——

> "हमारे अधिकारियों के दिमाग के सामने कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड होते हैं और वे इस देश म उसको स्थापित करना चाहते है। विद्यार्थियो के पास टैनिस खेलने के लिये ब्लेजर्स और सुथने होने चाहिये और क्रिकेट के लिये फलालेन का सूट चाहिये ही। उनकी शृंगार-सामग्री में बहुत अधिक खर्च हो जाते हैं। ऐसे वातावरण मे पलकर प्रत्येक विद्यार्थी 'विदेशी लुटेरों का प्रचारक' बन जाता है।

तरुण विद्यार्थी और उनके

भारत में कालेज क विद्यार्थी को औसतन चालीस-पचास रुपये मासिक खर्च क लिय दिये जाते हैं। पठित होने क कारण उसे एक विशिष्ट व्यक्ति समझकर उसके साथ वैसा ही बर्ताव किया जाता है। उसके माता-पिता अपने को जीवन की अनावश्यक वस्तुओ म भी वंचित रखकर या अपने घर द्वार या जमीन को गिरवी रखकर भी उसे खर्च क लिए प्रति मास रुपये भेजते रहते और स्वयं घर के छोटे से छोटे काम करते रहते हैं। जब छुट्टियों क दिन होते हैं, माता पिता को आशा इन युवकों को तथाकथित मानसिक कार्य करने को तो कुछ रहता नहीं इसलिये ये गप्प उड़ाने, ताश खेलने और कोई नाटक खेलने की व्यवस्था करने में ही अपना मूल्यवान् समय नष्ट कर देते हैं या दोपहर क बाद खूब सोने म दिन बिता दिया करते हैं। परन्तु प्राचीन काल में भारत क विद्यार्थियों को आश्रम मे गुरु से शिक्षा प्राप्त करने के समय गौ की सेवा करनी पड़ती, ईंधन एकत्र करना पड़ता और खेती क कामों की देखभाल करनी पड़ती थी—थोड़े में यों समझिये कि उस समय विद्यार्थी को शिक्षा प्राप्त करने क लिये उपार्जन करना पड़ता था।

विद्यार्थियो का अन्धाधुन्ध खर्च

होस्टल और खासकर वे होस्टल जो गवर्नमेण्ट क प्रबन्ध में हैं, स्वदेश विरोधी भाव क प्रसार के खास स्थान बनने लगे हैं। वह बुरी घड़ी थी, जब लार्ड हार्डिंञ्ज ने कलकत्ते के प्राइवेट कालेजों को करीब पन्द्रह लाख रुपये ऐसे शाही होस्टल बनवाने के लिए दिये थे जिन में आधुनिक सभ्य जीवन क सभी सुभीतों की व्यवस्था हो यद्यपि उन्होंने निस्सन्देह अत्यन्त उत्तम विचार से ही वैसा किया था। इन होस्टलों में रहने वाले विद्यार्थी का पैंतालीस रुपये महीने से कम में काम ही नहीं चल सकता। अधिकांश विद्यार्थी तो इससे भी कहीं अधिक खर्च किया करते हैं। कलकत्ते में रहने वाले मेरे कतिपय मित्र मुझे यह विश्वास दिलाते हैं कि पंजाब में और लाहौर शहर में उन्हें अपने लड़कों को पढ़ाने में सौ रुपये महीने तक बल्कि इससे भी अधिक खर्च करना पड़ता है और वे विद्यार्थी अपने माता-पिता की खाल नोचते हैं। मैं स्वयं कई बार वहां गया हूं और उनके कथन को सत्य बता सकता हूं। हमारे अधिकारियों के दिमाग के सामने कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड होते हैं और वे इस देश में उसको स्थापित करना चाहते हैं। विद्यार्थियों के पास टैनिस खेलने के लिए ब्लेजर्स और सुथने होने चाहिये और क्रिकेट के लिए फलालेन का सूट चाहिये ही। उनकी शृंगार सामग्री में बहुत अधिक खर्च हो जाते हैं। सच पूछिये तो ऐसे नाशक वातावरण में पलकर प्रत्येक विद्यार्थी विदेशी लुटेरों का प्रचारक बन जाता है।

युनिवर्सिटी से हानि

पांच वर्ष पहले जब मैं पेरिस में था, जांच करने पर मालूम हुआ कि वहां पोलैंड तथा निकट के अन्य देशों के हजारों विद्यार्थी हैं जो इतने थोड़े खर्च में पढ़ते और रहते हैं, जिसे जानकर आश्चर्य होगा। आज भी यूरप की एक सब से पुरानी प्रेग की युनिवर्सिटी में, जहां सर्वोत्तम वैज्ञानिक एवं साहित्यिक शिक्षा प्रदान की जाती है, विद्यार्थियों को बहुत ही थोड़े खर्च में काम चलाना पड़ता है। सौ में चालीस विद्यार्थियों को प्रति मास तीन पाउंड अर्थात् ४२) में काम चलाना पड़ता है, और अड़तीस प्रति सैकड़ा विद्यार्थियों की गरीबी के कारण फीस माफ है। विद्यार्थी को वहां लगभग दो पौंड ४ शिलिंग अर्थात् तीस रुपये मासिक में खाने, कपड़े और रहने का प्रबन्ध करना पड़ता है। तब यदि बर्नार्डशा आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज को 'सभ्यताभिमानी गवार तैयार करने के स्थान' कहते और उनका वश चले तो वे इन दोनों युनिवर्सिटियों को भूमिसात् कर दें, तो इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। मि० रैम्जे मैकडानल्ड यदि साधिकार यह कहते हैं कि "मेरा विश्वास है कि युनिवर्सिटी का जीवन अधिकांश आदमियों को लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुंचाता है', तो इस में भी आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

कमाऊ पूतो की आमदनी क्या है?

अब यह देखिये कि एक ग्रेजुएट में औसतन कितना पैदा करने की क्षमता है। उस दिन मैंने एक बड़े भारी अनुभवी प्रोफेसर के० टी० शाह से पूछा था कि बम्बई में ग्रेजुएटों की आमदनी का औसत क्या है? उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि वह पचीस रुपये मासिक से अधिक नहीं हो सकती। मद्रास और कलकत्ते के ग्रेजुएटों की भी आमदनी मुझे अन्दाज से इतनी ही मालूम पड़ती है। जान पड़ता है कि पंचनद प्रांत में दूध और घी की नदियां बहती हैं, नहीं तो वहां ऐसी अवस्था कदापि न होती।

ऐसी शिक्षा को धिक्कार है

ऐसी शिक्षा और संस्कृति को धिक्कार है जो आपको विदेशी मिलों के बने कपड़ों के कारण स्वदेश के बने कपड़ों का तिरस्कार करना सिखाती है! उस शिक्षा और संस्कृति को धिक्कार है, जो आपको यह समझना सिखाती है कि हुक्का और फर्शी बर्बरता के चिन्ह हैं! अगर आप सिगरेट पीने की जिद करते हैं, तो देशी सिगरेट बीड़ी को क्यों नहीं पीते? परन्तु आप पियेंगे कैसे, क्योंकि बीड़ी में तम्बाकू का जो चूरा है वह तो असली स्वदेशी है और स्वदेशी पत्ते के भीतर लपेटा हुआ है, जब कि सिगरेट के भीतर विदेशी नशा है, उसका रंग सुनहला है तथा वह पतले विदेशी कागज में लपेटा हुआ है। इस तरह आप केवल विदेशी सिगरेट को पीकर ही देश का दो करोड़ रुपया प्रति वर्ष विदेशों को फेंक दिया करते हैं। मैं गोंदिया और उस के पास-पड़ोस के बीड़ी के कुछ कारखाने देखने गया था। हमें वहां बताया गया कि मध्य प्रदेश के इस ऊसर और शुष्क भाग में लगभग पचास हजार पुरुष, स्त्रियां और बालक प्रतिदिन एक आने से दो आने तक पैदा कर लिया करते हैं। इस तरह यह विशुद्ध घरेलू व्यवसाय आधे लाख भूखे आदमियों के मुंह में रोटी का टुकड़ा डालने का साधन बन रहा है। परन्तु इन बीड़ियों को खरीदने वाले कौन हैं? उच्च पदाधिकारी और सफल वकील इन्हें नहीं खरीदते और न संस्कृति की शेखी बघारने वाले कालेज में शिक्षित नौजवान ही इन्हें लेते हैं। इन बीड़ियों के खरीदार तो कुली गाड़ीवान तथा इन्हीं की श्रेणी के गरीब लोग ही हैं। तथाकथित शिक्षित लोग तो ऐसे मुफ्तखोर हैं, जो जन-साधारण के गाढ़े पसीने की कमाई के मत्थे मोटे होते हैं और देश का धन विदेशों को ढोये जाने के साधन बन रहे हैं।

विद्यार्थियों की फजूलखर्ची

विद्यार्थी जब किसी गांव से शहर में पहुंचता है, वह अपने साथियों की नकल करता है और बहुत खर्चीला स्वभाव बना लेता है। अब तो उसके कपड़े साधारण धोबी से नहीं बल्कि डाइंग एण्ड क्लीनिंग कम्पनियों से धुलने चाहिये, उसके बाल साधारण नाई द्वारा नहीं बल्कि तड़क-भड़क वाले हेयर कटिंग सैलूनों—बाल काटने वाली दुकानों में कटने चाहिये। फिर तीसरे पहर वह 'रेस्टोरेण्ट' नाम के उन होटलों में जलपान करने जाता है, जो शहर के भारतीय विभागों में अधिकाधिक संख्या में खुलते जा रहे हैं। शाम को वह सप्ताह में कम से कम दो बार सिनेमा (बायस्कोप) देखने जाता है। वह सहज ही भूल जाता है कि इन सब खर्चों को जुटाने के लिये उसके माता पिता को अपने आप कितना कष्ट सहना पड़ता है। जो विद्यार्थी इस तरह अपने माता-पिता से खर्च के लिये रुपये ऐंठता और वे रुपये इन कामों में खर्च करता है, उसकी स्वार्थपरता तो नीचता की हद तक पहुंचती है। अवश्य विद्यार्थी को अपने अभिभावकों से अपने खर्च के लिये रुपये लेना उचित हो सकता है, किन्तु वह खर्च इतना कम होना चाहिये, जिस से और कम किया ही न जा सके।

दानवीर कार्नेगी

जो विद्यार्थी अपने अभिभावकों को निचोड़ने में कुछ भी हानि नहीं समझते, उन्हें एंड्रू कार्नेगी का यह

(शेष पृष्ठ १८ पर)

लेखक

स्वास्थ्य-सुधार

वर्षा ऋतु के नियम

(लेखक—आयुर्वेदाचार्य पं० वासुदेव मेहता शास्त्री, उज्जैन)

भारतीय आरोग्यशास्त्र ने छः ऋतुओं के पृथक २ आहार विहार के नियम बनाये हैं। इनके अनुसार वर्तन रखने से ऋतु-परिवर्तन रोग नहीं होने हैं। आजकल इस मौसम में हैजा, ज्वर आदि मोसमी रोगों का प्रादुर्भाव होने लगा है। अतः स्वास्थ्य संरक्षण के लिये ऋतुओं के पृथक् २ नियमों का पालन ऋतु विकारों से बचाता है प्रस्तुत लेख में वर्षा ऋतु के आहार विहारों के नियम का प्रतिपादन किया गया है।

वर्षा ऋतु आषाढ़ एवं श्रावण मास में आती है। वस्तुतः आषाढ़ से आश्विन तक वर्षा ऋतु का ही आहार विहार रहता है। इसी को चातुर्मास्य कहा है। इस ऋतु में विशेष मौसम बदलता है, नवीन जल वायु शरीर में प्रवेश होकर विकार उत्पन्न करते हैं, इस ऋतु में वायु का प्रकोप अधिक रहता है। इस प्रकार इस ऋतु में ग्रीष्म ऋतु में अधिक ठंडे शरबत आदि का अधिक उपयोग होने से इस ऋतु में वायु-पित्त, कफ इन तीनों दोषों का परस्पर में युद्ध हुआ करता है। इस लिये इस ऋतु में खास तौर पर शुद्ध आहार विहार करना चाहिये।

पालनीय नियम

१—इस ऋतु में वायु के प्रकोप होने से तथा वर्षा के सक्लेद से सामान्यतः अग्निमंद होकर मलावरोध आदि होजाता है। अतः इस ऋतु में विशेष कर अग्निवर्धक, पाचक, वायुनाशक पदार्थों का भक्षण करना चाहिये।

२—यदि हो सके तो इस ऋतु में प्रारम्भ में ही एक हल्का सा जुलाब ले लेना चाहिये, खाने में पुराने अन्न का व्यवहार करना चाहिये।

३—इस ऋतु में आहार में दाल, पतली रोटी, दलिया, खिचड़ी क्षारयुक्त पदार्थ भक्षण करने चाहियें। जिनका कब्ज किंवा अग्निमंद हो, चावल का उपयोग न करना चाहिये।

४—मूंग की दाल के पानी में मठा मिलाकर नित्य पीना बड़ा लाभदायक है। इस ऋतु में दही अधिक अनुकूल होता है परन्तु उसमें नमक मिला कर उपयोग करना चाहिए, सामान्यतः लोगों का ख्याल है कि दही ग्रीष्म ऋतु में फायदा करता है। और वर्षा में हानि करता है। परन्तु यह भ्रम है दही खाने से शीतल, परन्तु पाचन होने ही पित्त उत्पन्न करके वायु को शांत करता है इसी में शक्कर आदि मिलाने से इसको गर्मी का गुण परिवर्तित होजाता है। इस ऋतु में दही वायु को शांत करता है।

५—इस ऋतु में कुवे, तालाब, नदी आदि में नवीन जल आजाता है और वह जल पाचन में भारी होता है, अतः जल को गरम करके छान करके इस ऋतु में जल पीने से हैजा, अतिसार कब्ज आदि विकार नहीं होते हैं। इस ऋतु में जल थोड़ा ही पीना चाहिये।

६—इस ऋतु में आम नींबू आदि खट्टे पदार्थों का प्रचार सुरक्षा अन्य ऋतुओं की अपेक्षा में अधिक अनुकूल पड़ता है इसलिये प्रकृति तथा स्वरुचि अनुसार अचार खाना चाहिए, विशेषकर जिस दिन वर्षा का अधिक जोर हो, आकाश मेघाच्छन्न हो, उस दिन विशेष कर हल्के, पाचक आहार-खार अम्ल पदार्थ खाना चाहिये।

७—वर्षा ऋतु में क्षार से बने हुये पदार्थ यथा—पापड़, कचरी, मुरब्बे तथा घृत तैल के बने हुए पदार्थ खाना चाहिये। इस ऋतु में तक का सेवन सेंधानमक, कालीमिर्च हींग आदि मिला कर करना चाहिए, इससे अग्नि दीपन होती है। वायु शांत होती है, पाचन होता है।

८—इस ऋतु में पान का उपयोग करना चाहिए। पान पाचक रस की उत्पत्तिकर्ता, अग्निदीपक, वायुशामक तथा कृमिनाशक होता है।

अपालनीय नियम

९—इस ऋतु में वायुकारक, रूक्ष, अत्यन्त शीत, भारी, दुष्पाच्य आहार न करना चाहिये। क्योंकि इस ऋतु में स्वभावतः अग्निमंद हो जाती है। अग्निमंद होने से भूख न लगना, पाचन न होना, मलावरोध, भारीपन सुस्ती आदि होजाते हैं।

१०—शीतल वायु से बचना चाहिए, छाती को ढकी हुई रखना चाहिए, नदी कुए, तालाब आदि का जल न पीना चाहिये, गरम करके पीना चाहिये, बरसात की कीचड़ वाली गीली जमीन पर नंगे पैर कभी नहीं फिरना चाहिए, भीगे कपड़े न पहनना चाहिए, अधिक वर्षा में न फिरना चाहिए, सामने की बौछार से बचना चाहिए। घर के सामने गन्दगी मैलापन न होने देना चाहिए बासी अन्न, बासी जल न पीना चाहिये।

११—दिन में सोना, अधिक व्यायाम करना, मलीन वस्त्र पहनना, धूप सेवन, स्त्री-सहवास (१५ दिन के अन्तर से) जागरण करना अधिक भोजन करना, खुले में सोना, मिठाई, भुट्टे, ककड़ी, चरपरे, तीक्ष्ण पदार्थ न खाना चाहिये, क्योंकि यह सब कारण हैजा, अजीर्ण, पेट के विकार तथा कृमि उत्पन्न करने वाले हैं। साधारणतः गरम ताजा, स्वच्छ, हलका भोजन करना चाहिए, भूख रख कर भोजन करना चाहिए। सप्ताह में एक दिन लंघन कर लेना चाहिए। अदरख पोदीना, नीबू, कालीमिर्च, जीरा सेंधानमकयुक्त चटनी भोजन में रखने से सामान्य स्वास्थ्य रक्षित रहता है और ऋतु-जन्य विकार नहीं होते हैं।

इस ऋतु के अनुकूल कुछ प्रयोग

१. इस ऋतु में अदरख, सेंधानमक का भुना हुआ चूर्ण भोजन के प्रथम तथा मध्य में लेने से वायु शांत होता है, अग्नि दीप्त होती है, भूख खूब लगती है, कार्य बढ़ाती है।

२. प्रसिद्ध हिंग्वष्टक चूर्ण—सौंठ, कालीमिर्च, पीपल, जीरा सफेद, जीरा स्याह, अजवायन सेंधानमक एक २ तोला लेकर चूर्ण कर उसमें घृत में भुनी हुई हींग २ माशा मिला [illegible] पाचक, चूर्ण भोजन के साथ थोड़ा २ चाटने से वायु का जोर पेट शूल हैजा, अजीर्ण, अपाचन, भारीपन आदि दूर करता है। इस चूर्ण का इस ऋतु में नित्य भोजन के साथ उपयोग करने से हैजा होने का भय नहीं रहता है।

३. प्रसिद्ध पाचक स्वादिष्ट चूर्ण—सोंठ, कालीमिर्च, सौंफ, जीरा सफेद जीरा स्याह, काला नमक, सेंधानमक पीपल यह सब समान भाग लेकर तथा मिश्री दुनी मिला कर उसमें ६ माशा नीबू का सत्व, पीपरमेंट २ माशा मिला कर शीशी में भर लेना चाहिए। यह अत्यन्त स्वादिष्ट रुचिकर सरल सस्ता चूर्ण है यह चूर्ण अग्नि दीपक, आहार पाचक रोचक, मल शोधक, वायु को जोर दूर करके वायु को पेट में एकत्रित न होने देकर बाहर फेंकता है।

४. प्रसिद्ध गन्धक वटी—घृत में तथा दूध में शोधित आमलासार गंधक ५ तोला, सोंठ ५ तोला, सेंधानमक ३ तोला, इनको पीस कर नीबू के रस का भावना देकर चने के प्रमाण गोली बना लेना चाहिए, यह गोलियां वर्षा ऋतु में अग्निदीपक पाचक शोधक एवं रुचिकर हैं और वायु और शूल को दूर करती हैं।

५. इस ऋतु के अनुकूल प्रसिद्ध शास्त्रोक्त औषधियां अग्निकुमार रस सजीवनी वटी, अजीर्णकटक रस, कुमार्यासव, द्राक्षासव, शखद्राव लवण भास्कर चूर्ण, हिंग्वाष्टक चूर्ण, शख, कपर्दिका भस्म आदि लेने चाहिए।

ऋतु रोगों का उपचार

१. अजीर्ण—अधिक जल पान से, असमय भोजन करने, अधिक भोजन करने से, मल मूत्र वेग रोकने से, जागरण से, कच्चा बासी, रूखा, ठंडा अस्वच्छ भोजन करने से अजीर्ण होजाता है। इसके लक्षण ये होते हैं—पेट में दर्द, पेट फूलना, खट्टी डकार आती, बचैनी अनेक प्रकार की वायु की पीड़ा, वमन आदि मुख्य लक्षण हैं।

उपचार—हिंग्वाष्टक चूर्ण गरम जल से २ माशा लेना। एक नीबू को चीर कर उसकी दोनों फांकों में सांभर नमक, सोंठ और थोड़ी सी हींग भरकर अंगार पर गर्म करना। जब गरम होजावे, तब कुछ ठंडा होने पर चूसने पर अजीर्ण दूर होता है।

२. हैजा—इसके भी वही कारण होते हैं जो अजीर्ण के हैं। बेहोशी दस्त सफेद रंग के बिलकुल पतले, पेट में सुई चुभने की सी पीड़ा, [illegible]

बेचैनी पैरों में वायु के पठन होना, सिर दर्द यह हैजे के मुख्य लक्षण हैं। हैजे के उपद्रव—नींद का नाश मूत्र का बन्द होना प्यास, बेहोशी, यह उपद्रव हैं।

उपचार—सुधांशु—पीपरमेंट २ माशा, अजवायन सत कपूर, २ २ माशा एकत्र एक शीशी में भर दे, द्रव रूप हो जायगा। २ ४ बूंद २-२ घन्टे में जल में देता जावे उपद्रव सहित हैजा शांत होता है। लहसुन का अर्क १ तोला २-२ घंटे से पिलाना चाहिये। लौंग ६ माशा, इलायची ६ माशा, जायफल अफीम आधा आधा माशा इन सब का चूर्ण ६ माशा अन्दाज में गरम जल से देने से दस्त वमन बन्द होता है। जब रोग बिलकुल न हो, रोगी को अन्न न देना चाहिये।

३ गुल्म—वर्षा ऋतु में स्त्रियों व पुरुषों को गुल्म (वायगोला) का ओर होता हैं पेट में वायु की गांठ फिरती है दर्द होता है डकारें आती हैं, दस्त बन्द हो जाता है आंतो में वायु बोलता है अन्न पर अरुचि, वमन आदि लक्षण होते हैं।

उपचार—सजीवनी वटी २ गो० उष्ण जल से देने से गोला शांत हो जाता है। हिंगाष्टक चूर्ण जल में देने से शांत होता है, छोटी पीपल का चूर्ण १ तोला यव क्षार ३ माशे, अदरख का रस २ तोला मिला कर आधा आधा सुबह शाम लेने से गोला शांत होकर आराम होता है।

४ शीत ज्वर—(मलेरिया) शीत से इस ऋतु में एक दम ठन्ड लगकर बुखार आता है। मिथ्याहार—विहार से यही शीतज्वर तिजारी चौथिया हो जाते हैं।

उपचार—करंज के बीज का चूर्ण १ माशा गरम जल में लेने से शीत से आया हुआ ज्वर, तिजारी, चौथिया तत्काल शांत करता है, कुनैन के समान लाभ करता है।

५ कब्ज—इस ऋतु में शीत के क्लेद और वायु की वृद्धि से बहुधा कब्ज हो जाता है पेट भारी हो जाता है ग्लानि रहती है। नीचे लिखा चूर्ण लेने से एक दस्त हो जाता है।

उपचार—सकारपचक चूर्ण—सोंठ, सौंफ, सेंधानमक सनाय, हरडे समान लेकर-चूर्ण कर ४ माशा शाम को गरम जल में लेने से १ दस्त साफ हो जाता है

विकार पैदा होजाता है। अध्याशा की ओर जो ध्यान जाता है, वह तो सच में आपत्तिजनक बात है।

विद्यार्थियों की फैशनपरस्ती

(पृष्ठ १६ का शेष)

वाक्य पढ़ कर लाभ उठाना चाहिये —'वह बड़ा कठिन समय था, जाड़े में मुझे पिताजी को अन्धेरे में उठना और कलेऊ करना उजाला होने के पहले ही कारखाने में पहुंच जाना और बीच में थोड़ा देर के लिये जलपान की छुट्टी के सिवा अन्धेरा हो जाने तक काम में जुटे रहना पड़ता था। वे घन्टे मुझे भार मालूम पड़ते थे और काम में मुझे कुछ खुशी नहीं मालूम पड़ती थी। लेकिन जब मैं यह समझने लगा कि मैं अपने संसार—अपने घर के लिए कुछ कर रहा हूं, तब इसमें कुछ-कुछ प्रसन्नता मालूम पड़ने लगा। उस समय से अब तक मैं करोड़ो पैदा कर चुका हूं, किन्तु उन करोड़ों से मुझे वैसी प्रसन्नता नहीं प्राप्त हुई, जैसी प्रथम सप्ताह की कमाई में मालूम हुई थी। अब मैं अपने घर का सहायक था, रोटी कमाता था और अपने माता-पिता के ऊपर भार नहीं था।' अपने उद्योग से करोड़ों की कमाई करने वाले इस महापुरुष ने परोपकार के कामों में पतीस करोड़ डालर अर्थात एकसौ करोड़ रुपये दान दे डाले थे।

जिस समय मैं लन्दन में रहता था लगभग उसी समय एच० जी० वेल्स भी वहां रहते थे। उन्हें साउथ कनिंगसिंगटन के साइन्स के नार्मल स्कूल में मुफ्त शिक्षा प्राप्त करने का सुभीता प्राप्त था और निर्वाह के लिए सप्ताह में एक गिनी मिलती थी। पहिनबर्ग में (१८८७-८८) मैं काफी आराम के साथ एक सौ पौंड वार्षिक में अपना निर्वाह कर सकता था और कभी कभी घर में भी कुछ पहुंच जाता था। लंदन में वहां जीवन निर्वाह का खर्च बहुत ही कम था।

सिनेमा देखने वालों को उसका नशा सा हो जाता है। ऐसे लड़के भी देखने जाते हैं, जो जलपान न करके सिनेमा के लिये पैसे बचाया करते हैं। कालेज के कितने ही विद्यार्थी ठीक से खाना न मिलने के कारण कष्ट पाते हैं, पर उन्हें सिनेमा देखने को मिलना ही चाहिये। सिनेमा के तमाशे विद्यार्थियों के पैसे खर्च करा उन्हें दुखी तो बनाते ही हैं, साथ ही उनके नैतिक और शारीरिक स्वास्थ्य को भी हानि पहुंचाते हैं। उन्हे आदमियों से भरे हुये हाल में घंटों बन्द रहना पड़ता है और नजर पर जोर पड़ने से उसमें भी

जर्मन व्योमयान-हिंडनबर्ग

(ले०—श्री शंकरदेव विद्यालंकार)

[अमेरिका, इंगलैंड और फ्रांस जलयानों को बनाने वाले राष्ट्रों में सब से आगे है। हवा में उड़ने वाले जहाज़ों को बनाने के परीक्षणों में ये देश निष्फल रहे हैं। इन देशों में बने हुए सभी हवाई जहाज नाश को प्राप्त हो चुके हैं]।

* * * *

[हवाई जहाजों की सफलता का विचार सब से पहिले एक जर्मन विद्वान के मस्तिष्क में आया था। काउन्ट जेपलिन का यह स्वप्न महायुद्ध में थोड़ा बहुत मूर्त हुआ था। सन् १६२७ में वह पूर्णरूप से मूर्त हुआ। इसी वर्ष वह विश्व-विख्यात जर्मन हवाई जहाज ग्राफ जैपलिन तैयार हुआ]।

छः छः वर्षों तक बिना टूटे फूटे तथा बिना किसी आकस्मिक घटना का सामना करके अनेक प्रकार की हवाई यात्राओं के उपरांत उसी जाति का, पर उससे भी बढ़िया एक और जैपलिन तैयार हो रहा है। उसका निर्माणकार्य लगभग समाप्ति पर है।

इस में सन्देह नहीं कि जर्मनी ने हवाई-जहाजों के निर्माण में असाधारण उन्नति की है। भिन्न २ हवाई-जहाजों को अनेक प्रकार के आकस्मिक आघातों से जूझना पड़ा है—यह बात समय समय पर अखबारों में पढ़ने में आती रही हैं। परन्तु जर्मनी का विश्वविश्रुत व्योमयान 'जैपलिन" छः वर्षों से सैकड़ों यात्राएं कर चुका है और हजारों मन की डाक को उठाता रहा है।

ग्राफ जैपलिन ने एक बार भी आकस्मिक आघात नहीं खाया है। छः वर्ष के समय के अन्दर इसके सब प्रकार के मरम्मत के कार्य में दो सौ रुपयों से अधिक व्यय नहीं हुआ!! इस "ग्राफ जेपलिन" से भी अधिक और बढ़िया और वायुयान जर्मनी में बन कर तैयार हुआ है, उसको संज्ञा है—"एल० जेड० १२६"। इसे जर्मनी के स्वर्गीय राष्ट्रपति "हिंडनबर्ग' का नाम दिया गया है।

"आर १०१" के विनाश के बाद से इंगलिस्तान ने तथा 'आकरान" और "मकौन' के सर्वनाश के बाद से अमरिका ने वायुयान बनाने का कार्य छोड़ा हुआ है। परन्तु जर्मनी तो इस विषय में अभी प्रगतिशील ही है। जर्मनी आज वायुयानों के निर्माण के कार्य को अपनी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा मान रहा है। वस्तुतः इस कार्य में वह अद्वितीय है।

सन १६२७ में "ग्राफ जैपलिन", बनाया, उसके बाद एक नये वायुयान बनाने का कार्य शुरु किया गया है। जर्मनी के हवाई-सैन्यपति मि० गोरिंग की अध्यक्षतामें एक 'ग्राफ जैपलिन कम्पनी स्थापित की गई है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त ग्राफ जैपलिन का प्रधान कप्तान डाक्टर एकनर इस कम्पनी की व्यवस्थापक समिति का सभापति है। इस कम्पनी के पास अड़तीस लाख पौंड की पूंजी है। यह कम्पनी नवीन विशालकाय जैपलिन बना रही है। इस को अग्नि से किसी प्रकार की हानि न पहुंच सके, इस की व्यवस्था विशेष रूप से की गई है। बहुत लम्बी यात्रा के समय इसके अन्दर प्रभूत मात्रा में सामान रखा जा सके, इसकी भी व्यवस्था की गई है। यात्रियों को सामुद्रिक जहाजों में जितना सुख और अनुकूलता प्राप्त होती है उतनी ही सुविधा इस में भी रखी जायगी। भोजनगृह और खास केबिनों का आयोजन भी किया गया है।

एकसौ यात्री तथा सर्व प्रकार का सरसामान और मरम्मत का सामान मिला कर पचास टन (लगभग एक हजार मन) जितना भार यह जहाज आसानी से उठा सकेगा।

यह व्योमयान बर्लिन से न्यूयार्क, न्यूयार्क से टोकियो तक टोकियो से अंगोरा तक और अंगोरा से बर्लिन तक बीच में कहीं भी बिना रुके हुए साहसिक यात्रा कर सकेगा!! यह जहाज सवेर बर्लिन से न्यूयार्क जाकर अगले दिन सायंकाल को पुनः बर्लिन में आ जाने की पूरी आशा रखता है। ऐसा विराट्काय व्योमयान अभी तक कभी नहीं बना है। जर्मन एञ्जिनियरों और वैज्ञानिकों ने उसको सिद्ध स्वरूप दिया है। इस में विशेष प्रकार से बनी हुई दूसरी धातु का प्रयोग किया गया है। काल रासायनिक रीति से बना हुआ लोहा और काष्ठ प्रयुक्त किया गया है।

यह व्योमयान बहुत आसानी के साथ और सरलता के साथ सीधा पानी पर उतरता है और चढ़ता है। इसको उतारने और चढ़ाने के लिये लम्बी जगह की आवश्यकता नहीं पड़ती!

यह जैपलिन बीसवीं सदी की सर्वश्रेष्ठ आश्चर्यमयी वस्तु कही जा सकती है।

डा० अग्रवाल का आंखों का शफाखाना, देहली

कुछ मरीजों के चित्र

यह लड़का जन्म से उल्टी आँख से अंधा था नेत्र व्यायाम 'पामिंग' से करीब एक महीने में अच्छा होगया आजकल यह मेरठ कालिज में पढ़ रहा है।

यह बालक दृष्टि बोर्ड पर नेत्र व्यायाम की प्रेक्टिस कर रहा है।

सत्यवान गुरुकुल कांगड़ी

हरिद्वार का एक ब्रह्मचारी जो पढ़ते अन्धा हो गया था। यह ब्रह्मचारी १० दिन में प्राकृतिक नेत्र चिकित्सा से अच्छा हो गया है।

विशाल-भारत और स्वामी सत्यदेव

(पृष्ठ १० का शेष)

प्रकाशित करवा कर वहाँ पर बाँगी गई थी और दूसर नोटिस मन्दिर के सम्बन्ध में बाँटे गये थे। बस मेरे सार्वजनिक जीवन में केवल यही एक आर्थिक सहायता है, जो बिना माँगे स्वामी विश्वानन्द जी ने आप-ही-आप पाँच सौ रुपया मुझे एक मारवाड़ी से लेकर दे दिया था। निस्सन्देह मेरे ऐसे स्नेही अवश्य हैं, जो मेरे कहने पर मुझे सहायता दे सकते हैं, परन्तु मेरी पुस्तकें सदा मेरा खर्च निकालती रही हैं।'

इतना कह कर स्वामी जी चुप हो गये। तब मैंने फिर प्रश्न किया—'चतुर्वेदी जी आप से यह पूछते हैं कि क्या वाम मार्ग कम्यूनिज़म का विषैला फल है?'

स्वामी जी बोले—'चतुर्वेदी जी के हृदय में इस समय मेरे प्रति विद्वेष है, इसी कारण वे इतनी स्पष्ट बातों को भी समझने की चेष्टा नहीं करते। अब मैं साफ़ यह कह रहा हूं कि उन मादरज़ाद नंगी क्लबों में कम्युनिस्टों की भरमार थी कम्यूनिज़्म इन्द्रिय संयम की खिल्ली उड़ाता है वह विवाह के आदर्श को नहीं मानता तो इस से बढ़कर चतुर्वेदी जी को और क्या प्रमाण चाहिये। कम्युनिज़्म फ़्री लव (Free love) के सिद्धांत को मानता है और स्वच्छन्दता से पति पत्नी के विच्छेद को करना सिखाता है तो ऐसी अवस्था में वाम मार्ग का आना स्वाभाविक है और मैंने तो उन क्लबों के बीच में रहकर कम्युनिज़्म के वाम मार्ग को देखा है। चतुर्वेदी जी इसे न मानें तो न सही लेकिन उन्हें मेरे व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर लिखी हुई बातों को गप कहने का अधिकार नहीं है।'

मैं अपने नोट देखने लगा। मैंने स्वामी जी से कहा कि चतुर्वेदी जी के इस लेख के अन्तिम आक्षेप का भी उत्तर कृपाकर दे दीजियेगा और वह आक्षेप यह है—क्या आपके नक़द धर्म की सिद्धि साम्यवाद की निन्दा और हिटलर तथा उसके अनुयायियों की प्रशंसा से ही हो सकती है?

स्वामीजी मुस्कराकर बोले—'जब सन् १९३४ के फर्वरी मास में मैंने हिटलर के विषय में वह लेख 'सरस्वती' में लिखा था, तब उस समय मैं हिटलर के चमत्कारों से भली प्रकार परिचित नहीं था। अब तो मैं जर्मनी जाकर जर्मन जनता से मिलकर, वहाँ के ग़रीब अमीरों से बातें कर हिटलर के गुण दोषों को भली प्रकार पहचान गया हूं। मैं हिटलर का प्रशंसक इसलिए हूं कि उसने अपने देश के माथे पर लगी हुई अपमान जनक सन्धि के चिथड़े उड़ा दिये हैं और जर्मन राष्ट्र को संगठित कर उसे अपने पाँवों के बल खड़ा कर दिया है। जिस जर्मनी को दूसरी जातियाँ ठुकराती थीं, जो दूसरों की दया का भाजन था वह जर्मनी आज हिटलर के कारण योरोप की महाशक्तियों के साथ एक कतार में खड़ा हो गया है। व्यक्तिगत रूप से हिटलर ने मेरा जर्मनी में रहना कठिन कर दिया मेरी आमदनी के दरवाज़े बन्द कर दिए, परन्तु मैं तो हिटलर को उसके अधिकांश देशवासियों के दृष्टिकोण से देखता हूं, स्वार्थ की कसौटी से नहीं। मैं कम्युनिज़्म का विरोध असूली तौर पर करता हूं, क्योंकि मैंने बर्लिन में हिन्दुस्तानी और जर्मन कम्युनिस्टों को देखा है जो महात्मा गाँधी जी और कांग्रेस को सौ सौ गालियाँ देते थे और राष्ट्र धर्म की खिल्लियाँ उड़ाते थे। जहाँ कम्युनिज़्म है वहाँ राष्ट्र धर्म नहीं पनप सकता। कम्युनिज़म, सोशलिज़्म और बलशेविज़्म, इन तीनों में से किसी का अनुवाद भी साम्यवाद नहीं है। यह किसी हिंदी लेखक ने भूल से शब्द घड़ा है। कम्युनिज़्म वर्गवाद है और सोशलिज़्म समाजवाद। मैं सोशलिज़्म के सिद्धान्तों को आज से नहीं पिछले चौबीस वर्षों से मानता हूं, लेकिन कम्युनिज़्म का मैं अवश्य विरोधी हूं।

तब मैंने पाँच चार मिनट के लिये चुप्पी साध ली और स्वामी जी भी उठकर टहलने लगे। कुछ मिनटों के बाद वे आकर बैठ गये तब मैंने फिर पूछा—स्वामी जी, मैं तो आप से चतुर्वेदी जी के 'वायचक्रम्' के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता था। उसमें सम्पादकीय अशिष्टता की पराकाष्ठा हो गई है। क्या मैं उस में लिखी गई कुछ बातों के सम्बन्ध में भी आप से पूछताछ कर सकता हूं? स्वामी जी ने कहा कि—वायचक्रम् के विषय में आगे चर्चा करेंगे। आज तो व्याख्यान के कारण थका हुआ हूं।

लेकिन दूसरे दिन प्रातःकाल ही मुझे वहाँ से अकस्मात् चले आना पड़ा और मैं स्वामीजी से वायचक्रम् के बारे में बात न कर सका। मैंने 'वायचक्रम्' को फिर पढ़ा और सोचा कि स्वामी जी की श्री प्रेमचन्द जी पर नाराज़गी जिस पर वायचक्रम् का आधार है, उचित थी या अनुचित? यों तो एक पत्र के सम्पादक को यह अधिकार ही है कि वह कोई सूचना दे काट छांट कर दे या न भी दे। लेकिन एक बात है। स्वामीजी का श्री प्रेमचन्द्र जी से जो सम्बन्ध था, उसे देखते हुए उनका यह कर्तव्य था ही कि वे उनकी सूचनाओं को अच्छे रूप में अपने पत्रों में स्थान देते। मुझे याद है कि श्री प्रेमचन्द जी जब दिल्ली प्रांतीय साहित्य सम्मेलन के सभापति की हैसियत से दिल्ली आये थे तो स्वामीजी ने उन्हें बड़े प्रेम से अपने यहाँ बुलाया था। उस समय उन्होंने हंस व 'जागरण' के लिए स्वामीजी से लेख लिखने की प्रार्थना की। पीछे उनका अनुरोधपूर्ण पत्र भी पहुंचा। उन दिनों प्रायः मैं उनके लेख लिखता था। उन्होंने सरस्वती के लिये लिखे गये लेख प्रेमचन्दजी का पत्र पाते ही बड़े उत्साह के साथ उनके पास भेज दिये। कई लेख हंस और जागरण में छपे। स्वामीजी ने अपने लेखों का पुरस्कार नहीं माँगा! केवल एक बार श्री प्रेमचन्द जी ने बड़ी अनुनय विनय के साथ १०) रु० भेज कर स्वामीजी से क्षमायाचना की थी। स्वामीजी को तो इस बात की कोई परवाह नहीं। अनेक पत्रों में वे बिना पुरस्कार माँगे लेख भेजते हैं। तब श्री प्रेमचन्दजी का इतना तो कर्तव्य था ही कि वे उनकी सूचनाओं को अच्छी तरह देते। और जब कि स्वामीजी की पाठशाला पैसा कमाने के लिये नहीं खोली जा रही थी। वह तो एक सार्वजनिक संस्था थी। राष्ट्रीय पत्रों के सम्पादकों को तो उसमें सहयोग करना ही चाहिये था। उन्हें यदि सहयोग न मिला, और उन्होंने अप्रसन्न होकर कुछ शब्द भी लिख दिये तो यह अनुचित नहीं कहा जा सकता।

इसी 'वायचक्रम' में 'विशाल-भारत' के सम्पादक ने कैसी भद्दी, ऊलजलूल, अशिष्टतापूर्ण और अश्लील बातें लिखी हैं। ये हैं घासलेटी साहित्य के विरुद्ध गोली बारूद चलाने वाले! गोसाईं तुलसीदासजी ने सच कहा है—

'पर उपदेश कुशल बहुतेरे,
जे आचरहिं ते नर न घनेरे।'

सन १९३० के 'विशाल-भारत' में शायद 'कोलोन का कार्नवाल' शीर्षक कविता स्वामीजी की छपी थी। उस समय तो चतुर्वेदी जी को वह कविता बड़ी अच्छी लगी, स्वामीजी भी बड़े सत्यवादी लेखक मालूम हुए। आज पाँच वर्ष के बाद जब चतुर्वेदी के हृदय में स्वामी जी के विरुद्ध विद्वेष की अग्नि धधकने लगी है, तो आप उसी कविता की खिल्ली उड़ाने लगे हैं। इस सम्पादकीय असभ्यता को तो देखिये! सच है मनुष्य का दृष्टिकोण ही तो है। जब वह किसी के विरुद्ध हो जाता है तो अपने विवेक को खो देता है और ऐसी बातें करने लगता है, जिनके कारण उसे पीछे पछताना पड़ता है। स्वामीजी ने स्वयं 'कोलोन का कार्नवाल' लिखा है। इस घटना का अक्षरशः सत्य सत्य वर्णन किया है। आज हिंदी वाले स्वामी जी की कीमत नहीं जानते लेकिन जब पक्षपातपूर्ण द्वेष का वातावरण दूर हो जायगा तो उस समय स्वामीजी की लेखनशक्ति का मूल्य मालूम होगा।

———

कहानी

राखी की स्मृति

(ले०—श्री जीवनलाल श्रीवास्तव्य)

वे दिन, आज की अपेक्षा भिन्न प्रकार के थे। दरिद्रता का एकाधिपत्य, तब न था। भारतीयों के शरीरों पर पीतवर्ण आभा उन दिनों न थी। तब सोनपुरी का सौभाग्य-सिंदूर उषाकालीन लालिमा से होड़ लगा रहा था। वाणिज्य-व्यापार के गालों पर गुलाबीपन था। धर्म और सदाचार-मन्दिर के कलश आकाश चूम रहे थे। तोभी अनेक गरीब-परिवार, नक्षत्रों के प्रकाश में ही अपने जीवन के कृष्णपक्ष की रातें बिताया करते थे। दीवे के लिए तैल का अभाव रहता था।

माहिष्मती की ओर जाने वाले मार्ग के पार्श्व में, एक छोटी सी कुटिया थी। सौभाग्य की श्री लुटा कर रमियाँ की माता, अपने वैधव्य के दुर्दिन उसी की छाया में बिता रही थी। कभी वह 'फूलों की सेज' पर सोती थी; परन्तु आज उस के शरीर में मिट्टी के ढेले चुभते न थे। एक दिन वह रानी के समान रह चुकी थी, परन्तु आज आटा पीसकर, अपने और रमियाँ के पेट में दो रोटियाँ डालती थी। आदि से अन्त तक उसका जीवन एकदम बदल चुका था। तब रमियाँ आठ वर्ष की थी।

प्रकृति के नियमानुसार ग्रीष्म ऋतु आती और चला जाती। दल-बल सहित वर्षा का प्रवेश होता। आषाढ़ जाता और श्रावण आ धमकता। न जाने कहाँ से राखी की पूर्णिमा भी आ ही जाती।

सोनपुरी में घर घर कढ़ाइयाँ चढ़तीं। पूरी कचौड़ियाँ, गुझियाँ और पपड़ियाँ तैयार होतीं। उन्हें खा-खाकर बालक बालिकाएं न जाने कितना आनन्द लूटते। पर बेचारी रमियाँ, चने की रूखी रोटी पर ही सन्तुष्ट रहती। उसने अपने घर में कढ़ाई-जैसी आकृति ही न देखी थी। वह कभी पकवानों के लिए मचलती न थी। तो भी पड़ोसिन स्त्रियाँ उसे खाने के लिए सब कुछ भेज देती थीं।

राखी के दिन, सोनपुरी में घर घर उत्सव सा मनाया जाता। मंगल गीत गाये जाते। बहिनें अपने भाइयों को राखी बांधतीं। उनके भाई तलवार छूकर बहिन की रक्षा करने की प्रतिज्ञा करते। रमिया के नेत्र भी इन दृश्यों को देख चुके थे। इन दृश्यों का अदृश्य प्रभाव उसके बाल हृदय पर पड़ चुका था। वह इसे एक सुन्दर खेल समझती थी और उसका हृदय एक बार ऐसा खेल खेलना चाहता था।

परन्तु बात सरल न थी। रमियाँ की माता ने, उस के लिए 'भाई' नामक कोई मानव-शरीर उत्पन्न ही न किया था। किन्तु रमियाँ इसे क्या जाने?

सदा की भाँति उस वर्ष फिर राखी-पूर्णिमा आई। घर-घर राखियाँ बाँधी जाने लगीं। न जाने कितने आनन्द को हृदय में भरकर, नन्हीं सी रमियाँ, एक सूत का धागा लिए अपनी माता के निकट पहुँची। आज उसका मुखकमल खिल रहा था। नेत्रों में एक प्रकाश ज्योति निकल रही थी। आनन्दातिरेक में उसके साँवले कपोल भी लाल-लाल हो रहे थे।

वह भली भाँति यह न जानती थी कि राखी किसे बाँधी जाती है और न उसने इसे जानने का कभी प्रयत्न किया। अपनी एक साध पूर्ण करने की भावना लिए हुए, उसने माता के कन्धे पर प्यार का हाथ रख दिया। गद्गद् होती हुई, बाल-सुलभ लज्जा के सरोवर में डूबती हुई रमियाँ ने साहस कर के कहाः—"माँ! मैं राखी बाँध दूं?"

आशा पूर्ति के विश्वास के सहारे रमियाँ ने राखी का धागा माँ के हाथों की ओर बढ़ाया। क्षण भर में ही रमियाँ के हृदय की सारी हलचल, माता ने परख ली। असहाय और दुखिया माता रो उठी। आँसुओं के प्रवाह ने उसका अंचल भिगो दिया। बीते हुए सुनहले प्रभात के दृश्य, उसे दिखाई से देने लगे। स्मृतियाँ जाग उठीं। किस प्रकार उसकी यौवन लता वसन्त से प्रथम ही तुषार पात द्वारा, बिना एक 'लाल'—पुष्प खिलाये ही मुरझा गई, किस प्रकार उस का साम्राज्य क्षण भर में धूल में मिल गया, आदि बीती हुई करुण-कहानियाँ उसे याद हो आईं।

बेचारी रमियाँ कुछ न समझी—कुछ समझ भी न सकी। किन्तु माँ की रोती हुई आँखों से, उसके नेत्रों से भी दो-चार बूंद आँसू खींच ही लिए। कुछ देर पश्चात् माँ ने अपने नेत्र पोंछे और एक गहरी साँस खींचते हुए रमियाँ से कहाः—'बेटी! भाई के हाथ पर राखी बांधी जाती है, माता के हाथ पर नहीं। तुम इतनी भाग्यवती कहाँ, जो तुम्हारे कोई 'भाई' होता!

रमियाँ की माता का गला भर आया और आगे वह कुछ न कह सकी।

रमियाँ उदास मुख हो चौराहे पर चली गई और पेड़ के नीचे बैठ कर बालकों का झूलना देखने लगा। उसने यह भी देखा कि बूढ़े-बूढ़े ब्राह्मण, आने-जाने वाले पुरुषों व बालकों को राखियाँ बाँध रहे हैं। लोग उनको पैसे देते हैं और चरण छूकर चले जाते हैं। इस दृश्य ने रमियाँ की उदासी दूर कर दी। उस की विचार धारा बदल गई। उसने समझ लिया कि भाई-बहिन के अतिरिक्त भी कोई राखी बाँध सकता है।

बादल घिरे हुए थे, नन्हीं नन्हीं बूंदों की फुहार झर रही थी, परन्तु रमियाँ अपने विचारों में तल्लीन हुई वहीं बैठी थी। उसके काले काले बालों पर फुहार की बूंदें, मोती सी चमक रही थीं। सहसा पानी की झड़ी लग गई। बच्चे अपने २ घरों में छुप गये, रमियाँ उसी पेड़ तले सिमटकर चबूतरे पर बैठ गई। दो ही मिनट बाद, एक यात्री युवक वहाँ आया। उसने अपना घोड़ा पेड़ के नीचे खड़ा किया और आप चबूतरे पर खड़ा हो, वर्षा के बंद होने की प्रतीक्षा करने लगा।

रमियाँ ने उसे सिर से पैर तक देखा और देखा उस के हाथों की ओर। युवक की कलाई, राखी से खाली थी। रमियाँ ने आज के दिन बिना राखीवाला हाथ न देखा था। उसे कुछ आश्चर्य-सा हुआ। सरलता पूर्वक उसने पूछाः—

"तुम्हारे हाथ में राखी नहीं है?"

रमियाँ का प्रश्न सुनकर युवक ने एक साँस ली और कहा—

"नहीं है, और इसलिए नहीं है कि ईश्वर ने मुझे कोई बहिन नहीं दी।"

युवक की आँखों से दो बूंद टपक पड़े। उसके हृदय की पीड़ा का अनुभव बेचारी बालिका कैसे कर सकती थी। तो भी उसके आँसुओं का एक करुण प्रभाव, रमियाँ पर पड़ ही गया था। वह डरते-डरते, किन्तु कुछ प्रसन्न होती हुई बोलीः—

'क्या मैं तुम्हें राखी बाँध दूं?'

युवक का हृदय भर आया। आज से पहिले, एक बालिका के मुख से, उसने इतने प्रिय शब्द न सुने थे। एक बार उस ने रमियाँ की ओर देखा। मैले-कुचेले और फटे वस्त्रों से छनकर रमियाँ के दुर्बल शरीर का प्रकाश फैल रहा था। रमियाँ की भावुकता ने युवक को विस्मित कर दिया। उल्लास और स्नेहभरे हृदय से युवक ने अपनी भुजा रमियाँ की ओर बढ़ा दी। प्रसन्न हो रमियाँ ने अपनी 'धागे की राखी' युवक की बाँह पर बाँध दी। रमियाँ की प्रसन्नता का क्या ठिकाना था? युवक ने अपने नेत्रों को सजल करते हुए पूछाः—

'तुम्हारा क्या नाम है—बहिन!'

"मेरा नाम!—रमियाँ।"

'तुम किस की बेटी हो?'

'पिसनहारी की।"

"कहाँ रहती हो?"

इसी गाँव में नीम के पेड़ के पास एक झोंपड़ी में।"

बेचारा युवक कुछ समझ न सका। और न रमियाँ ही इस से अधिक कुछ बता सकी।

पानी बरसना बन्द होगया। युवक जाने के लिये तयार होने लगा। उसे जाते हुये देख रमियाँ ने पूछाः—

"अब तुम कहाँ जाओगे?"

'माहिष्मती जा रहा हूं, बहिन!"

"तुम कौन हो?"

युवक ने घोड़े पर चढ़ते हुये अपना नाम बताया। रमियाँ भी उस का नाम सुनती हुई वहाँ से भाग गई। युवक का हृदय आज इस गर्व से फूल रहा था कि वह एक गरीब बहिन का भाई है।

* * * *

निमाड़ प्रदेश के जंगलों की सघनता प्रसिद्ध है। विशाल वृक्षों की वहाँ झाड़ी सी लगी है। इतनी सघन कि चिड़िया भी उस ओर न जा सके। बाघ और चीतों की दहाड़ों से वहाँ भूकम्प से आते हैं। साँपों की शूं शूं बड़े २ साहसी मनुष्यों के हृदय कंपा देती है।

ऐसे विकराल और भयंकर वनों में भी मनुष्य रहते हैं, इसे वे ही जाने। तपस्वी साधु, संसार के कष्टों से थके मांदे त्यागी, डाकू और चोर एवं राजदंड की भीति से डरे

हुए अपराधी ऐसे ही बनों का आश्रय लेते हैं। अभय और सुख की नींद उनको ऐसे ही जगलों मे मिलती है। पर कौन जानता है कि उन दिनों निमाड़ के जगलों में रहने वाले डाकू थे या साधु अपराधी थे या साम्य वादी।

नर्मदा के पार्श्व प्रांत में, शूल पाणि की झाड़ी के किनारे २ एक मार्ग जाता था। नगर और ग्राम निवासी इसी मार्ग से आते-जाते थे। माल से लदी हुई गाड़ियाँ वहीं से गुजरती थीं। दूसरे तीसरे दिन रक्त पात, मार-पीट लूट खसोट हो ही जाता था। जो इनसे बचता, उसपर शेर और तेंदुए अपनी आँखें गड़ाए रहते। तो भी साहस की सजीव प्रतिमा— मनुष्य वहाँ से निकलता ही था।

सावन की चतुर्दशी थी। रात्रि के चार बजे थे। घननन घननन करती हुई बैलगाड़ियों की एक कतार, गोली खाए हुए हिरन की भाँति उसी मार्ग पर सरपट दौड़ रही थी। कोकिल-से स्वरों में ग्रामीण रमणियाँ भगवती नर्मदा के गुण गान कर रही थीं। पुरुषों की गाड़ियों पर 'पूत बुलाखी के अटक' की कहानियाँ कही जा रही थीं। दूसरे ही दिन राखी की पूनो (पूर्णिमा) थी। पूर्णिमा का स्नान करने ग्रामीणों की टोली नर्मदा की ओर बढ़ी जा रही थी।

अचानक— धाय धाय धाय — तीन बार गोली छूटने का शब्द हुआ। "आह' भरता हुआ आगे वाली गाड़ी का हाँकने वाला 'धम से जमीन पर ढेर होगया। गीत और कहानियाँ समाप्त होगयीं। यात्रियों के हृदय काँप उठे। स्तब्धता छागई। गाड़ियाँ रुक गईं। सिरों पर मृत्यु की परछाँई दिखाई देने लगी। स्त्रियाँ और बालक गाड़ियों के नीचे छुपने लगे। असहाय यात्री अपनी अपनी लाठियाँ ले गाड़ियों से उतर पड़े।

उन्होंने देखा —लगभग १०० डाकू चारों ओर से गाड़ियों को घेरे खड़े हैं। यात्री भी गाड़ियों के निकट खड़े होगए। क्षण भर तक दोनों ओर शांति छाई रही। किसी ने आक्रमण न किया। अन्त में निस्तब्धता भंग हुई और 'भील सरदार की जय' से शूलपाणि की झाड़ी गूँज उठी। इस जयकार के नाद को सुनते ही यात्रियों के हृदय से जीवन की आशा चली गई। हाथों से लाठियाँ गिर पड़ीं। सिंह के समान सहसपूर्ण कदम बढ़ाता हुआ 'भील-सरदार' आगे आया और बोला:—

"तुम लोग कौन हो?"

"गरीब किसान हैं, मालिक!"

"गरीब किसान!"—भील सरदार ने कहा— 'गरीब किसानों के पास ऐसे शाही साज-बाज कहाँ? चीथड़ों में लिपट कर धूप, मेह और शीत में रात्रि दिन बिताने वाला वह तपस्वी, अपने जीवन में 'स्वर्ण' की सूरत भी नहीं देख पाता। सच बोलो तुम कौन हो?

'पीपरिया गाँव के ठाकुर'—एक व्यक्ति ने कहा।

'कहाँ जा रहे हो?'

"नर्मदा स्नान करने के लिये।'

"तुम्हारे साथ कितनी मातायें और बहनें हैं?'

"केवल आठ।"

"अच्छा उनको एक ओर बैठाल दो। उनसे कह दो वे अपने को सुरक्षित समझें। भील सन्तान, माँ-बहिन पर हाथ नहीं उठाता। बालकों को भी सुरक्षित समझो।"

'और हम लोग?' —एक हाँकने वाले ने पूछा।

'तुम लोग, अपने पास का धन जेवर और हथियार यहाँ रख दो—सुना!'

काँपते हुए हाथों से सबने अपने २ जेवर रुपये पैसे ला लाकर रख दिये और सरदार की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे। सरदार ने पूछा —"और भी कुछ है या सब कुछ आ चुका?"

केवल स्त्रियों के शरीरों पर के आभूषण शेष हैं।'

भील सरदार माताओं के आभूषण नहीं चाहता। अब तुम सब इस तलवार की ओर देखो और अपने रक्त की धारा इसे पिलाने के लिए तैयार हो जाओ। और ठाकुर साहब! यदि तुम युद्ध करना चाहते हो तो भील सरदार उसे स्वीकार करता है। कहो?"—सरदार ने कड़क कर कहा।

किस में शक्ति थी जो काल से युद्ध करे। लाठियों और शस्त्रों में परस्पर युद्ध कैसा? असहाय, निःशस्त्र यात्रियों ने सरदार की तलवार के आगे, मौन हो, सिर झुका दिये।' 'भील सरदार की जय, तांतिया भील की जय' का जय घोष फिर हुआ। सरदार का खड्ग आकाश में उठा। किसी की गर्दन पर उसकी तेज धार गिरना ही चाहती थी कि— "ठहरो'—यह शब्द सुन पड़ा। सरदार का ऊंचा उठा हुआ हाथ उठा ही रह गया। सरदार ने देखा, गाड़ी में से एक युवती उसके सामने खड़ी होगई।

मातृजाति की एक साक्षात् प्रतिमा सामने खड़ी हुई देख कर तांतिया ने अपनी तलवार झुका ली और बोला—

'क्या चाहती हो देवी?"

ठीक उसी समय उषा का सुनहला प्रकाश छिटक गया। आकाश पर लाली छा गई। कुहू कुहू करती हुई कोयल सरदार के ऊपर से उड़ गई। प्रकाश में भील सरदार की मुखाकृति स्पष्ट दिखाई देने लगी। युवती ने एक बार सरदार को और ध्यान से देखा और वह बोली—

'यदि भूलती नहीं हूं तो आज से बारह वर्ष पहिले मैंने तुम्हारे ही हाथ में राखी बाँधी थी। क्या तुम वही 'तांतिया' हो?"

तांतिया ने अपने मस्तक पर हाथ रख लिया। आँखे बंद कर लीं। अपनी मुंदी हुई आँखों से उसने देखा—' पानी बरस रहा है आम के पेड़ तले उसका घोड़ा खड़ा है और चबूतरे पर बैठी हुई एक गरीब कन्या उससे कह रही है-- 'क्या मैं तुम्हें राखी बाँध दूं?'

तांतिया की स्मृति जाग उठी। अपनी तलवार फेंक कर उसने कहा — 'हाँ, मैं वही तांतिया हूं, और क्या तुम वही मेरी निर्धन बहिन रमिया हो?'

युवती ने स्त्री सुलभ लज्जा से अपनी आँखे नीची करते हुए कहा— हाँ'

भील सरदार, रमिया के चरणों पर गिर पड़ा। यात्रियों के शरीर मानो फिर जी उठे। क्षण भर में कुछ से कुछ होगया।

राखी-पूर्णिमा का प्रभात खिल उठा। आगे २ भील सरदार तांतिया का अरबी घोड़ा नाचता-झूमता चल रहा था। घन घन करती हुई ठाकुर साहब की गाड़ियाँ उसके पीछे धीरे धीरे चल रही थीं। उनके पीछे सौ भीलों की सेना मार्च कर रही थी। आने जाने वाले पथिक इस 'असंभव' को संभव देख कर चकित थे। स्त्रियों की गाड़ी में से, रमियों का विजयी हृदय—'एक झूला डाला मैंने भैया के राज में भैया के राज में'—मल्हार की सुरीली तान उड़ रहा था। कैसा सुहावना, कितना प्रेम मय और कितना अद्भुत था वह दृश्य।

तट पर पहुंच कर नर्मदा के देखते २ रमिया ने आज फिर तांतिया की भुजा पर राखी बाँध दी। रमियां के हृदय में स्नेह था, शांति थी और था एक विजयोल्लास, परन्तु अभिमानरहित। तांतिया के मुख पर आनन्द था, प्रकाश था परन्तु हृदय क्षमायाचना के लिये मचल रहा था। राखी के सूत्र की कितनी बड़ी महिमा थी!

रक्षा-बन्धन !

—:o:—

(भाई के प्रति)

धर्म बहिन हूँ आगे आओ
धर्म-भ्रात हो मत सकुचाओ
लाओ कल्याण हस्त बढ़ाओ
लो पवित्र बन्धन !

'राखी है' इस को अपनाना
यदपि तुच्छ यह कच्चा ताना
पर तुम इसमें सुदृढ़ बनाना
शुद्ध-प्रेम बन्धन !

शुभ चिन्तक भगिनी के, हे धन,
नित्य तुम्हारा हो अभिनन्दन !
फूंके यह तुम में नवजीवन,
नित रक्षा-बन्धन !

भ्रात बहिन की लाज निभाना
इसे हृदय से भूल न जाना
याद रहे यह मेरा आना
चिर-प्रतीत बन्धन !

(बहिन के प्रति)

यह तो 'विजय-सूत्र' है लाओ
पगली ! तुच्छ इसे न बताओ
लो, हाँ ! ध्रुव कर में पहिनाओ
रक्षा बन्धन अजर !

हृदय हो हृदयप्रेम निभाना
मैंने आज तुम्हें पहिचाना
कहो, क्या कहा ? भूल न जाना
छिः हम हुए अमर !

तुम तो मेरा विमल हृदय हो
मेरी वीणा की सुर लय हो
मेरा स्वर्ण भविष्योदय हो
अनुपम प्रभा-प्रखर !

यह ध्रुव प्रण नित याद रहेगा
स्वेद-बिन्दु पर रक्त रहेगा
बहिन ! कहा है, बहिन कहेगा
तुम को जीवन भर !

—कल्याणकुमार 'शशि'

—*:*—

सप्ताह का फल

राशि क्रम से

ता० १२ अगस्त से १८ अगस्त तक

(ले०—श्री सकर्षण व्यास, उज्जैन)

मेष

व्यसन की ओर झुकाव, स्त्रियों की बीमारी मे तंगी, इस राशि की स्त्रियों में गर्भपात की सम्भावना, बहुत सी शस्त्रचिकित्सा से प्रसव करेंगी, नौकरी की तलाश में निराशा, मालिक की तरफ से भय, राजकारणों में सफलता।

वृष

कर्जदारी से चिन्ता, रिश्तेदार का सताना, शारीरिक स्थिति साधारण रहेगी, शत्रुवर्ग की प्रबलता, बने हुये व्यापार का बिगड़ना, वात रोग के रोगी को कष्ट, राजकारणों से भी भय, बाहर घूमना अच्छा नहीं।

मिथुन

आर्थिक स्थिति अच्छी, आय के नवीन जर्य, इष्ट मित्रों की सहायता, घर के और निजी लोगों के व्यवहार से असन्तोष, मानसिक चिन्तायें, राजकारणों में सफलता होने का अविश्वास, भागीदारी रखना जरूरी, बाहर घूमने से लाभ की आशा कम।

कर्क

श्वास कास क बीमारों को परहेज की जरूरत, मकान जायदाद की झंझट, अनुचित भागीदार रखकर व्यापार करने में घाटे की सम्भावना, शत्रुवर्ग पर विजय, राजकारणों में निराशा, सप्ताह के आखिर में जुकाम की शिकायत, बहुत से व्यादी बुखार के शिकार होंगे।

सिंह

स्वास्थ्य रहेगा, परन्तु स्त्रियों की तरफ से सुख नहीं, डाक्टर, वैद्य, हकीमों पर पैसे का खर्च, आमद से खर्च विशेष बाल बच्चो की चिन्ता, नौकरी पेशे वाले सुखी।

कन्या

भाई बन्धु और रिश्तेदार तथा औरत ये सब घर में आराम से बैठकर खाने नहीं देंगे, हरदम कुछ न कुछ झंझट, स्त्रियों में खर्च, आमद के जर्य।

धन

चलते व्यापार [illegible] सामने आता हुआ द्रव्य हाथ से निकलेगा, अपने ही द्रव्य क लिये दूसरों की खुशामद, मित्रों की और भागीदारों की सहायता, चर्म रोग के बीमार विशेष कष्ट भोगेंगे, वाहन (सवारी) से भय रहेगा।

मकर

आमद अच्छी, तन्दुरुस्ती अच्छी परन्तु स्त्रीवर्ग की तरफ से असन्तोष, व्यापार व्यवसाय से लाभ होने की आशा फजूल-खर्ची, दलाली करने वाले से समझ कर चलना चाहिये राजकारणों में निराशा, भागीदार से कलह के कारण।

कुम्भ

स्थिर धन्धे वाले सुखी, नौकरी पेशे वाले आराम से, व्यापारी के लिये सप्ताह कष्टप्रद, राजकारणों से चिन्ता, बहुत श्रम का अल्प फल, शत्रु वर्ग पर सफलता, प्रमेह और बहुमूत्र के रोगी को परहेज से चलना चाहिये, कारखानदारों को अपने नौकरों से बचकर रहना चाहिये, वकील-बैरिस्टर और जज-मजिस्ट्रेट, (इस राशि के अकारण कष्ट भोगेंगे, दूसरों में फंसा हुआ पैसा निकालना असंभव, राजकारणों में असफलता, रिश्तेदार का विरोध, मालिक की तरफ से प्रायः भय, व्यापार में फायदा, सप्ताह में ६ रोज अच्छे निकलेंगे।

तुला

मानसिक परिस्थिति एक दम खराब, कामकाज में मन कम लगेगा, राजकारणों में अनुकूलता, व्यापार से लाभ, परन्तु बेकार धन्धों में समय मिलना कम सम्भव रहेगा, नौकरी की तलाश में घूमने का व्यर्थ श्रम, घर के लोगों के वाग्वज्र कान पर प्रायः गूंजा करेंगे, भाई भाई में विरोध होसकता है।

वृश्चिक

काम करने से आमद हो सकती है, घर की चिन्ता, शरीर में हरदम आलस्य, अनायास कहीं से पैसा मिल जाय परिश्रम न करना पड़े यह वृत्ति प्रायः रहेगी आमद से खर्च विशेष होगा, राजकारणों में सफलता सप्ताह अच्छा है, निकट रिश्तेदार और भाई बन्धु पर विशेष विश्वास रखकर नहीं चलना चाहिये।

मीन

बाहर घूमने में पैसा बर्बाद करेंगे, नौकरी पेशे वाले फुटकर धन्धों से पैसा जोड़ेंगे एक दिन में दो २ चार २ घर काम करके पेट भर अन्न पायेंगे, व्यापारी वर्ग के लोग घाटे में रहेंगे, पेचिश और अर्श वाले मौत के

(शेष कालम दो के नीचे)

(कालम ४ का शेष)

घाट उतरेंगे। राजकारणों में सफल होंगे, भागीदार को दगा देकर खुद पैसा खा जायेंगे, छोटे दर्जे के लोगों से अपनी बेइज्जती करायेंगे।

*   *   *

वायदे के बाजार में तेजी रहेगी, ता० १४ से बाजार कड़क रहेगा, चांदी को रोज नरम रहेगा, गल्ले पर साधारण तेजी रहेगी। ता० १४ १५-१७-१८ को वृष्टि बहुत होगी।

भूल सुधार

साप्ताहिक के 'अर्जुन' के पिछले किसी अंक में 'पत्नी की चाह' शीर्षक कविता के लेखक का नाम गलत छप गया है। वास्तविक नाम 'प्रयागशंकर गुप्त' शंकर, है।

व्यापार-डायरेक्टरी

आवश्यक वस्तुयें निम्न पते से खरीदिये—

व्यापार संसार

दिल्ली का बाजार

साप्ताहिक रिपोर्ट

(इडस्ट्री सुपरिन्टेन्डेन्ड दिल्ली द्वारा)

९ अगस्त

सोने का बाजार इस सप्ताह बहुत नाजुक रहा, क्योंकि सट्टे बाजों ने बहुत खरीदा। कीमत किसी तरह स्थिर रहीं। पहले की कीमत पिछले सप्ताह ३४।।=) था। आज भी वही है।

सप्ताह के पहले भाग में चांदी की कीमत विदेशी सलाहों के कारण स्थिर रहीं। सप्ताह के पिछले भाग में कीमत गिरीं। आज ६८।=) भाव है, जबकि पिछले सप्ताह ७०।-) था।

कपड़े—स्थानीय मिलों को बहुत कम आर्डर मिले। स्थिति को उत्साहजनक नहीं कहा जा सकता। कपड़े का बाजार भी बहुत मन्दा रहा। मांचेस्टर और जापानी माल की पूछताछ भी बहुत अनियमित हुई।

अनाज—अनाज का बाजार स्थिर रहा। गेहूं साधारण रहा जब कि दालों ने कुछ ऊंचा रुख दिखाया।

आज के भाव—

गेहूं (शरबती)	२।।।- ।।।
सफेद	२।।= ।।
चावल (१)	९६)
(२)	१३)
दाल उर्द	५।।)
मूंग	३।। =)
अरहर	६।।)

गेहूं की आमद टनों में

७ जुलाई को समाप्त हुए सप्ताह में

	१९३५	१९३४
कलकत्ता	४७०५	८५२१
बम्बई	४१ ८	५८४९
करांची	५१७८	१३२९९

चावल विदेशों का टनों में

बम्बई	४	२५
करांची	१०	—

१ अप्रैल से २७ जुलाई तक का आमद टनों में

कलकत्ता	५८०००	६०६११
बम्बई	६१४८	७४४६८
करांची	१५६३४१	२१३७४०

चावल

कलकत्ता	४	३
बम्बई	३८१	३१४
करांची	१२६	१०२

वर्षा की रिपोर्ट

फसलों की क्या हालत है ?

(निज व्यापारिक सम्वाददाता द्वारा)

बंगाल—पिछले सप्ताह में कुछ हल्की बारिश हुई। खड़ी फसलों और उत्तरी पश्चिमी बंगाल में धान की पौद को लगाने के वास्ते बारिश की आवश्यकता है। खरीफ (ओटम) फसल की कटाई हो रही है।

आसाम—मौसम साधारणतया अच्छा है। कुछ जिलों में बारिश की आवश्यकता है। आम तौर पर खड़ी फसलों की हालत अच्छी है।

बिहार उड़ीसा—भागलपुर जिले के सिवाय सब जगह बारिश हुई। पुरी सम्भलपुर और कटक के हिस्सों में भारी बारिश हुई है। बाकी जगह हल्की और मध्यम दर्जे की बारिश हुई है। खड़ी फसल की हालत अच्छी है। अगली फसल के लिये जमीन की तयारी अभी तक जारी है। धान और भादों की फसल की बुआई जारी है। बिहार, छोटा नागपुर, शाहाबाद, चम्पारन, पुरनिया और सथाल के परगनों में और अगहन धान के लिये बारिश की आवश्यकता है। कटक, पुरी, बालासोर और अगुल में धान की पौद लगाई जा रही है। बम्बई कर्नाटक दक्षिणी दक्कन अहाते के कुछ भागों और पश्चिमी खानदेश के सिवाय यहां बारिश कम हुई है। बाकी जगह अच्छी बारिश हुई। दक्कन के पूर्वी भागों और कर्नाटक में बारिश की आवश्यकता है। गुजरात में बारिश ठहरनी चाहिए। गुजरात और कोकन में फसलों की हालत अच्छी है और धान की पौद लगाई जा रही है। दक्कन के नहरी इलाकों में कपास को कीड़े लगने का समाचार आया है।

सिन्ध—सिन्ध में बारिश नहीं हुई। कपास की बुआई की जा रही है। धान की पौद लगाई जा रही है।

मध्यप्रांत—वर्षा प्रायः सारे प्रान्त में हो गई है। आकाश में बादल रहे। रायपुर बालाघाट और बिलासपुर के भागों में बारिश की अत्यन्त आवश्यकता है। कपास की बुआई खतम हो चुकी है। धान और दूसरी खरीफ की फसलों की बुआई अभी तक जारी है। कपास के इलाके में नलाई वगैरा के लिये बारिश की ठहरन की आवश्यकता है।

मदरास—सिरकार के हिस्सों और पश्चिमी किनारे पर भारी बारिश हुई है। सिरकार और दक्षिणी पश्चिमी किनारे के इलाके में धान और दक्कन के हिस्सों में खुश्क फसलों की बुआई जारी है। साधारणतया खड़ी फसलों की हालत अच्छी है।

पंजाब—प्रांत के सब हिस्सों में बारिश हुई है और खड़ी फसलों के लिए लाभदायक सिद्ध हुई है। खड़ी फसलों की हालत औसत और अच्छी के दर्मियान है।

संयुक्तप्रांत—प्रांत के सब भागों में बारिश हुई है। खड़ी फसलों के वास्ते लाभदायक सिद्ध हुई है। लेकिन बारिश की और आवश्यकता है। फसल खरीफ की बुआई और जमीन की तयारी प्रारम्भ है, कुछ भागों में फसल रबी के लिए जमीन की तयारी प्रारम्भ हो गई है। खड़ी फसलों की हालत अच्छी है।

देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विवरण

(निज व्यापारिक सम्वाददाता द्वारा)

अन्तर्राष्ट्रीय कृषि विभाग रोम में जून मास के आखीर तक जो समाचार मिले हैं उनमें यह रिपोर्ट तयार की गई है।

गेहूं

समाचारों से ज्ञात होता है कि मई और जून मास में मौसम गेहूं की फसल के लिये कुछ खराब रहा। अधिक सर्दी पड़ने की वजह से एक

स्थानाभाव के कारण प्रत्येक शहर की वर्षा नहीं दी जा सकी।

—सम्पादक

या दो सप्ताह की देरी गेहूं की बढ़ोतरी में होगई। यूरोपीय देशों में जून मास की औसतन गेहूं की फसल की हालत खराब थी बनिस्बत पहले महीने के और कहीं २ पर तो काफी नुकसान भी मालूम होता है परन्तु बहुत सी जगहों में हालत जून १९३४ से अच्छी भी है। मध्य जून की हालत को देख कर यूरोपीय देशों की पैदावार के जो अनुमान किये गये हैं उनसे पता चलता है कि इस वर्ष पिछले वर्ष से ५०० लाख बुशल गेहूं अधिक पैदा होगी।

रूस में मई और जून मास का मौसम गेहूं के लिये माफिक रहा। बुआई अच्छी तरह से पहली जून से पहले ही सब समाप्त होगई थी।

चावल

जापान में कुल बुआई इस वर्ष २३०२ हजार एकड़ हुई, जबकि पिछले साल थी २३९९ हजार एकड़ और पैदावार का अन्दाजा इस वर्ष २०२९६ हजार और पिछले वर्ष का २१११४ हजार सैंटल था। कोचीन का क्रमानुसार ५०९८ हजार और ४१४३ हजार एकड़ था। इटली में सर्दी अधिक पड़ने की वजह से मौसम खराब ही रहा।

कपास

मिश्र की कपास का, अन्तिम रिपोर्ट के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि इस वर्ष की पैदावार १५९६ हजार गांठ है जबकि पिछले वर्ष १७७७ हजार गांठ (४७८ पौंड प्रति गांठ) थीं। यगाण्डा में उठी हुई कपास की उत्पत्ति का अनुमान इस वर्ष २०६०००० गांठों का है। पिछले वर्ष की संख्या २२४००० था। एंग्लो इजिप्शियन सूडान की कपास की पैदावार का कुल अनुमान इस वर्ष का और पिछले वर्ष का क्रमशः २९७००० और १३५००० गांठ था।

कहीं बाढ़, कहीं सूखा

मानसून की गति

मानसून इस बार अपना विचित्र रुख दिखा रहा है। कहीं तो अनावृष्टि से दुर्भिक्ष पड़ रहा है और कहीं बाढ़ आ रही हैं। पश्चिमी बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ रहा है। स्थिति चिन्ताजनक हो रही है। दुर्भिक्ष पीड़ितों को अन्न बांटा जाने लगा है।

संयुक्तप्रांत के बनारस, लखनऊ, कानपुर आदि जिलों में काफी वर्षा नहीं हुई। लेकिन इलाहाबाद में गत ९ अगस्त को भीषण वर्षा हुई है। मध्यप्रांत की अनेक नदियों— हगन घाट, नर्मदा और बाण में अतिवृष्टि के कारण बाढ़ आ गई है जिससे फसलों को भारी नुकसान पहुंच रहा है। पश्चिमोत्तर प्रान्त पश्चिम उत्तर पंजाब और अफगानिस्तान से भी बाढ़ के समाचार मिल रहे हैं। सक्खर के पास सिन्ध में बाढ़ के आने के तथा लायलपुर में ओले गिरने के समाचार भी प्राप्त हुए हैं लेकिन करांची में अत्यन्त अनावृष्टि हो रही है।

फिलिपाइन्स द्वीप में दो नदियों में बाढ़ आने के कारण १८० आदमी मर गए तथा फसलों और इमारतों को बहुत नुकसान पहुंचा है।

मदरास में रूसी तेल

मदरास ५ अगस्त—गत सप्ताह रशियन आयल प्राडक्टस लि० को

(शेष पृष्ठ २९ कालम ४ के नीचे)

चप्पल कैसे बनती है ?

गांधी जी की मोचियों को शिक्षा

वर्धा में सत्याग्रहाश्रम का एक छोटा-सा चर्मालय है, जिसे कुछ पुराने आश्रमवासी चला रहे हैं। अब उसमें एक मोची का विभाग और बढ़ा दिया गया है। उस में मरे हुए ढोरों के चमड़े के चप्पल, स्लीपर और अन्य अनेक चीजें बनती हैं। हम लोग ज्यादातर वहीं से चप्पल जोड़ा मंगाते हैं। इस विभाग का जो प्रधान मोची है, उसकी वर्धा में दूकान थी। दुकान बन्द करके अब वह हमारे यहां आ गया है। इसे मोची का और काम तो अच्छा आता है, पर दुकान में उसने कभी चप्पलें नहीं बनाई थीं। और हम सब लोग तो अधिक चप्पल वाले ही ठहरे! जैसी चप्पल बनाकर वह हमें दे देता है, उससे हम अपना काम चला लेते हैं। पर गांधीजी को भला इस से सन्तोष हो सकता है? उन्होंने तो मोची विभाग के सारे कारीगरों को मगनवाड़ी में बुलाया, ताकि वे खुद ही मोचियों को उनकी त्रुटियां बता सकें। और अपने सामने उन्हें सुधार सकें। सो एक दिन दोपहर को वे सब मोची आ पहुंचे और गांधी जी की बैठक के सामने छोटी-सी जूते बनाने की दुकान उन्होंने लगादी। हम सब को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। इतने में राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू, सरदार वल्लभभाई, कांग्रेस के मंत्री और कार्यकारिणी समिति के कुछ सदस्य आ पहुंचे। गांधीजी उस वक्त उन मोचियों को सुन्दर चप्पल बनाने का पदार्थ पाठ दे रहे थे। वे तो यह चप्पल शिक्षण देखकर आश्चर्यचकित हो गये। गांधीजी मोचियों को समझा रहे थे, "देखो, यह पट्टी यहां इस तरह आड़ी लगानी चाहिये। टांके इस जगह देने चाहियें। तल्ले में जहां पैर का दाब पड़ती हो, वहां चमड़े के कुछ टुकड़े आड़े डाल देने चाहिये, इत्यादि इत्यादि।" अपनी आंख के सामने उन्होंने तमाम सीवन खुलवाई और फिर से टांके लगाने के लिए उस मोची से कहा। पर उधर कार्य कारिणी समिति के सदस्य कुछ अधीर से हो रहे थे। उन्होंने कहा—"पर जितना समय हमें मिला है उस में से बहुत कुछ तो ये मोची ही लिये लेते हैं।" गांधीजी ने हंसते हुए कहा, "अरे, आप लोग क्यों इन बेचारों पर ईर्ष्या करते हैं? ये रोज-रोज तो आते नहीं आपको भी देखना हो तो देखो कि अच्छा बढ़िया चप्पल कैसे बनता है।" बेचारे वे मोची तो उन बड़े-बड़े आदमियों को देखकर घबरा-से गये और तुरन्त ही वहां से उठकर बाहर बरामदे में जा बैठे। पर उनकी ठकठक की आवाज तो हो ही रही थी। इसलिये कार्यकारिणी वाले फिर अधीर हो उठे। एक आदमी आवाज बन्द करने के लिये उन लोगों से कहने गया। पर गांधीजी ने उसे रोका और कहा, "अरे, यह क्या करते हो, मोची अपना काम कर रहे हों तो उसके पास बैठकर भी काम करने की हमें आदत डालनी चाहिए न! और फिर आप लोगों को इस बात का पता कैसे चलेगा कि यह ग्राम उद्योग-संघ का कार्यालय है?"

मेरा ऐसा ख्याल है कि कार्यकारिणी समिति के कुछ सदस्यों को और 'हरिजन सेवक' के अनेक पाठकों को शायद इस बात का पता न होगा कि गांधीजी ने जूता जोड़ा बनाना सब से पहले दक्षिण आफ्रिका में टालस्टाय फार्म में सीखा था और वहीं इस कला में उन्होंने कुशलता हस्तगत की थी। स्व० सोराबजी अडाजणिया उन दिनों गांधीजी के साथ करते थे। उन्होंने गांधीजी का बनाया हुआ एक चप्पल जोड़ा बंगाल के नरमदल के वयोवृद्ध नेता श्री सत्यानन्द बोस को भेंट किया था, जिसे वे बरसों से एक अनमोल उपहार के रूप में बड़ी हिफाजत के साथ रखे हुए हैं।

(हरिजन सेवक से)

षडयन्त्र के अभियुक्त छूटे

आवारा साजिश नहीं कर सकते

पटना के अडिशनल सेशन्स जज रायबहादुर एस. डी. चटरजी ने आज उस मुकदमे का फैसला सुना दिया जिसमें गंगा नामी एक मोटर ड्राइवर व ७ अन्य व्यक्तियों के विरुद्ध सम्राट के खिलाफ लड़ाई और सर गणेशदत्तसिंह मिनिस्टर के करल का षडयन्त्र रचने का अभियोग था। जज महोदय ने ज्यूरी की राय से सहमत होकर सब अभियुक्तों को छोड़ दिया।

विद्वान जज ने अपने फैसले में कहा कि सबूत पक्ष की गवाहियों के अनुसार अधिकांश अभियुक्त पटना शहर के आवारा आदमी हैं, इसलिए यह षडयन्त्र रचने के उच्च उद्देश्य के अयोग्य हैं। इसके अलावा ज्यूरी के सामने जो बातें बतलाई गयीं हैं वे झूठी और व्यर्थ हैं।

भारत के नये वायसराय

लार्ड लिनलिथगो होंगे

६ अगस्त की सरकारी विज्ञप्ति है कि लार्ड विलिंग्डन की जगह, जिन का कार्य-काल आगामी अप्रैल मास में समाप्त हो जायगा, ब्रिटिश सम्राट ने लार्ड लिनलिथगो को भारत का वायसराय और गवर्नर जनरल नियुक्त किया है।

इतने पहले घोषणा क्यों हुई !

अगले वायसराय के लिये जो नाम लिये जा रहे थे, उनमें आपका नाम प्रमुखता से आ रहा था और अन्त में हुआ भी यही। आम तौर पर इतने पहले नये वायसराय का नाम घोषित नहीं किया जाता, यह इतने पहले घोषणा हुई है, उसका कारण यह बताया जाता है कि सरकार नये सुधारों को कार्यान्वित करने पर तुली हुई है और इसीलिये वायसराय भी ऐसे व्यक्ति को बनाया गया है, जिसका नये सुधारों के निर्माण में बहुत ज्यादा हाथ रहा है। यूं आप कृषि के विशेषज्ञ माने जाते हैं और ब्रिटेन के मेडिकल रिसर्च कौंसिल तथा इम्पीरियल कालेज आफ साइन्स एण्ड टेकनालाजी के भी चेयरमैन हैं।

हिन्दुस्तान में आप सर्वप्रथम १९२६ में शाही कृषि कमीशन के अध्यक्ष होकर आये थे और १९३३ में भारतीय शासन सुधारों की विस्तृत रिपोर्ट तैयार करने को ज्वायंट सिलेक्ट कमेटी भी आप की ही अध्यक्षता में बनी थी।

'मैं कांग्रेस का प्रधान पद स्वीकार नहीं कर सकता'

सेठ जमनालाल बजाज का वक्तव्य

सेठ जमनालाल बजाज ने निम्न वक्तव्य जारी किया है:—

"मुझे अफसोस है कि समाचार पत्रों में यह इत्तिला छप गई है कि कांग्रेस के आगामी इजलास के प्रधान की गद्दी को शोभा देने के लिये सम्भव उम्मीदवार के तौर पर कार्य समिति के सदस्यों में मेरे नाम की भी आपस में चर्चा हुई है। मैं देखता हूं कि मेरे कुछ मित्रों ने इस खबर को ठीक मान लिया है। पूर्व इसके कि यह शरारत आगे बढ़े, मैं बता देना चाहता हूं कि मैं इस बोझ को स्वीकार नहीं कर सकता, अगर अन्य किसी कारण से नहीं तो इस कारण से ही कि मेरा स्वास्थ्य मुझे यह बोझ लेने की आज्ञा नहीं देगा।"

---

१० मरे: अनेक घायल

भीड़ पर गोली चली

लोहारू की उग्र स्थिति

मलेरकोटला में असंतोष अभी तक दबा नहीं कि पंजाब की दूसरी रियासत लोहारू में असंतोष ने उग्र रूप धारण कर लिया है। इसकी आबादी केवल २३३१ है।

वहां की प्रजा को लगान तथा अन्य भारी करों के विरुद्ध अरसे से शिकायत थी। प्रजा के बहुत निवेदन करने पर भी नवाब ने कोई ध्यान नहीं दिया। अब वे उसके विरुद्ध आंदोलन करने लगे। 'गांव वाले कर देने से इंकार कर रहे हैं' यह कह कर गांव वालों पर नवाब की पुलिस ने आक्रमण कर घेर लिया, हालांकि अक्तूबर में लगान वसूल होना चाहिये। यह भी सुना गया है कि बहुत से गिरफ्तार किये गये, लाठियों और संगीनों से मारे गये। पानी तक वे कुओं से पी नहीं सकते, खेतों में नहीं जा सकते। स्थिति इतनी विषम हो गई कि नवाब ने दिल्ली से फौज बुलाई। ९ अगस्त को गोली चलाई गई। वहां से लोग भाग रहे हैं और भिवानी में शरण ले रहे हैं। १० मरे हैं और बहुत से घायल हुये हैं। वायसराय व पंजाब गवर्नर को तार दिये जा रहे हैं।

(पृष्ठ २५ का शेष)

ओर से यहां ३००० टन पेट्रोल और ३५००० टन डीजल आयल आया है। यहां रूसी तेल का यह पहला चालान आया है। सुना है ४०-४० हजार टन माल के आठ जहाज बम्बई आए हैं।

रूमानिया और भारत के बीच व्यापार

सब पाबन्दियां उठा दी गयीं

'हिन्दुस्तान टाइम्स' के शिमलास्थित सम्वाददाता को ज्ञात हुआ है कि रूमानिया की सरकार ने हाल में अपने यहां भारतीय माल के आयात पर जो पाबन्दियां लगा दी थीं वे सब उठा ली गई हैं।

—सोपर (काश्मीर) की हिन्दू धर्मशाला के मामले में सरकार ने २ हिन्दू और २ सिक्खों की एक कमेटी बनादी है। अतः सिक्खों का मोरचा बन्द है।

हँसी-दिल्लगी

अक्लमन्द आदमी अच्छे पति नहीं होते।

वाह अक्लमन्द आदमी पति ही नहीं बनते

* * *

एक गरीब लड़की ने ईश्वर के नाम पत्र लिखा कि मेरे माता पिता के लिए ५) भेज दो।

पत्र लाहौर के डेड लैटर आफिस में पहुंच गया। वहां शेरसिंह नामी एक सारटर ने उसे खोल कर देखा और अपने साथ ले गया। फलतः शेरसिंह ने ३) लड़की के पास भेज दिये।

कुछ महीने बाद उस लड़की ने पहले की तरह ईश्वर के नाम एक पत्र फिर लिखा मगर इस बार पत्र के अन्त में निम्न शब्द और जोड़ दिये—

शेरसिंह की मार्फत न भेजना पिछली बार उसने २) रख लिये थे

* * *

एक नामधारी नेता को किसी सभा में भाषण देना था। वह अपने एक परम मित्र के पास गया और उससे बोला कि आप भी सभा में मौजूद रहना क्योंकि मुझे आपकी मदद की जरूरत है। वह इस तरह कि जब मैं पानी पीऊं तो आप तालियां बजा कर लोगों से वाह वाह दिलवाना और जब मैं अपने माथे का पसीना पोंछूं तभी आप खिल खिला कर हँसना ताकि अन्य लोग भी हँसें।

* *

दो लाल बुझक्कड़ दिल्ली से बम्बई के लिए पैदल ही रवाना हो गए। उन्हें यह भी पता नहीं था कि किस प्रदेश में से गुजरना होगा और मार्ग में कौन कौन से शहर आयेंगे। वे दूर मंजिल दूर कूच सफर करते जा रहे थे कि अचानक उन दोनों में इस बात पर बहस छिड़ गई कि वे कौन से इलाके में से गुजर रहे हैं। वे वास्तव में यू० पी० के जंगलों में से जा रहे थे मगर उनमें एक तो यह कहता था कि हम जापान में से गुजर रहे हैं और दूसरा यह कहता था कि बंगाल में से गुजर रहे हैं। कारण उन्होंने सड़क के किनारे कुछ खाली बोतलें पड़ी देख ली थीं। उन बोतलों के लेबलों पर 'मेड इन जापान' व 'मेड इन बंगाल' लिखा हुआ था। इसी वजह से वे आपस में उपरोक्त प्रकार बहस कर रहे थे।

कोमन वेल्थ एश्योरेन्स कम्पनी लिमिटेड पूना

यह कम्पनी अभी जीवन बीमा के संसार में बच्चा ही है और इस की उत्पत्ति का श्रेय कुछ एक प्रसिद्ध देशभक्त नेताओं को है। गत ४० वर्ष से पूना अपने एक ख्याति प्राप्त बीमा विशेषज्ञ मि० जी० एस० मराठे एम० ए० आई० ए० के लिये प्रसिद्ध था परन्तु इसकी अपनी कोई बीमा कम्पनी सन् १६२८ से पहले न थी। पूना के नेता एक ऐसी संस्था वैज्ञानिक और ठोस मार्ग पर स्थापित करना चाहते थे और इसी उद्देश्य से १ नवम्बर सन् १६२८ को श्री० एन० सी० केलकर की चेयरमैनशिप में उपरोक्त कम्पनी की रजिस्ट्री कराई गई। संसार उस समय कठिन आर्थिक जीवन में से गुजर रहा था फिर भी पहले वर्ष में ही कम्पनी ने ११५६२५० रुपये के प्रोपोजल्स प्राप्त किये तब से बावजूद व्यापारिक मंदी के कम्पनी बराबर उन्नति कर रही है।

कम्पनी अपने बीमादारों को हर समय सुविधा व सहयोग देती है व इसने कई एक वैज्ञानिक व नवीन स्कीमें प्रचलित की हैं जिनमें निश्चित मुनाफे की पालिसी को शुरू प्रति ५ वें वर्ष १४ प्रतिशत कम कर दिया जाता है व बीमादार को अनन्त तीन प्रतिनिधि डायरेक्टर कौंसिल में भेजने का अधिकार है। दिल्ली में इस प्रकार के हमेशा से बेहद कमी रही है। अपनी अपनी तरफ से ... नई सड़क ... नई दिल्ली में भी खोला गया। कम्पनी गत त्रिवार्षिक पर १५ प्रति हजार वार्षिक बोनस की घोषणा की व आगामी त्रिवर्षिय अगस्त मास में सुनाया जाने वाला है। कम्पनी का प्रबन्ध अति उत्तम व इसकी पूंजी भारतवर्ष में ही बड़े आराम की सिक्योरिटीज में लगी हुई है। बीमा कराने वालों को अन्य कहीं जाने से पूर्व इस कम्पनी की विवरण पत्रिका देख लेना लाभ दायक सिद्ध होगा।

———

सुदूर पूर्व या प्रशान्त महासागर की समस्या

(पृष्ठ ७ का शेष)

सागर में सामा यवाद महासंग्राम की सम्भावना भी बनी ही रहती है व्यापारिक व व्यावसायिक रूप से इंग्लैंड अमेरिका सभी का ध्यान न प्रशान्त पर है व समाज सामाज्यवादी राष्ट्र तथा उनमें जापानी साम्राज्यवादी दोनों एक दूसरे को सन्देह और प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से देख रहे हैं अतः जापान का उत्कर्ष उन्हें कभी सह्य नहीं हो सकता इस समय जापान अमेरिका तथा इंगलैंड के बीच परस्पर जो राजनैतिक पैतरे चले जा रहे हैं वे अत्यन्त विचारणीय हैं इनके परिणाम भविष्य ही प्रकट करेगा।

पं० रामगोपाल विद्यालंकार प्रिंटर और पब्लिशर के लिये अर्जुन प्रेस, श्रद्धानन्द बाजार, देहली में छपा ।

सोमवार २ सितम्बर सन् १९३५ ई० : Monday 2nd September 1935

अबीसीनिया के सम्राट

श्री रासतफारी

अबीसीनिया की सम्राज्ञी

श्रीमती रासतफारी

इटली के तानाशाह

सि० मुसोलिनी

यूरोप के धर्मगुरु

...पायस पोप

वार्षिक मूल्य ३।)] सम्पादक—कृष्णचन्द्र विद्यालंकार एक अङ्क का मूल्य -)

विषय-सूची

साप्ताहिक डायरी

२२ अगस्त

—खबर है कि भोपाल के हिंदू कार्यकर्ता महात्मा गांधी के पास डेपुटेशन ले जाकर अपना दुखड़ा सुनायेंगे।

—मद्रास सरकार ने प्रांत भर की म्युनिसिपलटियों पर यह नया हुक्म जारी किया है कि सरकार की स्वीकृति के बिना ब्रिटिश सम्राट और सम्राज्ञी को छोड़ कर और किसी व्यक्ति के चित्र, फोटो, मूर्ति या बस्ट पर व्यय न किया जाय।

२३ अगस्त

—चांपानेरी (अजमेर) परगने में महाराजा बड़ौदा के एक भागे हुये हाथी ने भीषण उत्पात मचा रखा है। एक आदमी के मरने की खबर है।

—बम्बई हाईकोर्ट ने श्री० सदानन्द की अपील स्वीकार करके सरकार के नाम नोटिस जारी किया है कि 'फ्री प्रेस जरनल' की जमानत को जब्त करने सबंधी सरकारी आर्डर क्यों न रद्द किया जाय।

—लाहौर हाईकोर्ट ने एक ऐसे नर राक्षस की फांसी की सजा को बहाल रखा जिसने १५ लड़कों के साथ व्यभिचार करके उन्हें कत्ल कर दिया था।

२४ अगस्त

—मथुरा के समीपवर्ती सिकम आई पहाड़ो पर भारी वर्षा के कारण कोदर्ई कमक रेलवे स्टेशन तथा रेलवे लाइन बह गई।

—जोधपुर रेलवे के ट्रैवलिंग आडीटर मि० अर्जुनराज मेहता को रेल में कुछेक सिन्धियों ने बिना टिकट सफर करने पर चार्ज वसूल कर लेने के कारण कत्ल कर दिया।

—दिल्ली के श्री० आसफअली एम० एल० ए० ने असेंबली में कांडे अमीन की कुप्रथा को बंद कराने सबंधी एक बिल पेश करने को नोटिस दिया है।

—शिमला में यह अफवाह गर्म है कि भारत सरकार ने फौज में भर्ती शुरू करदी है।

—जोधपुर के जाली सिक्का केस से स्पेशल ट्रिब्यूनल द्वारा रिहाई प्राप्त अभियुक्त अब तक नहीं छोड़े गये। रिश्तेदारों ने महाराज आदि को तार दे दिये हैं।

—नरसिंहपुर के असि० सुपरडण्ट पुलिस श्रीनीरजकांत चौधरी को, डि० सुपरडण्ट पुलिस की मातहती में न रहने के कारण नौकरी से मौत्तिल कर दिया गया है।

२५ अगस्त

—शेखूपुरा में सिक्ख-मुस्लिम दंगे के संबंध में २५ सिक्खों को गिरफ्तार कर लिया गया है।

—दमोह के एक मंदिर में १५-१६ हिन्दुओं पर भजन करते हुये जन्माष्टमी के दिन एक मुसलमान लड़के ने नंगी तलवार से आक्रमण कर दिया। लड़का खूनी कपड़े और तलवार सहित गिरफ्तार कर लिया गया।

२६ अगस्त

—फरीदपुर में एक विवाहिता बंगाली स्त्री व १३ भद्रलोक युवकों पर जो युगान्तर नामक एक आतंकवादी संघ के सदस्य बतलाये जाते हैं। चोरी, डाके व हथियार एकत्र करने के जुर्म में मुकदमा शुरू हो गया है।

—कलकत्ता-पुलिस ने वहां के जूट ऐसोसियशन के ८०० सदस्यों को फाटका का जुआ खेलने के अभियोग में गिरफ्तार करके १००)-१००) की जमानतों पर छोड़ दिया है।

—पं० नकीराम शर्मा ने अपील की है कि ता० ८ सितम्बर को भारत-भर में कोहाट के पीड़ितों के प्रति सहानुभूति दिखाने के लिए कोहाट-दिवस मनाना चाहिये।

—टोकियो (जापान) में नींद की महामारी शुरू हो गई है। इस बीमारी से अबतक ५५ व्यक्ति मर चुके हैं।

—लाहौर के गुरुद्वारा शहीद गन्ज झगड़े के अन्तिम केस में २ मुसलमानों को ८ मास व पांच मास कड़ी कैद की सजा हो गई। एक अभियुक्त माफी मांगने पर छोड़ दिया गया।

—अलीगढ़ मुस्लिम-युनिवर्सिटी के निजाम हैदराबाद चान्सलर चुने गये हैं।

—चूहड़खाना (शेखूपुरा) के पास जात्रे गांव में सिख जाटों के दो दलों में झगड़ा हो गया, जिसके कारण ५ सिख भालों का शिकार हो कर मर गये तथा अनेक घायल हुए।

—बी० बी० एन्ड सी० आई० रेलवे की दो बिजली की गाड़ियां ड्राइवरों की सावधानी से लड़ते-लड़ते बच गई।

२७ अगस्त

—नागपुर की खबर है कि महाकौशल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने २४ अगस्त को होशंगाबाद की बैठक में कुछ मामूली संशोधनों के साथ नये कांग्रेस विधान को स्वीकार कर लिया।

—कलकत्ता टाउनहाल में श्री० शरतचन्द्र बोस को कारपोरेशन की ओर से मान-पत्र दिया गया। मानपत्र चांदी के पत्र पर खुदा हुआ था जिस में तिरंगा कांग्रेसी झण्डा और कारपोरेशन का चिन्ह भी अंकित थे।

—अजमेर के नागरिकों ने एक सभा करके यह जोरदार मांग पेश की है कि उर्स के मेले में वेश्याओं को नर्तकाओं के नाम से भी न आने दिया जाय।

—अहमदाबाद की सभा में बन्द अभियुक्त रमेश महता को बम्बई जाने को इजाजत मिल गई है।

—सीमा प्रान्त का मशहूर नेता चिमनाई आज सुबह मारा गया।

—रंगून की खबर है कि थेंगान जिले के प्रख्यात क्यैकिसयो मन्दिर में इस वर्ष तीसरी बार डाका पड़ा और ७५० तोले से ऊपर सोना लूट लिया गया।

२८ अगस्त

—चावड़ी बाजार दिल्ली में गुलाममुहम्मद नामक एक पठान को किसी ने रात में घायल कर दिया था अस्पताल में जाकर उस की मृत्यु हो गई।

—आगरे के पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल एम० एल० ए० के प्रांतीय कांग्रेस कमेटी पार्लमेंटरी बोर्ड तथा असेम्बली से स्तीफा दे देने की खबर है।

—देहली के श्री गणपतराय वकील ने मौ० शौकतअली को नोटिस द्वारा सूचित किया है कि उनका यूरोपियन बेगम ने होटल-बिल अदा नहीं किया। दीवानी दावे की तैयारी हो रही है।

—श्रीनगर में यह अफवाह फैल रही है कि गिलगित पर ब्रिटिश सरकार का प्रभुत्व हो जाने के बाद सरकार लद्दाख को भी हथिया लेगी।

—जर्मनी में नाजी सैनिक रहस्यों का उद्घाटन करने के अपराध में ३९ जर्मनों को आज प्रातःकाल बरलिन में फांसी दे दी गई।

—यूनान में भूखे लोगों का हाहाकार बढ़ रहा है।

—देवबन्द में अधिकारियों ने श्रीकृष्ण-लीला का जलूस रोक दिया था उसके विरोध में हिन्दू-दूकानदार ता० २३ अगस्त से हड़ताल कर रहे हैं।

२९ अगस्त

—बेलजियम के राजा रानी के साथ एक मोटर दुर्घटना हुई जिस के कारण रानी मर गयी और राजा भी सख्त घायल हुए हैं।

—सीमा प्रान्त में फौजियों पर फिर गोला चलाये जाने की खबर मिली है।

—बड़ा गांव पर आक्रमण के सिलसिले में २३ गोरों पर मुकद्दमा दायर कर दिया गया है।

३० अगस्त

—नवाब बहादुर अब्दुल-समद खाँ के देहान्त की खबर पाकर उनकी पत्नी भी एकाएक मर गयीं।

—देहली से चार मील दूर एक पुलिस चौकी के जलाये जाने की अप्रामाणिक खबर मिली है।

—माता स्वरूपरानी नेहरू अब शनैः शनैः स्वास्थ्य लाभ कर रही हैं।

—भारत सरकार के भू० पू० व्यापार सदस्य सर जोसफ भोर को काश्मीर का प्रधान मन्त्री बनाने की अफवाह है।

—श्री भूलाभाई देसाई ने, श्री विट्ठलभाई पटेल की वसीयत को पढ़ कर यह सलाह दी है कि अदालत के फैसले से पूर्व श्री सुभाषचन्द्र बोस को रुपया न दिया जाय।

—गोलाधीनानाथ की डकैती के सिलसिले में काशी विद्यापीठ और कांग्रेस के कार्यकर्ता भी गिरफ्तार हुए हैं।

—असेम्बली के अध्यक्ष ने श्री गिरि का अबीसीनिया-सम्बन्धी प्रस्ताव पेश किये जाने से इन्कार कर दिया।

हैदराबाद में दंगा

९७ घायल

श्रीकृष्ण जी के रथ जलूस पर हिन्दुओं व मुसलमानों में सिकन्दराबाद (दक्षिण) में उपद्रव हो गया। वह दो दिन तक रहा। मुसलमानों ने जलूस को रोक लिया और हमला कर दिया। पुलिस मौके पर पहुंचा हिन्दुओं ने हड़ताल कर दी। बहुत से हिन्दू शहर छोड़ कर भाग भी गये। उपद्रवियों ने दुकान लूट ली। फौजों को भी तैयार रहने का हुक्म दे दिया २८ अगस्त को कुछ हिन्दू दुकानें खुलीं और दो तीन दिन तक सब दुकान खुल गई। इस उपद्रव में ९७ के करीब घायल हुए हैं और दो मर भी हैं।

तलवार बिछुआ व हाकियां कटारियां के अलावा १००० लाठियां भी उपद्रियों से मिली हैं।

सप्ताह की हलचल

इटली ब्रिटेन से झगड़ा नहीं करेगा ?

मुसोलिनी की महत्वपूर्ण घोषणा

१५ भारतीय व ब्रिटिश गिरफ्तार

अबीसीनिया के सम्राट व सम्राज्ञी का उपवास

——:*:——

अबीसीनिया और इटली के पारस्परिक युद्ध की सम्भावना बढ़ती जा रही है। इटली अपनी सेना बराबर अफ्रीका भेज रहा है। ऐसा मालूम होता है कि वह सितम्बर के अन्त तक अपनी पूरी सेना वहाँ भेज देना चाहता है, जिससे अक्टूबर में युद्ध प्रारम्भ किया जा सके।

अभी गत २७ तारीख को बालज़ानों में इटैलियन सेनाओं का एक बृहत् प्रदर्शन भी किया। इसी दिन इटैलियन मन्त्री मण्डल की महत्वपूर्ण बैठक हुई। इसके बाद मुसोलिनी ने एक बहुत महत्वपूर्ण घोषणा की है। जिसका सारांश निम्न लिखित है—

अबीसीनिया में इटली जो कुछ करना चाहता है उसमें ब्रिटिश सरकार को डरने की कोई जरूरत नहीं है। इटली ब्रिटेन से कोई मुखालफत नहीं करना चाहता क्योंकि यूरोप की शांति के लिये ब्रिटेन के सहयोग का जो महत्व है उसे वह महसूस करता है।

४ सितम्बर की जिनेवा की बैठक में इटली की सरकार अपना वक्तव्य पेश करेगी, जिसमें अबीसीनिया सम्बन्धी अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण होगा और एक लम्बे वक्तव्य द्वारा इटली अबीसीनिया के सम्बन्धों का इतिहास बतलाया जायगा।

अन्त में स्पष्टता के साथ यह भी कह दिया गया है कि—

अपने व्यापक हितों की रक्षा इटली आखिर तक करना चाहता है। उसका खयाल है कि इस औपनिवेशिक बात का युरोपीय परिस्थिति पर असर नहीं पड़ना चाहिये। परन्तु यदि कोई राष्ट्र इटली को अबीसीनिया में जहाँ कि अत्यन्त अत्याचारपूर्ण दासता का ताँडव है और दकियानूसी रहन सहन बहुत हैं, व्यवस्था स्थापित करने से रोकेगा तो वह अपने सिर ऐसे युद्ध का खतरा लेगा जो विश्वव्यापी हो जायगा।

इस प्रकार जहाँ उसने ब्रिटेन से बैर न बाँधने का आश्वासन दिया है वहाँ अबीसीनियों के मामले में पीठ न करने की दृढ़ता भी प्रकट की है। यह भी कह सकते हैं कि युद्ध की पूरी तैयारियाँ वह कर चुका है और फसल भी इस साल खूब हुई है। खास कर गेहूँ और चावल जिस से खाद्य पदार्थों की भी उनको कठिनाई नहीं होगी।

सैन्य प्रदर्शन के अन्तिम दिन सीन्योर मुसोलिनी दिन भर बड़े उत्साह में रहा और एक लाल मोटर में बड़ी तेजी के साथ पहाड़ों के ऊपर नीचे दौड़ता रहा, यहाँ तक कि पत्रकार लोग बहुत कोशिश करने पर भी उस की रफ्तार को नहीं पहुँच सके। बोलज़ानो नगर में, जो कि सैन्य प्रदर्शन का केन्द्र था रातों-रात मुसोलिनी की तसवीरें व महायुद्ध में इटली ने जो भाग लिया था उसके द्योतक पोस्टर इतनी तादाद में चिपका दिये गए कि सवेरे उठ कर लोगों ने देखा तो घरों की खिड़कियाँ भी नजर न आईं।

यह भी खबर है कि इटली सरकार ने १५ भारतीय व ब्रिटिश व्यापारियों को मसावा (इरिट्रिया) में गिरफ्तार कर लिया है। उन पर अपराध यह लगाया गया है कि उन्होंने अदन की कुछ व्यापारिक संस्थाओं को लिखा था कि वे इटली के प्रदेश में माल न भेजें।

सब युरोपियन राष्ट्रों की आँखें ४ सितम्बर को होने वाली राष्ट्र संघ की बैठक पर लगी हैं। सभी सरकारें इसके लिये अपनी रिपोर्ट तैयार कर रही हैं। इटली भी अपने मामले को चित्रों, नकशों व अन्य कागजों द्वारा पेश करने की पूरी तैयारी कर रहा है। फ्रांस, ब्रिटेन ने भी रिपोर्ट अत्यन्त सावधानी से तैयारी की हैं। मास्को, स्वीडन, डेनमार्क और फिनलैंड की सरकारें भी सोच रही हैं कि ४ सितम्बर को क्या रुख अख्तियार किया जाय।

इधर अबीसीनिया भी युद्ध को अवश्यम्भावी देख कर तैयारियाँ कर रहा है। शान्ति रक्षा के लिये अबीसीनिया के सम्राट व सम्राज्ञी ने शान्ति की प्रार्थना के लिये एक मास तक का उपवास शुरू किया है। साम्राज्ञी पहले भी १६ दिन का उपवास रख चुकी है।

विदेशी लोग अबीसीनिया छोड़ रहे हैं। अबीसीनिया बैंक पर विदेशी सिक्कों की बड़ी माँग है। अतः उक्त बैंक ने विदेशी मुद्रा का देना सर्वथा बन्द कर दिया है। इटालियन-दूतावास अपने कागजात को वहाँ से हटा रहा है। और विदेशी लोग भी अपना सामान अपने २ दूतावास में भेज रहे हैं।

———

बरमा, बंगाल, बिहार व सिंध में बाढ़

हजारों आदमी बे घरबार

फसल को भारी नुकसान

इस सप्ताह बाढ़ ने फिर अनेक स्थानों पर आक्रमण किया है।

ब्रह्मपुत्र नदी में बाढ़ आने से डिबरूगढ़ नामक शहर भारी खतरे में है। सिराजगंज के सिविल कोर्ट व अन्य सरकारी इमारतें पानी से घिर गई हैं। दामोदर नदी में फिर बाढ़ आगई है। पहली बाढ़ से ही १०००० व्यक्ति बेघरबार होगये थे। अब की बाढ़ ने और खतरा पहुँचाया है। रानीनगर दुराही और दुमकार नामक स्थानों का समस्त इलाका बाढ़ के कारण पानी में डूब गया है। धान के खेतों को सख्त नुकसान हुआ है।

बिहार में देहरी रोहतास रेलवे का एक पुल भी खतम होगया है। बहुत से गाँव जल निमग्न हो गये हैं।

पंजाब में सिन्धु नदी में बाढ़ आगई है। सक्खर जिले के १४ गाँव पानी में डूब गये हैं।

बंगाल में पद्मा नदी ने गजब ढा रखा है। देहातों से सर्वनाश की खबरें आ रही हैं। अनुमानतः ११३ गाँवों का बुरी तरह नाश हुआ है और ८९२६ घर बह गये हैं। १८६० पशुओं के मरने की भी खबर है। पद्मा नदी ने पूर्वी बंगाल के द्वार ग्वालन्दो में आतंक का राज्य उपस्थित कर दिया है। मंडी जलनिमग्न हो गई है। पानी की सतह १९२४ की बाढ़ से केवल ६ इंच नीचे है।

बरमा में गोदामों में जमाशुदा धान को बहुत नुकसान पहुँचा है। १६००० बोरे चावल नष्ट हो गया है। पेगू व थरावदी में भी बाढ़ आने से श्वेगू शहर का आधा हिस्सा जलनिमग्न हो गया है।

मुजफ्फरपुर के भी खतरे में होने की सम्भावना है। सीतामढ़ी में तो पानी ही पानी है।

कृपाण बनाम तलवार

पंजाब में दो आन्दोलन

पंजाब की स्थिति सुधरने के स्थान पर बिगड़ती ही जा रही है। एक तरफ सिखों ने एक से अधिक कृपाण रखने का आन्दोलन शुरू किया है। सिखों का कहना है कि वे अपने धर्म के अनुसार एक से अधिक कृपाण भी रख सकते हैं। कई सिखों पर एक से अधिक कृपाण रखने पर मुकद्दमे भी किये गये। किसी जज ने तो सजा दे दी और किसी ने रिहा कर दिया। अब यह मामला हाई-कोर्ट में पेश है। पंजाब सरकार ने यह घोषणा प्रकाशित की है कि जब तक हाई-कोर्ट का फैसला नहीं हो जाता, तब तक किसी सिख पर मुकद्दमा न चलाया जाय।

इधर मुसलमानों ने भी तलवार आन्दोलन चलाया है। जैसे सिक्खों को कृपाण रखने की छूट है वैसे ही मुसलमानों को तलवार रखने की छूट दे दी जाय।

आल इंडिया मजलिस अहरार की कार्य-समिति ने पंजाब कौंसिल के अपने प्रतिनिधियों (सदस्यों) को हिदायत दी है कि वहाँ वे आर्म्स एक्ट में ऐसा संशोधन कराने का प्रयत्न करें। इस के लिये पंजाब भर में ८ सितम्बर को तलवार दिवस मनाने की घोषणा की गई है।

सोमवार ता० २ सितम्बर १९३५ ई०

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्

रचनात्मक कार्यक्रम को न भूलो

जब पहले पहल कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने पटना में अपनी असहयोग की नीति छोड़ कर कौंसिल-प्रवेश की नीति को अपनाने की योजना पर विचार प्रारम्भ किया था, तभी कौंसिल-प्रवेश विरोधियों ने इस का विरोध करते हुए कहा था कि यदि कांग्रेस असेम्बली व कौंसिलों के जाल में फस गयो, तो रचनात्मक कार्यक्रम धूल में मिल जायगा। आज डेढ़ साल बाद कांग्रेस के कार्य पर दृष्टिपात करने से खेद के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि उस समय का प्रदर्शित भय निराधार नहीं था। यद्यपि उस समय कांग्रेसी नेताओं ने इस भय का तीव्र प्रतिवाद किया था और बम्बई कांग्रेस ने भी देश के सामने एक व्यापक रचनात्मक कार्यक्रम रखा था, तथापि कार्यक्रम का वह सब उत्साह कांग्रेस की समाप्ति के बाद आने वाले चुनाव संग्राम में ही रूपान्तरित हो गया और चुनाव में सफलता के बाद सब कांग्रेसी कार्यकर्ताओं पर विजय का ऐसा मद छा गया कि वे यह भूल गये कि विशाल रचनात्मक कार्यक्रम उन के सामने पड़ा हुआ है। मानो असेम्बली चुनाव की सफलता ही उनका ध्येय हो। असेम्बलीप्रवेश तो वस्तुतः हमारे स्वतन्त्र्यसंग्राम का एक आवश्यक, परन्तु छोटासा मोरचा ही है। इस से अधिक उसे महत्व देना घातक है। लेकिन आज की स्थिति यह है कि कां० पार्लमेंटरी बोर्ड ही कांग्रेस का सर्वेसर्वा बना रहा है। आज प्रत्येक प्रश्न पर इसी बोर्ड की दृष्टि से ही विचार किया जाने लगा है। कांग्रेस का अध्यक्ष कौन हो, इस पर विचार करते हुए हमें यह सोचना पड़ता है कि वह पार्लमेंटरी बोर्ड के कार्य का संचालन अच्छी तरह कर सके। पहले यह खयाल किया जाता था कि पिछले असेम्बलीनिर्वाचन के बाद कांग्रेसी कार्यकर्ता कुछ ठोस काम करेंगे, लेकिन ग्राम प्रचार मण्डलों का एकाध बार नाम तो सुनाई पड़ा, पर वह स्थायी न रह सका। अब नये शासन-विधान और कौंसिल-प्रवेश तथा पद-ग्रहण की चर्चा इतने जोरों से उठ खड़ी हुई है कि रचनात्मक कार्य-क्रम की आवाज पहले तो कोई उठाने का साहस ही नहीं करता और यदि कोई उठावे भी, तो इसमें पूर्ण संदेह है कि वह कौंसिल-प्रवेश के महानाद में विलुप्त होजायगी। पार्लमेंटरी भावना हमारे अन्दर इतनी घर कर चुकी है कि हम सभी संस्थाओं पर अधिकार करने के लिए उत्सुक हो रहे हैं। अभी प्रांतीय और जिला कांग्रेस कमेटियां स्थानीय संस्थाओं के चुनाव की ओर शोर से तैयारियां करने लगी हैं। और कोई कार्यक्रम आज कांग्रेस के सामने नहीं है।

हम यह नहीं कहना चाहते कि कौंसिल-प्रवेश या अन्य संस्थाओं पर अधिकार करना अनुचित है और कांग्रेस को इस ओर ध्यान नहीं देना चाहिए। हम स्वयं इन कालमों में कौंसिल-प्रवेश और चुनाव की तैयारी का समर्थन करते रहे हैं। कौंसिल प्रवेश आवश्यक है और इसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। परन्तु हमारा कहना यह है कि कौंसिल प्रवेश को हम उचित से अधिक महत्व न दे दें, उसकी जितनी आवश्यकता है, उससे अधिक आवश्यकता हम न कूतें। कौंसिल में प्रवेश कर सरकार से मोरचा लेना हमारे स्वातन्त्र्य-संग्राम का एक छोटा सा अंग है। यदि वह व्यापक होकर कांग्रेस के अन्य कार्य-क्रमों को हमारी दृष्टि से ओझल कर दे तो यह अत्यन्त हानिप्रद होगा, और आज हमें दुख से यह स्वीकार करना पड़ता है कि पार्लमेंटरी बोर्ड ने पहाड़ सा रूप धारण कर सब कार्य-क्रमों को हमारी दृष्टि से ओझल कर दिया है।

आज कांग्रेसियों का ध्यान न किसानों के संगठन की ओर है और न मजदूरों के। ग्रामप्रचार व संगठन के कार्य का श्रीगणेश तो हुआ, लेकिन कांग्रेसी अपना ध्यान इस आवश्यक दिशा में स्थिर न रख सके। कांग्रेस के जितने सदस्य हर एक प्रान्त को बनाने चाहिये थे, उधर भी ध्यान बहुत कम दिया गया। कांग्रेस का केवल संग्राम के समय ही राष्ट्र का नेतृत्व नहीं करना उसे तो सम्पूर्ण समय राष्ट्र को आदेश देने हैं और सार साल के लिये एक नीति स्थिर करनी है। कांग्रेस को यह न भूलना चाहिये कि उसे नये भारतीय राष्ट्र का निर्माण करना है और वह निर्माण युद्ध के दिनों में नहीं, सन्धिकाल में हो सकता है। ग्रामीणों की सेवा, उन में स्वाभिमान के भाव भरना, उन के दुख दर्द दूर करना, मजदूरों का संगठन और पूंजीपतियों के अत्याचारों से उनका त्राण ये सब ऐसे कार्य हैं, जिनकी ओर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त सर्व साधारण जनता को राष्ट्रीयता और राजनीतिक सिद्धान्तों की शिक्षा देना भी कांग्रेस का मुख्य कर्तव्य है। अभी हमारा संगठन ही बहुत ढीला है। बम्बई कांग्रेस ने जो नया संगठन बनाया था, उसके अनुसार कितनी प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों ने अपना ऐसा सुन्दर संगठन किया है, जिस पर वे गर्व कर सकें। कांग्रेस को कुछ ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि वह सर्वसाधारण जनता के जीवन से सम्बद्ध रहे, जनता प्रत्येक प्रश्न पर कांग्रेस के दृष्टिकोण और आदेश देखने की प्रतीक्षा करे।

यह सब आवश्यक कार्य हैं, जिन की ओर कांग्रेस के नेताओं को अपना ध्यान विशेष रूप से देना चाहिये। कांग्रेस के नेताओं से हम अपनी पूर्णशक्ति के साथ अनुरोध करना चाहते हैं कि वे पार्लमेंटरी कार्य को करें, परन्तु उसे इतना अधिक महत्व न दें, जिससे कांग्रेस का समस्त रचनात्मक कार्यक्रम उपेक्षित हो जाय। असम्बली-प्रवेश आखिर एक साधन ही है, साध्य का स्थान वह नहीं ले सकता। सत्याग्रह आज स्थगित हो गया है। इस लिये सभी प्रगतिशील कार्य स्थगित कर दिये जावें, यह तो नहीं सोचते होंगे, लेकिन आज स्थिति तो यही है। ग्रामीणों की ओर कांग्रेस ने बहुत कम ध्यान दिया है। उन की सेवा करना यद्यपि अत्यन्त कठिन है, तथापि अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कांग्रेस को भारतीय जनता के हृदय तक, झोंपड़ियों तक पहुंचने की आवश्यकता है, असम्बली और कौंसिलों के भव्य और शानदार भवन में भारत का हृदय नहीं है, वे तो सरकारी किले हैं, उन में उससे मोरचा लेने हुए यदि हम उन्हें ही भूल जावें, जिनके हम प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं, जिन के लिये हम लड़ रहे हैं, तो यह दूरदर्शिता न होगा। क्या कांग्रेसी कार्यकर्ता इन पंक्तियों पर ध्यान देंगे?

सम्पादकीय विचार

मुसलमानों में साम्प्रदायिकता

मुसलमानों और खास कर पंजाब के मुसलमानों में बढ़ती हुई साम्प्रदायिक मनोवृत्ति जो भीषण रूप धारण कर रही है, वह आज सचमुच अत्यंत विचारणीय गंभीर हो गया है, उसकी अधिक समय तक उपेक्षा नहीं की जा सकती। अभी शहीदगंज गुरुद्वारा आन्दोलन किसी तरह शान्त हो हुआ था कि पीर कबूतरशाह के मकबरे को लेकर एक दूसरा झगड़ा खड़ा कर दिया गया है। खलीफा लतीफ गाबा एम० एल० ए० जैसे प्रमुख व्यक्ति इसमें उनका साथ दे रहे हैं। अभी यह आन्दोलन चल ही रहा है कि तलवार रखने के नाम पर एक नया आन्दोलन जारी किया गया है। सिक्खों को जैसे कृपाण रखने की छूट है, वैसे ही मुसलमान भी तलवार रखना चाहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को आत्मरक्षार्थ शस्त्रास्त्र रखने का अधिकार होना चाहिये और इस

लिये मुसलमानों का इस मांग को अनुचित नहीं ठहरा सकते, लेकिन मुसलमानों के वर्तमान आन्दोलन की तह में जो मनोवृति काम कर रही है, वह साम्प्रदायिक और विद्वेषपूर्ण है, सिख रखते हैं तो मुसलमान क्यों न रखें, इस प्रवृत्ति को बढ़ाया जाय तो सम्पूर्ण राष्ट्र में एक विद्वेषाग्नि फैल जायगी। फिर मुसलमानों का यह आन्दोलन अव्यवहारिक भी है। सिखों के धर्मगुरु कृपाण रखने का आदेश दे गये। अब मुसलमान भी यदि एक नया पीर बना कर नया मत बदल लें और वह शस्त्र रखने का आदेश दे, तो शायद उन की समस्या सुलझ सकती है। वर्तमान परिस्थिति में तो इस्लाम के नाम पर शस्त्रग्रहण की छूट मिल नहीं सकती। क्या मुसलमान नेता साम्प्रदायिकता की अग्नि को बुझाने का प्रयत्न करेंगे?

——::——

निष्पक्ष निपटारे की मांग

सम्पूर्ण लोकमत को ठुकरा कर ब्रिटिश सरकार ने निश्चित कर लिया है कि बरमा को भारत से पृथक् किया जाय। पृथक् करण की स्थिति में भारत और बर्मा के पारस्परिक आर्थिक सम्बन्धों का निपटारा कैसे किया जाय, यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न था। इस प्रश्न के निर्णय में भारत और बरमा के हितों का अत्यन्त सम्बन्ध है, इसमें किसी का इन्कार न होगा। लेकिन हमारे यहां जो हो, थोड़ा है। इन आर्थिक प्रश्नों का निपटारा करने के लिये सरकार ने जो ट्रिब्यूनल बिठाया था उसमें न तो एक भारतीय रखा गया और न कोई बरमी अर्थात् जिन दो राष्ट्रों का आपसी प्रश्न था, उन दोनों को ही अलग करके निपटारा कर दिया गया। ट्रिब्यूनल में तीनों अंग्रेज ही रखे गये। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होना था कि उनकी रिपोर्ट अत्यंत असंतोषप्रद निकले। निकली भी असंतोषजनक। ब्रिटिश नागरिक भारतीय दृष्टि से विचार कर ही नहीं सकता। उसपर तो करों का भार बढ़ना या हलका होना नहीं। वह उस प्रश्न के साथ एकात्मता अनुभव ही नहीं कर सकता। अब फैडरेशन आफ इंडियन चैम्बर्स आफ कामर्स ने इस ट्रिब्यूनल में अविश्वास प्रकट कर एक निष्पक्ष ट्रिब्यूनल जिस में भारत और बरमा के लोकमत के सच्चे प्रतिनिधि हों, बिठाने की मांग की है। लेकिन क्या सरकार से इस मांग को स्वीकृत करने की आशा की जाय।

——::——

सार्वदेशिक सभा का फतवा

पंजाब के कुछ उर्दू पत्रों में पं० बुद्धदेव जी को लेकर एक खासा विवाद छिड़ गया है। ऋषि दयानन्द की मूर्ति की आर्यसमाज पूजा नहीं करता, यह बताने के लिये उन्होंने ऋषि के चित्र पर पांव रख दिया था। इसी बात का बतंगड़ बना कर कुछ व्यक्तियों ने उनकी सब सेवाओं को भुला कर उनके विरुद्ध विष उगलना शुरू कर दिया। यह स्पष्ट है कि जिस भद्दे तरीके से यह आन्दोलन चलाया गया है, वह अत्यन्त अनुचित, निन्दनीय और स्वार्थप्रेरित है। यदि यह आन्दोलन उन्हीं कुछ खास व्यक्तियों तक रहता, तो शायद हम इसकी चर्चा करना भी अनावश्यक समझते, परन्तु आर्यसमाज के दुर्भाग्य से उन्हीं लोगों ने सार्वदेशिक सभा में भी पं० बुद्धदेव जी के विरुद्ध प्रस्ताव पास करा दिया। सार्वदेशिक सभा आज इतनी शिथिल है कि उसका भारतीय समाजों पर कोई प्रभाव नहीं है, लेकिन फिर भी उसकी कानूनी स्थिति उच्च है। इस लिये उसकी चर्चा आवश्यक है। सार्वदेशिक सभा की बैठक में प्रायः वे ही सदस्य उपस्थित थे, जो इस आन्दोलन के प्रवर्तक हैं। अच्छा होता कि अन्य सदस्यों के अभाव में यह प्रश्न स्थगित कर दिया जाता। दूसरी मजेदार बात यह है कि पं० बुद्धदेव जी के विरुद्ध फतवा देने से पूर्व उन का वक्तव्य सुना नहीं गया। ११ ता० को सभा की बैठक थी और १२ ता० को पं० बुद्धदेव जी को सभा में उपस्थित होने का पत्र मिला। एक साधारण आदमी भी यह समझ सकता है कि प्रतिवादी की बात सुने। बिना निर्णय देना अनुचित है। सार्वदेशिक सभा ने वही कर के अपनी प्रतिष्ठा को हानि ही की है। सभा के अधिकारियों का कर्तव्य है कि वह अपने निर्णय पर पुनर्विचार करें और इस तरह जल्दबाजी कर के अपनी स्थिति को सामाजिक जगत में उपहासास्पद न बनावें।

——

स्वास्थ्य की कामना

श्रीमती कमला नेहरू के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में यूरोप से आने वाले समाचारों ने देश को एक बार चिन्तित कर दिया है। वे बहुत समय से अस्वस्थ थीं और भारत में स्वास्थ्य-लाभ होता न देख कर उन्हें यूरोप जाना पड़ा। उनके वीर पति और युवक भारत के सम्राट पंडित जवाहरलाल नेहरू जेलखाने में कैद हैं। वे उनकी चिकित्सा करा नहीं सकते। नेहरू परिवार ने राष्ट्र के लिए अपने को उत्सर्ग कर दिया है। वह राष्ट्र का है और इस लिए उस परिवार की आपत्ति भारतीय राष्ट्र की आपत्ति है। हम भी 'अर्जुन' के पाठकों के साथ मंगलमय भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे श्रीमती कमला नेहरू को स्वास्थ्य दें, ताकि राष्ट्र की आपत्ति दूर हो सके।

——

आत्म-रक्षा की सीमा

ईसाई जगत् के धर्म-गुरु पोप ने शान्ति-रक्षा के लिए वक्तव्य प्रकाशित करते हुए एक बहुत अच्छी बात कही है। आजकल जो भी राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण की तैयारी करता है, वह अपनी तैयारियों के समर्थन में एक ही युक्ति प्रायः दिया करता है कि आत्म-रक्षा के लिए ही उसे सब तैयारियां करनी पड़ रही हैं। भीषण से भीषण तैयारियों को आत्म-रक्षा के नाम से उचित ठहराया जाने लगा है। पोप ने इस बहाने का जवाब देते हुए ठीक ही कहा है कि "आखिर आत्म-रक्षा की कोई सीमा तो नियत करनी चाहिये।" आज तो आत्म रक्षा के नाम से सब कुछ ही किया जाने लगा है। इटली अबीसीनिया पर आक्रमण भी कर रहा है, तो अपने हितों की रक्षा के नाम पर। वस्तुत. जब तक 'आत्म-रक्षा' की सीमा नहीं नियत की जायगी, तब तक यह बहाना बराबर जारी रहेगा।

——

लोहारू की स्थिति

लोहारू की स्थिति अभी तक नहीं सुधरी। आज भी वहां से असन्तोषजनक समाचार आ रहे हैं। लोहारू के अधिकारी किसान आंदोलन को, जो विशुद्ध आर्थिक प्रश्न है, जाट आंदोलन कहकर और उसे सीकर के आंदोलन से सम्बद्ध बता कर छूट नहीं सकते। अधिकारियों का यह आरोप मिथ्या है, यह पहले अनेक जाट नेता कह चुके हैं और अब श्री जमनालाल बजाज ने अपने वक्तव्य में स्पष्ट शब्दों द्वारा इस आरोप का खण्डन कर दिया है। लोहारू का आंदोलन विशुद्ध आर्थिक आंदोलन है। किसानों पर करों का भार इतना अधिक है कि वे उसे बरदाश्त नहीं कर सकते। लोहारू की पंचायत में महाजन, ब्राह्मण और राजपूत व मुसलमान भी सम्मिलित हैं। पकड़े गये और आहत व्यक्तियों में गैरजाट भी हैं किसानों की शिकायतें दूर न करके उनपर अत्याचार व दमन जारी रखने की नीति कभी अन्त में सफल नहीं हुई, यह अधिकारियों को समझ लेना चाहिये। किसी निम्न आदर्श को लेकर चलाया गया आंदोलन दबाया जा सकता है, परन्तु उच्च आदर्श को लेकर जैसा कि लोहारू का आंदोलन है—चलाया गया आंदोलन दब नहीं सकता। क्या लोहारू के अधिकारी हठ और दुराग्रह की नीति को त्याग कर उदारता से काम लेंगे?

——

पांडिचरी का परमहंस

(ले०—श्रीयुत पं० देवशर्माजी आचार्य गुरुकुल कांगड़ी)

गत मई मास में आप पांडिचरी के परमहंस श्री अरविन्द घोष के यहाँ रह कर वापस आये थे। हमारे विशेष अनुरोध करने पर उन्होंने यह लेख लिखा है। आशा है, पाठक मनोयोग से पढ़ेंगे।

श्री अरविन्द घोष उन महापुरुषों में से हैं जो संसार में कभी कभी उत्पन्न होते हैं। उनकी महापुरुषता अभी संसार को मालूम नहीं है। मालूम होने को है, कम से कम मेरी ऐसी ही श्रद्धा है।

ऐसे महापुरुष के विषय में भी अपने भारतवर्ष में और विशेषतः उत्तरी भारत में लोगों को बहुत कम ज्ञान है। इसका कारण यह है कि वे इस इश्तिहारबाजी के युग में भी इश्तिहार (प्रोपेगण्डा) में जरा भी विश्वास नहीं रखते हैं। सत्य में—सत्य स्वरूप-परमेश्वर में— प्रतिष्ठित होने के कारण उन्हें संसार की और किसी भी वस्तु की परवाह नहीं है। इश्तिहार की तो उन्हें जरा भी परवाह नहीं है। यही कारण है कि हम लोग इनके विषय में कुछ भी नहीं जानते हैं, अधूरा जानते हैं, या भ्रम पूर्ण बातें जानते हैं।

गत वसन्त ऋतु में मुझे पांडिचरी के श्री अरविन्द आश्रम में जाकर दो मास तक रहने का सुअवसर परमेश्वर की कृपा से मिला। इस दो मास के परिचय के आधार पर ही इस लेख में मैं श्री अरविन्द के विषय में कुछ जानकारी पाठकों को देने का यत्न करूंगा।

श्री अरविन्द की सिद्धि

सरकार उनको एक घोर अनार्किस्ट करके जानती है। आम जनता उनको एक महान देश-भक्त करके पूजती है। इसी कारण उनको ७-८ बार कांग्रेस के प्रधान पद के लिये निश्चित किया जा चुका है। पर वे अब इस स्थिति से ऊपर हो चुके हैं। अब से पचीस वर्ष पूर्व वे वयाक अपने तीन पागलपन बताते हुए आये थे। पर शीघ्र ही उनके दो पागलपन— अर्थात् एक अपना सर्वस्व भारत माता व जगन्माता को सौंप देने का पागलपन और दूसरा भारत माता को बन्धन मुक्त करने का पागलपन—तीसरे पागलपन में अर्थात् भगवान् के साक्षात्कार के पागलपन में समा गये। पांडिचरी पहुँच कर वे पूरी तरह योग साधन में लीन हो गये। पाठकों को आश्चर्य होगा कि गत २० वर्षों से वे अपने मकान तक से बाहर नहीं निकले। वे योग के जिस ध्येय के लिए साधना कर रहे थे उस में उनको सन् १९२६ के २८ नवम्बर को सफलता प्राप्त हुई। तभी से श्री अरविन्द ने अन्यों को योग सिखाने का कार्य भी अपने ऊपर लिया। और तभी से श्री अरविन्द योग आश्रम का आरम्भ हुआ। इस से पहले कोई उनका बाकायदा आश्रम न था।

माताजी

श्री अरविन्द के योगाश्रम का वर्णन वहां की श्रीमाताजी के वर्णन के बिना नहीं हो सकता। वहां पर एक फ्रेंच महिला रहती है। जिनका नाम मीरा है। आश्रम में उन्हें सब माता, या, मदर (mother) नाम से ही जानते व पुकारते हैं। उनकी आध्यात्मिक स्थिति श्री अरविन्द की स्थिति के बराबर ही समझी जाती है। जब श्री अरविन्द केवल साधना में लगे हुए थे तब भी कई लोग उन के साथ साधना के लिए आकर रहते थे। उन्हीं दिनों ये माताजी लगभग १९१३ में पांडिचरी में आईं ये जापान में भी रहे हैं और भारत में भी आयीं भारत आकर पांडेचेरी में अचानक ही आयीं। ये भी प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक साधना में थीं। यहां श्री अरविन्द से मिलीं और आश्रम में रहने लगीं। सन १४ में योरोपीय युद्ध के कारण इन्हें फ्रांस लौट जाना पड़ा। युद्ध के बाद फिर ये यहां आईं 'आर्य' पत्र इन्हीं के साझे में श्री अरविन्द ने निकाला था। धीरे २ श्री अरविन्द को यह मालूम हुआ कि इन माताजी की आध्यात्मिक स्थिति विशेष उन्नत है। अब तो जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, दोनों की स्थिति एक समझी जाती है। बल्कि यहां तक समझा जाता है कि जो बात श्री अरविन्द को कही जाय या इनको कही जाय वह बात दोनों को मालूम होजाती है। जब से आश्रम प्रारम्भ हुआ है, आश्रम की सब बाहरी व्यवस्था ये माताजी ही करती हैं। श्री अरविन्द तब से न किसी से बात करते हैं, और न मिलते हैं, माताजी ही सब काम करती हैं। मानों ये माताजी प्रकृति हैं और श्री अरविन्द पुरुष हैं।

आम लोगों में फैला हुआ है कि ये माताजी पाल रिचार्ड की धर्मपत्नी हैं। पर यह भ्रम है। वे तो कोंवारी हिला है।

श्री अरविन्द के दर्शन

जैसा मैंने अभी कहा है कि श्री अरविन्द २८ नवम्बर १९२६ से सर्वथा एकांत सेवी होगये हैं, तब से उनसे न कोई मिल सकता है, न देख सकता है, बात तो करेगा ही क्या। माताजी ही एक मात्र अपवाद हैं। पर उन्हें भी बहुत ही कम मिलने की आवश्यकता होती है। तो भी आम लोगों के लाभ के लिये यह व्यवस्था की गई है कि वर्ष में तीन दिन उनके दर्शन किये जा सकते हैं। वे तीन दिन निम्नलिखित हैं—

२१ फरवरी (माताजी का जन्म दिन)

१५ अगस्त (श्री अरविन्द का जन्म दिन)

२८ नवम्बर (श्री अरविन्द की सिद्धि का दिन)

इन तीन दिन जो कोई उनके दर्शन करना चाहें उन्हें पहिले से दर्शन की आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए। बिना आज्ञा प्राप्त किए किसी को वहां नहीं जाना चाहिए। ऐसे ही जाना व्यर्थ हो सकता है। गत २१ फरवरी के दिन मैंने उनके दर्शन का लाभ प्राप्त किया। लगभग ३०० आदमी भिन्न २ जगह से दर्शनार्थ आये थे। इस बार के दर्शनार्थी महानुभावों में श्री काका कालेलकर का नाम उल्लेखनीय है। पाठकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि इस दर्शन के समय में भी उनसे बातचीत कोई नहीं की जा सकती है। दर्शन के लिए १, १। मिनट प्रत्येक दर्शनार्थी को मिलता है। प्रथा यह है कि दर्शनार्थी फूल व माला लेकर जाते है उन्हें और साथ में दायें बैठी माताजी को प्रणाम करते हैं। इस पर वे दोनों सिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद देते हैं। एक या दो क्षण उनकी तरफ देखते हुए या देर तक प्रणाम करते हुये दर्शनार्थी अपना १॥ मिनट बिता देते हैं। दर्शन में मैंने उनको मूर्ति या फोटो में देखी मूर्ति से अधिक भव्य पाया। पाठकों को मालूम होना चाहिये कि उनकी जो भी कोई फोटो मिलती है वह कम से कम २० वर्ष की पुरानी है। इसके बाद इन्होंने अपनी कोई फोटो नहीं खिचवाई।

उनका आश्रम

लोग समझते होंगे कि उनका आश्रम किसी एक बड़े मकान में शहर के बाहर होगा। परन्तु ऐसा नहीं है। आश्रम बनाया नहीं गया है। यह बन गया है। स्वभावतः विकसित हुआ है। अतः जिस मकान में श्री अरविन्द रहते थे उस में तथा उससे कुछ दूरी पर ४० मकानों में आश्रमवासी रहते हैं। आश्रमवासियों को जोड़ने वाले श्री अरविन्द तथा माताजी हैं। कोई घिरा हुआ स्थान या किसी अन्य बाहिरी स्थिति की उन्हें जोड़ने के लिए आवश्यकता नहीं है। हां, सब साधक भोजन, प्रणाम व ध्यान के सार्वजनिक कार्य एक जगह इकट्ठे मिल कर करते हैं।

आज कल करीब १५० साधक साधिकाएं वहां रहती हैं। इन में ९०-१०० साधक और ५०-६० साधिकायें हैं। कुछ यूरोपियन भी रहते हैं। तीन चार परिवार मुसलमान भाइयों के भी हैं। प्रान्तों के दृष्टि से गुजराती सबसे अधिक हैं। दूसरे पर बंगाली और फिर मद्रासी हैं। संयुक्त प्रान्त व महाराष्ट्र का वहां कोई नहीं है। पंजाबी हाल में ही दो आदमी वहां पहुंचे हैं।

भोजन व्यवस्था

बहुतों को शायद ऐसा मालूम होगा कि वहां भोजन सम्बन्धी कोई नियम संयम नहीं है। वहां जाने से पूर्व मैंने भी सुन रक्खा था कि वहां मांस, शराब का भी परहेज नहीं है। परन्तु वहां ऐसा नहीं देखा। (यद्यपि सिद्धान्ततः उच्च आध्यात्मिकता के लिये ऐसे कोई बन्धन वे अनिवार्य नहीं समझते)। आश्रम वासियों का भोजन निम्न प्रकार है—

प्रातराश—पावभर गौ का दूध, ब्राउन ब्रेड (बिना छने आटे की डबल रोटी) के चार टुकड़े और एक केला।

दोपहर—चावल, रोटी, दाल या शाक, पावभर दही, तीन केले।

सायं—पावभर दूध और रोटी, शाक या दाल श्री अरविन्द व माता जी भी फलों का रस, दूध व शाक, रोटी आदि ही बहुत थोड़ी मात्रा में सेवन करते हैं।

अन्य व्यवस्था

आश्रम वासी ही भोजन बनाते हैं। आश्रम की अपनी बिजली की चक्की तथा बेकरी है। इसके अतिरिक्त इंजीनियरिंग, बढ़ई, चित्रण, गोशाला

(शेष पृष्ठ २७ पर)

उनकी स्मृति में

—:※:—

(१)

तुम्हीं तो थे मेरे 'जगती',
तुम्हीं तो थे मेरे आधार।
हृदय के किस कोन में अब,
बसाऊंगा अपना 'संसार'।

(२)

बताओ! किस के चरणों पर,
करूं जीवन अपना बलिदान?
भरायेगा अब किसको कौन,
सुनाकर अपना मधुमय गान?

(३)

गिरायेगा अब बिजली कौन,
किसी दुखिया पर हंस-हंस कर?
वहां रहने आयेगा कौन,
बनाया जो आंखों में घर?

(४)

अभागा 'अन्तर' करे प्रयत्न,
समझने किस की भाषा मौन?
अरे! पागल-पागल कह कर,
बुलायेगा मुझ को अब कौन?

(५)

कहो! अब किस के बल पर मैं,
करूं इस जीवन पर अभिमान?
मिटाने आयेगा अब कौन,
हजारों औ, लाखों अरमान?

(६)

हाय! मेरी स्मृति पर कौन,
बहायेगा आंसू दो-चार?
पूंछने आयेगा अब कौन,
"मुझे करते हो क्या तुम प्यार"?

—जगन्नाथप्रसाद श्रीवास्तव 'त्यागी'

"साध"

—:※:—

उन्नति के पथ पर सब विचरें मिल कर सेवा मार्ग गहें।
हृदय बीच देशानुराग हो सत्य-सिन्धु के स्रोत बहें॥
हों चाहे विपदा सहस्र पर एक बार भी उफ़ न कहें।
दृढ़ प्रतिज्ञ हों प्राण दान भी देने को तैयार रहें॥
रहें प्रेम में पगे जाति की जीवन ज्योति जगा दें हम।
मिटा जाति का अंग, जगत में कीर्ति ध्वजा फहरा दें हम॥

"उमेश" चतुर्वेदी

किरण के प्रति

—:※※:—

द्विजों की सुनकर करुण पुकार
देख कलिका को हृदयोद्गार
पोछने ओस-अश्रु के धार
पार कर सरिता सिन्धु-अपार।
भ्रमण कर गिरि वन कांटेदार
भारती सा करके शृङ्गार
स्वर्ण केशों का किये प्रसार
बजाती श्रुति वीणा के तार
छोड़ती जागृति की झंकार
मुदित करती सारा संसार
खोलकर अनुपम स्वर्ग-द्वार
लुटाती रंगों का भण्डार
बनाती जग को स्वर्णागार
चलाती दुनिया का व्यापार
हटाती भूतल से तम-भार
सुनाती श्रुति यह बारम्बार
तिमिर-निस्सार, तिमिर-निस्सार
लिये नवजीवन का उपहार
क्षितिज के परदे के इस पार
झांकती आती हो सुकुमार
धन्य है तुमको किरण उदार
नमस्ते तुम को बारम्बार

—जगन्नाथप्रसाद [illegible]

—::※::◎::※::—

कैसा दीन किसान?

—:※※:—

ख़बरदार यदि दीन कहा अब;
महा अनादरमय है कलरव
नष्ट किया भारत का गौरव-
कर झूठा अभिमान!

× × ×

विश्व-प्रकृति का तत्व निरन्तर
हुआ भेद मूलक अभ्यन्तर
मानव, मानव, में यह अन्तर
आह, घोर अपमान!

× × ×

वह माली है जग उपवन का
है आधार पुंज-जीवन का
गर्भित है इस में त्रिभुवन का
रूप विराट महान!

× × ×

शक्ति जाग तू कहां सो रही?
भारत की दुर्दशा हो रही!
सन्तति कायर बनी रो रही,
हीर हुआ पाषाण!

—कल्याणकुमार 'शशि'

सर सेमुअल होर

आप अत्यन्त गम्भीरता से इटली अबीसीनिया युद्ध की ओर ब्रिटिश नीति पर विचार कर रहे हैं।

महामना मालवीय जी

आप एक दफा फिर बनारस में अस्वस्थ हो गये हैं परन्तु शीघ्र ही स्वास्थ्य-लाभ कर रहे हैं।

सर मालकम केम्पबल

आप ३०० मील फी घन्टे के हिसाब से दौड़ने का रिकार्ड स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

श्री जमनालाल बजाज

आप हिन्दी प्रचार के निमित गांधी-थैली के लिए भ्रमण कर रहे हैं।

श्रीमती कस्तूरीबाई गांधी

आप ने देहली में १५ अगस्त को झंडा अभिवादन का समारोह किया।

श्री कृष्णदत्त पालीवाल

अफवाह है कि आप का० पा० बोर्ड और असेम्बली से त्याग पत्र देने वाले हैं।

डा० मुंजे

आपने एक भाषण में कांग्रेस से भिन्न प्रगतीशील राजनीतिक दलों के संगठन पर जोर दिया है।

मेजर एमिल फे

आस्ट्रिया के गृह सदस्य मेजर फे मोटर दुर्घटना में घायल हो गये।

गणेश जी के स्वरूप के सम्बन्ध में —

(लेखक :— श्री कालीप्रसाद "विरही")

विश्व की दौड़ में किसी देश अथवा राष्ट्र का कौनसा स्थान है, यह जान लेनेके हमार पास केवल दो साधन हैं। पहला उस देश का इतिहास, और दूसरा, उस देश के त्यौहार। इतिहास हमें राष्ट्र और देश में हो चुकने वाली मुख्य २ घटनाओं की सूची बतलाता है, किन्तु, हमें किसी देश के राष्ट्रीय और जातीय त्यौहार उस देश की भीतरी दशा का पूरा पूरा परिचय देते हैं। इसलिये मैं यह कहूंगा कि यदि हमें किसी देश अथवा राष्ट्र की भीतरी दशा का ज्ञान प्राप्त करना है। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि अमुक देश अथवा राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति क्या थी तो हमें उस देश के त्यौहारों का ध्यानपूर्वक अध्ययन और मनन करना चाहिये। यह वह सत्य है, वह कसौटी है। जिस पर कसे जाने पर किसी राष्ट्र की संस्कृति के खरे खोटे होने की परख होती है।

किन्तु इसी सिद्धान्त को लेकर जब हम अपने देश की सभ्यता जानने के लिये अपने त्यौहारों को ले बैठते हैं तो हम गहन अन्धकार में भटक जाते हैं, हम हमारे त्यौहार एक पहेली और उलझन बन जाते हैं और हम उस से ऊब कर-अथवा मिर पच्ची से जो चुरा कर उन्हें 'बुढ़िया पुराण' के गपोड़ कह कर हंस देते हैं अथवा उपेक्षा से मुंह फेर लेते हैं। और अन्य मतावलम्बियों को हमारे पूर्वजों की समझ पर शंका करने का अवसर देते हैं, यह हमारा दुर्भाग्य नहीं तो क्या है।

हमारे समस्त धार्मिक कृत्यों में सर्वप्रथम पूज्य हमारे देव गणेश हैं। किन्तु बचारे दुर्भाग्यवश सब से पेश्तर वे ही हमारी शंकाओं तथा अन्य धर्मावलम्बियों के 'मज़ाक' के केन्द्र बन हुए हैं। हमारी बुद्धि स्वयम् गणेश जी का ध्यान करते समय हंस देती है। इतना ही नहीं, इन पंक्तियों के लेखक का पचवर्षीय भतीजा शान्तिकुमार गणेश की मूर्ति के समक्ष जाने में भी कांपता है। उस भोले को क्या खबर कि हमारे देवताओं की लम्बी सूची में इस से भी विचित्र रूप रखने के 'जीव' हैं। और यदि मैं यह कह दूं कि आज अधिकांश हिन्दू धार्मिक जनता मेरे पचवर्षीय भतीजे से अधिक कुछ नहीं समझती तो मेरा कोई अपराध नहीं।

हमारा प्राचीन साहित्य-विशेषतया पौराणिक साहित्य-अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा अलंकार प्रधान साहित्य है। किन्तु, आज कल के छायावाद के नामपर की जाने वाली अमूर्तरचनाओं की तरह नहीं-जिस का कोई चित्र नहीं, जिसका कोई अर्थ नहीं, हमारे पौराणिक साहित्य का प्रत्येक शब्द सार्थक है महत्वपूर्ण है, और सुन्दर है, हमारी पौराणिक कथाओं में 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम' का बड़ा सुन्दर सम्मिश्रण है। यह मैं अपनी श्रद्धा अथवा भक्ति के आवेग में नहीं, किन्तु वास्तविकता के आधार पर कह रहा हूं कि हमारे पौराणिक साहित्य में हमारे लिये सन्देश है-जीवन है और हमारे 'गणेश' मेरे इस कथन के पुष्ट प्रमाण हैं,

पौराणिक साहित्य में गणेश जी को शिव का पुत्र कहा गया है। 'गणेश' शब्द का अर्थ है नेता। और 'शिव' का अर्थ है, कल्याण कर। जिस का स्वभाव है त्याग' अर्थात् जिस में कल्याण और त्याग की भावनाएं निहित है उसी में नेतृत्व शक्ति का जन्म है और इस में भी स्पष्ट शब्दों मे यह कहना चाहिये कि कल्याण और त्याग की भावनाओं में ही नेतृत्व को जन्म देने की शक्ति है। और इसी स्वर्ण-सिद्धांत को अलंकारिक भाषा में गणेश जी शिव के पुत्र हैं कह कर व्यक्त किया गया है, और महात्मा गांधी हमारे इस सिद्धान्त की, कसौटी पर कसने पर आज ठीक उतरते हैं, वे पहिले कल्याण कर हैं, त्यागी हैं, फिर हैं गणेश,नेता' हैं हमारे कथन के जीवित उदाहरण! हां तो, अब तनिक गणेश जी के स्वरूप का भी अध्ययन कीजिये, और देखिये कि—हमारे प्राचीन साहित्य-कारों ने अपने सुन्दर भावों को किस, प्रकार मूर्त रूप दिया है, गणेश जी का स्वरूप और स्वभाव जो साहित्य-कारों ने वर्णन किया है वह संक्षेप में इस प्रकार है—

"गणेश जी का मस्तक हाथी का है। इसके साथ—आंख, नाक, कान और दांत भी सब हाथी के ही हैं, किंतु हाथी के दांतों की तरह उनके दो दांत नहीं, वे एक रदन हैं, वे लम्बोदर हैं, उनके चार भुजायें हैं, उनका वाहन चूहा है,। और वे खाते क्या हैं, केवल गुड़ के मोदक! यह है उनका चित्र शरीर का ही नहीं स्वभाव का भी! किंतु गणेश के इस चित्र में हमारे लिये जो सन्देश छिपा है, जो पाठ छिपा है, वह अमूल्य है और वही शिक्षा है जिसकी आज हममें बड़ी कमी है। गणेश जी का ऊपर कहा हुआ चित्र हमें जो पाठ पढ़ाता है वह है निर्वाचन नियम का। वह प्रत्येक वर्ष आकर पुकार २ कर कह जाता है कि अब तुम 'स्वराज्य' में अपनी व्यवस्थापिका सभा के लिये व्यवस्थापक चुनो तो देखलो जिसे तुम अपना प्रधान नेता, राष्ट्रपति बनाने जा रहे हो, उसका स्वरूप और स्वभाव गणेश जी के समान है

(श्री कालीप्रसाद 'विरही'

या नहीं, और स्पष्ट शब्दों में मुझे यह कहना चाहिये कि, जिसे तुम अपना नेता बनाने जा रहे हो उसका मस्तक हाथी के मस्तक के समान है या नहीं, अर्थात वह बुद्धिमान् है या नहीं? उसकी आंखें हाथी की आंखों के समान छोटी हैं या नहीं, अर्थात वह सूक्ष्मदर्शी है या नहीं? उसकी नाक, हाथी के नाक के समान लम्बी है या नहीं? अर्थात् वह 'लम्बी नाक वाला' सम्मानयुक्त है या नहीं? उसके कान हाथी के कानों के समान बड़े हैं अथवा नहीं? यानी उसके कानों में राष्ट्र की पुकार सुन सकने की शक्ति भी है या नहीं? उसके हाथी के दांतों के समान 'खाने और दिखाने के' दांत न होकर एक ही दांत है न? अर्थात् उसके कर्म और वाणी एक ही है न? और जिसे तुम अपना नेता चुनो उसका पेट गणेश के पेट के समान बड़ा अर्थात् गंभीर है न? उसमें समस्त बातें समा जाने की गुंजाइश तो है? यानी वह ओछा पात्र तो नहीं है? और तुम्हारा नेता कार्य की अधिकता आ पड़ने पर 'मेरे चार भुजायें तो नहीं' कह कर काम से जी चुराने वाला तो नहीं, उसमें सचमुच ४ भुजाओं के समान कार्य करने की शक्ति है न? और वह चूहे के समान अपने चंचल-मन पर काबू भी किये हुए हैं अथवा नहीं? और स्पष्ट शब्दों में वह संयमी भी है या नहीं? और जिसे तुम अपना राष्ट्रपति चुन रहे हो, वह मेवा मिष्ठान्न और बहुमूल्य खाद्य पदार्थ का लोभी तो नहीं? वह अपना उदर सस्ती से सस्ती खाद्य सामग्री से भर लेने का आदी है या नहीं? यदि उसमें गणेश जी के स्वरूप और स्वभाव के समान गुण न हो तो तुम उसे भूलकर भी अपना नेता न बनाओ। जिसमें उपरोक्त गुण नहीं वह कभी भी तुम्हें तुम्हारे राष्ट्र को, तुम्हारे देश को विपत्तियों और विरोधी शक्तियों से नहीं बचा सकता। यह है हमारे गणेश जी का सच्चा चित्र और उसका सद्-उद्देश्य! जिसका आज हम महत्व न समझ कर अंधी श्रद्धा से सुपारी पर कलावा लपेट कर भक्ति से माथा टेक कर अपनी बुद्धि-हीनता का परिचय देते हैं मैं यह नहीं कहता कि श्रद्धा बुरी वस्तु है यदि 'माइल स्टोन' तुम्हें अंधी श्रद्धा से तुम्हारे मनोवांछित कार्य पूर्ण कर सके और तुम्हें पुत्र-पौत्र, धन धान्य दे सके तो लीजिये किंतु साथ ही 'माइल स्टोन' से 'माइल स्टोन' का काम लेना भी न भूलिये। आप गणेश जी को मस्तक झुकाइये, उन पर सिंदूर चढ़ाइये, उनके आगे माथा टेकिये किंतु उनके जन्म का आशय भी न भूलिये, तभी आप सुपुत्र हैं, अपने पूर्वजों के तभी आप सच्चे भारतीय हैं जब आप अपने साहित्य का उपयोग करेंगे, अन्यथा क्षमा कीजिये, वह दिन दूर नहीं जब आपके गणेश जी आपके पूर्वजों की हंसी उड़ाने के लिये लन्दन की प्रदर्शिनी में भेज दिये जावेंगे। कृपया अपने साहित्य को समझिये और उससे लाभ उठाइये। उसे 'गपोड़ा' कह कर उसकी खिल्ली न उड़ाइये।

महिला-जगत्

आधुनिक स्त्री समाज और संगीत

(ले०—श्री डा० पी० डी० गौड़ "व्याकुल" कुतारी स्टेट)

संगीत का प्राचीन काल क्या थो—यह तो हम कह नहीं सकते क्योंकि किसी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पुस्तक में इसका विषय विवेचन नहीं मिलता। किन्तु आधुनिक काल तो अवश्य ही संगीत उन्नति का कहा जा सकता है। विशेषत जब से सवाक् (टाकी) चित्रपटों का प्रादुर्भाव हुआ है तब से तो संगीत-संसार में हल-चल सी मच गई है। इस लेख में हम को देखना है कि इस उन्नति काल में स्त्रियों का क्या स्थान है। स्त्रियों से अभिप्राय चित्रपट अभिनेत्रियों या वैश्याओं से न लिया जाय। वरन उन स्त्रियों से जो सभ्य हैं और गृहस्थी हैं। इस समय हम देखते हैं, स्त्रियों के लिए कोई मार्ग अवरुद्ध नहीं है। समानाधिकार प्राप्त कर वे बी० ए० एम० ए० करके लेडी प्रोफेसर और लेडी डाक्टर बन रही हैं। सभा सोसाइटियों, कचहरियों, म्यूनिसिपलटियों, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों तथा कौंसिलों और असेम्बली तक में उनके स्थान सुरक्षित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान युग में उनके लिये कोई कंटकित मार्ग नहीं है। आजकल स्त्रियां लेखिका भी हैं और चित्रकार भी हैं, तथा बैरिस्टर भी हैं और सम्पादिका भी हैं।

किन्तु हम इस संख्या में सभ्य गायिका तथा नृत्य कला के जानने वाली स्त्रियों को नहीं देखते। इसका कारण क्या है? विचार करने पर इसके मुख्यतया निम्न लिखित कारण जान पड़ते हैं।

१—स्कूल, कालिजों की स्त्रियों के लिए वर्तमान दूषित शिक्षा प्रणाली का पाठ्य विषय।

२—पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति का भारतीय स्त्रियों पर प्रभाव। इन सब पर विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि आधुनिक भारतीय स्त्री समाज में संगीत का क्या स्थान है?

१ वर्तमान शिक्षा प्रणाली ने जहां पर अन्य अनेक समस्यायें उपस्थित कर दी हैं वहां पर संगीत-विद्या को भी भारी धक्का पहुंचा है। यह तो मानी हुई बात है कि प्रायः प्रत्येक स्त्री को गृहस्थ जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इसलिए जो बातें उन्हें इस जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं उनका उन्हें अपने विद्यार्थी जीवन में ही अभ्यास कर लेना चाहिए। भोजन बनाना सिलाई करना, शिशुपालन, शिक्षा का अध्ययन करना तथा संगीत सीखना यह सब प्रत्येक योग्य कन्या के लिए जो पाठशाला में जाती हो सीख लेना आवश्यक होना चाहिए। क्योंकि इन में से एक की भी कमी रहने से उसे आगामी गृहस्थ-जीवन में दुख उठाना पड़ता है। शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी के भविष्य-जीवन को सुखमय बनाने के साधनों का ज्ञान कराना होना चाहिए। भारतीय स्त्रियों का गृहस्थ जीवन धार्मिक होता है जिसमें स्त्री अपने पति को ईश्वर समझ कर उसकी उपासना (इच्छा सन्तुष्टि) में अपना सर्वस्व निछावर कर देती है। अच्छे २ भोजन बना कर अपने देवता (पति देव) को खिलाना अच्छी सिलाई करना तथा मनोहर गायन और आकर्षक नृत्य आदि से अपने पति देव को प्रसन्न करने ही में वह अपना धर्म, कर्तव्य तथा सौभाग्य समझती है। परन्तु हमें यह जान कर खेद होता है कि हमारी माता बहनों को दी जाने वाली वर्तमान शिक्षा प्रणाली के पाठ विषयों में इनका नाम तक नहीं है।

आज कल भारतीय जनता सिनेमा देखने की बहुत प्रेमी हो गई है। विशेषत शिक्षित नवयुवकों को तो सिनेमा देखना प्रतिदिन का सा हो गया है। किसी भी आये हुए अतिथि का सत्कार सिनेमा दिखा कर ही किया जाता है। जो आनन्द उन्हें अपने घरों में नहीं मिलता उसकी तलाश में वहीं जाते हैं जहां उन की यह इच्छा पूरी होती है। नौकरी पेशा लोग अपनी आय का एक बहुत बड़ा भाग सिनेमा घरों में जा कर दो तीन घंटे बैठ कर आनन्द लेने में खर्च कर देते हैं। नवयुवतियों के मधुर गाने, आकर्षक नृत्य सुरीले स्वरों की तान तथा नवविकसित सौन्दर्य को देखकर वह इन सिनेमा घरों में दिल बहलाते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहिए कि उनके दिल का बहलाव अपनी स्त्री से नहीं होता। नतीजा यह होता है कि वह अपनी स्त्रियों को भूल जाते हैं और कोई सुलोचना का भक्त बन जाता है। कोई माधुरी पर आशिक हो जाता है। इस प्रकार गृहस्थ की गृहलक्ष्मी (स्त्री) में एक संगीत की कमी होने के कारण यह एक स्वर्ग रूप बनने की जगह कलहग्रह बन जाती है। यदि इतना ही रुपया जितना कि हमारे भाई सिनेमा आदि देखने में खर्च करते हैं कहीं अपनी स्त्री को संगीत सिखाने में लगाते तो वह अपना दिल बहलाव अपने घर ही कर सकते हैं।

मेरे एक मित्र हैं जो स्वयं बी० ए० एल एल० बी० वकील हैं तथा उनकी धर्मपत्नी बी० ए० बी० टी० हैं। दोनों में काफी प्रेम है परन्तु वकील साहब संगीत के बहुत प्रेमी होने के कारण सदैव अपनी स्त्री से गाना सुनने की इच्छा रखते हैं। परन्तु देवी जी ने अपने विद्यार्थी जीवन में इस विषय का अध्ययन नहीं किया था इसी कारण वह केवल इस अंश में अपने पति देव की इस इच्छा की सन्तुष्टि करने में बहुत दिन तक असमर्थ रहीं। उन्होंने बहुत यत्न किया कि कोई सभ्य संगीत विद्या में निपुण स्त्री मिल जाय। परन्तु कोई भी न मिल सकी। इसी कारण वह स्त्री समाज में आज तक भी इस कमी का अनुभव करती हैं।

२—योरोपीय सभ्यता तथा संस्कृति का भी प्रभाव भारतीय संगीत पर पड़ा है। हमारे पूर्वजों तथा संसार के विद्वानों ने भी संगीत को स्त्री का भूषण माना है।

प्राचीन रूढ़ियों के बचे खुचे गानों से यह सिद्ध होता है कि किसी काल में संगीत स्त्री समाज के लिये कितना आवश्यक तथा महत्वपूर्ण विषय था। विवाह संस्कार जन्म संस्कार, तथा सभी अन्य प्रसन्नता दिखाने वाले उत्सवों मे संगीत का प्रचार कितना था यह अब भी हम वर्तमान काल के टूटे फूटे बेमेल उल्टे सीधे अपने घरों में पुरानी स्त्रियों के गानों के सुनने से जान सकते हैं। परन्तु पाश्चात्य सभ्यता के कारण हमारी आज कल की शिक्षित बहनें संगीत (नाच तथा गाना) के नाम से कोसों दूर भागती हैं। चाहिये तो यह था कि अन्य उन्नतियों के साथ संगीत की भी उन्नति होती। परन्तु दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ। इसका मेरी समझ मे एक मात्र कारण यह है कि पुरुषों के साथ स्त्रियों ने भी पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण किया। परन्तु अनुकरण करते समय यह एक बार भी न सोचा कि हमारी संस्कृति उनकी संस्कृति से बिलकुल भिन्न है। यहां पर बहुत सी वह आजादियां भारतीय स्त्री समाज को शायद सदियों में मिलेंगी। (शायद ही मिलें) जिनका उपभोग पाश्चात्य स्त्री समाज सदियों से करता आ रहा है। परन्तु भारतीय स्त्री समाज अन्धा होकर पाश्चात्य सभ्यता के पीछे दौड़ रहा है। वह मार्ग में अपनी संस्कृति की धज्जियां उड़ाता जा रहा है। और उन फटे हुये चिथड़ों पर प्रसन्न होकर सुखी होने का दावा भरता है। परन्तु वह शीघ्र ही किसी गढ़े में जाकर गिरेगा जहां से निकलना उसका बड़ा ही कठिन कार्य हो जायगा।

सारांश यह है कि भारतीय स्त्री समाज ने भारतीय संगीत को एक अज्ञान या फैशन के खिलाफ वस्तु समझ कर ठुकरा दिया है। (यहां तक कि अब तो चित्रपटों में भी भारतीय नृत्य की जगह अंग्रेजी नाच का अधिक प्रचार होता जा रहा है।) इधर तो आधुनिक शिक्षित स्त्रियां ने हमारे घरों के पुराने नाच व गानों को शान के खिलाफ समझा उधर दूसरी ओर अनेक सामाजिक नियमों के कारण वे अंग्रेजी नृत्यगृहों में भी न जा सकने के कारण विलायती नाच गाना भी न सीख सकीं। फल यह हुआ न खुदा ही मिला न विसाले सनम, न इधर के रहे न उधर के रहे। उनकी नकल में अपनी असलीयत भी खो बैठे।

आजकल स्त्रियों को संगीत सीखने की केवल स्वतन्त्रता ही नहीं है वरन उसकी उन्नति के अनेक ऐसे यन्त्र आविष्कृत हो चुके हैं जिनको देखकर मनुष्य चकित रह जाता है। परन्तु खेद है कि इतने साधन मिलने पर भी हमारा स्त्री समाज अपने इस भूषण को अपना कर भारतीय बूढ़े संगीत की लाज नहीं रखना चाहता। यह मैं स्वीकार करता हूं कि हमारे घरों में प्रचलित नाच व गानों में कमियां बुराइयां हैं। परन्तु एक बुराई को केवल बुराई कह कर ही न छोड़ देना चाहिये वरन उसका उपाय सोचना चाहिये। वास्तव में यदि समाज सुधारकों तथा संगीत कला प्रेमियों ने इस ओर ध्यान न दिया तो उन्हें संगीत की इच्छा होने पर पाश्चात्य संगीत की ही शरण लेकर इच्छा तृप्ति करना पड़ेगी। केवल यही तक नहीं वरन समाज के शुभ अवसरों पर भी भारतीय स्त्री समाज में योग्य सभ्य गायिका न मिलने पर विलायती मेमों के ही

पुरुषों से दो-दो बातें

(ले०—श्रीमती गायत्रीदेवी लखनपाल, मोतीहारी)

मेरे लेख का एक २ शब्द मेरी और जाति की करुणाजनक अवस्था में वह आंसू हैं जिन में दुर्बलता, दरिद्रता और हीन अवस्था का रोमाञ्चकारी हाथ है। परन्तु अब इन का असर कहां! देश आज उन वीरों से खाली है जो स्त्री जाति के अपमान के बदले अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते थे। आह! वह योद्धा और बलवान अब नहीं हैं जो अबलाओं और दीन दुखियों के कारण पानी की तरह अपना रक्त बहा दिया करते थे। मैं क्या, मेरी निर्बल लेखनी भी ऐसे समय में जब कोई साहस देने वाला नहीं, कुछ कहते हुये मुख फेरती है। उस ने मेरे इसरार पर कागज को चूमते हुये आहिस्ता से कहा। हे मेरे जीवन के साथी यह दुख भरी कहानी मेरे विदीर्ण हृदय की दबी हुई आवाज है जो मैं अपने रक्त से जिस सब्र और फिक्र ने बिलकुल स्याह कर दिया है, तुझे इस लिये बताती हूं कि तेरा मन उजला और पवित्र होने के कारण इसे उन हृदयों पर जाहिर कर दे जिन्हें मेरी इस हीन अवस्था के लिये कुछ दर्द है।

हां! तो अब मैं निर्बल स्त्री जाति की एक निर्बल अबला हूं जिस अपना प्राचीन इतिहास एक स्वप्न की न्याईं यू स्मरण है कि मेरे देश की सभ्यता मुझे देवी के नाम से पूजती थी, मेरे धर्म की रक्षा में वह अपना मान और गौरव समझता थी और भलीभांति जानती थी कि उस की स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा का मूल कारण केवल मेरी ही सुख और शान्ति पर निर्भर है। परन्तु आज मेरी क्या अवस्था है। यह निम्न लिखित लेख में वर्णन करूंगी। चाहती हूं कि चण्डी का रूप धारण करके प्रचलित समाज को नष्ट भ्रष्ट कर दूं दुर्गा की तरह खड्ग ले कर अपने अपमान करने वालों का रक्त चाट जाऊं। मगर स्त्री जाति का दयावान हृदय इस कोप से रोकता है, माता की छाती अपनी सन्तान के खिलाफ कुछ कहने और करने को मना करती है। इस में मेरी कोख से जने हुओं का अपमान और निरादर है, लक्ष्मण से यति के नाम पर कलंक है जिस ने बनवास के १३ वर्ष अकेले अपनी भावज सीता के साथ रहते हुये भी उस के चरण कमलों से ऊपर देखना पाप और महापाप समझा था। यह अब क्या करें? जुल्म की हद हो चुकी, सब्र व सन्तोष का प्याला भर गया। जिन का आसारा था वह अब नहीं रहे, केवल उन की हलकी सी याद (मानस चित्र पट पर अंकित) बाकी है लेकिन इस घोर अत्याचार के जमाने में उस से बचाव नहीं हो सकता। जीवन बोझल मालूम पड़ता है और मन एक निश्चित निर्णय पर तुला है कि या तो प्राचीन राजपूत प्रणाली "जौहर" को स्मरण करके जलती चिताओं में कूद जावें या मनुष्य समाज के इस अत्याचार का अवलोकन से सिंहनियां बन कर मुकाबला करें जो भारतीय नारियों के अपमान का मूल कारण है। कहां है देश के नेता जिन की जबान इन के लिये बन्द है। जिन के नेत्रों में यह देखने पर भी लज्जा के मारे आंसू नहीं आते कि किस प्रकार उन देश का सतवन्ती नारियों को अपमानित किया जा रहा है।—

मुझे भली प्रकार स्मरण है कि करीब १॥ वर्ष हुये जब पंजाब प्रांतीय बटाला नामक नगर निवासिनी १ वीर रमणी ने मनुष्य समाज की इस क्रूरता के विरुद्ध आवाज उठाई थी कि उसे स्त्रियों के चित्र प्रकाशित करने का क्या अधिकार है। क्या बाजार में आने वाली सब वस्तुयें केवल नारियों के चित्र देने से ही बिक सकती हैं? क्या तिथि मास बताने वाले कैलेण्डर इन तसवीरों के बिना गलत हो जायेंगे? गन्दापन नहीं? बल्कि इन रंग बिरंगे चित्रों से देश और जाति की सभ्यता नष्ट होती है और आचार विचारों पर बहुत बुरा असर पड़ता है। यह उन नंगी और लज्जा रहित तसवीरों का असर है कि आज देश की तमाम पत्र पत्रिकाओं के पत्रे स्त्री अपहरण और बलात्कार के समाचारों से भर पड़े हैं। भले से भले घर की नारियां भी और तो और पवित्र व्यवहारों पर भी इस अंधेर गर्दी से अपने मान की रक्षा नहीं कर सकतीं। सिनेमा वालों ने तो रही सही कसर को भी पूरा कर दिया। रोशनी के रूप में अंधेरे को ओर ले जाने वाले मजहब डाकू अपनी पापभरी मनोकामना को पूर्ण करने के लिये जो जो उपद्रव कर रहे हैं उन के खिलाफ (विरुद्ध) भारी आन्दोलन करना होगा। नहीं तो क्या होगा, इस के वर्णन करने से मेरा दिल कांपता है। मेरी इस आशा है मैं अपने देश की सुशिक्षित बहिनों से प्रार्थना है कि वह जहां परदा विरोधी और स्त्री सुधार आंदोलन का प्रयत्न कर रही हैं वहां मनुष्य समाज के सुधार की ओर भी अपना ध्यान देवें। सन्तान के शुभ और अशुभ माता की बदनामी और नेकनामी के कारण होते हैं। इसलिये गम्भीरता और दृढ़ता से सत्यता के तेज का दीपक हाथ में लेकर इस घनघोर काली रात में भटकी हुई जाति को रास्ता दिखाने वाली सच्ची देवियां साबित हों जिस से देश का नाम बढ़े और इस मान मर्यादा में स्त्री जाति का बोल बाला हो !!

गान तथा नाच कराने पड़ेंगे। हमारे स्त्री समाज में संगीत बिलकुल उठ जायेगा।

इस लिये अन्त में मेरी भारतीय कन्याओं के उन माता पिताओं से प्रार्थना है जो संगीत कला में तनिक भी प्रेम रखते हैं कि वह अपनी कन्याओं का गृहस्थ जीवन सुखी बनाने के लिए अन्य शिक्षाओं के साथ भारतीय संगीत (नाच व गान) का भी थोड़ा बहुत अवश्य ज्ञान करा दिया करें ऐसा करके वह उनका गृहस्थ-जीवन स्वर्गमय बनाने में सहायक होंगे।

विश्व की सर्वश्रेष्ठ विभूति

म० गांधी की जीवन-चर्या

महात्मा गांधीजी की दिन-चर्या जानने की प्रायः सभी को इच्छा रहती है, क्योंकि देश के अधिकांश स्त्री-पुरुष उनके पास तक नहीं पहुंच पाते और न सब के लिए चौबीसों घण्टे महात्माजी के साथ रहना सम्भव ही हो सकता है। इसी लिए सर्व साधारण की उत्सुकता मिटाने के उद्देश्य से उन की दिन-चर्या यहाँ दी जा रही है। लोग देख सकते हैं कि इस वृद्धावस्था में भी उनका जीवन कितना नियमित, कार्ययुक्त एवं अन्य व्यवहारों से परिचय रखते और मगनवाड़ी के भोजन विभाग तथा पशुशाला, सफाई बगीचे आदि की देख रेख का कार्य सम्पन्न करते हैं, तथा छोटी से छोटी बात का कहां तक ध्यान रखते हैं।

पिछली रात को प्रायः दो बजे महात्माजी की नींद खुल जाती है और वे उसी वक्त उठ कर पुस्तकावलोकन या पत्रादि लिखने के कार्य में जुट जाते हैं। दो घण्टे यह कार्य करने के बाद शौच मुखमार्जन से निपट कर ४॥ से ५ तक प्रार्थना करते हैं। उस समय किसी से कुछ कहना-सुनना हो तो वह भी कह देते हैं। इसके बाद कभी टहलते या बातचीत करते हैं और कभी सो भी जाते हैं। किंतु ६ बजते ही उनका निरीक्षण कार्य प्रारम्भ हो जाता है। ७॥ बजे नाश्ता करते हैं। इसके बाद ताजे समाचारपत्र पढ़ते और भोजनालय की वस्तुओं की देख रेख करके आवश्यक सूचनायें देते हैं। इसी समय में यदि कोई मिलने वाला आ जाता है तो बातचीत भी करते हैं। ठीक ९॥ बजे स्नान करते और १०॥ बजे घण्टी बजते ही सब के साथ बैठ कर भोजन करते हैं। उनके भोजन में बकरी का दूध, साधारण फल, शहद, सोडा, कच्ची साग या नीम की पत्ती की चटनी, नीबू आदि वस्तुयें रहती हैं। भोजन के बाद महात्माजी आई हुई डाक चिट्ठी पत्रियां पढ़ते और उत्तर लिखने के लिये अपने पौत्र कनु गांधी और कान्तिलाल गांधी को नोट करा देते हैं। आवश्यक और महत्वपूर्ण पत्र-व्यवहार के लिए श्री महादेव भाई देसाई (सेक्रेटरी) को बतला देते हैं। इसके बाद १२ से २ बजे तक विश्राम करते हुए १ घण्टा सो लेते हैं। दो से चार बजे तक स्वयं भी पत्रादि लिखते और दूसरों के लिखे पत्रों को पढ़ कर उन पर हस्ताक्षर करते तथा ४ बजे तक डाक रवाना करवा देते हैं। इसी बीच में भी यदि कोई मिलने आ जाता है तो उससे बातचीत करते हुए चर्खा कातते हैं।

५॥ बजे तक शौच आदि से निवृत्त होकर भोजन करने पहुंच जाते हैं। ६ बजे तक उधर से निपटने के बाद आधा घण्टा विश्राम कर लगभग पौन घण्टा मगनवाड़ी की छत पर टहलते हैं। उस समय प्रायः आश्रम वासिनी महिलाओं या बालिकाओं के कंधे का सहारा लेकर उनसे बातचीत करने और उनकी शंकाओं या कठिनाइयों का निराकरण करते हैं। उस समय और भी लोग उनके साथ टहलते और बातचीत करते हैं। ठीक ७।१० पर प्रार्थना की घण्टी बजते ही प्रार्थना-स्थल पर आ विराजते और सब के साथ प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना समाप्त होने के बाद अपने निरीक्षण में किसी का कोई दोष जान पड़ता है या श्रीमती मीरा बहन अथवा अन्य किसी की ओर से कोई शिकायत या भूल किये जाने की बात सुनाई जाती है तो उस पर शांति और गम्भीरता के साथ विचार करते हुए बड़े प्रेम, सरलता और मार्मिक भाव से उन सब बातों को समझते हैं। कभी-कभी कुछ आवश्यक सूचनायें भी देते हैं। सारांश, दिन भर की विशेष बातों का हिसाब-किताब प्रार्थना के बाद ही होता है। इसमें कभी-कभी ८-८॥ तक बज जाते हैं, प्रार्थना से पहिले भी कुछ देर तक महात्माजी लोगों से बातचीत करते हुए तकली या चर्खा कातते रहते हैं। बाद में भी सोने तक चर्खा कातते हुए बातचीत करते रहते हैं। निश्चित परिमाण में सूत कत जाने पर ही ९ बजे रात तक महात्माजी बिस्तर पर लेटते हैं। यदि किसी दिन अन्यान्य कार्यवश, सूत का परिमाण पूरा नहीं हो पाता तो रात को देर तक जाग कर उसे पूरा करते हैं। किंतु ऐसा कभी-कभी ही होता है। अन्यथा वे प्रायः ९ बजे रात तक सो जाते हैं और फिर २ बजे पिछली रात को जाग पड़ते हैं।

इस दिन-चर्या में कारण विशेष से कभी-कभी कुछ परिवर्तन भी हो जाता है। किन्तु सामान्य रूप से उनका यही कार्यक्रम रहता है और समय पर संपन्न होता है।

जब से महात्माजी विनोबा के सत्याग्रह आश्रम से मगनवाड़ी में रहने के लिये आये हैं, तब से प्रति दूसरे दिन अर्थात मंगल, गुरू और शनिवार को प्रार्थना के लिए वे शाम के भोजन से निपटते ही—आश्रम में पैदल चल कर जाते हैं जो मगनवाड़ी से लगभग दो मील दूर है। उस समय भी महात्माजी दोनों तरफ से लड़के या लड़कियों के कंधे पर हाथ रख कर बातें करते हुए जाते हैं, वहां पहुंचने के बाद प्रार्थना का समय होने तक आवश्यक विषयों पर बातचीत करते तथा वहां के लोगों के अभाव अभियोगों को सुनते हैं। इन दिनों श्री विनोबा एवं अन्य खादी कार्यकर्ताओं से वे खादी के विषय में कातने वालों को प्रति घण्टा एक आने के हिसाब से मजदूरी देने के विषय में बड़ी गहराई से बातचीत एवं विचार-विनिमय करते रहते हैं। और सुना जाता है अब वे आठ आने प्रति दिन से तीन आने प्रति दिन की मजदूरी का पक्का वचन मिलने पर सन्तुष्ट होने तक आ गए हैं। २८ अगस्त की मीटिंग में इसका निर्णय होगा।

हां, तो आश्रम में प्रार्थना से निपटते ही महात्माजी बालकोबा तथा अन्य दो एक व्यक्तियों से बातचीत करके उसी तरह वापस मगनवाड़ी चल देते हैं। बालकोबा बीमार हैं कदाचित क्षय ग्रस्त हैं, अतएव उनसे महात्माजी अवश्य पांच-सात मिनट बातें करके तसल्ली देते हैं। इस प्रकार लगभग ८॥ बजे तक वापस मगनवाड़ी आकर कातने के बाद विश्राम करते हैं। आश्रम जाते समय भी तकली और पूनी साथ जाती है और वहां भी बातचीत करते हुए कातते रहते हैं। अर्थात अपना एक क्षण भी वे व्यर्थ नहीं जाने देते। किंतु जिस दिन वर्षा होती रहती है या कोई अनिवार्य कारण आ उपस्थित होता है, उस दिन महात्माजी महिलाश्रम प्रार्थना करने नहीं जाते।

रविवार की शाम की प्रार्थना के बाद आवश्यक बातें कह सुन कर लगभग ८ बजे महात्माजी मौन व्रत लेते हैं जो सोमवार की रात को ८ बजे समाप्त होता है। इसी बीच में वे रात को २ बजे जागने के समय से लेकर दिन में किसी से बातचीत न करने के कारण बचे हुए समय का उपयोग "हरिजन" के लिये लेख तैयार करने में लगाते हैं। महात्माजी देशी स्याही से हाथ के बने हुए कागज पर बरू की कलम से लिखते हैं और वह टाइप करके प्रेस को भेजा जाता है। महादेव भाई ही हरिजन के सम्पादक हैं, अतएव सारा मैटर यहीं होकर भेजा जाता है। महात्माजी इस प्रयत्न में हैं कि उनके अंग्रेजी लेखों का हिन्दी अनुवाद भी यहीं से करके भेजा जाया करे, जिससे वहां अनुवाद—विषयक भूलें न होने पावें। किन्तु अभी तक इस विषय का समुचित प्रबन्ध नहीं हो सका है।

महात्माजी के पास इतनी डाक आती है, कि लोग दंग रह जांय, किन्तु वे सब को ही संतोषकारक उत्तर देते हैं। समाचारपत्रों में वे "टाइम्स आफ इण्डिया", 'डेली न्यूज' पढ़ते और 'बम्बई क्रानिकल' को साधारण दृष्टि से देख जाते हैं।

('स्वराज्य' से)

———

——:——

भारतीय पत्र और दमनकारी कानून

श्री चिन्तामणि का भाषण

क्या सरकार की नजर में पत्रकार बदमाश हैं ?

'भारत सरकार वकीलों के विरुद्ध इसलिये हैं, कि वह कानून के भी विरुद्ध है'—लार्ड मारले।

कलकत्ते में पत्रकार सम्मेलन के अध्यक्ष श्री चिन्तामणि ने जो भाषण दिया था उसके कुछ अंश निम्नलिखित हैं—

—— o ——

जिस देश के पराधीन लोग स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं वहां पत्रकारों को कुछ विशेष कठिनाइयों का सामना होना स्वाभाविक ही है। हां, यह सच है कि कुछ देशों की अपनी राष्ट्रीय सरकारें भी ऐसी हैं जो अपने देश के समाचार पत्रों को तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं देतीं। उदाहरणतः कम्यूनिस्ट, फैसिस्ट तथा नाजी आदि मत-मत दलों के लोग अपने विरोधियों तथा आलोचकों को जबान ही नहीं खोलने देते। हमारे ही देश में ऐसी बहुतेरी रियासतें हैं जिनके यहां स्वतन्त्र पत्रों का पूर्णतः अभाव है। सौभाग्य से ब्रिटिश सरकार ने अभी तानाशाही से प्रेम करना नहीं सीखा है। ब्रिटेन में अब भी प्रतिनिधि संस्थाओं का ही बोल-बाला है और वहां पत्रों को इतनी स्वतन्त्रता है जितनी और कहीं शायद ही हो। परन्तु साथ ही यह बात भी सच है कि अंग्रेज हमारे देश में अधिकारी ही बने रहना चाहते हैं और इसलिए इस देश में आते ही उनके विचारों में अवांछनीय परिवर्तन हो जाता है और उन्हें स्वतन्त्र संस्थाओं को प्रोत्साहन देने के बजाय अपने अधिकारों की रक्षा की ही अधिक चिन्ता रहती है। हमारी यह इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि शासन शक्ति अभारतीयों के हाथ से निकलकर भारतीयों के हाथ में आ जाय और नौकरशाही के शासन के बजाय उत्तरदायित्वपूर्ण राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जाय। ऐसी अवस्था में हमें अधिकारियों की, उनके कामों की और उनकी गलतियों की नित्यप्रति आलोचना करना आवश्यक हो जाता है। हम उनकी आलोचना इसलिये नहीं करते कि हमें ऐसा करने में कोई आनन्द मिलता है बल्कि इसलिए करते हैं कि ऐसा करना हमारा कर्तव्य है। इसका स्वाभाविक परिणाम होता है, संघर्ष। और संघर्ष में जो कमजोर होता है उसी को अधिक हानि सहन करनी पड़ती है। हम केवल रो सकते हैं, इसके सिवाय और कर ही क्या सकते हैं ? लेकिन नौकरशाही हमें रोने भी तो नहीं देती। एक ओर हमसे कहा जाता है कि कुत्ते भूंका ही करते हैं पर हाथी अपने रास्ते चला जाता है, और दूसरी ओर हमें भूंकने से भी रोका जाता है और ऐसे-ऐसे कानून बना दिये गये हैं जिन्होंने हमारी अपने दिल की बात को साफ-साफ कह सकने की स्वतन्त्रता का भी अपहरण कर लिया है। किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति या कमीशन के सामने ताजीरात हिन्द की दफा १२४ ए या १५३ ए या जाब्ता फौजदारी की दफा १०८ या सन १९१० के प्रेस ऐक्ट को पेश किया जाय तो वह निस्सन्देह यही फैसला देगा कि यह आवश्यकता से अधिक व्यापक है इनमें से १९१० का प्रेस एक्ट रद्द हो चुका है फिर भी मैंने उसका जिक्र किया है। इसका कारण यह है कि इस एक्ट की बुरी से बुरी बातों को लेकर तथा उनमें और भी बुरी बातें जोड़कर सन १९३१ में एक नया एक्ट पास कर दिया गया है और अब भी वह जारी है। यह एक्ट पास करते समय यह कहा गया था कि यह केवल एक वर्ष के लिये है लेकिन बाद को उसकी मियाद बढ़ा दी गई। बंगाल के पत्रकारों के लिये पिछले साल पास होने वाला बंगाल क्रिमिनल ला एमेंडमेंट एक्ट एक और भी बला के रूप में मौजूद है। अन्य प्रान्तों में विशेषाधिकार सम्बन्धी कानून जारी हैं। इस साल उनकी मियाद पूरी होने वाली है, लेकिन अफवाह गरम है कि सरकार ने उनकी मियाद बढ़ाने का निश्चय कर लिया है। मैंने इन सब एक्टों का काफी ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है और मैं यही कह सकता हूं कि वे समाचारपत्रों के विकास में तो बाधक हैं ही साथ ही स्वतन्त्र पत्रों की नीति में विश्वास प्रकट करने वाली ब्रिटिश सरकार के लिये भी शोभाजनक नहीं हैं। यहां मैं इन विभिन्न धाराओं की विस्तारपूर्वक आलोचना नहीं करूंगा। हमारे समाचार पत्रों के कालमों तथा व्यवस्थापिका सभाओं में उन पर अनेक बार विचार हो चुका है। इन कानूनों की जो कड़ी आलोचनाएं हुई हैं उनका आज तक कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया गया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि उनका सन्तोषजनक उत्तर दिया ही नहीं जा सकता, सच बात तो यह है कि सरकार पत्रकारों को अपना शत्रु समझती है। इसीलिये तो समाचार पत्रों की रिपोर्ट देने का काम खुफिया पुलिस के विभाग के सुपुर्द है। खुफिया पुलिस का काम बदमाशों की खबर रखना है। जब हमारी देख रेख भी उसके सुपुर्द कर दी गई है, तो इसका मतलब केवल यही हो सकता है कि सरकार की नजर में हम भी बदमाश हैं। दमनकारी कानूनों के समर्थक अकसर यह कहा करते हैं कि जो आदमी कोई अनुचित काम करना नहीं चाहता उसे उनसे डरने की जरूरत नहीं है। इसी दलील का सबसे अच्छा उत्तर बर्क ने बहुत पहले ही दे दिया है। बर्क ने कहा था कि अगर कोई कानून बुरा है तो यह कहने से कि उसका बहुत सोच समझ कर अत्यन्त आवश्यकता होने पर ही प्रयोग किया जायगा, वह अच्छा नहीं हो सकता। एक बुरे कानून का मौजूद होना ही अधिकारियों के लिये भी और उनके शासन में रहने वालों के लिये भी बहुत बुरी बात है। एक ओर तो उसका यह परिणाम होता है कि अधिकारियों को अपने अधिकार का दुरुपयोग करने का लालच होने लगता है और दूसरी ओर अधिकार के इस दुरुपयोग से जिन लोगों को हानि पहुंच सकती है उनमें कायरता और मक्कारी आने लगती है। भारत में शासन करने वालों का और साधारण जनता का दृष्टिकोण एक न होने के कारण उनके बीच नित्य ही संघर्ष रहता है। इसलिये अवांछनीय कानूनों का अस्तित्व जितना बर्क के देश (ब्रिटेन) में बुरा हो सकता था, भारत में उसकी अपेक्षा उससे कहीं अधिक हानिकारक है। यह केवल कल्पना या तर्क ही की बात नहीं है। अपने निजी के अनुभव से हम अच्छी तरह जानते हैं कि वास्तव में बात ऐसी ही है।

दफा १०८

मेरे दिल में कई बार एक प्रश्न उठा है जिसका कोई सन्तोषजनक उत्तर न तो मैं खुद ही सोच सका हूं और न किसी दूसरे से ही पा सका हूं। वह प्रश्न यह है कि जब जाब्ता फौजदारी में दफा १०८ मौजूद ही है तो फिर दमन के लिए और कोई विशेष अधिकार वाला कानून पास करने की जरूरत ही क्या है ? इस दफा की भाषा ऐसी व्यापक है कि अगर सरकार समाचार पत्रों को केवल अनुचित कार्य करने से रोकना चाहती है और उन की उचित स्वतन्त्रता का अपहरण करना नहीं चाहती, तो यह दफा सब तरह से काफी है। सन् १८९८ में भारत सरकार ने दक्षिण में होने वाली कुछ घटनाओं से घबड़ा कर ताजीरात हिन्द में दफा १२४ ए को संशोधन किया था और दफा १५३-ए नई जोड़ी थी और जाब्ता फौजदारी में १०८ धारा जोड़ी थी। इन तीन धाराओं का उसी समय सारे देश में विरोध हुआ था और विरोध करने वालों में स्वर्गीय श्री उमेशचन्द्र बनर्जी तथा दरभंगा के स्वर्गीय महाराजा सर लक्ष्मेश्वर सिंह बहादुर जैसे व्यक्ति भी थे। परन्तु जैसा कि सदा ही होता रहा है, सरकार ने जनता के विरोध की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। उस समय के होम मेम्बर ने बड़े तपाक से कहा था कि मुझे इस बात की तनिक भी परवाह नहीं है कि भारतीय आलोचक क्या कहते हैं।

४ वर्ष हुए, मुझे देश के सब से बड़े अधिकारियों से यह पूछने का अवसर मिला था कि ऐसी कौन सी बात है जो आप दफा १०८ द्वारा नहीं कर सकते और किस कारण से आप को प्रेस आर्डिनेन्स की आवश्यकता है ? इस का उत्तर मुझे यह मिला कि दफा १०८ अनुभव से नाकाफी सिद्ध हो चुकी है। मैंने कहा कि अगर आप इस बात का प्रमाण दे सकते हों तो दें, और मैं इस बात का प्रमाण दूंगा कि सिवाय एक बार के, अधिकारियों को इसके प्रयोग में सदा ही सफलता मिली है। वह एक बार वाली घटना यह है कि स्वर्गीय लोकमान्य तिलक से जब दफा १०८ में जमानत दाखिल करने को कहा गया था तो हाईकोर्ट में अपील करने पर मजिस्ट्रेट का हुकम रद्द हो गया था यह दफा कुछ कम चालीस वर्ष से जारी है, सम्भव है इस लम्बे अर्से में दो एक सम्पादक और भी इस दफा के जाल में फंसने से बच गये हों, लेकिन यह निश्चय है कि दो चार बार को छोड़ कर प्रायः सदा ही अधिकारियों को इस के द्वारा जो कुछ वे करना चाहते

थे इसे करने में सफलता मिली है। पर इतने से वे सन्तुष्ट नहीं हुए। क्यों? मेरे दिमाग में तो इस प्रश्न को एक ही उत्तर आता है और वह यह कि दफा १०८ के मुताबिक फैसला करने वाले चाहे सरकार के मातहत कर्मचारी (मजिस्ट्रेट) ही हों लेकिन अभियुक्तों को सफाई देने का तथा हाईकोर्ट में अपील करने का मौका तो मिल ही जाता है। सरकार शायद यह सहन नहीं कर सकती, क्योंकि उस कानून के राज्य की अपेक्षा अधिकारियों का राज्य ज्यादा पसन्द है। लार्ड मारले ने एक बार लार्ड मिन्टो को लिखा था कि भारत सरकार वकीलों के विरुद्ध इस लिए है क्योंकि वह कानून के भी विरुद्ध है। ये शब्द किसी भारतीय पत्रकार के नहीं बल्कि एक भारत-मन्त्री के हैं। सच बात यह मालूम होती है कि भारत-सरकार को स्वेच्छाचारिता का इतना अभ्यास पड़ गया है कि उसे अपने कामों में स्वतन्त्र न्याय-विभाग का हस्तक्षेप करना अच्छा नहीं मालूम होता।

देशी राज्य और समाचारपत्र

मैं पहिले ही इस बात का जिक्र कर चुका हूं कि हमारे देशी राज्यों में समाचारपत्र कहलाने योग्य समाचारपत्र नहीं हैं। कुछ उन्नतिशील राज्यों को अपवाद स्वरूप छोड़ कर बाकी राज्यों की बाबत मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि उनके कार्यों की स्वतन्त्र आलोचना केवल ब्रिटिश भारत के समाचारपत्रों में ही होती है। भारत सरकार का देशी राज्यों में इतना प्रभाव है कि अगर वह चाहे तो उनके नरेशों पर इस बात का दबाव डाल सकती है कि वे अपने-अपने यहां समाचार पत्रों तथा अन्य स्वतन्त्र संस्थाओं को प्रोत्साहन दें। परन्तु यह तो दूर रहा उल्टा उसने इस प्रकार के कानून बना दिये हैं कि ब्रिटिश भारत के समाचारपत्र भी उनकी स्वतन्त्रतापूर्वक आलोचना न कर सकें देशी राज्यों की प्रजा का न तो शासन पर कोई नियंत्रण है, न उसके प्रतिनिधियों का शासन कार्य में हाथ है, न उसे अखबारों द्वारा या समाचारपत्रों द्वारा अपने शासकों की आलोचना करने की स्वतन्त्रता है और अब प्रिन्सेज प्रोटेक्शन एक्ट की बदौलत उसे ब्रिटिश इण्डिया के समाचारपत्रों से भी काफी सहायता नहीं मिल सकती। भावी शासन विधान में भी रियासतों की प्रजा को नागरिकता के अधिकार नहीं प्राप्त होंगे भारत की व्यवस्थापिका सभाओं में रियासतों की प्रजा का एक भी प्रतिनिधि न रहेगा। हां, नरेशों के प्रतिनिधि रहेंगे और उनके द्वारा वे ब्रिटिश भारत के अन्दरूनी मामलों में भी दखल दे सकेंगे। परन्तु ब्रिटिश भारत के लोग देशी राज्यों के मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सकेंगे। इस बात का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता कि देशी नरेशों की शासन-प्रणाली में कोई समयानुकूल परिवर्तन होने वाला है। ब्रिटिश भारत के पत्रों को भी यह स्वतन्त्रता न होगी कि वे देशी राज्यों के मामलों की स्वतंत्रतापूर्वक खरी आलोचना करके राजा प्रजा दोनों की सेवा कर सकें।

स्वास्थ्य-सुधार

नींबू के गुण और प्रयोग

(लेखक—स्नातक पं० सत्येन्द्रनाथ वैद्यराज आयुर्वेदाचार्य आगरा)

—*:*—

इन दिनों वर्षाऋतु में प्रायः कुछ ऋतुजनित विकार उत्पन्न होते हैं। मन्दाग्नि, अरुचि, देह में आलोडन, वमन (उलटी), पतले दस्त, हैजा (Cholera) और ज्वर आदि रोग आज कल की मौसमी खराबी द्वारा पैदा हो रहे हैं। रोगों की उत्पत्ति से पूर्व ही उसके निवारण के लिए प्रकृति स्वयं ही उसके पूर्व उपायों का प्रबन्ध कर देती है। इसी प्रकार आजकल के ऋतुजन्य विकारों की शान्ति के लिए भी प्रकृति ने प्रबन्ध किया हुआ है। हमको चाहिए कि हम उन विकारों की शान्ति के लिए प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं का उपयोग करें। ऊपर लिखे हुए विकारों की शान्ति के लिए आजकल एकमात्र उपाय यह है कि उत्तम पके हुए नींबू के फलों का प्रयोग किया जाय। रोगी, निरोगी, दुर्बल, सबल सभी के लिए यह आवश्यक है कि प्रातः सायं और भोजन के साथ नींबू का उपयोग करें। हम इनके प्रयोग जो कि आजकल के लिए लाभप्रद हैं, पाठकों को बतलाए देते हैं। आशा है पाठकगण इनको उपयोग में लाकर रोग संकटों से बचेंगे।

नीबू के गुण

पके हुए कागज़ी नीबू का रस तीक्ष्ण, अम्ल (खट्टा), पाचक, रोचक, अग्निप्रदीपक, हलका, कृमिघ्न (कृमिनाशक), उदर विकार, शूल (Colic pain), अजीर्ण, मलबद्धता, अरुचि प्रभृति रोगों को नष्ट करता है। चर्म दोष (जैसे दाद, खाज), दूषित जल जनित विकारों की शान्ति के लिए यह उत्तम उपाय है। बिगड़े हुये पित्त को शान्त करता और अजीर्ण को मिटाता है।

नीबू के प्रयोग

(१) साधारणतया नीबू के २॥ तोले या ५ तोले रस में अन्दाज़ के अनुसार थोड़ी सी चीनी या शकर अथवा सेंधा नमक डालकर प्रातः और सायंकाल दोनों समय पीना अत्यन्त लाभदायक है। इसके पीने से जठराग्नि तेज़ होती और आहार का भली प्रकार पाचन होता है अजीर्ण के होने पर जो खट्टी डकारें आती और छाती में जलन पड़ती है, वह इस प्रयोग से मिट जाती है। जहाँ कहीं बहुत से आदमी एक जगह इकट्ठे रहते हों, यदि उनमें से किसी को खुजली का रोग हो जाय तो जो भले चंगे लोग हैं उन्हें चाहिए कि वे लोग रोज़ इसी प्रकार नीबू का रस पिया करें, क्योंकि इसके पान से यह (खुजली-खाज) बीमारी नहीं होती। सबसे अधिक लाभ इसके उपयोग से यह होता है कि, वर्षाऋतु के दूषित जल से उत्पन्न होने वाले विकार नहीं होने पाते। यदि किसी जगह पर तालाब, नदी, पोखर आदि का मलिन जल पीना ही पड़े तो उस जल में नीबू का रस निचोड़ कर पीने से कोई दोष होने का डर नहीं रहता, क्योंकि नीबू का रस अपनी तीक्ष्णता से सब दोषों को काट देता है।

लेखक

(२) साग, सब्ज़ी, दाल में नीबू डालकर खाना चाहिए, इसके सिवाय अदरक, पोदीना हरी मिर्च की चटनी में नीबू का रस मिला कर खाना बहुत लाभदायक है। नीबू के दो बड़े टुकड़े बीच में से करके उनमें सेंधानमक और काली मिर्च पीसकर भर दें और अग्नि पर गरम करके खावें। इससे अजीर्ण, उदर शूल, अग्निमांद्य, अरुचि आदि रोग दूर होते हैं।

(३) वमन (उलटी) जी मिचलाना, दस्त, प्यास और ज्वर इन विकारों को शान्ति के लिये निम्बुपानक बनाकर रोगी के लिये देना चाहिये। उसके बनाने की विधि यह है कि, उत्तम पके हुए कागज़ी नीबुओं का रस १ भाग और शर्करोदक ४ भाग मिला कर उसमें लौंग, कालीमिर्च का थोड़ा सा चूर्ण डालकर रोगी को बार बार पिलाना चाहिये। यदि मौसमी बुखार की अधिक तेजी हो और रोगी दुर्बल हो तो कडुवे चिरायते का काढ़ा २॥ तोले और इतना ही नीबू का रस मिला कर पिलाना चाहिये। बुखार जिसमें देह ज्यादा गर्म और पसीना रहित हो, प्यास ज्यादा लगती हो ऐसे मौके पर यह उपाय करना चाहिये कि ४ ५ नीबू छीलकर उनके छिलके दूर करें और उनके निरछे पतले-पतले कतरे कर लिये जाँय, फिर उन टुकड़ों (कतरों) को किसी पत्थर या चीनी के ढक्कनदार बर्तन में रखकर ऊपर से पाव डेढ़ पाव खूब उबलता हुआ पानी डाल दें। १५-२० मिनट बाद छानकर मिसरी या चीनी डालकर रोगी को पिलावें। इससे ज्वर की तेज़ी और प्यास कम होकर बीमार को आराम मिलता है।

४ मुह की भीतर की खुजली और मसूड़ों के फूलने पर नीबू का रस एक छटाँक और एक पाव पानी मिलाकर कुल्ली करना चाहिये। इस प्रकार कुल्ला करने से कंठ, मुंह और दाँतों के बहुत से रोगों से छुटकारा मिलता है। इसका कारण यह है कि, नीबू के रस में कृमि समूह (Germs) को मारने की बड़ी अद्भुत शक्ति है। जो कृमि कंठ, मुंह और दाँतों में पहुंच कर रोग करते हैं, वे इस प्रकार कुल्ली करने से मर जाते हैं, और रोग का नाश हो जाता है।

(५) यदि अजीर्ण (Indigestion) का अधिक ज़ोर हो, अग्निमंद पड़ गई हो, भूख भी खुल कर न लगती हो और अपच के कारण पेट में मंद-मंद दर्द रहता हो, अथवा बदहज़मी से पतले दस्त रहते हों तो ऐसी अवस्था में "निम्बु अवलेह" (नीबू की चटनी) का प्रयोग बड़ा लाभ करती है। उसके बनाने का योग नुसखा यह है:—

१ नीबू का रस ॥॥
२ अमलतास का गूदा ।=
३ सेंधा नमक ।=
४ देशी मिसरी.... ।–
५ दाल चीनी . ६ माशे
६ लौंग ... . . ६ „
७ काली मिर्च . ६ „
८ छोटी इलायची के दाने ६ मा.
९ छोटी पीपल . ६ माशे
१० सोंठ . ... ६ „
११ जीरा सफेद भुना ६ „
१२ हींग भुनी . . ६ „

बनाने की विधि:—इसको तैयार करने के लिये प्रथम किसी मिट्टी, चीनी या काँच के चौड़े मुंह के बर्तन में नीबू का रस भर दो, फिर उसमें अमलतास का गूदा आध पाव, सेंधा नमक आध पाव और मिसरी एक छटाँक इन को मिला दो, फिर बर्तन का मुंह ढककर २४ घंटे रक्खा रहने दो। अब नम्बर ५ से लेकर १२ तक की चीज़ों को खूब बारीक कूट-छान-कर तैयार करलो। नीबू के रस को २४ घंटे बाद हाथ से खूब मथकर साफ़ बारीक कपड़े में छान लो। छानने पर जो फोक बचे उसे फेंक दो। छने हुए रस को किसी उत्तम मिट्टी की हाँडी में डालकर अग्नि पर चढ़ा दो। औटते औटते जब रस गाढ़ा होजावे तब उसको चूल्हे पर से नीचे उतार कर उसमें उस कूटे हुए चूर्ण को मिलाकर चम्मच से एक जीव करदो। बस यह "नीबू की चटनी" तैयार होगई। इस चटनी को उत्तम काँच की चौड़े मुंह की शीशी में भर कर रख दो। यह चटनी रोगी, निरोगी, बच्चे, बूढ़े स्त्री-पुरुष सभी के लिए लाभदायक है। इसमें से एक दो तोले चटनी प्रातःकाल

कहानी

पतित कौन

(ले०—श्री जगतनारायण जोशी)

सुकुमार विचित्र प्रकृति का मनुष्य था। वह ऐश्वर्य की गोद में पला था। लक्ष्मी उसकी चेरी थी। विलास उस का सखा था। मदिरा उसकी चिर-संगिनि थी। उसके मुख पर चञ्चलता और चाल में मस्ती थी। उस की मृदु मुस्कान में जादू और नत्रों में "अमिय" और "हलाल" दोनों थे।

वह दानवीर था। स्त्री-शिक्षा का नगर में सब से बड़ा समर्थक था। अनाथालय का मंत्री तथा विधवा आश्रम का जन्मदाता था। भिक्षुक उसके द्वार से कभी विमुख न जाता। सदा ही चार पाँच विधवा कुछ न-कुछ सहायता प्रतिमास उससे पाती थीं।

वह धनाढ्य था। रहन-सहन उस का अत्यन्त साधारण था। घोड़ा गाड़ी और मोटर दोनों ही उसके पास थीं। पर वह स्वयं कभी भूले-भटके ही उनको अपने काम में लाता। विद्युत-प्रकाश और विद्युत बिजन भी उसने अपने मित्रों के अनुरोध से मकान में लगवा लिये थे। बिजली का पंखा उसके कमरे में न था, कारण, पंखे को खींचने वाली साठ वर्षीय सुखिया पर उसकी विशेष कृपा थी। वह अब का ही काम करती थी।

सुकुमार के मकान से सटा हुआ एक सजातीय दरिद्र कुटुम्ब रहता था। उस कुटुम्ब में केवल दो प्राणी थे—एक सोलह वर्ष की विधवा आनन्दी और दूसरी उसकी दादी (अवस्था अस्सी वर्ष)। ढाई साल हुआ तब आनन्दी का विवाह हुआ था। विवाह में उसके पिता ने अपनी समस्त पैतृक सम्पत्ति महाजन के बन्धक रख दी थी। छः महीने हुए तब महामारी फैली थी। वह आनन्दी के सास ससुर और देवर को कवलित कर चुकी थी। उस का पति भी स्वर्ग में अपने माता पिता की सेवा करने को कुछ ही दिन पीछे अपना सम्बन्ध इस जगत् से तोड़ चुका था। माता पिता भी अपनी पुत्री की यह विपत्ति न देख सके और वह भी कहने को उसी महामारी के शिकार हुए। एक महीने के अन्दर यह सब लीला समाप्त होगई थी।

घर पर जो बर्तन-भाँडे बचे थे वह सब धीरे २ दादी पोती का पेट भरने में काम आ लिये थे। अब घर में केवल दो दिन का भोजन शेष था। आनन्दी ने कहा, दादी दो दिन बाद क्या होगा?" "बेटी, परमात्मा पर भरोसा रखो। वह अवश्य हमारी सहायता करेगा।"

"दादी, विश्वास नहीं होता। परमात्मा हमारा सहायक होता तो यह दिन ही क्यों देखने पड़ते। यह कहते-कहते उसे अपने विस्मृत दु:ख की याद आगई। वह रोने लगी। उसने अपनी दादी की गोद में अपना सिर रख लिया। बुढ़िया ने उसे सान्त्वना देनी चाही, परन्तु पुत्र की स्मृति जागृत हो उठी। वह भी रो पड़ी।

वह दोनों रो रही थीं कि इतने में सुखिया आगई। सुखिया ने पुकारा—"आनन्दी! बेटी आनन्दी! आनंदी ने कुछ उत्तर न दिया। बुढ़िया ने सुखिया को अपने पास बुला लिया आनंदी अभी रो रही थी।

सुखिया ने कहा—"चाची, मुझे तुम से एक खास बात कहनी है।" समस्त मोहल्ला आनंदी की दादी को चाची ही कह कर पुकारता था।

"सुखिया, क्या बात है?"

"बाबू चाहते हैं कि तुम्हारी कुछ सहायता कर दिया करें।"

"ना सुखिया, जब तक हमारे हाथ पैर चलेंगे, हम किसी के आश्रित न होंगे।"

"तो बाबू काम भी दे सकते हैं।"

"क्या काम?" आनंदी ने पूछा। अब वह रो चुकी थी, और अपनी दादी की गोदी में बैठी थी।

"कुछ नहीं, केवल बाबू की रोटी पकाना।"

"यह तो मैं कर लूंगी। क्या मजूरी मिलेगी?" आनंदी ने कहा।

"चार-पाँच रुपया महीना, और एक आदमी का भोजन।

मुझे स्वीकार है और तुमको दादी?"

"मुझे भी।"

सुखिया चली गई। दादी ने कहा, "आनंदी, सुकुमार बड़ा पाजी है।"

"पर उसने मुझे गोद खिलाया है।

(३)

"सुकुमार इस नई चिड़िया को फंसाने में इतना समय लग चुका। फिर भी तुम सफल नहीं हुए।"

'मित्र, अभी दाना डाला है। पक्षी ने देख लिया है, मगर मैंने जानकर जाल नहीं फैलाया है।"

"क्यों?"

"अभी सुखिया की आज्ञा नहीं है। वह समझती है, अभी पक्षी उड़ जायगा।"

तुम भी क्या उस बुढ़िया के वश में आगये? अगर मैं तुम्हारी जगह होता, तो .. "

"तो कम से कम एक दर्जन कल कतिया सलीपर से अपनी चांद की खाज मिटवाते या बेलन की मार से अपनी कमर का दर्द मिटवाते?"

"तुम को विनोद की सूझ रही है!"

'और आपको काम की!"

इतने में सुखिया ने आकर कहा "बाबू भोजन तैयार है।"

"मैं आता हूं, 'यह कहते हुए सुकुमार बाबू खड़े हो गये।

(४)

सुखिया और सुकुमार बाबू आखिर अपनी चालों में सफल हुये। विवाहित जीवन का सुख—वह सुखद स्वप्न—आनन्दी अभी न भूली थी। उसकी स्मृति अभी शेष थी। वह खोई हुई वस्तु न रह गया था। सुकुमार ने धन का प्रलोभन, आभूषणों की भेंट, और उससे भी अधिक विवाहित जीवन का सुख देने का जब वचन दिया, आनन्दी ने भी कुछ-कुछ स्वीकृति दे दी। वह पुनर्विवाह करना चाहती थी। उसकी उसने स्वीकृति दी।

घर आकर उसने अपनी दादी से कहा—'दादी, सुकुमार से पुनर्विवाह करने की मैं स्वीकृति दे आई हूं।" दादी ने अपना माथा ठोका, और कहा—"आनन्दी, आनन्दी, जिसे तू स्वर्ण समझी है वह तो पीतल भी नहीं है।' यह कहते कहते वह बेहोश होगई।

पाँच दिन बाद बुढ़िया चल बसी।

(५)

"आज, बात को टालते-टालते कितने दिन हो गये।"

"तो अभी जल्दी क्या है?"

"और मुझे यह तीसरा महीना है।"

"यही तो मार्ग में बाधक है।"

"क्यों, क्या यह तुम्हारा नहीं है?'

"इसे मैं कब अस्वीकार करता हूं।"

"तो फिर।"

"मैं समाज को मुंह कैसे दिखाऊंगा।"

"और मैं,"

"मैं क्या जानूं। अपने पाप का फल भोगो।"

"पापी कौन है?'

"तुम।"

"और आप।"

"मेरा क्या बिगड़ा है। पाप की गठरी तो तुम लादे फिर रही हो।"

'मैं और पाप की गठरी।" " "

परमात्मा यदि मनुष्यों के यह पाप की गठरी लादता। तो क्या आप सरस्वती की सौगन्ध खाकर कह सकते हैं कि यह पाप है।"

"हां "

आनन्दी को क्रोध आ गया। पास ही मेज पर कलमदान रखा था, उसे उठाकर सुकुमार के सिर पर दे मारा। लाल और नीली स्याही दोनों ओर को बह गई। सुकुमार अपने को सम्हाले इतने में उसने मेज पर रखा हुआ फूलदान हाथ में उठा लिया और वह भी झट से उसके मार दिया।

(६)

फिर वह सुकुमार के घर नहीं गई। पाँच महीने बाद अमावस्या की रात्रि थी। क्वार का महीना था। नौ बजे थे। चोरों की भाँति कमन्द लगाकर सुकुमार उस के घर में उतर गया। एक कोने में दिया टिम-

टिमो रहा था। आनन्दी पेट तक रजाई ओढ़े हुये थी। रजाई कुछ कुछ फट रही थी। कहीं-कहीं उसमें रुई चमक रही थी। वह कुछ सी रही थी।

"आनन्दी, तुमसे एक बात कहनी है।"

"क्या ?"

"तुम घर चलो।"

"एक शर्त पर चल सकती हूं।"

"कौन शर्त ?"

"वही पुरानी।"

"मेरी नई शर्त है।"

"क्या ?"

"जो सन्तान हो वह मुझे दे देना।"

"और मैं ?"

"तुम्हारे लिये मेरे घर में जगह नहीं।"

"मैं एक बात कहूं।"

"कहो ?"

"सन्तान का मूल्य क्या होगा ?"

"मूल्य कैसा ? वह तो मेरी सन्तान होगी।"

"मेरे उदर से निकली सन्तान तुम्हारी और मैं—मैं—तुम्हारी कोई नहीं !"

"हां अच्छा मैं मूल्य दूंगा !"

"बहुत अधिक होगा।"

"कहो, क्या मांगती हो ?"

"इसका मूल्य है मेरा-तुम्हारा विवाह।"

"यह नहीं हो सकता। धन मांगो, मनचाहा धन मिलेगा।"

"धन अस्थायी वस्तु है।"

"तो मुझे प्रेम चाहिये।"

"वह एक है।"

वह उठकर खड़ी होगई और इस जोर से तमाचा मारा कि सुकुमार चौकड़ी भूल गया।

(७)

आनन्दी को पुत्रवती हुये आज एक मास से अधिक हुआ। तीन दिन हुये उसकी खाट पर से उसके सोते हुये बालक को कोई उठाकर ले गया। तब से वह पागल की भांति गली गली में "मेरे लाल" "मेरे लाल" चिल्लाती फिरती है। उसे अपने तन-बदन की सुध नहीं है।

नगर के पूर्व में भगवती भागीरथी बहती हैं। वहां सेठ सुकुमारचन्द की नई धर्मशाला का आज शिलान्यास है। सुकुमार के द्वार पर रात भर वह रट लगाये रही—"मेरा लाल, मुझे दे दो।" दिन निकला। दर्वाजे पर आदमियों का आना-जाना लगा हुआ था। वह हरेक से यही कहती "मेरा लाल मुझे दिला दो।" किसी किसी का पल्ला पकड़ लेती सभी

उसकी ओर से उदासीन थे।

आज आठ बजे सेठजी बाहर निकले। मोटर में बैठे। वह उनके पीछे भाग सकती थी। परन्तु मोटर के पीछे नहीं।

गंगा के घाट पर आज जिले के कलक्टर ने ठीक साढ़े आठ बजे सेठ सुकुमारचन्द की धर्मशाला का शिलान्यास किया। सेठजी की परोपकारिता और उनके पुण्य की सब ही प्रशंसा कर रहे थे। इसी मोड़ को चीरती हुई एक पगली गंगाजी की ओर आ रही थी। वह कह रही थी, "गंगा मइया, मेरा लाल तुम्हीं मुझे दिला दो।" यही कहती हुई वह गंगा जी के जल में धीरे-धीरे प्रवेश करने लगी।

——

गांधीजी के गले में सांप

गांधीजी को स्वामी आनन्द से यह मालूम हुआ कि उनके थाणा के आश्रम में सांप बहुत कसरत से निकलते हैं। इस पर गांधीजी ने हाफकिन इन्स्टीट्यूट के कर्नल सोखे से इस संबंध में पत्र व्यवहार शुरू कर दिया। गांधीजी ने उनसे कई प्रश्न पूछे—जैसे, साधारण आदमी यह किस तरह बतला सकता है कि यह सांप जहरीला है, और यह नहीं, सांप के काटे का क्या और किस तरह इलाज किया जाय, इत्यादि २। गांधीजी के पत्र के उत्तर में कर्नल सोखे ने तुरन्त सर्प विषयक साहित्य भेज दिया। पर उससे तो गांधीजी की सर्प विद्या संबंधी जिज्ञासा और भी बढ़ गई। और एक दिन जब जमनालालजी ने उन्हें यह बताया कि मैं एक ऐसे साधु को जानता हूं जिसे इस विद्या का बड़ा अच्छा ज्ञान है, उसके पास अनेक प्रकार के सर्प हैं और वह अपना प्रयोगात्मक प्रदर्शन भी दिखा सकता है' गांधीजी ने उसको सर्प-विद्या देखने की इच्छा प्रगट की। अतः वह संपेरा साधु एक दिन मगनवाड़ी में बुलाया गया। वह अपने सब सांप तो नहीं, केवल एक सांप लाये। कार्यकारिणी समिति के सदस्यों को गांधीजी की बैठक के सामने संपेरे की यह दूकान देख कर और भी अधिक आश्चर्य हुआ! उस दिन मोची ने अपनी दूकान फैला रखी थी, आज यह सपेरा बैठा हुआ है! मगर जब गांधीजी उस साधु से सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रश्न पूछने लगे, तब तो उनका आश्चर्य मनोरंजन में परिणत हो गया। वह साधु अपने फन में काफी कुशल मालूम हुआ, पर कर्नल सोखे ने जो बातें बतलाई थीं उससे अधिक तो वह नहीं बतला सका। सर्प-विद्या-विषयक अंग्रेजी की एक प्रामाणिक पुस्तक से अनूदित एक मराठी पुस्तक उसके पास थी। दुर्भाग्य से वह मूल पुस्तक आजकल अप्राप्य है। जो सांप उस दिन वह लाया था वह ऐसा ज्यादा जहरीला नहीं था। उसने हमें बतलाया कि इसमें जहर तो है, पर हलका जहर है। उसके लिये तो वह विषधर सर्प एक केंचुए के समान था! और जब वह सपेरा सांप को गांधीजी के गले में लपेटने के लिये आगे बढ़ा, तब तो कार्यकारिणी के सदस्य एक दम स्तंभित और भयभीत से होगये। गांधीजी ने उसे रोका नहीं। उसने सांप उनकी गर्दन में लपेट दिया। गांधीजी के गले में वह सांप की माला देख कर सब लोग कुछ क्षणों के लिए घबरा से गये। कड़ा जी करके सबने वह दृश्य देखा। इसके बाद उस साधु ने सांप का फन खोल कर उसके विषैले दांत और विष की पोटली दिखाई। उसने कहा कि अगर कोई खुशी से सांप से कटवाना चाहे तो मैं उसका जहर फौरन निचोड़ दूंगा। गांधीजी की ज्ञान पिपासा तो कभी शांत होती नहीं, साथ ही वे ऐसे किसी भी नये प्रयोग के लिए हमेशा ही उद्यत रहते हैं, जिसकी सहायता से वे दीन-दुर्बलों की सेवा और भी अच्छी तरह से कर सकें, इस लिए वे खुद ही सर्प से डसवाने के लिये तैयार होगये। पर सबने एक स्वर से इस बात विरोध किया और इससे साधु महाराज की हिम्मत नहीं पड़ी उससे औरों ने कहा कि हम इतने लोग जो यहां खड़े हैं उनमें से किसी एक पर तुम अपनी गारुड़ विद्या आजमा सकते हो। इस पर वह राजी होगया। दो सज्जन तुरन्त तैयार होगये। मगर वह सांप भी पहले नम्बर का सत्याग्रही निकला। कितनी ही कोशिश की, पर उन सज्जनों को वह अपना घातक विषदान देना ही नहीं चाहता था।

'भूल का भोग' के दो दृश्य

राजपूताना फिल्म कम्पनी अजमेर ने पहली फिल्म 'भूल का भोग' तैयार की है। उसी के दो चित्र यहां दिए जाते हैं।

साहित्य-समालोचन

समालोचनार्थं सब पुस्तकों की दो दो प्रति आनी चाहियें। एक पुस्तक आने पर समालोचना न हो सकेगी।

माधुरी—(नव-वर्षा क)—सम्पादक श्री रूपनारायण पाण्डेय और श्री बाँकेबिहारी भटनागर एम० ए०। प्रकाशक — नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ। वार्षिक मूल्य ६॥)।

माधुरी ने हिन्दी संसार में जन्म लेकर हिंदी की पत्रिकाओं में क्रांति कर दी थी, इस में कोई सदेह नहीं। उसने एकाएक हिन्दी पत्रिकाओं का स्टैन्डर्ड ऊँचा कर दिया। पाठकों की रुचि हिन्दी-पत्रिकाओं की ओर बढ़ने का श्रेय वस्तुतः माधुरी को दिया जाना चाहिये। कुछ सालों तक हिन्दी संसार में माधुरी की ही तूती बोलती रही।

बीच में कुछ सालों तक शिथिल रहने के बाद माधुरी के संचालकों ने इसे फिर से नये उत्साह से चलाने का प्रयत्न किया है। यह नव-वर्षा क इसी की सूचना है। लेखों का चयन अच्छा हुआ है। तुलसीदास, डा० गंगानाथ झा, तकराजुका, पुस्तकालयों का प्रचार, अंध विश्वास क्या भारतीय प्रवासी भीरु हैं? आदि अनेक लेख सुन्दर हैं। कहानियाँ भी एक-आध को छोड़ कर सुन्दर हैं। कविताओं के सम्बन्ध में हमें एक बात अवश्य कहनी है। कवित्व और ऊँची कल्पना ही कवि का उद्देश्य न होना चाहिये। मनुष्य को ऊँचे आदर्शों की ओर भी ले जाना उसका कर्तव्य है। आज-कल साकीवाद की एक नयी प्रवृत्ति कवि जगत् में चल पड़ी है। कवि पाठक को एक नये जगत — सुरामय जगत में ले जाते हैं, जहाँ शराब और मस्ती — लाल आँख और मदमस्त चेहरा आदि के सिवा कोई बात ही नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने यह समझ लिया है कि सब पाठक शराब के आनन्द को अनुभव कर चुके हैं। सुरा-पान महापातक है, यह ख्याल कवियों को हमेशा रहना चाहिये। इस लिये उन्हें सुरा के मद की प्रशंसा भी नहीं करनी चाहिये और न शराब के प्याले में दूध या अमृत पिलाने की कोशिश करनी चाहिये। साकीवाद की बढ़ती हुई प्रवृत्ति निंद्य और घातक है। श्री राजकिशोर राज' की 'और पिला' इसी गन्दी प्रवृत्ति की परिचायक है। एक शराबी का चित्रण ऐसी भाषा में अत्यन्त अनुचित है, जो मद्यपान को उत्तेजन दे। श्री हृदयेश भी शराब के प्याले में बहुत-कुछ पिलाना चाहते हैं। क्या उन्हें और कोई प्याला नहीं मिलता। हमारी निश्चित सम्मति है कि साकीवाद की यह प्रवृत्ति बन्द होनी चाहिये।

नव-वर्षा क की छपाई, गैटअप और चित्र अत्यन्त सुन्दर हैं। इसके लिये माधुरी के सम्पादक धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है, हिन्दी के साहित्यिक इसे अवश्य अपनावेंगे।

—कृष्णचन्द्र।

———

तेज का कृष्णांक— यथा पूर्व इस बार भी दैनिक तेज, देहली ने जन्माष्टमी के अवसर पर कृष्णांक प्रकाशित किया है। अंक का रंग रूप सुन्दर तथा गेटअप उत्तम है। दो तिरंगे मनोहर चित्र हैं। एक में भगवान कृष्ण पार्थों पाण्डवों को निराशा छोड़ कर युद्ध के लिये तैयार होने का सन्देश दे रहे हैं। दूसरा महात्माजी का है। देश विदेश के नेताओं, साहित्यिकों तथा उपन्यासकारों के लेख तथा कहानियाँ हैं। कविताओं का अच्छा संग्रह है, लेख भगवान के जीवन पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त सामयिक समस्याओं पर भी रोशनी डालते हैं। पृष्ठ संख्या सौ से अधिक है। मूल्य ।=)

'—पाठक'

———

राजस्थान (बेगार-अंक)—सम्पादक—श्री हरिभाऊ उपाध्याय और ऋषिदत्त मेहता।

यह पत्र ब्यावर (राजपूताना) से प्रकाशित होता है। रियासतों में बेगार की दुष्ट प्रथा आज भी समस्त ब्रिटिश भारत से अधिक जोरों में विद्यमान है। उसे नष्ट करने के लिए ही यह अंक प्रकाशित किया गया है। इसमें बेगार का उद्भव और विभिन्न रियासतों में बेगार की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। श्री गणेशलाल और श्री गोपीकृष्ण के लेख सुन्दर हैं। अन्य भी अनेक लेख अच्छे और पठनीय हैं। आशा है कि रियासती राजा और ठिकानेदार बेगार की दुष्ट प्रथा को नष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

———

उद्‌गार—(गद्य काव्य)—ले० श्रीयुत 'कनक' अग्रवाल। प्रकाशक—भारतीय विद्वत्परिषद् कार्यालय—अजमेर। पृष्ठ संख्या ५६। मूल्य ॥)।

इस छोटी सी पुस्तक में 'कनक' जी ने अपने हृदय के 'उद्‌गार' खोल कर रक्खे हैं। एक युवक और उत्साही युवक की अन्तर्वेदना के दर्शन हमें इन 'उद्‌गारों' में हुये। सचमुच पराधीन माँ को बन्धन-मुक्त करने का जिस मानव हृदय में तनिक भी सनक है, उसे यह 'उद्‌गार' अवश्य पढ़ने चाहिए। यद्यपि पुस्तक की भाषा में कहीं-कहीं कुछ उलझन-सी अवश्य है तथापि शैली सुरुचिपूर्ण होने से खटकती नहीं, फिर लेखक का यह प्रथम प्रयास ही तो है। आशा है भविष्य में वे भाषा को और सुस्पष्ट और परिमार्जित बना सकेंगे। पुस्तक में प्रूफ-संशोधक की असावधानी से शाब्दिक गलतियाँ भी रह गई हैं।

प्राप्ति स्वीकार

यास्कयुग—ले० श्री चमूपति एम ए.। प्रकाशक—मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर। मू० ॥)

भावि विज्ञान व नवरत्न विधान

प्रकाशक—जिनदत्तसूरी ग्रन्थमाला दिल्ली। मूल्य ।=)

—'रमेश'

मारवाड़ के ग्राम गीत—सम्पादक श्री जगदीशसिंह गहलोत। प्रकाशक—हिंदी साहित्य मंदिर—घंटाघर जोधपुर, मूल्य १)

———

रियासती दुनिया

लोहारू का हत्याकांड और उसकी कथा

(ले०—श्री जयनारायण व्यास)

———:o———

लोहारू पंजाब की एक छोटी सी रियासत है। इस का रकबा २२२ वर्ग मोल है और आबादी २३३३८ इस में लोहारू ही एक नगर है जिस की आबादी २१३५ है और बा.ी ७० गांव। इस में ६ प्रतिशत भाग बस्ती हिन्दुओं की है। बाकी मुसलमानों की। हिन्दुओं में आधी बस्ती जाटों की है। लोहारू के उत्तर में हिसार जिला है परिश्चम दक्षिण और पूर्व में बीकानेर, जयपुर और झिंद रियासतें हैं।

लगान का प्रश्न

लोहारू रियासत में लगान वसूली के लिये कोई स्थिर नियम न होने से सन् १९०६ में रियासत का लगान स्थिर किया गया था। लगान स्थिर करने के उत्तरदायी ब्रिटिश सरकार के अफसर हैं जो सारी रियासत का लगान ४८०००) रखना चाहते थे, पर रियासत पर मंझोत नवाब को ५ लाख कर्ज और होने से लगान बढ़ा कर सालाना लगान ७२०००) रखा गया। यह भी तय किया गया कि यही लगान २४ वर्ष तक लिया जाय, पर सन १९२३ में रियासत ने लगान ७२०००) से ९४०००) कर दिया। कहते हैं कुछ लोगों ने इस वृद्धि का विरोध किया पर सुन कौन ? रियासतों में आन्तरिक स्वतन्त्रता जो ठहरी। कहते हैं गागड़वास के हीरा नाम के जाट को इस अपराध में निर्वासित कर दिया गया। और उस की सम्पत्ति भी छीनी गई और बिसलपुर, पागू, सिरसी और गागल के लम्बदारों की लम्बरदारी छीन ली गई। कुछ लोगों को इस सिलसिले में नाजयाज तौर पर हिरासत में भी रखा गया बताया जाता है। कुछ भी हो इस सख्ती से किसान लोग दब गए, पर वे लगातार नवाब साहब के पास जाते आते रहे और लगान कम करने की अर्ज करते रहे। बचारों में ज्यादा लिखा पढ़ी करने की तो शक्ति भी कहां है क्योंकि वहां शिक्षा के लिये तो कोई समुचित व्यवस्था ही नहीं है। सिर्फ एक उर्दू मिडिल स्कूल लुहारू कस्बे में है। दूसरे स्थानों में कोई स्कूल नहीं है और मालूम हुआ है कि न दूसरों को स्कूल खोलने की इजाजत दी जाती है। खैर—

जमीन की मिलकियत

सन् १९०९ में जमीन की मिल्कियत भी किसानों को द दी गई थी और इस का जिक्र भी सरकारी गजेटियर में है पर बाद में नवाब साहब ने इस मिल्कियत पर भी अपना अधिकार जमा लिया। जमा बन्दियों में पुराने खातों के साथ एक नया खाना जोड़ दिया गया जिस में जमीन का असली मालिक नवाब साहब को बताया जाने लगा। भूमि पर अधिकार तथा भूमि कर सम्बन्धी ये कष्ट तथा ऊंट टैक्स ही लोहारू के वर्तमान आन्दोलन के मुख्य कारण हैं। तथा किसानों के और भी छोटे २ कष्ट मिटाने की प्रार्थना करते रहे हैं और अब घोषणा भी हुई है कि अन्य टैक्स नहीं लिए जावेंगे पर आर्थिक स्थिति खराब होने पर भी किसानों से लगान तो १९०६ के बन्दोबस्त के मुआफिक नहीं लिया जा रहा है, न, ऊंट टैक्स ही उठाया या कम किया जा रहा है।

ऊंट टैक्स

यहां थोड़ा जिक्र ऊंट टैक्स का भी कर देना चाहिये। पहिले कहते हैं कि किसानों के ऊंट जंगलों में चरा करते थे और चराई के उपलक्ष में उन से टैक्स लिया जाता था, पर बाद में उन में जंगलों में ऊंटों के चरने की व्यवस्था न होने पर भी टैक्स पक्का हो गया।

दूसरे आरोप

अधिक टैक्स वसूल करने के अतिरिक्त दो और भयंकर आरोप किसानों के अधिकारों के विरुद्ध हैं। एक है विधवाओं के विवाह (करवा) के उपलक्ष में मोटी २ रकमें ले लेना और दूसरा १९३४ पहाड़ी गांव पर कैम्प लगाकर कई बहानों नाजायज तरीको से लोगों से हजारों रुपयों का वसूल किया जाना। ये ही वर्तमान आन्दोलन के मुख्य कारण हैं।

किसानों का संगठन

जिन कष्टो का जिक्र ऊपर किया गया है उन को दूर कराने के उद्देश्य से किसानों ने संगठन शुरू किया। उन में योग्य नेताओं का तो अभाव था। बाहर के जाटों ने उन का नेतृत्व अस्वीकार कर दिया। अतः वे अपने ही ढंगसे पंचायतें करने लगे इसे रियासत के अधिकारियों ने नापसंद किया और एक बार पंचायत को इकट्ठा भी न होने दिया, परन्तु संगठन मजबूत सा बनते देख कर स्टेट ने समझौते की नीति अख्तयार की। किसानों की पंचायतें बुलाई गई और उन में नवाब साहब और उन के रिश्तेदार और अफसर भी थे। पहली पंचायत चेहड़ में हुई जो इस बात पर टूट गई कि वहां किसानों ने स्कूल खुलवाने की शर्त कर दी। फिर म ढोलो, बाहस गांव की ढाणी और बारवास में पंचायतें हुईं। बारवास में नवाब साहिब ने १४ लाग छोड़ दीं पर मुख्य २ मांगें मंजूर न की। वे मांगें ये हैं :—

(१) हासिल १९०६ के बन्दोबस्त के अनुसार हो।

(२) जमीन को बचने का हक किसान को हो

(३) जिन की जमीन बेची गई है उन्हें वापिस दी जाय और रुपये वाले को रुपया दिया जाय।

(४) ऊंटों की जमानत न ली जाय।

इस पंचायत के अवसर पर नवाब साहब ने पंचायत करने के हक को स्वीकारकर लिया और स्कूल के सम्बन्ध में ऐसा कहा सुना जाता है कि स्टेट दूसरों को पाठशालायें खोलने की इजाजत नहीं दे सकती पर खुद खोल देगी और किसानों को चाहिये कि जो पैसा वे शिक्षा में खर्च करना चाहते हैं स्टेट को दे दें ताकि वह जल्दी स्कूल खोल सके। किसानों ने स्टेट की शर्तें नहीं मानी।

१५ जुलाई

अन्त में पन्द्रह जुलाई को एक दरबार हुआ जिस में ए० जी० जी० पंजाब स्टेट्स सभा थे। किसानों को प्रायः वही पुरानी शर्तें मंजूर करने को कहा गया पर उन्होंने स्वीकार नहीं किया और ए०जी०जी साहब को फैसला करने को कहा पर ए० जी० जी साहब ने इन्कार कर दिया और यह कह दिया कि "तुम्हारा फैसला नवाब ही करेंगे।"

आन्दोलन

इस प्रकार अपनी मांगों को ठुकरा दिया जाते देख कर उन्होंने पंचायत को और मजबूत बनाया। चन्दा भी इकट्ठा किया पर इस बात को मुकाबिले की सरकार बता कर और संगठन को बागियों की हरकत बना कर किसानों को मारा पीटा गया और लूटा खसोटा गया जिसके परिणामस्वरूप २२ आदमी तो मर चुके हैं और कितने ही घायल हुए हैं।

———

मारवाड़ राज्य में बेगार

(ले०—श्री गणेशलाल व्यास 'मुग्ध')

राजपूताने के राज्यों में मारवाड़ सब से बड़ा है। एक चौथाई भाग खालसा और बाकी तीन चौथाई जागीर है। खालसा में बेगार लेना कानूनन मना है और जागीर में बेगार लेना स्वयं एक कानून है, परन्तु दोनों भागों में बेगार बराबर ली जाती है। जागीर में जागीरदार और उसके नौकर तो खालसा में हवल्दार दीन किसानों के रोड़ बने रहते हैं।

अट्ठारह रुपये पाने वाले खालसा हवल्दार को इस विषय में अपरिमित अधिकार प्राप्त हैं। हवल्दार के विषय में ऐसी कहावत प्रचलित है 'के हाकिम के हवल्दार, बाकी सब काचो फुजदार।' मारवाड़ राज्य के भूतपूर्व रीजेण्ट महाराजा सर प्रताप कहा करते थे, कि 'हवल्दारी तो लाट साहब भी करना चाहेगा।'

फिर भी खालसे की प्रजा से जागीरी प्रजा की अपेक्षा कम बेगार ली जाती है। जोधपुर नरेश के दौरे पर तो अब बिल्कुल बेगार नहीं ली जाती। दौरे में जो कार्य जिस से लिया जाता है, उसकी पर्याप्त मजदूरी उसे दे दी जाती है। परन्तु जिलाधीशों और ब्रिटिश अधिकारियों के दौरों पर तो क्या जागीर और क्या खालसा दोनों भागों की जनता पर तबाही आ जाती है लाट साहब के दौरे के समय रलवे लाइन के आस-पास खम्भों पर मसाल लेकर ग्रामीणों को रात रात भर खड़ा होना तो अब देश भर में प्रसिद्ध हो ही चुका है। अस्तु।

नीचे हम पाठकों की सेवा में जोधपुर (मारवाड़) राज्य में ली जाने वाली बेगार का संक्षिप्त वर्णन करते हैं।

खालसा मे

खालसा से अर्थ उस भू-भाग से है, जिस पर राज्य का अपना अधिकार होता है। खालसे में स्वर्गीय महाराजा श्री सुमेरसिंह जी साहब के समय से बेगार निषेध की आज्ञा प्रकाशित हो चुकी है। परन्तु इस आज्ञा का पालन स्वयम् जोधपुर नरेश के दौरे के अतिरिक्त कभी नहीं होता। खालसे में ली जाने वाली बेगार का ब्योरा जातिवार नीचे दिया जा रहा है। बेगार का उपयोग स्थायी तौर पर गांव का हवल्दार अथवा कणवारिया करता है, पर दौरे के समय प्रत्येक राज्य कर्मचारी करता है।

भांबी (चर्मकार)

इस जाति का एक व्यक्ति हर समय गांव के हवल्दार (पटवारी) अथवा कणवारिये (प्यादा) की सेवा में रहता है। तरकारी लाना, आसामी बुलाना, उगाई में फिरना गांव से जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसे लाना—इस का काम है इस जाति के बाकी लोग एक गांव से दूसरे गांव बोझा पहुंचाते हैं। पशुओं के लिये जंगल खेतों अथवा बेरों पर से चारा भी लाते हैं। जिस गांव में भील न हों पत्र वाहक का काम इन्हीं से लिया जाता है, लकड़ी चीरना, सरकारी कच्चे मकानों को वर्षा में दीवार लीपने के लिये भी यही पकड़े जाते हैं। इस सारे काम के लिये इन्हें कुछ भी नहीं दिया जाता।

नाई

हजामत करना, चौका लगाना, जहां धोबी न हो वहां सब कपड़े धोना, गरम जल करना और स्नान करवाना, झाड़ू लगाना, बिस्तरे बिछाना, चिराग जलाना, मालिश करना और यदि हवल्दार साहब चाहें तो सोते समय पांव दबाना—इतना काम करना लाजिमी है। औरतें जनाने में सर गूंथने का और कहीं कहीं मसाला पीसने का कार्य करती हैं।

कुम्हार

आवश्यकतानुसार मिट्टी के बर्तन मुफ्त देना और पानी भरना इनका काम है।

माली

इन्हें आवश्यकतानुसार तरकारी मुफ्त देनी पड़ती है।

सरगरा

घोड़ों की नौकरी करना, गांव के बाहर परन्तु सीमा के भीतर से आसामी बुलाने का काम इनके जिम्मे पड़ा है।

भील

पत्र ले जाने और निकटतम कस्बे या शहर से सामान लाने का काम भील करते हैं। सरकारी रकम की और कहीं २ गांव की चौकीदारी भी यही करते हैं।

दर्जी

कपड़ों की मरम्मत बेगार में करते हैं।

महाजन

अफसरों के दौरे के समय बरतन, बिस्तर और चारपाई इन्हें देनी पड़ती हैं।

साधारण कृषक

बारी २ से सवारी के लिये गाड़ी देना, ईंधन की गाड़ियां लाना, यदा कदा दूध और दही देना और जहां महाजन न हो वहां चारपाई, बिस्तरे और बर्तन देना—यह इन पर स्थाई बेगार है। इनकी औरतों को नाज पीस कर भी बेगार में देना पड़ता है। राज्य के एक भाव में गांव में आए हुये हवलदार को बारी २ सीधा (आटा) भी इन्हीं को देना पड़ता है। अस्थायी बेगार में बड़े २ राज्य कर्मचारियों और ब्रिटिश अधिकारियों के शिकार आदि के दौरों पर इन्हें रस्ता काट कर उसे मोटरों के उपयुक्त बनाना पड़ता है और श्रीमान लाट साहब के आगमन के समय मसालें लेकर रात २ भर रेलवे लाइन के आसपास के तार के खम्भों पर भी कभी २ खड़ा होना पड़ता है।

जागीरी मे

जागीरी प्रजा की बेगार की कष्ट कहानी हृदय को दहला देने वाली एक भयानक यन्त्रणा है। संक्षेप में इतना कह देना पर्याप्त है कि प्रत्येक गृहस्थी का एक व्यक्ति इस पैशाचिक प्रथा की भेंट चढ़ा हुआ है। जातिवार बेगार का ब्योरा नीचे दिया जाता है। बेगार का उपभोग, जहां जागीरदार का निवास-स्थान होता है वहां वह स्वयं और उसके वे नौकर, जो उस गांव के निवासी न हों, करते हैं और बाकी पट्टे के गांवों में कर्मचारी बेगार लेते हैं।

भांबी

इस जाति का एक व्यक्ति खालसे की तरह यहां भी स्थायी सेवा में रहता है और खालसे के अनुसार ही बेगार भी देता है। खालसे में ली जाने वाली बेगार से अधिक घास की बागर लगाना, तहखानों में पड़े हुये नाज को बाहर निकाल कर सहलाना और धूप दिखाना, ठिकाने के तमाम चमड़े के सामान (घोड़ों के साज इत्यादि) की मरम्मत करना, घोड़ों का चाम दलना, पेटिया बर्दार नौकरों के जूते बनाना और उनकी मरम्मत करना इत्यादि काम करने पड़ते हैं।

कुम्हार

इन का एक न एक घर हर समय ठिकाने की नौकरी में रहता है। खालसे में ली जाने वाली बेगार से अधिक इन्हें मकानों की मरम्मत के लिये ईंटे मुफ्त देनी पड़ती हैं।

दर्जी

कहीं-कहीं सप्ताह में एक दिन परन्तु साधारणतया एक पक्ष में १ दिन इन को मुफ्त काम करना पड़ता है।

धोबी

ठिकाने के और बाहर के (जो गांव के निवासी न हों) नौकरों के कपड़े धोने का काम इन पर लादा गया है।

सुथार (बढ़ई)

ठिकाने के तमाम लकड़ी के साजो-सामान की मरम्मत का काम इन से लिया जाता है।

सरगरा

इस कौम के एक व्यक्ति को छोटे ठिकानों में और बड़े २ ठिकानों में आवश्यकतानुसार व्यक्तियों को चौबीसों घण्टे तबले (stables) में सईस हो कर अथवा सईसों (जहां पर हों) की सहायता में रहना पड़ता है। संख्या और आवश्यकता को ध्यान में रख कर बारी बांध दी जाती है।

ढोली (डोम)

इन की औरतों को जनाने सरदारों की यात्रा के समय रथों इत्यादि के पीछे पैदल मीलों गाते हुए जाना पड़ता है। पुरुषों को कहीं-कहीं पत्र-वाहक का कार्य भी करना पड़ता है।

महाजन

कहीं २ इनकी औरतें कच्चे सरकारी मकानों को बेगार में लीपा करती हैं।

साधारण कृषक

खालसे में जो बेगार ली जाती है वह इनसे ली जाने वाली बेगार के आगे कुछ नहीं के बराबर है। मामूली यात्रा के लिये इनकी गाड़ियां कई दिनों तक के लिये पकड़ ली जाती हैं। चलते अरठ और हल से जोड़ियां खुलवा लेना साधारण सी बात है। बरातों में, जनानों में, मौसरों में इनकी बैल की जोड़ियां एक २ मास तक के लिये बेगार में पकड़ कर खेतियां उजाड़ दी जाती हैं। घोड़ों और जानवरों के लिये हरा घास और रिजका (Lotion) बोना और पिलाना उसको काटना तरकारी मुफ्त में देना—मौसरों पर दूध देना सब इन्हीं को करना पड़ता है। संक्षेप में जो भी कार्य अन्य बेगारियों से नहीं लिया जा सकता किसानों को करना पड़ता है।

पिंजारे

इन्हें अपने पेशे का कार्य मुफ्त करना पड़ता है।

('राजस्थान' से)

इटली अबीसीनिया की समस्या

(लेखक :— श्री महाव्रत विद्यालंकार)

१९२८ में इटली और अबीसीनिया के बीच मित्रता की एक सन्धि हुई थी। इस की घोषणा सीनियोर मुसोलिनी की फासिस्ट सरकार ने ही निम्न प्रकार की थी :—

"अब विशेषतः, सम्राट रास-तिफारी की यात्रा के बाद इटली और अबीसीनिया के बीच सम्बन्ध घनिष्ट मित्रता के हो गये हैं। अन्य स्वार्थों (राष्ट्रों) के एजेंटों की कृपा से अबीसीनिया के साथ सम्बन्ध पर जो काले बादल छा गये थे, तितर बितर हो चुके हैं। मित्रता की यह सन्धि—जो अबीसिनिया की और किसी योरोपियन राष्ट्र के साथ की है, सब से प्रथम है, और अधिकांश सम्भावनाओं में यह इस नवीन मैत्रीसम्बन्ध को और भी पवित्र बना देगी"

परन्तु योरोपियन राष्ट्रों के साथ मैत्री सम्बन्ध जिस की पवित्रता (?) की इतनी दुहाई पीटी गई थी, उन के स्वार्थों के ऊपर निर्भर करता है। योरोपियन देशों में कभी मैत्री सम्बन्ध की पवित्रता को निभाया जाना ही नहीं। इतिहास प्रचुरता के साथ इस की पुष्टि में उदाहरण पेश करता है और वर्तमान इतिहास अब भी कर रहा है।

विगत महासमरके पूर्व अमेरिका के संयुक्त राष्ट्रों में जहां लाखों इटालियन (जो अधिकांश वहां डाके, चोरी, और उचक्कपन से आजीविका कमाते हैं) आया करते थे, वे अमरिका के नवीन इमिग्रेशन कानून द्वारा रुक गये। उस समय इटली के राजनीतिज्ञों को चुप होना पड़ा, क्योंकि इटली दुर्बल था। शनैः २ इटली को बढ़ती जनसंख्या के दबाव से अनुभव होने लगा कि लीबिया इत्यादि इटैलियन उपनिवेशों में चार लाख से अधिक आबादी नहीं बसाई जा सकती। अतः नये देशों की प्रदेशों की ढूंढ़ शुरू हुई जहां लैटिनभाषी जनसंख्या बसाई जा सके। इस आपत्ति को विश्वव्यापी संकट के काल में सब देशों की ओर से एक दूसरे के व्यापार के विरुद्ध टैरिफ वाल (दीवार) खड़ी हो जाने से और उत्तेजना मिला। इटली को ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह अपनी सीमाओं में भिंचा जा रहा है। अतः १९२६ में सीनियोर ग्रान्डी के विदेश-सचिवत्व में इस कष्ट का प्रकाशन निम्न शब्दों में किया गया :कि—

"यदि शनैः २ नवीन परिस्थिति और नवीन राजनैतिक आवश्यकताओं की स्वीकृति का मौका उपस्थित हो, तो हम इटेलियन उपनिवेश सम्बन्धी समस्या की उपेक्षा नहीं कर सकते।'

अभिप्राय यह कि, औपनिवेशिक वृद्धि की आवश्यकता अनुभव होने लगी। और उस के लिये निर्बल जातियों को हथियाने की चालें चली जाने लगी। इटली को अपने आस पास अबीसीनिया ही ऐसा प्रदेश मिला, जिस पर अधिकार कायम करने से उस की जनवृद्धि व्यापार, व्यवसाय, इत्यादि समस्याओं का हल हो सकता था।

फलतः सभ्यता शिक्षा के मिशनरियों की प्रच्छन्न, स्वार्थपूर्ण परिभाषाओं और वाक्य-रचनाओं का आश्रय लिया गया—जिनका आश्रय इंगलैंड जर्मनी, फ्रांस इत्यादि साम्राज्यवादी देश करते आये थे, और जापान आज भी कर रहा है। अतः सीनियोर मुसोलिनी ने त्रैमासिक फासिस्ट अमेम्बली (१९३४) में इटली के अफ्रीका और एशिया में 'ऐतिहासिक-कर्तव्य' को बताते हुये कहा कि—

'इस, सदियों पुराने कर्तव्य के विषय में किसी प्रकार का भ्रम नहीं रहना चाहिये, जो मैं इटली की वर्तमान और भावी सन्तति को सौंप रहा हूं। सब समीप और दूरवर्ती को समझ लेना चाहिए कि इस में देश विजय का कोई प्रश्न नहीं। यह तो प्राकृतिक प्रसार का प्रश्न है जिस का परिणाम इटली और अफ्रीका के निवासियों तथा इटली और मध्य एशिया के देशों के बीच सहयोग होगा।'

यह सहयोग (?) वैसा ही होगा जैसा अंग्रेज और भारतवासियों के बीच है—अथवा गोला बारूद हवाई जहाजों की मदद से चीन और जापान के बीच अथवा अन्य किसी भी साम्राज्यवादी राष्ट्र और अधिकृत जाति के बीच है।

अपने प्रतियोगी साम्राज्यवादी देशों के विरोध की आशंका करते हुए मुसोलिनी ने आगे बढ़ कर कहा कि—

"हम किसी प्रकार का लोभ (?) या मोनोपोली नहीं मांगते। (और इटली क्या चाहता है) परन्तु उनसे जिनके पास पर्याप्त है, जो सन्तुष्ट हैं, और जो अपने अधिकृत उपनिवेशों की रक्षा करना चाहते हैं इतना ही मांगते हैं और चाहते हैं कि वे फासिस्ट इटली के आध्यात्मिक (?) राजनैतिक और आर्थिक प्रसार में चारों ओर से रोड़े अटकाने का कष्ट न करें।"

इसी आध्यात्मिक प्रसार के लिए इटली गरीब अबीसीनिया पर सवार होना चाहता है। यह मुसोलिनी की नीयत संसार के सन्मुख स्पष्ट है।

मुसोलिनी की साम्राज्यवादी वृद्धि की स्पष्टता का प्रकाशन 'इको डे पेरी' नामक पत्र ने मि० दे किरली और मुसोलिनी के बीच हुए वार्तालाप में निम्न प्रकार किया। मि० दे किरिली ने कहा कि—आप (अबीसीनिया के) उच्च भूमि और निर्जन प्रदेशों को चाहते हैं जहां इटालियन अपना घर बना सकें काश्त कर सकें, अपनी रोटी कमा सकें और स्वदेश का झंडा गाड़ सकें।'

मुसोलिनी ने उत्तर दिया कि—"मैं इटली के बारे में उसी प्रकार सोचता हूं जैसा कि बड़े अंग्रेज जिन्होंने विशाल ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माण किया है, ब्रिटिश साम्राज्य के लिए सोचते हैं, जैसा बड़े २ फ्रेंच औपनिवेशक उनके बारे में सोचते हैं। मैं समझता हूं कि मैंने आपको उत्तर दे दिया।

इससे स्पष्ट उत्तर राजनैतिक क्षेत्र में मांगना अनुचित होगा।

मुसोलिनी की यह साम्राज्यवादी वृद्धि की महत्वाकांक्षा का आवेश विध्वंसक महायुद्ध के पूर्ववर्ती कारणों की विद्यमानता में—उमड़ रहा है जब कि प्रत्येक राष्ट्र बेकारी, व्यावसायिक मन्दता तथा आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय गड़बड़ों से तंग आकर गुप्त रूप में वर्तमान नवीन से नवीन वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों से सज्जित हो रहा है। १९१४-१९१८ के उन्मत्त रण नृत्य के बाद आज इटली योरोप के बारूदखाने में पलीता लगाने की चेष्टा पर तुला हुआ है। इसी सम्भावना को दृष्टि में रखते हुवे ब्रिटिश कन्जरवेटिव पार्टी के नरम पक्ष के 'मोर्निंग पोस्ट" ने इटली को चेतावनी दी है कि—

'यदि हम शान्तिस्थापन के इतने उत्सुक हैं तो यह इस लिए नहीं कि हम इटली के न्याय-सम्मत अभिलाषाओं को रोकना चाहते हैं, परन्तु इस लिए क्योंकि हम अफ्रीका पर इस आक्रमण में अपने तथा योरोप के लिये भयंकर खतरा देख रहा है। किसी भी योरोपियन शक्ति द्वारा छेड़ा गया युद्ध चाहे वह अफ्रीका के सुदूरवर्ती कोने में क्यों न हो, अपनी आवश्यक प्रतिक्रिया बिना नहीं रह सकता। इसका अनिवार्य परिणाम एक या अनेक शक्तियों के बीच सम्बन्धों में तनाजनी होगा। योरोप में पहिले ही बहुत सा विस्फोटक मसाला विद्यमान है। सीनीयोर मुसोलिनी ऐसा खतरा उठा रहे हैं, जिस के परिणाम व उनके अपने देश तथा योरोप की शान्ति के बारे में कोई अन्दाजा नहीं लगा सकता।

लार्ड स्नोडन की इस भविष्य-वाणी में भी ब्रिटिश औपनिवेशिक अधिकार के प्रश्न पर गम्भीर खतरा पैदा हो जायगा इस स्थिति में भावी विश्व व्यापी युद्ध के सब कारण विद्यमान हैं काफी सचाई है।

अब तक राष्ट्र संघ की लम्बी बैठकों तथा पेरिस के वार्तालापों में 'शान्ति और समझौते' का जो थोथा अभिनय हुआ है, उस में राष्ट्र संघ की प्रतिष्ठा रत्ती भर भी नहीं बढ़ी। ब्रिटेन और इटली के बीच १९२५ की गुप्त सन्धि (जिस से ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इन्कार कर रहे हैं) यह स्पष्ट है कि निर्बल-कृष्णकाय जातियों को इस में किसी प्रकार की आशा नहीं। यह गोरी शक्तियों का संघ है। यह विश्व शान्ति स्थापन में सहायक की अपेक्षा एक घातक संघ है एशिया के देशों का इन कारणों से साम्राज्यवादी गुट्ट या राष्ट्र-संघ में अविश्वास तो अत्यन्त स्वाभाविक है।

यद्यपि अबीसीनिया और उसके सम्राट ने प्रारम्भ से अन्त तक शान्ति और समझौते के लिए प्रयत्न किया है, परन्तु राष्ट्र संघ की लम्बी-लम्बी बैठकों द्वारा सिर्फ इटली को इरीट्रिया और सोमालीलैण्ड में फौज और शस्त्र भेजने का अवसर दिया जा रहा है क्यों कि सम्भवतः राष्ट्र संघ कुछ दिनों बाद इटलियन सैन्य शस्त्र और जहाजों को स्वेज नहर से रोक कर अपनी नाक बचाना चाहता है। इटली की तयारी और काली कमजोरों के खून के उबाल को देख, लड़ाई अनिवार्य दिख रही है।

एक निर्बल अफ्रीकन-जाति की स्वतन्त्रता के अपहरण का यह भीषण कृत्य राष्ट्र संघ के देखते २ होने वाला है। (शेष पृष्ठ २६ पर)

व्यापार-डायरेक्टरी

आवश्यक वस्तुयें निम्न पते से खरीदिये—

हैजा का अचूक इलाज

विश्वसुधा

है

मूल्य १) प्रति शीशी

विश्वसुधा कार्यालय,
नया बाजार, देहली।

आग बुझाने का

पम्प

यह पम्प तुरन्त की लगी हुई आग को तुरन्त ही बुझा देता है

मूल्य ४०)

बाली कम्पनी

चांदन चौक,
देहली।

जापान की हजारों चीजों के लिए एजेंट चाहियें, सब तरह की काम में आने वाली वस्तुओं के नाम व पते इसमें खुलासेवार लिखे हैं।

दूसरा १९३५ संस्करण **जापान** देश व विदेशों में डायरक्टरी ख्याति प्राप्त

मूल्य सिर्फ १) पोस्टेज जुदा, आज ही हमें लिखिये:—

मैनेजर—सिन्हा एंड संस, (८) सिन्हा बिल्डिंग, इंदौर सी० आई०।

बांझ स्त्रियों के पुत्र होंगा

बांझ स्त्रियां सब तरह के इलाज और हजारों रुपये खर्च करने पर भी निराश हो चुकी हैं वह हमारी अचूक दवा जो बांझ स्त्रियों को रामबाण के समान है एक या दो माह के खाने से अवश्य गर्भवती होकर पुत्र का सुख पावेंगी। अधिक प्रशंसा वृथा है। परीक्षा कीजिये। एक माह की दवा की कीमत ५॥) डाक खर्च। हेरिस ब्रादर्स, कानूनगोयान स्ट्रीट, अलीगढ़।

१) प्रतिवार

नया आविष्कार सौन्दर्य सुधा

अर्थात् ब्यूटी क्रीम सिर्फ एक शीशी इस्तेमाल करने से आश्चर्यजनक लाभ। कोई धोका नहीं जंगली जड़ी बूटी का असर सौन्दर्य की खान मूल्य सिर्फ २) छोटी शीशी १)

पता—एल० के० गोस्वामी
व्यास घेरा वृन्दावन

३) प्रतिवार

५) प्रति वार

दांतों के सर्व रोगों के लिये

दन्त सुधा मंजन

प्रयोग में लाइये

विश्वसुधा कार्यालय नया बाजार, देहली।

भृगु संहिता

(योगसागर फलित खंड भाषा टीका)

संवत् ११२० से २००० तक संसार भर की जन्म कुण्डलियों का भूत, भविष्य वर्तमान तीन जन्म का हाल ज्ञात होगा। फल सुनकर लोग कहते हैं कर्णपिसाचिनी सिद्ध है। चार मास के लिये रियायती मूल्य ३), पो० ।।) फिर सौ रुपये को भी न मिलेगी, पुस्तकें थोड़ी ही हैं।

भृगु संहिता कुन्डली खण्ड

(भाषा टीका उदाहरण सहित)

सम्वत् १६०० से २००० तक की पृथ्वी भर के मनुष्यों की कुंडली मिलेंगी। नए जन्मपत्री बना लो कई उपयोगी सारिणी हैं। मूल्य २) पो० ।।) चार मास तक। फिर सौ रुपये को भी न मिलेगी।

पता—
ज्योतिषरत्न, पं० अयोध्याप्रसाद मिश्र
JHANSI झांसी नं० २१

५)
प्रतिवार

व्यापार-संसार

भारत और बरमा का व्यापारिक समझौता

प्रतिबन्ध न लगेगा

भारत-सरकार की विज्ञप्ति

——:o——

बर्मा क पृथक होजान के बाद जो व्यापारिक समझौता भारत-सरकार,और बरमा सरकार के बीच में आयद होगा वह प्रकाशित होगया ।

आर्टिकल ३, ४ और १० के अनुसार कुछ खास माल पर भारत से बरमा में आन जाने पर किसी प्रकार की चुगी नहीं लगेगी। धारा ६ के अनुसार बरमा के पृथक्करण क बाद अमल में आन वाले आयात कर के नियम दोना देशो क आयात माल पर इस आर्टिकल की प्रथम उपधारा क अनुसार लागू होगे । दूसरे देश से आन वाले माल पर दोनो देश परस्पर समझोता करके चुगी घटा भी सकते हैं । दूसरी उपधारा के अनुसार इंण्डियन टैरिफ ऐक्ट तथा सी कस्टम्स ऐक्ट क अधीन मिले हुये अधिकारो का प्रयोग करके भारत का गवरनर जनरल तथा बर्मा का गवर्नर बिना किसी समझौता या स्वीकृति क भी चुगी कम कर सकते हैं। परन्तु उन विशेष अधिकारों का प्रयोग वर्तमान में वे नहीं करेंग। जहां खास देश के आयात का प्रश्न होगा या उपधारा ३ में बताये हुये खास प्रकार के माल पर विशेष प्रयोजनवश कुछ समय के लिये रियायत करन की जरूरत पड जायगी, उस अवस्था में दोनो में से कोई देश भी दो मास का नोटिस दे कर दूसरे देश में न पैदा होन वाले माल पर चुगी घटा सकेगा तथा दूसरा देश उस का अनुकरण कर सकेगा ।

धारा १२ क अनुसार यदि भारतवर्ष, वर्तमान इण्डो जापानीज ट्रेड एग्रीमंट, जिसके अनुसार जापान का कपडा भारत में निश्चित परिमाण में ही आ सकता है, की तिथि बीत जान पर भी फिर से ब्रिटिश भारत में जापानी कपड़े के आयात को सीमित कर दे तो बरमा, जब तक उसका भारत के साथ समझौता चालू रहेगा, अपन देश में ऐसे माल के आयात का परिमाण निश्चत करके १९३४-३५ में आये माल से अधिक पर रोक लगा सकता है।

धारा ७ क अनुसार भारत में तैयार हुआ जो माल चाय, रुई और लाख बिना चुगी के बरमा आ सकता है, उपधारा ३ क आधीन वही माल पुर्ननिर्यात पर चुगी स नहीं बच सकता। दोनो देशो के बीच में एक दूसरे देश में जा बसनके सबन्ध में जो समझौता हुआ है, वह भी प्रकाशित हो गया है । उस क अनुसार बरमा का भारत में तथा भारतीय का बरमी में प्रवेश निषिद्ध नहीं होगा। परन्तु बरमा का गवर्नर और भारत का गवर्नर जनरल अपन अधिकार स इस नियम का उल्लंघन कर सकता है ।

बम्बई का सिक्यूरिटी बाजार

१३ सितम्बर क बाद वायदे क सौदे न हो सकेंगे

बम्बई के बाजारों में इटली अबीसीनिया के युद्ध की अफवाहें उडा २ कर कुछ लोग सनसनी पैदा कर रहे थे और कृत्रिम तौर पर कीमतो में चढा-उतारी कर रहे थे अतः स्टाफ एक्सचेंज क डायरक्टरों क बोर्ड न सिक्यूरिटी क बाजार में १३ सितम्बर के बाद वायदे क सब सौदों को रोक दिया, उसके बाद केवल तैयार सौदे हो सकगे । सरकारी कागज़ के खरीदारों न इस व्यवस्था का स्वागत किया है ।

यदि शेयर बाजार में भी उक्त स्थिति हो गई तो बोर्ड उसक लिये भी ऐसी पाबन्दियां लगा देगा। चांदी के बाजार पर पाबन्दी हट जाने स चांदी की कीमत का रुख तेजी की ओर था ।

पंजाब की खड़ी फसलें

कपास, तिल और ईख की हालत

(सूचना विभाग द्वारा प्राप्त)

सन् ३४-३३ से पहले ५ साल क अन्दर पंजाब क जितने भूभाग पर कपास बोई जाती था—वह ब्रिटिश भारत के उस रकबे का ९ फी सदी था जिस पर कपास बोई जाती थी। जनवरी मास में प्रांत के प्रायः सभी भागों में हलकी स लेकर औसत दर्जे तक की वर्षा हुई । फरवरी में वर्षा आम तोर पर औसत स अधिक थी, मार्च में फिर हलकी हुई, अप्रेल में हलकी स लगा कर औसत तक मई और जून में हलके स छींटे ही पडे—जुलाई में मौसमी हवाओं का जोर रहा और प्रांत के अधिकांश भाग में काफी वर्षा हुई । इस तरह कपास होन क लिए मौसमी हालात अनुकूल थे । नहरों में पानी काफी था। पंजाब क अंग्रेजी इलाके में २३,७९,८०० एकड पर कपास बोई गई। इसमें ८०० एकड बढ़ा कर शामिल किया गया है । यह रकबा गत साल क असल रकबे से १ प्रतिशत अधिक और गत वर्ष क पहले तखमीन से ११ प्रतिशत अधिक है। पता लगा है कि ४,३२,५०० एकड पर देशी और ८,४७,३०० एकड़ पर अमरिकन कपास बोई गयी है । इस साल पिछले साल की अपेक्षा अधिक कपास बोए जाने क २ कारण हैं—एक यह कि बीज डालन क समय मौसम अनुकूल था और दूसरा यह कि पिछले साल कपास का भाव अच्छा रहा विशेष वृद्धि मुलतान, हिसार, अमृतसर, शेखूपुरा, शाहपुर, जालन्धर और गुजरांवाला में हुई । जुलाई की वर्षा स खड़ी फसलों को लाभ पहुचा। जिन २ रियासतों स समाचार आये है वहां ४,२७,७०० एकड़ पर कपास बोई गई है । यह रकबा पिछले साल के आखिरी तखमीन से २० प्रतिशत कम है । और पहले तखमीन स ४६ प्रतिशत अधिक है । समाचार है कि फसलों की हालत औसत स लेकर उम्दा तक है।

गन्ने की फसल

सन ३३-३४ स पहिले ५ साल में पंजाब में जिस रकबे पर ईख बोया गया वह ब्रिटिश भारत क उस रकबे का १४.३० प्रतिशत था जिस पर ईख बोया गया अनुमान है कि ४६४००० एकड पर ईख बोया गया । यह तखमीना पिछले साल क असल रकबे क बराबर और पिछले साल क पहले तखमीन स २ प्रतिशत कम है। करनाल में २० शेखपुरा में १९, लायलपुर में ४ और गुजरांवाला में ४ प्रतिशत वृद्धि और गुजरात में १० अम्बाला में ७ जालन्धर में ७ और अमृतसर में ५ प्रतिशत कमी रही। जुलाई की वर्षा स खड़ी फसलों को लाभ पहुचा। गुजरांवाला में कीड़ के कारण हानि पहुची।

अर्जेन्टाइन में गेहू

पंजाब क कृषि विभाग क डाइरक्टर को रोम (इटली) के अन्तर्राष्ट्रीय कृषि संघ क महामन्त्री न तार द्वारा सूचना दी है कि इस साल अर्जेन्टाइन में पिछले साल की अपेक्षा गेहू कम बोई गई है। फसल की आम हालत औसत दर्जे की है

तिल की फसल

सन ३३—३४ को समाप्त हुए ५ साल स पंजाब में जितने भूभाग पर तिल बोया गया वह कुल ब्रिटिश भारत क उस भूभाग का १० फीसदी था जिस पर तिल बोये गए। कुछ जिलों में बीज डालने क समय वर्षा की कमी रही। जुलाई क आखीर तक ९९५०० एकड़ पर तिल बोया जा चुका था यह तखमीना पिछले साल क असल रकबे से ८ प्रतिशत कम और पिछले साल क पहले तखमीन से ११ प्रतिशत अधिक है। कुछ जिलों में अभी तक बीज पड रहा है। सम्भव है अगले तखमीन तक कुछ और वृद्धि हो फसल की हालत ९६ प्रतिशत है। तमाम बड़े बड़े जिलों स बीज अपने समय पर पड़ा।

करांची से गेहूं का निर्यात

समुद्र तट सम्बन्धी व्यापार में जहाजी कम्पनियों की प्रति स्पर्धा क कारण १॥ लाख बोरी गेहू करांची से कलकत्ते की ओर रवाना हुआ। यदि किराया कुछ और कम हुये तो गेहू क और भी निर्यात की सम्भावना है।

सप्ताह का फल

राशि-क्रम से

(ले०—श्री संकर्षण व्यास)

ता० २ से ८ सितम्बर तक

मेष

प्रकृति खराब रहेगी, प्रायः आम के दस्तों की शिकायत होना सम्भव है। आमदनी अच्छी होगी, ता० २-३ खराब हैं। भागीदार से सम्बन्ध रखना ठीक नहीं। काली तथा पीली वस्तु के व्यापार से लाभ हो सकेगा। अर्श और पथरी रोग वाला को विशेष कष्ट रहना सम्भव है। तिल्ली अलसी के व्यापारी फायदा उठायेंगे।

वृष

पत्नी और बाल बच्चों की तरफ से चिन्ता रहेगी। भाई बन्धु और भागीदार तकलीफ देंगे, ता० ५-६ अधिक चिन्ता की बीतेगी। शत्रुवर्ग अधिक बढ़ेगा, राजकारणों में यश मिलने की आशा छूट जायगी, लाल, काली वस्तु के व्यापार में लाभ हो सकता है। इंजीनियर कारखानेदार, मजदूरवर्ग के लोगों को मशीनरी से दूर रहना चाहिये। वकील, डाक्टर के लिए सप्ताह अच्छा है।

मिथुन

भागीदार की तरफ से असन्तोष रहेगा, आमदनी अच्छी होगी। व्यापार में बचत की गुंजाइश है, बाल बच्चों की तरफ से बेचैनी रहेगी। शत्रुवर्ग पर जीत होगी, राजकारणों में मय के साथ यश मिलेगा, लिखने का व्यवसाय करने वाले क्लर्क और आश्रय जाति के लोग अधिक कष्ट भोगेंगे। नौकरी के यत्न में रहने से आशा बन्ध जायगी।

कर्क

आमदनी अच्छी होगी, व्यापार में मन लगेगा, कबाड़ी धन्धों में नहीं पड़ना चाहिये। भागीदारी में व्यापार करने में विशेष लाभ होगा। आपस के झगड़ों से बचना चाहिये। मकान, जायदाद बनवाने में विशेष खर्च होगा। राजकारणों में सफलता होगी, ठेकेदारी तथा थोक के व्यवसाय करने वाले पैसा जोड़ेंगे, फुटकर धन्धे वालों को नुकसान पहुंचेगा।

सिंह

पत्नी और बाल बच्चों की तरफ से चिन्ता रहेगी। आमदनी साधारण रहेगी। बहुत श्रम पर थोड़ा लाभ होगा। मजदूर पेशे वाले सुखी रहेंगे, लकड़ी, कोयला के व्यापारी कुछ फायदे में रहेंगे। सट्टे में पड़ना ठीक नहीं, दूसरे के साथ हिस्सा रख कर व्यापार कर सकते हैं। जायदादी झगड़ों से नुकसान हो सकता है। राजकारणों में सफलता की आशा रहेगी।

कन्या

प्रकृति अच्छी रहेगी, शत्रुवर्ग पर जीत होगी लोगों में विश्वास रहेगा। काम काज में मन लगेगा। कर्जदारी कुछ हलकी होगी। खर्च के धन्धे बहुत बढ़ेंगे। डाक्टर वैद्य, हकीमों में अधिक खर्च होगा। राज-कार्यों में यश मिलेगा। सट्टे के व्यापार में लाभ हो सकेगा किंतु तेजी में रहना चाहिये, भागीदारी में व्यापार रखना ठीक नहीं। ठेकेदारी और फुटकर धन्धे तथा दलाली में लाभ हो सकेगा।

तुला

प्रकृति अच्छी रहेगी, काम बहुत मिलेंगे परन्तु बगार के पैसे के लिये दूसरों का मुंह देखना पड़ेगा, रिश्तेदारों से झगड़े होंगे, कर्जदारी हरदम मनमें चिंता बढ़ायगी। छोटे दर्जे के लोग सुखी रहेंगे, भागीदारों में काम करने से घाटा लग सकता है, राज कारणों में सफलता की आशा कम रहेगी। वकीलों के पंजे में फंसना ठीक नहीं। फैशन का खर्च विशेष बढ़ जायगा सट्टे में कुछ आमदनी हो सकेगी।

वृश्चिक

मन में अस्थिरता रहेगी। काम काज में दिल कम लगेगा, पत्नी और बच्चों को तकलीफ रहेगी। कर्जदार सतायेंगे। बहुत श्रम का अच्छा लाभ होगा, सप्ताह के पिछले तीन रोज ठीक हैं, आग, मशीन और सवारी से बचना चाहिये, सिर दर्द की शिकायत रहेगी, ठेकेदारी तथा दलाली और भागीदारी के धन्धों में लाभ हो सकेगा, सट्टे से दूर रहना चाहिये, राज-कारणों में मान मिलेगा, सप्ताह मध्यम है।

धन

आमदनी अच्छी होगी, नवीन २ व्यापारियों से परिचय होगा, इष्ट मित्रों की सहायता मिलेगी, यह सब सौख्य होते हुए भी खर्च को औसत आमदनी से बढ़ कर रहेगी, मन में सन्तोष नहीं रहेगा राज कारणों में सफलता मिलेगी, कारखाने वालों को मजदूर-वर्ग से सचेत रहना चाहिये वकील, डाक्टर और लेखक वर्ग फायदा उठायेंगे।

मकर

व्यापार में किसी की सहायता लेना ठीक नहीं, स्वतन्त्र करने में लाभ होना सम्भव है ऊंचे से पड़ने की चोट लगना सम्भव है, समझ कर चलना चाहिये, अधिक सफर करना भी ठीक नहीं, घर के लोगों से झगड़ा रगड़ा कलह उत्पन्न होंगे, आलस्य छोड़कर धन्धे में मन लगाना चाहिये, स्थान प्राप्ति की कोशिश करने से मिलना सम्भव है, राज-कारणों में यश मिलेगा, सट्टे में साधारण लाभ हो सकेगा, दलाली और ठेकेदारी में भी लाभ की आशा है।

कुंभ

पत्नी की हालत से हरदम चिन्ता रहेगी, धातु-विकार की शिकायत वालों को सतर्क रहना चाहिये, व्यापार व्यवसाय में फायदा रहेगा, राज कारणों में सफलता मिलेगी, भागीदार पर विश्वास रखके व्यापार करना चाहिये, मित्रों की सहायता रहेगी। आफीसर वर्ग के तथा वकील, डाक्टर और ठेकेदार फायदे में रहेंगे हलके धन्धे करने वाले क्लर्क, मोहरिर एवं लेखक मजदूर कष्ट भोगेंगे।

मीन

बाहर भ्रमण विशेष होगा, पत्नी की हालत से चिंता रहेगी, व्यापार से आमदनी होगी, राज-कारणों से भी सफलता की आशा है, भागीदार और कुटुम्बों पर विश्वास रखने से तकलीफ उठानी पड़ेगी। बेकार खर्चा बहुत बढ़ेगा, एकाध कार्य बिगड़ जाने से मन में पश्चात्ताप रहेगा, धार्मिक कार्यों से चित्त में अशान्ति रहेगी, डाक्टर वैद्य, हकीम, मुख्तयार और दलाल ये धन लूटेंगे।

वायदे के बाजार में साधारण तेजी होगी, चांदी के बाजार में प्रारम्भ में १२ टंक छूट कर तेजी आयगी, तीसी जूट के भाव में विशेष फेर बदल होगा, वृष्टि विशेष होगी दक्षिण पूर्व में वृष्टि से नुकसान होगा, मूंगफली और घी के भाव में साधारण तेजी रहेगी।

सकते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय एक हथियार का प्रयोग कर सकते हैं और करना चाहिये, वह है इटैलियन माल का बायकाट। इटली से करोड़ों रुपये का कपड़ा, बिजली का सामान इत्यादि प्रतिवर्ष भारत में आता है हमें उसे खरीदने से सर्वथा इन्कार कर देना चाहिये। भारत वासियों को अभी राजनैतिक सहानुभूति का पाठ उसकी गहराई से सीखना चाहिये। अपने स्वातंत्र्य युद्ध में हम संसार की सहानुभूति प्रतिफल में इसी प्रकार प्राप्त कर सकते हैं।

इटली अबीसीनिया की समस्या

(पृष्ठ २८ का शेष)

अबीसीनिया तो अपनी स्वतन्त्रता के लिये जी जान से लड़ेगा ही, परन्तु विश्व शान्ति पर इस संकट के समय एशियायी देशों का भी, विशेषतः दलित भारतवासियों का कुछ कर्तव्य है। हमारा प्रथम कर्तव्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों के परिवर्तनों के साथ २ हम भी योरोपियन जातियों के साथ सम्बन्ध और गठजोड़े की यथार्थता को समझें। यह अबीसीनिया या इटली का प्रश्न नहीं अपितु एशिया और योरोप का प्रश्न है। उस समय एशियाटिक देशों की स्वतन्त्र प्रगति जो अभी तक ऐकान्तिक है, उसे व्यापक रूप सामान्य सहानुभूति द्वारा ही दिया जा सकता है। अतः प्रत्येक एशियाटिक जाति का यह दूसरा मुख्य कर्तव्य है कि वह अबीसीनिया के साथ सहानुभूति का प्रकाशन अवश्य करे। हमारा कर्तव्य है कि "अबीसीनिया से परे-हटो" नामक या उस के समानार्थक सभा सोसाइटियां की स्थापना की जाय जो, स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये लड़ने वाले एक देश के प्रति सविनय सहानुभूति और सहायता के केन्द्र हों। यदि महात्मा गांधी बोर-संग्राम तथा महायुद्ध के समय ब्रिटिश साम्राज्य की मदद एम्बुलेन्स कोर्प्स, तथा स्वयंसेवकों की भर्ती द्वारा कर सकते हैं तो उससे अधिक सुयोग और युक्तिसम्मत-अवसर इस वक्त भी है।

साथ ही हमें इस बात को भी दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिये कि अबीसीनिया में भारतवासियों की संख्या कई हजारों में है। उनके प्रति भी हमारी सहायता का प्रबन्ध आवश्यक है।

एशिया वासियों का कर्तव्य है कि वे एक अपने समान दलित जाति पर आक्रमण के चलैंज को अपने ऊपर चोट समझें और अबीसीनिया की स्वतन्त्रता रक्षा के युद्ध में हाथ बटावें। टर्की ने अपने अफसरों और अन्य युद्ध विधाविशारदों को अबीसीनिया की सहायतार्थ भेजा है। जापान ने भी शस्त्रास्त्र द्वारा तथा अन्य प्रकार से सहायता देने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। अरब तथा अन्य मुसल्मान देशों को भी अपनी जनता को इटली की सहायता के लिये मजदूरों से रोकना चाहिये। इसमें भारतीय मुसलमान नेता बहुत कुछ आन्दोलन कर

पांडिचरी का परमहंस

(पृष्ठ ७ का शेष)

बाग्वानी आदि के विभाग Department आश्रम की तरफ से चलते हैं, जिनमें साधक लोग अपनी साधना के तौर पर कार्य करते हैं। उनका हर एक कार्य साधना के तौर पर होता है। माता जी जिस साधक को जो काम सौंपती हैं उसे वही करना होता है। और प्राय साधक उसे अपना कल्याणकारी कार्य समझ कर ही करते हैं।

खर्च

पाठक लोग जानना चाहेंगे कि डेढ सौ लोगों का खर्च कैसे चलता होगा। आश्रम का खर्च ४-५ हजार रुपये माहवार होगा। जब कोई आश्रम वासी बनता है-स्वीकार कर लिया जाता है वह अपना सब कुछ (जहां अपना अन्तरात्मा और मन, वहां अपना भौतिक धन भी) आश्रम को समर्पित कर देता है। इससे कुछ सपत्ति आश्रम को मिली है। पर आश्रमवासियों में अधिकांश तो ऐसे ही हैं जिनके पास एक कौडी भी नहीं थी। और प्रत्येक आश्रम वासी पर ३०-४० रुपया माहवार तो व्यय होता ही है। यह रुपया कुछ भक्त लोगों से प्राप्त होता है। श्री अरविन्द ने कभी आश्रम के लिये चन्दे की अपील नहीं की। बल्कि औरों को भी आश्रम के लिये रुपया इकट्ठा करने की उन्होंने कभी इजाजत नहीं दी। वे इस संस्था को सार्वजनिक संस्था नहीं समझते। अतः जनता से न मांगते हैं और न जनता के प्रति उत्तरदाता समझते हैं जो कुछ भक्त लोग स्वयमेव दे जाते हैं उससे काम चलाते हैं। वे मानते हैं कि परमेश्वर का यह कार्य है, परमेश्वर ही रुपया देता है और देगा। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि उन्हें कभी २ आर्थिक तंगी होती है तो भी अर्थाभाव के कारण उनका कार्य कभी रुका नहीं है।

उनका भावी कार्यक्रम

क्या वे फिर पालिटिक्स में आवेंगे ?" यह प्रश्न है जो कि प्रायः पूछा जाता है। यह प्रश्न आम लोगों के लिए स्वाभाविक भी है। पर जो मनुष्य जान गये हैं कि वे कितने अति महान कार्य में लगे हैं उनके लिये ऐसे प्रश्नों की कोई गुंजाइश नहीं रहती। यद्यपि आज भी उनके दर वाजे के सामने फ्रेंच और ब्रिटिश सी०आई०डी० का पहरा लगा रहता है। और उस मकान में घुसने वाला व्यक्ति अपने विषय में पता लगाये जाने से अपने को बचा नहीं सकता है तो भी सच यह है कि वहां शुद्ध आध्यात्मिकता के सिवाय और कुछ नहीं है। सन् १९२६ तक तो श्री अरविन्द यह कहते रहे 'अभी नहीं, अभी कुछ नहीं कह सकता', पर उसके बाद से तो वे एक महान कार्य में लग चुके हैं। वह कार्य है एक नई 'जाति' उत्पन्न करना, मनुष्य को देव बनाना। वे ऐसा मनुष्य तैयार कर रहे हैं जो विज्ञान (Supern rd) तत्व को प्राप्त करेगा और उसके कारण उसका मन अज्ञान और संयम की क्रीडा भूमि न रहकर सत्य प्रकाश आन्तरिक शक्ति से आश्रम का पथ प्रदर्शन करते हैं। उनके लगभग ६ घंटे प्रतिदिन अपने हाथ से साधकों के पत्रों के उत्तर देने में बीतते हैं। दिन रात में केवल दो तीन घंटे वो विश्राम निद्रा लेते हैं। वे इस समय जितना कार्य कर रहे हैं उतना कार्य कोई साधारण पुरुष नहीं कर सकता।

देश की स्वाधीनता तो उनके इस महान कार्य में कहीं न कहीं स्वयमेव आजायगी। उसकी कुछ चिंता नहीं करनी चाहिये।

बातें हैं जिनका उत्तर बहुत से लोगों पर बुरा पड़ता है और कइयों का तो यह सब ढोंग प्रतीत होता है परन्तु मेरे मन पर इनका कोई बुरा प्रभाव नहीं हुआ है क्योंकि मैं इनके दूसरे पक्ष को भी जानता हूं मेरा तो यह ख्याल है कि वहां पर एक बडा भारी (आध्यात्मिक) कार्य हो रहा है जिसकी महत्ता को आज हम नहीं समझ रहे हैं।

इन परमहंस (श्री अरविन्द) के विषय में सच्चे जिज्ञासुओं को और भी जो कुछ मैं जानता हूं बताने को तैयार हूं। अत. मेरा विचार है कि

लाहारू के सम्बन्ध में श्री जयनारायण व्यास का लेख पृष्ठ २१ पर दिया गया है।
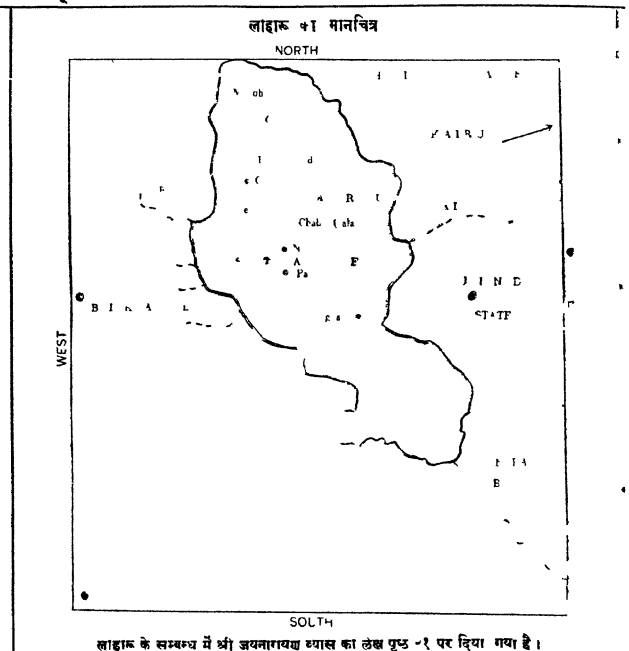
का मार्ग बन जायगा उसका प्राण बदल कर काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि से सर्वथा शून्य होकर कार्य करेगा और उसके शरीर का भी ऐसा रुपान्तर होजायगा कि वह यूं ही मृत्यु के वश न होगा। यह बहुत भारी साधना है, इसमें शायद एक युग लग जायगा। परंतु पांडिचरी के ये परमहंस जिस कार्य के लिये उत्पन्न हुए प्रतीत होते हैं वह यही है। इसी महान कार्य का आरम्भ इन्होंने यह आश्रम खोल कर किया है। यद्यपि वे बोलते और मिलते नहीं हैं तो भी लिखकर और अपनी

मुझ पर क्या प्रभाव पडा ?

आखिर लोग मुझ से यह जरूर पूछते हैं कि वहां दो मास रहने का मुझ पर क्या प्रभाव पड़ा। एक वाक्य में उसका उत्तर यह है कि—

'उनके ग्रंथ पढ़ कर मेरी उनमें बहुत श्रद्धा थी। परन्तु वहां रह कर मेरी यह श्रद्धा और भी अधिक बढ़ गई है।"

वहां खादी नहीं पहिनी जाती, माता जी तो रोज नई नई रेशमी साड़ियां पहनती हैं, वहां सुन्दरता बहुत बरती जाती है, एवं और कई समय मिलने पर मैं उन बातों को और की भी प्रकाशित करूंगा जो कि पांडिचेरी से लौटने पर गांधी जी के वर्धा आश्रम की तथा गुरुकुल कांगड़ी की इसी निमित्त हुई सभाओं में मुझ से किये गये प्रश्नों के उत्तर के रूप में प्रकट कर चुका हूं। पर अप्रकाशित नना हो।

पं० रामगोपाल विद्यालंकार प्रिंटर और पब्लिशर के लिये अर्जुन प्रेस, श्रद्धानन्द बाजार, देहली में छपा

एकला चल रे

——:——

यदि तोर डाक सुने केउ ना आसे
तबे एकला चल रे
एकला चल, एकला चल, एकला चल रे
यदि केउ कथा ना कय—
[ओर ओर ओ अभागा !]
यदि सबाई थाके मुख फिराये
सबाई करे भय
तबे परान खुले
ओ तुई मुख फुटे तोर मनेर कथा
एकला बल रे
यदि सबाई फिरे जाय
[ओर ओर ओ अभागा !]
यदि गहन पथ जाबार काले
केउ फिरे ना चाय
तबे पथेर काटा
ओ तुइ रक्त माखा चरन तले
एकला दल रे
यदि आलो ना धरे
[ओर ओर ओ अभागा !]
यदि झड़ बादले आधार राते
दुयार देय धरे
तबे वज्रानले
आपन बुकेर पाजर ज्वालिये निये
एकला ज्वल रे
यदि तोर डाक सुने केउ ना आसे
तबे एकला चल रे
एकला चल, एकला चल, एकला चल रे !

——:——

अनुवाद

——:——

गद्य

यदि तेरी पुकार (आह्वान) सुन कर कोई न आवे
तो अकेला चल रे
अकेला चल, अकेला चल, अकेला चल रे
यदि कोई बात न करे
(अरे, अरे, ओ अभागे !)
यदि सभी मुख फेरे रहें
सभी भय करें
तो प्राण खोल कर
तू ही मुख फोड़ कर अपने मन की बात
अकेला (ही) बोल रे
यदि सभी लौट जायें
(अरे, अरे, ओ अभागे !)
यदि गहन मार्ग में चलते समय
कोई मुड़ कर न देखे
तो मार्ग के कण्टकों को
तू ही (अपने) रक्त-रंजित पैरों के नीचे
अकेला (ही) दल रे
यदि (कोई) प्रकाश न दिखलाये
(अरे, ओ, ओ अभागे !)
यदि बादल और झड़ी की अंधेरी रात में
घर का दरवाजा बन्द कर लें
वज्रज्वाला में
तो अपनी छाती के पंजर को जला कर
तू अकेला (ही) जल रे
यदि तेरी पुकार सुनकर कोई न आवे
तो अकेला चल रे
अकेला चल, अकेला चल, अकेला चल रे !

(रवीन्द्रनाथ टागोर)

——:——

Rabindranath Tagore

कांग्रेस का समर्थन करो

कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था है जो पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रही है अतः इसके कार्यक्रम की सफलता के लिये हम सबको वर्तमान नीति और कार्य का समर्थन अवश्य करना चाहिये।

—वल्लभभाई पटेल

साम्प्रदायिक निर्णय और असेम्बली

(लेखक—राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद)

कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति और पण्डित मदनमोहन मालवीयजी में जो मतभेद हुआ है उसको समझ लेना जरूरी है। उस मतभेद का कारण श्री मैकडानल्ड का साम्प्रदायिक निर्णय है। विचार करने से पता चलता है कि मतभेद में कहीं अधिक इस विषय में भी मतैक्य है

(१) दोनों मानते हैं कि यह फैसला बुरा है देश के लिये हानिकारक है और दोनों में कोई उसे मंजूर नहीं करता।

(२) दोनों मानते हैं कि उसकी बुराई जनता को समझा देने का हक सब को होना चाहिये

(३) दोनों मानते हैं कि फैसले के बदले में आपस का समझौता होना आवश्यक और उत्तम है।

(४) दोनों मानते हैं कि इसको रद्द कराना चाहिये और इसके लिये प्रयत्न करना आवश्यक है।

मतभेद केवल इतना ही है कि कार्य समिति समझती है कि असेम्बली में इस विषय पर वाद विवाद करने से लाभ नहीं और आपस का समझौता करके हिन्दू मुसलमान दोनों एक साथ ही इस निर्णय को नामंजूर करें। पूज्य मालवीयजी कहते हैं कि हिन्दू अकेले मुसलमानों के विरोध रहते हुए भी उस को असेम्बली में नामंजूर करके उनके साथ समझौते का प्रयत्न करें। कार्यकारिणी समझती है कि इस तरीके से समझौते का रास्ता और भी कठिन हो जायगा

कार्य समिति समझती है कि असेम्बली में इस साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध करने से कोई फायदा नहीं क्योंकि पहली बात तो यह है कि यह मामला हिन्दुस्तान की भिन्न जातियों के आपस में तय करने का है और इस आपस में तय हुए तरीके को मानने के लिये सरकार भी तयार है जैसा कि पूना पैक्ट के समय हो चुका है और यदि असेम्बली में एक इसे मन्जूर कराने और दूसरा नामन्जूर कराने में ही लगा रहे तो देश में यह वातावरण पैदा होने में कठिनाई नहीं होगी जिस में आपस में समझौता होकर इस निर्णय की जगह पर दूसरा कोई तरीका निकाला जा सके। तीसरी बात यह है कि श्वेतपत्र की तरह साम्प्रदायिक निर्णय को बदलने का अधिकार सरकार अपने हाथ में नहीं रखती इसे तो वह हमारे समझौते पर ही छोड़ती है। ऐसी अवस्था में हमारा कर्तव्य यह होता है कि हम इसके बदले में सब की राय से कोई समझौता करें न कि व्यर्थ असेम्बली में विरोध करके अपना समय बर्बाद करें।

तीव्र घृणा और उत्कट लालसा

स्वराज्य ऐसा शब्द नहीं है जिसकी व्याख्या के लिये लम्बा निबन्ध लिखने की आवश्यकता हो इसकी प्राप्ति के लिये किसी भी काल और देश में दो वस्तुयें अत्यन्त आवश्यक हैं —पराधीनता से तीव्र घृणा और स्वाधीनता की उत्कट लालसा। जब तक ये दोनों वस्तुयें हमारे अन्दर एक राष्ट्र रूप में पर्याप्त तथा समान मात्रा में न होंगी तब तक हम अपनी वर्तमान शोचनीय दासता में पड़े रहेंगे और उन वीर राष्ट्रों की दृष्टि में उपहास तिरस्कार और तरस का विषय बन रहेंगे जो अपने साहस अध्यवसाय त्याग बलिदान और स्वातंत्र्य की उत्कट अभिलाषा द्वारा स्थिर रूप से स्वतन्त्र हो चुके हैं

—सरोजिनी नायडू

युवकों से

(लेखक—श्री० एस० सत्यमूर्ति)

इस समय देश विषम, विचित्र और नाजुक परिस्थिति में से गुजर रहा है। देश के सामने अत्यन्त गम्भीर समस्यायें उपस्थित हैं, जिनका हल राष्ट्र के नेताओं व प्रतिनिधियों को करना है। कुछ लोगों का कहना है कि इतिहास अपने को दुहराया करता है और अब भी दुहरा रहा है। एक बार फिर सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया है और स्व० मोतीलाल नेहरू व देशबन्धु दास के कौंसिल-प्रवेश के कार्यक्रम को स्थायी रूप से स्वीकार भी कर लिया गया है। रांची, पटना और बम्बई के अधिवेशनों में सम्पूर्ण राष्ट्र की प्रतिनिधि-सभा कांग्रेस वर्किंग कमिटी ने यह निश्चय [illegible] लिया है कि सरकार के सुरक्षित दुर्ग, असेम्बली, पर अधिकार कर लिया जाय और वहां निम्नलिखित प्रोग्राम पास कराया जाय.— (१) नया प्रस्तावित शासन-विधान, जो 'व्हाइटपेपर' के नाम से प्रसिद्ध है, रद्द किया जाय। (२) पिछले दो-तीन सालों में सरकार ने राष्ट्रीय भावना के दमन के लिये जितने अन्यायपूर्ण और दमनकारी कानून बनायें हैं, उन सबको वापिस लिया जाय और सब से बढ़कर (३) देश का भावी शासन-विधान निर्माण करने के लिये कन्स्टीट्यूशनल असेम्बली बुलाई जाय। तीनों मांगें महत्वपूर्ण हैं। तीसरी मांग का विशेष महत्व इसलिये है कि इसके द्वारा कांग्रेस स्वभाग्य-निर्णय — अपना शासन-विधान हम बनावें — का सिद्धान्त स्वीकार कराना चाहती है।

कांग्रेस वर्किंग कमेटी के प्रस्तावों मे किसी भी राष्ट्रीय विचार वाले भारतीय को मतभेद नहीं है। सभी कांग्रेस की इन मांगों से सहमत हैं। परन्तु कांग्रेस के साम्प्रदायिक निर्णय सम्बन्धी निश्चय से पूज्य मदनमोहन मालवीय और उनके साथियों को मतभेद है। इस विषय पर कांग्रेस का निर्णय स्पष्ट है। वह उसे न तो स्वीकार करती है और न अस्वीकृत करती है। राष्ट्र के सब सम्प्रदायों और जातियों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था कांग्रेस इस के सिवा कर भी क्या सकती थी। साम्प्रदायिक निर्णय की निन्दा चारों कोनों से हो रही है और वस्तुतः वह है भी इसी निन्दा के योग्य।

परन्तु कांग्रेस इस स्थिति में नहीं है कि उसे स्वीकृत या अस्वीकृत करे। यह स्पष्ट है कि अधिकतर मुसलमान उसे अस्वीकृत करने के विपक्ष में हैं, परन्तु उसके साथ यह भी स्पष्ट है कि हिन्दू उसे किसी भी हालत में स्वीकार करना पसन्द नहीं करते। इस अवस्था में दोनों की प्रतिनिधि सभा कांग्रेस यही उचित समझती है कि वह इस प्रश्न को अभी स्वीकृत या अस्वीकृत कुछ न कर आपसी समझौते के लिये [illegible]। कांग्रेस अभी इतनी समर्थ भी नहीं है कि वह इस प्रश्न का कोई सर्वसम्मत और सतोषजनक निर्णय कर सके, किन्तु ज्यों ही कांग्रेस इस कार्य के लिये समर्थ हो जायगी, वह पहले पहल इसी प्रश्न को लेगी।

इस प्रश्न पर कांग्रेस की उदासीनता की नीति से कुछ हिन्दुओं का यह खयाल है कि कांग्रेस साम्प्रदायिक-निर्णय को स्वीकार करती है, इसके विपरीत कुछ मुसलमानों का यह खयाल है कि कांग्रेस इसे अस्वीकृत करती है। परन्तु दोनों भ्रम में हैं। कांग्रेस अपनी स्थिति स्पष्ट कर चुकी है, वह न इसे स्वीकृत करती है और न अस्वीकृत। इस प्रश्न का निर्णय वह भविष्य में होने वाले सब सम्प्रदायों के सर्वसम्मत समझौते पर छोड़ती है।

(शेष पृष्ठ ७ कालम ४ पर)

आशीर्वाद

—:*:—

श्रीमद् द्वैपायन व्यास ने महाभारत में श्रीकृष्ण भगवान और अर्जुन के चरित्रों का जैसा चित्रण किया है, संसार में उसकी उपमा मिलनी कठिन है। उन चरित्रों में अत्युत्कृष्ट बुद्धिमत्ता के साथ गुथी हुई अद्‌भुत भक्ति और स्वार्थ-त्याग की भावना दिखाई देती है।

यदि श्रीकृष्ण परलोक और इहलोक की बुद्धिमत्ता का पुंज दिखाई देता है, तो अर्जुन को हम वीरता सम्बन्धी समस्त गुणों का समुच्चय पाते हैं। परन्तु अर्जुन की वीरता योरप की मध्यम कालीन वीरता की तरह अन्धी नहीं है, वह भगवान के बनाये हुए नीतिमार्ग पर चलने वाली और अतएव अत्यन्त समझदार है। बुद्धिमत्ता और वीरता दोनों एक दूसरे की सहायता और पुष्टि करती हैं।

कौरवों ने पाण्डवों पर जितना अत्याचार किया था, उसकी उपमा मिलनी कठिन है। कौरवों ने ईर्ष्या वश उन्हें अगणित दुःख दिये थे। फिर भी आश्चर्य की बात है कि पाण्डवों की सेना ने युद्ध के जोश में भी युद्ध के नियमों की सीमा का यथाशक्ति पालन किया। अर्जुन की वीरता को एक मार्गदर्शक की, और उसके रथ [illegible] आवश्यकता थी। वह उसे श्रीकृष्ण के रूप में प्राप्त हो गये।

अर्जुन अपनी सेना को युद्ध-क्षेत्र में आगे बढ़ाता है, परन्तु कृष्ण हाथ में घोड़ों की लगाम थामे हुए उस पर कड़ी दृष्टि रखता है कि कहीं सेनायें सीमा का उल्लंघन तो नहीं कर रहीं, या वह उत्साहहीन तो नहीं हो रहीं। श्रीकृष्ण जिस अंश में त्रुटि देखते उसी को पूरा करने के लिये आगे बढ़ जाते हैं। भगवान कृष्ण ने महाभारत में जो महान कार्य किया है, उसे चित्रित करना हो तो यही सर्वोत्कृष्ट चित्र बन सकता है कि वह अर्जुन के युद्ध, रथ का सञ्चालन कर रहे हैं।

श्रीकृष्ण अर्जुन को अपना मित्र समझ कर समानता का व्यवहार करते हैं, परन्तु अर्जुन का विनय उसमें श्रीकृष्ण के प्रति 'शिष्यस्तेऽहम्' यही शब्द कहलाता है। अर्जुन की सफलता का सबसे बड़ा कारण यही है कि वह युद्ध के आवेश में भी श्रीकृष्ण के नेतृत्व से बाहिर नहीं होता। इसी बुद्धिमत्ता द्वारा नियमित वीरता का प्रताप था कि ३००० वर्ष पूर्व भारत में धर्म-राज्य की स्थापना हुई थी। श्रीमद्भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोक का यही अभिप्राय है—

> यत्र योगेश्वरः कृष्णो
> यत्र पार्थो धनुर्धरः।
> तत्र श्रीर्विजयो भूति-
> र्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

अर्थ, जहां योगेश्वर कृष्ण हैं और [illegible] विजय, विभूति और नीति [illegible] सभी का निश्चय से निवास रहता है।

आशीर्वाद है कि 'अर्जुन' प्रति दिन प्रातःकाल प्रकाशित होता हुआ भारत के वृद्ध और युवा निवासियों के हृदयों में ऊंचे सत्य की स्थापना करे, और उन्हें मातृ-भूमि की गौरव-रक्षा के निमित्त दृढ़-प्रतिज्ञ सैनिक बनाने में सफल हो।

हृदय में यह अभिलाषा रखता हुआ कि 'अर्जुन' शीघ्र ही भारत-माता को बन्धनमुक्त करने की ऊंची महत्वाकांक्षा को पूर्ण करे,

मैं हूं

सदा आपका

एम० एस० अणे

—:—

दरिद्रनारायण के व्रती राष्ट्रपति बा० राजेन्द्रप्रसाद

बिहार के गांधी और हमारे नव-निर्वाचित राष्ट्रपति त्यागमूर्ति बाबू राजेन्द्र-प्रसाद का जन्म हमारी राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस के जन्म से एक वर्ष पूर्व ३ दिसम्बर सन् १८८४ ई० को बिहार के सारन जिले के जीरादेई गांव में हुआ था। आप के पूर्वज बहुत प्राचीन काल से किसी न किसी राज्य के दीवान होते चले आये थे। आपके पिता बाबू महादेवसहाय एक योग्य हकीम थे। दरिद्रनारायण की सेवा उन का उद्देश्य था। शायद लोक-सेवा और त्यागमय जीवन बिताने का अनुपम गुण आपकी पैत्रिक सम्पत्ति है। १८९१ ई० में एक मौलवी साहब के यहां आपकी प्राथमिक शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। १९०२ में कलकत्ता-विश्वविद्यालय की एन्ट्रेन्स परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर आप आगे पढ़ने के लिए कलकत्ते चले गये। आप की प्रतिभा, विद्वत्ता और लोकसेवा-परायणता का परिचय कलकत्ते के विद्यार्थी-जीवन में ही मिलने लगा था। सार्वजनिक क्षेत्र में आप इन्हीं दिनों प्रवेश कर चुके थे। बिहारी छात्रों की सहायता के लिए आप ने सन्... बनाकर दरिद्रनारायण की सेवा का ... सूत्रपात किया था, वही आज बढ़ते-बढ़ते इतना व्यापक हो चुका है। सार्वजनिक कार्यों में बहुत समय व्यतीत करते हुए भी आप की शिक्षा में कोई अन्तर नहीं पड़ा। एफ० ए० और बी० ए० में आप ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान पाये। लोग आपकी योग्यता पर मुग्ध हो गये। आप के ज्येष्ठ भ्राता महेन्द्रप्रसाद आपको आई० सी० एस० के लिए विलायत भेजना चाहते थे। आप ने भी विलायत जाने का पूरा प्रबन्ध कर लिया था, परन्तु परमात्मा ने राजेन्द्र बाबू को हृदयरहित नौकरशाही का निर्जीव पुरजा बनाने के लिए पैदा नहीं किया था। १९०७ में पिता जी के आकस्मिक देहान्त से आप का विलायत जाना रुक गया। इस के बाद आप कई बरस तक पटना में अध्यापन का कार्य करते रहे। अध्यापन-कार्य के साथ साथ ही आप ने एम० ए० और एम० एल० की परीक्षा दी। आप ने कलकत्ता में ही वकालत प्रारम्भ कर दी।

१९१६ में पटना में हाईकोर्ट स्थापित होने पर राजेन्द्र बाबू पटना चले गये। यहां अपनी योग्यता और प्रतिभा के बल पर आप की गिनती उच्च कोटि के वकीलों में होने लगी। तत्कालीन बड़े बड़े बैरिस्टर और जज भी आप के कानूनी ज्ञान का लोहा मानते थे।

बिहार-रत्न

राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद

यदि परिस्थितियां साधारण रहतीं, यदि भारतवर्ष अंग्रेजों का गुलाम देश न होता और यदि महात्मा गांधी ने धर्म तथा राजनीति का मिश्रण करके देश में प्रबल क्रांतिकारी शक्तियों का प्रवाह न बहाया होता तो बाबू राजेन्द्रप्रसाद आज पटना हाईकोर्ट के जज या सर्वोच्च वकील होते। सार्वजनिक कार्यों में पूरा समय देते हुए भी वकालत से आप को हजारों रुपये की आमदनी थी, परन्तु आप का रहन-सहन इतना सीधा सादा था कि लोग यह कल्पना भी न कर सकते थे कि यह पटना का सर्वोच्च वकील है। आप की हजारों की आय गरीब छात्रों तथा अन्य असहाय लोगों की सेवा में व्यतीत होती थी। जब आपने १९२० में वकालत छोड़ी, तब आपके बैंक एकाउन्ट में केवल १५) बाकी थे। सारी आय दूसरों की सेवा में जा चुकी थी। त्याग और सेवा राजेन्द्र बाबू के आदर्श थे।

आप का सदा से यही आदर्श रहा है—

> न त्वहं कामये राज्यं
> न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
> कामये दुःखतप्तानां
> प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

बिहार प्रान्त की उन्नति के इतिहास में राजेन्द्रबाबू का नाम अमिट रहेगा। पटना हाईकोर्ट तथा पटना-यूनिवर्सिटी की उन्नति का बहुत कुछ श्रेय आप को ही है। बिहार का सामाजिक, राजनैतिक या शिक्षा-सम्बन्धी, कोई आंदोलन ऐसा न था, जिसमें आप का पूरा हाथ न हो। आपकी सत्यनिष्ठा, सज्जनता, निरभिमानता और निःस्वार्थ सेवा के कारण बिहार की जनता आप को आदर व श्रद्धा की दृष्टि से देखती है। आप उस के हृदय-सम्राट् हैं। यही कारण है कि जहां अन्य प्रान्तों में प्रांतीय नेताओं के विरुद्ध पार्टी-बन्दी उग्र और तीक्ष्ण रूप धारण कर लेती है, वहां बिहार में आपके विरोध में किसी पार्टी का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। आप अजातशत्रु हैं। सभी आप पर पूर्ण विश्वास करते हैं।

यों तो राजेन्द्र बाबू का नाम भारतीय जनता पहले ही जानती थी, परन्तु चम्पारन के निलहे गोरों के अत्याचारों से दरिद्र कृषकों की रक्षा करने के प्रयत्न में म० गांधी को पूर्ण सहायता देने के कारण आप की गिनती भारतीय नेताओं में होने लगी। १९१७ ई० में महात्मा गांधी चम्पारन आते हुए आप के ही यहां ठहरे थे। ... की जांच करने और गोरों से बहस करने के लिए जिन वकीलों ने सहायता दी थी, उन में आप और बा० ब्रजकिशोर अन्यतम थे। दरिद्रनारायणों के प्रति म० गांधी के असीम अनुराग को देख कर आप में उन के प्रति जिस श्रद्धा व भक्ति का उद्रेक हुआ, वह फिर दिन प्रति दिन बढ़ती ही गयी। उसमें कभी कमी नहीं आई। आप केवल श्रद्धालु ही नहीं रहे, आपने अपना जीवन और भी त्यागमय कर दिया और जब १९२० में महात्मा गांधी ने असहयोग की भेरी बजाई, आप अपनी हजारों रुपये की वकालत छोड़ कर उस संग्राम में कूद पड़े। वैसे तो अन्य भी अनेक मान्य नेताओं ने त्याग किया, परन्तु आप का त्याग सचमुच अपूर्व था। तब आप के बैंक में कुल १५) शेष थे। सारी आय दरिद्रनारायणों की सेवा में खर्च हो चुकी थी।

१६२० से आज तक का आपका जीवन म० गांधी के बिहार-संस्करण का जीवन है। १६२२ में गया के कांग्रेस-अधिवेशन में स्वर्गीय देशबन्धु दास और प० मोतीलाल नेहरू की स्वराज्य-दल की योजना को अस्वीकृत कराने में जहा श्री राजगोपालाचार्य का मुख्य हाथ था, वहा आप ने भी कम भाग नहीं लिया।

देश में राष्ट्रीय भावो का प्रचार करन के लिए असहयोग के दिनों आप न 'देश' नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला और उस के द्वारा म० गांधी के अहिंसा तथा सत्याग्रह के सिद्धान्तों को बिहार के घर-घर पहुचान का यत्न किया। असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद म० गांधी न चरखा-संघ कायम करके खादी-प्रचार का बीड़ा उठाया तो राजेन्द्र बाबू न बिहार में उसे भी आगे बढ़ाया। जिन दिनों खादी की लोकप्रियता उतार पर थी, उन दिनों भी बिहार खादी का विशेष केन्द्र बना हुआ था। आज भी आप के ही प्रयत्न से बिहार की खादी बहुत अधिक उन्नत है।

इन्हीं दिनों कांग्रेस कमेटियों का सगठन बहुत शिथिल हो चुका था। बाबू राजेन्द्रप्रसाद न अपने प्रांत में इस सगठन को भी व्यवस्थित किया।

सत्याग्रह आन्दोलन

सन १६२८ ई० मे कलकत्ता कांग्रेस न प्रस्ताव पास किया था कि नेहरू कमेटी के आधार पर बने विधान की माग को यदि एक साल के अन्दर सरकार स्वीकार न करे, तो कांग्रेस अगले अधिवेशन में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास करेगी और सरकारी कर देना बन्द करने की सलाह देकर अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन जारी करने की व्यवस्था करेगी। अगले वर्ष लाहोर में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ परन्तु उस से पहले ही मुंगेर में होने वाले प्रान्तीय सम्मेलन में राजेन्द्रबाबू के सभापतित्व में बिहार न पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया। १६३० ई० में जब सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ हुआ उस समय बिहार में भी आन्दोलन जारी हुआ। इस आन्दोलन के सिलसिले में राजेन्द्र बाबू को गया स्टेशन पर एक सारजेन्ट न धक्का दिया, पटना मे नमक सत्याग्रह के अवसर पर आप को सारजेन्ट के घोड़े की ठोकर खानी पड़ी और भागलपुर जिलान्तर्गत बिहपुर नामक स्थान के सत्याग्रह में आप को पुलिस की लाठियों से सख्त चोट लगी। इस आंदोलन में आप दो बार जेल गये। जेल में आप का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। स्थिति यहा तक गम्भीर हो गई कि देश में आप के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में चिन्ता प्रकट की जाने लगी। लेकिन सरकार न कुछ नहीं सुना। इलाज तक की सुविधायें आप को नहीं दी गई। आप को रिहा करने का आन्दोलन किया गया लेकिन आप अवधि से पूर्व रिहा न किये गये।

आप तीन बार कांग्रेस के डिक्टेटर भी रह चुके हैं। जिस समय गांधी-इरविन समझौता हुआ था उस समय आप ही कांग्रेस के डिक्टेटर थे। १६३४ ई० में पुरी मे होने वाली कांग्रेस के आप ही अध्यक्ष मनोनीत हुए थे, परन्तु महात्मा जी के लन्दन से लौटने के बाद ही फिर सत्याग्रह संग्राम छिड़ जाने के कारण वह अधिवेशन नहीं हो सका। आप फिर सत्याग्रह संग्राम में जेल चले गये। आप बाहर रह ही नहीं सकते थे। आप का स्वास्थ्य फिर गिर गया। देश मे फिर आन्दोलन हुआ इस बार सरकार न जनवरी के प्रथम सप्ताह मे रिहा कर दिया। शायद यह रिहाई ईश्वरीय प्रेरणा थी, क्योंकि उस से कुछ ही दिन पूर्व बिहार में जो प्रलयंकर भूकम्प हुआ, उस मे आप के समान कोई सेवा-कार्य न कर सकता था। आप का स्वास्थ्य बहुत गिरा हुआ था, परन्तु दरिद्रनारायण की सेवा का व्रती इस समय अपनी चिन्ता छोड़कर [illegible] मे जी जान से जुट पड़ा जिन पर प्रकृति का भीषण प्रकोप हुआ था। बा० [illegible] बिहार के भूकम्प में [illegible] अद्भुत अथक सेवा की, वह सेवा की चरमसीमा थी। उनके इस कार्य न देश मे उनके प्रति एक अपूर्व भक्ति उत्पन्न कर दी। राजेन्द्र बाबू की योग्यता, तत्परता सामर्थ्य और लोकप्रियता पर सब को— शत्रु मित्र दोनों को विश्वास है। उन्हें अपना शत्रु मानने वाली सरकार ने भी उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त किया। सच तो यह है कि उनकी सहायता के बिना सरकार बिहार की सहायता का महत्वपूर्ण कार्य कुछ भी न कर सकती थी।

हिन्दी और साहित्य सेवा मे भी आप को पूरी रुचि है। आप के 'देश' न राष्ट्रीयता के साथ हिन्दी का भी प्रचार किया था।

१६१२ ई० में कलकत्ते में जब 'प्रेमघन' जी के सभापतित्व में जब अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था, तब आप स्वागत समिति के मन्त्री थे। १६२० ई० मे पटने में होने वाले सम्मेलन की स्वागत-समिति के मन्त्री थे। बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन तथा कोकनाडा मे होने वाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के विशेष अधिवेशन के अध्यक्ष पद को आप सुशोभित कर चुके हैं।

राजेन्द्रबाबू को देखकर अनजान आदमी उनके अमूल्य गुणों का परिचय सुगमता से नहीं प्राप्त कर सकता। उनका वेश और मुख-मुद्रा इतने सीधे और सरल हैं कि केवल उन्हें देखकर यह कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि इस साधारण से शरीर और वेश के पीछे इतना महान् आत्मा छिपा है। ऊपर से देखने मे वह सीधे सादे कुपढ़ ग्रामीण प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका थोड़े ही समय का संसर्ग देखने वाले को विस्मय तथा आश्चर्य मे डाल देता है। उन से मिलकर और बातचीत करने के बाद उनकी सरलता और हृदय की शुद्धता से प्रभावित हुए बिना रह जाना असम्भव है। किसी भी विषय पर उनका भाषण सुनने के पश्चात् हृदय मे उनके प्रति श्रद्धा अवश्य उत्पन्न हो जाती है। बिहार प्रांत की जनता को सगठित करने, उसे उसके अधिकार समझाने और उन्नत बनाने के लिये उन्होंने जो कुछ किया है, जो त्याग और तप किया है, उसकी कथा सुनने के पश्चात् श्रोता उनका भक्त हो जाता है।

आज देश ने दरिद्रनारायण के इस सच्चे सेवक को राष्ट्रपति [illegible] कर सब से बड़ा सम्मान दिया है। राष्ट्र उनके हाथ मे सुरक्षित है। परमात्मा उन्हें आयुष्य और स्वास्थ्य दे, ताकि भारत उनकी सेवाओं से अधिकाधिक लाभ उठा सके।

उनके सीधे सादे और सरल स्वभाव मे सच्ची साधुता निवास करती है। एक जगह इतनी सरलता, सौम्यता, त्याग, तपस्या साधुता और महान् आत्मा का अपूर्व सचय बहुत कम मनुष्यों मे दीख पड़ता है।

मुसलमानों को पैगम्बर सा० के उदाहरण से अहिंसा की शिक्षा लेनी चाहिये। उन पर इतने पत्थर मारे गये कि खून बह निकला, खून जूतों पर ऐसा जम गया कि उनका पैरों से निकालना मुश्किल हो गया। परन्तु पैगम्बर सा० फिर भी ज्यो के त्यों खड़े रहे और उस आदमी के लिये क्षमा-याचना की जिसने उन्हें पत्थरों से मारा था।

—खान अब्दुलगफ्फार खा

* * *

'हमारा उद्योग यह होना चाहिये कि (हमारे सौभाग्य से) देश में भिन्न-भिन्न धर्मों और जातियों में जो भेद उपस्थित है उसे हम पूर्णरूप से बनाये रहें। उनको मिलाने का प्रयत्न न करे। 'फूट उपजा करके राज्य करना' ही भारत-सरकार का सिद्धान्त होना चाहिये। —कर्नल जान कोक

—— *:——

(पृष्ठ ४ कालम २ का शेष)

अन्त मे मैं राष्ट्र के नवयुवकों से दो शब्द कहना चाहता हू। प्रत्येक देश के स्वातन्त्र्य आन्दोलन का आधार नवयुवक ही रहे हैं। कांग्रेस का बल भी नवयुवक ही हैं।

उनकी राष्ट्रीयता विशुद्ध होती है। मुझे पूरी आशा है कि कांग्रेस जो भी कार्यक्रम स्वीकार करेगी [illegible] स्वदेशी विदेशी बहिष्कार या कौंसिल-प्रवेश हो, उसमें नवयुवक अपनी इस प्रिय संस्था के भक्त रहेंगे और इस अग्नि-परीक्षा के समय राष्ट्र का पूरा साथ देंगे।

—:*:—

भाग्य की परीक्षा

टाइटिल पेज के अन्तिम पृष्ठ पर नम्बर लगाया गया है। इसे सम्हाल कर रखिये। कुछ दिन बाद दो भाग्यशाली नम्बरो की घोषणा की जायगी। यदि वे नम्बर आप ही के पास आये तो यह हिस्सा काट कर हमारे पास या जिस पत्र पर हम लिखें, भेज दीजिये। आप इनाम प्राप्त हो जायगा।

मेनजर।

अपना संसार

कैसा हो अपना संसार ?
जैसा एक बड़ा परिवार ॥

न तो देव हो और न दानव,
रक्खें मनुष्यत्व हो मानव,
सब मे समता का व्यवहार ।
ऐसा हो अपना संसार ॥

न तो देवियां हो न चेटिया,
हो पत्नी, मा, बहिन, बेटिया,
मन मे ममता का संचार ।
ऐसा हो अपना संसार ।

बैर-विरोध और ये घातें—
बनें अतीत काल की बातें,
रक्खे वाद विनोद-विचार ।
ऐसा हो अपना संसार ॥

सुख के लिये दुःख भी आवे—
क्षणिक विरह मे वह बढ़ जावे,
रुचि-रञ्जक उसके उद्गार !
ऐसा हो अपना संसार ॥

फल हो जिसकी आशाओ मे—
एक भाव सौ भाषाओ मे,
राग भिन्न हो छिन्न न तार ।
ऐसा हो अपना संसार ॥

करें कल्पनायें कवि मर्मी,
सच्ची कर दिखलावें कर्मी,
हो अपना के भी तिथि-वार ।
ऐसा हो अपना संसार ॥

धन कहते हैं जिसे, न हो वह,
फिर भी सब द्रव्यो का मंत्र—
कर अभावों का परिहार ।
ऐसा हो अपना संसार ॥

प्रगति मिले जिससे जीवन मे,
एक मनोरथ हो जन जन मे—
वह अपना ही आविष्कार ।
ऐसा हो अपना संसार ॥

आवें, विपत्तियां भी आवें,
जिनसे हम नूतन बल पावें,
और तुम्हें प्रभु दें न विसार ।
ऐसा हो अपना संसार ॥

—मैथिलीशरण गुप्त

विजया से

(१)

विजये, विजय मिले, यह वर दे !
आज परीक्षा की हैं भीरें;
उधर राजसुख की जागीरें;
इधर जेल की हैं जंजीरें;
कठिन कसौटी पर कंचन है—
कस कर कालिख हर दे ।
विजये, विजय मिले, यह वर दे ॥

(२)

विजये, विजय मिले, यह वर दे !
कर पर पुलकित प्राण संभाले;
पीकर देश-प्रेम के प्याले;
बरसो से अनेक मतवाले;
भटक रहे स्वभाग्य निर्णय को—
ध्येय ध्यान में धर दे ।
विजये, विजय मिले, यह वर दे ॥

(३)

विजये, विजय मिले, यह वर दे !
जनता में जीवन उमड़ा है;
स्वतन्त्रता का पर्व पड़ा है;
बलिवेदी पर देश खड़ा है;
भीख मांगता है स्वराज्य की—
अब तो झोली भर दे ।
विजये, विजय मिले, यह वर दे ॥

(४)

विजये, विजय मिले, यह वर दे !
प्यारा है गत जीवन सारा;
दुर्गा ने दानव संहारा;
राम-लखण ने रावण मारा;
इस कलियुग मे गांधी को भी—
सफल मनोरथ कर दे !
विजये, विजय मिले, यह वर दे ॥

—छैलबिहारीलाल 'कण्टक'

हमारा स्वराज्य कैसा होना चाहिये ?

—:*:—

(ले०—श्री० इन्द्र विद्यावाचस्पति)

श्री० पं० इन्द्र

विद्वान् लेखक ने संसार में प्रचलित वर्तमान शासन-प्रणालियों का परिचय देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारत की भावी शासन-प्रणाली न एकतन्त्र होगी और न पूंजीवाद के आधार पर संगठित प्रतिनिधि-शासन की पद्धति, जैसी कि अमरीका मे है; इग्लैण्ड की नियमित राजतन्त्र सत्ता भी यहां सम्भव नहीं है। गरीब और परिश्रमी प्रजा की एकत्व-भावना की शक्ति के आधार पर ही भारत का भावी राज्य-भवन खड़ा हो सकता है।

आ[illegible] रवासी स्वराज्य [illegible]हते हैं और स्व[illegible]य का अभिप्राय [illegible]है, पूर्ण स्वाधीन राज्य। पूर्ण स्वाधीन राज्य कई प्रकार के होता है, पृथ्वीपर जो देश स्वाधीनता का पूर्ण अधिकार रखते हैं, उन सबकी व्यवस्था एक ही सी नहीं है। उनकी कई श्रेणियां हैं, जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं:—

(१) कई देश, जिनकी संख्या प्रतिदिन घट रही है, एकसत्तात्मक शासन-प्रणाली के अधीन हैं। सभ्य राष्ट्रों में उनकी संख्या नहीं के बराबर है, परन्तु अर्द्ध-सभ्य देशों में अब भी उनकी सत्ता विद्यमान है। अफगानिस्तान, फारिस आदि देश इसी श्रेणी मे हैं। इन देशों में नाम को प्रजा का प्रतिनिधित्व प्रचलित भी है, तो वह सर्वथा शक्तिहीन होने के कारण नगण्य है। असली शक्ति एक शासक की है।

(२) दूसरी श्रेणी में वह देश हैं, जिनमें सीमाबद्ध राजसत्ता की प्रधानता है। उनमें प्रधान शासक तो एक ही होता है और वह भी वंश-परम्परा के कारण अधिकार को प्राप्त करता है, परन्तु उसके शासनाधिकार प्रतिनिधि-सत्तात्मक संस्थाओं के कारण इतने सीमित होते हैं, कि शासक का नाम तो नाममात्र को ही शेष रह जाता है। इंग्लैण्ड, जापान आदि देशों की शासन-प्रणाली इसी प्रकार की है। उनमे राजा तो है, परन्तु वह शासक नहीं है, वह प्रजा की प्रतिनिधि-सभा के निश्चयों पर मुहर लगाने वाला ही समझा जाता है। प्रजा का बहुमत कानून है और शासक के [illegible] पूर्ण [illegible] होता है।

(३) तीसरे प्रकारके देश वह है, जिनमें पूरी प्रजा-सत्तात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित है। अमरीका, फ्रांस आदि के प्रजातन्त्र इसके दृष्टान्त है। उनमें राजा नहीं हैं, राजा के स्थान पर चुने हुए राष्ट्रपति हैं, जो कुछ समय के लिये चुने गये हैं। उनमें प्रजा के बहुमत की ही प्रधानता रहती है।

(४) यूरोप के महायुद्ध के पीछे सभ्य-देशों में एक और तरह की शासन-प्रणाली भी प्रचलित हो गई है, जिसे हम प्रजा-सत्तात्मक प्रणाली के पर्दे में छुपी हुई एक-सत्तात्मक शासन-प्रणाली के नाम से पुकार सकते हैं। ऐसे देशोंमें टर्की, जर्मनी, और इटली प्रधान हैं। इन देशों में नाम को प्रजा-सत्तात्मक शासन-प्रणाली है, परन्तु वस्तुतः शक्तिशाली व्यक्तियों का सत्तात्मक अधिकार ही मुख्य है। इसे प्रजातन्त्र के चोले में नादिरशाही शासन कहा जा सकता है।

(५) रूस को हम अन्य सब देशों से पृथक् रखते हैं, क्योंकि श्रमी समुदाय की प्रधानता का वह अलग ही नमूना है। इससे पूर्व प्रचलित राजनीति में शासन-प्रणालीके श्रेणि-विभाग को जिस प्रकार पर स्थापित किया जाता था [illegible] में उसे सर्वथा पृथक् आधार [illegible] कल्पना की गई है। पुरानी प्रचलित राजनीति में यह देखकर शासन-प्रणाली का श्रेणि-विभाग किया जाता था कि शासन-शक्ति का केन्द्र एक व्यक्ति में, थोड़े से व्यक्ति-समूह में, या प्रजा के बहुसंख्यक व्यक्ति-समूह में है। रूस में शक्ति का केन्द्र संख्या की नहीं अपेक्षा करता। वहां शक्ति का केन्द्र प्रजा के उस भाग में है, जो श्रम करता है। उस प्रणाली में वंश-परंपरा, सम्पत्ति, या प्राचीन अधिकारों की कोई पूछ नहीं है।

संक्षेप से मैंने वर्तमान शासन-प्रणालियों की विशेषताओं का दिग्दर्शन करा दिया है। इसे दिग्दर्शन ही समझना चाहिये, क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से यह बहुत अधूरा है, परन्तु मेरे इस लेख का जो उद्देश्य है, उसके लिये अधूरा दिग्दर्शन भी पर्याप्त है। भारत की भावी शासन-व्यवस्था कैसी होनी चाहिये, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये उपर्युक्त श्रेणि-विभाग का निर्देश ही काफ़ी है।

राजतंत्र ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये सब से पहली बात, जिसे हम भावी शासन-विधान का केन्द्र-भूत विचार कहेंगे, यह है कि भावी भारत में वंशपरम्परागत एक राजा की सत्ता की कल्पना भी असम्भव है। [illegible] कई कारण हैं। सब से प्रथम कारण तो यह है कि पराधीन भारत की भूमि को ही यह सौभाग्य प्राप्त है कि उसमें सैकड़ों, शायद हजारों महा-पुरुष ऐसे पड़े है, जो महाराजाधिराज, महाराज, राजा, नवाब, आदि उपाधियों से विभूषित होने के कारण भारत के भावी सम्राट होने के दावेदार हैं। उन में से न कोई छोटा बनना चाहेगा और न सामन्त बनना पसन्द करेगा। यह तो सम्भव है कि निज़ाम हैदराबाद और महाराज बड़ोदा एक विदेशी सम्राट् के सामन्त बन कर साथ साथ की कुर्सियों पर बैठ जायें, परन्तु उनमे से एक सम्राट् हो कर और दूसरा सामन्त होकर रहे, यह असम्भव बात है।

दूसरा कारण भी प्रथम कारण से ही सम्बद्ध है। भारत का दुर्भाग्य है कि इस मे कई धर्म है—और उससे भी बड़ा दुर्भाग्य यह है कि यहां धर्म को जीवन का प्रधान प्रेरक कारण समझा जाता है। यदि स्वाधीन भारत में वंशपरम्परागत शासन-प्रणाली प्रचलित हो, तो सब से बड़ी कठिनाई तो यही रहेगी कि वह एक शासक हिन्दू हो या मुसल्मान, सिक्ख हो या पारसी? एकसत्तात्मक शासन प्रणाली में सब से बड़ी आशंका तो यही है कि स्वाधीन भारत मे एक को छोड़ शेष सब धर्मों के मानने वाले लोग सदा शासन के विरोधी ही रहेंगे।

यह दो कठिनाइयें ही वंशपरम्परागत शासन-प्रणाली को असम्भव बनाने के लिये पर्याप्त है, जब उनके साथ एक तीसरा कारण शामिल हो जायगा तो उस प्रणाली पर विचार करना भी उपहास्य और व्यर्थ सा प्रतीत होने लगता है। वंशपरम्परागत शासन प्रणाली के दिन पूरे हो चुके। उसने अपने सुदीर्घ जीवन मे मनुष्य जाति की उन्नति को रोकने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उसे सीमाबद्ध करके सुधारने का यत्न किया गया, परन्तु वह भी सफल नहीं हुआ, क्योंकि समय और अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य जाति के राजनीतिक कष्टों का मूल कारण साम्राज्यवाद है और साम्राज्यवाद के भवन की नींव एकसत्तात्मक शासन-प्रणाली पर कायम है। यदि मनुष्य जाति को राजनीतिक अशान्ति से बचाना हो तो साम्राज्यवाद और उसकी बहिन वंशपरम्परागत शासन-प्रणाली को विषैला कूड़ा करकट समझ कर सदा के लिये भस्मसात् कर देना होगा। इस प्रकार पहली दूसरी श्रेणी की शासन-प्रणालियें भारत के लिये सर्वथा असंगत और असम्भव हैं।

डिक्टेटरशिप ?

तीसरी श्रेणी को पीछे के लिये छोड़ कर हम पहले चौथी श्रेणी के सम्बन्ध मे विचार करेंगे। चौथी श्रेणी में हमने उन देशों को रखा है, जिन मे प्रजातन्त्र शासन प्रणाली के पर्दे मे छिपी हुई एकसत्तात्मक प्रणाली प्रचलित है। टर्की मे कोई वंशपरम्परागत शासन नहीं है। वंशपरम्परा खलीफा के साथ समाप्त हो गई। वर्तमान शासक मुस्तफा कमालपाशा को प्रजा ने निर्वाचित किया है। इस प्रकार टर्की की शासन-प्रणाली को हम प्रजा-सत्तात्मक कह सकते हैं, परन्तु साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कमालपाशा की शासन-शक्ति ब्रिटिश सम्राट् किंग जार्ज की शासन शक्ति से सैकड़ो गुना अधिक प्रबल है। यही दशा जर्मनी की है, जर्मनी का राष्ट्रपति हिटलर नंगी स्वेच्छाचारिता का जीता जागता नमूना है। जापान का सम्राट् कभी स्वप्न मे भी उस स्वेच्छाचारिता के प्रयोग की

कल्पना नहीं कर सकता, जो हिटलर के लिए बाये हाथ का खेल है। कमालपाशा या हिटलर जैसे शासक असाधारण दशाओं के परिणाम होते हैं। उन्हें स्थायी रूप में किसी देश की शासन-पद्धति का भाग नहीं बनाया जा सकता। सम्भव है कि भारतवर्ष को भी सुव्यवस्थित रूप में आने से पूर्व हिटलरशाही में से गुजरना पड़े क्योंकि परिवर्तनकाल में प्रायः असाधारण वस्तुएं पैदा हो जाती हैं, परन्तु अन्त में या तो खोल ही रहेगा या असली वस्तु। प्रजातन्त्र पद्धति और हिटलरशाही चिरकाल तक इकट्ठी नहीं रह सकतीं।

प्रजासत्तात्मक शासन पद्धति

अब दो श्रेणियें शेष रह जाती हैं। एक तो वह श्रेणी जिस में अमरीका फ्रांस आदि मुख्य हैं और दूसरी वह श्रेणी रूस को जिस का सब से उत्कृष्ट नमूना समझा जा सकता है। इन दोनों श्रेणियों में समानतायें तो यह हैं कि दोनों ही वंशपरम्परागत राजनीतिक अधिकारों की सर्वथा उपेक्षा करती हैं और प्रजा के अधिकारों को सर्वोपरि मानती हैं। परन्तु दोनों में विषमतायें भी कम नहीं हैं और मौलिक हैं। अमरीका की शासनप्रणाली का आधार पूंजीवाद है और रूस की शासन-प्रणाली का आधार साम्यवाद। पुराने योरुप में गत १८ शताब्दियों में राजा और प्रजा के अधिकारों का जो संघर्ष हो रहा था अमरीका का प्रजातन्त्र उस का अन्तिम रूप है। रूस के प्रजातन्त्र का आधार ही दूसरा है। यदि अमरीका की रिपब्लिक को हम पुरानी दुनिया के राजनीतिक इतिहास का अन्तिम अध्याय कह सकते हैं तो रूस की रिपब्लिक नवीन दुनिया के राजनीतिक इतिहास का पहला अध्याय है।

पूंजीवाद ?

यह तो हम देख चुके हैं कि भारत की भावी राज्यप्रणाली में वंशपरम्परागत राजसत्ता को किसी रूप में भी स्थान नहीं मिल सकता। विशुद्ध प्रजासत्तात्मक राजप्रणाली ही उस के लिए सम्भव हो सकती है। अब हमें यह देखना है कि प्रजासत्तात्मक प्रणाली के दो प्रकारों में से कौन सा प्रकार भारत के लिए उपयोगी हो सकता है। हरेक देश की राज्यप्रणाली में अपनी अपनी स्थिति के अनुसार गौण भेद रहा करते हैं। इस कारण अमरीका या रूस की राज्यप्रणाली अपने उसी रूप में भारत में प्रचलित हो सके यह असम्भव है। उन में परिस्थिति के अनुसार तो परिवर्तन करना ही पड़ेगा परन्तु कई कारणों से प्रतीत होता है कि भावी भारत के लिए वह प्रजातन्त्र पद्धति जो अमरीका में प्रचलित है अधिक उपयोगी नहीं हो सकता। सब से मुख्य कारण तो यह है कि उस का आधार पूंजीवाद है और पूंजीवाद संसार के लिए एक अभिशाप सिद्ध हो चुका है। मनुष्य जाति ने साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के बहुत मजे ले लिए हैं। इन दोनों वादों का फल यह हुआ है कि थोड़े लोग सुखी रहे हैं और अधिक दुःखी। मनुष्य जाति के बड़े हिस्से को इन दोनों वादों के व्यावहारिक रूपों ने अपाहज और दीन बना दिया है। मनुष्य जाति इन से उकता गई है। जिस बला से दुनिया छूटने का यत्न कर रही है यत्नपूर्वक भारत उसे गले में धारण करे यह कितनी भद्दी कल्पना है।

बन्धन का अभाव

अमरीका की सी प्रजातन्त्र-पद्धति भारत के लिए उपयोगी नहीं बन सकती। इस का एक यह भी कारण है कि कोई भी राष्ट्र तब तक एक राज्य के सूत्र में पिरोया नहीं जा सकता जब तक कि उस के मिलाने वाला एक मजबूत बन्धन न हो। भारत में वह मजबूत बन्धन कौन सा है? एक शासक का व्यक्तित्व वह बन्धन नहीं है क्योंकि सारा भारत किसी एक वंशपरम्परागत देसी शासक को स्वीकार नहीं कर सकता। धार्मिक बन्धन भी नहीं है क्योंकि दुर्भाग्य से भारत में अनेक धर्म प्रचलित हैं। यहां भाषा भाव और संस्कारों के भेद भी उग्र रूप में विद्यमान हैं। ऐसी दशा में भारत के लिए वह शासन-प्रणाली, जो एंग्लो-सैक्सन जाति के लिए उपयोगी हो सकती है कभी अनुकूल सिद्ध नहीं हो सकती।

तो फिर क्या ?

हमें भारत का भावी शासन सर्वथा नए आधारों पर स्थापित करना पड़ेगा। भारत के अधिकांश-निवासी कृषि करते हैं। जो कृषि नहीं करते वह मेहनत मजदूरी करते हैं। एक बहुत थोड़ा हिस्सा है जो उपर्युक्त पेशों में लगा हुआ है। भारत का भावी स्वराज्य उस थोड़े से हिस्से का स्वराज्य नहीं हो सकता। उसे न एक भाषा की शक्ति मिल सकती है, और न एक धर्म की। जिस शक्ति पर वह जीवित रह सकेगा वह शक्ति कोई दूसरी ही होनी चाहिये। गरीब और परिश्रमी प्रजा की एकत्व भावना ही वह शक्ति है जिसके आधार पर भावी भारत का राज्यभवन खड़ा किया जा सकता है। इस कारण भारत का भावी स्वराज्य ऐसी प्रजातन्त्र शासन-पद्धति पर अवलम्बित होना चाहिये, जिसका आधार पूंजीवाद न हो। भारत की शायद ९९ फी सदी जनता श्रम से जीवित है। कोई भूमि पर श्रम करता है तो कोई कारखानों में। ९९ फी सदी भारतवासियों की एक अभिन्न भावना ही ऐसी प्रबल डोरी है जिससे भावी भारत के संगठन को मजबूत किया जा सकता है, इस प्रकार हमारा स्वराज्य श्रम की समता के अधिकारों पर अवलम्बित प्रजातंत्र प्रणाली के अनुसार होना चाहिये, यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

——:०:——

विश्व की दो विभूतियां

भारत के साहित्यकार

विश्वकवि रवीन्द्र

कुछ मास पूर्व अमरिका के न्यूयार्क नगर में अन्तर्राष्ट्रीय भवन की एक भोज-सभा में यह विवाद उत्पन्न हुआ था कि इस समय संसार में ऐसे कौन दो व्यक्ति हैं जो सबसे अधिक यशस्वी एवं माननीय हैं। इस भोज-सभा के सभापति थे कालम्बिया यूनिवर्सिटी के एक प्रोफेसर। उन्होंने कहा— ऐसे दो व्यक्ति हैं सही किन्तु क्या वे अमरिकानिवासी हैं? श्रोताओं में से हां कहने वालों के संकेत को देखने पर उनकी संख्या अधिक नहीं थी।

अतः उन्होंने पूछा— तब क्या वे अंग्रेज हैं? इस बार भी स्वीकृति-सूचक संकेत अधिक नहीं देखे गये।

उन्होंने फिर [illegible] क्या वे फ्रांसीसी जर्मन अथवा यूरोप के अन्य किसी देश के निवासी हैं? कई व्यक्तियों ने इस विषय में भी सन्देह प्रकाशित कि[या]

तब सभापति ने खड़े होकर पूछा—तब क्या उनमें के एक व्यक्ति भारत के महान् जन-नायक म० गांधी एवं दूसरे भारत के ख्यातनामा विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं?

चारों दिशाओं से उसी समय एक स्वर से 'हां-हां' ध्वनि गूंज उठी।

भारत के जन-नायक

विश्व वंद्य

भारत का रंगमंच

भारतवर्ष का इतिहास संसार के सब देशों से प्राचीन है। जब अन्य देशवासी अभी कपड़ा पहनना सीख रहे थे भारतवर्ष में कला और शिल्प का पूर्ण विकास हो चुका था। प्रजातन्त्र राजतन्त्र आदि राजनैतिक संस्थाओं की भी उन्नति चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। भारतीय रंगमञ्च पर अत्यन्त प्राचीन काल से हजारों अभिनेताओं ने अभिनय किया। सैकड़ों वंश उठे और कुछ-कुछ समयतक अपनी चमक दिखा कर काल के प्रवाह में बह गये। सुदूर पश्चिमसे यूनानी विजेता के रूप में आये परन्तु वे भी भारतीय ही बन गये। यूची हूण आदि कितनी विदेशी जातियोंने भारतीय रंगमंच पर अपने जौहर दिखाये परन्तु आर्यों की विचक्षण राजनैतिक प्रतिभा के कारण वे भी भारतीयों में ऐसे मिल गये जैसे कि उनका कोई पृथक् अस्तित्व ही न हो। इस के बहुत समय बाद भारतके सीमाप्रान्त से उत्साही वीर धर्मान्ध और अदम्य मुसलमान आये तथा भारतीय रंगमंच पर ६०० वर्ष तक प्रधान पात्र बने रहे। कुछ भाग को छोड़ कर सम्पूर्ण भारत पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

परन्तु संसरणशील संसार में मुसलमान भी अपने गौरव व आधिपत्य को स्थिर न रख सके। औरंगजेब के समय एक बार फिर स्वतन्त्रता की लहर सारे देश में फैल गई। मरहठों सिखों और जाटों ने विदेशी और विधर्मी मुसलिम शासन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया।

अंग्रेज प्रधान पात्र के रूप में

सम्भव था कि भारत-भूमिमें मुसलमानों के स्थान पर शिवाजी और गुरुगोविन्दसिंह के द्वारा लगाया गया स्वतन्त्रता का वृक्ष लहलहा उठता। लेकिन इसी समय अकस्मात् ही मध्यनिशीथ के अन्धकार में अंग्रेजों ने — जो यहाँ मुगल बादशाहों की मिन्नत-खुशामद कर व्यापार करने आये थे — अपनी तराजुओं को तलवार के रूप में बदल दिया। हिन्दू राज्य की कल्पना बहुत समय के लिए विलुप्त हो गई। अंग्रेजों ने जिन षड्यन्त्रों कूटनीतियों व उपायों से भारत पर अधिकार किया उनके उल्लेख का न यहाँ स्थान है और न आवश्यकता ही। इतना कहना पर्याप्त है कि लार्ड डलहौजी के समय तक सम्पूर्ण भारतवर्ष के मानचित्र पर लाल रंग फिर गया।

कांग्रेस से पूर्व का राष्ट्रीय आन्दोलन

(ले०—श्री० के० सी० चौधरी)

कांग्रेस से पहले भारत में वर्तमान राष्ट्रीयता का उद्गम कैसे हुआ ब्रिटिश-शासन के प्रति असन्तोष कैसे पैदा हुआ हिन्दूसमाज के सुधारकों व अंग्रेजी शिक्षा और तत्कालीन राजनैतिक नेताओं ने भारत की राष्ट्रीय उन्नति में क्या भाग लिया राष्ट्रीय साहित्य का उसमें कितना स्थान था राष्ट्रीयता विकास कैसे हुआ और अन्त में एक अ० भा० राजनैतिक संस्था बनाने के विचार का कैसे प्रादुर्भाव हुआ आदि प्रश्नों का उत्तर विद्वान् लेखक ने इस लेख में मनोरंजक शैली से दिया है।

एक बार ऐसा मालूम हुआ कि भारत की स्वातन्त्र्य-भावना लुप्त हो गई है। सारे भारत में न केवल राजनैतिक पराधीनता ने अपना अधिकार कर लिया परन्तु मानसिक और आर्थिक दृष्टि से भी भारत पराधीनता के पाश में बुरी तरह जकड़ा गया। भारतीयों में स्वदेश और अपनी संस्कृति के प्रति न कोई अनुराग रहा न कोई उत्साह। लगातार पड़ने वाले दुर्भिक्षों आर्थिक शोषण व राजनैतिक परतन्त्रता ने भारत का सर्वस्व नष्ट कर दिया। भारतीय रंगमंच पर अंग्रेज अभिनेता ही मुख्य पात्र थे भारतीयों का यदि कोई भाग था भी तो वह केवल नौकर-चाकरों का। वे अपमानित किये जाते थे उन का सर्वस्व छीना जाता था और वे परवश कातर होकर अपने स्वामी की आज्ञा पालन करते थे।

राजा राममोहन राय

राष्ट्रीयता का उद्गम

परन्तु इस सार्वदेशिक पराधीनता का एक लाभ भी हुआ। नपोलियन के इटली व जर्मनी पर के आक्रमणों ने उन दोनों राष्ट्रों को एक और सुसंगठित राष्ट्र बना दिया था। सदी से विच्छिन्न जर्मन राष्ट्र एक होगया। इटली की भी वही दशा हुई। सम्पूर्ण भारत—विभिन्न प्रान्तों के विविध जातियों और धर्मों वाले निवासियों की छाती पर अंग्रेज अपनी दाल दल रहे थे। इसलिए एकसे दुःख से दुःखी भी एक हो गये। सारे भारत में राष्ट्रीयता की लहर अन्दर ही अन्दर बहने लगी। अंग्रेजों के विरुद्ध असन्तोष फैलना शुरू हुआ और अंग्रेजों ने आश्चर्य के साथ देखा कि सन् १८५७ में प्रायः सारे भारत में एकसाथ उनके शासन के विरुद्ध असन्तोष उग्ररूपेण प्रकट होगया। एक बार फिर ब्रिटिश शासन के अस्तित्व में सन्देह पैदा होगया। विद्रोह दावानल की भाँति फैल गया। वर्तमान राष्ट्रीयता—अंग्रेजी शासन से मुक्त होने की इच्छा—का पहला प्रदर्शन भारतीय रंगमंच पर इसी विद्रोह के रूप में हुआ।

यह विद्रोह सफल न हुआ परन्तु इससे ब्रिटिश सरकार के कान अवश्य खड़े हो गये। ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से शासन लेकर अपने हाथ में लिया और तत्कालीन महारानी विक्टोरिया ने प्रसिद्ध घोषणा की कि भारतीय शासन में बिना किसी जाति व धर्म के खयाल के लोगों को लिया जायगा।

बहुत से लोगों ने इस घोषणा-पत्र को भारत का 'मेग्नाचार्टा' समझा और बहुतों ने इसे रद्दी कागज का एक टुकड़ा। पर फिर भी जिन भारतीय राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रीय आन्दोलन किया, वह इसी को आधार मान कर।

नवयुग का आविर्भाव

यद्यपि लार्ड मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा की योजना केवल काले अंग्रेज जो सरकार व जनता के बीच में शृंखला का कार्य कर सकें पैदा करने के उद्देश्य से ही तैयार की थी तथापि यूरोपीय स्वातन्त्र्य-युद्ध अधिकार प्राप्ति के लिए किये गये प्रजा के प्रयत्नों और यूरोपीय शासन के इतिहास का अध्ययन करने से अंग्रेजी-शिक्षितों में भी एक ऐसा दल पैदा हो गया जो भारत में भी ब्रिटिश विधान के अनुसार प्रतिनिधि-शासन का इच्छुक था। इस दल की अपनी महत्वाकांक्षायें थीं। शासन में यह भी समानरूपेण भाग लेना चाहता था। अंग्रेज प्रजा को जो अधिकार प्राप्त थे, उन्हें यह भी चाहने लगा। अपनी जाति के सामाजिक पतन को देख कर यह दुःखी था। विचार-स्वातन्त्र्य की भावना ने इसके मस्तिष्क में घर कर लिया था। इस परिस्थिति में राजा राममोहनराय ने ब्रह्मसमाज को जन्म दिया। इसने जहाँ सामाजिक सुधारों की आवाज उठाई वहाँ राजनैतिक महत्वाकांक्षा भी लोगों के हृदय में जागृत कर दी। इस समाज ने बंगाल में नवजीवन, नवस्फूर्ति और नवीन संदेश का संचार कर दिया। केशवचन्द्र सेन ने एक जगह लिखा था विजेता और विजित जाति में भ्रातृभाव कहाँ है? जब योरोपियन भारतीय को एक चालाक लोमड़ी समझ कर उससे घृणा करता है, तब एक देशी भी उसे भयंकर भेड़िया समझ कर उससे डरता है।

पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के विधवा-विवाह-आन्दोलन और श्री प्यारीचरण सरकार के मद्य-निषेध-आन्दोलन ने भी बंगाल की प्रसुप्त जनता में जागृति उत्पन्न करने में कम सहायता नहीं दी। जब इस आन्दोलन में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनन्दमोहन बसु भी सम्मिलित हो गये तब इस आन्दोलन को बड़ा बल मिला।

उत्तरीय भारत में नवयुग के आचार्य ऋषि दयानन्द ने जहाँ सामाजिक सुधार की जोरदार आवाज उठाई, पौराणिक कुरीतियों व कुप्रथाओं के विरुद्ध जहाद बोला वहाँ उन्होंने भारतीयों में स्वदेश के प्रति अनुराग प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम और स्वतन्त्रता के लिये उत्सुकता भी पैदा की। उन्होंने लोगों को खुल्लम-खुल्ला बताया कि "विदेशी राज्य से

चाहे वो कितना ही अच्छा क्यों न हो स्वन्शी राज्य चाहे उसमे कितनी ही त्रुटिया क्यों न हो, अच्छा होता है। यह सन स पहली आवाज था जिसम स्वतन्त्र होन की महत्वाकाक्षा इतन स्पष्ट शब्दों म प्रगट की गई थी। आर्यसमाज क आन्दोलन न उत्तरीय भारत मे सामाजिक जागृति क साथ-साथ राजनैतिक जागृति भी उत्पन्न कर दी।

महर्षि दयानन्द

जो कार्य ब्राह्मसमाज न बगाल में और आर्यसमाज न पजाब मे किया, वही काम दक्षिण मे थियासाफिकल सोसायटी न किया। मडम ब्लवेटस्की और करनल आलकाट न भारतीयों को उनकी प्राचीन सभ्यता की श्रेष्ठता बताते हुए उनमें महत्त्वाकाक्षा उत्पन्न कर दी। 'हम दास हैं, नि:शक्त हैं स्वतन्त्र होन के योग्य नहीं हैं' इस भावना का —, —श हुआ वहा स्वत— होन की अभिलाषा जाग्रत हो गई। इसम हिन्दू समाज को नवीन आशा, नवीन शक्ति और नवीन स्फूर्ति मिली।

ब्राह्मसमाजियों आर्यसमाजियों व थियोसाफिस्टों न भारतवर्ष की उन्नति – सवा। उन्नति का जो अभिलाषा उत्पन्न हुई थी उस म अंग्रेज़ीसिल बहुत बाधक था। इस-— राजनैतिक भावना भी खूब जोरों क साथ पदा हुई। सामाजिक जागृति हमेशा अपन साथ राजनैतिक जागृति लाती है। वही अब भी हिन्दू समाज क सुधार क साथ हुआ।

साहित्य की क्रान्ति

विद्रोह क १५-२० साल बाद क साहित्य न भी लोगो में राजनैतिक रुचि पैदा कर दी। वहाबियों क नता अमीरखाँ को सरकार न राजविद्रोह क अपराध में गिरफ्तार कर लिया था। उस की ओर स मि० एन्स्टन जो सफाई दी उसन युवक बगाल को बहुत आकृष्ट किया। उन दिनो प्रत्येक युवक क घर में उस क भाषण की एक एक प्रति अवश्य दिखाई देती थी। बगाल क निलहे गोरो क अत्याचारों क विरुद्ध भी जो आन्दोलन हुआ उसन भा राजनैतिक जागृति पैदा करन में कम भाग नहीं लिया।

राजा राममोहन राय की सवाद-पत्रिका' कवि ईश्वरचन्द्र क प्रभाकर क्रस्टोदासपाल क हिन्दू पट्रियट न जहाँ थोडी-बहुत जागृति पदा की वहाँ श्री शिशिरकुमार घोष की अमृतबाजार-पत्रिका न हलचल ही मचा दी। रास्त-गुफ्तार बम्बई-समाचार जाम-जमशेद इन्दुप्रकाश और मरहट्टा न गुजरात और महाराष्ट्र मे राजनतिक भावना उत्पन्न करन मे बहुत भाग लिया। १८७८ म आ० आनन्द चार्लू प्रभृति न मद्रास म प्रसिद्ध हिन्दू का प्रकाशन शुरू किया। पजाब मे सरदार दयालसिह आदि न ट्रिब्यून चलाया। १८७५ ई० मे ४७८ पत्र-पत्रिकायें निकलता थी जिनमें से अधिकाश देशी भाषाओ मे थीं। इसी समय अनक प्रतिभाशाली विद्वान् लेखकों न इतिहास उपन्यास नाटक काव्य आदि लिखकर भी राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता का दिव्य सन्देश दिया। श्री रमेशचन्द्र दत्त क इतिहासों और विशेष कर ब्रिटिश भारत के आर्थिक इतिहास न लोगों को यह भली भाति बता दिया कि ब्रिटिश शासन में भारत का आर्थिक शोषण कैसे हुआ। भारत माता' और नीलदर्पण' (गोरे निलहों क अत्याचारों का प्रदर्शक) नाटको न जहाँ राष्ट्रीय आदर्श और जातीय अभिमान पैदा किया वहा बकिम क आनन्दमठ और हेमचन्द्र क भारत-सगीत' न उस म और भी बढा दिया। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर अरविन्द घोष आदि अनक लेखकों न भी राष्ट्रीय साहित्य पैदा कर बगाल में राजनैतिक चतनता को मूर्तरूप दे दिया।

राजनैतिक सस्थायें

राष्ट्रीय साहित्य न जहा लोगो मे महत्वाकाक्षा पैदा कर दी थी उस पूरा करन क उद्देश्य स कांग्रेस स पूर्व भी अनक राजनैतिक सस्थाय भी खुलन लग गई थीं। कलकत्ता और बम्बई मे १८५१ में ही दो एसोसियेशन स्थापित किय जा चुक थ। बम्बई क सघ मे पितामह दादाभाई नौरोजी का हाथ था। हिन्दू के प्रवर्तकों न मद्रास में महाजन-सभा स्थापित की। महाराष्ट्र भी पीछ नहीं रहा था। महाराष्ट्रीय विद्वन्मण्डल क नक्षत्र महादव गोविन्द रानाडे क नतृत्व में पूना मे भी सार्वजनिक सभा स्थापित हो चुकी थी।

इन्हीं दिनो भारत क राजनैतिक क्षेत्र मे एक बडे तजस्वी प्रभावशाली नता न पर रखा और वह था बगाल का शेर सुरन्द्रनाथ बनर्जी। कलकत्ते का ब्रिटिश इण्डियन एसोसियशन क्वल जमींदारों का हित देखता था। अमृत बाजार पत्रिका क सम्पादक शिशिरकुमार घोष द्वारा स्थापित इण्डियन लाग भी लोगों को आकृष्ट न कर सकी तब सुरन्द्रनाथ बनर्जी

श्री सुरन्द्रनाथ बनरजी

न श्री आनन्दमोहन बसु का सहयोग प्राप्त कर १८७६ मे इण्डियन एसोसियशन की स्थापना की। इस का उद्देश्य बगाल मे राजनैतिक आन्दोलन करना और शन: शनै: सम्पूर्ण भारत तक अपन आन्दोलन का क्षेत्र बढ़ाना था। इन सस्थाओं ने उस समय कितनी राजनैतिक जागृति पैदा कर दी थी इसका प्रमाण घटना से मिलता है जब कि ला० नार्थब्रुक की विदाई क अवसर पर उस का स्मारक बनान क सम्बन्ध में बगाल गवर्नर क सभापतित्व में सभा हो रही थी और १० युवकों न वहा पहुच कर स्मारक बनान का विरोध किया। यह इस प्रकार की पहली घटना थी जब गवर्नर जैसे उच्चाधिकारी क सामन भारतीयों न अपनी इच्छा खुले और स्पष्ट शब्दों में रक्खी।

श्री सुरन्द्रनाथ बनर्जी न जिस उत्साह लगन व परिश्रम स कार्य करना प्रारम्भ किया वह भारतीयों क लिय अनुपम था। उनकी प्रकाण्ड योग्यता अद्भुत कार्यकुशलता उत्कट देशभक्ति और सबस अधिक उन की ओजस्विनी वक्तृत्वकला न जनता मे एक अपूर्व भावना व स्फूर्ति का सञ्चार कर दिया। सुरन्द्रनाथ बनर्जी को इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा पास कर लेने पर भी नोकरी नहीं दी गई और न बैरिस्टरी करन की ही आज्ञा मिली। भारत के भाग्य अच्छे थे, सुरन्द्र बनर्जी अफ़सर न बनकर राष्ट्रीय भारत के पिता बन गय।

औरगजेब क अत्याचारों न हिन्दुओं की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता भावना को उद्बुद्ध करन में जो स्थान लिया था लार्ड लिटन क शासन न भी वही स्थान भारत की राष्ट्रीय भावना को उत्साहित करन मे लिया। उसन उच्च-शिक्षा पर रोक लगा दी इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा की शर्तें कुछ कठोर करदीं (जिस स भारतीय कम बैठ सकें) भारत क व्यय पर सीमाप्रान्त मे एक भीषण युद्ध छेड़ दिया भयकर देश-व्यापी दुर्भिक्ष होते हुय भी बडे ठाठबाठ स करोडों रुपया व्यय कर एक दरबार किया देशी अखबारो पर नियन्त्रण और भी कठोर कर दिया और शस्त्रास्त्र रखन का अधिकार भी छीन लिया। इन सब अत्याचारो से भारत की शिक्षित जनता क्षुब्ध हो उठी। बगाल के शेर न १८७७-७८ में सम्पूर्ण भारत का दौरा किया और विभिन्न प्रान्तों क सार्वजनिक नताओं को एक सूत्र में ग्रथित किया। यह पहला अवसर था जब सम्पूर्ण भारत क सार्वजनिक कार्यकर्ताओं न किसी प्रश्नपर एकमत होकर आन्दोलन किया हो। एक डेपुटेशन भी इस सस्था की ओर स इगलैण्ड भेजा गया। दिल्ली दरबार में भारत क कोने कोन स देशी राजा व अन्य अमीर उमरा एकत्र हुय थ। सुरन्द्रनाथ आदि के दिलमे यह विचार उत्पन्न हुआ कि जब वायसराय के निमन्त्रण पर सारा भारत एक हो सकता है तब भारतमाता क नाम पर वह क्यों नहीं एक हो सकता? इसी समय वस्तुतः अखिल भारतीय सस्था क विचार का जन्म हुआ। दरबार क अवसर पर भी सब प्रान्तों के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं में विचार-विनिमय हुआ। १८८३ में कलकत्ते में नेशनल कान्फ्रेन्स की गई जिसमें सुरन्द्रनाथ बनर्जी ने अखिल भारतीय सगठन बनान का प्रस्ताव रखा। १८८४ ई० में इसी उद्देश्य स उन्होंने सार भारत का दौरा किया। १८८५ में जिन दिनों नशनल कान्फ्रेन्स का दूसरा अधिवेशन हो रहा था और उसमे अखिल भारतीय सस्था बनान का विचार हो रहा था, उन्हीं दिनों बम्बई में आल इडिया नशनल कांग्रेस की स्थापना का समाचार कलकत्ता पहुच गया।

पहेली

वस्तुतः यह विचित्र पहेली है कि उन्हीं दिनों जब कि अखिल भारतीय संस्था बनाने का निश्चय सुरन्द्रनाथ

गांधीवाद

सत्य

अहिंसा

(ले०—श्री हरिभाऊ उपाध्याय)

इस लेख के लेखक श्री० हरिभाऊ उपाध्याय ने केवल राजस्थान के प्रमुख कार्यकर्ता है अपितु आपने गांधी जी के सम्पर्क मे रहकर उनकी विचारधारा को हृदयगम करते हुए सात्विकता को अपने जीवन मे परिणत करने का भी प्रयत्न किया है। इसलिये इस विषय पर उनके विचार पाठकों के लिये मननीय और उपयोगी होंगे।

सत्य क्या है अहिंसा क्या है सत्य और भौतिक बल मे कौन प्रधान है?—आदि प्रश्नों का दार्शनिक विवेचन बहुत उत्तमता से लेखक ने इस लेख मे किया है।
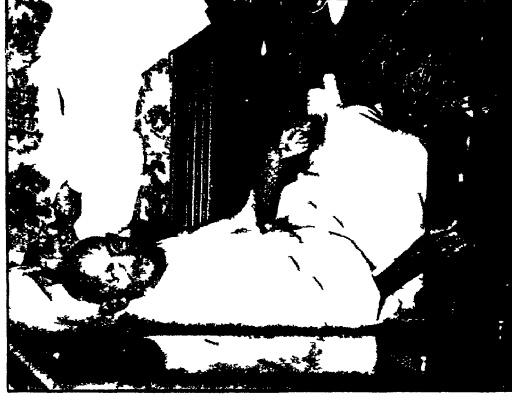
गांधी-वाद पर अधिकार-पूर्वक लिखना कठिन है। एक तो इसका अभी पूरा विकास नहीं हुआ है इतनी पूर्णता को अभी नहीं पहुंचा है कि उसका सम्पूर्ण और निश्चित स्वरूप लोगों के सामने रक्खा जा सके दूसरे जब तक महात्मा जी मौजूद हैं तब तक इस विषय पर लिखने का अधिकार एकमात्र उन्हीं को है। जो जिस वस्तु का प्रणेता है वही उसे अधिकारपूर्वक और वास्तविक रूप मे अच्छी तरह रख सकता है। मुझ जैसे लोग जिन्होंने गांधीवाद को थोड़ा बहुत हृदयगम करने का अधकचरा प्रयत्न किया है वे तो बहुत हुआ तो उस की रूपरेखा मात्र दे सकते हैं इधर उधर से कुछ रोशनी ही डाल सकते हैं।

महात्मा जी जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं जिस के आधार पर उन्होंने अपना जीवन बनाया है जिस के बल पर उन्होंने दक्षिण अफ्रीका और भारतवर्ष मे अपूर्व सफलतायें प्राप्त की हैं एक से एक बढ़ कर चमत्कार दिखाये हैं उसे उन्होंने सत्याग्रह नाम दिया है। एक अध्यापक महोदय ने सत्याग्रह का स्वतन्त्र अर्थ करने का प्रयत्न किया है, परन्तु मैं समझता हूं कि जिस व्यक्ति ने जिस शब्द को जन्म दिया है उसको उसी अर्थ मे दूसरों को ग्रहण करना चाहिये जिस अर्थ मे वह — उसका जन्मदाता — उस का प्रयोग करता है। कम से कम न्याय औचित्य और सत्य प्रेम का यही तकाजा है।

सत्याग्रह

अब हमे यह जान लेना चाहिये कि सत्याग्रह से महात्मा जी का अभिप्राय क्या है? सत्य+आग्रह इन दो शब्दों को मिला कर सत्याग्रह बनाया गया है। इस मे मूल और असली शब्द तो सत्य ही है। सत्य पर डटे रहने का नाम है सत्याग्रह। अब प्रश्न यह है कि सत्य क्या है? इसका निश्चयात्मक उत्तर वही दे सकता है जिस ने सत्य को पा लिया हो जिसका जीवन सत्यमय हो गया हो जो स्वयं ही सत्य हो गया हो। हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों और दर्शनकारों ने इसे समझाने का यत्न किया है पर वे इसकी महिमा का बखान करके या कुछ झलक दिखाकर ही रह गये हैं। मैं समझता हूं—इस से अधिक मनुष्य के बस मे है भी नहीं। सत्य की पूर्णता व्यापकता और घनता न तो बुद्धिगम्य ही है और न वर्णन-साध्य ही है। उसकी व्यापकता पर विचार करने लगते हैं तो यह ब्रह्माण्ड भी छोटा मालूम होता है जनता के तरफ बढ़ते हैं तो कल्पित या मनोगत बिन्दु भी बड़ा दिखाई देता है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और विराट से भी विराट है। इस से अधिक वर्णन उसका नहीं हो सकता।

समझें कैसे?

तब मनुष्य उसे समझे कैसे? प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि और शक्ति के ही अनुसार उसे समझ या ग्रहण कर सकता है। तो प्रत्येक मनुष्य के दिल मे जो बना हुआ जो उसे जंच गया। तो क्या प्रत्येक जंचने वाली बात को सत्य ही मान लेना चाहिये? नहीं निर्मल अन्तःकरण मे जो स्फुरित हो सात्विक बुद्धि में जो प्रवेश कर जाय वही सत्य शब्द से परिचित कराया जा सकता है। वह वास्तविक सत्य चाहे न हो किन्तु उस व्यक्ति के लिए तब तक तो वही सत्य रहेगा जब तक उसे आगे सत्य का और या भिन्न प्रकार से दर्शन न हो। इस को सापेक्ष्य या अर्ध या आंशिक सत्य ही समझना चाहिये यह उस मनुष्य की असमर्थता अपूर्णता अवश्य है किन्तु अपने विकास की वर्तमान अवस्था मे इस से अधिक सत्य का दर्शन उसे हो ही नहीं रहा है तो वह क्या करेगा? वह उसी आंशिक सत्य पर दृढ़ रहेगा और आगे सत्य दर्शन की राह देखेगा एवं उसके लिए यत्न करेगा। सत्य शोधन का सत्य को पाने का यही मार्ग है। किन्तु इस मे यह बात न भूलना चाहिये कि सत्य शोधन मे प्रगति करने के लिए अन्तःकरण की निर्मलता और बुद्धि की सात्विकता को दिन दिन बढ़ाना अनिवार्य है। ऐसा न करेंगे तो आपकी गति कुण्ठित हो जायगी आप उसी अपने माने हुए अर्ध या आंशिक सत्य पर ही जो असत्य भी हो सकता है चिपके रह जायेंगे और सम्भव है कि उस से आपकी अधोगति भी हो जाय।

अहिंसा

अब इन आंशिक सत्यों मे झगड़ा शुरू हो तो क्या किया जाय? आप एक बात को सत्य मान हुए हैं मैं दूसरी बात को। और वे दोनों परस्पर विरुद्ध हैं तो आपका मेरा परस्पर व्यवहार और संघर्ष कैसा होना चाहिये? सहिष्णुता का या जोर जुल्म का? यदि जोर-जुल्म का तो फिर आप मुझ से मेरे सत्य पर डटे रहने का अधिकार छीनते हैं। यह तो सत्य की आराधना नहीं हुई। आप को अपना ही सत्य प्रिय है उसी की आप को चिन्ता है मेरे सत्य की आप बिलकुल ही उपेक्षा करते हैं तो आप जुल्मी स्वार्थी एकांगी पक्षपाती क्या नहीं हुए? यदि आप की वृत्ति ऐसी है तो फिर क्या आप स्वयं भी अपने सत्यशोधन का रास्ता नहीं रोक रहे हैं? इस दशा मे तो आप अपने और मेरे दोनों के सत्य के बाधक हो गये। दूसरे शब्दों मे आप सत्य के द्रोही बन गये। पर यदि आप सहिष्णुता का व्यवहार रखते हैं तो अपने और मेरे दोनों के लिये सत्य शोधन का मार्ग विस्तीर्ण कर देते हैं। दोनों मे विग्रह और द्वेष की जगह प्रेम और मिठास का भाव एवं सम्बन्ध बढ़ाते हैं। इसी वृत्ति का नाम अहिंसा है।

सत्य के शोधन मे अहिंसा के बिना काम चल ही नहीं सकता। आप एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। यही नहीं बल्कि अन्तःकरण की निर्मलता बुद्धि की सात्विकता जिनके बिना आपका अन्तःकरण सत्य स्फुरित होने के योग्य ही नहीं बन सकता वास्तव मे देखा जाय तो इस अहिंसा-वृत्ति के ही फल हो सकते हैं। अन्तःकरण को निर्मल और बुद्धि को सात्विक आप तभी बना सकते हैं जब आप अपने को राग द्वेष से ऊपर उठाते रहेंगे। राग द्वेष से ऊपर रहना अहिंसा का ही दूसरा नाम है।

इस तरह सत्य के साथ अहिंसा अपने आप जुड़ी हुई है। दोनों एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। दोनों का एक दूसरे से पृथक या भिन्न कल्पना करना अपने को सत्य से दूर हटाना है फिर भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि सत्य साध्य है और अहिंसा साधन। अहिंसा के बिना आप सत्य को पा नहीं सकते इस लिए इस का महत्व सत्य के ही बराबर है किन्तु उसका दर्जा सत्य के बराबर नहीं हो सकता।

सत्य बनाम भौतिक बल

सत्य यदि वास्तव मे सत्य है सारा ब्रह्माण्ड यदि एक सत्य है है या सत्य नियम पर ही उस का आधार और अस्तित्व है और यदि वही

न कर लिया था बम्बई मे दूसरा अ० भा० संस्था क्या खोली गई? कुछ ऐतिहासिकों का कहना है कि अदम्य सुरेन्द्रनाथ के प्रभाव से सरकार डरती थी। मि० ह्यूम जो स्वयं थियोसोफिस्ट थे सरकार को अधिक अप्रसन्न न करना चाहते थे और इसलिये सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रमुख स्थान न देने के उद्देश्य से उन्होंने उनकी अनुपस्थिति में कांग्रेस की स्थापना कर डाली। लेकिन उनका यह विचार कितना असफल सिद्ध हुआ यह सभी जानते हैं।

कांग्रेस के जन्म के पूर्व सुधारकों कवियों लेखकों व नेताओं ने जिस राष्ट्रीयता को जन्म दिया उसी को आगे बढ़ाने का कार्य कांग्रेस ने अपने जिम्मे ले लिया। यदि वे ऐसी वातावरण तैयार न कर जाते तो कांग्रेस को इतनी सफलता मिलनी कठिन थी जितनी हम आज देख रहे हैं।

—०—

सत्य हम मे ओत-प्रोत है तो फिर हमें अपनी छोटी-सी तलवार पिस्तौल या मशीनगन अथवा अन्य भीषण भीमकाय शस्त्रास्त्रों से उसकी रक्षा करन की आवश्यकता ही क्या है ? क्या हमारे य भयानक और मारक साधन उसकी रक्षा भी कर सकेंगे ? यदि हम मानत है कि हा तो फिर य सत्य मे बढ कर साबित हुए । तो फिर सत्य की अपेक्षा इन्हीं की पूजा क्यों न होनी चाहिये ? 'सत्य एव परो धर्म' की जगह 'शस्त्रमेव परो धर्मः' का प्रचार होना ही उचित है । 'सत्यमेव जयते नाऽनृतम्' की जगह 'शस्त्रमेव जयते' की घोषणा होनी चाहिये । तो फिर अब तक जगत् मे किसी न शस्त्र को सत्य से बढ कर क्यों नहीं बताया ? इसीलिए कि सत्य और शस्त्र की कोई तुलना नहीं । शस्त्र यदि किसी बात का प्रतीक हो सकता है तो वह असत्य का । सत्य तो स्वयं रक्षित है । सूर्य की कोई क्या रक्षा करेगा ? सत्य के तेज के मुकाबले में हजारों सूर्य कुछ भी नहीं हैं । चूंकि हम में सत्य कम होता है इसीलिये हमें शासन की सहायता की आवश्यकता प्रतीत होती है; क्योंकि असत्य हम में अधिक होता है और वह अपने मित्र साथी या प्रतीक की ही सहायता प्राप्त करने के लिए हमें प्रेरित करता है । अतएव सत्य का हिंसा या शस्त्र से कोई नाता नहीं । यह बात सूर्य के प्रकाश की तरह हमारे सामने स्पष्ट रहनी और हो जानी चाहिये ।

शक्ति और प्रकाश

सत्य की शोध और सत्य पर डटे रहने की प्रवृत्ति मे ही वह प्रतिकार-बल उत्पन्न होता है जो सत्याग्रही का वास्तविक बल है । सत्य की शोधन का बुद्धि उसे नित्य नया प्रकाश देती है और जो सत्य स्फुरित हुआ है उस पर डटे रहने मे उस में दृढता बल और असत्य से लड़ने की स्फूर्ति आती है । इस प्रकार सत्याग्रह में ज्ञान और बल दोनों का समावेश अपने आप होता रहता है । जहां ये दोनों है वहां पराजय असफलता अशान्ति दुःख और चिन्ता कैसे टिक सकते हैं ? सत्य के इसी अनन्त और नित्य-नवीन ज्ञान एवं अमोघ बल के आधार पर महात्मा जी कहा करते हैं कि शुद्ध सत्याग्रही एक भी हो तो वह सारी दुनिया को हिला सकता है । कौन कह सकता है कि उन का यह दावा बुद्धिगम्य नहीं है ? सत्य के त्रुटियुक्त अपूर्ण और छोटे प्रयोगों मे भी जब हमने जबर्दस्त शक्ति उत्पन्न होती हुई देखी है तो इस में क्या शक हो सकता है कि सत्याग्रही जितना ही अधिक शुद्धता और पूर्णता के निकट पहुंचेगा उतनी ही उस की गति तेज बल अपरिमित और दुर्दमनीय होंगे ।

सारांश यह कि एक ओर सत्य का अमित तेज बल पराक्रम पौरुष साहस और दूसरी ओर अहिंसा की परम आर्द्रता मृदुता मधुरता विनयशीलता स्निग्धता सुजनता इन दोनों के सम्मेलन का नाम है सत्याग्रह और इसी को गांधीवाद कह सकते हैं ।

—:o:—

कांस्टिट्यूएंट असेम्बली की समस्या

(ले०—श्री अमरनाथ विद्यालंकार सदस्य 'सर्वेंटस आफ दी पीपल सोसायटी', अमृतसर)

कांग्रेस की कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली की मांग की आज देश में चर्चा है । इसी मांग को पेश करने के लिये ही कांग्रेस असेम्बली के चुनाव में भाग ले रही है । परन्तु यह है क्या बला इसका ज्ञान अभी कम लोगों को है । विद्वान् लेखक ने कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली क्या है उसका विकास कैसे हुआ किन-किन देशों में इसका निर्माण हुआ—आदि प्रश्नों पर अत्यन्त योग्यता से विचार करते हुए बताया है कि इस असेम्बली के निर्माण का अर्थ यह प्रकट करना है कि भारतीय शासन की शासन-सत्ता भारतीय जनता के पास है न कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट के पास । बस इसीलिये कांग्रेस इस प्रश्न पर इतना आग्रह कर रही है ।

महत्वपूर्ण घोषणा

अपने १७ जून १९३४ के बम्बई वाले अधिवेशन में श्वेतपत्र और ब्रिटिश साम्राज्य की साम्प्रदायिक व्यवस्था के सम्बन्ध में अपना मत देते हुए कांग्रेस-कार्यसमिति ने जो प्रस्ताव स्वीकृत किया है उसमें शासन-विधान (C n ti ti n) की दृष्टि से एक बहुत ही महत्वपूर्ण घोषणा की है । इस प्रस्ताव में कहा गया है कि—

> भारत के भावी शासन-विधान का सन्तोषजनक निर्णय करने का एक ही तरीका है कि शीघ्र से शीघ्र एक कांस्टीट्यूएण्ट असेम्बली बुलाई जावे जिसका चुनाव सार्वजनिक मताधिकार (Universal adult Franchise) के द्वारा हो । यह असेम्बली ही भारत के भावी शासनविधान का मसौदा तैयार कर और विभिन्न सम्प्रदायों के परस्पर सतुलन के प्रश्न का भी निर्णय करे ।

कांग्रेस-कार्यसमिति की यह घोषणा राजनीतिक और कानूनी दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है और इस के द्वारा कांग्रेस ने अपने राजनीतिक ध्येय की ओर एक कदम आगे उठाया है । वस्तुतः कांस्टीट्यूएन्ट असेम्बली की मांग पूर्ण-स्वाधीनता के प्रस्ताव का एक आवश्यक अंग होना चाहिये थी । परन्तु जिन दिनों कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकृत किया था उन दिनों तक कांग्रेस के नेताओं को यह विश्वास था कि वे ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के साथ किसी समझौते पर पहुंचने मे सफल हो सकेंगे । उस समय कांग्रेस केवल एक गोलमेज कानफरन्स की मांग पेश कर रही थी जिस कानफरन्स में भारतीय और ब्रिटिश राजनीतिज्ञ मिल कर बैठ जाय और एक दूसरे के साथ खूब विचार-विनिमय के पश्चात् किसी निर्णय पर पहुंच जावें । असेम्बली मे भी कांग्रेस की तरफ से स्वराज्य-पार्टी ने यही मांग पेश की और जब साइमन-कमीशन की असफलता से हताश होकर तत्कालीन वायसराय लार्ड इरविन ने म० गान्धी और पण्डित मोतीलाल नेहरू को मशवरे के लिये बुलाया, तब भी इन नेताओं ने गोलमेज-कानफरन्स की ही मांग पेश की । परन्तु इंग्लैण्ड की अनुदार दल की सरकार सदा इस मांग को ठुकराती रही ।

गोलमेज कानफरेन्स की असफलता

शासन-शक्ति मजदूर-दल के हाथ मे आने के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने एक गोलमेज कानफरेन्स बुलाने का ही निश्चय कर लिया । परन्तु ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने कहने को तो गोलमेज कानफरेन्स की मांग पूरी कर दी परन्तु उस स्पिरिट में काम नहीं किया जिस स्पिरिट में हमारे राष्ट्रीय नेता चाहते थे । कानफरन्स में बजाय देश के प्रगतिशील जनता के प्रतिनिधि नेताओं को बुलाने के सरकार ने अधिकांश ऐसे व्यक्ति भर लिये जो जनता के प्रतिनिधि नहीं थे । इनकी सहायता से सरकार ने उक्त कानफरन्स में भारत के साम्प्रदायिक वैमनस्य और फूट का खूब जोर से—और खूब बढा-चढाकर प्रदर्शन किया । जो भारतीय अपनी एकता के बल पर साइमन-कमीशन की रिपोर्ट को टेम्स नदी के अन्दर दफनाने मे कामयाब हुए थे, वही सरकार के इशारों पर नाचकर दुनिया के सम्मुख उपहासास्पद बने । गोलमेज कानफरन्स भारत की राजनीतिक और साम्प्रदायिक समस्या का हल न कर सकी । इस कानफरन्स के निश्चयों के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने जो राजनीतिक मसौदा 'व्हाइटपेपर' के नाम से तैयार किया है, उस से अधिकांश भारतीय सन्तुष्ट नहीं हुए और साम्प्रदायिक समस्या का कानफरन्स में कोई हल न होने पर ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री ने अपनी मनमानी व्यवस्था हम पर लाद दी है ।

गोलमेज कानफरेन्स असफल हुई क्योंकि यह कानफरेन्स वह कानफरन्स न थी जिस की कांग्रेस ने मांग की थी, बल्कि सरकार के कुछ पिट्ठुओं का मजमा तैयार किया गया था । एक तो इस में जनता के प्रतिनिधि ही नहीं थे, दूसरे इस कानफरेन्स को यह ज्ञात था कि उसके निर्णयों का कोई मूल्य

नहीं है। अन्तिम फैसला ब्रिटिश पार्लमेण्ट करती है—वह चाहे कान्फरन्स के निर्णयों को माने, चाहे उन्हें ठुकरा दे। इसलिये कान्फरन्स पर कोई जिम्मेवारी न थी। जब कोई जिम्मेवारी ही न थी तो यह बहुत स्वाभाविक था कि उसके अन्दर गये हुए लोग अपना-अपना राग ही ज़ोर-ज़ोर से अलापते। वे जानते थे कि हम अपने भाषणों से कान्फरन्स को प्रभावित नहीं करना किन्तु ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को रिझा कर अपने संकुचित स्वार्थों को पूरा करना है। इसलिये यह प्रयत्न व्यर्थ रहा।

जिन दिनों साइमन-कमीशन भारत का दौरा लगा रहा था उन दिनों भी श्रीमती एनी बीसेन्ट और कुछ दूसरे नेताओं ने एक नेशनल कन्वेंशन बुलाकर भावी शासन-विधान का मसौदा तैयार करने का प्रस्ताव सामने रखा था। परन्तु उस समय यह विचार था कि यह कन्वेन्शन जनता के बाकायदा चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा संगठित होगा। साथ ही उस समय कांग्रेस के अन्दर और बाहर यही भाव प्रबल था कि ब्रिटिश सरकार से कुछ ले-देकर समझौता कर लिया जाय। नेताओं का विश्वास था कि ऐसा समझौता सम्भव है और उसके परिणामस्वरूप औपनिवेशिक ढंग का स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है। कलकत्ता-कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा को एक साल के लिये स्थगित कराने के पीछे भी यही भाव था और लाहौर में भी कांग्रेस के नेताओं ने पूर्ण स्वाधीनता के प्रस्ताव को मजबूर होकर स्वीकृत किया था। गांधी-इरविन-समझौते तक और महात्मा जी के इंग्लैण्ड जाने तक यही आशा काम कर रही थी।

नया अध्याय

जैसे मैंने ऊपर कहा है वस्तुतः कान्स्टीट्युएण्ट असेम्बली की माँग पूर्णस्वाधीनता की घोषणा की आवश्यक माँग थी। और गोलमेज कान्फरन्स की असफलता के पश्चात् ब्रिटिश सरकार के साथ समझौते से किसी निर्णय पर पहुँचने की आशा भंग होने के पश्चात् कांग्रेस के पास इसके सिवाय कोई चारा न था कि यह घोषणा करती कि भारत के भावी शासन-विधान को निर्णय करने का अधिकार भारतीय जनता का ही है और इस लिये शीघ्र जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की सभा बुलाई जावे। मैं ऊपर कह आया हूँ कि राजनीतिक और कानूनी दृष्टि से यह घोषणा बहुत ही महत्वपूर्ण है। यदि हम इस घोषणा पर दृढ़ रहे तो भारत के राजनीतिक इतिहास में इससे एक नये अध्याय का आरम्भ होता है। कांग्रेस की इस घोषणा के महत्व को समझने के लिये यह समझ लेना आवश्यक है कि कान्स्टीट्युएन्ट असेम्बली क्या वस्तु है और इस का क्या इतिहास है। आगे पंक्तियों में हम संक्षेप में यही बतलाने का प्रयत्न करेंगे।

कान्स्टीट्यूएन्ट असेम्बली का विकास

किसी शासन-विधान की समालोचना करते हुए मन में पहला प्रश्न यह उठता है कि उस विधान के अनुसार शासन-सभा या प्रभुत्व (Sovereignty) का केन्द्र कहां निहित है? जिस समय संसार में स्वेच्छाचारी राजतन्त्र का ज़ोर था उस समय राजतन्त्र के समर्थकों की ओर से कहा जाता था कि शासन-सत्ता का केन्द्र राजा है और वह यह सत्ता सीधे परमात्मा से प्राप्त करता है। इसलिए राजा के विरुद्ध कुछ कहने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। राजा परमात्मा का प्रतिनिधि है। इस सिद्धान्त को 'ईश्वर प्रदत्त-अधिकार' (Divine Right theory) का सिद्धान्त कहा जाता था।

१८ वीं सदी में जब राजसत्तात्मक शासन के विरुद्ध क्रान्ति की लहर उठी और जनता के विरुद्ध राजाओं के स्वेच्छाचारी शासनों के खिलाफ विद्रोह के भाव जागृत हुए तो हाब्स, रूसो वगैरा विचारकों ने एक और सिद्धान्त की घोषणा की। उन्होंने कहा कि राजा का प्रभुत्व ईश्वर-प्रदत्त नहीं किन्तु यह प्रभुत्व उसे जनता से प्राप्त हुआ है। जनता ने ही किसी समय अराजकता और अनियन्त्रण से बचने के लिये परस्पर सलाह करके एक अधिकारी नियुक्त किया और शासन-सूत्र उसके हाथ में सौंप दिये। इसलिये राजा की शासनसत्ता और प्रभुत्व का स्रोत परमात्मा नहीं किन्तु जनता है। इस सिद्धान्त को उन्होंने 'सामाजिक समझौते का सिद्धान्त' (Social Contract) का नाम दिया और घोषणा की कि आज यदि राजा अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता तो जनता को यह अधिकार है कि वह उसके हाथ से शासनाधिकार वापस लेकर अपने लिये नयी व्यवस्था करे। इस सिद्धान्त के अनुसार शासनसत्ता या प्रभुत्व (Sovereignty) जनता में निहित है। वह वस्तुतः जनता की ही सम्पत्ति है। जनता उसे जिसके हाथों में चाहे सौंप दे। जनता को अपनी इस सम्पत्ति को भी जिस किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के हाथ में सौंपने का हक़ हासिल है। उसके इस अधिकार को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार (Right of self-determination) का नाम दिया गया है।

वर्तमान जनतन्त्र-शासन का मूलाधार यही सिद्धान्त है। और आज संसार में सर्वत्र इसी सिद्धान्त को स्वीकृत किया जाता है। जब किसी नये शासन-विधान की रचना की जाती है, या किसी पुराने विधान में कोई परिवर्तन करना होता है, तो उस पर जनता का मत और स्वीकृति लेनी आवश्यक समझी जाती है, क्योंकि सम्पूर्ण शासनसत्ता और शक्ति का स्रोत जनता है। यह आधुनिक 'शासन कानून (Constitutional law) का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

परन्तु जनता की स्वीकृति लेने का क्या ढंग है? जनता स्वयं अपना विधान किस प्रकार तैयार कर सकती है? जब भी किसी देश में क्रान्ति द्वारा या अन्य अवस्थाओं के कारण शासन की पुरानी मशीनरी टूट-फूट जाती है या निकम्मी हो जाती है तो जो लोग अस्थायी रूप से शासन की बागडोर अपने हाथ में लेते हैं, उनका यह कर्तव्य होता है कि वे जनता से शीघ्र से शीघ्र शासन करने की आज्ञा प्राप्त करें — इतना ही नहीं बल्कि जनता को अवसर दें कि वह जिसे चाहे शासक नियुक्त करे और शासन की जो व्यवस्था चाहे प्रचलित कर दे। इसके लिये शीघ्र से शीघ्र जनता के प्रतिनिधियों की एक सभा बुलायी जाती है। अस्थायी तौर पर शासनाधिकार इसके हाथ में दे दिये जाते हैं। यह सभा नये शासन-विधान का मसौदा तैयार करती है और उसे जनता से मत लेकर स्वीकृत कराती है और स्वीकृति के पश्चात् उस विधान के अनुसार नयी शासन की मशीनरी की रचना करके सब शासन-सूत्र उसके हाथ में दे देती है। इसके बाद यह स्वयं भंग हो जाती है। 'शासन-विधान को तैयार करने वाली इस संस्था को ही कान्स्टीट्युएण्ट असेम्बली कहा जाता है। कान्स्टीट्युएण्ट असेम्बली विधान का जो मसौदा तैयार करती है, प्रायः यह आवश्यक समझा जाता है कि उस पर एक बार जनता का मत लिया जाय। और यह प्रायः रिफरेंडम के ज़रिये किया जाता है।

कान्स्टीट्युएण्ट असेम्बली का दर्जा व्यवस्थापिका सभा और शासन की बाकी सारी मशीनरी से ऊंचा है। उसकी रचना प्रायः ज्यादा विस्तृत मताधिकार पर होती है। वह जनता की सीधी प्रतिनिधि माना जाता है, और उसका काम सिर्फ नयी शासन की मशीनरी को खड़ा कर देना भर होता है। जब तक कोई शासक अपने लिये जनता से शासनाधिकार प्राप्त न कर ले और अपना शासन-विधान जनता द्वारा निर्वाचित कान्स्टीट्युएण्ट असेम्बली द्वारा स्वीकृत न करा ले तब तक वह शासक 'कानूनन' शासक नहीं माना जाता और उसका शासन 'कानून द्वारा स्थापित' (Government established by law) नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान इतिहास

अमेरिका

आधुनिक युग में कान्स्टीट्युएण्ट असेम्बली का इतिहास अमेरिका की राज्यक्रान्ति से प्रारम्भ होता है। क्रान्ति के पश्चात् विभिन्न प्रदेशों की निर्वाचित संस्थाओं—कांग्रेसों—ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली, और नये शासन-विधान को बनाने का कार्य भी अपने हाथ में लिया। कहीं-कहीं विधान बनाने का अधिकार भी उन्होंने पहले जनता से वोट लेकर प्राप्त किया, और जहां ऐसा नहीं हुआ वहां अपने विधान के मसौदे को उन्होंने सार्वजनिक मत (Referendum) द्वारा स्वीकृत करा लिया। वर्जिनिया और दक्षिण करोलिना की कांग्रेसों ने जब बगैर जनता की स्वीकृति प्राप्त किये नये शासन-विधानों को चालू करना चाहा तो जनता ने इसका विरोध किया और अन्त में उन्हें विधान को रिफरेंडम द्वारा स्वीकृत कराना पड़ा। न्यू हैम्पशायर में भी ऐसा ही हुआ।

अमेरिका का फेडरल शासन-विधान भी इसी प्रकार की असेम्बली द्वारा तैयार कराया गया और विधान में यह भी नियम रखा गया कि विधान में परिवर्तन करने का अधिकार भी कान्स्टीट्युएण्ट असेम्बली को है।

अमेरिका की कुछ रियासतों में यह नियम रखा गया है कि एक निश्चित अवधि के पश्चात् कान्स्टीट्युएण्ट असेम्बली का चुनाव करके उसका अधिवेशन बुलाया जाय ताकि जनता को अपने शासन-विधान में समय-समय पर संशो-

बदल करने और उसकी कार्यशैली का पर्यालोचन करने का अवसर आप से आप प्राप्त होता रहे। उदाहरणार्थ न्यूयार्क में हर बारहवें साल और न्यू हैम्पशायर में हर सातवें साल असेम्बली बुलाने का नियम है। परन्तु अधिकांश रियासतों के विधान में ऐसा कोई नियम नहीं। इनमें कान्स्टीटयुएन्ट असेम्बली बुलाने के लिये भी यह आवश्यक समझा जाता है कि पहले जनता की स्वीकृति प्राप्त की जाय। इण्डियाना के सुप्रीम कोर्ट ने १६१७ में यही निर्णय दिया था कि असेम्बली बुलाने या न बुलाने का प्रश्न पहले आम वोटों द्वारा निश्चित करके उसके पश्चात् ही कान्स्टीटयुएन्ट असेम्बली का निर्वाचन किया जा सकता है।

फ्रांस के शासन विधान की रचना भी इसी प्रकार की गयी। सन् १८७० के फ्रांस-जर्मन-युद्ध के पश्चात् जब नेपोलियन तृतीय का पतन हुआ और नयी स्थापित सरकार ने बिस्मार्क से सन्धि करनी चाही, तो बिस्मार्क ने कह दिया कि वह विधि-विधान द्वारा बाकायदा स्थापित सरकार के सिवाय और किसी से सुलह की बातचीत करने के लिये तयार नहीं। इस पर नेशनल असेम्बली का चुनाव किया गया, और उसने नया शासन-विधान जन तन्त्र शासन के सिद्धान्तों के अनुसार तैयार किया।

महायुद्ध के पश्चात् यूरोप में जिन नवीन राष्ट्रों की उत्पत्ति हुई

भूत के नये राष्ट्र उन सब के शासनविधानों की रचना कान्स्टीटयुएन्ट असेम्बली द्वारा की गयी और असेम्बली के मसौदे को जनता से रिफरेंडम द्वारा स्वीकृत कराया गया। जब तक ऐसा नहीं किया गया अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में उन राष्ट्रों को सभा को किसी राष्ट्र ने स्वीकार नहीं किया।

पोलैण्ड का शासन-विधान पिल्सुद्स्की ने १९१९ में कान्स्टीटयुएन्ट असेम्बली चुन कर तयार कराया। जुगोस्लाविया जेकोस्लाविया आस्ट्रिया एस्थोनिया और जर्मनी सर्वत्र ऐसा ही किया गया। जुगोस्लाविया में जब कान्स्टीटयुएन्ट असेम्बली चुनी जाने लगी तो लोगों को चुनाव एक विचित्र-सी चीज प्रतीत होते थे क्योंकि वहुत से प्रदेशों के लोगों ने वहां चुनाव का नाम तक न सुना था। लोग बहुत अशिक्षित थे। परन्तु फिर भी हर बालिग को मताधिकार दिया गया, और लोगों के अशिक्षित होने के कारण कोई विशेष दिक्कत पैदा नहीं हुई।

जब हम ब्रिटिश उपनिवेशों के वर्तमान शासन-विधानों के इतिहास पर निगाह डालते हैं तो हमें

ब्रिटिश उपनिवेश पता लगता है कि उनमें जनता के स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार को महायुद्ध से भी पहले स्वीकृत किया गया है। इन उपनिवेशों का दावा है कि वे साम्राज्य के अन्दर रहते हुए भी खुदमुख्तार हैं और साम्राज्य के भीतर रहना या न रहना उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। इस दावे का आधार यह है कि इन उपनिवेशों के विधानों को जनता द्वारा स्वीकृत कराकर इस मूलभूत सिद्धान्त को स्वीकृत किया गया है कि इन विधानों में शक्ति का मूल स्रोत जनता है न कि ब्रिटिश पार्लमेन्ट।

आस्ट्रेलिया के वर्तमान फेडरल कान्स्टीटयूशन की रचना के लिये १८६१ में सिडनी में कान्स्टीटयुएन्ट असेम्बली बुलाई गई। इसमें तैयार किया हुआ मसौदा भिन्न-भिन्न प्रदेशों की पार्लमेन्टों के सामने रखा गया। परन्तु वह सब पार्लमेण्टों में पास न हो सका। १८६७ में फिर कनवेन्शन बुलाई गया। इस बार जिन प्रदेशों की पार्लमेण्टों ने मसौदे को स्वीकृत नहीं किया वहां वह मसौदा रिफरेन्डम के जरिये जनता के सम्मुख रखा गया। वहां वह स्वीकृत हो गया। इस प्रकार जनता की स्वीकृति प्राप्त होने पर उसे १६०० में ब्रिटिश पार्लमेण्ट ने भी स्वीकृत कर लिया। जो ढंग आस्ट्रेलिया में बर्ता गया ठीक वही कैनेडा में और दक्षिण अफ्रीका में बर्ता गया।

आयरलैण्ड की फ्री स्टेट का कान्स्टीटयूशन भी इसी प्रकार वहां की निर्वाचित असेम्बली

आयरलैण्ड ने डेल आयरन की स्वीकृति से प्रचलित किया गया। पहले आयरिश और ब्रिटिश नेताओं में एक समझौता हुआ और उस पर डेल आयरन की स्वीकृति ली गयी। उसके पश्चात् पार्लमेंट ने अपनी मुहर उस पर लगा दी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण शासन-विधानों का आधार जनता की स्वीकृति है। ब्रिटिश उपनिवेशों में भी जनता के प्रभुत्व (Sovereignty) का सिद्धान्त स्वीकृत किया गया है।

हम ऊपर कह आये हैं कि कान्स्टीटयुएन्ट असेम्बली शासन की सारी मेशीनरी से ऊपर है। व्यवस्थापिका सभायें या एग्जीक्यूटिव उस के अधिकारों में कमी नहीं कर सकते उस के कार्यक्रम में हस्तक्षेप भी नहीं कर सकते। वह भी यद्यपि शासन के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करती, परन्तु शासन-विधान में शासन के प्रत्येक विभाग के लिये शर्तें आयद कर सकती है। और ऐसी शर्तें भी लगा सकती है जिससे व्यवस्थापिका सभा किसी हानिकारक नीति को दुहरा न सके।

कहा जाता है कि कान्स्टीटयुएन्ट असेम्बली में प्रायः वे सब दोष रहते हैं जो निर्वाचित संस्थाओं में प्रायः आ जाते हैं। वह कई बार सामयिक विचार-प्रवाह में बह कर शासन-विधान में ऐसे दृढ बन्धन लगा देती है जो आगे चल कर बहुत हानिकारक सिद्ध होते हैं। परन्तु इस से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जनता की इच्छा को कार्यरूप में परिणत करने का और कोई अच्छा तरीका भी नहीं। कान्स्टीटयुएन्ट असेम्बली का चुनाव यदि भली भांति और न्यायानुसार किया जावे तो उस में प्राय सब विचारों के लोग आ जाते हैं और इस के निर्णय जनता की सम्मिलित इच्छा के प्रतिनिधि होते हैं।

वास्तविक समस्या

यदि भारत की पूर्ण स्वाधीनता के प्रश्न को छोड़ कर केवल औपनिवेशिक दरजे का भी ख्याल किया जाय तब भी भारतीय जनता को वह अधिकार प्राप्त होना चाहिये जो महायुद्ध से भी पहले ब्रिटिश-साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों को प्राप्त हुआ था और जो महायुद्ध के बाद आयरलैण्ड और एशिया माइनर के रक्षित राष्ट्रों (Protectorates) को दिया गया। भारत के लिए जो भी शासन-विधान तैयार किया जाय उसपर भारतीय जनता की राय अवश्य ली जानी चाहिये और भारतीय जनता द्वारा स्वीकृत होने पर ही उसे कानूनी स्थिति प्राप्त होनी चाहिये। परन्तु ब्रिटिश सरकार ऐसा नहीं करना चाहती। झगड़ा वस्तुतः सिद्धान्त का है। जैसा मैंने आरम्भ में कहा है, किसी शासन विधान की समीक्षा करते हुए प्रश्न उत्पन्न होता है कि शासन-सत्ता कहां निहित है? ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का दावा है कि भारतीय शासन की शासन-सत्ता (Sovereignty) भारतीय-जनता में निहित नहीं किन्तु उसकी स्वामिनी ब्रिटिश पार्लमेंट है। इसलिये उन का दावा है कि भारत का शासन-विधान बनाने और उस में रद्दोबदल करने का अधिकार केवल ब्रिटिश पार्लमेंट को ही है। भारत के स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार को ब्रिटिश राजनीतिज्ञ स्वीकृत नहीं करते। उन के मत में भारतीय जनता अपने भाग्य की स्वयं स्वामिनी नहीं किन्तु उस के भाग्य की बागडोर ब्रिटिश पार्लमेंट के हाथ में है।

इस से पहले कि भारत और इंगलैंड में कोई परस्पर समझौता हो या कोई शासन-विधान तैयार किया जाय इस मूलभूत कानूनी (Constitutional) प्रश्न का निर्णय हो जाना आवश्यक है। भारत के शासन-विधान में शासन-सत्ता और प्रभुत्व (Sovereignty) कहां निहित होगी—ब्रिटिश पार्लमेंट में या भारतीय जनता में, यह महत्वपूर्ण कानूनी प्रश्न है। सुधारों अधिकारों हस्तान्तरित और रक्षित विषयों साम्प्रदायिक बटवारों के सब प्रश्न गौण हैं—पहला मुख्य प्रश्न यह है। जब तक इस प्रश्न का निर्णय न हो जाय इंगलैंड और भारत का झगड़ा तय नहीं हो सकता।

कांग्रेस ने अपने नये प्रस्ताव द्वारा इस मर्म को स्पर्श किया है। भारतीय जनता के स्वभावसिद्ध अधिकार की (Constitutional Law) परिभाषा (Terms) में उसने घोषणा की है। इसलिए यह घोषणा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस घोषणा से संसार पर यह बात भी रोशन हो गई है कि भारतीय किसी भी शासन-विधान को स्वीकृत न करेंगे जब तक भारतीय जनता द्वारा उसे स्वीकृत न कराया जाय या कानून की परिभाषा में जब तक शासन-सत्ता की स्वामिनी जनता को तस्लीम न किया जाय। और बातों में लेन्-देन कर समझौता हो सकता है परन्तु शासन-सत्ता (Sovereignty) का बटवारा नहीं हो सकता। भावी शासन-विधान की धारायें कुछ भी हों उस में चाहे सम्पूर्ण विषय रक्षित रखे जायं परन्तु उस की प्रस्तावना में यह घोषणा स्पष्ट शब्दों में होनी चाहिये कि भारत की शासन-सत्ता (Sovereignty) भारतीय जनता में निहित है।

--:o:--

हम अपने देश की समस्याएं विदेशियों से अधिक अच्छी तरह सुलझा सकते हैं

—जवाहरलाल नेहरू

स्वप्न में पुण्य-प्रभात

कब होगा वह पुण्य-प्रभात ?
जब कि एक दिन दिनकर की उन नव किरणों के साथ
फैल जायगी सकल विश्व मे बिजली सी यह बात—
'आज से भारत है स्वाधीन, आज से भारत है स्वाधीन।'

× × × ×

कब होगा वह पुण्य-प्रभात ?
जब विकसित कुसुमों के अधरों पर होगी मुसकान,
मुग्ध उषा के बन्दी गायेंगे यह मंगल-गान—
'आज से भारत है स्वाधीन, आज से भारत है स्वाधीन।'

× × × ×

कब होगा वह पुण्य-प्रभात ?
जब नाचेंगे हर्ष-विकल हो सप्त-सिन्धु सुमहान्,
टकरा कर हिमगिरि-शिखरों से गूंजेगी यह तान—
'आज से भारत है स्वाधीन, आज से भारत है स्वाधीन।'

× × × ×

कब होगा वह पुण्य-प्रभात ?
पैंतिस कोटि कण्ठ-ध्वनि से मिल वाद्य-घोष जिस काल,
स्पष्ट सूचना देगा सब को यह निर्भय उत्ताल—
'आज से भारत है स्वाधीन, आज से भारत है स्वाधीन।'

× × × ×

कब होगा वह पुण्य-प्रभात ?
जब करुणानिधि! कभी स्वप्न मे ही हे नाथ प्रवीण!
देख सकूंगा दृश्य — देश है मेरा बन्धन-हीन,
'आज से भारत है स्वाधीन, आज से भारत है स्वाधीन।'

× × × ×

कब होगा वह पुण्य-प्रभात ?
सत्य नहीं तो, होली मे ही दे कर यह संवाद
छाप भर जब अखबार चखा देंगे स्वतन्त्रता-स्वाद,
'आज से भारत है स्वाधीन, आज से भारत है स्वाधीन।'

× × × ×

कब होगा वह पुण्य-प्रभात ?
उस कल्पित स्वाधीन वायु में दम लेकर इक-आध
रह न जायगी मन मे मेरे फिर कम कोई साध।
'आज से भारत है स्वाधीन, आज से भारत है स्वाधीन।'

—वागीश्वर विद्यालङ्कार।

खद्दर व साम्यवाद

(लेखक—आचार्य कृपलानी)

आचार्य कृपलानी देश के उन कार्यकर्ताओं में हैं जो न कवल त्याग, तपस्या सेवा और अद्भुत कार्य-कुशलता के कारण ही प्रसिद्ध हैं परन्तु आपकी योग्यता व विचार-शक्ति भी अपूर्व है।

इस लेख में उन्होंने यह बतान का सरल प्रयत्न किया है कि खद्दर का आन्दोलन साम्यवाद के मुख्य सिद्धान्त – उत्पत्ति-साधनों के राष्ट्रीय-करण व सम्पत्ति के समानवितरण – में अन्य सब आन्दोलनों की अपेक्षा अधिक मेल खाता है। इसलिये साम्यवाद का तत्व समझने वाले किसी साम्यवादी को इस आन्दोलन से कोई मतभेद नहीं हो सकता।

आजकल सब तरफ साम्यवाद की चर्चा है। सभी स्थानों पर साम्यवादियों की सभा-समितियां बड़े वेग से खुल रही हैं। यह हवा केवल भारत में ही नहीं परन्तु सम्पूर्ण संसार में बह रही है। साम्यवाद आज के समय की लहर दीखती है। संसार के बहुत से प्रतिभाशाली विद्वानों को इसने अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है। साम्यवाद के विरोधी फासिज्म और नाजिज्म भी आज साम्यवाद का बाना पहन कर और उसी की भाषा में हमारे सामने उपस्थित हो रहे हैं। हमें यह देखना चाहिये कि क्या खादी को भी साम्यवाद की भाषा में उचित और न्याय्य ठहराया जा सकता है। जिन आन्दोलनों का एक ही उद्देश्य—मानव जाति की उन्नति हो उन में परस्पर कोई संघर्ष नहीं रहना चाहिये यह भी अत्यन्त आवश्यक है।

साम्यवाद का तत्व

समस्या के दार्शनिक और वैज्ञानिक अध्ययन के लिये हमें यह बहुत अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये कि साम्यवाद का मुख्य उद्देश्य और तत्व क्या है? यदि हम अपने हृदय में बिना कोई पूर्व-धारणा किये निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो हम यह निस्संदेह स्वीकार कर लेंगे कि धर्म ब्रह्मचर्य पारिवारिक जीवन राष्ट्र व्यवसायवाद तथा अन्य ऐसे अनेक प्रश्न जिन्हें इस समय अर्ध-शिक्षित और साधारण मस्तिष्क साम्यवाद से सम्बद्ध मानता है वस्तुतः इसके मूलभूत प्रश्न नहीं हैं।

साम्यवाद का तत्व वस्तुतः इसके अतिरिक्त मूल्य (Surplus value) के सिद्धान्त में (ठीक हो या गलत) विद्यमान है। इसी अतिरिक्त मूल्य के द्वारा ही जनता को (पूंजीपति) लूटते हैं। यहां अतिरिक्त कीमत लाभ लगान और व्याज का रूप धारण करती है। ऐसे व्यवसाय को जिसमें अतिरिक्त मूल्य अर्थात् लाभ लगान या व्याज की गुंजाइश नहीं है साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुकूल ही मानना चाहिये। कोई व्यवसाय साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुकूल है या नहीं इसकी परीक्षा के लिये यह जानना आवश्यक नहीं है कि उस व्यवसाय का संचालक या प्रबन्ध-कर्त्ता परमात्मा में विश्वास करने वाला है या प्रकृतिवादी स्त्री पुरुष सम्बन्धी दृष्टि से एक विचार को मानता है या दूसरे विचार को, अथवा व्यवसायवाद (Industrialization) में विश्वास करता है या नहीं। आवश्यकता तो इस बात की है कि वह साम्यवाद के तत्व को स्वीकार करता हो

खादी में साम्यवाद

खादी-व्यवसाय में न अतिरिक्त कीमत की गुंजायश है न लगान व्याज और लाभ की। सब आय काम करने वालों की ही जेब में जाती है। किसी दूसरे दल को चाहे वह वास्तविक या काल्पनिक कार्य भी करता हो कुछ नहीं दिया जाता। काम करने वालों के वेतनों में भी बहुत अन्तर नहीं होता। कुछ अंक इसे और भी स्पष्ट कर देंगे। एक बुनकर की मासिक आय औसतन १३) रु० से १५) रु० तक है। धोबी १२) से १५) रु० तक रंगसाज २५) से ३०) रु० तक और बढ़ई २५) से ३०) रु० तक महीने में कमा लेते हैं। कतैये की आय जरूर कम है परन्तु कातना सारे दिन का पेशा नहीं है यह तो केवल खाली समय का उपयोग है। दूसरी ओर खादी के संगठनकर्ताओं का भी पारिश्रमिक २५) रु० है यद्यपि उन में से अनेक उच्च शिक्षित भी होते हैं।

राष्ट्र की सम्पत्ति

'अतिरिक्त कीमत' के सिद्धान्त के परिणामस्वरूप ही साम्यवादियों ने सम्पूर्ण उत्पत्ति-साधनों के राष्ट्रीयकरण (राष्ट्र की सम्पत्ति बनाने) का सिद्धान्त स्थिर किया है। जहां तक खादी का सम्बन्ध है चरखा और खड्डी ही उत्पत्ति के साधन हैं। इन के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता नहीं क्योंकि इन का व्यय इतना कम होता है कि प्रत्येक ग्राम-निवासी इन का खर्च बरदाश्त कर सकता है। जहां कोई ग्राम निवासी काम करना चाहता है परन्तु चरखा और खड्डी नहीं ले सकता वहां चरखा-संघ — जो सार्वजनिक संस्था है — उस की सहायता करता है। उत्पत्ति के ये सीधे-सादे साधन वस्तुतः राष्ट्रीय साधनों से किसी तरह कम नहीं हैं।

पूंजी भी

उत्पत्ति का दूसरा प्रधान साधन पूंजी है। यह भी चरखा-संघ के हाथ में होने के कारण राष्ट्र की ही सम्पत्ति है। यह ऐसी सार्वजनिक सम्पत्ति है जिस पर न लगान मिलता है न व्याज या लाभ। खद्दर पैदा करने वाले जो थोड़े बहुत निजी कारोबार हैं उन्हें भी चरखा-संघ द्वारा स्थापित आदर्शों का अनुकरण करना पड़ता है। उनके हिसाब-किताब व मूल्य-निर्धारण पर चरखा-संघ का निरीक्षण और नियन्त्रण रहता है। उन्हें चरखा-संघ की प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करना पड़ता है इसलिये उन्हें केवल उतने ही लाभ में सन्तोष करना पड़ता है जिस से वे अपने मामूली वेतन निकाल सकें। वस्तुतः खादी का सारा व्यवसाय ही साम्यवाद का एक परीक्षण और साम्यवाद की दिशा में ही एक साहस है। मुझे इस में कोई सन्देह नहीं है कि यदि आज की विदेशी सरकार के स्थान पर देशी सरकार कायम हो जाय तो किसानों के लाभ के लिए राष्ट्रीय-सरकार ही खादी के राष्ट्रीय-व्यवसाय का संगठन करेगी।

खादी आन्दोलन का आधार

साम्यवाद के तर्क का आधार प्रत्यक्ष घटनाओं का अध्ययन ही है। आज चाहे भारतीय साम्यवादी पश्चिम से बड़ी भारी मात्रा में आये हुए साम्यवाद सम्बन्धी या बोलशेविक साहित्य को कितनी ही लालचभरी निगाहों से क्यों न देखें यह किसी तरह नहीं कहा जा सकता कि साम्यवाद के सभी सिद्धान्तों का आधार वस्तुतः प्रत्यक्ष व ठोस घटनाओं का अध्ययन ही है। वे यथार्थवादी हैं। सम्पूर्ण साम्यवादी दार्शनिकों का यह दावा है। परन्तु किसी प्रकार के पूर्व-निर्धारित विचारों प्राचीन अर्वाचीन ऐतिहासिक धार्मिक या वैज्ञानिक धारणाओं पर खादी के आन्दोलन का आधार नहीं है। इस का तो मुख्य आधार सात लाख गाँवों में होने वाली रोजमर्रा की प्रत्यक्ष और ठोस घटनाओं पर—दरिद्र किसानों व परिश्रमियों के दुःख व दारिद्र्यमय जीवन पर है।

चरखा और क्रान्ति

साम्यवाद अन्य बातों के साथ क्रान्ति में भी विश्वास करता है। चरखा भी न केवल स्वयं घूमता रहता है परन्तु अन्य अनेक दार्शनिक क्रान्तियों का भी प्रेरक कारण है। अशिक्षित जनता हिंसात्मक उथल पुथल को ही क्रान्ति समझती है। परन्तु वास्तविक क्रान्ति विचारों के संशोधन, परिमार्जन और पुनर्गठन में—विचार-धारा या दृष्टिकोण के परिवर्तन में है। इस दृष्टि से खादी आन्दोलन ने जितनी सर्वांगीण क्रान्ति की है उतनी किसी अन्य आन्दोलन ने नहीं। किसी एक क्षेत्र में ही नहीं, प्रायः सभी क्षेत्रों में इस ने क्रान्ति की है। जिसमें हम सम्मान समझते थे अब उसमें अपमान समझने लगे हैं, जिसमें पहले अपमान था, अब उसमें सम्मान दीखने लगा है। पहले का सुन्दर अब बुरा दीखने लगा है और पहले की कुरूप वस्तु में हम सौन्दर्य ढूंढने लगे हैं।

कांग्रेस का क्रमिक विकास

——:——

(लेखक— श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार)

एक रिटायर्ड सरकारी अफ़सर ने जिस कांग्रेस की स्थापना सरकार की अनुमति लेकर की थी वही कांग्रेस अब पूर्णस्वराज्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है, इस आश्चर्यजनक पहेली का ही इस लेख में उत्तर दिया गया है। कांग्रेस ने सरकार की कृपा कैसे खोई, असन्तोष किस तरह उग्ररूप धारण करता गया नरमदल का स्थान गरमदल ने कैसे लिया, जनता के साथ कांग्रेस का सम्बन्ध कैसे बढ़ता गया, और अन्त मे केवल प्रस्ताव पास करने वाली कांग्रेस राष्ट्र की सबसे बड़ी क्रियाशील राजनीतिक प्रतिनिधिसभा कैसे बन गई इत्यादि का सक्षिप्त विवेचन इस लेख मे किया गया है।

क्रान्तिकारी परिवर्तन

ब्रिटिश साम्राज्य से सबंध-विच्छेद कर पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये सरकार से सग्राम करने वाली अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा (आल इण्डिया नेशनल कांग्रेस) के पिता मि० ह्यूम नामक एक अंग्रेज़ सज्जन थे, जो सिविल सरविस से रिटायर हो चुके थे। उन्होंने केवल भारतीयों की इच्छा से प्रेरित होकर ही कांग्रेस की स्थापना नहीं की थी, परन्तु तत्कालीन वायसराय लार्ड डफ़रिन से पूर्ण परामर्श करने व अनुमति लेने और इङ्गलैंड मे पेंशन-याफ्ता एग्लो-इण्डियनों से भी आशीर्वाद लेने के बाद इस कार्य का सूत्रपात किया था। लार्ड डफरिन केवल अनुमति देकर ही इस से उदासीन नहीं हो गये थे, परन्तु दूसरे अधिवेशन में एकत्रित प्रतिनिधियों को उन्होंने दावत भी दी थी। पहले अधिवेशन के सभापति-पद के लिए भी बम्बई-गवर्नर का नाम पेश किया गया था। (वायसराय के इन्कार करने पर ही श्री उमेशचन्द्र बनर्जी सभापति हुए थे)। वस्तुतः कांग्रेस की वर्तमान नीति व ध्येय को देखते हुए आश्चर्य होना स्वाभाविक है कि सरकार से पालित-पोषित सस्था मे इतना क्रान्तिकारी परिवर्तन कैसे ? कांग्रेस मे जो क्रमिक विकास हुआ है, उस का अध्ययन न केवल उपयोगी है, परन्तु मनोरञ्जक भी है। हम इस लेख मे इसी विषय पर संक्षेप मे प्रकाश डालेंगे।

कांग्रेस का जन्म

कांग्रेस की स्थापना से कई वर्ष पूर्व ही भारत के शिक्षित समुदाय में सरकारी नीति से कुछ असन्तोष उत्पन्न होने लग गया था। परन्तु वह केवल शासन-प्रबन्ध की कुछ त्रुटियों तक सीमित था। अंग्रेजी सरकार से स्वतन्त्र होने की इच्छा इस समय तक भारतीय नेताओं मे प्रकट नहीं हुई थी। वे अंग्रेजी शासन को शायद ईश्वर की कृपा और भारत का सौभाग्य समझते थे। लेकिन फिर भी शासन में भारतीयों का पद-पद पर अपमान, शिक्षित भारतीयों को नौकर न रखने तथा प्रेस-सम्बन्धी कठोर नियमों से उच्च शिक्षितों मे असन्तोष बढ़ रहा था। जनता में भी असन्तोष शनैः शनैः बढ़ रहा था। दादाभाई नौरोजी, काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, सर फीरोज़ शाह मेहता, आनन्दमोहन बोस प्रभृति नेताओं के प्रयत्नों से जागृति उत्पन्न होने लगी थी। मि० ह्यूम को, जो सिपाही-विद्रोह का ज़माना देख चुके थे यह भय हुआ कि कहीं यह असन्तोष सिपाही-विद्रोह की पुनरावृत्ति के रूप मे परिणत न हो जाय। इस बार यह भी डर था कि अंग्रेजी शिक्षित समुदाय भी कहीं उन का साथ न दे। इसीलिए उन्होंने ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता समझी, जिस से सरकार को जनता के आन्तरिक भावों का ज्ञान होता रहे और असन्तोष विद्रोह का रूप धारण न कर वैध-आन्दोलन मे ही परिणत हो जाय। लार्ड डफरिन तथा अन्य अंग्रेज अधिकारियों ने भी इस विचार मे बहुत रुचि दिखाई। तत्कालीन राजनैतिक नेताओं—श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आनन्दमोहन बोस, दादाभाई नौरोजी तथा अन्य ६६ प्रतिनिधियों—को निमन्त्रण देकर १८८५ ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस को जन्म दिया गया।

कांग्रेस के दो सभापति

दादाभाई नौरोजी

सर फीरोजशाह मेहता

बाधक नीति का प्रारम्भ

पहले दो तीन अधिवेशनों मे सरकार ने उस के साथ पूर्ण सहयोग किया, परन्तु शीघ्र ही उसे मालूम हो गया कि उच्च-शिक्षित भारतीयों को, जिन की महत्वाकांक्षा व अभिलाषा उससे बहुत अधिक मांगने की है जो सरकार उन्हें देना चाहती है और जो जनता में सरकार के प्रति उत्पन्न असन्तोष को दबाने के बजाय उस को ही नीति की निन्दा कर उसे और भी उभारते हैं एकत्र होने दे कर एक शक्ति बनाने देना सरकार के लिए किसी भी प्रकार लाभप्रद नहीं है। तत्कालीन यू० पी० गवर्नर आकलेंड ने तो कांग्रेस से सहयोग को 'आग से खेलने' की उपमा दी। इसलिए कांग्रेस के चौथे अधिवेशन मे ही सरकार की नीति बदली। इलाहाबाद मे सरकारी अधिकारियों ने केवल स्थान-सम्बन्धी असुविधा ही उत्पन्न नहीं की, किन्तु यह भी कोशिश की कि मुसलमान कांग्रेस मे सम्मिलित न हों। सर सय्यद अहमदख़ां ने जो सिविल-सरविस आंदोलन मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का साथ दे चुके थे, कांग्रेस मे मुसलमानों को अलग करने का प्रयत्न किया। तब से आज तक मुसलमानों को कांग्रेस के साथ मिलाने के कितने ही प्रयत्न किये गये, अनेक बार थोड़ी बहुत सफलता भी हुई लेकिन अब तक भी अधिकाश मुसलमान सरकार व साम्प्रदायिक नेताओं के चंगुल से नहीं निकल सके।

असन्तोष का बीज

कांग्रेसी-नेताओं ने भी पहले सरकारी सहायता पाकर समझा कि वह उनकी महत्वाकांक्षाओं का साथ देगी, परन्तु तीन-चार अधिवेशनों मे उन्होंने जो जो मांगें पेश कीं उन मे से किसी को भी स्वीकृत न होता देख कर उनके विश्वास को ठेस पहुंची। सैनाव्यय कम करने, नमक-कर घटाने, भारत मे भी सिविल-सरविस की परीक्षा प्रारम्भ करने, जनता के प्रतिनिधियों को शासन मे अधिकाधिक स्थान देने, आर्थिक स्थिति की जांच करने और इण्डिया कौंसिल तोड़ने आदि के प्रस्ताव ही प्रायः प्रत्येक अधिवेशन मे पास किये जाते थे। लेकिन सुनवाई एक की भी न होती थी। अब सरकार कांग्रेस के अधिवेशनों में भी बाधा डालने लगी थी। कांग्रेसी-नेताओं में धीरे धीरे सरकार से असन्तोष बढ़ने

सुन्दरता, कला, आवश्यकता और स्वास्थ्य सभी खादी के कारण बदल गई है। चरखे ने केवल साधारण जनता के ही नहीं, परन्तु श्रेणियों के भी अर्थशास्त्र-सम्बन्धी विचारों मे परिवर्तन कर दिया है। खद्दर एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति और एक विशेष प्रकार की विचारधारा का प्रतिनिधि है। चाहे हम उस विचारधारा से सहमत हों या न हों, परन्तु खद्दर या चरखे ने एक भीषण और व्यापक क्रान्ति अवश्य कर दी है, जिस की कोई निष्पक्ष व्यक्ति उपेक्षा नहीं कर सकता। जो व्यक्ति साम्यवादी, वैज्ञानिक और यथार्थवाद की मनोवृत्ति का है, वह कभी खद्दर की उपेक्षा कर ही नहीं सकता, उस के महत्व को कम कर ही नहीं सकता। ये दोनों बातें एक साथ रह ही नहीं सकतीं।

——:——

लगा और नताओं को सरकार की नीति व उद्देश्य में भी सन्देह होने लगा।

भारत-सरकार म निराश हो कर कांग्रेस न ब्रिटेन मे प्रचार करन का निश्चय किया। लण्डन मे कांग्रेस की शाखा खोली गई। दादाभाई नोरोजी पार्लमेंट के सदस्य बन और 'इण्डिया' नाम का पत्र भी निकाला गया।

कुछ सालों तक कांग्रेस के इतिहास मे कोई विशेष घटना नहीं हुई। प्रति वर्ष अधिवेशन होता और कुछ प्रस्ताव पास हो जाते। कांग्रेस न सर्व साधारण जनता के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित करन का प्रयत्न नहीं किया।

परन्तु जनता में असतोष बढ़ रहा था। उधर सुरन्द्रनाथ, वाचा और गोखले लण्डन मे वैल्बी कमीशन के सामन गवाही दे रहे थे, इधर पूना मे फैली हुई प्लेग को रोकन के लिये सरकार न जो कठोरता धारण की, उसमें तीव्र असंतोष उत्पन्न हो गया। दो अंग्रेज अफसर मार गये। बम्बई में विक्टोरिया की मूर्ति तोड़ दी गई। सरकार न दमन शुरू कर दिया। जनता के हृदय-सम्राट् लोकमान्य तिलक को कैद कर लिया। दो सम्पादकों को देश-निर्वासन की सजा दी गई। इस समय युवक भारत मे एक अपूर्व उत्साह फैल रहा था। जो नता तीखे और स्पष्ट शब्दों में सरकार की आलोचना करता, युवक-दल उसकी खूब प्रशंसा करता। इन्हीं दिनों दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की समस्या भी कांग्रेस में उपस्थित हुई और गांधी जी न वहा आंदोलन शुरू किया।

असन्तोष का जन्म

ऐसी अवस्था थी, जब लार्ड कर्जन भारत मे वायसराय बन कर आये। कांग्रेस न १८९८ के अधिवेशन मे उन का स्वागत करके उन म बड़ी बड़ी आशायें प्रकट कीं, किन्तु कुछ ही समय बाद उसे मालूम हो गया कि लार्ड कर्जन दमन-नीति का हथियार लेकर भारत की राजनैतिक जागृति को कुचलन के लिये ही शायद कटिबद्ध हो कर आये हैं। लार्ड कर्जन न एक भाषण मे कांग्रेस के प्रस्तावों को 'सोडावाटर के उबाल' कह कर उन को हंसी उड़ाई। पर फिर भी इन दिनों कांग्रेस की नीति में कठोरता व दृढ़ता नहीं आई थी। प्रायः प्रत्येक प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार की न्याय-प्रियता में विश्वास प्रकट करते हुये उसकी न्याय-बुद्धि को जागृत किया जाता था। प्रायः प्रत्येक अधिवेशन मे एक प्रकार के प्रस्ताव पास किये जात थे। बहुत से प्रस्ताव हर साल दुहराये जात थे। पाठकों की जानकारी के लिये १८९९ के प्रस्तावों के विषय नीचे दिये जात हैं:—

१—शासन और न्याय-विभाग का पृथक्करण, २—पंजाब के लगान का कानून, ३—ब्रिटिश सिपाहियों का खर्च, ४—विनिमय और मुद्रा, ५—सिविल मेडिकल सर्विस, ६—समाचार सम्बन्धी कानून ७—स्थानीय स्वराज्य-सम्बन्धी सरकारी नीति, ८—शिक्षकों को राजनैतिक आन्दोलन मे भाग न लेन की आज्ञा, ९—आबकारी, १०—कांग्रेस का संगठन, ११—ब्रिटिश कांग्रेस कमेटी, १२—मद्रास और बम्बई का शासन १३—अकाल, १४—शस्त्र कानून १५—सैनिक कालेज, १६—यूरोपियन नोकरों के भत्ते की पाबन्दी, १७—शिक्षा विभाग का पुनः संगठन १८—नमक कर की वृद्धि, १९—आसाम के मजदूर, २०—जूरी सिस्टम (जूरी का भारतीयकरण), २१—आय कर, २२—सिविल सर्विस की भारत मे परीक्षा २३—देशी रियासतों के छापेखाने, २४—कला कोशल सम्बन्धी शिक्षा, २५—पंजाब कौंसिल, २६—प्लेग का व्यय, २७—दादाभाई नौरोजी पर विश्वास आदि। इसी प्रकार के प्रस्ताव प्रायः प्रति वर्ष पास होते थे। यद्यपि अब इन की भाषा में कठोरता आने लगी थी, तथापि जनता पर इसका प्रभाव कम पड़ता था। कांग्रेस केवल अंग्रेजी शिक्षितों की ही सभा थी। दिसम्बर की छुट्टियों में वे अपने काम-धन्धों से छुट्टी पाकर आते थे, गरमागरम भाषण सुन कर और प्रस्ताव पास कर के चले जाते थे। कांग्रेस ने जनता के साथ सम्बन्ध जोड़ने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। इसलिये कांग्रेस में बड़े बड़े प्रभावशाली व योग्य वक्ताओं के होते हुये भी वह सर्वसाधारण की चीज़ नहीं बन सकी थी।

असन्तोष की ज्वाला

लेकिन लार्ड कर्जन की दमन-नीति और विशेष कर बंग-भंग ने उस का भी अवसर शीघ्र उपस्थित कर दिया। सब के बहुत विरोध करन पर भी उसन कलकत्ता व बम्बई की म्युनिसिपेलिटियों के अधिकार छीन लिये। अंग्रेजी शिक्षितों के बढ़ते हुये प्रभाव को देख कर यूनिवर्सिटियों पर भी कुठाराघात किया गया। 'यूनिवर्सिटीज़ एक्ट' से गरीबों के लिये उच्च शिक्षा प्राप्त करना कठिन हो गया। यूनीवर्सिटियों पर सरकारी नियन्त्रण कर देन मे भारतीयों का प्रभाव बहुत कम हो गया। उस का बहुत विरोध हुआ। शिक्षित लोगों मे असन्तोष फैल गया। उन्होंने समझा कि सरकार शिक्षा का विस्तार भी नहीं चाहती। १९०३ की कांग्रेस के भाषणों में यह असन्तोष प्रकट हुआ। सभापति श्री लालमोहन घोष ने अपन ज़ोरदार भाषण में यूनिवर्सिटी बिल की निन्दा करत हुये दिल्ली दरबार को 'एक फजूल तमाशा' बताया। सुरन्द्रनाथ बनर्जी न यूनिवर्सिटी कमीशन के सम्बन्ध में कहा—"वे छिप कर बैठे, छिप कर ही फैसला किया, और मेरा खयाल है कि छिपे-छिपे ही अलग भी हो गये।" १९०४ के अधिवेशन में वक्ताओं के भाषणों में और भी तेजी आगई। लार्ड कर्जन न कई भारतीयों की आलोचना कर दी थी। श्री सुरन्द्रनाथ ने उसका बहुत कठोर शब्दों में जवाब दिया। "इससे पहले सम्राट के प्रतिनिधि ने भारतीय जनता की निन्दा कभी नहीं की; यह हमारा घोर अपमान है। क्या एशियावासी यूरोपियनों से छोटे हैं? जापान से इसका उत्तर पूछो। क्या भारतीय यूरोपियनों से गिरे हुए हैं? लार्ड जार्ज हैमिल्टन इसका उत्तर देंगे। सभ्यो, क्या हम, जिनके पूर्वज जब वर्तमान यूरोपियन जातियां अज्ञान और भ्रम में पड़ी थीं सभ्यता के शिखर पर पहुंचे थे, नीच जातियों के हैं? क्या हम छोटी जाति के हैं, जिसके पुत्रों न संसार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूम कर दो तिहाई विश्व को नैतिक पवित्रता का पाठ पढ़ाया था?" मि० वाडिया न वायसराय के मिशन को 'शरारत भरा' कहा।

अग्नि मे घृताहुति—बंगभंग

बंगभग ने असंतोष की इस अग्नि में घृताहुति का काम किया। लार्ड कर्जन न इसके द्वारा जनता को खुला चैलेंज दे दिया। बंगभग का उद्देश्य जहां सरकारी भाषणों में 'शासन की सुविधा' बताया जाता था, वहां वास्तविक कारण यह था कि सरकार बंगाल मे बढ़ती हुई राजनीतिक जागृति को नष्ट करना चाहती थी। पूर्वीय बंगाल को, जिसमे मुसलमानों की आबादी अधिक है, अलग करके मुसलमानों को हिन्दुओं से पृथक करने का उद्देश्य स्पष्ट ही रहा था। लार्ड कर्जन ने पूर्वीय बंगाल में घूम कर मुसलमानों को यह बताने का प्रयत्न भी किया कि यह सब तुम्हारे हितों के लिये किया गया है। बहुत मे भोले मुसलमान इस बहकावे में आ भी गये। पीछे मे जब बंगाल को फिर एक कर भी दिया गया, तब भी इस समय पैदा किया हुआ साम्प्रदायिक विद्वेष नष्ट न हो सका।

चैलेंज स्वीकार

बंगाल ने सरकार के इस चैलेंज को स्वीकार किया। सारे बंगाल में जागृति की एक लहर फैल गई। बच्चा-बच्चा सरकार की निन्दा करने लगा। दिसम्बर १९०३ से अक्तूबर १९०५ तक हिन्दुओं और मुसलमानों की २००० सार्वजनिक सभाओं में बंगभंग का विरोध किया

लोकमान्य तिलक

गया। पर सरकार के कानों पर जूं नही रेंगी। तब ७ अगस्त १९०५ को कलकत्ते की एक विराट सभा में बंगभंग के विरोध में ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी व्रत का प्रस्ताव पास कर देश ने न केवल अपने असंतोष का विराट प्रदर्शन किया, किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास मे एक नये क्रांतिकारी अध्याय का श्रीगणेश भी किया। बंगभंग के दिन १६ अक्तूबर को सारे बंगाल में हड़ताल की गई। जनता ने उस दिन व्रत रखा, स्वदेशी गीत गाये और एक दूसरे की कलाई में राखी बांधी। 'वन्देमातरम' गीत सब का मन्त्र हो गया। राष्ट्रीय शिक्षा का भी सूत्रपात किया गया। कई राष्ट्रीय शिक्षणालय खोले गये।

बंगाल की यह लहर केवल उसी तक सीमित न रही। लोकमान्य तिलक और शेरे पंजाब ला० लाजपतराय के प्रयत्नों से महाराष्ट्र और पंजाब में भी राष्ट्रीयता के एक नये युग का प्रादुर्भाव हो गया। स्वदेशी का व्रत लाखों लोगों ने

काश्मीर
श्रीनगर
पंजाब
नैपाल
आसाम
बंगाल
राजपूताना
अजमेर
मध्य प्रदेश
हैदराबाद
मैसूर
अरब सागर
बंगाल खाडी
हिन्द महासागर

ग्रहण कर बंगाल के साथ सहानुभूति प्रकट की। जापान की रूस-विजय युवक तुर्कों के आन्दोलन चीनियों के विद्रोह आदि अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलनों ने भी भारत की राष्ट्रीय जागृति पर पर्याप्त प्रभाव डाला। लो० तिलक ने गणपति-उत्सव का संगठन कर उसे राष्ट्रीय पर्व का रूप दे दिया। बंगाल में जो जागृति फैल रही थी उसे कवीन्द्र रवीन्द्र और विवेकानन्द के लेखों व भाषणों ने बहुत उत्साहित किया। विदेशी सभ्यता और शासन की पोल खोल कर जहां रवीन्द्र ने स्वदेशी समाज और संस्कृति को अपनाने पर जोर दिया वहां स्वा० विवेकानन्द ने 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' का दिव्य सन्देश देकर नवीन शक्ति प्राप्त करने का उपदेश दिया। यह समय था, जब भारत के राजनैतिक गगन में बाल पाल और लाल (बालगंगाधर तिलक विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपतराय) की नक्षत्रत्रयी जाज्वल्यमान हो कर चमक रही थी। इन तीनों के ओजस्वी भाषणों ने सारे भारत में धूम मचा दी थी। अरविन्द घोष ने भी राजनैतिक क्षेत्र में जोरों के साथ इन दिनों प्रवेश किया।

इसी समय कांग्रेस के नेताओं में दो दलों की सृष्टि हुई। जो नेता इतनी उग्रता नहीं चाहते थे वे नम दली के नाम से प्रसिद्ध हुए और दूसरे गर्मदली। इन दोनों का विरोध शुरू हो गया। लो० तिलक के नेतृत्व में गर्मदल ने 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' की घोषणा की। १९०६ में दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में कांग्रेस का ध्येय स्वराज्य-प्राप्ति मान लिया गया। यह गर्म दल की विजय थी। इसे नर्मदल सहन न कर सका। इस के परिणामस्वरूप

सूरत कांग्रेस में

दोनों दलों में झगड़ा हो गया। गरम दल और नरम दल में खूब धुकमफजीता हुआ। गरम दल कांग्रेस में न रह सका। नरम दल ने कांग्रेस पर कब्जा कर लिया।

दमन और सुधार

इस समय यद्यपि लार्ड कर्जन जा चुके थे तथापि सरकारी नीति में परिवर्तन नहीं हुआ था। दमनचक्र जोरों से चल पड़ा था। गर्मदल पर सरकार की कोपदृष्टि थी। लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश-निर्वासन की सजा मिल गई थी। लो०तिलक को छः साल के कारावास का दण्ड दे दिया गया। बंगाल के नौ प्रसिद्ध नेता भी निर्वासित कर दिये गये। १९१० में प्रेस एक्ट' पास कर दिया गया। दमन के लिए अन्य कानून भी बनाये गये। इस का कारण था बहिष्कार और स्वराज्य का आन्दोलन। श्री विपिनचन्द्र पाल ने बहिष्कार की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा था कि हम इस बात का प्रयत्न करेंगे कि लोग धीरे-धीरे सरकार से सहयोग करना छोड़ दें।

यद्यपि सरकार दमन पर तुली हुई थी तथापि लार्ड मिण्टो यह समझ चुके थे कि शासन-सुधार आवश्यक हैं। मिण्टो-मार्ले योजना के अनुसार कुछ नये सुधार दिये गये। इस योजना में पहले-पहल सरकार ने पृथक और साम्प्रदायिक चुनाव की पेशबन्दी की जो आज भी राष्ट्रीय प्रगति में सब से बड़ी बाधा हो रही है। कांग्रेस में नरम

मि० गोखले

दल ने इन सुधारों का स्वागत करते हुए बहुत हर्ष प्रकट किया। अब कांग्रेस के अधिवेशनों में न उत्साह रहा था न कोई प्रगति। बहुत से प्रस्ताव दुहराये जाते थे। म० गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलन और गोखले की चर्चा से दक्षिण अफ्रीका का प्रश्न लोगों का ध्यान जरूर खींच रहा था। कांग्रेस के २८ वें अधिवेशन से पूर्व जार्ज पञ्चम ने दिल्ली दरबार में स्वयं बंगभंग को रद्द कर बंगाल के संग्राम की विजय को स्वीकार किया। उधर दक्षिणी अफ्रीका में म० गांधी का निष्क्रिय प्रतिरोध फल ला रहा था। कांग्रेस की लोक-प्रियता अब भी घटती जा रही थी। उपस्थिति भी प्रति वर्ष कम हो रही थी। लाहौर में यदि २४३ प्रतिनिधि थे तो बांकीपुर में सिर्फ २०० रह गये थे।

१९१४ में यूरोप में महासमर छिड़ गया। कांग्रेस ने सरकार के आश्वासनों पर विश्वास कर ब्रिटेन को सहायता दी। कांग्रेस ने लोगों से भी प्रार्थना की कि ऐसे आड़े समय ब्रिटेन को खूब सहायता दो। इसी समय श्रीमती बीसेन्ट ने राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश किया। १९१५ में सर सत्येन्द्रप्रसन्न सिंहा ने स्वराज्य की व्याख्या करते हुए 'जनता के लिये जनता द्वारा जनता पर शासन' मांगा। इस के अतिरिक्त और कोई विशेष घटना नहीं हुई।

फिर उत्साह और एकता

१९१६ में कांग्रेस में फिर नया युग प्रारम्भ होता है। श्रीमती एनी बीसेण्ट के प्रयत्न से नरम और गरम दल मिल गये थे। लोकमान्य तिलक और गोखले एक मंच पर साथ-साथ खड़े हुए। कांग्रेस में उत्साह था, स्फूर्ति थी और दीखता था नवीन जीवन। म० गांधी 'दक्षिण अफ्रीका के सफल-विजेता के

मिसेज बीसेण्ट

रूप में विद्यमान थे। इस कांग्रेस ने पहली बार हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये रचनात्मक कार्य किया जो लखनऊ-समझौता के नाम से प्रसिद्ध है। मिण्टो-मार्ले सुधारों से असन्तोष बहुत था इसलिये नये सुधारों की मांग की गई।

सरकार ने १९१७ में शीघ्र ही नये सुधार जारी करने की घोषणा की। इसी वर्ष मिसेज बीसेण्ट ने होमरूल-आन्दोलन चलाया जिसके परिणामस्वरूप सरकार ने उन्हें कैद कर लिया। देश ने इसका जवाब देने के लिये उन्हीं को कांग्रेस का अध्यक्ष चुन लिया। सरकार ने अधिवेशन से कुछ दिन पूर्व उन्हें छोड़ने में ही बुद्धिमत्ता समझी। १९१८ में होमरूल-आन्दोलन खूब चला। राजनैतिक विषयों पर खूब साहित्य भी पैदा हुआ। इसी अवसर पर देशबन्धु चित्तरञ्जन-दास ने क्रियात्मक रूप में राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश किया। होमरूल लीग के ३,५०,००० सदस्य हो गये। लो० तिलक केलकर श्री दास आदि प्रायः सभी प्रधान नेता इसके साथ थे।

दो रिपोर्टें

८ जुलाई १९१८ को मांटग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट प्रकाशित हुई। भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत क्रमशः दायित्वपूर्ण

स्वामी श्रद्धानन्द

शासन देने की घोषणा के अनुसार एक विधान बनाया गया जो आजकल भी प्रचलित है। मांटग्यू रिपोर्ट के बाद १९ जुलाई को रौलट कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई।

नरम दल अलग

कांग्रेस में इस समय फिर दो दल हो गये। नरम दल ने सुधारों को स्वीकार करने पर जोर दिया और गरम दल ने कांग्रेस में अपने प्रभाव से सुधारों को असन्तोषजनक और निराशाजनक कहा।

प्रिन्स आफ वेल्स

बम्बई के विशेषाधिवेशन में इसे बिलकुल रद्द करने योग्य करार

१९१८ में विशेष [illegible]

[illegible]

साइमन-कमीशन की बलि

पंजाब केसरी पर लाठी-प्रहार के चिन्ह

दिया गया। इससे नरम दल कांग्रेस से अलग हो गया और आज तक नहीं मिला।

महात्मा गांधी का नेतृत्व

यद्यपि म० गांधी इस समय तक चम्पारन व खेड़ा में अपने अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा दो विजय प्राप्त कर चुके थे और प्रति वर्ष कांग्रेस के अधिवेशन में भी सम्मिलित होते थे परन्तु उन्होंने सम्पूर्ण देश का नेतृत्व १९१९ में ही अपने हाथों में लिया। सारे देश के विरोध करने पर भी सरकार ने १८ मार्च १९१९ को रौलेट बिल पास कर दिया था। म० गांधी ने इसके विरोध में सत्याग्रह की घोषणा की। सारे देश में अपूर्व उत्साह का संचार हो गया। १९०५ में केवल बंगाल में जो जागृति हुई थी वह अब सारे देश में दिखने लगी। सर्वसाधारण का कांग्रेस के साथ ऐसा सम्बन्ध या एक नेता के नेतृत्व में इतनी जागृति अभूतपूर्व थी। ६ अप्रैल को हड़ताल दिवस मनाने की घोषणा की गई। परन्तु दिल्ली में ३० मार्च को ही हड़ताल हो गई। उत्तेजित जनता पर पुलिस ने गोलियां चलाईं। सम्भव था कि उपद्रव हो जाता, पर स्वामी श्रद्धानन्द की प्रत्युत्पन्नमतिता के कारण उपद्रव न हुआ। उस समय दिल्ली में जो विराट प्रदर्शन हुआ वह भारत के इतिहास में अपूर्व दृश्य था। हिन्दू और मुसलमानों की एकता का स्वर्गीय दृश्य भी दिल्ली ने देखा। पंजाब में भी यही हो रहा था। पंजाब-सरकार इस जागृति को सहन न कर सकी। पंजाब में मार्शल ला जारी कर दिया गया। इस प्रसंग में जलियांवाला बाग की दर्दनाक घटना हुई जिसने सारे भारत के हृदय को दहला दिया। सम्पूर्ण भारत में असन्तोष की तीव्र अग्नि प्रज्वलित हो उठी। विश्व-कवि रवीन्द्र ने इसके विरोध-स्वरूप सर की पदवी लौटा दी।

पंजाब छिन्न-भिन्न हो चुका था। ऐसे समय स्वा० श्रद्धानन्द और पं० मोतीलाल नेहरू ने जाकर पंजाबियों को सारे राष्ट्र की ओर से सान्त्वना दी। स्वा० श्रद्धानन्द के प्रयत्न से ही अमृतसर में कांग्रेस भी हो सकी। इसमें म० गांधी के प्रयत्न से मांटेगू रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया गया। उससे चार-पांच दिन पूर्व ब्रिटिश-सरकार ने जलियांवालाबाग-जांच कमेटी बिठाई थी और राजनैतिक कैदियों को छोड़ने का हुक्म दिया था। इसी कांग्रेस में म० गांधी ने खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमानों का साथ दिया।

अमृतसर कांग्रेस की एक विशेषता और भी थी। स्वागताध्यक्ष स्वा० श्रद्धानन्द ने राष्ट्रभाषा हिन्दी में भाषण दिया और सामाजिक-सुधार व अस्पृश्यता-निवारण आदि पर कांग्रेस के प्लेटफार्म से जोर दिया। म० गांधी ने बाद में यही सामाजिक कार्यक्रम अपना लिया।

फिर आग — असहयोग

स्थिति शांत हो चली थी। सुधार स्वीकार कर लिए गए थे। केवल खिलाफत का प्रश्न जरूर जोरों पर था। परन्तु इसी समय हंटर कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसने डायर का समर्थन किया था। देश में फिर आग लग गई। अंग्रेजों की न्याय-प्रियता में सदा से विश्वास रखने वाले महात्मा गांधी ने सरकार को 'शैतानी हुकूमत' कहा। उन का सरकार पर से विश्वास उठ गया और वह अब तक नहीं बैठा। म० गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में असहयोग की घोषणा कर दी। लोग धड़ाधड़ सरकारी पदवियां छोड़ने लगे, स्कूल व कालेज विद्यार्थियों से खाली होने लगे, अदालतों में उल्लू बोलने लगे, कौंसिलों और विदेशी माल का भी बहिष्कार किया गया। कांग्रेस की शक्ति बढ़ती गई। सरकार व्याकुल और चिंतित हो उठी। 'प्रिंस आफ वेल्स' के भारत आने पर उनका जो सफल बहिष्कार हुआ उसे देख कर वह आपे से बाहर हो गई। कांग्रेस का स्वयंसेवक दल गैरकानूनी करार दिया गया। कांग्रेस ने इसी प्रश्न पर सत्याग्रह शुरू कर दिया। अली-बन्धुओं के नेतृत्व में मुसलमान भी पूरे तौर से इस आन्दोलन के साथ थे। नागपुर की कांग्रेस ने सत्याग्रह का समर्थन किया और अहिंसात्मक उपायों से स्वराज्य-प्राप्ति को अपना ध्येय बना लिया।
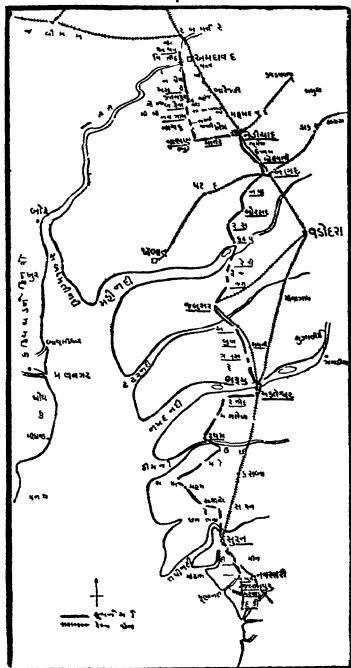
डांडी यात्रा का मार्ग

इस समय सरकार के विरुद्ध इतना व्यापक असन्तोष था कि सम्भव था, जनता उत्तेजित हो जाती, परन्तु महात्मा गांधी के अहिंसा-प्रचार ने देश को रक्तपात से बचा लिया। देशबन्धु चितरंजनदास और त्यागमूर्ति प० मोतीलाल नेहरू अपनी लाखों की वकालत छोड़ कर इस संग्राम में आ कूदे। आन्दोलन बढ़ता गया।

सरकार ने दमन-चक्र उठाया। खिलाफत के नेता गिरफ्तार किये गये। २०,००० सत्याग्रही स्वयंसेवक भी जेल में भेज दिये गये। देशबन्धु-दास भी गिरफ्तार कर लिये गये।

साइमन कमीशन के अध्यक्ष

स्वराज्य पार्टी के नायक

सर जोन साइमन

पं० मोतीलाल नेहरू

देशबन्धु चित्तरञ्जन दास

अहमदाबाद कांग्रेस ने और जोरों से आन्दोलन चलाने का निश्चय कर म० गांधी को डिक्टेटर बना दिया। कांग्रेस अब वाग्वीरों की सभा न रही थी, इसमें कर्मशूरों की प्रधानता थी। म० गांधी पहली बार देश के निरंकुश सम्राट् मान लिये गये। महात्मा जी ने बारदोली में लगानबन्दी के सार्वजनिक सत्याग्रह का निश्चय करके ४ फरवरी १९२२ को सरकार को भी सूचना दे दी। लेकिन इसी समय चौरी-चौरा का हत्याकाण्ड हो गया। म० गांधी ने देश को 'ठहरो' का हुक्म दे दिया। सेनापति ने कहा कि देश अभी अहिंसात्मक सत्याग्रह के लिये तैयार नहीं है। देश में कुछ निराशा फैल गई, पर क्या करता, सेनापति की आज्ञा थी।

स्वराज्य-पार्टी का जन्म

सरकार ने मौका पाकर गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया। उन के जेल जाते ही सत्याग्रह ढीला पड़ गया। लोगों में उत्साह शिथिल हो चुका था। महाराष्ट्रीय नेताओं ने कौंसिल-प्रवेश का कार्यक्रम अपनाने की सलाह दी। देशबन्धु-दास व मोतीलाल नेहरू ने स्वराज्य पार्टी कायम कर ली। इस के बाद का इतिहास बहुत ताजा है। अभी लोग उसे न भूले होंगे। किस तरह अपरिवर्तनवादियों और स्वराज्य पार्टी में झगड़ा हुआ, किस तरह महात्मा जी बीमार हो कर जेल से छूटे, किस तरह उन्होंने सारी बागडोर स्वराज्य-पार्टी के हाथ में सौंप दी, स्वराज्य पार्टी ने असेम्बली और कौंसिलों पर कैसे कब्ज़ा किया, यह आज भी सब को याद है। देश की राजनैतिक दशा खराब हो चली थी। हिन्दू मुस्लिम विद्वेष चरम सीमा पर पहुंच गया था। एक मदान्ध मुसलमान ने स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या कर स्थिति को और भी विषम कर दिया। कांग्रेस ने हिन्दू-मुसलिम समस्या के हल के अनेक यत्न किये, किन्तु उसे सफलता न हुई। कांग्रेस का प्रभाव एक बार फिर देश पर न रहा।

साइमन-कमीशन

लेकिन इसी समय सरकार ने साइमन-कमीशन नियुक्त किया, जिसमें एक भी भारतीय नहीं रखा गया। सारे देश में इस के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। गरम, नरम सभी दल मिल गये, हिन्दू मुसलमानों का विद्वेष भी बहुत कुछ कम होगया। साइमन-कमीशन का देशव्यापी बहिष्कार हुआ। इसी बहिष्कार के सिलसिले में एक जलूस का नेतृत्व करते हुए पंजाब-केसरी ला० लाजपतराय पर लाठी-प्रहार हुआ। जिसका धक्का डाक्टरों के कथनानुसार उन के देहान्त का प्रधान कारण हुआ। साइमन-कमीशन के मुकाबले में सब राजनैतिक दलों ने मिल कर पण्डित मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में शासन-विधान की एक योजना तैयार की, जो नेहरू-रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है। कलकत्ता-कांग्रेस ने सरकार को एक वर्ष की मोहलत दी कि वह औपनिवेशिक स्वराज्य दे दे, अन्यथा कांग्रेस पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग करेगी। इस समय तक प० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस में युवक-दल की प्रधानता हो चुकी थी। सरकार ने कांग्रेस की मांग पर ध्यान न दिया। इसका फल यह हुआ कि लाहोर में मि० ह्यूम द्वारा स्थापित और वायसराय द्वारा आशीर्वाद-प्राप्त कांग्रेस ने युवक-नेता जवा-

लार्ड अर्विन

हरलाल के सभापतित्व में ब्रिटिश साम्राज्य से संबंध-विच्छेद कर पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी।

सत्याग्रह

इस के बाद १९३०-३१ में डाण्डी-यात्रा से श्रीगणेश करके सत्याग्रह संग्राम हुआ। वह क्या था कैसे लड़ा गया, इस पर कुछ लिखना पाठकों की स्मृति-शक्ति का अपमान करना है। गांधी-अर्विन समझौते के रूप में कांग्रेस ने अपनी विजय मनाई। फिर गांधी जी ने गोलमेज कानफरेन्स में कांग्रेस की ओर से क्या मांगें पेश कीं, उन के भारत से लौटने से पूर्व ही सरकार ने किस तरह दमन-नीति का प्रयोग खुले हाथों शुरू कर दिया, किस तरह वायसराय ने गांधी जी से मिलने से भी इन्कार कर दिया और कांग्रेस को विवश हो कर सत्याग्रह करना पड़ा, पूने में कैसे सामूहिक सत्याग्रह वैयक्तिक सत्याग्रह के रूप में बदला गया और अब पटना में कांग्रेस कमेटी ने सत्याग्रह वापस ले कर कौंसिल-प्रवेश का कार्यक्रम कैसे स्वीकार किया गया, यह सब किसी से अविदित नहीं है।

इस लेख में संक्षेप से हमने कांग्रेस का क्रमिक विकास बताने का यत्न किया है। कांग्रेस किस तरह उच्च-शिक्षितों की वाद-विवाद-सभा से देश की ओर से सब अधिकार ले कर स्वातन्त्र्य-संग्राम करने वाली युद्ध-सभा बन गई, इस का संक्षिप्त परिचय इस लेख से मालूम होगा। परमात्मा करे कि यह कांग्रेस अधिकाधिक शक्तिशालिनी होकर अपने उद्देश्य में सफल हो।

--:o:--

प्रजातन्त्र का क्षेत्र

(लेखक—श्री आसफअली बार-एट-ला)

मि० आसफअली बार-एट-ला उन सार्वजनिक कार्यकर्ताओं में हैं जिनकी लोकप्रियता और प्रसिद्धि सार्वदेशिक हो रही है। कांग्रेस पार्लमेण्टरी बोर्ड के आप मुख्य कर्णधारों में से हैं।

इस लेख में आपने बताया है कि प्रजातन्त्र क्या है और उसका मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक स्वतन्त्रता के साथ क्या सम्बन्ध है। इस समय जब देश राजनीति और स्वराज्य की चर्चा कर रहा है यह लेख पाठकों के लिये उपयोगी और मननीय होगा।

प्रजातन्त्र का अभिप्राय ऐसे शासन से है जिस की नींव लोकमत पर स्थापित हो। मगर कोई राष्ट्र तब तक न राष्ट्र बन सकता है और न ही कोई उन्नति कर सकता है जब तक कि उस के साधारण लोगों की अवस्था ठीक न हो — अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति करने व स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवन व्यतीत करने का पूर्ण सुविधायें प्राप्त न हों।

आदि-काल में मनुष्य पशुओं की भांति जंगलों में जीवन व्यतीत करता था। सभ्यता के युग में वह विभिन्न समयों में विभिन्न दर्जों पर रहा। उस ने आपस में मिल-जुल कर रहना सीखा और भूमि की उपज व प्राकृतिक शक्तियों से सहायता लेकर अपने मानसिक व शारीरिक परिश्रम से एक नयी सभ्यता की बुनियाद डाली। इसी समय उस ने व्यवस्था जिसे हम सभ्यता का प्रथम व अन्तिम कदम कह सकते हैं — पैदा की। इस व्यवस्था में यह नियम था कि सब प्रथम उन लोगों का आदर होता हो जो शारीरिक व मानसिक शक्तियों से सुसज्जित थे। फलस्वरूप परिवार कबीले और उन के सरदार पैदा हुए। तदनन्तर परिवारों तथा कबीलों में एकता स्थापित हुई और राष्ट्र बने। इस के बाद राष्ट्रों के राजा बने और राजाओं के मेल से सम्राट व साम्राज्यवाद का जन्म हुआ।

इस युग में पहले पहल कतिपय बुद्धिमान लोगों ने शासन व्यवस्था तैयार की और सैनिक प्रबन्ध के बल पर शासन किया। शनैः शनैः जब शिक्षित व विद्वान लोगों का दायरा विस्तृत हुआ तो कुछ दिमागों की जगह ज्यादा दिमागों ने ले ली, और होते-होते अब जिस युग से हम गुजर रहे हैं। उसमें प्रजातन्त्र पूर्णरूपेण पल्लवित व फलित हो गया है। प्रायः सब राष्ट्रों की नींव लोकमत पर रखी जा चुकी है। यद्यपि यूरोप में प्राचीन एशिया की भांति आज भी तानाशाह (डिक्टेटर) दृष्टिगोचर होते हैं मगर यह सब लोकमत की रजामन्दी से एकतन्त्रीय शासन करते हैं।

आखिर यह प्रजातन्त्र क्या है? यूं तो इतिहास और कहानी लम्बी है मगर सिद्धान्ततः प्रजातन्त्र की असली बुनियाद, जैसा कि ऊपर कहा गया है हरेक मनुष्य के निम्न लिखित जन्मसिद्ध अधिकार पर अवलम्बित है—

(१) हम अपनी मानसिक व शारीरिक शक्तियों को उन्नत करने का उतना ही अधिकार है जितना किसी दूसरे मनुष्य का — चाहे वह स्त्री हो या पुरुष काला हो या गोरा एक धर्म का हो या दूसरे धर्म का।

(२) शासन-व्यवस्था सर्वसाधारण की राय से और उनकी भलाई व उन्नति के लिये होना चाहिये,

(३) इसलिये प्रत्येक एक राष्ट्र को जो इन नियमों पर कायम न हो उसे बदलने का सर्वसाधारण का हक है।

इसके उपरान्त यह प्रश्न पैदा होता है कि वास्तव में स्वतन्त्रता के अर्थ क्या हैं। स्वतन्त्रता जहां एक जन्मसिद्ध अधिकार है वहीं प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरे आदमियों के आधीन भी है क्योंकि सब को एकसी स्वतन्त्रता का अधिकार है। अर्थात् स्वतन्त्रता का यह तात्पर्य नहीं कि एक आदमी जो चाहे करे ख्वाह इससे दूसरे के स्वतन्त्रता के अधिकार का अपहरण हो क्यों न हो जाय। इसलिए इन दर्शों में नहीं स्वतन्त्रता का दारमदार है बजाय इस के कि लोग जो चाहे करें वे केवल वही कर सकते हैं जिससे दूसरों का हक न मारा जाय। उदाहरणतः प्रत्येक व्यक्ति को हक प्राप्त है कि वह दिन भर के परिश्रम के बाद रात को आराम से सोये। इस के यह अर्थ हैं कि हरेक मनुष्य को कम से कम ८ घण्टे आराम से सोने का पूरा अवसर है। अतएव प्रत्येक पड़ोसी का कर्तव्य है कि वह १० या ११ बजे के बाद गुल-गपाड़ा ग्रामोफोन हारमोनियम आदि का बजाना रात को बन्द कर दे ताकि पड़ोसी आराम से सो सकें। इसी तरह प्रत्येक आदमी को अधिकार है कि वह टिकट लेकर थियेटर जाय और जो पहले जाय उसे हक है कि वह टिकटघर के पास खड़ा हो। दूसरा को जो बाद में जायें यह अधिकार नहीं कि पहले से जो टिकटघर के पास खड़े हैं उनको पीछे हटा कर स्वयं आगे बढ़ जाय इत्यादि। या यह कि यदि एक आदमी से किसी दूसरे का तकरार हो और नौबत हाथापाई तक पहुंच तो केवल उन्हीं दो व्यक्तियों को लड़ कर फैसला कर लेने दिया जाय और दूसरे कव्वों की भांति कांय कांय करके एक या दूसरे का साथ न दें।

इस प्रकार स्वतन्त्रता जहां एक उम्दा वस्तु है वहां इसकी पाबन्दियां भी सख्त हैं। मगर यही वह हालत है जिसे कवि ने स्वर्ग से उपमा दी है —

बहिश्त आंजा कि आजारे न बाशद,
कसेरा बाकसे कारे न बाशद।

इस स्वतन्त्रता के साथ ही लोकमत का इतना असर होता है कि मनुष्य प्रत्येक कार्य लोकमत के मातहत करता है। अर्थात् यदि बहुमत यह चाहता है कि काली टोपियां विशेष तर्ज की पहनो तो आजाद मनुष्य बावजूद इसके कि जो चाहे पहने सर्वसाधारण की राय से प्रभावित होकर विशेष प्रकार की काली टोपी ही पहनता है और अपनी ढपली व अपने राग की कहावत चरितार्थ नहीं करता। मतलब यह कि लिबास आदि मामलों में भी बड़ी हद तक राष्ट्रीय समानता होती है।

प्रजातन्त्र का पहला तकाजा यह है कि शासन-व्यवस्था सर्वसाधारण की राय से कायम हो। अब इस सम्बन्ध में भी लोकमत अपना हस्तक्षेप करता है कि किन लोगों को बहुमत मिलता है? फिर यह भी खयाल आवश्यक ही होता है कि दुनिया केवल राय से नहीं चलती बल्कि व्यावहारिकता का भी खयाल रखना पड़ता है। उदाहरणार्थ चाहे बहुमत का एक विशेष विचार हो — मगर विरोधियों की संख्या यदि इतनी बड़ी है कि उसके विरोध का ध्यान न रखने से दंगों व मुसीबतों की सम्भावना हो तो बहुमत वाले परिस्थितियों के अनुसार कार्य करते हैं। अर्थात् यदि १०० आदमियों में ५१ एक ओर हों तो यद्यपि ४९ विरोधी पक्ष में होंगे — मगर उनकी राय का बोझ इतना काफी होगा कि ५१ आसानी से उनके खिलाफ न जायेंगे। थोड़े में यह सब व्यावहारिक जीवन के मातहत होने हैं और यद्यपि मूर्ख लोग रोटी पर यूं लड़ें और टुकड़े पर यूं करने को तैयार रहते हैं — मगर राष्ट्र गम्भीर होते हैं और वे सोच-समझ कर फैसला करते हैं।

व्यक्तिगत एवं सामूहिक या राष्ट्रीय अधिकार प्राप्त करने और प्रजातन्त्र स्थापित करने के अनेक तरीके हैं-मगर यह सब तरीके सर्वसाधारण की राय से व्यवहार में लाये जाते हैं। यह अधिकार सब के लिये समान है। किसी को किसी पर तरजीह नहीं सिवाय इस के कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शारीरिक व मानसिक शक्ति तथा योग्यता दिखाने का पूरा अवसर मिलना चाहिये। यदि ऐसा कानून न हो तो हरेक आदमी बिना शारीरिक व मानसिक परिश्रम के दूसरों

के परिश्रम का फल खाने को तैयार रहेगा और हजारों सालों में बना हुआ सभ्यता का भवन गिर जायगा, मनुष्य पशुओं के जीवन व लूटमार पर कमर बांध लेगा। बिना मानसिक व शारीरिक परिश्रम किये किसी व्यक्ति को जीवन की सुविधायें प्राप्त करने का कोई हक नहीं है और जो आदमी दूसरों की मेहनत को अपने आराम का जरिया बनाते हैं उन्हें आकाशबेल से उपमा दी जा सकती है जो हरे-भरे वृक्षों को खा-खाकर सुखा देती है। ऐसी 'आकाश बेल' को मनुष्य की सभ्यता के बाग में कोई स्थान नहीं मिल सकता।

अन्त में यह प्रश्न उठता है कि मानसिक व शारीरिक परिश्रम का फल क्या होता है? दुनिया ने इस का जवाब अनेक प्रकार से दिया है। साधारणतः मानसिक परिश्रम को शारीरिक परिश्रम से अच्छा माना जाता है चाहे वह किसी शक्ल में हो। अतः आज रूस में भी, जहां हरेक आदमी को पूरी बराबरी का दावा है और जहां प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मानसिक व शारीरिक उन्नति करने की सब सुविधायें प्राप्त हैं शासन-सत्र का प्रधान स्टालिन है जिस की दिमागी मेहनत को दूसरों की दिमागी मेहनत के मुकाबले में उत्तम खयाल किया जाता है।

इन सीमाओं के अन्तर्गत प्रजा को पूर्ण अधिकार है कि वह शासन-व्यवस्था को लोकमत व लोक-हित की नींव पर कायम करे।

—०—

मोटर के छींटे

पैदल चलने वालों के कपड़े खराब करते हुए सरपट मोटर दौड़ाने वालों को हमारे हजारों पाठकों ने कभी न कभी दिल में अवश्य गालियां दी होंगी। परन्तु इस कथा के द्वारा उपन्यास सम्राट प्रेमचन्दजी ने ऐसे नवाबों के नातियों का जो इलाज बताया है उसे यद्यपि हमारे पाठक बहुत पसन्द करेंगे तथापि हम उन्हें यह इलाज करने से पूर्व खूब सोच-समझ लेने की सलाह अवश्य देंगे।

क्या नाम कि कल प्रातःकाल स्नान-पूजा से निबट, तिलक लगा पीताम्बर पहन खड़ाऊं पांव में डाल, बगल में पत्रा दबा हाथ में मोटा सा शत्रु-मस्तक-भंजन ले एक जजमान के घर चला। विवाह की साइत विचारनी थी। कम से कम एक कलदार का डौल था। जलपान ऊपर से। और मेरा जलपान मामूली जलपान नहीं है। बाबुओं को तो मुझे निमन्त्रित करने की हिम्मत ही नहीं पड़ती। उनका महीने भर का नाश्ता मेरा एक दिन का जलपान है। इस विषय में तो हम अपने सेठों साहूकारों के कायल हैं। ऐसा खिलाते हैं, ऐसा खिलाते हैं, और इतने खुले मन से कि चोला आनन्दित हो उठता है। जजमान का दिल देख कर ही मैं उसका निमन्त्रण स्वीकार करता हूं। खिलाते समय किसी ने रोनी सूरत बनाई और मेरी क्षुधा गायब हुई। रोकर किसी ने खिलाया तो क्या? ऐसा भोजन कम से कम मुझे नहीं पचता। जजमान ऐसा चाहिये कि ललकारता जाय — लो शास्त्री जी एक बालूशाही और, और मैं कहता जाऊं — नहीं जजमान, अब नहीं।

रात को खूब वर्षा हुई थी। सड़क पर जगह जगह पानी जमा था। मैं अपने विचारों में मगन चला जाता था कि एक मोटर छप-छप करती हुई निकल गई। मुंह पर छींटे पड़े। जो देखता हूं, तो धोती पर मानो किसी ने कीचड़ घोल कर डाल दिया हो। कपड़े भ्रष्ट हुए वह अलग, देह भ्रष्ट हुई वह अलग, आर्थिक क्षति जो हुई वह अलग। अगर मोटर वालों को पकड़ पाता तो ऐसी मरम्मत करता कि वह भी याद करते। मन मसोस कर रह गया। इस वेष में जजमान के घर तो जा नहीं सकता था, अपना घर भी मील भर से कम न था। फिर आने-जाने वाले सब मेरी ओर देख-देख कर तालियां बजा रहे थे। ऐसी दुर्गति मेरी कभी न हुई थी। अब क्या करोगे मन? घर जाओगे तो पण्डिताइन क्या कहेंगी?

(ले०—प्रेमचन्द जी)

मैंने चटपट अपने कर्तव्य का निश्चय कर लिया। इधर-उधर से दस-बारह पत्थर के टुकड़े बटोर लिए और दूसरे मोटर की राह देखने लगा। ब्रह्मतेज सिर पर चढ़ बैठा। अभी दस मिनट भी न गुजरे होंगे कि एक मोटर आती हुई दिखाई दी। ओहो! वही मोटर थी। शायद स्वामी को स्टेशन से लेकर लौट रही थी। ज्योंही समीप आई मैंने एक पत्थर चलाया भरपूर जोर लगा कर चलाया। साहब की टोपी उड़ कर सड़क के उस बाजू पर गिरी। मोटर की चाल धीमी हुई। मैंने दूसरा फैर किया। खिड़की के शीशे चूर चूर हो गये और एक टुकड़ा साहब बहादुर के गाल में भी लगा। खून बहने लगा। मोटर रुकी और साहब उतर कर मेरी तरफ आये और घूंसा तान कर बोले — सुअर हम तुम को पुलिस में देगा। इतना सुनना था कि मैंने पोथी-पत्रा जमीन पर फेंका और पकड़ कर साहब की कमर अड़ंगी लगाई तो कीचड़ में भद् से गिरे। मैंने चट सवारी गांठी और गरदन पर एक पचीस रद्दे ताबड़तोड़ जमाये कि चौंधिया गये। इतने में उनकी पत्नी जी उतर आईं। ऊंची एड़ी का जूता, रेशमी साड़ी, गालों पर पाउडर, ओठों पर रंग, भौंवों पर स्याही। मुझे छाते से गोदने लगीं। मैंने साहब को छोड़ दिया और डंडा सम्भालता हुआ बोला — देवी जी आप मरदों के बीच में न पड़े कहीं चोट चपेट आ जाय तो मुझे दुःख होगा।

साहब ने अवसर पाया तो सम्भल कर उठे और अपने बूटदार पैरों से मुझे एक ठोकर जमाई। मेरे घुटने में बड़ी चोट लगी। मैंने बौखला कर डंडा उठा लिया और साहब के पांव में जमा दिया। कटे पेड़ की तरह गिरे। मेम साहब छतरी तान कर दौड़ीं। मैंने धीरे से उनकी छतरी छीन कर फेंक दी। ड्राइवर अभी तक बैठा था, अब वह भी उतरा और छड़ी लेकर मुझ पर पिल पड़ा। मैंने एक डंडा उसके भी जमाया, लोट गया। पचासों आदमी तमाशा देखने जमा हो गये। साहब भूमि पर पड़े पड़े बोले — रैस्कल हम तुम को पुलिस में देगा।

मैंने फिर डंडा सम्भाला और चाहता था कि खोपड़ी पर जमाऊं कि साहब ने हाथ जोड़ कर कहा — नहीं नहीं बाबा, हम पुलिस में नहीं जायगा। माफी दो।

मैंने कहा — हां पुलिस का नाम न लेना, नहीं यहीं खोपड़ी रंग दूंगा। बहुत होगा ६ महीने की सजा हो जायगी, मगर तुम्हारी आदत छुड़ा दूंगा। मोटर चलाते हो तो छींटे उड़ाते चलते हो, मानो घमण्ड से अन्धे हो जाते हो। सामने या बगल में कौन जा रहा है इसका ध्यान भी नहीं रखते।

एक दर्शक ने आलोचना की — अरे महाराज मोटर वाले जान-बूझ कर छींटे उड़ाते हैं और जब आदमी लथपथ हो जाता है, तो सब उसका तमाशा देखते हैं और खूब हंसते हैं। आपने बड़ा अच्छा किया कि एक को ठीक कर दिया।

मैंने साहब को ललकार कर कहा — सुनता है कुछ, जनता क्या कहता है। साहब ने उस आदमी की ओर लाल-लाल आंखों से देख कर कहा — तुम झूठ बोलता है, बिलकुल झूठ बोलता है।

मैंने डांटा — अभी तुम्हारी हेकड़ी कम नहीं हुई, आऊं फिर और दूं एक सोंटा कस के?

साहब ने घिघिया कर कहा — अरे नहीं बाबा, सच बोलता है, सच बोलता है। अब तो खुश हुआ।

दूसरा दर्शक बोला — अभी जो चाहे कह दें, लेकिन ज्योंही गाड़ी पर बैठे फिर वही हरकत शुरू कर देंगे। गाड़ी पर बैठते ही सब अपने को नवाब का नाती समझने लगते हैं।

तीसरा महाशय बोले — इससे कहिए थूक कर चाटे।

चौथे सज्जन ने कहा — नहीं कान पकड़ कर उठाइए बैठाइए।

पांचवा बोला — और ड्राइवर को भी। यह सब और बदमाश होते हैं। मालदार आदमी घमण्ड करे तो एक बात है, तुम किस बात पर अकड़ते हो। चक्कर

हाथ में लिया और आँखों पर परदा पड़ा।

मैंने यह प्रस्ताव स्वीकार किया। ड्राइवर और मालिक दोनों ही को कान पकड़ कर उठाना-बैठाना चाहिए। और मेम साहब गिनें। सुना मेम साहब तुम को गिनना होगा। पूरी सौ बैठकें। एक भी कम नहीं, ज्यादा जितनी चाहें हो जांय।

दो आदमियों ने साहब का हाथ पकड़ कर उठाया, दो ने ड्राइवर महोदय का। ड्राइवर बेचारे की टांग में चोट थी, फिर भी वह बैठकें लगाने लगा। साहब की अकड़ अभी काफी थी। आप लेट गये और ऊल-जलूल बकने लगे। मैं उस समय रुद्र बना हुआ था। दिल में ठान लिया कि इस से बिना सौ बैठकें लगवाए न छोड़ूंगा। चार आदमियों को हुक्म दिया कि गाड़ी को ढकेल कर सड़क के नीचे गिरा दो।

हुक्म की देर थी। चार की जगह पचास आदमी लिपट गये और गाड़ी को ढकेलने लगे। वहां सड़क बहुत ऊंची थी। दोनों तरफ को ज़मीन नीची। गाड़ी नीचे गिरी और टूट-टाट कर ढेर हो जायगी। गाड़ी सड़क के किनारे तक पहुंच चुकी थी कि साहब कांख कर उठ खड़े हुए और बोले — बाबा, गाड़ी को मत तोड़ो, हम उठे-बैठेगा।

मैंने आदमियों को अलग हट जाने का हुक्म दिया। मगर सभों को एक दिल्लगी मिल गई थी। किसी ने मेरी ओर ध्यान न दिया। लेकिन जब मैं डंडा ले कर उन की ओर दौड़ा तब सब गाड़ी छोड़ कर भागे। और साहब ने आंखें बन्द करके बैठकें लगाना शुरु कीं।

मैंने दस बैठकों के बाद मेम साहब से पूछा — कितनी बैठकें हुईं।

मेम साहब ने रोष से जवाब दिया — हम नहीं गिनता।

"तो इस तरह साहब दिन भर कांखते रहेंगे और मैं न छोड़ूंगा। अगर उन को कुशल से घर ले जाना चाहती हो तो बैठकें गिन दो। मैं उन को रिहा कर दूंगा।"

साहब ने देखा कि बिना दण्ड भोगे जान न बचेगी, तो बैठकें लगाने लगे। एक, दो, तीन, चार, पांच।

सहसा एक दूसरी मोटर आती दिखाई दी। साहब ने देखा और नाक रगड़ कर बोले — पंडित जी आप मेरा बाप है। मुझ पर दया करो, अब हम कभी मोटर पर न बैठेंगे। मुझे भी दया आ गई। बोला — नहीं, मोटर पर बैठने से मैं नहीं रोकता, इतना ही कहता हूं कि मोटर पर बैठ कर भी आदमियों को आदमी समझो।

दूसरी गाड़ी तेज़ चली आती थी। मैंने इशारा किया। सब आदमियों ने दो-दो पत्थर उठा लिए। उस गाड़ी का मालिक स्वयं ड्राइव कर रहा था। गाड़ी धीमी करके धीरे से सरक जाना चाहता था कि मैंने बढ़ कर उस के दोनों कान पकड़े और खूब ज़ोर से हिला कर और दोनों गालों पर एक-एक पड़ाका देकर बोला — गाड़ी से छींटा न उड़ाया करो, समझे। चुपके से चले जाओ।

यह महोदय बक-झक तो करते रहे, मगर एक सौ आदमियों को पत्थर लिये खड़ा देखा, तो बिना कान पूंछ डुलाये चलते हुए।

उन के जाने के एक ही मिनट बाद दूसरी गाड़ी आई। मैंने ५० आदमियों को राह रोक लेने का हुक्म दिया। गाड़ी रुक गई। मैंने उन्हें भी ठोकने दिया और चार पड़ाके देकर बिदा किया। मगर, यह बेचारे भले आदमी थे। मजे से चोटें खाकर चलते हुए।

सहसा एक आदमी ने कहा, पुलिस आ रही है।

और सब के सब दूर हो गये। मैं भी सड़क के नीचे उतर गया और एक गली में घुस कर गायब हो गया।

—:०:—

साम्प्रदायिक निर्णय की परीक्षा

(ले०-प्रो० राधाकुमुद मुकर्जी, लखनऊ यूनिवर्सिटी)

प्रो० राधाकुमुद मुकर्जी की गिनती भारत के उच्चकोटि के विद्वानों में होती है। साम्प्रदायिक-निर्णय और अल्पसंख्यकों की समस्या के तो आप विशेषज्ञ माने जाते हैं।

इस लेख में आपने अत्यन्त योग्यतापूर्वक बताया है कि साम्प्रदायिक निर्णय केवल हिन्दुओं के साथ अन्याय ही नहीं है परन्तु राष्ट्रीयता का गला घोंट कर भारत को सदा के लिये 'स्वराज्य के अयोग्य' कर देगा। इसका मुख्य उद्देश्य यूरोपियनों को अनुचित महत्व देकर ब्रिटिशसत्ता को स्थायी रखना है।

लोगों को यह आशा थी कि प्रधानमन्त्री के साम्प्रदायिक निर्णय से दोनों सम्प्रदायों —हिन्दुओं और मुसलमानों—में न्याय और शान्ति स्थापित हो जायगी। परन्तु इसने शान्ति व न्याय दोनों का गला घोंट दिया है। यह केवल साम्प्रदायिकता की अग्नि को बढ़ाने वाला ही नहीं अपितु राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र का घातक भी सिद्ध हो रहा है। इस मामले में ब्रिटिश सरकार ने अपनी प्रतिज्ञा का भंग किया है। सरकार ने भारत में उत्तरदायी शासन' या औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करने की प्रतिज्ञा की थी। यदि सरकार अपने वचन का कोई मूल्य समझती है तो उसे मताधिकार की ऐसी बुरी प्रणाली जारी नहीं करनी चाहिये थी जो न केवल पारस्परिक विद्वेष बढ़ाने वाली है परन्तु उसकी अब तक की प्रतिज्ञाओं के साथ बिलकुल मेल भी नहीं खाती। यदि हमने आपस में कोई समझौता न कर सकने की वजह से उसमे कोई फैसला कर देने के लिये कहा था, तो इसका यह मतलब कभी नहीं था कि हमने सरकार को कोरा कागज पकड़ा दिया था। हमें यह पूरी आशा थी कि विभिन्न सम्प्रदायों के परस्पर-विरोधी दावों और हितों के साथ अधिकतम न्याय किया जायगा। परन्तु प्रधानमन्त्री का निर्णय बिलकुल एकतरफा है उसमें अल्प-संख्यक जातियों के साथ व्यवहार के लिये भी कोई एक सा सिद्धान्त निर्धारित नहीं किया गया। उसका तो एक ही उद्देश्य दीखता है एक खास सम्प्रदाय की रक्षा। इसका खयाल नहीं किया गया कि वह अल्प-संख्यक है या बहुसंख्यक। अल्प-संख्यकों की रक्षा का सिद्धान्त हिन्दुओं के लिये नहीं है क्योंकि शायद वे इसे चाहते ही नहीं। वर्तमान शासन-विधान में हिन्दुओं को गैर-मुस्लिम कहा गया है और नये प्रस्तावित शासन-विधान में उनका कोई नाम ही नहीं रखा जायगा। उनकी स्थिति साधारण मतदाता कहकर बहुत कम कर दी गई है। और फिर यह चुनाव सम्मिलित चुनाव नहीं है किन्तु पृथक् चुनाव है जिसमें हिन्दुओं को उनकी इच्छा के विरुद्ध जबर्दस्ती भाग लेना पड़ेगा।

नया राजनैतिक गणित

साम्प्रदायिक चुनाव और विशेष प्रतिनिधित्व की एक और भी बड़ी विशेषता है। हिन्दुओं का विशेष प्रतिनिधित्व आबादी के अनुपात से भी नहीं रखा गया। बंगाल और पंजाब के अल्पसंख्यक हिन्दुओं को अपनी संख्या से भी कम प्रतिनिधित्व दिया गया है। लेकिन अन्य स्थानों पर अल्पसंख्यक मुसलमानों को उनकी संख्या के अनुपात से भी अधिक सीटें दे दी गई हैं। बंगाल के ४३ फीसदी हिन्दुओं को अब ३२ फीसदी गिना जायगा और पंजाब के २६ फीसदी हिन्दुओं को २५ फीसदी लेकिन यू० पी० के १४ फीसदी मुसलमानों को इस नये राजनैतिक गणित के द्वारा ३० फीसदी गिना जायगा। केवल एक स्थान पर — सीमाप्रान्त के अल्पसंख्यक हिन्दुओं को इस नये गणित से लाभ पहुंचा है और इस कृपा के लिये भारत के सब प्रान्तों में हिन्दुओं को अपनी संख्या के अनुपात से कम प्रतिनिधित्व की सजा मिली है।

वास्तविक उद्देश्य

इस कल्पनातीत साम्प्रदायिक निर्णय का वास्तविक उद्देश्य क्या है? वस्तुतः प्रजातन्त्र की राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलना इसका उद्देश्य प्रतीत होता है। यह एक ऐसी व्यवस्थापिका सभा का निर्माण करेगा जो नागरिकता या सब सम्प्रदायों के समान हितों को दृष्टि में रखकर नहीं, परन्तु विभिन्न समूहों के व्यक्तिगत और स्वार्थपूर्ण हितों को दृष्टि में रखकर काम करेगी। इस निर्णय की तह में एक दूसरा उद्देश्य यूरोपियन मत को सन्तुलन-शक्ति देकर नये सिरे से ब्रिटिश सत्ता का प्रभाव कायम रखना है। यूरोपियनों को उनकी संख्या से बहुत अधिक अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया गया है।

यह पृथक् चुनाव हमें कहां ले जायगा? साधारणतया सभी समुदाय यह मांग पेश करते रहे हैं कि जनसंख्या के अनुपात से उनकी शक्ति अधिक गिनी जाय। परन्तु इस निर्णय में महत्वपूर्ण गैर-मुस्लिम सम्प्रदायों का तो जनसंख्या का आनुपातिक बल भी नहीं माना गया। सिखों का यह दावा है कि यद्यपि संख्या की दृष्टि से वे १३ फीसदी हैं तथापि करदाता की दृष्टि से वे ४० फीसदी हैं (पंजाब-सरकार को प्राप्त होने वाली आय का ४० फीसदी सिखों से मिलता है)। बंगाल के हिन्दू भी संख्या के अनुपात पर बने हुए शासन-विधान को स्वीकार करने से इन्कार करते हैं। वे संख्या में ४३ फीसदी ही हों परन्तु सरकारी रिपोर्टों के अनुसार प्रान्तीय आय का अधिकांश वही देते हैं। संस्कृति आर्थिक प्रगति देशभक्ति और मातृभूमि के लिये किये गये त्याग में उनका जो भाग रहा है, उसकी गणना तो रुपयों में की भी नहीं जा सकती। बाढ़ अकाल में अन्न की सहायता व प्रधान-मुस्लिम प्रान्तों में शिक्षा की जो अमित सहायता उन्होंने दी है वह अलग है।

आज से बहुत समय पहले इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ एडमण्ड बर्क ने विना प्रतिनिधित्व के कर न दो के सिद्धान्त का बड़े जोरों से समर्थन किया था। परन्तु आज भारत में इसका विपरीत अर्थ लगाया जा रहा है। टैक्स ज्यादा लिया जाता है प्रतिनिधित्व कम दिया जाता है। इसीलिये सिखों व हिन्दुओं की यह मांग है कि जहां वे अल्पसंख्या में भी हैं वहां उनके कर संस्कृति आदि का खयाल करते हुए उन्हें प्रतिनिधित्व देना चाहिये।

ब्रिटिश-सरकार के हाथ में भारत को साम्प्रदायिकता के गढ़े से निकालने का शुभ अवसर आया था परन्तु उसने उसे खो दिया। गैरमुस्लिम सभी अल्पसंख्यक जातियों ने जिनमें भारतीय ईसाई भी सम्मिलित थे प्रजातन्त्र में अपना अटूट विश्वास रखते हुए और बिना कोई खास प्रतिनिधित्व मांगे सम्मिलित चुनाव की मांग की थी। यह सब मिलकर भारत की तीन चौथाई संख्या होती है। लेकिन एक चोथाई की आवाज सरकार को भारी प्रतीत हुई। इसके कारण वही जानती है।

अन्तर्राष्ट्रीय हल

इन सब गैरमुस्लिम सम्प्रदायों ने अनेक बार साम्प्रदायिक समस्या के अन्तर्राष्ट्रीय हल के लिये प्रार्थना की। वह हल प्रसिद्ध अल्पसंख्यक-रक्षा-सन्धि में स्पष्ट है। मजेदार बात तो यह है कि इस सन्धि के निर्माण में ब्रिटिश-सरकार ने स्वयं बहुत भाग लिया था। इस सन्धि का अधिक उत्तरदायित्व उसके प्रतिष्ठित प्रतिनिधि सर आस्टिन चैम्बरलेन पर है जिसने भारत को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन देने की ब्रिटिश-नीति की भी घोषणा की थी। तीन-चौथाई भारत की 'अन्तर्राष्ट्रीय साम्प्रदायिक हल' की मांग पेश करने के मार्ग में ब्रिटिश-सरकार के सामने कौन सी बड़ी बाधा आ गई थी जब कि भारत भी राष्ट्रसंघ का स्थायी सदस्य है और उसने भी ब्रिटिश-सरकार के प्रतिनिधि के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय अल्प-संख्यक-रक्षा-सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे? मि० हैंडरसन के शब्दों में यह अन्तर्राष्ट्रीय समझौता 'संसार व यूरोप के सार्वजनिक नियम का एक भाग है। राष्ट्रसंघ की असेम्बली के तीसरे अधिवेशन में प्रो० गिलबर्ट मरे का यह प्रस्ताव पास हुआ था कि राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों को इस सन्धि का पालन करना पड़ेगा और इसी के अनुसार अपनी घरेलू साम्प्रदायिक समस्याओं का हल करना पड़ेगा। यह भी एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता है कि अल्पसंख्यक-सम्बन्धी कोई झगड़ा किसी राष्ट्र का घरेलू प्रश्न नहीं माना जायगा और उसे राष्ट्र-संघ में पेश करना ही पड़ेगा।

अपना आप खण्डन

लेकिन शायद मि० रैम्जे मैकडानल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय पर सब से अच्छी टीका गोलमेज कान्फरेन्स पर हाउस आफ कामन्स में दिया गया उन्हीं का भाषण है:—

"यदि प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र को अलग-अलग सम्प्रदाय या पृथक् २ हित रखने वाला मान लिया जाय, तो विशुद्ध राजनैतिक संगठन के, जो सब सम्प्रदायों, सब धर्मों और सब श्रेणियों को परस्पर मिला देता है, विकास के लिये कोई स्थान ही नहीं रहेगा। यह एक समस्या है, जिसका हमें हल करना है, क्योंकि यदि भारत में हमें राजनैतिक जीवन का विकास करना है तो ऐसी राजनैतिक पार्टियों के विकास की गुञ्जायश हमें जरूर रखनी होगी, जिनका लक्ष्य सम्पूर्ण भारत का हित हो, न कि सम्पूर्ण भारत में छोटे किसी समूह का हित।

"कुछ परिवर्तन के साथ इस समस्या के हल के लिये एक प्रस्ताव रखा गया है। न साम्प्रदायिक रजिस्टर हो और न साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्र हों, सब निर्वाचन-क्षेत्रों का एक रजिस्टर हो, परन्तु कुछ सम्प्रदायों को विशेष प्रतिशतक प्रतिनिधित्व की गारण्टी जरूर दी जाय। यह (साम्प्रदायिक चुनाव) पहला प्रस्ताव है, जो कुछ अधिक आकर्षक और प्रजातन्त्रीय रूप में है। परन्तु वस्तुतः यह उतना वांछनीय नहीं है।

'मुझे इन प्यारे लोगों (सम्प्रदायों) को यह समझाना बहुत कठिन हो रहा है कि यदि एक सम्प्रदाय को विशेष प्रतिनिधित्व देते हो, तो तुम 'शून्य' में से प्रतिनिधित्व उत्पन्न नहीं कर सकते, किसी और का अधिकार ही छीनना पड़ेगा। तब उन्हें मालूम होता है कि वे गड़बड़झाले में पड़ गये हैं और उनके सामने एक पत्थर की दीवार है, जिसमें से वे निकल नहीं सकते।"

लेकिन मज़ा यह है कि जिन असूलों व प्रस्तावों की प्रधानमन्त्री अपने भाषण में निन्दा करते हैं, उन्हीं को वे सरकारी साम्प्रदायिक निर्णय में आधार मानते हैं। प्रधान मन्त्री के अपने कथनानुसार यह (साम्प्रदायिक निर्णय) 'विशुद्ध राजनीतिक संगठन' या 'एक दृढ़ राजनीतिक जीवन' या 'राष्ट्रीय राजनैतिक दलों' के स्वतन्त्र विकास में बाधक होगा।

हम किस रैम्जे मैकडानल्ड से अपील करें, हाउस आफ कामन्स में भाषण देने वाले रैम्जे मैकडानल्ड से या साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा करने वाले रैम्जे मैकडानल्ड से?

कोई भी सन्तुष्ट नहीं

सभी सम्प्रदाय इसमें असन्तुष्ट दीखते हैं। हिन्दुओं को तो यह बिलकुल भी स्वीकार्य नहीं है, जिनके साथ इसमें सब से अधिक अन्याय किया गया है। उन्हें यह अल्पसंख्यक भी नहीं मानता, और ऐसा भी कोई प्रतिनिधित्व देने से इन्कार करता है, जो और सम्प्रदायों को बहुत उदारता से दिया गया है। सीमाप्रांत के सिवा कहीं संख्या के अनुपात से भी प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया। साम्प्रदायिक निर्णय के आधारभूत दो सिद्धान्त हैं और दोनों एक दूसरे को काटते हैं। एक विशेष सम्प्रदाय के लिये संख्या का सिद्धान्त और दूसरे सम्प्रदाय के लिये योग्यता का सिद्धान्त। हिन्दुओं को दोनों सिद्धान्तों—संख्या और योग्यता—में घाटा है। यूरोपियनों की तो योग्यता देखी गयी है और मुसलमानों की संख्या। हिन्दुओं को दोनों में से एक का भी लाभ नहीं मिलेगा। पता नहीं किस तरीके से, जिसे हम नहीं समझ सकते, हिन्दुओं की योग्यता यूरोपियनों की योग्यता से भी कम मानी गयी है। देश की संस्कृति में उनकी क्या देन है? वे तो शासन का भार अवश्य उठा रहे हैं।

दूसरा एक भी उदाहरण नहीं

अन्त में यह निर्णय अल्पसंख्यकों की रक्षा का एक विचित्र और नया उदाहरण सामने रखता है, जिसका वर्तमान इतिहास व राजनीति में एक भी उदाहरण नहीं मिलता, क्योंकि यह उन बंधनों को ही ढीला कर देता है, जिनसे राष्ट्र एक सूत्र में ग्रथित रहता है। इस निर्णय में सम्प्रदायों को ऐसा समझा गया है, जैसे वे परस्पर लड़ने वाली विदेशी जातियां हों। उन्हें व्यवस्थापिका सभाओं व शासन-प्रबन्ध में टुकड़े-टुकड़े करके बांट दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि एक राष्ट्रीय शरीर बनने की अपेक्षा राष्ट्र अनेक विभागों में सदा के लिए विभक्त हो गया है। सरकार यह अच्छी तरह जानती है कि पृथक् राजनीतिक प्रतिनिधित्व देकर अल्पसंख्यकों की रक्षा करने का परिणाम निश्चय ही यह होगा कि व्यवस्थापिका सभा कई स्वतन्त्र टुकड़ों में विभक्त हो जायगी। अंतर्राष्ट्रीय नियम और प्रथा के यह विरुद्ध है। पोलैण्ड या जैकोस्लोवेकिया में जर्मन अल्पसंख्यकों को ऐसा कोई पृथक् प्रतिनिधित्व नहीं मिला। ग्रीस में अल्पसंख्यक तुर्कों या टर्की में अल्पसंख्यक यूनानियों को भी ऐसा कोई विशेष अधिकार नहीं मिला। कोई प्रजातन्त्र इसकी इजाजत नहीं देता। इसका कारण यह है कि अल्पसंख्यक जातियां व्यवस्थापिका सभाओं में कभी भी एक देश की दृष्टि से विचार नहीं करेंगी। धार्मिक, भाषा सम्बन्धी, सामाजिक और सांस्कृतिक हितों में अन्तर अवश्य होता है; परन्तु अल्पसंख्यकों के इन हितों की रक्षा स्थिर संरक्षणों द्वारा होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल तीन प्रकार की अल्पसंख्यक जातियों को स्वीकार करता है—धार्मिक, भाषा-सम्बन्धी और जाति सम्बन्धी। इस के सिवा अन्य सब अल्पसंख्यक जातियों की सत्ता से भी वह इन्कार करता है, जिन्हें यहां साम्प्रदायिक निर्णय ने जन्म दिया है।

रमजे मैकडानल्ड

राष्ट्रीय स्वायत्त शासन का अभाव

परन्तु भारतीय साम्प्रदायिक निर्णय के प्रतिष्ठित लेखकों ने जानबूझ कर अन्तर्राष्ट्रीय साम्प्रदायिक निर्णय को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने प्रजातन्त्र की स्थिति की कल्पना ही भारत में नहीं की और इसीलिये शायद बिलकुल नये राजनैतिक गणित का आविष्कार किया गया है।

इस समय ब्रिटिश सरकार की स्थिति यह है कि शासन-विधान से पूर्व साम्प्रदायिक निर्णय जारी कर शासन-विधान की रूप-रेखा खींच दी जाय। शासन-विधान को इस तरह से तोड़ा-मरोड़ा जायगा कि वह साम्प्रदायिक निर्णय के अनुकूल हो जाय, निर्णय को शासन-विधान के अनुकूल नहीं बनाया जायगा। यह निर्णय हमें आने वाले शासन-विधान की रूप-रेखा बता रहा है, जिसमें राष्ट्रीय स्वायत्त शासन का, जो देश की संयुक्त मांग है, बिलकुल अभाव रहेगा। साम्प्रदायिक निर्णय के आधार पर बना हुआ शासन-विधान एक ऐसे अनेक सिर वाले राक्षस की तरह होगा, जिसकी न एक सम्मिलित आवाज होगी और न एक सम्मिलित कार्य-शक्ति। इस निर्णय को स्वीकार करने का अर्थ यह होगा कि भारत स्वराज्य या प्रजातंत्र का दावा सदा के लिये छोड़ कर अपने को उसके अयोग्य घोषित कर दे। साम्प्रदायिक निर्णय सुधार के नाम पर और भी पीछे ले जाने वाला है। लखनऊ में कांग्रेस ने जो समझौता किया था और जिसे साइमन-कमीशन ने भी स्वीकार कर लिया था, उसे भी यह रद्द कर देता है। अब ब्रिटिश सरकार ने यह फैसला किया है कि भारत को वह शासन-विधान भी न दिया जाय, जिसकी साइमन कमीशन ने सिफ़ारिश की थी, किन्तु उससे भी अधिक खराब, कम राष्ट्रीय और प्रजातंत्रीय और उससे भी अधिक साम्प्रदायिक शासन-विधान दिया जाय।

आशा की किरण

लेकिन अभी तक इस अन्धकार में एक आशा की किरण है। यह निर्णय भारतीय राष्ट्रीयता को खुला चेलैंज है। प्रधान मंत्री स्वयं कहते हैं कि ज्योंही सब दल परस्पर

देशी-राज्य और कांग्रेस

(ले०—श्री० जयनारायण व्यास)

श्री० जयनारायण व्यास रियासतों के प्रसिद्ध कार्यकर्ता और रियासती समस्या के विशेषज्ञ हैं। इस लेख में उन्होंने देशी-राज्यों के सम्बन्ध में कांग्रेस की नीति का संक्षिप्त परिचय देते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि कांग्रेस की हस्तक्षेप न करने की नीति अनुचित है और कांग्रेस को अपनी नीति और भी स्पष्ट तथा निश्चित करनी चाहिये।

कांग्रेस का जन्म सन् १८८५ में हुआ था। इसके जन्मदाताओं ने पहले-पहल 'दी इण्डियन नेशनल यूनियन' की कान्फ़रेन्स पूना में करने का निश्चय किया था। उसी कान्फ़रेन्स का रूपान्तर हमारी कांग्रेस है। उस कान्फ़रेन्स में बंगाल, बम्बई और मद्रास प्रान्तों के अंग्रेजी भाषा मे भली भांति परिचित लोगों को निमन्त्रित किया गया था। पहले-पहले जो अधिवेशन हुए, उन में सरकारी नौकरियों और ब्रिटिश भारतीय शासन-सस्थाओं के विषय में ही ज्यादा चर्चाएं थीं। अतः इस बात का अनुमान लगाने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती कि कांग्रेस का जन्म ब्रिटिश भारत और ब्रिटिश-भारतीय अंग्रेजी-शिक्षित समाज के हित के लिये ही हुआ था।

पहली चर्चा

देशी राज्यों के सम्बन्ध मे कांग्रेस के दसवें अधिवेशन मे पहली चर्चा सन् १८९४ मे हुई थी, जब सिकन्दराबाद के श्री० रामचन्द्र पिलाई ने निम्नलिखित प्रस्ताव उपस्थित किया था:—

"इस कांग्रेस की राय है कि ब्रिटिश शासन के भीतर देशी-राज्यों के प्रेसों पर दबाव डालने वाली भारत-सरकार के विदेशी-विभाग की २५ जून १८९१ की विज्ञप्ति अनुचित, स्वच्छन्दतापूर्ण और हानिकारक है और राजनीति तथा लोगों की स्वतन्त्रता के विरुद्ध है। यह कांग्रेस इस विज्ञप्ति का नम्रतापूर्वक प्रबल विरोध करती है तथा अनुरोध करती है कि वह बिना विलम्ब रद्द कर दी जाय।"

सन् १८९५ की ग्यारहवीं कांग्रेस में, जो पूना में हुई थी, फिर उक्त विज्ञप्ति का विरोध किया गया। इस बार प्रस्तावक श्री० सैम्यु के थे, जिन्होंने कहा कि हैदराबाद रियासत में — जो ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैण्ड के संयुक्त राज्य से भी बड़ी है — उक्त विज्ञप्ति के कारण कई छापेखाने बरबाद हो गये हैं और अंग्रेजी पत्र का एक चिथड़ा भी प्रकाशित नहीं होता है।

श्री० रामचन्द्र पिलाई ने अनुमोदन किया। श्री० बी० बी० मोदक तथा ए० एल० देसाई ने मैसूर और काठियावाड़ में जो बीत रही थी, उसका दिग्दर्शन कराया। इससे मालूम होता है कि देशी-राज्यों की राजनीति और राजनीतिज्ञों को १८९४-९५ में ही कांग्रेस में प्रवेश तो मिल चुका था।

जिस विज्ञप्ति का जिक्र ऊपर किया गया है, उसका आशय यह था कि बिना पोलिटिकल एजेण्ट की आज्ञा के १ अगस्त १८९१ से कोई अख़बार, पत्रिका आदि किसी रियासत मे प्रकाशित न हो और यदि कोई ऐसा करेगा, तो उसे सत्ताइस घंटे के अन्दर-अन्दर स्थान छोड़कर चले जाने तथा बिना आज्ञा वापिस न आने की आज्ञा दी जावेगी और न मानने को अवस्था मे जबरदस्ती निकाल दिया जावेगा।

सन १८९४ ही में कांग्रेस के अवसर पर मैसूर महाराजा की मृत्यु होगई। कांग्रेस ने इस संबंध में शोक का प्रस्ताव पास किया था। इस से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त तक भारतीय लोकमत नरेशों के विरुद्ध नहीं था। न राजा लोग देशी राज्यों की जनता की स्वतन्त्रता का अपहरण करने के पक्ष में थे। ये पोलिटिकल एजेन्ट ही थे, जो उक्त विज्ञप्ति के कारण अपने भाव प्रगट करने की जनता की स्वतन्त्रता में बाधक हुए और जिसका असर राजाओं पर इतना पड़ता था कि लार्ड मेकाले जैसे राजनीतिज्ञ ने एक बार लिखा था:—

'These Politicals in the name of advice pass orders on Indian princes which are never refuted"

"ये राजनैतिक अफ़सर सलाह के नाम पर देशी राजाओं पर ऐसी आज्ञायें छोड़ देते हैं, जो कभी टाली नहीं जातीं।"

सन् २७ से

सन् १८९५ के बाद एक आध बार छापेखानों पर प्रतिबन्ध लगाए जाने का विरोध करने वाला प्रस्ताव दोहराया अवश्य जाता है, पर उस के बाद लम्बे अर्से तक देशी राज्यों के सम्बन्ध मे कोई चर्चा ही नहीं होती। बेशक, कांग्रेस मे देशी राज्यों के प्रतिनिधि जाते अवश्य हैं, पर वे भी ब्रिटिश इण्डिया की जटिल समस्याओं में ऐसे उलझ जाते हैं कि उन्हें अपने जन-स्थल याद ही नहीं रहते। बंग-भंग तथा स्वदेशी-आन्दोलन, फिर रौलेट एक्ट और सत्याग्रह, इन सब हलचलों में लोग इतने मशगूल होते रहे कि उन्हें यह खयाल ही नहीं रहा कि देशी राज्यों के अन्दर भी दुख-दर्द है। परन्तु देशी राज्यों से सम्बन्ध रखने वाले कांग्रेस-वादियों मे कुछ विचार कानपुर कांग्रेस के अवसर पर पैदा होते हैं। उसी समय से कांग्रेस के साथ २ देशी-राज्य-प्रजा-परिषद् के अधिवेशन भी शुरू हो जाते हैं। इन्हीं दिनों काठियावाड़ और राजपूताने की अनेक रियासतों मे जागृति उत्पन्न हो रही थी और अनेक कार्य-कर्त्ताओं ने अपने २ संगठन कर आन्दोलन भी शुरू कर दिये थे। अन्त मे सन् १९२७ मे प्रायः सब रियासती सार्वजनिक कार्य-कर्त्ताओं ने इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि देशी-राज्यों मे विशेष निश्चित प्रणाली और उत्साह से संगठित हो कर कार्य करना चाहिए। इसी विचार के परिणाम-स्वरूप १९२८ में बम्बई देशी-राज्य-प्रजा-परिषद् का स्वतंत्र संस्था के तौर पर जन्म हुआ। इस ने पहला कार्य यह किया कि कांग्रेस के पास एक डेपूटेशन भेज कर रियासती-प्रजा की स्थिति उसे समझाई।

इस वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन मद्रास में हुआ था। यहीं से देशी-राज्यों का प्रश्न कांग्रेस में अधिक जोरों से आने लगता है। मद्रास-कांग्रेस मे डेपूटेशन की हलचलों के कारण निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुआ:—

'इस कांग्रेस की जोरदार राय है कि देशी-रियासतों की प्रजा और उन के शासक दोनों के हित की दृष्टि से उन्हें अपनी रियासतों मे बहुत शीघ्र उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित कर लेना चाहिये।

इसके बाद सन् १९२८ मे कलकत्ता कांग्रेस मे एक प्रस्ताव पास होता है, जो देशी-राज्यों से सम्बन्ध रखने वाले दूसरे सभी प्रस्तावों से अधिक महत्वपूर्ण है। वह यह है:—

समझौता कर लेंगे, वे इस निर्णय को फाड़ देंगे। वे स्वयं इस पर खेद प्रकट करते हैं कि वह ऊपर से लादी गई चीज़ है, आपसी समझौते से उत्पन्न नहीं।

क्या मैं नम्रता-पूर्वक यह कह सकता हूं कि सभी समझदार भारतीय समस्या के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पर सहमत हैं, जो संसार के सर्वोच्च मस्तिष्कों और राजनीतिज्ञों का निर्णय है। यूरोप के २० देशों में, जहां साम्प्रदायिक समस्या बहुत उग्र व तीव्र है, यही अन्तर्राष्ट्रीय समझौता जारी है। टर्की में भी यही समझौता जारी है। क्या भारतीय मुसलमान मुस्लिम राष्ट्र टर्की के आदर्श का अनुकरण न करेंगे?

——:——

'यह कांग्रेस खुदमुख्त्यार देशी-राज्यों से आग्रह के साथ कहती है कि वे अपने राज्यों में प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के आधार पर उत्तरदायित्व-पूर्ण विधान चलावें और फौरन ऐसी घोषणाएं निकालें या ऐसे कानून पास करें, जिन में सभा समिति बनाने, भाषण करने और लिखने की स्वतंत्रता तथा जान-माल की हिफाजत तथा इसी तरह के दूसरे मूल नागरिकता के अधिकारों को सुरक्षित रखने की बात हो।"

"यह कांग्रेस रियासती जनता को विश्वास दिलाती है कि वहां उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित कराने के उनके आन्दोलन के साथ कांग्रेस की पूरी सहानुभूति है और वह उस का समर्थन करती है।"

सन् १९२९ में लाहौर कांग्रेस में एक प्रस्ताव द्वारा रियासती शासकों को प्रजा को उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन और नागरिकता के मौलिक अधिकार देने के लिये कहा गया।

इन घटनाओं से यह मालूम हो सकता है कि कांग्रेस की देशी-राज्यों के सम्बन्ध में कितनी सहानुभूति है और वह उस के आन्तरिक शासन का क्या स्वरूप उचित समझती है

हस्तक्षेप न करने की नीति

परन्तु कांग्रेस देशी रियासतों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति के बिल्कुल विरुद्ध मालूम होती है। इस सम्बन्ध में कई नेताओं के वक्तव्य भी निकले है। इसका असर अत्यन्त भयंकर हुआ है। देशी राज्यों को राज्यों के भीतर सार्वजनिक कार्य, विशेष कर कांग्रेस-कार्य की प्रगति को रोकने के लिए हानिकारक आज्ञायें निकालने की सुविधा हुई है। यही कारण है कि देशी राज्यों की प्रजा में असन्तोष फैल रहा है और कांग्रेस में वे अपना असन्तोष प्रगट करने के लिए उतावले हो रहे हैं।

देशी राज्यों में कांग्रेस-कमेटियां

देशी राज्यों में कांग्रेस का काम होना चाहिये, यह तो सब स्वीकार करते हैं, पर कांग्रेस की तरफ से होना चाहिये या नहीं, यह विषय अभी स्पष्ट नहीं हुआ है। कांग्रेस का वर्तमान विधान देशी राज्यों में कांग्रेस की जिला-कमेटियां बनाने की मनाई सी कर रहा है। उसके "और प्रांत के अन्दर आई हुई रियासतें भिन्न-भिन्न जिलों को सौंप दी जायें" यही शब्द सिद्ध करते हैं कि जिले या जिला कांग्रेस कमेटियां ब्रिटिश भारत ही में हैं।

दूसरी तरफ हम यह भी देखते हैं कि देशी राज्यों में जिला कांग्रेस कमेटियां बहुत पहले से मौजूद हैं। अभी हाल में महात्मा गांधी के कुछ वक्तव्य निकले थे, जिनसे प्रतीत होता था कि देशी राज्यों में कांग्रेस का कोई संगठन ही नहीं बन सकता। इस पर महाकौशल प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सभापति सेठ गोविन्ददास जी ने महात्मा जी को पत्र लिखा और उत्तर में महात्मा जी ने स्पष्ट कर दिया कि देशी राज्यों में कांग्रेस कमेटियां बनाई जा सकती हैं। बघेलखण्ड में कई जिला कांग्रेस कमेटियां पहले से मौजूद हैं, उन्हें रहना चाहिये और उन के द्वारा काम भी होना चाहिये।

देशी राज्यों में कांग्रेस कमेटियां बनने न बनने के सम्बन्ध में 'विधान' तथा 'रिवाज' अलग-अलग हैं। अतः आगामी कांग्रेस को यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिये और यह निश्चय कर लेना चाहिये कि कांग्रेस समस्त राष्ट्र की है और देशी राज्य भी उसके वैसे ही अंग हैं, जैसे ब्रिटिश भारत के प्रांत, जिला और तहसीलें।

———:o:———

तरुण तपस्वी

कपिलवस्तु के सिंहासन के सुख की ममता त्याग—
किस गौतम के यौवन में यह जाग उठा वैराग?
बोधि-वृक्ष है यहां, हिमाचल की छाया के नीचे,
कौन मनस्वी तप करता है करुण लोचन मींचे?

बोल उठीं गंगा की लहरें—
"यह है वह नर-नाहर,
जिसकी जग में अमर कीर्ति
भारत का लाल, "जवाहर"।

नगर-नगर में ग्राम-ग्राम में, गृह गृह में जा-जा कर,
आज़ादी की अलख जगाता, तन में भस्म रमा कर;
यह त्यागी है कोटि कोटि तरुणों के उर का स्वामी,
सारा भारतवर्ष आज है इसका ही अनुगामी।

× × × ×

ओ भारत के तरुण तपस्वी,
तुम प्रतिपल, जन-जन में,
स्वतन्त्रता की ज्वाला बन कर
धधक उठो मन-मन में।

—सोहनलाल द्विवेदी, बी० ए०

नवयुवकों के सरताज

पं० जवाहरलाल नेहरू

(ले०—श्री पट्टाभि सीतारामैया)

श्री पट्टाभि सीतारामैया महात्मा गांधी के अनन्य-भक्त और सच्चे सहयोगी ही नहीं, एक अच्छे विचारक भी हैं। सत्याग्रह और गांधी जी की फिलासफी को उस आन्दोलन में क्रियात्मक भाग लेने के कारण आप खूब समझ सके हैं।

इस लेख में आपने सत्याग्रह का दार्शनिक विवेचन करते हुये यह बताया है कि भारत में पाश्चात्य आदर्श सफल नहीं होगा यहां तो भारतीय आदर्श ही सफल होगा। सत्य, अहिंसा, प्रेम का आदर्श जहां वांछनीय है, वहां क्रियात्मक भी है। इस के द्वारा भारत ने अनेक विजय प्राप्त किये हैं और आगे भी इस के द्वारा सफलता प्राप्त करेगा।

जो आंदोलन अभी पूर्णता तक नहीं पहुंचा, जिसने अभी अपनी कुमारावस्था मे ही बाहिर कदम नहीं रखा, उसका अध्ययन करना और फिर उस पर अपने विचारों को लेखबद्ध करना बहुत कठिन और जिम्मेवारी का काम है। खास कर के उस व्यक्ति के लिये, जो उस आन्दोलन का पक्का हिमायती हो और उसकी महती शक्तिमत्ता में हार्दिक विश्वास रखता हो। ऐसे व्यक्तियों पर प्रतिद्वन्द्वी लोग हंसते हैं। शत्रु उनसे घृणा और द्वेष करते हैं। प्रत्येक आन्दोलन को इस विषम अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। पहले उसे केवल एक उपहास का विषय समझा जाता है और तत्सदृश किसी नकली आन्दोलन से उसकी तुलना की जाती है या फिर उसके किसी ऐसे भद्दे और अविकसित रूप को पकड़ लिया जाता है, जिसमे से उसे अपनी प्रारम्भावस्था में गुजरना पड़ा हो।

'सत्याग्रह' और 'निष्क्रिय प्रतिरोध' में भेद

हम 'सत्याग्रह' और 'निष्क्रिय प्रतिरोध' को लेते हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध हीरे और कोयले की मिसाल में स्पष्ट हो जायगा। हीरा और कोयला एक ही मौलिक तत्व के दो भिन्न-भिन्न रासायनिक रूप है। 'सत्याग्रह' और 'निष्क्रिय प्रतिरोध' तभी एक समझे जा सकते हैं, यदि हीरे और कोयले को आवश्यक रूप से एक समझा जाये। जिस प्रकार हीरा और कोयला दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, उसी प्रकार 'सत्याग्रह' और 'निष्क्रिय प्रतिरोध' भी दो भिन्न-भिन्न आन्दोलन हैं। इतना ही नहीं, इन दोनों में परस्पर महान् विरोध

(सम्राट् महात्मा)

ओं को यह होना चाहिये ... महात्मा गाधी के आगमन से कुछ समय पूर्व 'सत्याग्रह' का प्रारम्भिक प्रकाश निष्क्रिय प्रतिरोध' के रूप में ही हुआ था और सर्वसाधारण जनता इसे इसी रूप में समझती थी। सर्व प्रथम १९१७ में श्रीमती एनी बीसेण्ट के नजरबन्द किये जाने पर कांग्रेस ने 'निष्क्रिय प्रतिरोध' की धमकी दी थी, लेकिन उनकी रिहाई के साथ ही यह विचार समाप्त हो गया। इसके बाद महात्मा गांधी भारतवर्ष के राजनीतिक मंच पर कदम रखते हैं। आपने पहले कांग्रेस के बाहिर से रौलट-एक्ट के विरुद्ध और फिर कांग्रेस के अन्दर से खिलाफत को नष्ट करने तथा पंजाब के हत्याकाड के विरुद्ध सत्याग्रह-संग्राम प्रारम्भ किया। इसमें जनता के काफ़ी बड़े भाग ने हिस्सा लिया, लेकिन वह इसे उसी आन्दोलन का पुनरुद्धार समझता था, जिसकी धमकी दी गई थी।

'सत्याग्रह' के विविध रूप

वर्तमान राजनीतिक घटना-चक्र ने एक ऐसे आन्दोलन को जन्म दिया है, जिसके भिन्न-भिन्न अंगों का विकास भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न नामों से हुआ है। इसका एक अंग 'निष्क्रिय प्रतिरोध' भी रहा। उसमें अभिमान, कटुता घृणा और हिंसा के लिये स्थान था। अपने 'असहयोग' के रूप में इसे उन दग्ध-हृदय और दुःखी लोगों का आश्रय मिला, जो अपने शासकों से अत्यन्त असन्तुष्ट थे और उन्हें चोट तो पहुंचाना चाहते थे, लेकिन बिना प्रहार किये। जब इसने 'भद्र-अवज्ञा' आन्दोलन का रूप धारण किया, तो इसे इस बात में कुछ समय लगा कि इसके अनुयायी अपने व्यवहार में 'भद्रता' पर भी उतना ही बल दें, जितना कि वे

ı

न भाप

क थे। इस में

हृ. । द्वेष भय कातरता क्रोध

व प्रतीकार की भावना का स्थान

प्रेम साहस, धर्य सहिष्णुता और

आम पवित्रता न ले लिया। धन

को सेवा व त्याग क सामन घुटन

टेकन पड़न है। शत्रु पर बल

प्रयोग मे विजय प्राप्त न करके उस

के हृदय पर विजय प्राप्त का जाती

है। इस नव युग का उत्तेजित

सन्तप्त और भय विह्वल मान

वीयता के प्रति स न्देश है कि

सम्पूर्ण भय हमे धुरा बना कर

हमारे इर्द गिर्द चक्कर लगा रहे हैं।

जिस दिन हम इस भय और स्वार्थ

की भावन का परित्याग कर दो

उस दिन हम मृत्यु का भी निर्भय

हो कर सामना कर सका। प्रत्यक

सत्याग्रही को सत्य का शोध म

घूमना पड़ता है। उन इस की

सिद्धि के लिय मनुष्य सरकार,

समाज निर्धनता और मृत्यु आदि

सब का भय छोड़ना होगा। इस

उद्देश्य की प्राप्ति में असहयोग'

हृदय

उस के

करना तो

हम पशु नह

जनक जैसे उ

विजय प्राप्त करन

ग्रह नहीं है।

कहीं कहीं मे निराशा क साथ ध्वनि उठती है कि पाशविक बल पर आश्रित अंग्रेजों के शासन पर हम सत्याग्रह से कैसे विजय प्राप्त कर सकत हैं? मैं पूछता हू कि यदि हमारा दुश्मन पशु न होता तो सत्याग्रह की आवश्यकता ही क्यों पड़ता? जीवन सम्बन्धी जो विचार हमें इस निराशा के गढ्ढे की ओर धकलता है वह अब पुराना पड़ गया है। हमारे मानस-पटल पर उक्त निराशा व भय के भाव को अंकित करने वाला पाश्चात्य विचारकों का जिस की लाठी उस की भैंस (r l f tle fit) वाला सिद्धान्त भारतीय समाज का आधार नहीं बन सकता। उस न हमारी हीन भावनाओं को उद्दीप्त करके अभिमान और उस के अनि-

गी हिंसा और कातरता क

को उद्घोषित कर दिया है।

समाज तो सत्याग्रह के

आधार पर खड़ा है जो

भागन का उपदेश न दे

रिग्रह का उपदेश देता है।

र हम सत्याग्रही होकर

पाशविक भावनाओं को

और अपने स्व को पवित्र

ो सेवा भाव और नम्रता

हमारे जीवन का अंग बन

ह का आधान कैसे कर सकते है?

न यह कैसे? हम उन गुणों

धर्मों का अपन में आधान

र सकत है जिनका सम्मि

नाम सत्याग्रह है? इस

ही मार्ग है—तपस्या।

'अहिंसासत्यास्तयब्रह्मचर्या

यमा" 'शौच सन्तोष

ध्यायेश्वरप्रणिधानानि नि

पर आचरण करना।

क सुखों में रमन का अर्थ

को पाशविक भावनाओं को

देना है जो मिथ्याभिमान

ोध की लहर में हमें हिंसा

बदले क मार्ग पर ले जाती

वार्थ के भाव को उत्तेजन

ा है और मनुष्य पागल हो

मृग मरीचिका की भांति पैसे

सज धज के पीछे भागता

ा है। इस में साधनों का

नहीं रहता। अच्छे-बुरे

कों मे अपना उल्लू सीधा किया

जाता है। आवश्यकता है आत्म

सन्तोष की। यह मतलब नहीं कि संसार छोड़ कर मनुष्य सन्यास ले ले अपितु तपस्या पर आचरण करके अपन को आवश्यकताओं की अति के बोझ मे मुक्त कर ले और अन्दर के पशु को दबाय। इस नवीन शिक्षा मे एक ऐसी नव नैतिक शक्ति पैदा होगी कि सम्पूर्ण भारतवर्ष जो व्यर्थ के दार्शनिक वितण्डावादों मे बिछा पड़ा है एक बार फिर संसार के समक्ष उन्नत भाल करके विश्व-विमोहक रूप में खड़ा होगा। इस शिक्षा के अनुसार हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपन दुश्मन क साथ भी सम्बन्ध स्थापित करन का उपाय ढूंढे लेकिन कुछ शर्तों पर उसके साथ सहयोग करन म इन्कार कर दे ताकि अपनपन और आत्म-सम्मान की रक्षा हो सके। प्रत्येक व्यक्ति को उचित है कि वह नित्य नियम-पूर्वक अपन हिस्से के श्रम को करे और गरीबों को अपना रोटी-कपड़ा कमाने में मदद करे। इन साधनों की साधना क लिये मन का शरीर पर और आत्मा का मन तथा शरीर पर नियन्त्रण होना आवश्यक है, ताकि शरीर कोई काम मन की आज्ञा के प्रतिकूल न कर तथा मन आत्मा की आज्ञा क प्रतिकूल। इस अवस्था की प्राप्ति क लिय संयम और अपरिग्रह म बढ़ कर क्या साधन हो सकते हैं। भोजन और जिह्वा-स्वाद के सम्बन्ध में संयम का रूप उपवास है। विचार और भाषण के सम्बन्ध मे मौन तथा मानसिक और शारीरिक वृत्तियों के सम्बन्ध में ब्रह्मचर्य।

भारत के सार्वजनिक जीवन मे सत्याग्रह का चमत्कार

जब साधारण लोग उपवास को केवल शारीरिक यातना मौन को मक्कारी और ब्रह्मचर्य को असम्भव समझ कर इनके व्रतियों पर हंसते हैं तो वे उस उपहासाश्रित आलोचना का आश्रय लेते हैं जिसकी अनिवार्य परीक्षा में से प्रत्येक प्रगतिशील आन्दोलन को अपन प्रारम्भिक दिनों में गुजरना पड़ता है। परन्तु सब प्रगतिशील आन्दोलन ऐसी आलोचना पर विजय पाने में सफल हो जाते हैं और भावी सन्तति की नसों में नव-जीवन का संचार करने के साधन बनते हैं। इसी प्रकार पिछले दस वर्षों म भारतवर्ष का सार्वजनिक जीवन भी शुद्ध पवित्र हो गया है। उसमे आत्मिकता की चमक दृष्टिगोचर होता है।

राजनीति म अहिंसा की सफलता

इतना कुछ लिख चुकन के बाद भी कई लोग राजनीतिक मामलों में अहिंसा की सफलता म अवश्य सन्देह करेंगे। ऐसे लोगों क विरुद्ध यह दलील तो है ही कि जिस प्रकार अहिंसा जीवन का एक अकाट्य सिद्धान्त है उसी प्रकार कम स कम हमारी वर्तमान परिस्थिति में राजनीतिक दृष्टि से भी यह एक सन्देहातीत हथियार है। भारतवर्ष जैसे विशाल पराधीन देश म अहिंसा का नीति-रूप से भी आश्रय लिये बिना जागृति पैदा करना असम्भव कार्य है। निःसन्देह ऐसे लोग कम नहीं हैं जो अहिंसा और असहयोग की असफलता क राग अलापते फिरते हैं लेकिन एक ही छलांग में किसे सफलता मिलती है? — खासकर के उस देश में जो नवीन आन्दोलन को पकड़ने में अत्यन्त सुस्त हो। फिर, सफलता

और असफलता तो दो सापेक्ष परि-भाषायें हैं। कोई असफलता सम्भव है सफलता की सीढ़ी का ही एक डण्डा हो। सफलता अपन आप भी तो असफलताओं की श्रृङ्खला-परम्परा में अन्तिम श्रृङ्खला का नाम है।

इसके अतिरिक्त अहिंसा' ही एक ऐसा नित्य सिद्धान्त है जो दो विरोधी दलों में सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वजनिक शान्ति व प्रेम उत्पन्न कर सकता है। यदि न्याय व निर्णय की गद्दी पर एक बार हिंसा को बैठा दिया तो दोनों ओर की पारस्परिक दुर्भावनाओं का कभी अन्त न होगा। विजयी और पराजित दोनों इसका समान रूप मे सदा प्रयोग कर सकत हैं और करेंग। आयर्लैण्ड में माइकल कोलिन्स और डि वेलरा क दलों न रूस म टोटस्की और स्टेलिन क दलों न तथा जर्मनी में हिटलर और उसके पूर्ववर्ती शासकों न एक दूसरे के विरुद्ध यही किया। भौतिक विजय कभी स्थिर नहीं होती। शत्रु के हृदय का परिवर्तन ही शाश्वतिक हो सकता है। अहिंसावाद क पक्ष में यह एक बड़ी भारी दलील है। कम से कम उन लोगों को तो इसकी शक्तिशालिता में सन्देह नहीं करना चाहिये जिन्होंने सन् १९३१ में इसके चामत्कारिक प्रभाव का अनुभव किया है। १९३४ म इसमे अवश्य कुछ ढील आ गई है लेकिन निकट-भविष्य मे ही इसकी अभूतपूर्व सफलता का कोई नवीन प्रमाण हमारी आखों के सामने आने वाला है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हमारा बलिदान शुद्ध पवित्र हो और हम विनयशीलता तथा साहस का कभी परित्याग न करें।

सत्याग्रह का श्रीगणेश

अब हम थोड़ी देर इस बात पर विचार करना चाहिये कि य अलौकिक ज्ञान पड़ने वाले सिद्धात किस प्रकार हमारे रोजमर्रा क लौकिक और राजनीतिक व्यवहार में काम आते हैं। पहले हम इस सिद्धान्त को १९१९ में अमृतसर-कांग्रेस के अवसर पर रंगमञ्च पर आता देखते हैं जब म० गान्धी न इस बात पर जोर दिया था कि लोगों द्वारा चार अंग्रेजों का वध किये जान की तथा नेशनल बैंक को आग लगाने की निन्दा की जाये। घमासान विचार-संघर्ष के बाद आधी रात को कांग्रेस की विषय-समिति न उक्त प्रस्ताव को रद्द कर दिया। इस पर महात्माजी ने कांग्रेस छोड़ने की धमकी दी। वास्तव में तो वह धमकी न थी केवल उस सत्य का सकेत था, जो महात्माजी के सिद्धान्त-प्रेम का अनिवार्य परिणाम होता। अगले दिन बहुतेरी नाक-भौं सिकोड़न के बाद महात्माजी का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। उस दिन स महात्मा गान्धी न धीरे-धीरे कांग्रेस क कानों मे अहिंसा का वास्तविक अर्थ पढ़ाना प्रारम्भ किया। जो कांग्रेस यह समझन लगी थी कि स्वराज्य का मतलब अंग्रजों को भारतवर्ष से बाहर मार निकालन में है उस यह सबक सिखाया गया कि अंग्रेज भी भारतीयों क साथ नागरिक की हैसियत से रह सकते हैं और यहा रहने वाले एक भी विदेशी का बाल तक बाका नहीं किया जाना चाहिये।

चौरीचौरा-काण्ड

लेकिन हम देखत हैं कि राष्ट्र उस अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सका और ६ फरवरी १९२२ के दिन चोरीचोरा मे एक थान में २१ सिपाही जिन्दा जला दिये जात है। परिणामस्वरूप १२ फरवरी १९२२ को कांग्रेस की कार्य-समिति ने असहयोग आंदोलन बन्द कर दिया जो सविनय अवज्ञा का रूप धारण किय हुए था। कार्य-समिति के निर्णय का समर्थन करन क लिए जब २४ फरवरी १९२२ को दिल्ली में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई उस समय प० मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय न विरोध में लम्बे लम्बे पत्र लिखे। हजारों भारतीय जेलो में बन्द पड़े थे। लेकिन महात्मा गाधी पर्वत की तरह अचल थे। सत्याग्रही न केवल शत्रु का अपितु मित्रो और सहकारियों तक का भी भय नहीं मानता। उसे केवल सत्य से भय लगता है।

गाधी जी पृथक् होगये

यह सर्व विदित है कि किस प्रकार महात्मा गाधी जी ने अप्रैल १९२४ में रिहा होने के बाद आंदोलन को पुनः प्रचारित करने का प्रयत्न किया, लेकिन कामयाबी नहीं हुई। आपने कौंसिल-प्रवेश के कार्यक्रम के लिए मैदान खाली कर दिया। १९२५ के सितम्बर मास में आपन खद्दर क सगठन को पृथक रूप स प्रारम्भ किया और इसी रचनात्मक कार्य में सन्तोष किय रखा। एक प्रकार स आप राजनीतिक क्षेत्र स पृथक् ही हो गय।

पुन रंगमंच पर

लेकिन १९२८ क दिसम्बर मास मे प० मोतीलाल नेहरू न कलकत्ता म वर्धा को तार पर तार खड़काये और फिर एक बार महात्मा जी को राजनीतिक क्षेत्र की घुमर-घेरी में खींच लिया। उस क बाद स महात्मा जी के सब कार्य इसी एक धुरी पर घूमत नजर आते हैं। लाहोर-कांग्रेस डाडी-यात्रा १९३० का सत्याग्रह-आन्दोलन गाधी-अरविन समझौता सरकार की ओर स इसका भग गोलमेज कान्फरन्स मे महात्मा जी का भाग आन्दोलन का पुन प्रारम्भ प्रधानमन्त्री का साम्प्रदायिक निर्णय गाधी जी का आमरण अनशन-व्रत पूना-पैक्ट द्वारा साम्प्रदायिक निर्णय मे सशोधन गाधी जी के अनेक उपवास और रिहाई महात्मा जी का देशव्यापी दौरा उड़ीसा की पैदल-यात्रा फिर २१ दिन का उपवास और अन्तिम ७ दिन का उपवास।

सदियों का काम सालों मे

ये सब एक कल्पित भूतकाल की घटनायें मालूम पड़ती हैं। फिल्म की तरह अनेक दृश्य जल्दी-जल्दी आखों क सामने से गुजर जाते हैं। लेकिन ये कल्पना-जगत् की बातें नहीं हैं। सत्याग्रह के उच्च आदर्शों को सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि मे व्यावहारिक रूप दे कर दिखाया गया है। सत्याग्रही जीवन को अविभाजनीय 'एक' समझता है न कि जुदा-जुदा विभागों में बटा हुआ। राजनीति नाम ही जीवन की स्वतन्त्रता का है। इसी क आर्थिक सामाजिक और नैतिक नाम मे अनेक पहलू हैं। ये सब एक ही हीरे क अनेक पार्श्व हैं। उन को एक दूसरे म अलहदा नहीं किया जा सकता। खद्दर अस्पृश्यता-निवारण और मद्य-निषेध का क्रमश आर्थिक सामाजिक और नैतिक पहलुओं म सम्बन्ध है। प्रत्येक को एक क बाद एक करके लिया गया और एक सदी का काम दस वर्षों व एक ही वर्ष म होगया। लंकाशायर न १८०३ मे ७ लाख रुपये मूल्य क कपड़े क साथ भारतवर्ष को अपना गुलाम बनाना प्रारम्भ किया था। यह प्रक्रिया १९२९ में अपनी चरम सीमा पर पहुच गई जब ७८ करोड़ रुपये का वस्त्र और सूत आता था। लेकिन हमने केवल १० साल क सत्प्रिन काल में इस गुलामी क फन्दे को अपने गले से उतार फेंका है। सदियों क पाप—अस्पृश्यता को हमने बारह मास क अन्दर अनुभव भी किया और धो भी डाला। कोई भी सुधार पूर्ण रूप से तो कभी भी नहीं होता। सुधार की परीक्षा यह नहीं है कि बुराई का एकदम अन्त हो जाय। हमारे अन्दर उस क विरुद्ध नैतिक अनुभूति जागृत हो जानी चाहिये। बस, इतना पर्याप्त है।

सत्याग्रह का भविष्य उज्ज्वल है

'सत्याग्रह न हमारे सामने ही इतने चमत्कार करके दिखा दिये हैं। भविष्य में अभी यह और अनेक चमत्कार करके दिखायेगा बशर्ते कि महात्मा जी पर अनुयायियों का अनुचित बोझ न पड़ जाय। वे सख्या-वृद्धि से बहुत घबराते हैं। महात्मा जी गुण क भूखे हैं, गिनती क नहीं। एक पवित्र आत्मा का सत्याग्रह जितनी सफलता प्राप्त कर लेगा उतनी सफलता साधारण आत्मा लाखों होने पर भी नहीं पा सकते।

सत्याग्रह का महानता

सचमुच देश क उद्धार में सत्याग्रह आन्दोलन का बहुत बड़ा भाग है। महानता की यह एक और विशेषता है कि जो चीज महान होती है वह जीवन मे महत्तर की ओर प्रगति करता चला जाता है और अन्त मे महतो महायान् क साथ अपने को एक कर देती है।

मेरा मजहब हकपरस्ती (सत्य की पूजा) है।
मेरी मिल्लत (धर्म) कौमपरस्ती है।
मेरी इबादत (ईश्वर आराधना) मुल्कपरस्ती है।
मेरी अदालत मेरा अन्त करण है।
मेरी जायदाद मेरी कलम है।
मेरा मन्दिर मेरा दिल है।
मेरी उमग सदा जवान है।
—स्व० लाला लाजपतराय।

—o—

आर्यसमाज और स्वराज्य-आन्दोलन

(ले०—श्री सत्यदेव जी विद्यालंकार)

सुप्रसिद्ध राष्ट्रकर्मी सत्यदेव जी उन व्यक्तियों में हैं जिन्होंने देश और समाज की सेवा का व्रत ले रखा है। स्वामी श्रद्धानन्द जी की जीवनी के यशस्वी लेखक भी आप हैं। ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के राजनीतिक स्वरूप का ऐतिहासिक दृष्टि से आपने अच्छा अनुशीलन किया है। उसी विषय पर आप की लिखी 'दयानन्द दर्शन' पुस्तक की भूमिका में स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा था कि मैं चाहता हूं कि इस ग्रन्थ को भारतवर्ष के राजनैतिक नेता तथा आर्यसामाजिक पुरुष मनन करने के उद्देश्य से पढ़ें। अर्जुन के पाठकों को इस लेख में भी अध्ययन के लिये उचित सामग्री मिलेगी।

—:—

साम नीति से पराजय

"क्या हवा का रुख यह नहीं बता रहा है कि वास्तव में भारतवर्ष का वर्तमान इतिहास बनाने वाला आर्यसमाज ही है; फिर यदि सरकारी कर्मचारी व्याकुल होकर आर्यसमाज पर झूठ दोषारोपण करें तो आश्चर्य ही क्या है?'—ये शब्द हैं जो महात्मा मुन्शीराम जी ने आर्यसमाज पर सरकारी कोप के कारणों की मीमांसा करते हुए सन् १६०८ में लिखे थे। सन् १६०१ से १६१०-१२ तक का समय आर्यसमाज के लिये राजनीतिक संघर्ष का समय था। वैसे तो आर्यसमाज का सब जीवन ही संघर्ष मय है किन्तु यह संघर्ष इसलिये महत्वपूर्ण है कि इस समय के दिनों में आर्यसमाज को कुचलने की चेष्टा सरकार की ओर से की गई थी। वैसे भी यह चेष्टा बहुत पहले से शुरू थी। स्वनामधन्य पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय ने अपनी जीवनी में आर्यसमाज के इस गृहकलह के सम्बन्ध में जिससे आर्यसमाज सदा के लिये दो दलों में विभक्त हो गया, लिखा है कि राय मूलराजजी को महात्मा दल के और राय पेडाराम को कालेज दल के लोग सरकार का भेदिया अथवा दूत समझते और कहते भी थे। लोगों का विचार था कि ये दोनों सज्जन सरकार के संकेत पर समाज में फूट डालकर उसकी शक्ति को बिगाड़ रहे हैं। यदि यह विचार ठीक है जिसको कि ठीक न मानने का कोई कारण नहीं है तो यह कहना होगा कि आर्यसमाज की शक्ति को पहले फूट डालकर कम करने या बिगाड़ने की कोशिश की गई किन्तु उससे आर्यसमाज के अन्दर एक ऐसी नयी शक्ति पैदा होगई जिससे सरकारी कर्मचारी और भी अधिक घबरा उठे। तब सरकार ने आर्यसमाज के विरुद्ध दण्ड का प्रयोग किया और कानून तथा दमन की सब शक्ति लगाकर आर्यसमाज को मिटाने की कोशिश की गई। इस कोशिश में भी सरकार को यथेष्ट सफलता प्राप्त न हुई। तब सरकार ने साम-नीति से काम लिया। आर्यसमाजियों को सरकारी महकमों में ऊंची-ऊंची नौकरियां और रायसाहब तथा रायबहादुर आदि के खिताब खुले हाथों दिये जाने लगे। जिन आर्यसमाजियों पर सरकारी अधिकारी कभी भूलकर भी विश्वास नहीं करते थे उनपर इतना अधिक विश्वास किया जाने लगा कि कुछ ही समय में सरकारी नौकरियों में आर्यसमाजियों का अच्छा प्रवेश हो गया। आर्यसमाज के जिन कार्यों को सदा ही सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था सरकारी अधिकारियों द्वारा उनकी प्रशंसा के पुल बांधे जाने लगे। हरिद्वार के परले पार गंगा के उस किनारे पर एकान्त पहाड़ी जंगलों में गुरुकुल का स्थापित किया जाना सरकार के लिये आर्यसमाज का सबसे अधिक सन्देहास्पद और भयानक कार्य था। उस समय सरकारी कागजों में यह लिखा गया था कि—

> 'आर्यसमाज के संगठन में अभी अभी जो महत्वपूर्ण विकास हुआ है वह वास्तव में सरकार के लिये बहुत बड़े संकट का स्रोत है।"

गुरुकुल के सम्बन्ध में ये शब्द तब लिखे गये थे जब आर्यसमाज के प्रतिकूल सरकार दमन-नीति से काम ले रही थी। बाद में जब सामनीति से काम लिया गया तब उसी गुरुकुल के सम्बन्ध में संयुक्त-प्रान्त के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर (इस समय के लार्ड) मेस्टन ने गुरुकुल में आकर यह कहा था कि एक आदर्श विश्वविद्यालय के लिये मेरा आदर्श गुरुकुल है। निस्सन्देह इस साम-नीति से सरकार ने आर्यसमाज की शक्ति को कुंठित कर दिया। आर्यसमाज की जिस तेज धार से अधिकारी थर-थर कांपा करते थे उस पर गहरा जंग जम गया। आपस की गृह-कलह, जबरदस्त फूट और दस बारह-वर्ष का निरन्तर दमन, जिस शक्ति के तेज को कम नहीं कर सका वह कुछ ही दिनों में बिलकुल निकम्मी कर दी गई। आज आर्यसमाज के प्रति सरकार को न कुछ सन्देह है न उससे कुछ भय है और न उसका उसपर कुछ दबाव ही है। निर्वीर्य क्षत्रिय के समान आर्यसमाज का अस्तित्व प्रायः निस्तेज हो गया है।

राष्ट्र-विघातिनी नीति

सरकार ने आर्यसमाज की बढ़ती हुई शक्ति को कुचलने की इस प्रकार चेष्टा क्यों की? महात्मा मुन्शीराम जी के शब्दों में इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि चूंकि आर्यसमाज भारतवर्ष का वर्तमान इतिहास बनाने वाला था। इतिहास वस्तुतः राष्ट्र की अमिट सम्पत्ति है। विजेताओं ने पराजितों के इतिहास को और जिस सामग्री से इतिहास को बनाया जाता है उस सब को न केवल बिगाड़ने किन्तु मिटाने तक की चेष्टा की है। ऐसा यत्न किया है कि पराजित अपनी प्राचीन सभ्यता, प्राचीन इतिहास, प्राचीन गौरव और प्राचीन परम्परा को एकदम से भूल जाय। भारतवर्ष की अपनी सभ्यता अपना इतिहास, अपना गौरव और अपनी परम्परा इतनी ऊंची, महान् विशाल और प्राचीन थी कि विजेताओं के लिये यह सम्भव नहीं था कि भारतीयों के सामने से उस सब के आदर्श को दूर किये बिना वे यहां अपने साम्राज्य की जड़ों को मजबूत कर सकते। लार्ड क्लाइव ने कूटनीति के जोर पर गोरों के जिस शासन को भारत में कायम किया हुआ था, लार्ड मैकाले ने उस को अपनी कलम के जोर से स्थिर किया। लगभग १८३५ में लार्ड मैकाले ने भारत की शिक्षा के सम्बन्ध में जो लेख लिखा था वह विजेताओं के उन यत्नों का जीता-जागता उदाहरण है जिनके द्वारा वे पराजितों को अपने आदर्श से दूर ले जाने का यत्न किया करते हैं। लार्ड मैकाले ने उस लेख में भारतीय इतिहास भूगोल विज्ञान, साहित्य, आयुर्वेद और धर्म इत्यादि सभी विषयों का मजाक किया है और उनको एकदम हेय या तुच्छ बताते हुये लिखा था कि "हमें अपने सब यत्न हिन्दुस्थान में एक ऐसी जमात पैदा कर देने में लगा देने चाहियें, जो हमारे और उन करोड़ों के बीच में मध्यस्थ का काम करे, जिनपर हम शासन करेंगे। यह जमात भले ही हाड़-मांस तथा रुधिर में भारतीय रहे, पर आचार-विचार, रहन-सहन और भाषा-व्यवहार में पूरी अंग्रेज हो जानी चाहिये।" अंगरेजी विश्व-विद्यालयों से निकलने वाले युवकों को ऐसा बना लेने में अंगरेज राजनीतिज्ञों को जो सफलता प्राप्त हुई है, वह इतनी स्पष्ट है कि उसके सम्बन्ध में कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं।

लार्ड मैकाले ने कुछ ही दिनों में इस सफलता को पूरी तरह भाप लिया था और अपने पिता को १८३६ मे ही एक पत्र लिखा था—

जो भी हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है वह अपने धर्म में सच्ची श्रद्धा खो बैठता है। कुछ लोग कवल दिखान के लिये उसको मानते हैं। परन्तु अधिकतर ईसाई हो जाते हैं। यह मेरा पक्का विश्वास है कि यदि शिक्षा की हमारी योजना का पूरी तरह अनुसरण किया गया तो अब से ३० बरस बाद बगाल के प्रतिष्ठित एव उन्नत घरानों में एक भी हिन्दू अपने धर्म में श्रद्धा रखने वाला नहीं रहेगा। यह भी दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट है कि लार्ड मैकाले का यह दृढ विश्वास कितना सत्य सिद्ध हुआ है।

भयानक षडयन्त्र

अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली द्वारा जिस प्रकार उन्नत तथा प्रतिष्ठित घरान के नवयुवकों की अपने धर्म पर से श्रद्धा दूर की जा रही थी उसी प्रकार सर्वसाधारण में यह कार्य ईसाई-मिशनरियों द्वारा किया जा रहा था। ईसाई-मिशनरियों में अपन धर्म में श्रद्धा थी और वे उस श्रद्धा स ही प्रेरित हो कर भारत में ईसाई-धर्म का प्रचार कर रहे थे—इस को मानने के लिये लेखक तय्यार नहीं है और न वह यह ही मानन को तय्यार है कि उपकार की किसी पवित्र व ऊची भावना से प्रेरित हो कर ईसाई पादरी इस देश में आये थे। उस का यह दृढ विश्वास है कि लार्ड मैकाले जैसे राजनीतिज्ञों और ईसाई पादरियों में समूचे भारत को ईसाई बनाने का एक बड़ा गहरा व्यापक और भयानक षडयन्त्र था। ईसाइयों का पहला गिरोह जो मद्रास आया उस की यह स्पष्ट और निश्चित योजना थी कि एक चौथाई शताब्दी में समूच भारत को ईसाई बना दिया जायगा। हिन्दू-समाज की उस समय की अस्त-व्यस्त सामाजिक-अवस्था और धर्म-जीवी लोगों की धर्म के नाम पर दी जाने वाली मनमानी व्यवस्थाओं मे ईसाई पादरियों न पूरा पूरा लाभ उठाया। मकान के किवाड खोल और दिया बुझा कर बखबर सोने वाले मालिक के मकान को जैसे चोर सहज ही में लूट लेत हैं लहलहाती हुई खेती की रखवाली करने की चिन्ता मे बेसुध होकर मस्त पड़े रहने वाले के खेतों को जैसे पशु अनायास ही चर जाते हैं और जैसे शस्त्रास्त्र से सुसज्जित रहन पर भी अनियन्त्रित और अव्यवस्थित सेना पर दुश्मन सुगमता से विजय प्राप्त कर लेते हैं, ठीक वैसे ही ईसाई पादरियों न भारतवर्ष में ईसाईपन का प्रचार करने में सफलता प्राप्त करनी शुरू की। परिवार के परिवार और गाव के गाव ईसाइयत की दीक्षा मे दीक्षित होन लग गये। पश्चिम की यह लहर आधी से भी अधिक तेजी के साथ सारे देश मे फैल गई। किसी लेखक न यह बिलकुल ठीक लिखा है कि पश्चिम के विजयी लोगों न शराब गोली और बाइबिल के जोर पर ही विदेशों में अपना शासन कायम किया है।' भारत के सम्बन्ध में उस लेखक का यह कथन सोलह आना सत्य है। यहा गोली से भी उतना काम नहीं लिया गया जितना शराब और बाइबल से लिया गया है।

आर्यसमाज कार्यक्षेत्र मे

देश के आदर्श देश की नैतिकता और देश की राष्ट्रीयता को मिट्टी में मिला देन वाली इस लहर का मुकाबला करन के लिये छोटे-बड़े कई यत्न किये गये। पर वे सब इस लहर में विलीन होते चले गये।। बगाल मे ब्राह्म-समाज और बम्बई से प्रार्थना-समाज के रूप में प्रारम्भ किये गये यत्नों को यह लहर वैसे ही अपने मे समा गई जैसे पानी की छोटी धारायें किसी नदी मे जा मिलती हैं। काशी के पण्डितों के हाथ में धर्म के नियन्त्रण की बागडोर देने के बाद सब देश-वासी बिलकुल निश्चिन्त हुये पड़े थे। पर, शास्त्री नीलकण्ठ सरीखों न भी जब ईसाइयत के सामने सिर झुका दिया और श्री केशवचन्द्र सेन सरीखों न यह उद्घोषित कर दिया कि हिन्दू धर्म किसी काम का नहीं है तब ईसाइयत की इस वेगवती धारा मे टक्कर लेने वाला कौन था? कौन उसके प्रवाह को रोक सकता था? यह समय वस्तुत बहुत नाजुक था। देश का भाग्य जीवन-मृत्यु के बीच में लटक रहा था। पराजित पद दलित, साधन-हीन और असहाय देश को सदा के लिये पराधीन बनाये रखन का षडयन्त्र पूरी सफलता प्राप्त कर रहा था। यह समय था जब महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा सस्थापित आर्य-समाज कार्यक्षेत्र में आता है और जीवन-मृत्यु की सन्दिग्ध अवस्था में से देश का उद्धार कर उस के सामने प्राचीन आदर्शों को उपस्थित करता है।

गुरुकुल या 'स्पष्ट राजद्रोह'

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों और व्याख्यानों में राष्ट्रीयता का जिस प्रकार प्रतिपादन किया है उस का परिचय देन से पहले आर्यसमाज के कार्य पर दृष्टिपात कर लेना चाहिये। महर्षि दयानन्द की मृत्यु के बाद उन का स्मारक बनान की चर्चा होती है। कई प्रस्ताव सामने आते हैं। लाहौर मे आर्यसमाज का विशेष जोर था। वहा स्कूल तथा कालेज खोलने का प्रस्ताव हुआ और वह कार्य में भी परिणत हो गया। लाहोर में स्कूल और कालेज का १८८६ में खुलना एक असाधारण घटना थी। वह कालेज केवल आर्यसमाज के सस्थापक ऋषि दयानन्द का ही स्मारक न था, किन्तु शिक्षा-क्षेत्र में ईसाई-पादरियों और सरकारी अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले प्रयत्नों का एक जबरदस्त मुकाबला भी था। आगे चल कर कालेज की पढाई के सम्बन्ध मे मतभेद होन पर हरिद्वार के पास कागडी गाव म गुरुकुल की स्थापना हुई। कालेज को सरकारी अधिकारियों न अपने चगुल मे फसा लिया। पजाब विश्व-विद्यालय के साथ उस का सम्बन्ध हो गया। सरकारी कालेजों और आर्यसमाजी कालेज मे नाममात्र का ही भेद रह गया। कालेज के सचालकों की इस असफलता पर आर्यसमाज म भारी विक्षोभ की एक भयानक लहर उठ खड़ी हुई और गुरुकुल के रूप म उस ने मूर्तरूप धारण किया। शिक्षा के क्षेत्र मे गुरुकुल बिलकुल नया और अद्भुत परीक्षण था। इग्लैण्ड के इस समय के प्रधान-मन्त्री मि० रैम्जे मैकडानल्ड न १९१४ में गुरुकुल आन के बाद जो लेख लिखा था उसमें गुरुकुल के वास्तविक रूप उसके आदर्श और ध्येय का पूरी तरह उल्लेख किया था। उन्होंने लिखा था कि—

> सरकारी लोगों के लिए गुरुकुल एक पहेली है। अध्यापकों में एक भी अंग्रेज नहीं है। अंग्रेज़ी साहित्य की पढ़ाई और ऊची शिक्षा के लिए पजाब यूनिवर्सिटी द्वारा नियुक्त पुस्तकें भी यहाँ काम में नहीं लाई जातीं सरकारी विश्वविद्यालय की परीक्षा के लिये यहा से एक भी विद्यार्थी को नहीं भेजा जाता विद्यार्थियों को गुरुकुल से अपनी ही उपाधियां दी जाती हैं। सचमुच यह सरकार की अवज्ञा है। घबराये हुये सरकारी अधिकारी के मुख से पहली बात यही निकलेगी कि यह स्पष्ट राजद्रोह है।

सन् १८३५ के प्रसिद्ध लेख (जिस की ओर ऊपर सकेत किया गया है) में भारत की शिक्षा के सम्बन्ध मे मेकाले के सम्मति प्रगट करने के बाद भारत के शिक्षा के क्षेत्र म यह पहला ही प्रशस्त यत्न किया गया है। उस लेख के परिणामों से प्रायः सभी भारतीय असन्तुष्ट थे, किन्तु जहा तक मुझ को मालूम है गुरुकुल के सस्थापकों के सिवा किसी और न उस असन्तोष को कार्य मे परिणत करते हुए शिक्षा के क्षेत्र म नया परीक्षण नहीं किया है। गुरुकुल के सम्बन्ध म महात्मा गांधी का मत यह है कि 'आर्यसमाज के कार्य का सर्वोत्तम परिणाम गुरुकुल की स्थापना है। यह सच्चे अर्थों मे राष्ट्रीय सस्था है, जिसका शासन और सचालन सब स्वतन्त्र है। ऐसे और भी उद्धरण दिये जा सकते हैं। इन सब उद्धरणों का साराश यह है कि आर्यसमाज द्वारा गुरुकुल का स्थापित किया जाना वास्तव म देश के स्वराज्य-आन्दोलन की दृष्टि से बहुत बड़ा कार्य है। भले ही आर्यसमाज का लक्ष्य वेदों के विद्वान अथवा आर्य-समाज के उपदेशक पैदा करना ही क्यों न रहा हो किन्तु सरकारी लोगों के लिए वह स्पष्ट ही राजद्रोह-पूर्ण कार्य था। जिस कार्य द्वारा बहुत सोच-विचार के बाद अपने शासन को स्थिर तथा दृढ करने की सरकार की नीति का विरोध होता हो और सरकार की सत्ता की इतनी स्पष्ट तथा पूर्ण अवज्ञा होती हो वह यदि राजद्रोह नहीं था तो और क्या था? आर्यसमाज गुरुकुल द्वारा जिन उपदेशकों के पैदा होने की आशा रखता था उन के सम्बन्ध मे सरकार का अनुमान यह था कि—

> इस (गुरुकुल) प्रणाली म चाहे कितने ही दोष क्यों न हों किन्तु भक्तिभाव और बलिदान की उच्च भावना से प्रेरित जोशीले धर्मपरायण व्यक्तियों का दल तैयार करने का यह सब से सुगम और उपयुक्त साधन है। इस पद्धति से जो युवक तैयार होंगे वे सरकार के लिए अत्यन्त भयानक होंगे। उन में यह शक्ति

होगी, जो इस समय के आर्य-समाजी उपदेशकों में नहीं है।

उन का उद्देश्य सारे भारत में एक ऐसे जाति-धर्म की स्थापना करना होगा जिस से सारे हिन्दू भ्रातृभाव की एक शृङ्खला में बंध जायेंगे। वे सब दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास की इस आज्ञा का पालन करेंगे कि श्रद्धा और प्रेम से अपने तन मन धन—सर्वस्व को देश हित के लिये अर्पण कर दो।" एक लम्बे गुप्त सरकारी लेख की ये कुछ पंक्तियां हैं। भले ही आर्य-समाजी आर्यसमाज को धार्मिक, सार्वभौम, ब्राह्मण या उपदेशक बताकर गुरुकुल को भी वैसा ही बनाने की कोशिश क्यों न करें, पर इस सचाई से कौन इन्कार कर सकता है कि गुरुकुल के सौ में सौ स्नातक राष्ट्रीय वृत्ति के हैं, एक भी सरकारी नौकरी में नहीं है, आर्यसमाज में उपदेशक का कार्य करने वालों की अपेक्षा कांग्रेस का काम करने वालों की संख्या कहीं अधिक है और कांग्रेस के असहयोग तथा सत्याग्रह-संग्राम में जिस निर्भीकता, सचाई, त्याग, बलिदान और तत्परता का परिचय उन्होंने दिया है, वैसा कहीं और मिलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। गुरुकुल की स्थापना देश के स्वराज्य-आन्दोलन के लिये आर्यसमाज का इतना महान् कार्य है जितना कि किसी भी और संस्था ने अब तक भी नहीं किया है। महात्मा गांधी के असहयोग-आन्दोलन से समूहरूप में देश का ध्यान १९२०-२१ में जिस राष्ट्रीय शिक्षा की ओर आकर्षित हुआ, आर्यसमाज ने उस का श्रीगणेश १९०१ में ही गुरुकुल के रूप में कर दिया था और राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में उस समय तक एक सफल परीक्षण भी करके दिखा दिया था। भारत की प्राचीन सभ्यता, प्राचीन इतिहास तथा प्राचीन साहित्य के जिस उच्च आदर्श को लार्ड मैकाले और उसके साथी मटियामेट करने पर तुले हुए थे, उसी की रक्षा के लिये आर्य-समाज ने गुरुकुल की स्थापना की थी और इस प्रकार उनके यत्नों की सफलता को खटाई में डाल दिया था।

षड़यन्त्र का भण्डाफोड़

गुरुकुल की स्थापना के समान ही आर्यसमाज के प्रचार पर भी थोड़ा विचार करना चाहिये। पश्चिम से आंधी के समान उठी हुई ईसाइयत की लहर के लिये आर्यसमाज चीन की दीवार साबित हुआ। ज्यों ही आर्यसमाज की चट्टान के साथ ईसाइयत की लहर टकराती है, ईसाइयों के सुख-स्वप्न टूट जाते हैं और सरकारी अधिकारियों को भी मालूम हो जाता है कि ईसाई पादरियों के सहारे अपने राज्य को यहां स्थिर अथवा दृढ़ करना उतना सुगम नहीं है। आर्य-समाज के प्रचार-कार्य ने उन हिन्दुओं के कान खड़े कर दिये जिनको

ऋषि दयानन्द की राष्ट्रीयता के मूर्तरूप

स्वामी श्रद्धानन्द

भेड़-बकरियों की तरह ईसाई पादरी बिना रोक-टोक के मूंड रहे थे। हजारों के बीच में खड़ा हुआ आर्य-समाजी युवक भी बूढ़े पादरी का मुंह बन्द कर देता था। हिन्दुओं के पुराने रीति-रिवाज, अन्धविश्वास, छूत-छात सरीखी प्रथा और खान-पान के भेद-भाव से ईसाई बहुत लाभ उठा रहे थे, आर्यसमाज ने उस सब पर ऐसा कुठाराघात किया कि उनकी जड़ों को ही हिला दिया। ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के खण्डनात्मक कार्य पर इसी दृष्टि से विचार किया जाना चाहिये। ईसाई-पादरियों और सरकारी अधिकारियों के षड़यन्त्र का आर्यसमाज ने जो भण्डा फोड़ कर दिया उसमें आर्य-समाज पर सरकार की इतनी टेढ़ी दृष्टि रही कि उसको नामशेष करने में सरकार ने कुछ भी उठा नहीं रखा। आर्यसमाज के हर एक कार्य और ऋषि दयानन्द के हर एक लेख में से सरकार को राजद्रोह की गंध आने लगी। वैलेण्टाइन शिरोल ने स्वामीजी की गोकरुणानिधि तक को राजद्रोही ग्रन्थ बताया है और उनके गोवध बन्द कराने के यत्नों को भी ब्रिटिश-विरोधी-भावना से भरा हुआ कहा है। उसने यहां तक लिखा है कि "जहां-जहां आर्य समाज का जोर है, वहां-वहां राजद्रोह प्रबल है। आर्यसमाज का विकास हठात् सिख-सम्प्रदाय की याद दिलाता है जो सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में नानक द्वारा प्रारम्भ किये जाने पर धार्मिक एवं नैतिक सुधार का आन्दोलन था और पचास ही वर्षों में हरगोविन्द की आधीनता में वह एक शक्तिशाली राजनीतिक और सैनिक संगठन बन गया।

आर्यसमाज का दमन

आर्यसमाज को कुचलने के लिये किये गये सरकारी दमन की सब कहानी यहां देने की आवश्यकता नहीं। संकेत मात्र के लिये इतना ही लिखना बस होगा कि सेनाओं की राजभक्ति के लिये आर्यसमाजियों को सब से अधिक भयानक समझा जाता था। छावनियों में आर्यसमाजियों का जाना निषिद्ध था। सेना विभाग की नौकरियों से सैकड़ों को आर्यसमाजी होने से ही अलग किया गया था। स्वाभिमानी अथवा देशभक्त सिख अथवा मुसलमान को भी आर्य-समाजी कहा जाता था। सरदार अजीतसिंह का आर्यसमाज के साथ परोक्ष में भी कोई सम्बन्ध नहीं था पर उन को आर्यसमाजी कहा गया। कोमागाटा मारू के वीर नेता बाबा गुरुदत्तसिंह भी आर्य-समाजी ठहरा दिये गये थे। पटियाला का मुकद्दमा आर्यसमाज को कुचलने के लिये किये गये यत्नों में सब से अधिक कमीनी हरकत है। सत्यार्थप्रकाश के प्रतिकूल भी मुकद्दमे चलाये गये थे। पुलिस की दस नम्बर की लिस्ट आर्यसमाज के रजिस्टरों पर से तय्यार की जाती थी। साप्ताहिक अधिवेशनों पर भी निगरानी रखी जाती थी। महात्मा मुन्शीराम जी के शब्दों में आर्यसमाजी आउट ला थे, राज-दण्ड का सब विधान उन के लिये ही था और कोई भी उन पर निशाना साध सकता था। पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय और भाई परमानन्द जी पर इतनी टेढ़ी दृष्टि का कारण उन का आर्य-समाजी होना भी था।

सन्देह निराधार न था

सरकार का यह सब सन्देह और दमन बिलकुल निराधार ही न था। आर्यसमाज का कार्य जहां सरकार के प्रतिकूल था वहां उसके प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का जीवन और उन के आदेश उपदेश भी स्वातन्त्र्य-भावना—राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत थे। देशप्रिय तथा

देशभक्ति की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। सन १८५७ के पराजय के बाद देशवासियों में स्वदेशी स्वराज्य चक्रवर्ती साम्राज्य आदि की भावना उद्दीप्त करने वाले पहले व्यक्ति ऋषि दयानन्द थे। उनके सत्यार्थप्रकाश में केवल खण्डन-मण्डन समाज-सुधार और धर्म-प्रचार की ही बातें नहीं हैं, अपितु उस में देश-प्रेम, देश-भक्ति, स्वदेशी स्वराज्य और चक्रवर्ती-साम्राज्य के आदेश उपदेश, तथा आदर्श का भी जहा-तहा प्रतिपादन किया गया है। छठे समुल्लास मे राजनीतिक चर्चा के सिवा और कुछ भी नहीं है। ऋषि दयानन्द के स्वराज्य का आदर्श कितना ऊंचा था? उन्होंने लिखा है कि:—

'कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रह-रहित अपने और पराये का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय, और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।" ऐसे उद्धरणों का संग्रह कर के एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है। वेदों की राष्ट्रीय दृष्टि से व्याख्या करके उन में स्वराज्य तथा स्वदेशी आदि के उपदेश की ओर निर्देश करने वाले भी पहले महापुरुष दयानन्द ही हैं। 'आर्याभिविनय' में ईश्वर की राजा महाराजा, महाराजाधिराज, सम्राट आदि शब्दों से प्रार्थना की गई है। उसी में 'सम्राय पिन्वस्व का महर्षि ने यह अर्थ किया है कि—

'हे महाराजाधिराज परब्रह्मन्' 'सम्राय' अखण्ड—चक्रवर्ती राजा के लिये शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत पुष्ट कर। अन्य देशवासी राजा हमारे देश मे कभी न हो तथा हम लोग पराधीन कभी न हों। यजुर्वेद-भाष्य अध्याय १ मन्त्र में महर्षि ने स्पष्ट आदेश दिया है कि—

"मनुष्यैर्द्विभ्या प्रयोजनाभ्या प्रवर्तितव्यम्। प्रथमम्—अत्यन्तपुरुषार्थशरीरारोगाभ्या चक्रवर्तीराज्यश्रीप्राप्तिकरणम्। द्वितीयम्—सर्वा. विद्याः पठित्वा तासा सर्वत्र प्रचारीकरणम्।" अर्थात—"मनुष्यों को अत्यन्त पुरुषार्थ करके शरीरा-रोग्य द्वारा चक्रवर्ती राज्य की प्राप्ति करनी चाहिये और सब विद्यायें पढ़ कर उन का प्रचार करना चाहिये।' इसी दृष्टि से ऋषि दयानन्द ने ब्राह्मसमाज और प्रार्थना-समाज में स्वदेश-भक्ति की बहुत न्यूनता बताने के बाद लिखा है कि:—

आर्यसमाज के साथ मिलकर उस के उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार कीजिये, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा। क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे होगा, उसकी उन्नति अपने तन-मन-धन से सब जन मिल कर प्रीति से करें। इसलिये जैसा आर्य-समाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं हो सकता।" ऋषि दयानन्द के इस उपदेश और आदेश को सामने रख कर यदि उनके जीवन-कार्य पर विचार किया जाय तो सहज मे समझ में आ सकता है कि महर्षि देश-प्रेम की किस भावना से प्रेरित होकर किस आशा से राजपूताने के देशी राज्यों मे घूमते फिरते थे? उन्होंने बारी बारी से जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, शाहपुर आदि राज्यों को परखा किन्तु उनकी आशा किसी से भी पूरी न हुई।

स्वर्गीय श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा, जिन्होंने कुछ वर्ष इङ्गलैंड में बिताने के बाद अपना शेष जीवन पेरिस में पूरा किया और वहा 'इण्डिया होम' की भी स्थापना की, ऋषि दयानन्द के अन्यतम शिष्य थे। इसमे कौन इन्कार कर सकता है कि उन के हृदय मे देशभक्ति और देशप्रेम का अंकुर पैदा करने वाले ऋषि दयानन्द ही थे। ऋषि दयानन्द के राष्ट्रीय रूप की प्रतिमूर्ति गुरुकुल के संस्थापक दिवंगत स्वामी श्रद्धानन्द जी थे, जिन के जीवन की कई घटनायें भारत के राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के संग्राम में सदा ही अभिमान के साथ याद की जाती रहेगी। उत्तरीय भारत विशेषत. पंजाब और संयुक्तप्रांत की साधारण जागृति में आर्यसमाज का बहुत बड़ा हाथ है। इन प्रान्तों के नेताओं और कार्यकर्ताओं में बड़ी संख्या आर्यसमाजियों की है। शिक्षा, समाज-सुधार, धार्मिक जागृति आदि के क्षेत्र में भी उस ने उल्लेखनीय कार्य किया है। उस के इस सब कार्य मे देश के स्वराज्य-आन्दोलन में निश्चय ही विशेष शक्ति और बल प्राप्त हुआ है। इस प्रकार स्वराज्य-आन्दोलन में आर्यसमाज का जो हिस्सा है, उस पर यथेष्ट अभिमान किया जा सकता है।

नैतिक पतन

पर, यह भी कुछ कम दुःख का विषय नहीं है कि इतने गौरव और अभिमान का कार्य करने वाली इतनी महान संस्था इतनी जल्दी अपने राजनीतिक स्वरूप को बिल्कुल भूल ही गई। आज उस के लिये अपने संस्थापक के आदेश तथा उपदेश, जीवन तथा बलिदान और त्याग तथा निष्ठा का कुछ भी अर्थ नहीं है। तभी तो आर्यसमाज देश की आजादी की लड़ाई से बिल्कुल किनारा काटे हुए है। उस के सामयिक नेताओं ने यहां तक घोषणा कर दी है कि आर्यसमाज धार्मिक संस्था है, राजनीति से उस का कोई प्रयोजन नहीं। राजनीतिक दृष्टि से भी ऊंचे से ऊंचे आदर्श को सामने रख कर स्थापित किये गये आर्यसमाज का यह सहज नैतिक पतन एक स्वतन्त्र अथवा पृथक् लेख का विषय है।

—:o:—

अकालों की करुण-कथा

यद्यपि अठारहवीं शताब्दी में भारत की दशा बहुत खराब हो गई थी, तथापि उन सौ सालों में चार बार से अधिक अकाल नहीं पड़ा था। लेकिन १९वीं सदी में अंग्रेजी राज्य फैलते ही हमारी सुजला सुफला शस्यश्यामला भारत-भूमि में देशव्यापी और भीषण दुर्भिक्ष ने अपना घर बना लिया। सन् १८०१ से १८२५ तक भारत में अकाल से १० लाख आदमी मरे। क्रमशः बढ़ते बढ़ते १९वीं सदी के उत्तरार्ध के १८ दुर्भिक्षों में प्रायः २ करोड़ ६० लाख आदमी मरे। इनमें से केवल १० वर्ष के अन्दर १ करोड़ ६० लाख भारत के लाल हा अन्न! हा अन्न!! करते हुए क्षुधा की भीषण यन्त्रणा में छटपटा कर मर गये। इस हृदय-विदारक दुर्घटना पर हतभाग्यों को सम्बोधन कर मि० डिग्बी ने लिखा था— You have died, you have died uselessly"

१७९३ से १९०० तक पृथ्वी भर में ५० लाख से अधिक आदमी नहीं मरे। पर इसी समय भारत में सवा दो करोड़ आदमी भूख से मर गये!

—:—

भूमि-समस्या

(ले०—चौ० मुख्त्यारसिंह भू० पू० एम० एल० ए०)

किसानों की भूमि-समस्या आजकल की महत्वपूर्ण समस्याओं में से एक है। चौ० मुख्त्यारसिंह भू० पू० एम० एल० ए० इस विषय पर अधिकार-पूर्ण लिख सकते हैं। उन की लिखी Rural India' अत्यन्त प्रामाणिक पुस्तक है।

इस लेख में उन्होंने सरकार को परामर्श दिया है कि यही समय है जब सरकार को बहुत कम सूद पर रुपया मिल सकता है। उसे सब जमींदारों से जमीन खरीद कर किसानों को बेच देनी चाहिये और ५०-६० साल की किश्त बांध देनी चाहिये। इस तरह कुछ ही समय में किसान भूमि के मालिक बन सकते हैं।

भगवान ने मनुष्य को जीविका उपार्जन करने के लिए भूमि उपहार में दी है और उस का घटाना या बढ़ाना मनुष्य के अधिकार से बाहर है। यह सम्भव है कि किसी भूमि को जहां पानी खड़ा रहा है अथवा किसी और प्रकार से उसकी उर्वराशक्ति नष्ट हो गई हो, मनुष्य ठीक करके भूमि के रकबे में कुछ वृद्धि कर सके। इसी प्रकार भूमि को अनेक कामों में लाकर रकबे में न्यूनता भी की जा सकती है। परन्तु यह वृद्धि और न्यूनता इतनी थोड़ी है कि मनुष्य भूमि के घटाने या बढ़ाने में कोई विशेष महत्व नहीं रखता। यह मनुष्य के अधिकार में है कि वह अपने ज्ञान वा जानकारी से किसी खेत से एक मन फी बीघा अथवा १० मन फी बीघा गेहूं पैदा कर सके। जब भूमि भगवान का दिया हुआ उपहार है और उसकी उपज का न्यून या अधिक होना मनुष्य के परिश्रम पर निर्भर है तो प्रत्येक जाति और देश का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे नियम बनाये, जिस से पृथ्वी से अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सके। साधारणतया कोई भी देश ऐसा नहीं है, जिस ने इस समस्या का हल करने का प्रयत्न न किया हो। प्रत्येक देश ने अपने इतिहास और जनता के विचारों के अनुसार भूमि-समस्या का हल किया है। इस छोटे से लेख में भूमि-समस्या सम्बन्धी सभी पहलुओं पर विचार करना असम्भव है, परन्तु एक शब्द में यह कह सकते हैं कि प्रत्येक जाति व देश को वे सब उपाय काम में लाने उचित हैं, जिन से खेत की उपज अधिक से अधिक की जा सके। यदि ऐसा करने में किसी व्यक्ति को हानि भी पहुंचे, तो उसकी परवाह नहीं करनी चाहिये।

भारतवर्ष में

भारतवर्ष में जो नियम भूमि के बांट और उस के स्वत्व के विषय में पाये जाते हैं, वे किसी प्रकार भी आदर्श नियम नहीं कहे जा सकते। जो मनुष्य भूमि से खाद्य पदार्थ उत्पन्न करता है, उसका भूमि पर कोई स्वत्व नहीं है। आज वह इस खेत को जोतता है, कल उसे दूसरे खेत की देख-रेख करनी पड़ती है। जिस देश में यह स्थिति हो, उस में यह असम्भव है कि किसान मन लगा कर खेती कर सकें। जहां किसान को भूमि में कोई अधिकार प्राप्त है वहां उसे जमींदार को कर देना पड़ता है, जो प्रायः इतना अधिक होता है कि उस के देने के बाद किसान के पास कुछ भी नहीं बचता। ऐसे देश में, जिसे कृषि-प्रधान कहा जाता है, खेती करने वालों की दशा अत्यन्त शोचनीय है।

यह सिद्धान्त भली-भांति प्रत्येक देश में माना जा चुका है कि भूमि की उपज बढ़ाने का एकमात्र उपाय यह है कि खेती करने वाले किसानों का भूमि पर सब प्रकार से पूर्ण अधिकार हो जिस से किसान भूमि को अपनी सम्पत्ति समझ कर अपने बच्चों का पालन-पोषण कर सके। जमींदारी अथवा भूमि में अन्य प्रकार के अधिकार रखने वाले मनुष्यों की संख्या प्रत्येक देश में रहती आई है परन्तु प्रत्येक देश के निवासियों ने इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जमींदारों को हटा कर किसान को भूमि का स्वामी बनाना अपना ध्येय समझा है। रूस जैसे देश में तो जमींदारों को कुछ दिये बिना ही उन की भूमि छीन कर किसान को स्वामी बना दिया गया है। बहुत से देशों में समाज में घोर परिवर्तन करना उचित नहीं समझा गया और सरकार की तरफ से जमींदारों को जमीन खरीद कर किसानों को खरीदने की सुविधा पैदा करके भूमि के अधिकार खेती करने वालों को दे दिये गये हैं।

किसानों का भूमि पर स्वामित्व

हमारे देश में कौन तरीका काम में लाना चाहिये इस बात का विचार हमें करना है। हमें यह कहने में तनिक भी आपत्ति नहीं कि आज कल की अवस्था कदापि संतोषजनक नहीं कही जा सकती। जो किसान खाने के लिए अन्न, वस्त्र के लिए कपास पैदा करता है वह भूखा और नंगा रहता है। दूसरे मनुष्य जो उससे ५० वां भाग भी काम नहीं करते वे अधिक खा-खाकर अजीर्ण दूर करने के लिए औषधि-सेवन करते हैं, उत्तम से उत्तम वस्त्र पहन कर न केवल वर्षा गर्मी और जाड़े से अपने शरीर को बचाते हैं, प्रत्युत वस्त्र पहनना शरीर की शोभा के लिए आवश्यक समझते हैं। भूमि पर किसान का स्वत्व पैदा करने के लिए एक तरीका यह हो सकता है कि ऐसा कानून पास कर दिया जाय कि जो मनुष्य जिस भूमि को जोतता है, वही उसका मालिक हो और यदि उस की आय इतनी हो कि वह खाने-पीने से कुछ बचा सके तो सरकार को कर दिया करे। यह तरीका बहुत से लोगों को अच्छा प्रतीत होगा परन्तु इस में भी एक आपत्ति है। उन लोगों को, जिन्होंने बहुत सा धन दे कर भूमि के स्वामित्व को खरीदा है बिना कुछ दिये राजा से रंक बना देना कहां तक न्याय्य और उचित है? यह ठीक है कि प्राचीन काल में राजा तक भी भूमि का राजा न समझा जाता था परन्तु आज दशा बदल गई है और प्राचीन नियमों को आदर्श समझना ठीक नहीं है।

दूसरा तरीका, जो हमारे विचार में न्यायपूर्ण और सम्भव प्रतीत होता है यह है कि साधारण जमींदारों की जमींदारियां सरकार खरीद ले और उन्हें किसानों को लम्बे ऋण पर बेच दे। उस ऋण का सूद न्यून से न्यून होना चाहिये और उसकी अवधि ५० या ६० वर्ष की हो। जितना कि किसान आज लगान देता है वह उतना या उससे न्यूनाधिक उस समय तक देता रहे, जब तक वह भूमि का पूरा मूल्य अदा न कर दे। इस प्रकार कुछ दिनों में किसान अपनी भूमि के मालिक बन जावेंगे और यह समस्या बहुत दूर तक हल हो जायगी। जर्मनी व इङ्गलिस्तान आदि देशों में इस प्रकार के कानून बनाये जा चुके हैं और उनपर कार्य भी किया गया है। डेनमार्क जो आज सारी दुनिया में कृषि की वस्तुएं दूध, मक्खन आदि पैदा करने में अग्रणी है, स्वयं आज से ४० वर्ष पूर्व बड़ी हीन अवस्था में था। आज उसकी अवस्था के उन्नत होने का सबसे बड़ा कारण यही है कि वहां १०० पीछे ९९ किसान ऐसे हैं, जो भूमि के स्वयं स्वामी हैं। यह दशा स्वयं पैदा नहीं हुई परन्तु सरकारी नियमों के अनुसार धीरे-धीरे किसानों के लिये भूमि खरीद कर उनको स्वामी बनाया गया है और आज यह देश संसार में इस बात के लिये अग्रसर है कि वहां प्रत्येक किसान भूमि का स्वामी है।

आज सौभाग्य से देश में यह स्थिति आ पहुंची है कि सरकार बहुत थोड़े सूद पर सुगमता से रुपया उधार ले सकती है। जमींदारों की जमींदारियां आज से १० साल की अपेक्षा आधे और चौथाई दामों पर मिल सकती हैं। वस्तुतः यह कहना सर्वथा सत्य है कि भूमि खरीदने के लिये यह उत्तम से उत्तम समय है और जाति की उन्नति के लिये सस्ते दर पर रुपया ऋण लेने के लिये भी आदर्श समय है। यदि सरकार कर्ज लेकर जमींदारों की भूमि खरीदकर किसानों को भूमि का मालिक बना दे और वह कर्ज किसान को उसी मद पर देकर धीरे-धीरे वसूल करे तो बड़ी सुगमता से किसान अपने खेत का स्वामी बनाया जा सकता है।

यह ठीक है कि ऐसा करने में कर लगाने के अपने नियमों में सरकार को परिवर्तन करना होगा और यह भी सम्भव है कि उस कमी को पूरा करने के लिये जो मालगुजारी हानि में होगी नये कर लगाने पड़ें, परन्तु भूमि पर किसानों का स्वामित्व अत्यन्त आवश्यक है इसीलिये उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को किसी तरह दूर करना ही होगा।

—०—

फासिज्म और समाजवाद

(ले०—श्री सम्पूर्णानन्द बनारस)

संसार की अन्तर्राष्ट्रीय प्रगति को समझने के लिये फासिज्म और समाजवाद के संघर्ष को समझना जरूरी है। लेखक की सम्मति मे भारतीय कांग्रेस में भी फासिज्म जोर पकड़ रहा है। यह फासिज्म क्या है समाजवाद क्या है और इनका पूंजीवाद से क्या सम्बन्ध है, इन सब विषयों की चर्चा विद्वान् लेखक ने इस लेख मे भलीभांति करते हुए बताया है कि पूंजीवाद के सशक्त, सन्नद्धरूप का नाम ही फासिज्म है। अभी एक बार इसका फिर बोलबाला होगा परन्तु रात के बाद दिन की तरह इसकी भी प्रतिक्रिया होगी और उग्र पूंजीवाद के स्थान पर उग्र समाजवाद स्थान लेगा।

समाजवाद और फासिज्म

इधर कुछ दिनो म यूरोप मे समाजवाद (साम्यवाद या ` - ali) के साथ ही फासिज्म का प्रचार बढ रहा है। समाजवादी राज्य तो एक रूस ही है, पर फासिज्म के सिद्धान्त के अनुसार—यद्यपि सिद्धान्त के स्थान पर पद्धति कहना अधिक उचित होगा क्योंकि फासिज्म का कोई सिद्धान्त, कोई दार्शनिक आधार नहीं है—चालित होने वाले इटली और जर्मनी दो राज्य वर्तमान हैं। आस्ट्रिया का शासन भी उसी ढग का है और ब्रिटेन में नेशनलिस्ट सरकार तथा अमरीका मे रूजवल्ट भी देश पात्र के अनुसार उसी ओर झुक रहे हैं। इस का अर्थ यह हुआ कि फासिज्म इस समय अधिक जोर पकड रहा है। यह स्वाभाविक भी है। वस्तुत समाजवाद ने ही फासिज्म को जन्म दिया है। समाजवाद के आचार्य कार्ल मार्क्स ने जर्मन दार्शनिक हीगेल के डायलेक्टिकल मेथड' को मान लिया है। हीगल की अन्य बातों को न मानने हुए भी उन्होंने यह स्वीकार कर लिया है कि इस जगत् का विकास 'डायलेक्टिकल विधि मे होता है। यह सिद्धान्त यों समझ में आ सकता है। साधारण तर्कशास्त्र के अनुसार तो दो विरोधी वस्तुयें एक साथ नहीं रह सकतीं। प्रकाश और अप्रकाश का कोई मेल नहीं है। पर जगत् मे—जीवित विकासमान जगत् में—दूसरी ही बात है। जो वस्तु किसी क्षणविशेष में होती है, वह अपनी विरोधी वस्तु को जन्म देती है या व्यक्त करती है। दूसरे क्षण मे यह विरोधी वस्तु प्रधान हो जाती है और पहली वस्तु तिरोहित हो जाती है। और तीसरे क्षण मे इन दोनों विरोधियो के संयोग से एक तीसरी ही वस्तु बन जाती है जिस में इन दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है। अब फिर वही क्रिया चलती है। फिर इस का विरोधी व्यक्त होता है, फिर दोनो के संयोग से नयी वस्तु बनती है। हमने वस्तु शब्द का प्रयोग किया है पर इस में अवस्था का भी अन्तर्भाव है। यदि पहली वस्तु को 'वाद कहें तो दूसरे को प्रतिवाद और तीसरी को 'युक्तवाद कह सकते हैं। हीगेल और उस के बाद मार्क्स ने इन्हें थीसिस, ऐण्टिथीसिस और सिनथिसिस कहा है। यदि जगत् के आदि मे शुद्ध चेतन अहम् की सत्ता थी तो उस ने स्वयं प्रतिक्रिया-स्वरूप अचेतन अनहम्' सत्ता को व्यक्त किया और फिर इन दोनों के मेल मे अहमनहम् चेतन-अचेतन सत्ता उत्पन्न हुई। इसी प्रकार सीढी-सीढी उतरते उतरते जगत् का वर्तमान रूप बना है। यह नियम अध्यात्म की ही भांति राजनीति धर्म और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में भी लागू है। क्रिया से प्रतिक्रिया अवश्य उत्पन्न होती है पर बाद में क्रिया-प्रतिक्रिया म मिल कर कोई तीसरी ही चीज उत्पन्न होती है। कुछ काल में यह तीसरी चीज अपनी प्रतिक्रिया पैदा करती है। यों ही घटनाचक्र चलता है। पुराने इतिहास मे बहुत दूर तक जाने की आवश्यकता नहीं है पर उस युग पर ध्यान दीजिये जब वह पद्धति, जिसे पूंजीवाद कहते हैं, सर्वत्र स्थापित हो गई थी। वह युग अब भी चला नहीं गया है पर जा जरूर रहा है। धर्माचार्यों, राजपुरुषो पत्रकारों विद्वानों सब ने हो इसकी प्रशंसा की थी और और उस स्वार्थ और प्रतियोगिता-बुद्धि को जो इस की तह मे है उन्नति का मूलमन्त्र ठहराया था। जिस स्वार्थ म प्रेरित होकर पूंजीपति स्वयं कमाने मे प्रवृत्त होता है वह परार्थ का साधक माना गया और जिस लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य दूसरो को हटा कर स्वयं आगे बढना चाहता है वह सभी मनुष्यो मे व्यापक होने मे उन्नति का ईश्वरनिर्मित सोपान (सीढी) माना गया। परन्तु पूंजीवाद बहुत दिनों तक अकेला टिक नहीं सकता था। वह इस बात पर निर्भर था कि पूंजीपतियों मे अनियन्त्रित प्रतियोगिता हो और श्रमिक मजदूरी लेकर मालिकों के लिये चुपचाप काम करते जायं। यह बात चिरस्थायी नहीं रह सकती थी। इस वाद का प्रतिवाद भी व्यक्त होना ही था। पूंजीवाद ने स्वयं समाजवाद को जन्म दिया। इस बात को सभी समाजवादी मानते हैं कि यदि पहले पूंजीवाद न आता तो समाजवाद के लिये कोई स्थान न था। समाजवाद प्रत्येक समाज के लिये प्रत्येक अवस्था के लिये उपयुक्त और आवश्यक नहीं है पर समाजवाद भी डायलेक्टिक नियम के भीतर है। समाजवाद का प्रचार होगा पर बाद म सम्भवत. किसी ऐसे युक्तवाद' का प्रचार होगा जिसमे पूंजीवाद और समाजवाद दोनों का अन्तर्भाव हो जायगा। कुछ लोगों की धारणा है कि फासिज्म ही यह अपेक्षित युक्तवाद है, वह पूंजीवाद और समाजवाद का समन्वय कराने आया है। पर यह धारणा गलत है। अभी समाजवाद का काफी प्रचार नहीं हुआ, उसने पूंजीवाद को पूर्णतया परास्त ही नहीं किया है। अत अभी किसी युक्तवाद या किसी प्रकार के समन्वय का समय ही नहीं आया है। फासिज्म समाजवाद के विरुद्ध अवश्य है पर उस प्रकार नहीं जिस प्रकार कि प्रतिवाद वाद के विरुद्ध होता है। वस्तुतः फासिज्म पूंजीवाद का ही एक रूप है। पूंजीवाद ने ही समाजवाद का मुकाबिला करने के लिये फासिज्म का रूप धारण कर लिया है। थोड़ा सा विचार करने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

नाजी अपने को फासिस्ट नहीं कहना चाहते। ऐसा कहने से हिटलर को मुसोलिनी का शिष्य मानना पड़ेगा। पर दोनो विचारधाराओं के ही फलस्वरूप 'कार्पोरेट स्टेट' स्थापित हुई है। दोनो की शासन-विधि मे बहुत अन्तर है पर एक बात जो स्पष्ट और निर्विवाद है वह यह है कि दोनों ने निजी सम्पत्ति की रक्षा का बीड़ा उठाया है। समाजवादियों के विभिन्न सम्प्रदायो मे इस विषय मे मतभेद हो सकता है कि व्यक्तियो के पास घर मकान, रुपया-पैसा आदि थोडी बहुत निजी सम्पत्ति रहने पाये या न रहने पाये पर इस बात में तो सभी का एक मत है कि उत्पादन, विनिमय और वितरण के मुख्य साधन — कल-कारखाने जमींदारिया खान रेल, जहाज बैंक — यह सब समाज की सम्पत्ति हो जायं। इसी स्थल पर फासिज्म के सब सम्प्रदायों का मतैक्य देख पडता है। क्या इटली मे और क्या जर्मनी में, यह बात साफ कर दी गई है कि इस प्रकार की सम्पत्ति पूर्ववत् व्यक्तियो और कम्पनियों के ही हाथ मे रहेगी। समाज की या राष्ट्र की सम्पत्ति न बनाई जायेगी। इस का तात्पर्य यह है कि इन देशों के पूंजीपतियों को एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करने और एक दूसरे को तबाह करने, अपने देश के और दूसरे देशों के गरीबों को तबाह करने दुर्बल देशों को गुलाम बनाने और समय समय पर पृथ्वी को रक्तरंजित कराने का अवसर मिलता आयगा और इन के लिए धन कमाने वाले श्रमिक मजदूर के मजदूर रह जायेंगे। रूस तक में जहां श्रमिकों का राज है, हड़ताल करने का अधिकार है, पर जर्मनी और इटली में नहीं है, उल्टे

कांग्रेस पार्लमेन्टरी बोर्ड के सूत्रधार

का० पा० बोर्ड के अध्यक्ष

डा० एम० ए० अन्सारी

मद्रास का० पा० बोर्ड के संयोजक

श्री० एस० सत्यमूर्ति

बोर्ड के परम सहायक

श्री राजगोपालाचार्य

का० पा० बोर्ड के स्थानापन्न अध्यक्ष

मौ० अबुलकलाम आजाद

बिहार में बोर्ड के मुख्य सहायक

बा० राजेन्द्रप्रसाद

का० पा० बोर्ड के मुख्य कर्णधार

महात्मा गांधी

बम्बई बोर्ड के संयोजक

श्री भूलाभाई देसाई

पंजाब व यू० पी० बोर्ड के संयोजक

बैरिस्टर आसफअली

बम्बई में बोर्ड के मुख्य सहायक

सरदार वल्लभभाई पटेल

बंगाल बोर्ड के संयोजक

डा० विधानचन्द्र राय

बोर्ड में सिक्खों के प्रतिनिधि

सरदार शार्दूलसिंह कवीश्वर

श्रमिकों की सभी संस्थायें तोड़ दी गई हैं। समाजवाद पूर्णरूपेण लोकतंत्रात्मक है और समाज को वर्गहीन बनाना चाहता है। यह दूसरी बात है कि उसे कुछ दिनों के लिए अहलकारी शासन कायम करना पड़ा है। इस के विरुद्ध इन देशों में वर्ग-विशेष का आधिपत्य कायम रक्खा गया है और अधिनायक-तन्त्र (Dictatorship) इस का शुद्ध रूप है।

फासिस्ट सरकारें पूंजीपतियों पर भी कुछ न कुछ नियन्त्रण करती हैं। मजदूर हड़ताल नहीं कर सकते, पर उन से काम लेने के लिए कुछ नियम बनाये जाते हैं। माल कितना पैदा किया जाय, किस प्रकार बचा जाय, इन बातों पर भी ध्यान दिया जाता है। यह सब पूंजीवाद के ही हित की बात है। पूंजीपतियों ने यह देख लिया है कि अनियन्त्रित प्रतियोगिता उन के लिए घातक है। यदि बिना सोचे-समझे सब लोग माल तैयार करते चले जायं तो आपस में लड़ कर एक दूसरे को ही नष्ट कर देंगे और पूंजीवाद (पूंजीपति राज्य) का ही अन्त हो जायगा। मजदूरों को तो बोलने का अधिकार नहीं है, पर उन को आराम से रखना तो जरूरी है ही। लोग अपने घोड़ों, बैलों को कोई विशेष अधिकार नहीं देते, पर जब उन से काम लेना है, तो कुछ शारीरिक आराम तो देने ही हैं। सरकारें भी पशुओं के साथ निर्दयता को दण्ड समझती हैं। इसी दृष्टि से इन देशों में श्रमिकों के लिए भी कुछ विधान हैं और बन रहे हैं। इस प्रकार इन देशों में जो नियन्त्रण पूंजीपतियों की गति-विधि पर हो रहा है वह पूंजीवाद की रक्षा के लिए ही है। एक देश के पूंजीपति कुछ लोभ-संवरण करके ही दूसरे देश के पूंजीपतियों से लड़ने में समर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार की लड़ाई अवश्यम्भावी है। समाजवाद का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय है। राष्ट्रीय समाजवाद अधूरा है। समाजवाद की सफलता इसी में है कि सब देश आपस में सहयोग करें परन्तु पूंजीवाद की आत्मा प्रतिस्पर्धा है। यह प्रत्यक्ष है कि रूस का लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय है पर इटली और जर्मनी जैसे देश राष्ट्रवादी हैं। उन के यहां बच्चे बच्चे को यह शिक्षा दी जाती है कि राष्ट्र ही सब कुछ है, अपने राष्ट्र को अन्य सब राष्ट्रों से ऊपर उठाओ, अन्य राष्ट्रों के हित को अपने राष्ट्र के हित का साधन बनाओ।

इन बातों से स्पष्ट है कि फासिज्म समाजवाद के विरुद्ध है। यदि उसे प्रतिक्रिया कहें, तो वह ऐसी प्रतिक्रिया या प्रतिवाद नहीं है जिस से आगे चल कर कोई उपयोगी युक्तवाद, कोई सच्चा समन्वय, निकल सकता है। वह उस पूंजीवाद का ही उग्र रूप है जिस के विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप समाजवाद का जन्म हुआ है। रूस में पूंजीवाद का पूर्णरूपेण विकास नहीं हुआ था, इसीलिए वह समाजवाद का खुल कर विरोध न कर सका पर जिन देशों में पूंजीवाद विकसित रूप में है, उन में वह अपने को तयार कर रहा है। उस के इस सशस्त्र सन्नद्ध रूप का ही नाम फासिज्म है।

१९१७ में पूंजीपति तैयार न थे पर अब उन को अवसर मिल गया है। एक बार फासिज्म का बोलबाला होगा। भारत में भी वह सिर उठा रहा है। नाम को तो समाजवादी संस्थायें खुल रही हैं, पर स्वयं कांग्रेस के भीतर फासिज्म जोर पकड़ रहा है। परन्तु जिस प्रकार रात के बाद दिन आता है, उसी प्रकार उसकी प्रतिक्रिया होगी। उग्र पूंजीवाद का प्रतिवाद उग्र समाजवाद ही हो सकता है।

——:——

भारत-विजय की खूबी

अंग्रेजों की भारत-विजय करने की खूबी इस बात में है कि इस विजय में आदि से लेकर अन्त तक ब्रिटेन को अपने पास से एक भी पैसा खर्च नहीं करना पड़ा। अंग्रेजों ने भारत को इसी के रुपये और इसी के रक्त से जीता है। इस के पश्चात् एशिया में ब्रिटेन ने देश जीतने, व्यापार बढ़ाने, अन्वेषण करने आदि में जो भी धन व्यय किया वह सब भारत के कोष से चुकाया गया। जो लाभ हुआ वह सब का सब अंग्रेजों की जेब में गया और जो हानि हुई वह सब की सब भारत के मत्थे मढ़ी गई।'

—लाजपतराय।

—:०:—

कांग्रेस और असेम्बली

श्री आर० एस० पण्डित स्व० प० मोतीलाल नेहरू के दामाद हैं। आप इलाहाबाद के प्रमुख कांग्रेसी कार्यकर्ता, विद्वान् और अच्छे लेखक हैं। इस लेख मे आपने सरकार के सुधारों का रहस्योद्घाटन करते हुये बताया है कि असेम्बली, अन्य सरकारी संस्थाओं तथा सुधारों का उद्देश्य राजनीतिक संग्राम से नेताओं का ध्यान हटा कर अपने मायाजाल में फंसाना है। इसलिये कांग्रेस को असेम्बली-निर्वाचन की भूल नहीं करनी चाहिये।

कांग्रेस भारतवर्ष का सब से बड़ा राजनीतिक संगठन है। और इसी में आज कल सब से अधिक मतभेद उठ खड़े हुए हैं। जो साथी एक समय कन्धे से कन्धा भिड़ा कर एक ही उद्देश्य की सिद्धि के लिये जूझ रहे थे, उन्हीं में आज राजनीतिक मतभेद ने कड़आपन उत्पन्न कर दिया है। इतिहास हमे बतलाता है कि स्वतन्त्रता के संग्राम मे ऐसी घटनायें अन्य देशों में भी हुई है। इस कारण वर्तमान परिस्थिति पर शान्तिपूर्वक विचार करना कम मनोरंजक नहीं होगा।

सन् १९२९ में काग्रेस का जो अधिवेशन लाहौर में हुआ था, उस के बाद से भारतवर्ष का ध्येय पूर्ण स्वराज्य घोषित किया जा चुका है। जबतक हमारा ध्येय तथा लक्ष्य यह है, तब तक इस की प्राप्ति के लिये जो भी उपाय बतलाये जायेंगे, उन का मूल्य इसी बात से आंका जायगा कि वे पूर्ण-स्वराज्य की प्राप्ति में कहां तक सहायक हैं।

सुधार की वास्तविकता

आज हमारे देश पर ब्रिटिशों का अधिकार है। और वे अर्थ, सेना, व्यापार व्यवसाय, नौकरियों और वैदेशिक सम्बन्धों आदि पर अपना नियन्त्रण रख कर चाहते हैं कि अधिक से अधिक जितनी देर हो सके, उतनी देर तक यहां उन का ही राज्य बना रहे। वे खूब जानते है कि अब तक वे जिन उपायों से यहा राज्य करते रहे है, वे अब पुराने हो चुके हैं और यदि ब्रिटिश शासन के जहाज को निर्विघ्न तथा बिना रोक-टोक चलाना हो तो इन उपायों में परिवर्तन करना पड़ेगा। इसलिये वे हम को कुछ ऐसे 'शासन-सुधार' देने को तय्यार हैं, जिन से ऊपर से तो यह मालूम पड़े कि ब्रिटिशों ने अधिकार छोड़ दिये है और वे ऐसे बहुत से भारतीयों को भी देश के शासन में भाग लेने का अवसर दे रहे हैं, जो उन की तरफ रहेंगे, परन्तु वस्तुतः उन के द्वारा हमें मतलब की कुछ चीज नहीं मिलेगी और सारी शक्ति ब्रिटिशों के ही हाथ में रहेगी।

यह स्पष्ट है कि कोई भी शासन की शक्तियों को बिना विवशता के नहीं छोड़ता। जो एक बार घोड़े पर सवार हो जाता है, वह आप कभी नहीं उतरा करता और न काठी तथा घोड़े को ही छोड़ना चाहता है। ब्रिटिश लोगों को अभिमान है कि उन्होंने भारतीय साम्राज्य का विजय तलवार के बल से किया है और तलवार से ही वे उसे अपने कब्जे में रखेंगे। ऐसे अभिमानी लोग, उदारता की झोंक मे आकर अपनी महत्वाकांक्षाओं और लाभों को भूलने वाले नहीं हैं। वे भीख मांगने वालों को स्वराज्य उपहार मे नहीं देंगे। जिन माडरेटों, लिबरलों और कान्स्टिट्यूशनलिस्टों (वैध उपाय-वादियो) आदि को इंग्लैण्ड की उदारता मे विश्वास है, उन के विषय मे

ले०—श्री० आ० र० एस० पण्डित

हम इतना ही कह सकते हैं कि वे 'शेखचिल्ली की दुनिया' मे बसते हैं। लेजिस्लेटिव कौंसिलों आदि मे वोट प्राप्त करने में सफल होकर भी वे ब्रिटिश सेनानियों और ब्रिटिश साम्राज्य-लोलुपों के उत्तराधिकारी नहीं बन सकते। कमाण्डर-इन-चीफ ने हाल मे कौंसिल आफ स्टेट, शिमला, में जो भाषण दिया था, वह बहुत स्पष्टोक्तिपूर्ण था। उसमे सिपाही ने अपने दिल की बात कह दी। साधारणतया ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपने मन की बात इस प्रकार खुल्लमखुल्ला नहीं कहता। हम कमाण्डर-इन-चीफ के कृतज्ञ है कि उन्होंने अपना इरादा स्पष्टता से प्रकट कर दिया। अब मोडरेटों और लिबरलों का भी सन्देह मिट गया होगा। हमने बेशक सीमाप्रान्त की घाटियों में गोली की सनसनाहट नहीं सुनी, परन्तु हम में से बहुतों ने जलियावालाबाग, पेशावर और इलाहाबाद आदि की गलियों में ब्रिटिश शासकों द्वारा निहत्थे लोगों पर बरसायी गयी गोलियों की गड़गड़ाहट अवश्य सुनी है। सच तो यह है कि यदि ब्रिटिश सरकार भारत को 'शासन-सुधारों' के बजाय किसी सन्धि द्वारा पूर्ण स्वतन्त्रता दे भी दे, तो वह उस कागज के मूल्य की भी नहीं होगी, जिस पर वह लिखी जायगी।

आजकल मिश्र और ग्रेट ब्रिटेन मे एक सन्धि है, जिसके अनुसार ग्रेट ब्रिटेन ने मिश्र की स्वतन्त्रता स्वीकार की हुई है। तो भी देश पर और उसके किलों आदि पर कब्जा ब्रिटिश सेना का ही है और मिश्र पार्लमेण्ट ऐसा कोई कानून पास नहीं कर सकती, जिसका मिश्र-स्थित ब्रिटिश प्रतिनिधि विरोध कर दे। इससे स्पष्ट है कि केवल वही स्वतन्त्रता ग्रहण करने योग्य है, जो अपने बल से प्राप्त की गयी हो और उसी बल से हम उसकी रक्षा भी कर सकते हैं।

भारत के साथ की हुई ब्रिटिश प्रतिज्ञाओं का वास्तविक रूप जैसा जलियावालाबाग की दुर्घटना ने प्रकट किया, वैसा उससे पूर्व कभी प्रकट नहीं हुआ था। इसी के बाद से भारतीयों ने ब्रिटिश साम्राज्य-लोलुपता तथा सैनिक प्रबलता का विरोध करना आरम्भ किया। इसके बाद का कांग्रेस का इतिहास उस असाधारण उन्नति की कहानी है, जो भारतीय जनता ने म० गांधी के नेतृत्व में राजनीतिक जागृति के रूप में की है।

संगठन तथा अहिंसा

महात्मा गांधी के हम बहुत ऋणी तथा कृतज्ञ हैं कि उन्होंने राजनीतिक कार्यकर्ताओं की शक्ति को ब्रिटिश सरकार के पास निष्फल प्रार्थनापत्र भेजते रहने से हटाकर जनता को जागृत तथा संगठित करने में लगा दिया। उपायों का यह महत्वपूर्ण परिवर्तन ही वर्तमान काल के राजनीतिक इतिहास में म० गांधी का सबसे बड़ा काम है। जनता का सफल संगठन ही हममें उस बल तथा शक्ति को उत्पन्न करेगा, जिससे विदेशी शासकों को भारत-निवासियों के साथ हिसाब साफ करने के लिये मजबूर किया जा सकेगा। बिना जनता का संगठन किये, शस्त्र-बल तथा हिंसा के आधार पर दृढ़ता से संगठित हुए हुए लोगों का सामना करना सुगम कार्य नहीं है।

महात्मा गांधी का दूसरा महत्वपूर्ण काम हमारे राजनीतिक उपायों मे अहिंसा का समावेश है। इस का महत्व हम ने अभी उतना नहीं समझा है, जितना आगे आकर समझेंगे। भारत सरीखे बड़े और राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक भेदों प्रभेदों से बिखरे हुये देश में, बिना पूर्ण शान्त वातावरण के, किसी भी प्रकार की राजनीतिक उन्नति का होना अथवा विवादास्पद मामलों का सुलझाना आसान काम नहीं है। सीधी लड़ाई को सफल होना हो तो वह संगठित जनता की लड़ाई होनी चाहिये। संगठित जनता बड़ी भारी शक्ति होती है। अहिंसा के आधार पर संगठित होने से उसका बल घट नहीं जाता, यह निर्बलों का नहीं, स-बलों का शस्त्र है। यदि संगठन अहिंसा के आधार पर किया जाय तो अपना मुख्य उद्देश्य सदा सामने रहता है, हिंसा अथवा दंगा-झगड़ा हो जाने से मुख्य उद्देश्य दृष्टि से ओझल हो जाता है।

सुधारों का उद्देश्य

स्वतन्त्रता का संग्राम एक बार शुरू हो कर फिर रुक नहीं सकता। भारतीय राष्ट्रीयता और ब्रिटिश साम्राज्य-लोलुपता में कोई सुलह नहीं हो सकती। जब तक स्वतन्त्रता नहीं मिल जाती, तब तक इसका संघर्ष भी जारी रहेगा। इसी भय से बचने के लिए ब्रिटिश सरकार लोगों का ध्यान ऐसे अवान्तर कामों की तरफ खींचने का यत्न
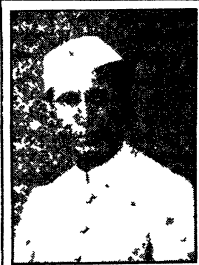
कर रही है, जिन से स्वातन्त्र्य-संग्राम निर्बल पड़ जाय। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए ब्रिटिश सरकार का मुख्य साधन 'शासन-सुधारों' का देना है। इन शासन-सुधारों पर अमल करने में साम्राज्य-लोलुपों से कुछ न कुछ सहयोग करना ही पड़ेगा, जिससे देश में आन्दोलन का वेग मन्द पड़ जायगा और हमारा बहुत सा बल ऐसी धारा-प्रधाराओं में बह जायगा, जो हमारे विरोधियों ने विशेष इसी प्रयोजन से जारी की है।

सरकार की रियासती-नीति

हमारा संघर्ष अब एक ऐसी मंजिल पर पहुंच चुका है जहां पहुंचने के पीछे कांग्रेस उसे राजाओं जमींदारों और किसानों मालिकों और मजदूरों मिल-मालिकों, पूंजीपतियों और श्रमजीवियों सरीखे विविध विरोधी स्वार्थों के लोगों की श्रेणी-विशेष में नियन्त्रित करके नहीं रख सकती। यह संघर्ष अब तो भविष्य में अधिकाधिक लूटने और लुटने वालों — चाहे लुटेरे ब्रिटिश हों चाहे भारतीय — के बीच में ही चलेगा। इसी कारण ब्रिटिश लोग तमाम अधिकार-प्राप्त स्वार्थी लोगों को अपने साथ मिला लेने की आशा रखते हैं। यदि इसमें उन्हें सफलता हो गई तो वे भारतवर्ष में हिटलर से भी बढ़ कर हिटलर-शाही स्थापित कर देंगे। अधिकार-प्राप्त स्वार्थी लोगों को अपने साथ मिलाने की ब्रिटिश-नीति का उदाहरण लेना हो तो भारत के देशी राजाओं के साथ ब्रिटिश सरकार के व्यवहार को देख लीजिये। एक समय था जब देशी रियासतों के शासक ब्रिटिश सरकार के प्रबल सन्देह का लक्ष्य बने हुए थे और उन्हें सदा एक दूसरे से अलग रखने का यत्न किया जाता था। बाद को उन के पुत्रों को विशेष रूप से अंग्रेज अध्यापकों द्वारा और विशेष कालिजों में शिक्षित किया जाने लगा ताकि वे ब्रिटिश प्रभुता का आदर करना सीखें और जब उनको शासनाधिकार दिये जायं तब वे जिला-अधिकारियों की तरह ब्रिटिश सरकार की हिदायतों पर ही सब काम करें। जब इतना काम हो गया, तब सरकार को राजाओं के परस्पर मिलने-जुलने में कुछ उज्र नहीं रहा बल्कि राजाओं के लिए एक नरेन्द्र-मण्डल की सृष्टि कर दी। राजाओं को उस मण्डल में आ कर अपनी राजनीतिमत्ता प्रदर्शित करने के लिए उत्साहित किया गया, ताकि ब्रिटिश साम्राज्य-लोलुपता की उद्देश्य-सिद्धि में सहायता मिल सके। परन्तु जब देश में ब्रिटिश साम्राज्य-वाद से छूटने का आन्दोलन अधिक जोर पकड़ गया और नरेन्द्र-मंडल निष्प्रयोजन हो गया, तब सरकार के प्रयत्न दूसरी दिशा में बदले कि केन्द्रिक शासन के अन्तर्गत एक फेडरल चेम्बर बनाकर उसमें राजाओं के मतों का लाभ उठाया जाय। भारत की बहुत सी बड़ी बड़ी रियासतों का शासन आज ब्रिटिश सरकार के 'रिटायर्ड' अफसरों अथवा 'उधार दिये हुये' अधिकारियों द्वारा हो रहा है। रियासतों के अन्दरूनी मामलों में दस्तन्दाजी न करने की पुरानी नीति यद्यपि अब भी जारी बतलायी जाती है, परन्तु जो कुशासन पहले परोपकार-पूर्ण ब्रिटिश शासन का विरोधी उदाहरण पेश करने के कारण बरदाश्त कर लिया जाता था, वह आज बरदाश्त नहीं किया जाता, क्योंकि सरकार को डर है कि कुशासन से रियासती प्रजाओं में भी ब्रिटिश भारत की प्रजा की तरह आन्दोलन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। जो राजा या नरेश भारत के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन से कुछ भी सहानुभूति दिखाता है या जो अपनी रियासत के आन्दोलन को दृढ़ता से दबाने में असमर्थ रहता है उस को तुरन्त गद्दी से उतार दिया जाता है। इस प्रकार रियासतों के राजा मुहर-मात्र रह गये हैं और जब उन की रियासतों में आन्दोलन कुछ भी बढ़ जाता है तब वे स्वयं शासनाधिकार ब्रिटिश सरकार के उधार दिये हुये अफसरों के हाथ में सौंप देने को और आप नाम-मात्र के राजा रह कर परम्परागत 'राज्याधिकार' भोगने को सदा तय्यार रहते हैं।

कौंसिल बहिष्कार ही उचित है

इसलिये देश के कई माननीय नेताओं के विरुद्ध मेरी नम्र सम्मति है कि यदि कांग्रेस अपनी शक्ति ब्रिटिशों द्वारा बनाये हुये निर्वाचकों के पास जाने और कौंसिलों तथा असम्बली में घुसने में व्यय करेगी तो वह अपना कदम पीछे हटा लेगी; क्योंकि ये कौंसिलें बनाई ही हमें पार्टियों में फाड़ कर हमारे स्वातन्त्र्य-संघर्ष का बल घटाने के लिए गयी हैं। यदि हमारा उद्देश्य तुरन्त ही पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति है ताकि भारतवर्ष के निवासी और भारतवर्ष का प्राकृतिक धन साम्राज्यवादियों की लूट से बच कर संसार के अन्य उन्नतिशाली राष्ट्रों के साथ सहयोग करने में स्वतन्त्र हो सकें तो हम को ब्रिटिश साम्राज्यलोलुपों के साथ किसी भी प्रकार का सहयोग करने से अलग रहना चाहिये। हमारी तमाम शक्तियां भारत की श्रमजीवी जनता के शिक्षण तथा संगठन में लगनी चाहियें क्योंकि यहां हमारे सच्चे निर्वाचक हैं और इन्हीं के हाथ में राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति आने के बाद सच्चा स्वराज्य होगा। हमें उन सब अधिकार-प्राप्त स्वार्थी लोगों का भी विरोध करना चाहिये जो अपने विशेषाधिकारों और विशेष सुखों को बद्ध-मूल करने के लिये ब्रिटिश साम्राज्य-लोलुपों के साथ मिल कर स्वातन्त्र्य-संग्राम का विरोध कर रहे हैं। आज महात्मा गांधी के सन् १९२१ के प्रोग्राम का जमाना नहीं है, शक्ति प्राप्त करने के आगामी संघर्ष में इस से काम नहीं चलेगा। इस में ऐसा परिवर्तन करने की आवश्यकता है कि इसमें जनता को इस प्रकार संगठित किया जा सके कि वह स्वयं देश के तमाम लोगों का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाली कान्स्टिटयूएण्ट असम्बली बुला सके और उसके द्वारा स्वतन्त्र भारत की आवश्यकता के अनुसार अपना शासन-विधान आप बना सके।

—:o:—

'किसी न किसी रूप में हम उस दुःखी देश (भारत) से प्रति वर्ष पूरे ३,००,०० ००० पौंड खींच लेते हैं और वहां के निवासियों की आय की औसत केवल ५ पौंड वार्षिक है या इस से भी कुछ कम।"

—ए० जे० विल्सन

'हमारे देश का सर्वनाश जान-बूझ कर किया गया है। इस लिये ब्रिटिश-शासन को छोड़ कर और कोई भी नाश का असली कारण नहीं कहा जा सकता।'

—लो० मा० तिलक

असि-धारा-पथ-गामी

ओ, असि धारा-पथ के गामी ।
विकट सुभट तुम, अथक पथिक तुम, कण्टक कीर्णित मग-अनुगामी ।।
ओ, असि-धारा-पथ के गामी ।
तुम विकराल मृत्यु-आसन के साधक, तुम नवजीवन दानी ।
तुम विप्लव के परम प्रवर्तक, चरम शान्ति के निष्ठुर स्वामी ।।
ओ, असि धारा-पथ के गामी ।

शत शत शताब्दियो, के पातक पुंज हो रहे पानी पानी ।
अंजलियां भर-भर जीवन शोणित देने वाले तुम निष्कामी ।।
ओ, असि धारा-पथ के गामी ।
हे प्रचण्ड, उद्दण्ड, अखण्ड महाव्रत के पालक विज्ञानी ।
तड़प उठा है यह जग, जरा ठहर जाओ हे मौन अनामी ।।
ओ, असि धारा-पथ के गामी ।

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
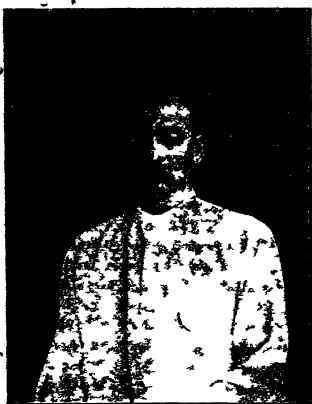
सरदार वल्लभभाई पटेल

गांधीवाद की त्रिमूर्ति

—

वल्लभभाई, राजगोपालाचार्य व राजेन्द्रप्रसाद के शब्दचित्र

— —

(ले०—श्री रामनाथ सुमन)

— —

श्री रामनाथ सुमन

श्री रामनाथ सुमन हिन्दी के उन लेखकों में हैं जिनका भाषा और अपने विचारों पर पूर्ण अधिकार है। किसी वस्तु या किसी व्यक्तित्व का विश्लेषण करने के लिये वे तीक्ष्ण दृष्टि रखते हैं। इस लेख में इन्होंने गांधीजी के तीन प्रमुख अनुयायियों — सरदार वल्लभभाई, राजगोपालाचार्य और बाबू राजेन्द्रप्रसाद — का विश्लेषण करने का सुन्दर प्रयत्न किया है। पाठकों का इससे मनोरंजन होगा और वे अपने नेताओं के व्यक्तित्व और चरित्र को जान सकेंगे।

(१)

वल्लभभाई—'बर्फ से ढका ज्वालामुखी'

वल्लभभाई अपने वर्तमान रूप में भारत को गांधीवाद की देन हैं। इस व्यक्ति को देखिये, इस के कार्य को देखिये और इस के भाषण सुनिये। ऊपर से रूखा, ठण्डा ऊसर, नीचे जिन्दा दिल और दहकता हुआ। यह वह आग है जो कभी ठण्डी नहीं होती। जब सुनिए, वही तीखे, कलेजे के आर-पार हो जाने वाले शब्द, वही तीव्र व्यंग्य। जैसे इस व्यक्ति का जन्म ही विष पीने और विष उगलने के लिए हुआ हो! असहयोग-काल के मौलाना शौकतअली ने ठीक ही कहा था—

'वल्लभभाई बर्फ से ढके ज्वालामुखी के समान हैं'

भारत में केवल दो ही नेता हैं जिनकी वाणी का तेज परिस्थितियों से परे है, वर्षों के दमन ने, घोर आपदाओं ने जिनकी आवाज में करुणा या शिथिलता नहीं आने दी। एक जवाहरलाल, दूसरे वल्लभभाई। ये दीपक की वे शिखायें हैं, जो आंधी और पानी में एक-सी एक लौ से जल रही हैं।

वल्लभभाई गांधीवाद के क्षत्रिय-पक्ष हैं। यह व्यक्ति गांधी की तरह साधक नहीं है और न शिक्षक है, वह एक योद्धा है। वह चोट खाना ही नहीं जानते, चोट करना भी खूब जानते हैं। वह सच्चे सत्याग्रही की तरह अपने को शून्य में नहीं मिला सकते। उन में सत्याग्रही की अजातशत्रुता नहीं है, वीर क्षत्रिय की क्षमा है। इसीलिए वल्लभभाई युद्धकाल में अत्यन्त शक्तिमान हो उठते हैं। तर्क और सैद्धान्तिक दलीलों को कोई आदमी इतनी घृणा मिश्रित अपमानजनक दृष्टि से नहीं देखता जितना वल्लभभाई देखते हैं। वह तो साफ-साफ बातों में विश्वास रखते हैं—जो कहो करके दिखा दो तुम वल्लभभाई के सिर माथे, लच्छेदार शब्दों को वह हेच समझते हैं। इन्हें समझना हो तो वल्लभभाई को तब देखो जब युद्ध का शंखनाद हो चुका हो — जब वातावरण में उत्कण्ठा आकुलता हो और जब ऐसा समय हो कि दिल जोर से धड़कता हो और नाड़ी तेज चल रही हो। छाती में एक आंधी लिए हुए फड़कती भुजायें और शरारत भरी आंखों से युद्ध की ओर एक अद्भुत विनोद के साथ देखने वाला! सिर से पांव तक पोर-पोर उमंगों के सुरूर पर चढ़ा हुआ! एक जीती आग के साथ हंस-हंस कर खेलने वाला राजपूत — यह वल्लभभाई हैं!

यह आदमी अपने जीवन की प्रत्येक सांस के साथ खतरे को प्यार करता है। जोखिम को वह इस तरह अपनाता है जैसे प्रेमी प्रेमिका को। जूझने के लिए उस का दिल सदा बल्लियों उछलता है। उस के लिए इसी में सान्त्वना है। जीवन में और कोई लगाव नहीं, कोई बन्धन नहीं कोई राग नहीं। जूझना ही जूझना है। बारडोली-युद्ध की दावानल जब धधक रही थी तब उस ने कहा था — 'मेरे साथ कोई खिलवाड़ नहीं कर सकता। मैं किसी ऐसे काम में नहीं पड़ता जिसमें कोई खतरा या जोखिम न हो। जो लोग आपत्तियों को निमन्त्रण दें, उनकी सहायता के लिये मैं सदा तैयार हूं। इसीलिये उन समष्टिवादियों (सोशलिस्टों) की कोरी लम्बी चौड़ी बातें तुच्छ प्रतीत होती हैं। वह शुद्ध कर्म का प्राणी है। जो कहो उसे मर्द की तरह करके दिखा दो!'

इस क्षत्रिय ने गांधीवाद को अपनाया तो दिल से है पर उसका स्वभाव लोकमान्य-जैसा है। वह कोमल की अपेक्षा तेजस्वी, विवेकवान की अपेक्षा वीर, साधक की अपेक्षा योद्धा अधिक है। हां, यह है कि स्वभाव के इस लोकमान्यत्व पर गांधी के निकट-सम्पर्क ने मिश्री की कोटिंग कर दी है। गांधी के शठ प्रति सत्य को वह अपनाना तो चाहता है — बहुत कुछ अपना भी लिया है और उसे श्रेष्ठतर भी समझता है पर इन के जीवन तत्वों में वह बिलकुल फिट नहीं होता, मिलकर बिलकुल ही एक नहीं हो जाता, कुछ अलग-अलग सा रहता है। परिस्थिति, बुद्धि, विवेक और दिल से वह गांधी की तरफ झुका हुआ है और प्रकृति, स्वभाव और प्रवृत्ति से लोकमान्य की तरफ। वह दोनों का मिश्रण है — और इतने पर भी उसमें दोनों की कुछ बातें हैं कुछ नहीं हैं।

उस में वह लगन, वह अथक परिश्रम की प्रवृत्ति है जो लोकमान्य की विशेषता थी। लोकमान्य की भांति वह जन सेवा में आत्म-विस्मृत होकर चलता है। लोकमान्य के सदृश ही वह अपने महत्त्व का स्मरण नहीं करता, अपने विषय में बहुत कम लिखता या बोलता है। फिर भी लोकमान्य की भांति वह कूटनीतिज्ञ नहीं, वह योद्धा है। इस विषय में दोनों में तात्विक अन्तर है। राजनीतिज्ञ के लिये उसकी जबान एक अस्त्र है। उस के शब्द स्पष्ट प्रायः दोअर्थी होते हैं। वह अपने मन में अनुभव कुछ करता है पर इस पर पर्दा डालने के लिए कई बार इस से उलटा कहता है। वह अवसर का उपयोग करता है। और योद्धा जिसे हम उपयोगिता कहते हैं उसे

लेकर नहीं चलता, भावना को, स्पिरिट' को लकर चलता है। भौतिक सुविधायें प्राप्त कर लेना उस का उतना उद्देश्य नहीं जितना नैतिक विजय लक्ष्य है। वह खतर को प्यार करता है। वीरता उसकी देवी है, साहस अनुचर। जब आसमान पर ज्वाय छा रही हों तब जहा राजनातिज्ञ क ललाट पर विचार की रखायें होता है और आखों में चिन्ता की छाया, वहा योद्धा का दिल उमग म भरा हुआ अब उमडा अब उमडा ऐसा होता रहता है। इस विषय म लोकमान्य ओर वल्लभभाई म अन्तर है'

गाधी ओर वल्लभ भाई को सामन रखकर देखत है तो उधर भी जहा समानताए हे वहा असमानताए भी कुछ कम नहीं हैं। मैं मात्राओं क अन्तर का बात नहीं कह रहा हू, मरा मतलब प्रवृत्तियों के अन्तर स है। गाधी साधक है। सत्य, आत्म-साक्षात्कार उस का लक्ष्य है। इसलिय स्वभावत उस का जीवन अनावृत—खुला हुआ—है। उसका पथ एक निर्मोही आध्यात्मिक साधक का पथ है पर वल्लभभाइ एक सच्च आम त्यागी की भांति अपन जावन क प्रति मोन हैं। गाधी विरोधी क साथ लडता है, पर युद्ध क समय भी विरोधी के सच्च कल्याण का ध्यान उस रहता है। यह साधक का अन्त -करण क पोर पोर मे भिना हुई उदारता है जिसकी ऊचाई पर वस्तुत कोई शत्रु नहीं रह जाता। वल्लभभाई की उदारता वीर योद्धा की उदारता है जो छिपकर वार करना नहीं जाननी पर सामन का लडाई मे शत्रु को आगनय नत्रों स देखता है ओर उस मलियामट कर देना चाहती है, जो शत्रु की पराजय म उल्लसित है। जब गाधी विरोधी को अपन कायक्रम की सूचना पहल कर देता है तब वल्लभभाई क मुह म शत्रु या मित्र कोई क्रिया म आन क पहल उनका कार्यक्रम नहीं जान सकता।

कर्मवीर सम्पादक श्री माखनलालजी न ठाक लिखा था— महात्मा जी छोट स छोट आदमी के कुतूहलों तक का जवाब देत हैं (तब) वल्लभभाई स सवाल पूछन का साहस ही बहुत कम को हा पाता है। उनक विषय मे तो कवल यही कहा जा सकता है कि वह जवाब सदैव अपन विरोधी को ही देते हैं। महात्माजी जीवन की आत्म-कथा लिख सकते हैं किन्तु वल्लभभाई आत्म-चर्चा कभी करते ही नहीं।

महात्माजी का संयम और उनका तप महान् प्रयत्नों की सिद्धि है। वीर वल्लभभाई का सन्यास एक दिन प्रात काल उठकर किया हुआ किन्तु सदैव निकन वाला सिपाही का प्रण है। महात्माजी साधक सुधारक और शिक्षक हैं। वल्लभभाई न सुधारक है, न साधक हैं न शिक्षक हैं। वह योद्धा हैं, सेनानी हैं, सिपहसालार हैं।

महात्माजी बालक, मूर्ख और शत्रु मे भी गुण सीखन क लिये प्रस्तुत हैं, किन्तु वल्लभभाई उक्त तीनों का मूल्य विश्व के बाजार-दर मे अधिक नहीं कूतत। महात्माजी की महान् क्षमा म आत्म-निरीक्षण और आत्म-चिन्तन होना ही चाहिये। वल्लभभाई की क्षमा वीरोचित क्षमा है, उसमें अपन योद्धा की सौ भूलें माफ है—यदि व बहादुरी के पक्ष में न की गई हों।

वल्लभभाई वस्तुत उन उपकरणों स बन है जिन मे शहीद का सृजन होता है। वह एक योद्धा हैं। बुद्धि, विवक, परिस्थिति मानावलम्बन और सगठन शक्ति न इस योद्धा को योद्धा क ऊपर उठाया है और सनापति क आसन पर ला खडा किया ह। वल्लभभाई मे वह कूट रहस्यमयता नहीं जो राजनीतिज्ञ का खास चाज है पर उन मे वह गम्भीरता और वह प्राणोन्मादकारी भावावश दोना उपयुक्त मात्रा मे हैं जो एक सफल सरदार—सनापति—के निर्माण क लिय आवश्यक हैं। युद्ध में वह इस तरह स्वतन्त्रतापूवक खलत है जैस पानी में मछली तैरती है। उस समय कोई कठिनाई उनका दम नहीं तोड सकती। परन्तु राजनीतिज्ञता की बातों समझौत की चर्चाओ मे उनका वह भावावश शिथिल पड जाता है। वह स्वय कहत है— "मुझे लडत लडत जो सकट और उलझन आ पडे उन मे तडाक म सुलझा लू गा। एसी उलझन सुलझान की सूझ मुझे कहा मिलती है मै नहीं जानता। परन्तु समझान की ढीली चर्चाओं में मरा जो नहीं लगता। ऐसी अकर्मण्य चर्चाओ मे कितनी ही बार तो मैं गडबड में पड जाता हू।"

ऊपर मैंन लिखा है कि जब युद्ध चल रहा हो तब वल्लभभाई को दखिये। जैसे भयकर डूडनाट स गोले और तोप से बारूद निकलती है, उसी तरह इस व्यक्ति के मुह से आग-से जलते और भुजग-से फुफकारते शब्द निकलत हैं। नमून देखिये.—"मारन-मरन की तालीम सिपाहियों को टेन में सरकार को छ महीन लगते हैं। हमें तो सिर्फ मरना ही सीखना है, उस में तीन महीन भी क्यों लगन चाहियें?

विद्वान की परिभाषा सुनिय —

विद्वान, वह जो सारी भाषा को अटपटी और कुढगी बना द।'

विद्यार्थियों के सामन बोलन हुए —

'अर, क्या साप को अपनी काचला उतार फेंकन मे बहुत दुख होता हैं? या कोई मेहनत पडती है? इसी तरह हम भी एक दिन परगय शासन की काचली उतार देंग। उस मे श्रम और कष्ट काहे का?" इसा प्रकार यदि राजसत्ता अत्याचारी हो तो किसान का सीधा उत्तर है—

जा, जा तेरे ऐसे कितन ही राज मैंने मिट्टो में मिलत देखे ह।

बालोड क भाषण मे — सरकार जेल क महमान चाहती है। आप उस मु हमाग महमान देग।

यह तो युद्ध क समय का बोलना है। पर वैस वल्लभभाई में बोलन का ताकत बहुत कम है। वह बोलत कम ह करत अधिक हैं। बात-शूर उन्हे लभा नहीं सकता। यह गरजन वाला मेघ नहीं बरसन वाला धुआधार है। यह वह योद्धा है जो ठास का पुजारी ह, पोल क शब्द उस आकर्षित नहीं कर सकत।

× × ×

ऐसा बहुत कम देखा जाता है कि दो भाइ आपस मे दिल्लगी करत और एक-दूसर को बनात हों। वल्लभभाई और स्व० विट्ठलभाइ बडी बतकल्लुफी क साथ एक दूसर पर व्यग्य करत थ। व्यग्य की कला मे वल्लभभाई एस निपुण है कि वह गम्भीरता स कुछ कर रहे हैं या हसी मजाक कर रहे हैं इसका पता नहीं लगता और अक्सर लोग बवकूफ बन जात हैं। गाधी-वादियों म कवल वही ऐस आदमी हैं जो गाधी क समक्ष भी व्यग्य और मजाक कर सकत हैं और गाधी को भी नहीं छोडत। श्री० पट्टाभि सीतारामया न ठाक ही लिखा था —

वल्लभभाई का मन ... सब स शरारती आत्मा है

(२)

राजगोपालाचार्य : 'सी० आर०'

यदि बारीकी मे देखें तो काले फ्रेम का चश्मा और लम्बी नाक की आकृति में पेटेंट राजगोपालाचार्य वल्लभभाई के ठीक उलटे हैं। वल्लभभाई को मौन पसन्द है; वह चुपचाप काम करते है, तो राजगोपालाचार्य, जिन्होंन गाधी जी क 'एम० क० जी०' की स्टाइल पर चल कर सी० आर० क नाम स अपन को मशहूर कर लिया है, बहुत बोलते और बहुत लिखत हैं। भारत मे दूसर किसी नता को मैं नहीं जानता, जो वक्तव्य (स्टटमेंट) निकालन मे इतना द्रुत और इतना पटु हो। दखन मे साध-सादे और सरल इस ब्राह्मण मे चाणक्य की विचक्षणता है। यदि गाधावाद म भी कोई कूटनीति-पक्ष सम्भव है तो श्री राजगोपालाचार्य उस क सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं।

सच पूछे तो गाधी जी क निकट अनुयायी हो कर भी गाधीवाद की 'स्पिरिट' — आत्मा — राजा जी मे बहुत कम है। गाधीवाद तो आत्मा का अनावृत रूप लकर चलता है, इस म डिप्लोमसी नहीं है नीति है शतरज की चालें नहीं, कर्तव्य का आमन्त्रण है। यह विरोधी क दुख म दुखी है। पर

श्री० राजगोपालाचार्य

राजा जी प० मोतीलाल जी क कैड़े क आदमी हैं। वह एक महान् 'स्ट्रेटेजिस्ट' और 'टैक्नीशियन' (हिन्दी में चाल-बाज इसका ठीक अनुवाद है पर यह शब्द आजकल कुछ भद्द अर्थ मे प्रयुक्त होता है इसलिए मैंन अंग्रेजी ही शब्द रहन दिया है) हैं। स्व० मोतीलाल जी और देशबन्धु क दान खट्टे करन वाले इस व्यक्ति की विचक्षणता गया-कांग्रेस क समय हमन देखी थी। तब मे देखता ही रहा हू। और सब-कुछ देख-सुनकर भी मेरा मत है कि शुद्ध गाधीवाद में राजा जी अपन को ओत प्रोत नहीं कर सक हैं। गाधावाद तो कर्तव्यपथ मे बडा ही निर्मोही अलिप्सित और अनासक्त होकर चलता है— प्रेम को हृदय मे दबाये हुए। कर्तव्य की आग म प्रेम सदा जलता रह कर सोन की तरह चमकता है। राजा जी में अपनों क लिये बड़ा मोह है और अपनी सन्तति को सूक्ष्म विलासिता क — आरामतलबी क — वातावरण मे रखन में वह प्रसन्न-से हैं।

सच बात तो यह है कि राजा जी एक बौद्धिक (इनटलक्चुअल) प्राणी हैं। उन म वहा विशेषतायें हैं जो एक प्रतिभाशाली बौद्धिक व्यक्ति में होता हैं और वहा दुबलताय भी हैं जो प्रतिभा और बुद्धि क साथ चलता हैं। यह योगी और साधक का साधना पक्ष नहीं है यह नयायिक और तार्किक का तर्क और बुद्धि-पक्ष है। गाधी जी क अनुयायियों म शायद ही कोइ दूसरा व्यक्ति हो, जिस में राजा जी-जसी सूक्ष्म कल्पना-शक्ति, बुद्धि की विचक्षणता, रासायनिक की भांति किसी चीज को टुकडे-टुकडे, अलग-अलग करके दखन की शक्ति और विरोधी को शाब्दिक उत्तर दन की क्षमता हो। पर जहा साधारण राजनीति की दृष्टि मे य गौरवास्पद विशेषतायें हैं वहा शुद्ध साधना की दृष्टि म य बाधक दुर्बलतायें हैं। गाधीवादी हसता है व्यग्य करता है पर उस क हास्य और व्यग्य में चुभन वाली किरकिराहट विष नहीं होता, यह हास्य और व्यग्य विरोधी को और उस म भी अधिक उसकी अपनी आत्मा को ऊचा उठाता है यह एक 'लिफ्ट' है, जब राजाजी क व्यग्य की काट विरोधी क कलेजे क आर-पार हो जाता ह वह वह बठ जाता है। यह स्पष्ट एक कूटनीतिज्ञ का प्रहार है जिस म विरोधी को चूर-चूर कर डालन की कामना है।

गाधी जी क अनुयायियों में कोई दूसरा सामान्यत गाधी जी की लेखन शैली की इतनी सफल कापी नहीं कर सका है जसी राजा जी न की है। लखक की दृष्टि म देखे तो इस दायर म उन का स्थान बड़ा ऊचा है। उन की कहानिया कभी कभी गाल्सवर्दी की याद दिलाती हैं।

राजा जी एक अथक परिश्रम करन वाले कार्यकर्ता हैं। दक्षिण भारत म मादक-द्रव्य-निषेध का जो कार्य उन्होंन किया है उस दूसरा क्या करगा? देश क लिए उन्होंन फकीरी का बाना धारण कर लिया है और वैसे वह एक बड़ी बेतकल्लुफ (अन अस्यूमिंग) आदमी हैं। परन्तु उन म दोष यह है कि उन का दिमाग उन के दिल और शरीर स ज्यादा भारी पडता है।

इसीलिए कई बार जब वह गलती करते होते हैं, या गलत रास्ते पर होते हैं, तो भी तर्क और बुद्धि के सहारे अपनी गलती को ठीक सिद्ध करते जाते हैं। जब सत्याग्रह-युद्ध चल रहा था, तब भी मन्दिर-प्रवेश बिल के सम्बन्ध में इनके ढंग कांग्रेस-वादियों को अखर थे। राजा जी उस समय कांग्रेस के कार्यवाहक अध्यक्ष थे; फिर भी बिल के लिए मद्रास-गवर्नर से मिलना, 'खिलोनों-सी' व्यवस्थापक सभाओं के सदस्यों से मिलना एवं उन से अनुरोध करने में अपना अधिकांश समय व्यतीत करते थे। यह एक बिल्कुल ही परस्पर-विरोधी पक्ष था और इस बात को लेकर कांग्रेसवादी, विशेषतः यू० पी० वाले, इतने नाराज थे कि अन्त में राजा जी को उक्त पद से इस्तोफा दे देना पड़ा। पर वे दिन भी गनीमत थे; आज तो जब मैं देखता हूं कि इन कौंसिलों के कट्टर-विरोधी, १६२२-२३ के 'एकिंटग महात्मा' और अपरिवर्तनवादी, देशबन्धु और मोतीलाल के सामने तन कर खड़ा होने वाले, तथा देश में एक प्रथम श्रेणी की समस्या खड़ी कर देने वाले राजाजी वोट-भिखारी का निर्जीव बाना धारण किये घूम रहे है, तो आत्मा कांप जाती है और देश के दुर्दिन पर रोना आता है। राजाजी की विलक्षण बुद्धि कांग्रेसी उम्मीदवारों के लिए वोट की भिक्षा मांगने में लगे, यह उसका दुरुपयोग भी है और अपमान भी है। वह इससे ऊंचे कार्य में लगनी थी। आज भी उन के भाषणों में और तर्कों में तजस्विता है; दक्षिण भारत में कांग्रेस-पक्ष से दिये गये निर्वाचन-सम्बन्धी भाषणों में उन के भाषण सर्वोत्तम हैं, पर सब पढ़-सुन कर भी ऐसा लगता है, जैसे कोई विचक्षण वकील मुरदे को जिन्दा करने की चेष्टा कर रहा हो।

पर राजाजी जब किसी का पक्ष लेते है, तो तथ्य और उस की मूल शक्ति की अपेक्षा अपने बौद्धिक चमत्कार पर ज्यादा भरोसा रखते हैं। और यही उन की बड़ी भारी दुर्बलता है।

यदि वल्लभभाई गांधीवाद के क्षत्रिय या कर्तृ पक्ष है, तो राजा जी उस के बुद्धि-पक्ष हैं। यह त्यागी ब्राह्मण कूटनीतिज्ञ और निस्पृह सेवक दोनों एक साथ हैं। और यही उस की 'ट्रेजेडी' है।

(३)

राजेन्द्रप्रसाद : 'बिहारी गांधी'

सांवला रंग, देसी गांधी टोपी, जिन को कभी नाई से काम न पड़ा हो, ऐसी लम्बी मूछें, दमा के शिकार, पर कभी न टूटने वाले उत्साह से पूर्ण, भीतर से महान् पर ऊपर से अटपटे—राजेन्द्रबाबू को देख कर दिल भक्ति से उमड़ता है। इस व्यक्ति की 'गंवारूपन' की सीमा तक बढ़ी हुई सरलता को देख कर अच्छे-अच्छे सेवक भी

बाबू राजेन्द्रप्रसाद

दांतों तले उंगली दबाते हैं। जब तक आप इन्हें पहले-से न जानते-पहचानते हों, आप को ऐसा मालूम होगा, मानो कोई ग्रामीण बिहारी है। दरिद्रनारायण की सेवा में इस व्यक्ति ने अपने को ऐसा ओत-प्रोत कर दिया है। इसे देख कर कौन कहेगा कि एक ज़माने में यह प्रथम श्रेणी का वकील रह चुका है और हज़ारों रुपये की 'प्रेक्टिस' छोड़ कर सेवा के इस दुर्गम, कंटीले, मार्ग में आया है! और यह कौन कहेगा कि सारी यूनिवर्सिटी-परीक्षाओं में यह सदा प्रथम आता रहा होगा? सिवाय आचार्य सर पी० सी० राय के दूसरे किसी प्रसिद्ध जन-सेवक को मैं नहीं जानता, जिस की वेश-भूषा दरिद्र भारत के कोटि-कोटि दरिद्रनारायणों के इतने नजदीक पड़ती हो।

राजेन्द्र बाबू गांधी जी के उन दो-चार निकट के सहयोगियों में हैं, जिन्होंने उनको 'स्पिरिट' को ग्रहण कर लिया है। छूछे राजनीतिक शास्त्रार्थों में राजेन्द्रबाबू बहुत बचते हैं। उन का क्षेत्र ठोस सेवा का क्षेत्र है। इसीलिए वह बहस-मुबाहसों में बहुत कम पड़ते हैं और जब पड़ते हैं तो भी बड़ी वेदना और अनिच्छा के साथ। जब से यह इस क्षेत्र मे आये, बिना किसी आशा, पुरस्कार या प्रतीक्षा की भावना के चुपचाप काम कर रहे हैं। और इसका मूल्य अपने-आप ही उन्हें मिल गया है। अन्य प्रांतों मे जहां किसी नेता के नेतृत्व के विषय मे, उस के नाम के आगे प्रश्न-चिन्ह लगाया जाता है, वहां बिहार मे हर प्रकार के देश-सेवक राजेन्द्रबाबू को अपना एक-मात्र नेता मानते हैं। इसका कारण यह है कि दिल दुखाने वाले व्यग्य-बाण उनकी जिह्वा से नहीं निकलते; उन मे बड़प्पन की बू नहीं है; उन में अधिकार के लिये प्रमाद और आत्म-वंचना नहीं है और न ईर्ष्या-द्वेष है। उनकी सेवा का क्षेत्र इतना महान् है कि उस मे हर प्रकार के जन-सेवक का स्वागत है।

राजेन्द्र बाबू में निरन्तर कार्य करने की असाधारण क्षमता है। फिर कर्तृत्व के साथ भगवान ने वाणी भी दी है। उनके भाषण तर्क-युक्त, बुद्धि और भावना को 'अपील' करने वाले होते हैं। इस विषय में उनका ढंग एक अध्यापक का ढंग है। उन में राजनीतिज्ञ की घुमा-फिराकर बात करने की पटुता आप को न मिलेगी। प्रश्नों और समस्याओं को राजेन्द्रबाबू आपके सामने सुलझे हुए रूप में रख देते है। हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं पर उनका असाधारण अधिकार है। उन की मीठी मोतियों की लड़ी सी हिन्दी का श्रोता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। हिंदी और हिन्दी-साहित्य के वह न केवल प्रेमी ही हैं, वरन् सेवक भी हैं।

राजेन्द्र बाबू में बुद्धि और भावना का बड़ा सुन्दर समन्वय हम देखते है। जहां विवेचना की शक्ति उन में चरम सीमा तक पहुंची है, वहां हृदयोन्मादकारी भावना का भी उनमें सुन्दर विकास हुआ है। विनय-पत्रिका के पद गाते-गाते वह भक्ति-विभोर हो जाते है।

और राजेन्द्र बाबू का विश्लेषण क्या किया जाय? उनके टुकड़े नहीं किये जा सकते। यहां तो सब दूध ही दूध है। इसमें मिलावट नहीं, पानी नहीं। उनके रंग-रूप और उनकी आंतरिक महत्ता दोनों को देखकर तो ऐसा मालूम होता है, मानो मिट्टी की बदसूरत और बेडौल हांडी में भगवान ने अमृत भर दिया हो। जीवनी-लेखक ऐसे व्यक्ति का क्या चित्रण करे? बस, वह तो उसे प्रणाम करता है और ऐसे मनुष्य को राष्ट्रपति चुनने पर राष्ट्र को बधाई देता है।

पुरान राष्टपति

मरदार वल्लभभाई पटेल

नये राष्ट्रपति

बिहार-रत्न बा० राजेन्द्रप्रसाद

लोकमान्य तिलक की राजनीति

(ले०—श्री सिद्धनाथ माधव आगरकर)

भारतवर्ष के स्वातन्त्र्य-संग्राम में लोकमान्य तिलक का एक विशेष स्थान है। वे एक युग के प्रवर्त्तक थे। उनके राजनीतिक सिद्धान्त म० गांधी के सिद्धान्तों से भिन्न थे। श्री सिद्धनाथ माधव आगरकर सम्पादक 'स्वराज्य' ने इस लेख में उन की नीति का परिचय देते हुए बताया है कि वे बहिष्कार, स्वदेशी एवं राष्ट्रीय शिक्षा की त्रिगुणात्मक विचारधारा पैदा करना चाहते थे। वे ब्रिटिश शासन की अपेक्षा मुस्लिम शासन को सहन के लिये उद्यत थे। उचित अवसर का उपयोग करना जानते थे।
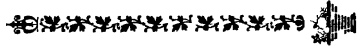
लगभग एक सौ वर्षों से राजनीति अथवा पालिटिक्स शब्द का जो अर्थ हम समझते आ रहे हैं उस में पराधीन नीति का ही अन्तर्भाव रहता है। राजनीति और उस के सिद्धान्तों का वास्तविक व्यवहार तभी होता है, जब देश स्वाधीन होता है परराष्ट्रों से सन्धि-विग्रह करने की क्षमता उस में होती है, अखिल संसार के शासन-संघर्ष में वह आदर तथा भय के साथ याद किया जाता है उस के किसी नियम अथवा उपनियम का परिणाम समीपस्थ स्वाधीन देशों पर पड़ता है अथवा समान-संस्कृति के अन्य देशों की संगठित मैत्री के बल पर, वह संसार के अन्य क्षेत्रों में अपने प्रकाश की किरणें फैला सकता है।

राजनीति का प्रथम सोपान

सन् १८१७ के नवम्बर मास की १७ वीं तारीख को 'स्वाधीन मराठा-राज्य-समूह' पर अंग्रेजी माया का जादू कारगर हुआ था। हिन्दू-पादशाही की स्थापना करने की अभिलाषा में रंगी हुई मराठों की भगवी पताका सदा के लिए नीचे झुक गई थी। उसी दिन मराठों की स्वाधीन राजनीति का अन्त हुआ। उसी दिन महाराष्ट्र में राजनीति शब्द का वास्तविक अर्थ बदल कर पराधीन-नीति हो गया था। घाव ताजी थी जख्म हरा था अतएव तत्कालीन महागष्ट्रियों के मर्म और घावों में अंग्रेजी सल्तनत के खिलाफ बगावत का जहर फूट पड़ता था। धीमे-धीमे यह बात बिसरती गई और लोकमान्य तिलक के समय यह अवस्था पैदा होगई थी, जो 'मर्क के कीड़ों' की होती है—वह अपनी परिस्थिति को ही शांत सुन्दर सुखप्रद अवस्था समझने लगते हैं—उन्हें दुर्गन्ध नहीं आती। ऐसी अवस्था में सर्वप्रथम लोकमान्य तिलक ने जन-साधारण में पराधीनता के प्रति तीव्र असन्तोष पैदा करना आरम्भ किया। हिन्दुस्तान के निवासियों की राजनीति का प्रथम सोपान यही हो सकता है। स्वाधीन राष्ट्रों के होनहार युवक २०-२५ वर्ष की अवस्था में अपने देश के सेना-संचालन, अर्थ-व्यवस्था पर-राष्ट्र विचार-विनिमय आदि में अपनी बुद्धि का कौशल दिखाते हैं, परन्तु किसी भी पराधीन राष्ट्र को सर्वप्रथम जनता के छोटे-से-छोटे भाग तक राजनैतिक असन्तोष पैदा करना पड़ता है। इस असन्तोष के पैदा करने के समय इस बात का भी विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं हमारी वाणी अथवा लेखनी से कोई ऐसी बात न निकल पड़े जिसका उपयोग हमारे विरोधी अपने हित के लिए कर सकें। लोकमान्य तिलक ने सन् १८८१ ई० में केसरी पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया था। तब से लेकर लोकमान्य की मृत्यु तक (१९२०) केसरी ने राजनैतिक असन्तोष जाग्रत करने की अपनी नीति में जरा भी परिवर्तन नहीं होने दिया। सर वेलन्टाइन शिरोल ने अपने एक ग्रन्थ में तिलक को 'भारतीय अशान्ति का जनक' कहा था। शिरोल ने यह बात चाहे किसी और उद्देश्य से कही हो, परन्तु बात थी ठीक। लोकमान्य तिलक की राजनीति का आधार अशान्ति पर ही अवलम्बित था। किसी भी बड़े उद्देश्य की साधना के लिए साधक में तीव्र अशांति का होना आवश्यक ही होना है।

कुछ विशेषतायें

लोकमान्य तिलक की राजनीति में कुछ बातें प्रमुखता से दिखाई देती हैं। पढ़े-लिखे धनिक अथवा प्रभावशाली व्यक्तियों तक ही वे अपनी राजनीति का अड्डा रखना नहीं चाहते थे। समाज के अंग प्रत्यंग में राजनैतिक जीवन पहुंचाना वे आवश्यक समझते थे। प्रस्ताव अनुनय विनय आदि वैध कहलाने वाले साधनों पर उन का विश्वास नहीं था। वे मनुष्य को मनुष्य ही समझते थे। मनुष्य की कमजोरियों का उन्हें ज्ञान था। उन का सिद्धान्त था कि जब तक किसी शासन को आन्दोलन की तीव्र विरोधी शक्ति द्वारा दबाया नहीं जा सकता तब तक उस से किसी लाभ का होना असम्भव है। व्यक्तिगत रूप से अंग्रेज के सद्भाव पर वे विश्वास रखते थे परन्तु अंग्रेजों के सामूहिक मन एवं अंग्रेजों की राजनैतिक प्रतिज्ञाओं पर उन्हें किंचित् भी विश्वास नहीं था। वे कहा करते थे कि जब तक लोहा गरम है, तभी तक उसे ठीक कर लेना चाहिये। परिस्थिति के बदलने पर मानवी मन की गति और विचार भी बदल जाते हैं। अपने राजनैतिक विरोधी की तथाकथित सज्जनता और उदारता पर लो० तिलक ने कभी विश्वास नहीं किया और इसीलिए उन के जीवन में ऐसे अवसर बहुत कम आये, जब कि वे शासन के किसी जाल में फंसे हों। कागजी घोड़ों के नचाने से शासनकर्ताओं पर कोई असर नहीं होता यह बात वे पूर्णतया मानते थे। परन्तु इस के साथ-साथ वे यह भी मानते थे कि सरकारी गैर सरकारी कामों या कार्यवाही की अवहेलना भी नहीं की जानी चाहिये। एक व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ की तरह एक तरफ बहिष्कार एवं स्वदेशी का शंख फूंक कर व्यापारियों द्वारा संचालित होने वाली ब्रिटिश सरकार को ध्यान करा वे प्रयत्न करते थे तो दूसरी तरफ शासन-संचालक यन्त्र के प्रत्येक पुर्जे पर अपने देशवासियों का अधिकार स्थापित करने के लिए भी प्रयत्नशील रहते थे। लोकमान्य को बहिष्कार में हिंसा नहीं दीखती थी। राजनीति सामूहिक स्वार्थ है। एक देश का स्वार्थ दूसरे देश की हानि हो सकता है और विशेषकर किसी पराधीन देश का स्वार्थ तो उस के शासकों के स्वार्थ के विपरीत ही होता है। जब कोई देश अपना स्वाधीनता स्थापित करने जा रहा हो तब वह केवल अपने हित का ही खयाल रख सकता है। वसुधैव कुटुम्बकम् की वृत्ति लोकमान्य को भी पसन्द थी, परन्तु वे कहते थे वसुधा के कुटुम्ब में बराबरी की हैसियत से बैठने की योग्यता रखने वाला देश ही इस उच्चतम मानवी भावना का पालन-पोषण कर सकता है। बहिष्कार आंदोलन द्वारा प्रत्यक्ष-अवरोध (D et A n) की शिक्षा देते समय लोकमान्य तिलक की राजनैतिक बुद्धि में भावना की ऊंची उड़ान का प्रवेश नहीं होता था। बहिष्कार स्वदेशी एवं राष्ट्रीय शिक्षा की त्रिगुणात्मक विचार-धारा से लोकमान्य तिलक देश में बल पैदा करना चाहते थे। व्यावहारिक राजनीति में धर्माधर्म की शंका उनके मन में कभी प्रवेश नहीं कर पाती थी।

साम्प्रदायिक नीति

लो० तिलक साम्प्रदायिकता को राष्ट्र-कार्य में बाधक नहीं होने देना चाहते थे। वैसे तो सन् १८९३ के बम्बई प्रान्त के हिन्दू-मुसलिम दंगे और हिन्दुओं की बलहीनता को देख कर उन्होंने गणेशोत्सव और शिवाजी उत्सवों जैसे प्रचार-साधनों की सृष्टि की थी, परन्तु वह केवल आत्मबल-

वर्धन के लिये थी। बम्बई के हिन्दू-मुसलिम दंगों में उन्होंने देख लिया था कि हिन्दू-समाज, अंग्रेजों के शासन में बलहीन एवं परावलम्बी बन चुका है। वह अपन घर-बार की रक्षा के लिये भी शासन सत्ता की ओर देखता रहता है। उस में आत्म-जागृति होनी चाहिये। इस को मानत हुये भी उन्होंने किसी मुसलमान का केवल इसलिये विरोध नहीं किया कि वह हिन्दू नहीं है। अली-बन्धुओं के राजनैतिक गुरु लोकमान्य तिलक ही थे। हसरत मोहानी जैसे कार्यकर्ता लोकमान्य का ही अनुकरण करने मे अपना गौरव समझते थे। लोकमान्य की राष्ट्रीयता की कसौटी सन् १९१६ का 'लखनऊ पैक्ट' था। कट्टर सनातनी पण्डित, प्रबुद्ध विचारक, गम्भीर तत्ववेत्ता तिलक की ओर सभी हिन्दुओं की दृष्टि उस समय लगी हुई थी। कई हिन्दू-नेता मुसलमानों की मांगों से देश की हानि देखते थे, परन्तु लोकमान्य तिलक कहते थे कि यदि ब्रिटिश नौकरशाही के स्थान पर, आज, भारत पर मुसलमानों का राज्य स्थापित होता हो तो, मैं पहला व्यक्ति हूं जो इस परिवर्तन का साथ दूंगा। आखिर हम सब भारतीय हैं। मुसलमानों को कौंसिलों में रक्षित जगहें दिये जाने की बात का लोकमान्य ने बड़े जोरों से समर्थन किया, जिस के परिणाम-स्वरूप 'लखनऊ पैक्ट' की सृष्टि हुई। व्यवहारकुशल तिलक की राष्ट्रीयता ने साम्प्रदायिकता को तिलांजलि देना चाहा था, परन्तु आज साम्प्रदायिकता ने जो रंग बदला है उसे देख कर तो यही कहना पड़ता है कि लोकमान्य के जीवन मे यह एक गम्भीर भूल हुई थी।

कानून-सभाओं के उपयोग के विषय मे तिलक का मत स्पष्ट था। वे मानते थे कि वर्तमान धारा-सभाओं से देश का कोई लाभ नहीं हो सकता है। परन्तु वे यह भी जानते थे कि यदि इन धारा सभाओं की कुर्सियों पर स्वार्थियों का गुट जा बैठेगा तो वह देश को हानि अवश्य पहुंचाएगा। इस हानि की रोक के लिये वे कौंसिलों पर कब्जा करने के पक्ष में थे। लोकमान्य तिलक की मृत्यु के पश्चात्, 'नौकरी-पंथ' वालों ने प्रति-सहकार दल की जो छीछालेदर, लोकमान्य का नाम ले ले कर की, वह तो उस महान् राजनीतिज्ञ का अपमान था। कौंसिलों का उपयोग लोकमान्य किस प्रकार करना चाहते थे, इस का उत्तर उन के सहकारी और सहविचारी स्वर्गीय विठ्ठलभाई पटेल ने अपने असेम्बली के सभापतित्व मे दे दिया है। लोकमान्य की राजनीति में प्रति-सहकार का अर्थ यही था। परन्तु उन का आमरण विरोध करने वाले लोग भी जब 'प्रति-सहकार' में घुस पड़े तब उन्होंने उस दल को केवल 'नौकरी-सोपान' ही बना डाला।

लोकमान्य की मृत्यु सन् १९२० में हुई। आज चौदह वर्षों के पश्चात् भी हम देखते हैं कि लोकमान्य की राजनीति की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी उन के जीवनकाल में थी। तिलक साधु अथवा सन्त नहीं थे। सत्य को वे परम धर्म समझते थे, परन्तु सत्य की विकृत कल्पना के वशीभूत होकर, वे अपने देश को हानि नहीं पहुंचाना चाहते थे। वे तत्वविद् थे। संसार के व्यवहार का उन्होंने अध्ययन किया था। मनुष्य स्वभाव की कमजोरियों को वे जानते थे। जीवन मे कई बार उन्हें निराश होना पड़ा था, परन्तु उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र से पीठ हटाने की कल्पना कभी भी नहीं की।

संक्षेप मे तिलक-राजनीति मे ये बातें आती है:—(१) सामूहिक जागृति एवं असन्तोष, (२) प्रत्यक्ष अवरोध से ही विरोधियों को दबाया जा सकता है, (३) उचित अवसर का पूर्ण उपयोग करना चाहिये, (४) कम से कम अधिकार देने वाले शासन-यन्त्र पर भी कब्जा कर लेना चाहिये, (५) राष्ट्र-हित के लिये साम्प्रदायिकता की बलि चढ़ा देनी चाहिये। (७) धारा-सभाओं पर राष्ट्र का अधिकार होना चाहिये।

—:०:—

"शताब्दियों मे लाखों मनुष्यो के एकत्रित किये हुए धन पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया और उसे वे लण्डन ले गये। ठीक इसी प्रकार, जैसे रोमन लोग यूनान और पीतस में लूट मे मिले माल को इटली ले गये थे। यह कोई नहीं कह सकता कि इस धन का मूल्य कितना था। परन्तु यह लाखों पौंड के लगभग रहा होगा। उस समय योरुपवासियों के पास जितने रत्न और जवाहर रहे होंगे, यह धन उस से कहीं अधिक रहा होगा।"

—ब्रूक्स एडम्स।

सो० कमलाबाई किबे

भारतीय महिलाओं की जागृति

——:——

(लेखिका—सो० कमलाबाई किबे)

———:———

'आज यदि भारत की नारी-शक्ति जाग्रत हो जाय तो, वह भारत की अन्य बुराइयों को दूर करने में सब से अधिक सफल हो सकती है। नवीन राष्ट्र-निर्माण के कार्य के लिये उन से बढ़कर कोई समर्थ नहीं हैं।"

आज चारों ओर दृष्टिपात करने से सब स्थानों पर सुधारों की चर्चा दीखती है। महिलायें भी कम उन्नति नहीं कर रहीं। पाठशाला महाविद्यालय, सभा-समिति, उत्सव म्युनिसिपल कमेटी और कौंसिल सभी स्थानों में स्त्रियां प्रमुखता से भाग लेती हुई नजर आती हैं। सुधार-प्रेमी सज्जन समाज-सुधार के इस चित्र को देख कर बहुत प्रसन्न होते है। वे समझते हैं कि समाज आगे बढ़ रहा है। परन्तु हम वास्तविक उन्नति कर रही हैं या नहीं, इस पर गम्भीरता-पूर्वक विचार नहीं करते। अनेक सुधारक तो वर्तमान सुधारों के दूसरे पहलू को देखना भी अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझते हैं। वे इसे प्रत्येक सुधार में आने वाला अपरिहार्य विरोध समझ कर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु हमने वस्तुतः कितनी उन्नति की है, इस का निरीक्षण आवश्यक है।

अशिक्षा

बड़े नगरों में भी जहां शिक्षा का बहुत प्रचार है शिक्षित महिलायें परिमित संख्या में मिलती हैं। पदवी-प्राप्त महिलाओं की संख्या तो और भी कम है। भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या को देखते हुये महिला-समाज की साक्षरता की समस्या अत्यन्त कठिन तथा परिश्रम और व्यय-साध्य प्रतीत होने लगती है। परन्तु कठिन होने के कारण यह उपेक्षणीय नहीं है, इस तरफ राजनैतिक और सामाजिक नेताओं को जनता व सरकार का पूर्ण सहयोग लेते हुये निश्चित कार्य-पद्धति बना कर अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिये। हमें सफलता अवश्य मिलेगी।

गांवों में

गांवों में महिला-शिक्षा की समस्या और भी अधिक विषम है। बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित होने के कारण माता पिता लड़कियों का शीघ्र ही विवाह कर देते हैं और वे पढ़ नहीं सकतीं। फिर कन्या पाठशालाओं का भी अभाव रहता है। उनको मनोवृद्धि का विकास नहीं होने पाता। हम लोग ग्रामों के प्रति इतने अधिक उदासीन हैं कि कुछ मीलों के अन्तर पर रहते हुये भी उन के साथ विदेशी का सा व्यवहार करते हैं। जहां शिक्षित समाज का व्यवहार इस प्रकार का है, वहां यदि स्त्रियों में भी यह दोष दिखाई दे, तो उस में कोई आश्चर्य नहीं है। आज पढ़ी लिखी स्त्रियां ग्रामों के सम्बन्ध में—जहां वास्तविक भारत निवास करता है—बिलकुल उदासीन हो चुकी हैं। प्राचीन संस्कृति प्राचीन साहित्य और स्वदेश-गौरव की भावनाओं का हमारे में अत्यन्ताभाव हो गया है। वस्तुतः हमारी कन्यायें तो अपने देश का गौरव-मय इतिहास भी नहीं पढ़ पातीं। फिर उनमें देश-प्रेम की भावना ही कैसे जाग्रत हो। प्राचीन पवित्र महिला पुण्यात्माओं के स्मरण-मात्र से उन की दिव्यता शुचि, त्याग और आत्मोत्सर्ग की भावनाओं का चित्र हमारे सामने खड़ा हो जाता है। परन्तु आज के चित्र में उस का कोई अंश नहीं मिल खाता। हमारी पूर्वजाओं का एक भी तो गुण हम अपने में नहीं पातीं। न स्वधर्म में हम परायण है, न पतिव्रत या सत्यव्रत की ओर आज की शिक्षित महिलाओं का ध्यान है। वह आदर्श ही हमारे सामने नहीं है। शिक्षित महिलाओं का कर्त्तव्य है कि वे एक स्थल पर बैठ कर गम्भीरता से इस पर विचार करें कि वर्तमान महिला-समाज का चित्र भी क्या सच्चरित्र, साधुता आदि अनमोल गुणों के कारण चमकने वाले प्राचीन भारतीय महिलाओं के चित्र के समान उज्ज्वल होगा? हम यह नहीं जानतीं कि हमारी क्या परिस्थिति है। हम पर अज्ञान का बहुत अधिक गहरा आवरण पड़ा हुआ है। भारतीय महिला-समाज का मानसिक और बौद्धिक पतन इस सीमा तक पहुंच चुका है कि एक भी ऐसी आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होती, जो इस पतन को देख कर तड़पती हो, जो इनकी सेवा करने के लिये कटिबद्ध हो। हमारा मानसिक उत्साह अन्तःकरण की प्रसन्नता और अपने कर्त्तव्य का यथार्थज्ञान सब कुछ नष्ट हो चुका है।

समाज की उदासीनतापूर्ण वृत्ति संगठन का अभाव तथा दरिद्रता आदि महान् संकटों से भारत का स्त्री-समाज घिरा हुआ है। सात लाख छोटे छोटे गावों में फैली हुई इस दुर्दशा को हटा कर उन का कायापलट करना वस्तुतः बहुत कठिन कार्य है। परन्तु परिस्थितियों से डरने या संकटों से घबराने से काम न चलेगा। जिस दिन हमारे अनवरत परिश्रम से गावों के महिला-समाज में जागृति हो जायगी, वह दिन भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा।

सर्वाङ्गीण उन्नति

भारतीय महिलाओं की केवल सामाजिक उन्नति का ही प्रश्न नहीं है उन की भौतिक व आर्थिक उन्नति भी अत्यन्त आवश्यक है। आज तो हमें पेट भर अन्न लज्जा-रक्षण के लिये खद्दर तथा सिर छिपाने के लिये झोंपड़ी तक का मिलना कठिन हो रहा है। लक्ष्मी हमें त्याग चुकी है, दरिद्रता विकट हास्य के साथ हमारे घरों पर कब्जा किये हुए है। हमारे पास स्वस्थ और निरोग रहने के साधन भी नहीं हैं, सब प्रकार के रोगों, दरिद्रता, अशिक्षा, सामाजिक अत्याचार और शोचनीय उपेक्षा के कारण भारतीय महिला समाज मरणासन्न हो रहा है।

निःशक्त शक्तिदात्री

प्राचीन शास्त्रों में नारी को शक्ति का अवतार माना है। आज वही शक्तिदायी स्वयं विपन्न और अशक्त अवस्था में है। इस का उत्तरदायी कौन है उस के अन्तःकरण की भावनायें किस ने कुचल डालीं। दानवों का संहार कर उन का दर्प-दलन करने वाली शक्ति के अवतार की यह दशा कि वह वृक्षों की परछांई से डर जाता है। यह परिवर्तन कैसे हुआ और इस के मूल में क्या कारण हैं, इन प्रश्नों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। पढ़ी लिखी वर्तमान सुधारों के पीछे जाने वाली महिलाओं तथा समाज-सुधार-प्रेमी महानुभावों को इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। पाश्चात्य समाज का स्वैरता-पूर्ण सुधार उसकी आसुरी धन-लालसा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सीमारहित व्याख्या आदि बातों की बाहरी चमक से मोहित कर बहुत सी बहिनें पाश्चात्य-सभ्यता के पीछे चलने लगी हैं। यदि उन्हें भारतीय-सभ्यता की शिक्षा दी भी जाय, तो वे उसे हंस कर टाल देती हैं। जो व्यक्ति अपने धर्म, और अपनी सभ्यता से प्रेम नहीं कर सकता, वस्तुतः वह अपने देश से भी प्रेम नहीं कर सकता।

राष्ट्रीय उन्नति

भारतीय महिलाओं की जागृति और सर्वांगीण उन्नति का प्रश्न केवल उन्हीं की उन्नति का प्रश्न नहीं है, यह सम्पूर्ण देश की सामाजिक और राजनैतिक उन्नति का प्रश्न है। यदि हमे अपनी मातृभूमि की उन्नति अभीष्ट है तो महिला समाज की उन्नति की ओर अनिवार्य रूप से ध्यान देना होगा। आज यदि भारत की नारी-शक्ति जाग्रत हो जाय तो वह भारत की अन्य बुराइयों को दूर करने में सब से अधिक सफल हो सकती है नवीन राष्ट्र-निर्माण के कार्य के लिये उन से बढ़ कर कोई समर्थ नहीं है।

शिक्षित महिलाओं का कर्त्तव्य है कि वे अपनी बहिनों का उद्धार करने में प्राणपण से लग जावें।

इस सेवा में प्राप्त होने वाला सच्चा आनन्द ही उन का सर्वश्रेष्ठ फल होगा। भारतवर्ष की वास्तविक सम्पत्ति का उपयोग भी आज की जाति बहुत अच्छी तरह कर सकती है। हमारे देश में विपुल धन धान्य है विशाल भूमि है सब चीजे पैदा हो सकती है परन्तु फिर हम दरिद्र हैं। कर्त्तव्य परायण व कर्मठ स्त्रिया भारत को सुखी व सम्पत्तिशाली बना सकती हैं। आवश्यकता है केवल गीता के सर्वमान्य उच्च तत्व के अनुसार फल की अपेक्षा न करते हुए एक वम कार्य में लग जाने की। यही एक सरल और सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

——— ———

भारतवर्ष के ४०० ०० ००० निवासी पेट भर भोजन कभी नहीं पाते।

—हंटर

*

आधे से अधिक किसान वर्ग के एक सिर से दूसर सिर तक यह भी नहीं जानते कि पेट भर भोजन करना किसे कहते हैं।

—सर चार्ल्स इलियट

*

यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि १० ००,०० ००० भारत वासी ऐसे हैं, जिनकी वार्षिक आय ५ शिलिंग प्रति मनुष्य से अधिक नहीं होती।"

—इण्डियन विटनैस [पादरियों की पत्रिका]

*

'भारत में जिस पद्धति के अनुसार ब्रिटिश शासन चलाया जा रहा है वह इस संसार में अत्यन्त निकृष्ट और पतित — एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र द्वारा लूट खसोट की — पद्धति है।

—डा० वी० एच० रथवोर्ड

* * *

'भारतवर्ष की वर्तमान शासन-व्यवस्था केवल इसी लिए अब तक विद्यमान है कि यह सब प्रकार की स्वतन्त्र और बुद्धिमत्तापूर्ण आलोचनाओं से बची हुई है।

—सर लूइस मैलट

[भू० पू० उपमंत्री भारत]

—:o:—

भारतवर्ष और साम्यवाद

(लेखक—श्री सत्यभक्त)

श्री सत्यभक्त हिन्दी के पुराने लेखक हैं। इस लेख में आपन भारत में साम्यवाद के प्रचार के विरोधियों का वर्गीकरण करते हुये प्रत्येक दल की युक्तियों का निराकरण किया है। साम्यवाद के सम्बन्ध में उत्पन्न भ्रमों का भी आपने भली भाति निरस्त करते हुये बताया है कि साम्यवाद यह दावा कभी नहीं करता कि सब लोगों की भौतिक व मानसिक स्थिति एक हो जायगी। वह तो प्रत्येक मनुष्य को उन्नति करने तथा आगे बढ़ने के लिये समान रूप से अवसर और साधन देना चाहता है।

साम्यवाद का आन्दोलन

पिछले कई महीनों से हमारे देश में साम्यवाद के प्रश्न ने बहुत ज़ोर पकड़ लिया है। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के शिथिल अथवा असफल होने पर यह स्वाभाविक भी था। जब तक यह आन्दोलन ज़ोर पर रहा, देश के उत्साही और कार्यक्षम युवक उसमें लगे रहे। जब यह सूत्र निर्बल पड़ कर छिन्न-भिन्न हो गया तो उनका भिन्न-भिन्न दिशाओं में बंट जाना निश्चय ही सा था। इन्हीं में से कुछ व्यक्ति साम्यवाद की तरफ़ भी चले आये और उनकी चेष्टा से इस आन्दोलन में भी कुछ दम आ गया।

कहने के लिये तो यह आन्दोलन वर्षों से जारी है। बम्बई, कलकत्ता, कानपुर आदि श्रमजीवी-प्रधान नगरों में कुछ लोग बहुत समय से इसके प्रचार की चेष्टा करते आये हैं। फिर जब बम्बई और कलकत्ता के चार साम्यवादियों पर कानपुर में बोलशेविक षड्यन्त्र केस सन् १९२० में चलाया गया और उनको लम्बी सजायें दी गईं, तो इसकी चर्चा और भी बढ़ गई। उसके बाद उसी प्रकार के विचार रखने वाले कुछ व्यक्ति इस आन्दोलन को फैलाने की चेष्टा करते रहे। इनकी चेष्टा का फल अधिक तो नहीं हुआ, पर इसकी चर्चा बढ़ती गई। कुछ समय पश्चात् पं० जवाहरलाल नेहरू ने इसका समर्थक बनकर ज़ोरों से इसका प्रचार शुरू किया। पंडित जी सम्भवतः साम्यवाद के प्रेमी बहुत समय से थे, पर कराची कांग्रेस के समय से वे इस तरफ़ विशेष रूप से ध्यान देने लगे। वे कांग्रेस के प्रभावशाली नेता थे। फलतः कांग्रेसमैनों की एक अच्छी संख्या इस आन्दोलन की पक्षपातिनी बन गई। इस समय ये ही कांग्रेसमैन इस आन्दोलन का विशेष रूप से प्रचार कर रहे हैं और इसे भारतव्यापी बनाने की चेष्टा कर रहे हैं।

आन्दोलन का विरोध

इन कांग्रेसी साम्यवादियों को अभी तक जो कुछ सफलता प्राप्त हुई और उनके आन्दोलन का देश के विभिन्न दलों द्वारा जैसा स्वागत अथवा विरोध हुआ है, उससे यही अनुमान होता है कि अभी तक समर्थकों के बजाय इसके विरोधियों की संख्या ही अधिक है। कम से कम इतना तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि कांग्रेस के कर्णधार म० गांधी तथा अन्य प्रथम श्रेणी के नेता उनके पक्ष में नहीं हैं। यद्यपि कांग्रेस को जहां तक सम्भव हो फूट से बचाने की गरज से वे स्पष्टतः इनका विरोध नहीं करते, पर यदि दोनों दल सचाई के साथ अपने-अपने सिद्धान्तों पर डटे रहे तो एक दिन अवश्य ही उनको अलग-अलग प्लेटफार्मों पर चला जाना पड़ेगा।

इन नेताओं के सिवा और भी बहुसंख्यक व्यक्ति साम्यवाद के विरुद्ध विचार प्रकट करते देखे जाते हैं। इनमें से कुछ तो बड़े और छोटे जमींदार हैं, जिनका हित सर्वथा साम्यवाद का विरोधी है। कुछ बड़े-बड़े व्यवसायी हैं, जो साम्यवाद को अपनी अपार सम्पत्ति तथा जायदाद के लिये खतरनाक समझते हैं। कुछ पण्डे, पुजारी, महन्त आदि धर्म-व्यवसायी हैं, जो समानता के सिद्धान्त को अपनी चैन की आजीविका के लिये घातक समझते हैं, क्योंकि साम्यवादी शासन में किसी तन्दुरुस्त आदमी को बेकार बैठे रहकर खाने की आज्ञा नहीं मिल सकती। इन तीन श्रेणी के व्यक्तियों द्वारा साम्यवाद का विरोध किया जाना स्वाभाविक है और जब तक इनमे कुछ भी शक्ति रहेगी, तब तक ये विरोध करते रहेंगे।

पर इनके सिवा कुछ ऐसे भी व्यक्ति है, जिनको वर्तमान स्थिति में किसी प्रकार का विशेष अधिकार (Privilege) प्राप्त नहीं है, तो भी वे साम्यवाद का विरोध करते हैं। इनमें दो प्रकार के व्यक्ति देखे जाते हैं। एक श्रेणी का कहना है कि साम्यवाद भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल है और दूसरी का मत है कि साम्यवाद इस देश की वर्तमान परिस्थिति में असम्भव तथा हानिकारक है। नीचे हम इन दोनों मतों पर क्रमशः विचार करेंगे।

भारतीय संस्कृति से विरोध?

जो लोग भारतीय संस्कृति के नाम पर साम्यवाद के विरोधी हैं, उनको दो दलों में बांटा जा सकता है। एक इस प्रश्न पर धार्मिक दृष्टि से विचार करते हैं और दूसरे सामाजिक दृष्टि से। धार्मिक विचार से साम्यवाद हिन्दू धर्म के पुनर्जन्म और कर्मफल सिद्धान्तों का विरोधी है। उनके मतानुसार जो लोग इस लोक में दुःखी शाप-ग्रस्त और अन्याय-पीड़ित दिखाई पड़ते हैं, वे अपने पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोग रहे है। उनकी दशा को सुधारने का उपाय साम्यवाद नहीं है। उनको चहिये कि इस जन्म में वे शुभ कर्म करें, जिनके फल से दूसरे जन्म में उनको सुख प्राप्त होगा। यद्यपि इस सिद्धान्त का आधार अन्धश्रद्धा पर है, पर इसका प्रभाव अतुलनीय है। इस सिद्धान्त ने हिन्दू समाज के अत्याचार-पीड़ित वर्ग को सैकड़ों वर्षों से सामाजिक क्रान्ति करने से रोक रखा है। इसी का परिणाम है कि एक व्यक्ति के छोटे-छोटे बच्चे आखों के सामने भूख-प्यास से तड़प-तड़प कर मर जाते हैं, पर उसके हृदय में अन्यायी समाज के प्रति विद्रोह का भाव उत्पन्न नहीं होता और वह केवल अपने भाग्य को दोष देकर सन्तोष धारण कर लेता है। इसी के कारण लोग अन्यायपूर्वक अपने स्वत्व से वंचित कर दिये जाने पर भी अत्याचारी का विरोध नहीं कर पाते और अपने दिल को समझा लेते है कि या तो पूर्वजन्म में हमने उस के साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया होगा अथवा अगले जन्म में उसे इसका प्रतिशोध देना पड़ेगा।

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के अन्ध-श्रद्धालुओं को दलीलों द्वारा समझाया जा सकना असम्भव है। पुनर्जन्म और परलोक काल्पनिक वस्तुयें हैं। पर हजारों वर्षों से मनुष्य इनका चिन्तन करता आया है और इसलिए इन वस्तुओं ने मनुष्य के दिमाग में साकार स्वरूप ग्रहण कर लिया है। इस अन्ध-विश्वास की जड़ काटने का एक-मात्र साधन विज्ञान है। पर एक तो स्वयं विज्ञान इस दृष्टि से अभी अपूर्ण अवस्था में है और दूसरे इन व्यक्तियों की उस तक पहुंच भी नहीं है।

वर्णाश्रम-पद्धति

दूसरा दल उन लोगों का है, जो भारत की प्राचीन वर्णाश्रम-पद्धति को ही समाज-संगठन की आदर्श-प्रणाली समझते हैं और साम्यवाद को समाज के लिए हानिकारक मानते हैं। इन लोगों की भ्रमपूर्ण धारणा का कारण भी प्रधानतः उनका अज्ञान ही है। वे नहीं जानते कि जिस युग में वर्णाश्रम-धर्म का आविर्भाव हुआ था, उस मे और वर्तमान युग में कितना अधिक अन्तर है। उस काल में समाज को केवल चार ही पेशों की आवश्यकता थी, जब कि आजकल हज़ारों नये पेशों की उत्पत्ति हो गई है। यह सच है कि भारत का अधिकांश भाग, जो गावों के रूप में है, अभी तक हज़ारों वर्ष पुरानी अवस्था में ही पड़ा हुआ है, पर यह स्थिति स्वाभाविक नहीं है। जल्दी या देर में उसे संसार के अन्य देशों की श्रेणी में खड़ा होना ही पड़ेगा। उस समय वर्णाश्रम को कहां स्थान मिल सकेगा? जब इस देश में कारखानों की बहुलता हो जायगी, तो सभी व्यक्ति मजदूर — हिन्दू धर्म की भाषा में शूद्र — बन जायेंगे। इसका उदाहरण अब भी बम्बई, कलकत्ता आदि व्यवसाय-प्रधान नगरों में देखा जा सकता है, जहां ब्राह्मण और क्षत्रिय चमार और मज़दूरों के साथ ही बैठकर खाते पीते हैं

और उन्हीं के बगल के घरों में उन के साथ मिल-जुल कर रहते हैं।

राजनैतिक व सामाजिक स्थिति

पर जो लोग भारत की वर्तमान राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति के आधार पर साम्यवाद का विरोध करते हैं, उनकी गणना उपर्युक्त श्रेणियों के व्यक्तियों में नहीं की जा सकती। उन के विरोध का आधार अन्धश्रद्धा अथवा अज्ञान नहीं है। इन को भी हम दो दलों में बांट सकते हैं। एक वे, जो राजनीतिक कारणों से साम्यवाद का विरोध करते हैं और दूसरे वे, जो सामाजिक कारणों से। राजनीतिक विचार वालों की मुख्य आपत्ति यह है कि साम्यवाद के आन्दोलन के कारण इस देश के विभिन्न दलों, अर्थात् किसानों और जमींदारों तथा मजदूरों और पूंजीपतियों में फूट उत्पन्न हो जायगी और हमारा स्वराज्य-संग्राम शक्तिहीन हो जायगा। ऐसी अवस्था में भारत-स्थित विदेशी सरकार की बन आयेगी और वह हमारी परतन्त्रता के जुए को और भी दृढ़ बना देगी

पर यदि विचार-पूर्वक अवस्था का निरीक्षण किया जाय तो इस दलील में बहुत कम सार मालूम होता है। प्रत्येक देश के स्वाधीनता-संग्राम में मुख्य भाग साधारण लोगों का ही रहा है। यदि बड़े लोग कभी अपने स्वार्थ पर आघात होने से प्रचलित शासन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाते भी हैं, तो भी उनका उत्साह अस्थायी होता है। जैसे ही उनकी शिकायत रफा हो जाती है, वे फिर अपने आनन्द में निमग्न हो जाते हैं। पर साधारण जनता पराधीनता के कष्टों को सदा भोगती रहती है, इसलिए वह सदैव उस के विरुद्ध रहती है और जब कभी उस के विरुद्ध आन्दोलन उठाती है तो अन्त समय तक अथवा जब तक उस में शक्ति शेष रहती है, उस में लगी रहती है। फिर भारत में अमीरों तथा गरीबों तथा बड़ी और छोटी जाति के लोगों के बीच इतनी गहरी खाई मौजूद है कि उन के लक्ष्य में किसी तरह एकता होना सम्भव ही नहीं जान पड़ता। और जब तक लक्ष्य में एकता नहीं होगी, तब तक वे किसी आन्दोलन में वास्तविक संयुक्ताम का परिचय कैसे दे सकते हैं? यही कारण था कि सन १९१९ से पहले भारतीय कांग्रेस एक सामान्य की संस्था थी, और उसके प्रस्तावों अथवा प्रतिवाद का कुछ भी महत्व नहीं समझा जाता था। पर जब म० गांधी ने देश के जन-साधारण को उसमें शामिल किया, तब उस में एक नई जान आ गई और उसने शक्तिशाली अंग्रेज़ी शासन को भी चिन्तित कर दिया। पर वह आंदोलन भी पूर्णतया साधारण जनता का न था, वरन् उस में जनता को कुछ विशेष आकर्षण दिखा कर आकर्षित किया गया था, इसलिए थोड़े ही समय में उस की कायापलट हो गई। इससे यह स्पष्ट रूप मे मालूम होजाता है कि राष्ट्रीय आंदोलन अथवा देश के स्वाधीनता-आन्दोलन के लिए बड़े लोगों की विशेष आवश्यकता नहीं है, वरन् उसका मुख्य आधार साधारण श्रेणी की जनता ही है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि ये दोनों दल मिल कर चेष्टा करें, तो सफलता शीघ्र और अधिक परिमाण में मिल सकती है, पर यह एक असम्भव सी कल्पना है, क्योंकि इन दोनों दलों का स्वार्थ एक दूसरे से भिन्न है। इसलिये यदि इन दोनों को मिलाने की चेष्टा की भी जायगी तो वह ऊपरी और अस्थायी ही होगी। इन में सच्ची एकता तभी हो सकती है जब कि बड़े कहलाने वाले लोग अथवा पूंजीपति तथा जमींदार साधारण लोगों के स्वत्व का छीनना बन्द कर दें। उस अवस्था में वे अवश्य मिल कर कार्य कर सकते हैं और उस से बहुत कुछ परिणाम निकल सकता है। पर उसका नाम फिर 'साम्यवाद होगा।

समानता का अभिप्राय

एक दल ऐसे लोगों का भी है, जो साम्यवाद का विरोध इसलिये करते हैं कि उन की दृष्टि में यह समाज के कल्याण के लिये अनिष्टकारी है। उन के मत मे सब लोगों मे समानता स्थापित हो ही नहीं सकती और यदि वैसा करने की चेष्टा की भी जाय तो उसका फल कभी अच्छा नहीं हो सकता। इस विचार के लोग अपनी शंकायें प्रायः समाचार-पत्रों में भी प्रकट करते रहते हैं और इसी आधार पर इसे भारतीय-समाज के लिये अनुपयुक्त बतलाया करते हैं। वे कहते हैं कि यह प्राकृतिक रूप से असम्भव है कि सब लोग समान हो सकें। इन लोगों की युक्तियां प्रायः अज्ञानमूलक होती हैं। ये समझते ही नहीं कि साम्यवाद के अनुसार समानता का वास्तविक अर्थ क्या है, इस सम्बन्ध में एक अंगरेज साम्यवादी का वचन, जो उस की एक नव-प्रकाशित पुस्तक में प्रकट हुआ है, विशेषरूप से उपयुक्त है। वह लिखता है:—

> "समानता शब्द के निःसन्देह विभिन्न अर्थ हो सकते हैं। इस से यह भी समझा जा सकता है कि सब मनुष्य योग्यता और शक्ति की दृष्टि से समान हों और एक दूसरे की समान रूप से सेवा करें। पर यह प्रत्यक्ष है कि इस प्रकार व्यक्तियों को समान योग्य बना सकना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। इस सम्बन्ध में इतना ही सम्भव है कि वर्तमान समय में बहुसंख्यक मनुष्यों के मार्ग में जो बाधायें मौजूद हैं और जिनके कारण वे अपने भीतर छुपी हुई

राष्ट्र-गान

मां! वीरोचित गान सुना दे।
वीणा-पाणि! सप्त स्वर-मण्डित,
अनुपम भारत-भाग्य जगा दे॥

अमल कमल-दल पुलकि उठें अति,
बहे पराग लिये मंजुल गति,
लख प्रभात हो दूर सकल क्षति,
ऐसा प्रणय-पाश फैला दे।
मां! वीरोचित गान सुना दे॥

* * *

विषम दासता तज जीवन की,
सुनें तान मधुमय 'मोहन' की,
मिटे तमिस्र-भावना मन की,
वह शुभ घड़ी समय वह ला दे।
मां! वीरोचित गान सुना दे॥

* * *

वह सीमान्त 'खान' सुखदायक,
रहे सदा ही तव गुणगायक,
हों 'राजेन्द्र' राष्ट्र-अभिनायक,
वीर 'जवाहर' के गुण गा दे।
मां! वीरोचित गान सुना दे॥

* * *

हम 'वल्लभ' से कीर्तिवान हों,
दश-दिशि मे स्वातन्त्र्य-गान हो,
साम्य-भाव ले सब समान हों,
ऐसा मोहन-मन्त्र सुना दे।
मां! वीरोचित गान सुनादे॥

—श्यामबिहारी 'शम्भु'

———:———

शक्तियों को विकसित नहीं कर सकते, उन बाधाओं को दूर कर दिया जाय। इस के फल से विभिन्न व्यक्तियों की योग्यता में इस समय जो जमीन आसमान का अन्तर दिखलाई पड़ रहा है, वह मिट जायगा। इसके लिये शिक्षा की ऐसी व्यवस्था करनी होगी, जो प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्राप्य हो और जिससे वह अपनी शक्ति के अनुसार लाभ उठा सके। आज कल बाल्यावस्था म ही, जब कि मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है, बीमारियों, पौष्टिक भोजन क अभाव तथा गन्दे घरों मे रहने के कारण गरीब बालकों के मनुष्योचित गुणों तथा शक्तियों की वृद्धि ही नहीं होन पाती। इसके लिय सर्व-साधारण के रहन सहन की व्यवस्था में ऐसी उन्नति की जानी चाहिये कि किसी को ऐसी अवांछनीय दशा में रहने को बाध्य न होना पड़े। इस का यह भी अर्थ है कि लोगों के आसपास के चारित्रिक वातावरण की उन्नति की जाय। क्योंकि अगर मनुष्य का लक्ष्य दूसरों की सेवा करना तथा अपनी शक्तियों का अधिक मे अधिक सदुपयोग करना है, तो यह आवश्यकीय है कि उनके हृदय में सेवा का आदर्श मौजूद रहे। बहुत छोटी अवस्था मे ही उन के हृदय में यह भाव उत्पन्न किया जाना चाहिय कि उन में जो कुछ शक्ति है उसका उद्देश्य अपनी समाज को अधिक लाभ पहुंचाना है और इस के लिय उन को अपनी योग्यता की जहा तक सम्भव हो ज्यादा स ज्यादा वृद्धि करनी चाहिय।"

इस विवेचन म स्पष्ट है कि समानता का अर्थ मनुष्यों को एक बराबर ताकतवर एक बराबर विद्वान् अथवा एक बराबर सद्गुणी बनाना नहीं है। जो लोग यह दलील करते हे कि क्या साम्यवादी शासन मे सब कोई समान रूप म सुन्दर होंगे, बराबर परिमाण में खाना खायेंगे और जीवन-निर्वाह की प्रत्यक आवश्यक वस्तु समान परिमाण में बांट दी जायगी, वे या तो भ्रम में पड़े हैं अथवा जान-बूझ कर कुतर्क का सहारा लेते हैं। ऐसी निराधार कल्पना करना साम्यवाद के विरोधी तथा धर्म के ठेकेदार बनने वालों का ही काम है।

समानता का अर्थ इतना ही है कि प्रत्येक मनुष्य को उन्नति करने तथा आगे बढ़ने के लिये समानरूप से अवसर और साधन दिये जायं। इसके फल से सभी लोग समाज के एक उपयोगी अंग बन सकेंगे और उनकी योग्यता तथा उनके अधिकारों में वर्तमान समय की तरह कल्पनातीत अन्तर न रहेगा। उस समय एक मनुष्य मिट्टी और दूसरा हीरा न होगा। सभी अपनी-अपनी रुचि तथा शक्ति के अनुसार समाज की सेवा करेंगे और इसलिये सभी को सामाजिक सम्पत्ति के उपयोग का अधिकार रहेगा। उस दशा में भी कुछ लोग बहुत अधिक श्रेष्ठ अथवा बहुत अधिक निकृष्ट हो सकते हैं, पर उनकी संख्या इतनी कम होगी कि समस्त समाज पर उनका कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा और वह अपवाद की भांति उनको भी अपने में खपा सकेगी।

इस छोटे से लेख में साम्यवाद के वैज्ञानिक स्वरूप की विवेचना नहीं हो सकती। तो भी हम जो कुछ बतला सके है, उस से इतना स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि साम्यवाद में ऐसी कोई बात नहीं है जो किसी खास देश के निवासियों के लिए हितकारी हो और अन्य लोगों के लिए हानिकारक। यह सच है कि साम्यवाद मानवीय उन्नति का एक खास 'स्टेज' है, जो उस समय तक वास्तविक रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता, जब तक कि उससे पिछले 'स्टेजों' तक न पहुंच लिया जाय। इस दृष्टि से भारतवर्ष कितने ही अंशों में 'साम्यवाद' के अनुपयुक्त ठहर सकता है। साम्यवाद पर अमल करने के पहले हमको सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में एक खास हद तक उन्नति करना जरूरी है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि हम साम्यवाद को भारतवर्ष के लिए हानिकारक अथवा अनुपयुक्त कहें। साम्यवाद मानवीय विकास के सर्वथा अनुकूल है और आज सारी दुनिया राजी से अथवा विवश हो कर, जानकर या अनजान में उसकी तरफ बढ़ी चली जा रही है। भारतवर्ष को भी उसकी तरफ बढ़ना ही होगा चाहे इस काम में दो चार वर्ष लगें, अथवा दस बीस वर्ष।

—:०:—

"भारत की शासन-व्यवस्था इतनी जड़बुद्धि, इतनी कठोर, इतनी हठी और इतनी असामयिक है कि वह आधुनिक बातों के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। भारत-सरकार का समर्थन नहीं किया जा सकता।"

—मि० मांटेग्यू (भारतमन्त्री)

"भारत के सुख शान्ति के दिन गये; किसी समय जो ऐश्वर्य था, उसका एक बड़ा भाग इंग्लैंड ने हड़प लिया है। एक कठोर कुशासन में पड़कर उस की शक्तियों का नाश हो गया है। थोड़े से व्यक्तियों के लाभ के लिए लाखों प्राणियों के सुखों का बलिदान कर दिया गया है।"

—सर जान शोर (भू० पू० गवर्नर बंगाल)

* * *

"इस बात के सत्य होने में सन्देह नहीं कि यदि भेदोत्पादक नीति से काम न लिया जाता, तो भारत में ब्रिटिश आधिपत्य न तो स्थापित हो सकता था और न सुरक्षित रह सकता था। हिन्दु-मुसलिम वैमनस्य भी इसी नीति का एक स्वरूप है। यह भी सत्य है कि इन दोनों जातियों की सामूहिक प्रतिद्वन्द्विता अंग्रेजी राज्य के समय से प्रारम्भ हुई।"

—सर जान मनर्ड

——:——

दिल्ली की राष्ट्रीय कार्यकर्त्री महिलायें

बाई ओर से पहली खड़ी हुई पंक्ति—(१) रमाराणी, (२) चम्पादेवी, (३) सरस्वती देवी, (४) कशमीरीदेवी, (५) सीतादेवी, (६) गंगादेवी, (७) राधारानी, (८) निक्कोदेवी (९) रामप्यारी, (१०) अभयदेवी, (११) झुनियांदेवी, (१२) नानकीदेवी, (१३) आत्मादेवी।

„ दूसरी „ —(१) द्रौपदीदेवी (२) चन्दनदेवी (३) अनारोदेवी (४) रूपरानी (५) कलावती (६) जगरानी (७) स्वदेशीदेवी (८) मानकोदेवी (९) राजरानी (१०) चन्द्रावली (११) जोगमाया (१२) चम्पादेवी (१३) मग्नदेवी।

„ तीसरी कुर्सी पर बैठी हुई पंक्ति—(१) रूपकौर (२) सावित्रीदेवी (३) गालतीदेवी (४) सत्यवती (५) व्रजरानी (६) अरुणा (७) माता राजपति कौल [प० जवाहरलाल की सास] (८) मेमोबाई (९) कस्तूरीदेवी (१०) आत्मादेवी (११) चन्द्रवतीदेवी (१२) राजरानीदेवी।

„ चौथी जमीन पर बैठी हुई पंक्ति—(१) जयदेवी (२) लच्छादेवी (३) गौरीबाई (४) चन्दादेवी।

हिन्दी के कहानी-संसार में श्री भगवतीचरण वर्मा अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। उन की यह कहानी भी पाठकों का मनोरंजन अवश्य ही करेगी।

—.—

पिताजी की डाट, माताजी की विनय श्रीमती जी के आंसू और श्रीमान् जी की अशक्तता मुझे रोक सकने में समर्थ न हो सके। तीन दिन तक बुखार में पड़े रहने के बाद चौथे दिन सुबह के समय जैसे ही छोटे भाई ने हसते हुए टेम्परेचर नारमल पर आने की खबर दी वैसे ही केशव ने मुंह लटकाये हुए उसी दिन शाम के समय निकलने वाले कांग्रेस के जलूस की सूचना दी।

केशव के मुंह लटकाने का कारण था। उस दिन नेताओं के दिमाग में न जाने क्यों एकाएक यह ख्याल आ गया कि जलूस जरा सिविल लाइन्स की हवा खाय, या यों कहिये कि सिविल लाइन्स जलूस की हवा खाय। वैसे तो सरकार जानती थी कि जलूस निकलता है जनता जानती थी कि जलूस निकलता है और जलूस निकालने वाले जानते थे कि जलूस निकलता है पर बात यों हुई कि सिविल लाइन्स के बंगलों में नौकरों, सवारियों और कुत्तो से घिरे रहने वाले साहबो ने (हिन्दुस्तानी और गैर-हिन्दुस्तानी दोनों ही) कांग्रेस का जलूस न देखा था। कांग्रेस के नेता देशभक्त होने के साथ-साथ परोपकारी होने का भी दम भरते हैं, उन्हें उन साहबो पर दया आई। बड़े-बड़े थियेटर कार्निवाल सरकस, सिनेमा बाल-डांस, फैन्सी ड्रेस-बाल, घुड़दौड़ आदि-आदि उन लोगों ने देखे अगर कुछ नहीं देखा तो कांग्रेस का जलूस। आखिर यह तमाशा भी तो वे लोग देख ले इसी बात को ध्यान में रखकर कांग्रेस के नेताओं ने यह तै किया कि कुंआ प्यासे के पास चले, यानी जलूस सिविल लाइन्स चले। इसकी सूचना मिली सरकार को, और सरकार को कुछ बुरा लगा—बुरा लगने की बात भी थी। सरकार ने सोचा कि उसके परम भक्त, कृपापात्र लायक, फरमाबरदार बच्चों को देखना चाहिये लाट साहबों का जलूस जहां बैंड बजाते हुए तोपों बन्दूकों, तलवारों से सजी हुई फौजे मार्च करती हैं घोड़ों पर मूछें ऐंठते हुए अफसर छलांग मारते हैं (घोड़े छलांग मारते हैं इसलिये उन घोड़ों पर सवार अफसर भी) फूलों से सजी हुई मोटरों पर कीमती पोशाकें पहिने हुए रईस सोलह या आठ घोड़ों से खिंचने वाला स्टेटकोच के पीछे-पीछे रेंगते हैं और सड़क पर खड़े हुए खाकी वर्दी तथा लाल पगड़ी से सज्जित सिपाही जलूस देखने के लिये एकत्रित जन-समूह को गरदन में हाथ लगाकर बड़े प्रेम के साथ भाषा के चुने हुए शब्दों को प्रयोग करते हुए पीछे ठेलते है, न कि वे देखे कांग्रेस का जलूस जहां नंगे सिर नंगे पैर, खद्दर की फटी धोती और फटा कुरता पहिने हुए असंख्य बागी बांय बांय सांय बकते हैं। उस जनाब कांग्रेस के नेताओं ने कहा हम सिविल लाइन्स घूमेंगे और सरकार ने कहा—मियां औकात मे रहो, तुम कंगले मिर्रा की क्या मजाल कि सिविल लाइन्स में घूमो, कांग्रेस-नेताओं ने कहा कि हम तो आवेंगे ही, सरकार ने कहा—हम तुम्हें नहीं आने देंगे, कांग्रेस-नेताओं ने कहा—हम सत्याग्रह करेंगे सरकार ने कहा हम मार डंडो के तुम्हारी खोपड़ी तोड़ देंगे। बस, इतनी सी बात और तनातनी हो गई। लेकिन इस सबका नतीजा भोगना पड़ेगा केशव को क्योंकि नेता थोड़े ही डंडे खायेंगे डंडे खायेंगे केशव और उनके भाई-बन्द अन्य स्वयंसेवक। इसलिये उसका मुंह उतरा हुआ था।

हां, तो अखबारों में पढ़ा था कि लाठी चार्ज होता है पर लाठी चार्ज होते न देखा था। मेरा भाग्य खुल गया, जिस देखने को आंखें तरस रही थीं उसे देखने का मौका आ ही गया, उसको भला मैं कब चूकने वाला था। शाम के समय तांगे पर लदकर मैं कांग्रेस-आफिस पहुंचा।

एक अजीब समा बंधा हुआ था। सैकड़ो स्वयंसेवक हाथ में तिरंगे झंडे लिये खड़े राष्ट्रीय गान गा रहे थे। मुख पर दृढ़ता थी और हृदयों में जोश। बीच-बीच में 'महात्मा गांधी की जय' 'भारत-माता की जय के नारे बुलन्द होते थे।

जलूस चला, लेकिन लोगों ने मुझे साथ ले चलने से इनकार कर दिया। मैंने लाख कहा कि मैंने कभी लाठी चार्ज नहीं देखा है भगवान् के नाम पर मुझे भी साथ ले चलो, पर किसी ने एक न मानी। एक ने कहा, 'तुम कमजोर हो।' दूसरे ने कहा 'अगर लाठी खाना चाहते हो तो चल सकते हो क्योंकि अगर लाठी चार्ज में एक आज मरा नहीं तो लुत्फ ही क्या रहा और तुम इस हालत में हो कि दो लाठियो में ही बड़ी आसानी से शहीद हो सकते हो। लेकिन मैं शहीद होने को तैयार न था इसलिये नहीं कि मैं मृत्यु से डरता हूं बल्कि इसलिये कि देश को मुझ से बड़ी-बड़ी आशायें हैं। अन्त में यह तै हुआ कि मैं कांग्रेस-आफिस में बैठूं और पुलिस की सूचनाएं संकलित करता रहूं।

(२)

मैं अकेला कांग्रेस-आफिस मे बैठा हुआ था और टेलीफोन से खबरें मिल रही थीं। घंटी बजी और टेलीफोन पर सुनाई पड़ा, प्रोसेशन रोड पर पहुंच गया है यहां पर पुलिस फोर्स रास्ता रोके खड़ी है उन लोगों के पास डंडे हैं। सुपरिंटेन्डेंट ने आज्ञा सुनाई कि प्रोसेशन आगे न बढ़े और पीछे लौट जाय। प्रोसेशन वालों ने सुपरिंटेन्डेंट की आज्ञा मानने से इनकार कर दिया। इसपर सुपरिंटेन्डेंट पुलिस ने लाठी चार्ज की आज्ञा दे दी है। लाठी चार्ज हो रहा है जनता तितर-बितर हो गई है केवल स्वयंसेवक जमीन पर बैठ गये हैं।

इसके थोड़ी देर बाद टेलीफोन पर फिर खबर मिली—स्वयंसेवक पिट रहे हैं और नेताओं की गिरफ्तारी हो रही है। एक ताज्जुब की बात है कि कुंवर कमलनारायण ने एकाएक आकर 'भारत माता की जय' बोली और वे भी गिरफ्तार कर लिये गये।"

मेरे हाथ से रिसीवर छूट पड़ा, खबर अधूरी रह गई।

कुंवर कमलनारायण गिरफ्तार हो गये, हत्या करके नहीं, धर फांद के नहीं बल्कि 'भारतमाता की जय' बोलकर, मेरे लिये यह इस युग की सबसे आश्चर्यजनक बात थी। कुंवर कमलनारायण उन रईसों में एक हैं जिनका काम है चौबीसों घण्टे शराब के नशे में धुत रहना। बिना गाली बात न करना और जब मौका मिल जाय, ऐयाशी करना। उनके देशभक्त बनकर गिरफ्तार होने पर चाहे और किसी को आश्चर्य हो या न हो, पर मुझे उतना ही आश्चर्य हुआ, जितना बन्दर के अदरक खा लेने पर होता या ख्वाजा हसन निजामी के हिन्दू बन जाने से होता।

फिर घण्टी बजी, 'सबके सब स्वयंसेवक गिरफ्तार किये गये आज का प्रोग्राम ओवर' हो गया।'

मैं भी उठ, तांगा मंगवा कर घर पहुंचा। मुझे देखते ही पिताजी ने अपना मुंह फेर लिया माताजी ने एक दीर्घ निःश्वास के साथ आंखों से दो आंसू गिराये, श्रीमती जी ने महाबीरजी पर पांच पैसे के बताशे चढ़ाये और श्रीमान् जी पलंग पर लुढ़क पड़े।

आंखें लगी ही थीं कि किसी ने मेरे कमरे के किवाड़ों में धक्का दिया। बड़ी मुश्किल से उठा। किवाड़ खोले तो देखा कि केशव खड़ा है। एक अजब हालत थी, कपड़े फटे हुए, चेहरा पीला और पिन्डलियां कांप रही थीं। मैंने केशव का हाथ पकड़ कर उसे अन्दर बुलाया।

केशव मेरा दूर का भाई होता है। बी० ए० पास करने के बाद जब नौकरी की तलाश में उसने अफसरों की इतनी चहलकदमी की कि उसका वजन एक मन से बढ़कर डेढ़ मन हो गया तब उसने कांग्रेस में नाम लिखाया। इस समय वह साधारण स्वयंसेवक से बढ़कर स्वयं-सेवकों का नायक बन गया था और साल भर के अन्दर ही नेता बनने की सोच रहा था।

हांफते हुए उसने कहा 'भाई एक गिलास पानी।'

मैं खुद बीमार—नहीं, बीमारी से उठा हुआ था, फिर भी मैंने केशव को पानी दिया। जिस पलंग पर मैं पड़ा था उस पर अब केशवदेव पैर फैलाये लेटे थे। पानी देते हुए मैंने कहा "कहो क्या हाल है?'

लेटे ही लेटे पानी पीकर उसने कहा "मार डाला बदमाशों ने!"

केशव की हालत देखकर कुछ दुःख होता था, कुछ हंसी आती थी। अपनी हंसी दबाते हुए मैंने कहा "तुम तो गिरफ्तार हो गये थे, इस समय यहां कहां!"

"क्या बताऊं, अभी बारह मील का रास्ता पैदल तै किये हुए चला आ रहा हूं।"

"यह कैसे?" मैं अपनी हंसी अब अधिक न दबा सका।

केशव बिगड़कर बोला "यहां जान निकल गई और तुम्हें हंसी सूझती है। बदमाशों ने लारी पर लादकर बारह मील की दूरी पर छोड़ दिया।'

"पूरा हाल तो बतलाओ!'

"हाल क्या बतलाऊं। दो डन्डे पड़े, इसके बाद गिरफ्तार हुआ। हवालात पहुंचा। वहां से एक लारी पर लादा गया और सब लोगों के साथ छोड़ दिया गया जंगल में। लारी चल दी और हम लोगों को वापिस आना पड़ा पैदल।"

केशव का किस्सा समाप्त हुआ। एकाएक मुझे कुंवर कमलनारायण की याद आ गई। मैंने पूछा "तुम लोगों के साथ सुना है आज कुंवर कमलनारायण भी गिरफ्तार हुए थे।"

केशव उछल पड़ा, मुंह पर छाई हुई मुर्दनी गायब होगई। "अरे हां, अच्छी याद दिलाई। तो फिर कुंवर साहब का किस्सा आदि से सुनाऊं?"

"और नहीं क्या'

केशव ने आरम्भ किया—कुंवर साहब के ड्राइवर का कहना है कि कुंवर साहब के यहां कल कुछ मेहमान आ गये थे। जितनी शराब थी, वह सब खतम हो गई। आज शाम के समय घर में एक बून्द नहीं और कुंवर साहब को उसकी बड़ी आवश्यकता, क्योंकि नशा उतर गया था।

शराब की इतनी तलब कि उन्हें मगवा कर पीने की फुरसत न थी। कार पर बैठकर दूकान पर ही खरीदकर पीने के लिये चल दिये। इधर दूकान पर धरना बैठा हुआ था। लोगों ने लू लू बोली और कुंवर साहब ने कार सिविल लाइन्स की तरफ बढ़वा दी। रास्ते में जलूस मिला। कुंवर साहब को देखकर लोगों ने फिकरे कसे और उन्होंने गालियां दीं—रोड के चौराहे पर उस समय लाठी चार्ज हो रहा था। कुंवर साहब ने कार रोक दी। उतरकर वे लाठी चार्ज देखने लगे। कुछ देर तक उन्होंने यह तमाशा देखा। फिर वे एकाएक कप्तान साहब के पास पहुंचे। उन्होंने कहा "कप्तान साहब' आप इन निहत्थों को क्यों मार रहे हैं। अपने आदमियोंको रोक दीजिये।"

कप्तान नया था, वह कुंवर साहेब को पहचानता न था। उस ने कहा—'चुप रहो, तुम अपना काम देखो।'

कुंवर साहब को बुरा लगा, पता नहीं उन्हें स्वयंसेवकों का पिटना अधिक बुरा लगा या कप्तान साहब का जवाब। उन्होंने आव देखा न ताव, गरज कर पुलिस वालों से कहा—इन लोगों पर लाठी चलाना बन्द करो।'

एक क्षण के लिये पुलिस वाले अवाक् रह गये। लोगों ने जब देखा कि कुंवर कमलनारायण लाठी चलाने को बन्द करा रहे हैं तब उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने नारे लगाये—'महात्मा गान्धी की जय 'भारतमाता की जय' और कुंवर साहब ने भी दुहराया—'महात्मा गांधी की जय'।

इसी समय कप्तान साहब ने कुंवर साहब को गिरफ्तार कर लिया। लारी पर बिठला कर वे हवालात भेज दिये गये।

हम लोग भी हवालात भेजे गये। वहां कुंवर साहेब से कोतवाल साहेब की जो बातें हुईं वे हमें मालूम हुईं। वे इस प्रकार हैं—

कोतवाल साहेब ने कहा—'कुंवर साहब' आप यहां कैसे भूल पड़े?'

कुंवर साहब का मुख क्रोध से लाल था, कोतवाल साहेब ने ताड़ लिया। बोले—मालूम होता है आप को प्यास लगी है।

कुंवर साहेब ने अपना सिर हिला कर 'हां' कहा।

व्हिस्की का एक पेग बरफ और सोडा के साथ कुंवर साहब के पेश किया गया, एक घूंट में पूरा गिलास खाली करके कुंवर साहब ने गिलास लाने वाले की ओर देखा। कोतवाल साहेब के इशारे पर दूसरा गिलास आया।

कुंवर साहेब की जान में जान आई।

कोतवाल साहब ने मौका देखा। बोले—कुंवर साहब' आप कैसे भूल पड़े?

एक ठण्डी सांस लेकर कुंवर साहब ने कहा—आज घर में शराब खतम हो गई थी और प्यास जोर की थी। शहर में दूकानों पर धरना था, इसलिये सिविल लाइन्स जा रहा था।

कोतवाल साहब ने कहा—क्या बतलाऊं कुंवर साहब, इन कांग्रेस वालों ने तो नाक में दम कर रखा है। आप जानते हैं आज सिविल लाइन्स की दूकानों पर भी धरना देने आ रहे थे। जब रोका तो माने ही नहीं। अगर पीटे न जाते तो सिविल लाइन्स की शराब की दुकानों पर भी ये लोग धरना करते।

'ऐसी बात है'—कुंवर साहब ने चौथा पेग पीते हुये आश्चर्य से पूछा।

'हां साहेब' अब बतलाइये, क्या किया जाय? और आप हम लोगों को इन बदमाशों को पीटने से रोक रहे थे।'

कुंवर साहेब ने कोतवाल का हाथ पकड़ कर कहा—'दोस्त, गलती हो गई, क्या बतलाऊं, अब क्या हो सकता है?'

'कुछ नहीं, आप कतई इस की फिक्र न करें। घर जा कर आराम करें।'

कुंवर साहब की कार बाहर खड़ी थी। उस पर लाद कर वे घर भेज दिये गये। उस समय कुंवर साहेब करीब करीब एक बोतल व्हाइट हार्स की समाप्त कर चुके थे।

केशव ने कहानी समाप्त की और मेरी अलमारी में रक्खे हुये फलों पर इस प्रकार झपटा जैसे भूखी बिल्ली चूहे पर झपटती है।

(३)

दूसरे दिन पत्रों में निकला—सुपरिंटेण्डेण्ट साहब ने गलती से कुंवर कमलनारायण को सत्याग्रही समझ कर गिरफ्तार कर लिया था। उस समय कुंवर कमलनारायण कुछ नशे में भी थे, नहीं तो सुपरिंटेण्डेण्ट साहब को यह गलती करने का मौका न मिलता।

इस खबर को पढ़ कर हम लोग चार आदमी कुंवर कमलनारायण का ध्यान पत्रों में निकले हुये समाचार की ओर आकर्षित करने के लिये पहुंचे। बंगले के बरामदे में कुंवर साहब बैठे हुये थे और उन के सामने पड़ी हुई मेज पर एक व्हाइट हार्स की खुली हुई बोतल, तीन चार सोडा की बोतलें तथा एक शराब से भरा गिलास रक्खा था, और कुंवर साहब की नजर बाग में काम करने वाली जवान मालिन पर थी। हम लोगों को देखते ही वे उठ खड़े हुये। उन्होंने आवाज दी—अबे ओ कलुआ, देख तो इन खद्दर-पोशों को किसने बंगले में घुस आने दिया? इन से कह दे कि कुंवर साहब मर गये।

—:०:—

"प्राचीन रोमन राज्य का सिद्धान्त था:—'शासित प्रजा में फूट उत्पन्न करके राज्य करो।' यही हमारा सिद्धान्त होना चाहिये।"

—लार्ड एलफिन्स्टन,
(बम्बई के भू० पू० गवर्नर)

—:—

स्वराज्य दल

(ले०—श्री सूर्यनाथ तकरू एम० ए० बनारस)

भारतवर्ष के स्वातन्त्र्य-सग्राम में स्वराज्य-दल का वही स्थान है, जो आयरिश स्वातन्त्र्य-युद्ध में पार्नेल के दल का था। स्वराज्य दल का जन्म कैसे हुआ, सरकार के गढ़ में जाकर दल के नीति-कुशल वीर योद्धाओं ने सरकार के कैसे छक्के छुड़ा दिये, इसका संक्षिप्त, प्रामाणिक और रोचक वर्णन विद्वान् लेखक ने इस लेख में दिया है। आज देश फिर उसी मार्ग पर चल रहा है। इस समय यह लेख बहुत उपयोगी रहेगा।

———:———

स्वराज्य-दल

सन् १९२२ ई० की बात है। राष्ट्रीयता का प्रथम आन्दोलन समाप्त हो चुका था। देश स्वराज्य के पथ की एक मंजिल चल चुका था। लोग विश्राम चाहते थे। किन्तु कुछ दरद दीवाने थे जो यह चाहते थे कि यह युद्ध बन्द न हो। मोर्चा डटा रहे, समरभूमि में स्वाधीनता के सैनिक जूझते रहें और स्वातन्त्र्य युद्ध-यज्ञ में आहुतियां पड़ती रहें। उन के हृदय में बलिदान था, उनके हृदय में कसक थी, उन की लगन सराहनीय थी। यहां वे एक छोटी सी बात नहीं याद रख सके। मानव-स्वभाव और मानव शरीर दोनों ही परिवर्तन के पक्षपाती हैं। सत्याग्रह आरम्भ हो या न हो, देश के सामने यह समस्या थी। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने, लखनऊ में जून के दूसरे सप्ताह में बहुत वाद-विवाद के बाद इस समस्या को सुलझाने के लिये एक उपसमिति का संगठन कर दिया, जो बाद में सत्याग्रह-जांच-कमेटी' के नाम से प्रसिद्ध हुई। मसीहुलमुल्क स्व० हकीम अजमल खां उस के

स्वराज्य-दल के प्राण

त्यागमूर्ति पं० मोतीलाल नेहरू

स्वराज्य दल के जन्मदाता
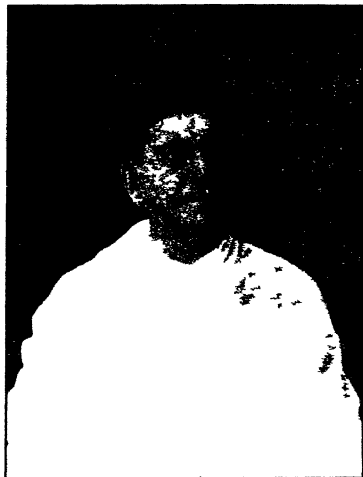
देशबन्धु चित्तरंजन दास

अध्यक्ष थे और सदस्य थे स्व० पं० मोतीलाल जी नेहरू, स्व० श्री विट्ठलभाई पटेल स्वर्गीय श्री कस्तूरी रंगा आयंगर, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य और डा० अन्सारी सरीखे प्रभावशाली राष्ट्र नेता। इस कमेटी ने सारे देश का दौरा किया। प्रायः सभी प्रसिद्ध संस्थाओं तथा राष्ट्रपुत्रों के मत जानने की चेष्टा की गई और अन्त में ३० अक्तूबर १९२२ को इसने अपनी रिपोर्ट भी छाप दी। कमेटी के सभी सदस्य इस बात पर एकमत थे कि देश सत्याग्रह के लिये तैयार नहीं है। किन्तु एक बात ऐसी थी, जिस पर कमेटी में मतभेद था। तीन सदस्यों का—हकीम जी पण्डित जी और पटेल जी—यह कहना था कि कौन्सिलें और असेम्बली सरकारी किले हैं। उनपर अधिकार जमा लेना उचित होगा। शेष तीन सज्जन इसमें असहयोग का अन्त देखते थे। वे विरोध पर कटिबद्ध हुए। देश भर का वायुमण्डल इस प्रश्न से गूंज उठा। दोनों पक्ष—जो परिवर्तनवादी' और 'अपरिवर्तनवादी' के नाम से विख्यात हुए—पूरी चेष्टा करने लगे कि लोकमत उनकी ओर हो जाय। गया में देशबन्धु चित्तरंजन दास के सभापतित्व में राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन हुआ। दोनों दलों ने अपनी-अपनी शक्ति आजमाई। किन्तु अपरिवर्तनवादियों ने 'बिहार' में परिवर्तनवादियों को हारना पड़ा। 'परिवर्तनवादियों को आठ सौ से कुछ अधिक वोट मिले और उनके विरुद्ध 'अपरिवर्तनवादियों' ने सत्रह सौ से भी अधिक वोट पाये। इस करारी हार के बाद भी कौंसिलवादी चुप नहीं रहे। वे श्रीहत नहीं हुए। देशबन्धु दास त्यागमूर्ति नेहरू जी और वीरवर पटेल कोई मामूली आदमी तो थे नहीं जो हार कर चुप हो रहते। वे थे अपनी धुन के पक्के, कर्मठ, वीर। तुरन्त ही उन्होंने 'अखिल भारतीय कांग्रेस-खिलाफत स्वराज्य-पार्टी'' को जन्म दिया। देशबन्धु दास ने कांग्रेस के सभापतित्व से और पं० मोतीलाल जी ने प्रधान-मन्त्रित्व से त्यागपत्र दे दिया।

सारे देश में घूम-घूम कर उन्होंने परिवर्तन की आवश्यकता लोगों को समझाई। उन्होंने बताया कि केवल चर्खे के बल पर ही सार्वजनिक जीवन नहीं चल सकता। सत्याग्रह के अभाव में और अन्य किसी जीवित आंदोलन की अनुपस्थिति में यह तो निर्विवाद है कि दास-नेहरू का कार्यक्रम अधिकाधिक बल प्राप्त करता गया। महाराष्ट्र के नेताओं से परिवर्तनवादियों को पर्याप्त सहायता मिली

भारत के दो दिवंगत प्रकाण्ड राजनीतिज्ञ

त्यागमूर्ति प० मोतीलाल नेहरू

"मै रोग से लड़ूगा, मृत्यु से लड़ूंगा और सब के ऊपर दासता-रूपी राक्षस से लड़ूगा ।"

-मोतीलाल नेहरू ।

My Country is my Religion
Delhi 23.4.30 Vithalbhai

"मेरा देश ही मेरा धर्म है ।"

दहली, २८.४.३० -वी० जे० पटेल ।

श्री विट्ठलभाई पटेल (असेम्बली के अध्यक्ष

अमेम्बली का गौरव
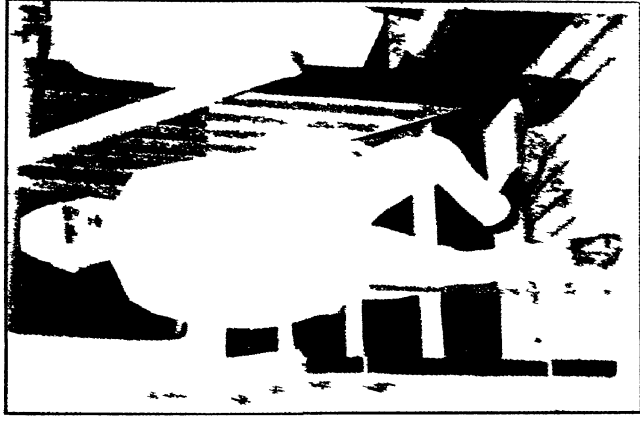
श्री विट्ठलभाई झवेरभाई पटेल

और कांग्रेस के लोग भी इस गृह-कलह से थक गये। सितम्बर मास सन् १६२३ में दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेषाधिवेशन मौलाना अबुल-कलाम आजाद के सभापतित्व में हुआ। तब तक मौ० मुहम्मदअली भी जेल से छूट आये थे और उन्होंने भी परिवर्तनवादीदल की खूब मदद की। उनके इस कथन से कि 'महात्मा जी ने उनके पास आध्यात्मिक सन्देश भेजा है कि कांग्रेसवालों को व्यवस्थापिका सभाओं में जाने दो' अनेक गान्धी-भक्त निरुत्तर हो गये। खैर, किसी तरह उस 'बुतकदे' में जाने की इजाजत तो मिली।

चुनाव-युद्ध का संगठन हुआ। स्वराज्यदल की सहायता करने के लिये कलकत्ते से 'फारवर्ड' का जन्म हुआ। देशबन्धुदास, प० जवाहर-लाल नेहरू आदि नेताओं ने धूम मचा दी। स्वराज्यदल के पास ध[illegible] की कमी तो थी, पर उसके नेता रणकुशल वीर थे, जो अपनी धुनके पीछे सर्वस्व स्वाहा करने की हिम्मत रखते थे और लगन समर की सब से बड़ी चीज भी तो है। थोड़े ही समय में स्वराज्यदल ने अभूत विजय प्राप्त की। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री सतीशरंजन-दास, श्री शेषगिरि ऐयर, श्री चिन्तामणि, श्री कामन्त, श्री हृदय-नाथ कुंजरु सरीखे कीर्तिवान नेता भी स्वराजी प्रतिद्वन्दियों द्वारा परास्त हुये। श्री सुरेन्द्रनाथ के पराजय ने तो विदेशों तक में सन-सनी कर दी। बंगाल का वह बेताज का बादशाह, बंगाली-हृदय-सम्राट्, भारतीय राष्ट्रीयता का जनक, एक साधारण स्वराजी सिपाही द्वारा हरा दिया गया। लोगों को यह मानना पड़ा कि कांग्रेस स्वराजी-दल का भी जनता पर कुछ अधिकार है और उसके नेता केवल वाग्वीर ही नहीं हैं। यह तो हुआ, पर मध्यप्रान्त को छोड़कर कहीं भी स्वराज्य-दल का बहुमत न हो पाया। हमारी धारा-सभाओं का संगठन ही ऐसा है कि जब तक ७०-७५ फीसदी निर्वाचित जगहों पर विजय प्राप्त न हो तब तक बहुमत होना सम्भव नहीं होता। अस्तु।

सरकार की चिन्ता

स्वराज्य-दल का कार्यक्रम था 'सरकार का सतत विरोध' और सरकारी पदों को स्वीकार न करना उन्होंने तय कर लिया था। बहुमत न होने के कारण स्वराजी ऐसा न कर सके। अब उनके सामने यह समस्या थी कि वे क्या करें और कैसे करें। बड़ी व्यवस्थापिका सभा में स्वराजियों की संख्या केवल ४३ थी। ३ बर्मन और ६ अन्य मतवादियों के मिल जाने से उन की संख्या ५२ हो गई थी। उन्होंने अपना नेता प० मोतीलाल जी को चुना। पंडित जी के पूर्ण गौरव और उनकी पूरी योग्यता एवं क्षमता का परिचय देश को असेम्बली द्वारा ही मिला। उप-दलपति हुये श्री विट्ठलभाई पटेल और दल-मन्त्री बने श्री रंगा-स्वामी आयंगर। स्वराजियों के आगमन से सरकार भी सशंक हो गई थी। ३१ जनवरी १६२४ को लार्ड रीडिंग ने दूसरी भारतीय धारा-सभा का उद्घाटन करते हुये अपनी इस दुश्चिंता का जिक्र किया था। उन्होंने कहा था—'मैं भवि-ष्यवाणी नहीं कर सकता हूं। मैं नहीं जानता कि भविष्य के गर्भ में क्या है। परन्तु मैं इस बात को छिपाने में असमर्थ हूं कि भारत की राज-नीतिक परिस्थिति और उस की व्यवस्थापक समस्यायें कुछ ऐसी हो गई हैं कि जिनके कारण मैं सुधारों के भविष्य के सम्बन्ध में चिन्ताशील हो गया हूं।"

केवल यही नहीं, वायसराय महोदय ने यह भी संकेत कर दिया था कि 'यदि प्रान्तों में परिस्थिति अधिक गम्भीर हो गई तो प्रान्तीय सरकारें इस बात से निश्चिन्त रहें कि मैं उनका पूर्ण समर्थन करूंगा।'

स्वराजी बच्चे तो थे नहीं। उन में अनेक विचक्षण विद्वान् थे। उनके अतिरिक्त श्रीमान् प० मदनमोहन मालवीय, श्री विपिनचन्द्र पाल और मि० जिन्हा सरीखे राष्ट्रभक्त सज्जन भी असेम्बली में आ गये थे। सब लोगों ने चेष्टा करके संयुक्त 'राष्ट्रीय दल' का निर्माण किया और उसका नेतृत्व एक कमेटी के सुपुर्द कर दिया। इस कमेटी के सदस्य सर्वश्री प० मोतीलाल नेहरू, विट्ठलभाई पटेल, नृसिंह चिन्तामणि केलकर, रामचन्द्रराव, रंगास्वामी आयंगर, मदनमोहन मालवीय और मुहम्मद अली जिन्हा थे। सत्तर सदस्य इस दल में भर्ती हो गये। इस दल की शक्ति के आगे सरकार की एक न चली।

राष्ट्रीय मांग

राष्ट्रीय दल का सर्वाधिक मह-त्वपूर्ण कार्य 'राष्ट्रीय मांग' थी। मांग का प्रस्ताव रूप में मद्रास के दीवान बहादुर टी० रंगा-चार्य ने पेश किया था। किन्तु उस पर पं० मोतीलाल जी ने एक सं-शोधन पेश किया। दीवान बहादुर ने उस संशोधन को स्वीकार कर लिया। उस संशोधन द्वारा पण्डित जी ने भारत की सम-स्याओं को सुलझाने के लिये गोल-मेज सभा आमन्त्रित करने का प्र-स्ताव किया था और भारत के स्वाधीनता के अधिकार को स्वी-कार करने को कहा था। दो दिन तक उस मांग पर गरमागरम बहस

असेम्बली में स्वराज्य-दल के परम सहायक
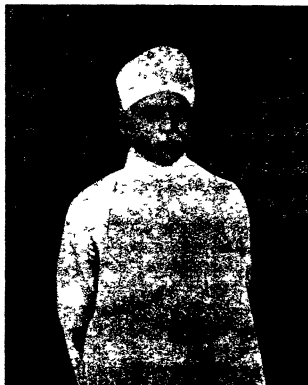
महामना मदनमोहन मालवीय

होती रही। प्रस्ताव (६४पक्ष व ४८ विपक्ष) बहुमत म पास हो गया। महात्मा जी की रिहाई क प्रस्ताव क पश होन क पूर्व ही वे रिहा कर दिय गय थ।

बजट नामजूर

सन् '१९२४ का फाइनन्स विल (आय-व्यय का सरकारी मस्विदा) पेश हुआ। स्वराजी चाहते थ कि वह पास न हो पर सयुक्त राष्ट्रीय दल क अन्य दलपति सहमत न होते थ। सरकारी माग (E\ 1 D 1)को ही रद्द कर दना व पर्याप्त समझत थ। मौके म एक बात हो गई। जैतो में सिक्ख सत्याग्रहियो पर गोली चली। एक दर्शक न उसका करुण विवरण आकर देहली में सुनाया। पूज्य मालवीय जी का नवनीत-कोमल ब्राह्मण-हृदय द्रवीभूत हो उठा। उन की आत्मा क्रन्दन कर उठी। उन्होंन चट नहरू जी को फोन किया कि वे (मालवीय जी) बजट' रद्द करन का प्रस्ताव पेश करेंगे। नहरू जी क लिय तो घर बैठे गगा आई। उन्होंन फौरन स्वीकार कर लिया। पूज्य पण्डित मालवीय न बजट का विरोध करत हुय बडे मार्के का भाषण दिया था। उन्होंन कहा — जब तक 'गवर्नमेंट आफ इण्डिया एक्ट' का सशोधन नहीं होता, आत्म-सन्मान की भावना और परमात्मा न जो थोडी बहुत बुद्धि मुझे दी है वे मुझे आज्ञा नहीं देतीं कि मै आज या निकट भविष्य में करों क समर्थन करू।

बजट पास न हो सका। '० वोट मालवीयजी क पक्ष मे थ और सरकार ,७ वोट ही पा सकी। इसम स्वराजियों की बडी धूम मच गई। लण्डन तक सनसनी फल गई और कानून क दिग्गज पण्डित प्रवर भी कांप उठे।

स्वराज्य दल म फूट

सन '१९२, स्वराज्य दल क लिये और भारत क लिये बडा ही अशुभ वर्ष था। इस साल स्वराज्य-दल क सभापति देशबन्धु श्री चित्तरञ्जनदास जी की असमय में ही इहलोक-लीला सवरण हो गई। देशबन्धु की मृत्यु क कुछ पूर्व ही बगाल क कई सुप्रसिद्ध स्वराजी, जिनमें श्री सुभाषचन्द्र बसु, श्री सत्येन्द्रचन्द्र मित्र श्री अनिलबरण राय आदि के नाम मुख्य हैं—काले कानून द्वारा नजरबन्द कर दिये गये। यह तो हुआ ही था। देशबन्धु को निधन हुये दो मास भी पूरे नहीं हुये थे कि मध्यप्रान्त के श्री ताबे न—आप बाद को गवर्नरी भी पा चुके हैं—सरकारदत्त मत्री पद स्वीकार कर लिया। यह खुला विद्रोह था। मध्यप्रान्त के नता डा० मुजे न उनके इस कार्य की प्रशसा की और बम्बई में मि० जयकर और पूना स मि० केलकर न भी उनके इस कार्य का समर्थन किया। किन्तु स्वराज्य-दल के बहुमत को यह विद्रोह पसद न आया। फिर भला प० मोतीलाल जी स तेजस्वी पुरुष यह कम सहन कर सकत थे। उन्होंन कठोर शब्दों में मि० ताबे के इस कृत्य की निन्दा की और महाराष्ट्र-नताओं क प्रति भी असन्तोष प्रकट किया था। महाराष्ट्र-नता कहते थ आपन स्वय पटेल जी को सभापति चुनवाया है। पर नहरु जी आदि का उत्तर था कि सभापति का पद सरकारदत्त नहीं होता। इसी बात को लेकर स्वराज्य-दल मे फूट पड गई।

श्री विटठलभाई झवेरभाई पटेल का निर्वाचन भारतीय इतिहास की अनुपम एव चिरस्मरणीय घटना है। उनका मुकाबिला था दीवान बहादुर रा० रगाचार्य स। कवल दो वोट क बहुमत स पटेल जी विजयी हुय। इतिहास साक्षी हे कि श्री पटेल सरीखा विचक्षण विद्वान एव निष्पक्ष सभापति बिरला ही हुआ होगा। सन २६ में स्वराज्य दल वाले धारासभा से उठ आये। प० मोतीलाल ने जी एक वक्तव्य दिया। उसमें उन्होंन कहा कि हम इस सरकार की शक्ति से अपरिचित नहीं हैं। हम अपनी कमजोरियों स भी वाकिफ हैं। देश की वर्तमान गिरी हुई हालत में हम यह भी जानत हैं कि हमारा अहास्त्र सत्याग्रह भी सम्भव नहीं है। फिर भी हम यह समझते हैं कि हमारा अब यहां ठहरना व्यर्थ है। उन्होंन स्पष्ट कह दिया कि लडाई जारी रहेगी और स्वराजी लौटग। प० जी के इस वक्तव्य से जाहिर है कि उनको उस रगमच तक का भी मोह नहीं था जहा के वे सर्वश्रेष्ठ अभिनता थे। जिन जीवन का मोह न हो वह खिलौन को कम प्यार कर सकता था। स्वराज्य दल क उठ आन क बाद ही सभापति पटेल न धारासभा यह कह कर भग कर दी कि चूकि विरोधी-दल उठ गया इससे सरकार को यह शोभा नहीं देता कि वह धारासभा जारी रखे। पर दूसरे दिन उन्होंने अपन वक्तव्य की व्याख्या कर दी और यह कहा कि पहिले दिन वाला वक्तव्य केवल सलाह-मात्र थी।

सन १९२५ के अन्त में कानपुर काग्रेस में स्वराज्य-दल और प्रतिसहयोगियों का मुकाबिला हुआ। प्रतिसहयोगी-दल का नतृत्व ग्रहण किया मालवीय जी न। नहरु जी को सौभाग्य स लाला लाजपतराय का सहयोग प्राप्त हो गया। विजय स्वराज्य-दल को हुई और प० मालवीय का सशोधन गिर गया। इसके बाद प्रतिसहयोगी हिन्दूसभा स्वतन्त्र काग्रेस आदि २ नाम रखकर भिन्न-भिन्न स्वार्थों और वर्णों के लोग चुनाव की लडाई लडने को कटिबद्ध हुये। सन २६ का-सा कटु-निर्वाचन भारत में तो अबतक हुआ नहीं। भविष्य की कौन कह सकता है। इसी बीच में अज्ञात कारणों से लाला जी भी दल से हो गये थे। वे भी मालवीय जी से मिलकर स्वराज्य-दल के विरुद्ध युद्ध में सहायता दे रहे थ। भीषण सघर्ष क बाद चुनाव समाप्त हुआ। पजाब युक्तप्रान्त और मध्यप्रान्त में कांग्रेस की करारी हार हुई। ला० दुनीचन्द, श्री आसफअली डा० सत्यपाल, दीवान चमनलाल (ला० लाजपतराय सन् २६ मे दो निर्वाचन क्षेत्रों स खडे हुय थे और सफल भी हुये थे। बाद मे उन्होंन एक स त्याग-पत्र दे दिया और उन क स्थान पर दीवान चमनलाल निर्वाचित हो गय थे) श्री श्रीप्रकाश श्री अभ्यकर सरीखे प्रसिद्ध राष्ट्रकर्मी पराजित हुय। किन्तु यह कमी मद्रास और बिहार न पूरी कर दी। मालवीय जी के दल को भी कुछ बहुत अधिक सफलता नहीं मिली। फिर भी काग्रेस के ५० और मालवीय-दल क १७-१८ सभ्य निर्वाचित हो गय। सन्तोष की बात है चुनाव की कटुता को लोगों न सभा मण्डप क बाहर ही छोड दिया। देश क हितों का ध्यान सभी न पूरा पूरा रक्खा और कभी भी व्यक्तिगत वमनस्य द्वारा देश को क्षति नहीं पहुचाई।

अन्य महत्वपूर्ण बिल

तीसरी असेम्बली का इतिहास बहुत ही महत्वपूर्ण है। देश की अनक महत्वपूर्ण समस्याओं का निर्णय हुआ। पहिला महत्वपूर्ण कार्य तो विटठलभाई का अविरोध निर्वाचन ही था।

'रिजर्व बक की नींव भी इसी असेम्बली मे पडी थी। तत्कालीन अर्थसचिव, सर बैसिल ब्लैकेट, इसे अपना सर्वश्रेष्ठ कार्य बनाना चाहते थे। बैंक का विचार उत्तम था। काग्रेस वादियों न इसका स्वागत किया। काग्रेस की ओर से श्री जमनादास महता श्री रगास्वामी आयगर और श्री आर० के० षण्मुखम चेट्टी (अब सर षणमुखम सभापति असेम्बली) उपसभापति सदस्य बन। उपसमिति की रिपोर्ट मे मतभेद था। भारतीय सभ्य चाहते थे कि बैंक का सचालन निर्वाचित डायरक्टर करें, पर सरकार को यह मजूर नहीं था। श्री श्रीनिवास आयगर — स्थानापन्न काग्रेस-नेता (प० मोतीलाल जी यूरोप गये हुये थे) — ने समझौते का एक अरिष्ट निकाल दिया और उसे सरकार ने

चाह !

चाह नहीं है नता बन कर जग म पैर पुजाने की !
चाह नहीं है अखिल विश्व से महापुरुष कहलाने की !
चाह नहीं है राज्य पदवियां, पद उपाधियां पाने की !
चाह नहीं है विश्व शिखर पर विजय ध्वजा फहराने की !

चाह ! एक बस है जीवन म क्या पूरी होगी भगवान् ?
जननी जन्म भूमि क पद पर हो जाऊं हस कर बलिदान !

—कल्याणकुमार जैन 'शशि'

स्वीकार भी कर लिया। परन्तु इसके बाद् यह बिल खटाई में पड गया। देहली में एक नया बिल पेश किया गया। किन्तु श्री अरये न उस पर आपत्ति की कि पुराना बिल जब तक उठा न लिया जाय, तब तक नया बिल पेश नहीं हो सकता। श्री पटेल न इस मत का समर्थन किया और नय बिल को रोक दिया। फिर अचानक सरकार न वह बिल ही उठा लिया।

इसके अतिरिक्त दूसरी महत्व-पूर्ण आर्थिक समस्या थी, सिक्के की दर। दर १६ पेंस हो या अठारह पेंस—यह प्रश्न था। भारत क हित की दृष्टि मे तो दर-निर्णय उचित न था। १८ पेंस तो हानिकर ही था। इस पर अत्यन्त कठिन युद्ध हुआ पर विजय (६७ वोट पक्ष में—६८ विपक्ष में) सरकार की हुई। श्री एस० एन० हाजी क 'सागर टैरिफ बिल पर कड़ी लड़ाई हुई पर इसका निर्णय तब हुआ, जब स्वराजी असम्बली छोड चुके थ।

जन-रक्षा बिल

भारत क इतिहास में 'जन रक्षा बिल (Public Safety Bill) पर कांग्रेस दल का युद्ध अमर रहेगा। खास कर श्री पटेल न जिस अद्भुत साहस और प० मोतीलाल न जिस प्रकाण्ड पाण्डि-त्य का परिचय दिया था उस का स्मरण करके ही हृदय भर आता है। इस बिल द्वारा सरकार चाहती थी भारत में विदेशों द्वारा किया गया प्रचार रोका जाय। इस का स्पष्ट अर्थ यह था भारत मे साम्य-वाद का जो प्रचार हो रहा था उस का प्रतिबन्ध हो। सन् १९२८ में शिमला में यह बिल पश हुआ। पण्डितजी न सभापति स रूलिंग (निर्णय) मागी कि व इस बिल को गैर-कानूनी करार कर दें, क्योंकि असेम्बली को यह अधिकार नहीं है कि वह विदेश-सम्बन्धी विधान बनाये। सभापति न निर्णय बाद मे सुनान का निश्चय किया और बिल की पहिली रीडिंग (६१ पक्ष ५० विपक्ष) पास हो गई। सन् १९२९ मे तो दिल्ली मे बडे मार्के का मोर्चा हुआ। दीवान चमनलाल न कहा कि, भूखी पेटें ही वर्गवाद (कम्यूनिज्म) की जन्मस्थलिया हैं। प० मोती-लाल जी न भी विरोध करते हुए बड़ा ही ओजस्वी भाषण दिया। उन्होंन कहा:—

'अब तक किसी भी धारा-सभा न शासकों को इतनी जबर्दस्त शक्ति इसलिये नहीं दी, क्योंकि उनके पास मुकदमा चलान को पर्याप्त गवाह नहीं थे। यह बिल कांग्रेस और भारतीय राष्ट्रीयता पर सीधा आक्रमण है। क्या आप हमारे राष्ट्रीय भावों को नष्ट कर सकते हैं। व समय चले गय।

वस्तुत हम सब शान्तिमय क्रान्तिकारी हैं।

पूज्य मालवीय जी ने भी बडे मार्के का भाषण दिया था। उन्होंन कहा था:—

क्या हम भारतीय क नात स अपन युवकों को शिवाजी और गुरु गोविन्द की स्वातन्त्र्य-भावना न सिखावें और भारत में स्वशासन स्थापित करन क लिय शिक्षित न करें। यदि हम उन्हें ऐसी शिक्षा द तो क्या तुम—अंग्रेज लोग—हमारी इज्जत न करोग। यदि हम प्रत्यक बालक के हृदय में यह विचार भर दें कि वर्तमान शासन हमार हितों क लिय घातक है तो क्या आप हमारी प्रतिष्ठा न करग?

ब्रिटन स सम्बन्ध-विच्छेद कर पूर्ण स्वतन्त्रता की भावना युवकों में बढ रही है। सरकार क बड-बडे शस्त्रागार और सनाये भले ही कुछ लोगों को मार दें किन्तु युवकों मे उठती हुई इस भावना का नष्ट करन मे व कभी सफल नहीं हो सकतीं।"

परन्तु सरकार की विजय हुई। (पक्ष ६१ विपक्ष ५०)। किन्तु पटेल जी न दूसरी अप्रैल १९२९ को बिल पर बहस रोक दी। क्योंकि उसमे एक विचाराधीन मुकदम की आलोचना होना अनिवार्य हो गया था। मेरठ-षड्यन्त्र केस चल रहा था। ४ तारीख को तत्कालीन गृह-सदस्य सर जेम्स क्रेगर न सभा-भवन में आकर घोषणा की कि सभा-पति का निर्णय अनधिकारपूर्ण था। दूसर दिन सर्वश्री नहरू आयगर तथा जयकर जैसे विचक्षण विद्वानों न सभापति क निर्णय का समर्थन किया। ८ ता० को जस ही सभा-पति पटेल अपनी रूलिंग दन खडे हुए, दो 'बम सभा-मडप म आकर गिर। और इनकिलाब जिन्दाबाद के नाद से सभास्थल गूंज उठा। बम फेंकन वाले स्व० सरदार भगत-सिंह और श्री० बटुकेश्वर दत्त थे। ११ तारीख को सभापति न अपन निर्णय को फिर दुहराया, किन्तु दूसरे दिन लार्ड इरविन न उस काला कानून (Ordinance) बना दिया।

व्यापारी बिल पर भी खूब चखचख रही। साइमन कमीशन क बहिष्कार का प्रस्ताव भी इसी दर्म्यान में पेश हुआ। पंजाब-केसरी ला० लाजपतराय न प्रस्ताव पेश करत हुए अत्यन्त ओजपूर्ण भाषण दिया। बहिष्कार का प्रस्ताव (६८ पक्ष—६२ विपक्ष=१३०) पास हो गया। असेम्बली में इसस अधिक वोटिंग कभी भी नहीं हुई। इसके अतिरिक्त दीवान बहादुर हरबिलास शारदा का बाल-विवाह निषध बिल सर हरिसिंह गौड का सहवास-सम्मति बिल भी पास हो गय।

स्वराज्य दल का उपसंहार

इतन दिनों मे देश की परिस्थिति बहुत बदल गई थी। रावी क किनारे स्वाधीनता का शंख फूंक दिया गया था और कांग्रस न घोषणा कर दी थी कि अब स्वाधीनता संग्राम फिर छिडेगा। फिर आजादी क व दीवान भारत क वे सुपूत सभा-भवन मे कैसे ठहरत? जन-वरी १९३० मे कांग्रेस-दल न त्याग-पत्र दे दिया। और कुछ समय क लिय स्वराज्य-दल का अन्त हो गया। थोडे ही दिनों बाद प० मालवीयजी और श्री पटल आदि भी त्यागपत्र देकर निकल आय। यद्यपि सर्व श्री सत्येन्द्रचन्द्र, अमर-नाथ दत्त तरुणराम फूकन षणमुखम् चेट्टी सरीख कुछ लोग बाहर नहीं आय, फिर भी स्वराज्य-दल का खातमा हो गया। नवीन स्वराज्य-दल की सृष्टि बच्चे स्वराजियों न की पर वह चला नहीं। मध्यप्रांत मे और बंगाल में स्वराज्य-दल की विजय पूर्ण रही। द्वैध-शासन का उन दोनों प्रान्तों मे अन्त हो गया। पंजाब और बम्बई मे स्वराजियों का बहुमत कभी नहीं रहा मद्रास और बिहार मे अवश्य उन्होंन जोर मारा और कुछ कर भी दिखाया। संयुक्त प्रान्त मे भी स्वराज्यदल का जोर रहा।

स्वराज्य दल का कार्यक्रम केवल विध्वसात्मक ही नहीं था। यह कहना कि वे केवल विध्वंस करना चाहते थे, सत्य नहीं है।

स्वराज्य दल न सात वर्षों म एक भी अवसर ऐसा नहीं दिया जब यह कहा जा सक कि उसन देश-हित के विरुद्ध कार्य किया। स्वयं विश्ववंद्य महात्मा न अभी काशी में कहा था कि प० मोतीलाल और उनक दल न ऐसा एक वाक्य भी नहीं कहा, जिसक लिय देश लज्जित हो। उनकी खूबी यह था कि उनको न पदों का पुरस्कार था न खिताबों का मोह। फिर भी संगठन सुदृढ था उनका संचालन वैज्ञानिक सामयिक ढंग स होता था और उनका संयम सराहनीय था। भारत क किसी अन्य दल को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। विपक्षियों तक न उनके संगठन और संयम की प्रशंसा की थी।

कुछ प्रमुख सदस्य

स्वराज्य दल क कुछ प्रमुख व्य-क्तियों का वर्णन करके अब इस लेख को समाप्त करूंगा। प्रमुखों क प्रमुख थे—प० मोती-लाल जी नहरू। नहरू जी सच्चे राजर्षि थे। उनका प्रकाण्ड पाण्डित्य उनकी तीव्र बुद्धि, उनकी अद्भुत प्रतिभा उनका सेना-संचालन-नैपुण्य उनका व्यक्तित्व उनका त्याग देश को सदा याद रहेगा। उनकी स्मृति देश की अक्षय और अमर सम्पत्ति है। वीरवर विट्ठलभाई पटल न सभापति बन कर दिखा दिया कि भारतीय निरे निकम्मे ही नहीं हो सकते। वायसराय, सेनापति गृह-सदस्य सभी को उसन नीचा दिखाया। लोग कहते हैं कि जिस दिन अन्तिम बार वे सभापति क कुर्सी पर बैठे थ उस दिन वे असा-धारण रूप स गम्भीर थे और जब

उन्होंने कहा Gentlen en, the l e is al] inel तब एक सन्नाटा सा छा गया और लोगों ने यह अनुभव किया कि जैसे अमेम्बली मर गई। उनकी इस उक्ति में कितना व्यग है, कितनी वेदना। 'I l v art paa a l per 1 1 पटम महोदय 'पीयरेज और पेन्शन तो नहीं मगर एक राष्ट्र का कृतज्ञ हृदय आपको सदा याद करगा। स्व० श्री० ए० रग-स्वामी आयगर (हिन्दू—सपादक) भी बडे गम्भीर विद्वान और अर्थ-शास्त्र और शासन विधान सम्बन्धी गुत्थियों को सुलझान मे एक ही थे। लाहोर के दीवान चमनलाल और कलकत्ते क श्री तुलसीचरण गोस्वामी भी वाग्मी सदस्य थे। श्री श्रीनिवास आयगर अब राज-नीति स अलग हो गय हैं, पर वे भी स्वराज्य दल के एक बल थे। प्रांतों में सर्वश्री मनगुप्त सुभाष बसु, नलिनीरजन सरकार, शरत बसु, (बगाल) श्रीकृष्णसिंह राय बृजकृष्ण (बिहार) श्रीगोविंद वल्लभ पन्त गणेशशकर विद्यार्थी, सम्पूर्णानन्द (युक्त प्रात) मुहम्मद आलम (पजाब) नरीमान (बबई) सत्यमूर्ति (मद्रास) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आज ग्यारह वर्षों के बाद इतिहास अपने को दुहरा रहा है। आश्चर्य है कि स्वराज्य दल के जन्म के समय जिन डा० अन्सारी और श्री राजगोपालाचार्य ने उसका प्रबलतम विरोध किया था वे ही उसक पुनर्जन्म में सब से अधिक-प्रभावशाली हुए हैं। विश्वास है कि देश अपन इन बाके सिपाहियों को अपनायगा और य भी अपन पूर्व-गौरव की रक्षा करेंगे और देश क सम्मान का—स्वाधीनता का झण्डा न झुकन देंगे।

— ० —

क्लाइव के धन एकत्र करन के माग में स्वय उसके सयम क अति-रिक्त और कोई बाधक नहीं था।

वह सोन और चादी के ढेरों में होकर चलता था। उन ढेरों के ऊपर हीरों और लालों का ढेर लगा होता था। उसमें स वह अपनी इच्छानुसार लेने के लिय स्वतन्त्र था।

—मैकाले

— —

सोमवार १६ सितम्बर सन १९३५ ई० Monday 16th September 1935

श्री पोचखानावाला

श्री झालावाड़ नरेश

श्री इ० पी० लॉंग

श्री भूलाभाई देसाई

वार्षिक मूल्य ३।)] सम्पादक—कृष्णचन्द्र विद्यालंकार एक अङ्क का मूल्य -)

विषय-सूची

साप्ताहिक डायरी

५ सितम्बर

—३१ अगस्त को समाप्त होने वाले सप्ताह में मध्यप्रान्त व बरार में २५६१ व्यक्तियों को हैजा हुआ, जिन में से १०२३ मर गये।

—नवाबशाह (करांची) में एक निराश प्रेमी ने अपनी प्रेमिका व उस के पिता की इस कारण हत्या कर डाली कि पिता ने अपनी लड़की की शादी उस के साथ नहीं की।

—फ्लोरिडा के तूफान के संबंध में सरकारी तौर पर अब तक कुल २५६ व्यक्तियों के मरने व २५२ के घायल होने की खबर मिली है।

६ सितम्बर

—सौथापेट गांव (नेलोर) में एक भाई ने अपनी स्त्री के चरित्र पर सन्देह करके उस्तरे से उस का गला काट दिया।

७ सितम्बर

—पं० जवाहरलाल नेहरू के करांची से यूरोप रवाना होते समय डा० ताराचन्द डालमानी ने उनका हाथ देख कर कहा—

"आप की धर्मपत्नी इस अग्नि-परीक्षा से सुरक्षित निकल आयगी। आप हमारे राजा बनेगे।'

६ सितम्बर

—बरेली में कुछेक मुस्लिम गुंडों ने शराब के नशे में शहर में चक्कर लगाकर कई व्यक्तियों और पशुओं पर भाले आदि से आक्रमण कर दिया। शहर में सनसनी फैल गई है।

—पटियाला में एक मेहनत मजदूरी करने वाली स्त्री के देहान्त होने पर उस के घर में ५००००) का माल निकला है।

७ सितम्बर

—रंगून कारपोरेशन ने बेलू योमस वाटर-सप्लाई योजना के लिये १,८६,००,०० रुपये का कर्ज लेने का निश्चय किया है।

८ सितम्बर

—बरेली जेल में सेठ-जमनालाल बजाज ने खान अब्दुलगफ्फार खां से मुलाकात की खान साहिब बहुत कमजोर हो गये हैं।

—देवबन्द (सहारनपुर) में कृष्णलीला के जलूस पर लगाई गई पाबन्दियों के हटाने आदि कार्यों के लिए ७ आदमियों की एक कमेटी बना दी गई है।

९ सितम्बर

—कलीपुर बाजार बेदरी के भूकम्प मापक यंत्र में आज सुबह कलकत्ता से ३६११ मील के फासले पर भूकम्प होना अनुभव किया गया।

—कालापाहाड़ नरेश ने राज्य भर का सं० १९९० तक का बकाया माफ कर दिया तथा पड़त जमीनें जो काश्तकारों के खाते में चल रही थीं और जिन का मुफ्त में लगान देना पड़ रहा था, खाते में खारिज करने का हुक्म दे दिया है।

—महाराजा जयपुर के यूरोप से आने पर जलूस निकालने के समय एक स्त्री अपना दुखड़ा सुनाने के लिये उन की मोटर के आगे लेट गई।

—लाहौर के सीनियर पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने महकमाना जांच करके जिला पुलिस के ४ अफसरों को दंगा करने व ऊधम मचाने के अभियोग में सजा दी है।

१० सितम्बर

—पेडुआ (इटली) के पास दो रेलगाड़ियों में भीषण टक्कर हो गई। जिस से ५ व्यक्ति मर गए और ५० के करीब घायल हो गए।

—आगरा में जोन्सन मिल के ४००० मजदूरों ने दो मास से वेतन न मिलने के कारण एकाएक हड़ताल कर दी। कलक्टर ने उन की कष्ट कथा सुन कर सुलह करा दी।

—बर्मा के इनसीम जिले में बाढ़ के कारण १७ गांवों को हानि हुई है। हजारों एकड़ धान के खेत नष्ट हो गये हैं।

—मोमन्दो इलाका (सरहद) पर विद्रोही कबीले वालों और सरकारी फौजों में फिर मुठभेड़ हो गई, जिसमें ३ सैनिक मारे गए व ७ घायल हुए।

—कलोठा ग्राम (अहमदाबाद) की पाठशाला में हरिजन बालकों को को प्रवेश करने का अधिकार डिस्ट्रिक्ट लोकल बोर्ड के अधीनस्थ स्कूल बोर्ड ने दे दिया है।

—भारत के मनोनीत वायसराय लार्ड लिनलिथगो के नाम—'जोनबुल' ने मनोरंजक चिट्ठी लिखी है। उस में लिखा है कि लार्ड लिनलिथगो ने अभी निश्चय कर लिया है कि वह भारतीय संघ शासन का प्रथम प्रधान मन्त्री सर तेजबहादुर सप्रू को बनायेंगे।

—पंजाब सरकार ने एक विज्ञप्ति द्वारा सब लोगों को तलवार रखने की आज्ञा दे दी है।

११ सितम्बर

—फेरोजखां केस के सम्बन्ध में जिन ६५ व्यक्तियों के विरुद्ध मुकदमा चल रहा था, उन में से २३ को प्राण दंड, १० को आजीवन कैद और १२ को १५-१५ साल कैद की सजा दी गई है। शेष छोड़ दिये गए।

—लाहौर की खबर है कि सरदार शार्दूलसिंह कवीश्वर ने कांग्रेस कार्य समिति की सदस्यता से इस्तीफा दिया दे दिया है।

—वर्धा की खबर है कि मीरा बहिन पर पिछले चार दिनों से तीव्र ज्वर का प्रकोप है। महात्मा गांधी स्वयं उनकी सुश्रुषा में लगे हुए हैं।

—लिस्बन (पुर्तगाल) का समाचार है कि वहां एक घातक षड्यन्त्र के सम्बन्ध में जिस का भेद सरकार को खुल गया है, सेना के कुछ आफिसर तथा तोपखाने के बहुत से कर्मचारी गिरफ्तार कर लिये गए।

—हैदराबाद (दक्षिण) में श्रीमती सरोजिनी नायडू के अस्वस्थ होने की खबर है। आप शिमला में होने वाली कांग्रेस पार्लमेण्टरी बोर्ड की महत्वपूर्ण बैठक में सम्मिलित नहीं हो सकेंगी।

—फेनी (बंगाल) के वकील श्री० सतीशचन्द्र वर्धन के विरुद्ध बंगाल टेररिस्ट एक्ट के मातहत मुकद्दमा चल रहा है। आप अपनी पहुंच की सूचना बिना दिये अपने मुहर्रिर के घर में ठहर गये थे।

—शिमला की खबर है कि एम० सी० राजा एम० एल० ए० के हरिजनों का सामाजिक बहिष्कार सम्बन्धी प्रश्न सभापति ने पेश होने से रोक दिया है।

—रुहेलखण्ड कुमायूं रेलवे के होम बोर्ड ने एक पत्र भेजा है कि आगे से साम्प्रदायिक संख्याओं के आधार पर ही रेलवे स्टाफ में भरती की जाय। तदनुसार हिन्दुओं को ४०, मुसलमानों को ५५ तथा अन्य सब को ५ प्रतिशत के हिसाब से नौकरियां मिलेंगी।

—पारसी फेडरल कौन्सिल ने बम्बई के गर्वनर व बम्बई सरकार के होम मेम्बर को तार दिया है कि उस आनवाली फिल्म के प्रदर्शन को रोका जाय, जिस में कि दो पारसी युवतियां काम करती हैं।

—"गत सोमवार को कठपुतली के हिन्दुओं ने जलझूलनी का जलूस निकाला। मुस्लिमों ने लाठियों से हमला किया और गड़बड़ मचा दी।"

—रियासत-मैसूर को भारत-सरकार ने लिखा है कि भारतीय रियासतों के प्रान्तीय कोआपरेटिव बैंकों को फिलहाल रिजर्व बैंक आव इण्डिया एक्ट की मद में शामिल नहीं किया जायगा।

१२ सितम्बर

राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने अपील निकाली है कि २४ सितम्बर से २ अक्तूबर तक समस्त भारत में गांधी जयन्ती सप्ताह मनाया जाय तथा उस अवसर पर फेरी लगाकर खादी बेची जाय।

—सुना है कि श्री० सी० वाई० चिन्तामणि ने 'लीडर' के सम्पादकत्व से त्यागपत्र दे दिया है।

—क्वेटा शहर में खुदाई का कार्य बदस्तूर जारी है। मलबे में से जो लाश बरामद होती हैं उन्हें विधिपूर्वक ठिकाने लगा दिया जाता है।

कल रात को यहां से गुरखा पल्टनें सपरिवार छुट्टी मनाने के लिये नेपाल चली गयी हैं।

— आज प्रातः लखनऊ में बड़ी सनसनी फैल गयी जब लखनऊ के एक प्रसिद्ध व्यापारी आबिद को विक्टोरिया स्ट्रीट में अपने घर में बेहोश पाया गया। उस के पास उसकी प्रेमिका रानी एक मर्द की मरी हुई पड़ी थी। दोनों के शरीर पर बन्दूक की गोली के घाव थे। कहा जाता है

असेम्बली में सरकार की जबरदस्त हार

क्रिमनल ला अमेंडमेंट बिल ठुकरा दिया गया

जन-पक्ष के सदस्यों की सरकार को फटकार

—:

"अपराधियो को पता नही लगा सकते तो निकल जाओ यहा से।" —गोविन्दवल्लभ पन्त

"हम लोगो को भोजन और स्वतन्त्रता द दो तो आतङ्कवाद का देश म नाम भी न रहगा।" —अखिलचन्द्र दत्त

"यह या ऐसे पचासा कानून क्या न हो, हम ता अपना आन्दोलन चलाये ही जायगे।" —भूलाभाई देसाई

असेम्बली की सोमवार ९ सित० की बैठक में क्रिमिनल-ला अमेंडमेंट बिल पर और बहस हुई लेकिन इस दिन भी वह पूरी नहीं हो पाई।

डा० देशमुख ने अपने मनोरंजक ढग से इस दिन भी सरकार की चुटकियाँ लीं। श्री आर० एस० शर्मा, सर मुहम्मद याकूब और मि० मोटिमर सरकार का हिमायत में रहे। सरदार जोगिन्दरसिंह और आसफअली' न जोरदार विरोध किया।

मगलवार को भी असेम्बली में क्रिमिनल-ला अमेंडमेंट बिल पर बहस जारी रही लेकिन समाप्त नहीं हुई।

इस दिन डा० दलाल और महाराजकुमार विजयानगरम ने सरकार का पक्ष लेते हुए बिल का समर्थन किया और श्री० बी० दास अखिलचन्द्र दत्त, फजलुलहक तथा प० गोविन्दवल्लभ पन्त न विरोध किया।

आतंकवाद का मूल कारण है, भोजन और स्वतन्त्रता की भूख। यह कहते हुए श्री अखिलचन्द्रदत्त न कहा 'लोगो को भोजन और स्वतन्त्रता द दो तो आतंकवाद का देश में नाम भी न रहेगा। यह नहीं आप न चुनौती भी दी कि 'सरकार हमें स्वतन्त्र कर द, फिर देखो हम सब क भोजन की व्यवस्था करते हैं या नहीं।'

प० गोविन्दवल्लभ पन्त न बिल पर तीक्ष्ण प्रहार करते हुए होममेम्बर के इस कथन की धज्जियाँ उड़ाई कि इस का उद्देश्य देश को उत्तरदायी शासन के लिए तय्यार करना है। आप न कहा तुम्हारे अबतक क कारनामों को देखते हुए हम अपने ऐसे स्वत्वों को तुम्हें कैसे सोप सकते हैं, जो कि हमे अत्यन्त प्रिय हैं?

प्रो० बी० दास न बिल का उद्देश्य सरकारी काले कृत्यों को प्रकाश में आने से रोकना बताया और अखबारो के साथ पक्षपात करने की नीति की निन्दा की। श्री० फजलुलहक न बिल को बिलकुल व्यर्थ और अनावश्यक बताते हुए सरकार को अपनी अव्यवस्था सुधारने की दोस्ताना सलाह दी।

बुधवार ता० ११ सितम्बर को असेम्बली में क्रिमिनल-ला अमेंडमेंट बिल की बहस का पांचवां दिन था, मगर इस दिन भी बहस समाप्त नहीं हुई।

इस दिन की बहस में व्यवसाय सदस्य सर अफजलखाँ और यूरोपियन ग्रुप क नेता मि० जेम्स ने सरकार का समर्थन किया और प० गोविन्दवल्लभ पन्त तथा श्री० अब्दुलमातीन चौधरी न विरोध किया।

बहस की विशेषता यह रही कि जहाँ विरोधी पक्ष वालो न युक्तियो और आंकड़ों का सहारा लिया वहाँ सरकारी समर्थकों न युक्तियों के अभाव में डांट-फटकार और अपशब्दों तक को अपनाया। मि० जेम्स न तो श्री सत्यमूर्ति को लक्ष्य करके यहां तक कह डाला कि 'तुम मूर्खों क स्वर्ग में जाओगे और वहाँ जाने क लिए असल में तुम बन भी हो।'

पूरी ६ दिन की गरमागरम बहस के बाद बृहस्पतिवार ता० १९ सितम्बर क सायंकाल असेम्बली ने ६१ के विरुद्ध ७१ मतो से क्रिमिनल-ला अमेंडमेंट बिल पर विचार करने से इन्कार कर दिया। यही नहीं सरकार प्रस्ताव क रद होने हो विरोधी दल क मेम्बरो न बिल को फाड़ कर फेंक दिया।

इस दिन की बहस में मुहम्मद यामीनखाँ ला मेम्बर सर नृपेन्द्रनाथ सरकार और होम मेम्बर सर हेनरी क्रेक न जोरो क साथ बिल का समर्थन किया तथा श्री एन० एम० जोशी (मजदूरो क नामजद प्रतिनिधि) मौ० शौकतअली श्री माधव श्रीहरि अणे (कांग्रेस-नेशनलिस्टो के नेता) और भूलाभाई देसाई (कांग्रेस) न विरोध किया।

बहस में जहां हाउस के लीडर सर नृपेन्द्र ने नगण्य हिन्दू अखबारों से मुसलमानो के विरुद्ध उद्धरण छांट कर और बगाल क सम्बन्ध में म० गाधी को भेजी गई श्री कृष्णदास की कथित चिट्ठी के उद्धरण सुनाकर सदस्यो को साम्प्रदायिक भावो से प्रेरित और आतंकवाद से भयभीत करने की कोशिश की, वहाँ विरोधी दल क नेता श्री भूलाभाई देसाई ने बड़ी गम्भीरता और शालीनता क साथ बिल क पक्ष में पेश की गई युक्तियो का खण्डन किया और घोषणा की— यह या इस तरह क पचासो कानून क्यो न हो, हम तो अपना आन्दोलन चलाये ही जायेंगे। यही नहीं आपने यह भी स्पष्ट कह दिया कि सत्याग्रह या सविनय अवज्ञा की जब भी जरूरत मालूम पड़े तभी उसे शुरू किया जा सकता है।

बिल फिर पेश होगा?

बिल पर सरकार की बुरी तरह हार हुई है, फिर भी वह इसे छोड़ती मालूम नहीं पड़ती। ऐसा खयाल किया जाता है कि शीघ्र ही गवर्नर जनरल की सिफारिश क साथ वह फिर असेम्बली में विचारार्थ पेश होगा।

महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

सोमवार ता० ७ सितम्बर से बृहस्पतिवार ता० २२ सितम्बर तक जो प्रश्नोत्तर हुए, उन में से मुख्य मुख्य निम्न प्रकार हैं:—

इकरारनामा

श्री आसफअली क प्रश्न पर इन्डियन नेशनल ऐयरवेज क साथ सरकार न वायुयान सम्बन्धी जो समझौता किया है, वह उपस्थित किया गया। इस में सरकार न पहले छः महीने १८००) रुपये मासिक उसे इस लिए देना मन्जूर किया है कि सिविल एवियेशन क डायरेक्टर द्वारा परखा हुआ आवश्यक स्टाफ

(शेष पृष्ठ २८ पर)

अबीसीनिया का मामला अभीतक नहीं सुलझा

लड़ाई अवश्यम्भावी है?

अबीसीनिया और इटली के मामले को सुलझाने के लिये राष्ट्र सघ की कौंसिल की बैठक तो असफल रही हो, ९ सितम्बर से राष्ट्र की असेम्बली की जो बैठक हो रही थी उसकी सफलता की भी विशेष आशा नजर नहीं आती।

अबीसीनिया पर इलजाम

लीग कौंसिल की बैठक में इटली अबीसीनिया पर चार इलजाम लगाये:—

(१) अबीसीनिया न नये सिरे से सरहदबन्दी करने से इन्कार कर दिया और इटालियन प्रदेश पर गैर-कानूनी कब्जा कर लिया, (२) इटली के राजकीय प्रतिनिधियों पर नित्यप्रति हमले होते रहते हैं। (३) अबीसीनिया में रहने वाले इटालियनो के जान माल पर लगातार धावा बोला जाता है, और (४) इटालियन सामालीलैण्ड में रहने वाले इटालियनो पर भी इसी तरह के हमले होते रहते हैं।

साथ ही अबीसीनिया पर इटली का विश्वास न रहने की घोषणा करते हुए राष्ट्र सघ में अबीसीनिया का दर्जा बराबरी का न रखने पर जोर दिया।

लीग कौंसिल ने साल्वेडोर मडरियागा (स्पेन) की अध्यक्षता में मि० ईडन, मो० लेविल, कर्नल बैक (पोलैण्ड) और तौफिक अरस (टर्की) की एक उपसमिति समझौते का रास्ता निकालने क लिए नियत की और उसने इटली की अबीसीनिया को राष्ट्र-सघ से हटाने की मांग पर विचार करने के लिए अपनी एक उपसमिति बनाई।

लीग असेम्बली

९ सितम्बर से डा० बेनेस की अध्यक्षता में राष्ट्र सघ की असेम्बली का अधिवेशन भी शुरू हो गया है। इसमें विभिन्न राष्ट्र सघ के सचिव पत्र का समर्थन किया है। जिनमें ब्रिटेन और फ्रान्स भी हैं। इटली की ओर से बैरन अलावसी न यह आश्वासन देने से इन्कार कर दिया कि अबतक समझौते की बातचीत चल रही है वह युद्ध शुरू नहीं करेगा। इधर सर सेमुअल होर और मो० लेवल के स्पष्ट रूप से

(शेष पृष्ठ २६ पर)

सोमवार ता० १६ सितम्बर १९३५ ई०

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्

प्राचीन स्मृतियों की रक्षा कीजिये

उदयपुर-दरबार से निवेदन

(ले०—श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति)

गत मास मुझे उदयपुर रियासत जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने चित्तौड़गढ़ भी देखा और उदयपुर के अन्य ऐतिहासिक स्थानों के भी दर्शन किये। जिस वीर-भूमि के एक-एक चप्पे में से सैकड़ों मातृ-गीतों की प्रतिध्वनि आज भी आ रही है, उसे देख कर किस भारत-वासी का हृदय रोमांचित न होगा। मेरे दिल ने भी वहां एक वेदना को और स्फूर्ति को अनुभव किया। वेदना इस बात पर कि क्या थे, और क्या हो गये। जिन के पूर्व-पुरुषाओं की निःशंक वीरता के सामने सिंह भी मात थे, उनकी सन्तान आज गीदड़ों की भाषा बोलती और गीदड़ों के तत्व ज्ञान पर अभिमान करती है। स्फूर्ति का कारण यह विचार था कि जो कुछ आज से ४ या ५ सदी पूर्व हुआ वह अब भी हो सकता है। उस का होना असम्भव नहीं है। इस प्रकार वेदना और स्फूर्ति की तरंगों में डुबकियां लेते हुए मैंने उस तीर्थयात्रा को समाप्त किया। एक कमी रह गई। मौसम के अनुकूल न होने से लेखक और उस के सवार के कारनामों से अमर हल्दीघाटी को न देख सका। वह फिर किसी दूसरे समय पर देखूंगा। इस समय तो जो कुछ देखा है, उसी को अनुभव करने और उस पर विचार करने में मुझको कठिनाई अनुभव हो रही है। वसुंधरा के सिद्धान्तों का मनन करते-करते हम लोगों के पास वह चित्रपट ही कहां रह गया है, जिस पर हम्मीर, कुम्भ, सांगा और प्रताप के चित्र खेंचे जा सकें। उस मानसिक चित्रपट को तैयार करना बड़ी साधना का काम है। उस के लिये समय और तपस्या चाहिये।

अस्तु। यह तो हुई कल्पना-जगत् की बातें। अब मैं उन स्मारकों की वर्तमान स्थूल दशा पर आता हूं। उदयपुर सरकार की ओर से चित्तौड़गढ़ की रक्षा का थोड़ा-बहुत प्रयत्न अवश्य किया गया है और उस के लिए वह धन्यवाद के योग्य है, परन्तु मुझे यह कहते दुःख होता है कि एक जाति की स्वर्गीय स्मृतियों की रक्षा जिस सावधानता से होनी चाहिये, उस में अभी बहुत कमी है। पहले चित्तौड़गढ़ को ही लीजिये। प्रथम द्वार में प्रवेश करते ही जिस वस्तु का अभाव अनुभव होता है, वह यह है कि न कोई मार्ग-दर्शक मिलता है और न उपयोगी साहित्य। द्वार में घुसते ही जेल के दर्शन होते हैं। वहां एक सिपाही खड़ा रहता है, जो सीधे मुंह से बात भी नहीं करता। अन्दर आ कर दर्शक या तो तांगा चलाने वाले की दया पर रह जाता है या किसी गंवार-गाईड के पाले पड़ जाता है।

कदम-कदम पर ऐतिहासिक स्थान हैं, परन्तु न उनको रक्षा का पर्याप्त प्रबन्ध है और न उनके पास दर्शकों की जानकारी के लिये ऐसे बोर्ड हैं, जिन पर ब्योरा लिखा हो। जयमल और फत्ता की छतरियां तक बिना किसी निर्देश के पड़ी हैं। सब से बड़ी दुःख की बात यह है कि दर्शक उन स्थानों की तलाश में व्यर्थ ही भटकता फिरता है, जहां पर हजारों वीर राजपूत रमणियों ने हंसते-हंसते धर्म पर प्राण दे दिये थे। जौहर के स्थानों का कोई निशान नहीं है, जो स्थान दिखाया जाता है, वह बिलकुल गन्दा और कूड़े से भरा पड़ा है। यह दशा अन्य ऐतिहासिक स्थानों की है। चित्तौड़गढ़ में फतेहनिवास नाम का एक नया महल बनाया है, जिस में कई लाख रुपया खर्च हुआ बतलाया जाता है। यदि वह रुपया गढ़ की पुरानी इमारतों की रक्षा में खर्च किया जाता, तो उत्तम होता।

यही दशा उदयपुर के ऐतिहासिक स्थानों की भी है। एक ही दृष्टान्त लीजिये। उदय-सागर की पाल पर कोई स्थान था, जहां राजा-मानसिंह राणा प्रतापसिंह के मेहमान बने थे। वह घटना इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है, परन्तु उदय-सागर पर जाकर यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि वह स्थान कौनसा था? कोई निर्देशक बोर्ड तो वहां अवश्य चाहिये।

यह सौभाग्य की बात है कि यह सब स्थान बप्पा रावल की सन्तान के हाथों में हैं। यह और भी हर्ष की बात है कि वर्तमान महाराणा एक रोशन दिमाग और उदार हृदय शासक हैं। उनके समय में उदयपुर रियासत की कई तरह की उन्नति हुई है। क्या मैं उदयपुर-दरबार से यह नम्र प्रार्थना कर सकता हूं कि वह अपने अमर पूर्व पुरुषाओं की स्थूल स्मृतियों की रक्षा की ओर विशेष ध्यान दें। वह पूर्वपुरुषा केवल मेवाड़ के ही नहीं, अपितु सारी हिन्दू-जाति के अमूल्य धन थे! उन की स्मृतियों की रक्षा हिन्दू जाति के मान रक्षा हैं। मैंने प्रायः सभी जिव्हाओं से उदयपुर के वर्तमान शासककी उदारता और सौजन्य की प्रशंसा सुनी है। क्या वह मेरे इस निवेदन पर ध्यान दे कर चित्तौड़गढ़, हल्दी घाटी तथा ऐसे ही अन्य ऐतिहासिक स्थानों की रक्षा की ओर विशेष ध्यान देंगे?

दमन का लंगड़ा समर्थन

असेम्बली में दमन-सम्बन्धी आर्डिनेन्स कानूनों के समर्थन पर जो बहस हुई है, उसने दोनों ही पक्षों के बलाबल को खूब स्पष्टता से प्रगट कर दिया है। दमन सम्बन्धी कानूनों के समर्थन में, सरकार की ओर से जो दलीलें दी गई हैं, वह लंगड़ी और अत्यन्त निर्बल हैं। जब कांग्रेस की ओर से कानून भंग जारी था, तब कहा जाता था कि कानून-भंग के प्रभाव को दूर करने के लिये आर्डिनेंसों की आवश्यकता है। जब सत्याग्रह बन्द होगया, तब उसमे पैदा हुई गड़बड़ को समर्थन के रूप में पेश किया गया और अब उनमें से कुछ भी नहीं है। तो भी सरकार दमन-शस्त्र को खूब तेज रखना चाहती है। उसके समर्थन में जो युक्तियें दी जा रही हैं, वह अद्भुत हैं। कहा जाता है कि अपराध की सजा देने से उसे रोकना अच्छा है। दमन सम्बन्धी कानूनों के रहने से राजनीतिक अपराध रुक रहते हैं। इस युक्ति को ठीक मान लें तो सब से अच्छा यह होगा कि हरेक भारत-वासी को कठघरों में नजरबन्द कर दिया जाय, न वह बाहिर जा सके, और न अपराध कर सके। बस—सबसे आसान उपाय तो यही है परन्तु एक बच्चा भी सरकार की दलीलों के बच्चेपन को समझ सकता है, जब तुम किसी मनुष्य को कठघर में कैद कर देते हो, या उसके हाथ पांव बांध देते हो, तब वह न भलाई कर सकता है और न बुराई। वह एक जड़ पदार्थ बन जाता है। शासक का काम यह है कि मनुष्यको काम करने की आजादी दे, और साथ ही बतला दे कि यदि बुरा करोगे तो तुम्हें दंड मिलेगा। कानून का यही काम है। ब्रिटिश सरकार के कानूनी शस्त्रागार में बुराई की सजा देने वाले कानूनों की कमी नहीं। यदि कोई वक्ता या लेखक राजद्रोह का प्रचार करता है तो उसके लिए १२४ ए, विद्यमान है। यदि कोई पागल राजकर्मचारियों पर प्रहार करता है तो उसके लिए एक ही नहीं, अनेकों धारायें विद्यमान हैं। ऐसी दशा में प्रेस ऐक्ट और आर्डिनेन्स ऐक्टों को पुनर्जीवित करने की क्या आवश्यकता है? यदि सरकार का उद्देश्य केवल इतना ही है कि देश में राजविप्लव न हो, तब तो उसकी पूर्ति विद्यमान कानून से ही हो सकती है, परन्तु यदि उद्देश्य इससे कुछ अधिक हो, भारत के

भाग्यविधाता चाहते हों कि देश में राष्ट्रीयता का बीज ही न रहे' तब दूसरी बात है। तब तो आर्डिनेन्स कानूनों का बनना अत्यन्त आवश्यक है। सरकार की ओर से दमन के पक्ष में जो जो युक्तियां दी गई हैं, उनका खोखलापन बिलकुल स्पष्ट है। समाचारपत्रों पर अनुचित रुकावटें डालने से देश की मानसिक उन्नति में कितनी जबर्दस्त बाधा पहुंचती है, इसका प्रदर्शन पं० गोविन्द वल्लभ पन्त ने अपने जोरदार भाषण में किया है। प्रेस ऐक्ट के कानूनी दोषों को मि० सत्यमूर्ति ने बड़ी सुन्दरता से दर्शा दिया है। फिर भी सरकार पर कोई असर हुआ हो, ऐसा नहीं कह सकते। उन चिकने घड़ों पर पानी का क्या प्रभाव होसकता है। उनकी सज्जनता का तो यह हाल है कि जब देश के प्रतिनिधि दमन सम्बन्धी कानूनों के विरोध में बोलने लगते हैं, तब होम मेम्बर तक आराम लेने के लिये चले जाते हैं। उन्हें तो दमन-सबंधी कानून बनाना है। असेम्बली मान तो और न मान तो। तब उन्हें किसी की दलीलें सुनने की क्या आवश्यकता है।

असेम्बली में अब तक जो विवाद हुआ है, उसमें सरकार के प्रस्तावों की निराधारता खूब स्पष्ट होगई है। विरोधी वक्ताओं ने भली प्रकार सिद्ध कर दिया है कि क्रिमिनल ला अमेण्डमेण्ट ऐक्ट सर्वथा अनावश्यक है। परन्तु वहां युक्ति को सुनता कौन है? कह दिया कि होगा, और होना चाहिये सीधी तरह न होगा, तो सर्टिफिकेशन से होजायगा। असेम्बली के भाषण तो केवल अरण्य रुदन हैं।

यह छपते २ मालूम हुआ कि असेम्बली के सदस्यों ने भारी बहुमत से इस काले बिल को अस्वीकार कर दिया। इस कर्त्तव्यपालन के लिए उन्हें बधाई।

सार्वदेशिकसभा और पं० बुद्धदेव जी

(ले० श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति)

पं० बुद्धदेव जी के सम्बन्ध में पंजाब के कुछ स्वार्थी लोगों ने जिस भद्दे प्रकार से आन्दोलन उठाया है, उसकी जितनी निन्दा की जाय कम है। पाठक इसी अंक में दूसरे स्थान पर पं० रामचन्द्र जी महोपदेशक का लेख पढ़ेंगे। उस लेख में पंडित जी ने बड़ी उत्तमता से दर्शाया है कि पं० बुद्धदेव जी का कार्य शायद लोकाचार के विरुद्ध कहा जा सके, परन्तु उसे धर्मविरुद्ध नहीं कह सकते। अपने आदमी की छोटी सी भूल को अपराध और अपराध को पाप का रूप देकर, अपने को पराया बना देना आर्य जाति को ही आता है। इस कुप्रवृत्ति ने ही जाति को यह गिरावट का दिन दिखाया है। पं० बुद्धदेव जी की जरासी व्यावहारिक भूल को पाप का नाम देकर अदूरदर्शी लोगों ने आर्यसमाज के वायुमंडल को खूब दूषित किया है। दुःख की बात है कि सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा भी उन अदूरदर्शी लोगों का औजार बन गई और न्याय को ताक में रखकर पक्षपातपूर्ण व्यवस्था दे डाली। आर्यसमाज पर सैकड़ों आफतें आईं, तब तो सार्वदेशिक सभा सोई रही और अब अपने आदमी पर कुफ्र का फतवा दायर करने के लिये उसकी नींद एकदम खुल गई। आर्य समाज की शिरोमणी सभा की इस दुरवस्था को देखकर दुःख होता है। जरा फतवे के महत्व को तो सोचिये। ऋषि के अपमान का जुर्म उस व्यक्ति पर लगाया जा रहा है, जिसे ऋषि के नाम पर पागल कहा जा सकता है, जिसने आर्यसमाज की धुन में तन-बदन को भुला रखा है, जो आर्य-समाज और दयानन्द के नाम के लिये जान देता फिरता है। आर्य-समाज की दशा सचमुच शोचनीय है, कि वह अपने सच्चे सेवक और दूकानदार में भेद नहीं कर सकता, प्रत्युत दुकानदारी को सेवकों से ऊंचा स्थान देता है।

आर्यसमाज का हित इसी में है कि इस मामले को न्याय की दृष्टि से देखकर शान्त किया जाय, नकि इसमें कि तिल को ताड़ का रूप देकर अपनों को पराया बनाने का यत्न किया जाय। सार्वदेशिकसभा को पं० रामचन्द्र जी के लेखानुसार पक्षपात-हीन दृष्टि से इस मामले पर विचार करना चाहिये, दलबन्दी का शिकार होना सभा की शान के योग्य नहीं।

सार्वदेशिकसभा के प्रधान का वक्तव्य भी इसी अंक में प्रकाशित हो रहा है। पं० रामचन्द्र जी के पत्र में उसका पूरा उत्तर आगया है।

सम्पादकीय विचार

पर उपदेश कुशल बहुतेरे

सर सेमुअल होर ने राष्ट्रसंघ की असम्बली में एक बात बहुत सच कही है कि वर्तमान परिस्थितियों में किसी भी ऐसे देश को, जिस के पास साम्राज्य नहीं है, यह संदेह हो जाना स्वाभाविक है कि साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेशों में मिलने वाले कच्चे माल पर एकाधिकार कर लेंगे और अन्य देश उन से कोई फायदा नहीं उठा सकेंगे। लेकिन यह सत्य केवल 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे, की उक्ति का स्मरण कराता है। ओटावा पैक्ट द्वारा ब्रिटेन ने अपने साम्राज्यान्तर्गत देशों के विशेषकर भारत के व्यापार को कितनी क्षति पहुंचाई है, यह पाठकों से छिपा नहीं और यह पैक्ट तब बना, जबकि आप उपदेश देने वाले सर होर भारत मन्त्री थे। नया शासन विधान यदि भारत को स्वशासन देता है, तो ऐसा स्वशासन कोई देश नहीं चाहेगा।

स्वास्थ्य-कामना

श्रीमती कमला नेहरू के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में फिर चिन्ताजनक समाचार मिलने लगे हैं। इस से सारे देश में भय व आतंक फैलना स्वाभाविक है। वे वीर, जवाहरलाल की पत्नी हैं। भारत वर्ष श्रीमती कमला नेहरू को अपनी वीर भगिनी के रूप में मानता है। उन की स्वास्थ्य-कामना प्रत्येक भारतीय सच्चे हृदय से करता है। वे शीघ्र ही स्वस्थ होकर भारत पहुंचे, यही सब की प्रार्थना है।

पंजाब सरकार की विज्ञप्ति

पंजाब सरकार शायद बहुत दिनों बाद पंजाब की साम्प्रदायिक स्थिति की गम्भीरता को समझने लगी है। शहीदगंज-आन्दोलन के प्रारम्भ और उस से पहले मुसलमानों के साथ सरकार ने जो उपेक्षापूर्ण नीति बरती थी, उसी का परिणाम आज प्रत्यक्ष हो रहा है। रावलपिंडी में अनेक मुस्लिम आंदोलनकारियों ने शहीदगंज के संबंध में कुछ निश्चय किये थे। पंजाब सरकार ने अनेक आंदोलनकारियों को नजरबन्द कर दिया और एक वक्तव्य प्रकाशित किया है, जिस में शहीदगंज आन्दोलन के अतिरिक्त हजारा जिले की सीमा पर किये गये आक्रमणों का भी उल्लेख किया है, जिसका उद्देश्य गैर-मुस्लिम लोगों को कत्ल करना तथा उसकी सम्पत्ति और धार्मिक स्थानों को छीनना है।' सरकार ने सब आन्दोलनकारियों को खुली धमकी दी है कि वह शान्ति-रक्षा के लिये सब उपाय बरतेगी। क्या मुस्लिम नेता अपना कर्तव्य और मार्ग निश्चित कर सांप्रदायिक विद्वेष को नष्ट करने पर कमर बांधेंगे?

—:—:—

शान्ति में सन्देह

अबीसीनिया इटली का मामला जल्दी सुलझता नहीं दीखता। राष्ट्रसंघ ने इस मामले पर विचार करने के लिये जो कमेटी बनाई है। उसने समझौते की जो रूपरेखा दी है। ब्रिटेन के परराष्ट्र सचिव सर सेमुअल होर ने यद्यपि यह कह दिया है कि संधि पत्र की शर्तों की अवहेलना करके युद्ध उतारू होने वाले राष्ट्र के प्रति राष्ट्रसंघ के अन्य सदस्य राष्ट्रों का कर्तव्य बताया है कि वे मिल कर युद्ध रोकें और दुनिया में शान्ति कायम करें, तथापि हमें पूर्ण संदेह है कि राष्ट्रसंघ की इस धमकी का इटली पर कोई प्रभाव पड़ेगा। यदि वह देखेगा कि राष्ट्रसंघ उस के विरुद्ध जा रहा है, तो राष्ट्रसंघ को भी अंगूठा दिखाने का निश्चय कर चुका है। ऐसी अवस्था में राष्ट्रसंघ शान्ति स्थापित कर सकेगा, इस में पूरा संदेह है।

हिन्दुस्तान में मुसलमानों का अलग प्रदेश रहे

पाकिस्तान की योजना

'पाकिस्तान नेशनल मूवमेण्ट' के अध्यक्ष का वक्तव्य

पाकिस्तान का आन्दोलन हाल ही के वर्षों में हमारे सामने आया है। पंजाब, सीमाप्रान्त, सिन्ध और बिलोचिस्तान को मिला कर पाकिस्तान कहा जा रहा है। मुसलमान चाहते हैं कि इन्हें पाकिस्तान के नाम से ऐसा राष्ट्र स्वीकार कर लिया जाय जिसकी जन संख्या में मुसलमानों की प्रधानता रहे और शासन में भी उन्हीं का मुख्य भाग हो। इस प्रकार भारत को हिन्दू भारत और मुस्लिम भारत के रूप में वे विभक्त करवाना चाहते हैं। 'पाकिस्तान नेशनल मूवमेण्ट' के नाम से उन्होंने अपना आन्दोलन चला रक्खा है। यहां तक कि उसके अध्यक्ष की हैसियत से श्री रहमतअली नामक एक सज्जन ने पिछले जुलाई मास में जबकि इण्डिया बिल पार्लमेण्ट के समक्ष उपस्थित था, एक वक्तव्य भी निकाला था। यह वक्तव्य विलायत के मुख्य मुख्य व्यक्तियों में वितरित किया गया था और इसमें बताने की चेष्टा की गई थी कि मुसलमान पाकिस्तान को क्यों अलग देश बनाना चाहते हैं। उस वक्तव्य के मुख्य-मुख्य अंश सर्व साधारण की जानकारी के लिए हम यहां दे रहे हैं।

पाकिस्तान हिन्दुओं की भूमि नहीं है

पाकिस्तान हिन्दुओं की भूमि नहीं है। और न इसके निवासी ही हिन्दुस्तानी नागरिक हैं। इस का सदा से पृथक ऐतिहासिक भौगोलिक, आध्यात्मिक और राष्ट्रीय व्यक्तित्व रहा है। इतिहास के आरम्भ ही से यह हमारे राष्ट्र का निवास स्थान रहा है और यहां तक कि प्राचीन काल में भी यह हमारी सभ्यता का केन्द्र था। भूतकाल में यहीं हमारा पालन पोषण हुआ और भविष्य में हमारी आशा भी इसी पर है। जैसे हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तान को जन्म से मातृ-भूमि मानते हैं उसी तरह हम पाकिस्तान को अपनी पितृ-भूमि मानते हैं। हिन्दुस्तान में कुल जन संख्या का ३/४ भाग होने के कारण यदि हिन्दुस्तानी उसे अपना मानते हैं तो पाकिस्तान भी हमारा है, क्योंकि इस में हमारी संख्या ४/५ भाग है।

हम, पाकिस्तानी इस में अतीत काल से अपना अनूठा जीवन बिताते आये हैं और राष्ट्रीय समस्याओं का हल भी अपने ही ढंग से करते आये हैं। अपने पिछले काल में पाकिस्तान ने अपने अस्तित्व की रक्षा, अपने कानूनों की रक्षा की और अपने ही धार्मिक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आदर्शों को पवित्रता के साथ कायम रखा, जो कि हिन्दुस्तान के आधार भूत आदर्शों से बिलकुल भिन्न हैं।

यदि सामूहिक रूप से देखा जाय तो उन से हमारी कोई बात नहीं मिलती और न उन की ही कोई बात हम से मिलती है। जिस प्रकार सामूहिक रूप से वे हम से भिन्न हैं उसी प्रकार हमारी व्यक्तिगत आदतें भी उन से बिलकुल नहीं मिलतीं, जिस प्रकार कि अन्य देशवासियों से नहीं मिलतीं।

सभ्यता और संस्कृति का भेद

हिन्दुत्व जिन आधारभूत सिद्धान्तों पर निर्मित है वे उन आदर्शों से बिलकुल भिन्न हैं, जिन के आधार पर कि हमारे राष्ट्रीय जीवन की सृष्टि होती है। हमारा प्राचीन सामाजिक प्रणाली और प्राचीन संस्कारों ने हमें ऐसी सभ्यता, ऐसा दर्शन, ऐसी संस्कृति, ऐसी भाषा, ऐसा साहित्य और ऐसी कलाएं दी हैं, जो कि हिंदुओं की संस्कृति और सभ्यता से बिलकुल भिन्न हैं। केवल यही नहीं, हमारा एक दूसरे के साथ खान-पान का व्यवहार नहीं विवाह सम्बन्ध नहीं और न हमारे रीति रिवाज, भोजन और वस्त्र ही एक दूसरे से मिलते हैं। इन सत्य बातों में विवाद के लिये स्थान नहीं है, जिस प्रकार कि भूतकाल में इन में परिवर्तन होने की कोई आशा नहीं की जा सकती। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान का यह मौलिक भेद एक ऐसा नित्य सत्य है, जो कभी मिट नहीं सकता। हमारे विधान निर्माताओं को प्रकृति के इस निर्णय को स्वीकार करना ही चाहिये।

जाइण्ट सिलेक्ट कमेटी का समर्थन

जाइण्ट सिलेक्ट कमेटी ने हमारे विचारों की पुष्टि निम्न शब्दों में की है:—

भारत में इस प्रकार की कितनी ही जातियां रहती हैं, जो कि अपने उद्गम आदर्श और संस्कारों में एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं, जितने कि यूरोप के राष्ट्र एक दूसरे से। भारत के दो तिहाई निवासी किसी न किसी रूप से हिन्दू धर्म को मानते हैं और ७ करोड़ ७ लाख से अधिक इस्लाम के अनुयायी हैं। इन दोनों में संकुचित रूप से केवल धर्म का ही भेद नहीं है, बल्कि यह कानून और संस्कृति में भी एक दूसरे से भिन्न हैं। कहा जा सकता है कि दोनों दो पृथक सभ्यताओं के प्रतिनिधि हैं। हिन्दुओं की सामाजिक और धार्मिक प्रणालियों का मुख्य आधार वर्ण व्यवस्था है, जिन में कि पश्चिमी प्रभाव पड़ने से बहुत थोड़ा ही परिवर्तन हुआ है परन्तु इस्लाम धर्म का मुख्य आधार मनुष्य मात्र की समानता है।

प्राकृतिक पृथक्करण

केवल यही नहीं, भौगोलिक दृष्टि से भी पाकिस्तान एक पृथक प्रदेश जान पड़ता है। प्रकृति ने पाकिस्तान को हिन्दुस्तान से जमुना नदी द्वारा पृथक कर दिया है और दोनों प्रदेशों के बीच में पानीपत का ऐतिहासिक और खूनी मैदान ही है।

पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के बीच जो भेद हैं वे बिलकुल स्वाभाविक हैं और इसी लिए नित्य और स्थायी भी हैं। अतीत काल से वे रहे हैं और सदैव रहेंगे। यह हमारी आत्मा और शरीर के प्रतिनिधि स्वरूप हैं और यह हमें अपना पृथक राष्ट्र बनाने का ऐसा अधिकार देते हैं, जिस से कोई इन्कार नहीं कर सकता। धर्म और पितृभूमि हमारी पैत्रिक सम्पत्ति है और इसकी रक्षा के लिये हम दृढ़ प्रतिज्ञ हैं।

पाकिस्तान का आन्दोलन

पाकिस्तान का आन्दोलन इन नित्य सत्यों के आधार पर चल रहा है और उसका उद्देश्य ब्रिटिश राष्ट्र समूह में हिन्दुस्तान के समान बराबरी का पद पाना है। हम पाकिस्तान का पृथक संघ इस लिये चाहते हैं कि हिन्दुस्तान से मिलने पर हमारी राष्ट्रीय उन्नति ऐसी न हो सकेगी, जैसी कि करने की तजवीज भारतीय शासन-संघ में की गई है। हम पृथक राष्ट्र के साधारण अधिकार के सिवाय और कुछ भी नहीं चाहते। कदापि नहीं, यह बात बिलकुल स्पष्ट है। हमारा यह दावा केवल आत्मरक्षा के ही लिये है। पाकिस्तानी न तो ब्रिटेन के विरोधी हैं और न हिन्दुस्तान के समर्थक। हम ब्रिटिश साम्राज्य से सहयोग करने और हिन्दुस्तान से समझौता करने के भी खिलाफ नहीं। हमारा विरोध तो केवल भारतीय शासन संघ योजना से ही है जिसमें हमारे साथ घोर अन्याय किया गया है।

हमारा हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता स्वीकार कर लेना और हिन्दुस्तान के साथ मिल जाना केवल असम्भव ही नहीं बल्कि मानव हित की दृष्टि से भी अवांछनीय होगा। इसलिये हम पाकिस्तान के सिद्धांतों और उस की पवित्रता के लिये दृढ़ हैं और और हम अपने को पाकिस्तानी कहने में ही संतुष्ट रहेंगे। भारतीय संघ योजना का सभी वैध उपायों के द्वारा विरोध करना हमारा नैतिक और कानूनी कर्तव्य है।

साम्प्रदायिक नहीं अन्तर्राष्ट्रीयता

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की समस्या साम्प्रदायिक समस्या नहीं है और साम्प्रदायिक आधार पर इसका हल नहीं हो सकता। यह तो एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है। अस्तु, इस का हल भी उसी आधार पर होना चाहिये। शासन विधान चाहे किसी भी तरह का क्यों न हो जिसमें इस भेद की उपेक्षा की गई हो, वह पाकिस्तानियों के लिए तो विनिष्टकारी होगा ही, किंतु साथ ही अंग्रेजों और हिंदुओं के लिये भी लाभकारी नहीं हो सकता।

निश्चिन्त नहीं रह सकते

पाकिस्तान आंदोलन का प्रवर्तक होने की हैसियत से यह बताना मेरा कर्तव्य है कि हम पाकिस्तानियों के लिये संघ योजना द्वारा पैदा की हुई परिस्थिति की उपेक्षा करना स-

(शेष पृष्ठ २२ पर)

कृषक की आह !

किसे सुनायें कष्ट कहानी,
कौन हमारा है, जग में।
आहों को गाना सुनते हैं,
काँटे चुनते हैं मन में ॥१॥

दिन के साथी सूर्य हमारे,
तन-मन को झुलसा जाते।
सन्ध्या होती तारे आते,
सुधा सुधाकर बरसाते ॥२॥

व्याकुल प्राणों को दिन-भर की,
चिन्तायें घर रहतीं।
जिसके बच्चों को ले बैठी,
गृहणी कष्ट-कथा कहतीं ॥३॥

आया था जिमिदार तुम्हारा,
कहता मुझ को दो 'बाकी'।
कुड़क करूंगा बैल तुम्हारे,
अब के तुम न जो ना की ॥४॥

छाती टूट गई देखो तो,
पानी भीतर ही आता।
सोने को भी जगह नहीं है,
सील गई पृथ्वी माता ॥५॥

एक घड़ा बस मिट्टी का है,
और नहीं कुछ भी घर में।
सन्निपात का ज्वर शिशु को है,
वस्त्र नहीं कोई तन में ॥६॥

क्या होते हैं सुख दुनिया के,
नहिं कुछ भी हम ने जाना।
भारत के हैं कृषक तभी तो,
घेरे रहते दुःख नाना ॥७॥

भर-पेट नहीं रोटी मिलती है,
समय-समय पर कभी नहीं।
रोते शिशु हैं, कोस हमें फिर,
पशु भी रहते मौन वहीं ॥८॥

दाने दाने को रोना है,
विधिना ने है यही लिखा।
शान्ति सदन हैं ग्राम नहीं अब,
छाया रहता कोप महा ॥९॥

अनावृष्टि अति वृष्टि सदा ही
दया हमी पर है करती।
जिमिदारों की कोप दृष्टि भी
सिर पर ही नर्तन करती ॥१०॥

—भोलादत्त ज्योतिर्विद्

हिन्दी

मिश्र बन्धु, कामता, द्विवेदी द्वार रक्षक हैं,
शुक्ल, हरिऔध है सप्रेम चौर ढारन।
सुभद्रा, महादेवी जो राई नोन वारती है,
गुप्त, रत्नाकर हैं चरण पखारन।
शंख, घड़ियाल हैं अनूप जी, वियोगी हरि,
श्रद्धा से बजाते और विरद उचारते।
शंकर, निराला, पन्त हिन्दी-हिन्द-मन्दिर में,
मातृ-भाषा हिन्दी को हैं, आरती उतारते।

—हरिवल्लभ 'हरि'

हे कलाकार ?

हे हरिश्चन्द्र ! हे भारतेन्दु,
हे कलाकार ! हे कवि-उदार।
हे निर्धन के धन हे अनूप,
हिन्दी विभूति के मूर्तिकार ।१।

खन्डहर से सूने मन्दिर में,
तुम कुसमय में आने वाले।
जननी के पावन चरणों में,
रोते रोते हंसने वाले ।२।

कुछ ऐसी मय लेकर आये,
आये ऐसी मस्ती ढाले।
दो-चार बूंद में बना दिये,
कितने ही पागल मतवाले ।३।

आँखों से ओझल हो कर भी,
घर-घर जादू करने वाले।
दुनिया अचरज से देख रही,
तुम मरकर भी जीनेवाले ।४।

बिजली बन कर चमके नभ में,
बरसे अविरल शत धारों में।
माता का हर भर-भर आया,
गूंजी वसुधा जयकारों से ।५।

वे दिवस क्षितिजके पार छिपे,
छिप गई कहीं वह छवि प्यारी।
अब याद तुम्हारी शेष रही,
ये शेष रहीं बातें सारी ।६।

नूतन विधि से गूंथी माला,
है फूल अनोखे रंग वाले।
लेकर आये स्वीकार करो,
ओ स्मृति में ही आन वाले ।७।

—श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'

ज्योत्सना (कविता)

देवि, कौन तुम सुरबाला सी, उतर व्योम से जगतीतल पर।
इठलातीं, बल खातीं, प्रतिपल, निज-यौवन-प्याला छलका कर ॥
मधुर हास भर जग प्रांगण में, कुसुम चमेली के बिखरातीं।
नवजीवन का सुरभि लिये सी, मन्द-मन्द मुसकाती आतीं ॥१॥

चाँदी सी सुषमा अपार ले, कूद पड़ीं तुम सरिता-जल पर।
कौन राग गातीं गरिमा सी, वन-देवी के वक्षस्थल पर ॥
मादकता उड़ल वसुधा पर, मुकुलित बेले में बरसातीं।
जग-उपवन की काली-काली में, मधु, परिमल, पराग छलकातीं ॥२॥

पिरो सूत्र में टाँके मोती, तुमने निशि के नीले पट पर।
निखर तुम्हारी दिव्य प्रभा से, प्रमुदित दुग्ध बहाता निर्झर ॥
नन्दन-वन-सा जग-उपवन यह, आज शान्त, अविकल, सुषुप्त है।
इस निशीथ में स्वर्ग-परी सी, श्वेताम्बर तू विलुप्त है ॥३॥

सजनि, हृदय-वीणा निज ले तुम, मस्तराग गाती मृदुस्वर भर।
सावन झूला झूल रही हो, सरोजिनी की पखड़ियों पर ॥
देवि, आज, खिल, निज अधरों से, बरसातीं अमृत की धारा।
सदा अमरता देती हो तुम, पिला सोमरस जगको सारा ॥४॥

मलय-पवन जब तुम्हें छेड़ कर, रंगरेलि करता किरनों में।
प्रतिमा फूट निकलती है तब, एकाकी कवि के नयनों से ॥
बस, सुख-चाँद खिले भारत में, बरस पड़ें दुख-घन आँसू बन।
सुखद 'ज्योत्स्ना' से परिपूरित, होवे अब जन-जन का जीवन ॥५॥

—लक्ष्मीप्रसाद मिश्र 'कवि हृदय'

इटली अबीसीनिया के संघर्ष से सम्बद्ध राजनीतिज्ञ

इटली का तानाशाह

सीन्योर मुसोलिनी

लीग असेम्बली के अध्यक्ष

डा० बेनेस

अबीसीनिया का सम्राट

रासतफारी
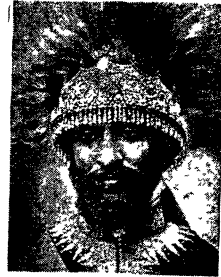
इटालियन प्रतिनिधि

बैरन अलायसी

फ्रेंच प्रतिनिधि

मो० लेवल

ब्रिटिश प्रतिनिधि

मि० ईडन

इटली का सेनापति

जनरल ग्रेज़ियानी

ब्रिटिश पर-राष्ट्र मन्त्री

सर सेम्युअल होर

अबीसीनिया का सेनापति

जनरल एरिक विर्जिन

बेरडा गांव का मामला

गोरों ने स्त्रियों को नंगा किया और उनका सतीत्व नष्ट करने की कोशिश की

गोद से बच्चा छीनने की कोशिश

पत्थरों, लकड़ियों व ठोकरों से गोरे ग्रामीणों को मार रहे थे

अदालत में इकवाली गवाह, स्त्रियों तथा अन्य व्यक्तियों के बयान

किंग्सरजिमेंट के १९ गोरे सैनिकों के विरुद्ध हत्या व दंगे के अभियोग का मुकदमा जबलपुर में मि० ई० ए० स्नलसन आई० सी० एस० की अदालत में जारी है।

गांव वाले भाग रहे थे

४ सितम्बर को इस्तगासे की ओर से अमोलसिंह ठेकेदार की गवाही हुई। उसने कहा कि १॥ मास के करीब हुआ, मैं एक रोज शाम को ७॥ बजे अपने घर पहुंचा, वहां कुछेक ग्रामीणों ने मुझे बताया कि गोरे लोग ग्रामीणों पर हमला कर रहे हैं और ग्रामीण गांव से भाग रहे हैं। मैंने एक ग्रामीण को अपनी साइकिल दी और उससे कहा कि मामले की रिपोर्ट पुलिस में कर दो। अपने घर से मैंने लगभग ३०-४० सैनिकों को गांव में ऊधम मचाते हुए देखा। मैं डर के मारे उनके पास नहीं गया। गांव वालों को, जिन में स्त्रियां व बच्चे भी शामिल थे, मैंने गांव से भागते हुए देखा। केवल ५-६ आदमी मेरे घर में आश्रय लिये हुए थे। मैंने जिन घायलों को अपने घर में रक्खा था, उनमें ४-५ स्त्रियां भी थीं।

मैं प्यारी (मृत व्यक्ति की घायल लड़की) को जानता हूं।

गवाह ने अदालत में उस रुमाल को पहचाना जो, घायल लड़की के माथे पर बन्धा हुआ था।

गोपाल चमार ने कहा कि मुझे इस मामले के बारे में कुछ नहीं मालूम, क्योंकि मैं गोरों को देख कर अपनी झोंपड़ी में घुस गया और जब तक गोरे चले न गये, झोंपड़ी से बाहर न निकला।

कामता चमार ने बतलाया कि मैंने लगभग २०-३० गोरों को दंगा करते हुए देखा। वे ग्रामीणों को ठोकरों, लकड़ियों व पत्थरों से मार रहे थे। मेरे पीछे भी १५-२० गोरे दौड़े। उन्होंने मुझे पकड़ कर खूब पीटा और मेरे बर्तन भांडे तोड़ दिये।

दुलार नामक एक अन्य ग्रामीण ने अपनी गवाही में कहा कि मुझे भी गोरों ने मारा पीटा।

इस के बाद एक १२ वर्षीय लड़के व एक चमार की गवाही हुई।

आग लगाने व गोद से बच्चे छीनने की कोशिश

५ सितम्बर को वाल्टर एण्ड्रूज पारसी नाम का दूसरे इकवाली गवाह की गवाही हुई। उसने कहा कि प्राइवेट केनडी पर ग्रामीणों द्वारा किये हमले का बदला लेने के लिये गत १८ जुलाई की शाम को लगभग ४०-५० गोरे बेरडा गांव पर चढ़ गये। हम ५-५ व ६-६ आदमियों की टोलियों में गांव में दाखिल हुए। गांव के बच्चे हमें देख कर भागने लगे। हमने एक छप्पर में आग लगाने की कोशिश की मगर हम अपने प्रयत्न में असफल न हो सके। बाद को हम ने ग्रामीणों पर आक्रमण किये। जब हम गांव से बाहर निकले तो हमने ग्रामीणों की उस पारटी को जिसमें ३ मर्द व ३ औरतें एवं कई बच्चे शामिल थे, अपनी ओर आते हुए देखा। हमने उन पर भी हमला किया। हमारे एक साथी ने एक ग्रामीण को गिरा दिया और उसे खूब पीटा। एक मर्द की गोद से एक बच्चे को छीनने की भी कोशिश की गई। पश्चात् मैं कुछेक अन्य साथियों के साथ बैरकों में वापस चला गया।

६ सितम्बर को कम्पनी क्वार्टरमास्टर सार्जेन्ट गेम्बलिन ने कहा कि गत २८ जुलाई को मैंने ४ अभियुक्तों को गिरफ्तार किया था।

कपड़ों पर धब्बे थे

दूसरे गवाह मास्टर थामस विलियम्स (कपड़े धोने की 'बी' कम्पनी के इन्चार्ज) ने अपने बयान में कहा कि १९ जुलाई को सुबह कुछेक अभियुक्त मेरे पास आये और उन्होंने कुछ कपड़े जिन पर तरह तरह धब्बे लगे हुए थे, जल्दी धोने के लिये दिये। इस पर मुझे कुछ सन्देह हो गया। मैंने इस बात की सूचना सारजेन्ट बिरकिट को दे दी। वह मुझ से उक्त कपड़े ले गया।

१४ वर्षीय लड़की की गवाही

मुसम्मात प्यारी (१४ वर्ष) ने अदालत में गवाही देते हुए कहा कि १८ जुलाई की शाम को जब मैं अपने पिता बिधाता व कुछेक अन्य स्त्रियों के साथ घर वापिस आ रही थी, तो मैंने दूर से कुछेक सैनिकों को गांव पर आक्रमण करते हुए देखा। इतने में सैनिकों की एक पारटी ने हम को घेर लिया और बिना किसी भेद भाव के सब को पीटना शुरू कर दिया। मेरे सिर पर चोट लगी। मैं गिर पड़ी। सैनिकों ने मेरी 'साड़ी' खोलने की कोशिश की, मगर वे अपने प्रयत्न में सफल न हो सके। मेरे पिता ने मुझे बचाने की कोशिश की, मगर सैनिकों ने उन्हें इतना घायल किया कि वह मर गये। एक सैनिक ने मेरे सिर पर एक रूमाल बांधा था, जो कि बाद को मैंने पुलिस को दे दिया था।

प्यारी की गवाही की पुष्टि

इस के बाद बुधा नामक एक १३ वर्षीय चमार लड़के ने मुसम्मात प्यारी के बयान की पुष्टि करते हुए कहा कि बिधाता ने जब अपनी लड़की प्यारी को सैनिकों के आक्रमणों से बचाने की कोशिश की तो सैनिकों ने लकड़ियों से उस पर हमला कर दिया। वह सख्त घायल हुआ और मर गया। सैनिकों की संख्या १०० के करीब थी, वे सब लकड़ियां लिये हुए थे। कुछेक सैनिकों ने हमारी पारटी की ३ स्त्रियों को भी नंगा किया था।

जलपान के बाद गरीब गड़िया चमार की गवाही हुई। उसने बुधा के बयान की पुष्टि की। गरीबा गड़िया की स्त्री तेरासिया ने अपनी गवाही में कहा कि मैंने पचासों सैनिकों को बिधाता पर हमला करते हुए देखा था। सैनिकों ने हमारी पारटी को घेर लिया और मेरे कपड़े फाड़ डाले। मेरे छाती, कमर व चूतड़ों पर चोट आयी। मुझे यह नहीं मालूम कि प्यारी के साथ क्या गुजरी। हमारी पारटी की अन्य स्त्रियों की भी इसी प्रकार बेइज्जती की गयी। मैं उस अभियुक्त को नहीं पहचान सकती, जिसने मुझ पर आक्रमण किया था, क्यों कि सभी अभियुक्तों की शक्ल एकसी है।

सतीत्व नष्ट करने की कोशिश

मुसम्मात शुगरी ने तेरासिया की गवाही का समर्थन करते हुए कहा कि मेरी गोद में एक बच्चा था, मगर फिर भी सैनिकों ने मेरे कपड़े फाड़ डाले और मुझे नंगा करके मेरे सतीत्व को नष्ट करने की कोशिश की।

नंगा गोरा

मुसम्मात शुगरी ने जिरह में बतलाया कि मेरी गोद में बच्चा होते हुए भी गोरों ने मुझे मारा व तंग किया था।

मुसम्मात दुखिया ने अन्य गवाहों के बयानों की पुष्टि करते हुए कहा कि मैंने एक गोरे सैनिक को मुसम्मात प्यारी की ओर नंगा जाते हुए देखा था।

डा० की गवाही

डा० मेहता ने, जिसने बिधाता के शव की परीक्षा की थी, अपने बयान में कहा कि मृत व्यक्ति को बुरी तरह घायल किया गया था और जख्मों की वजह से ही उस की मृत्यु हुई थी। मैंने कई अन्य ग्रामीणों के जख्मों का भी निरीक्षण किया था।

खुदाबख्श धोबी (किंग्ज रेजिमेंट का एक धोबी) ने अदालत में उस रूमाल को पहचान लिया जो प्यारी के सिर पर बन्धा हुआ मिला था।

मुकदमा अभी चल रहा है।

महिला-जगत

सास और बहू

(ले०—श्रीयुत वैजनाथ महोदय)

संसार में सास बहू का रिश्ता सनातन है। संसार के प्रारम्भ से यह चला आया है। और अनन्त काल तक यह जारी रहेगा। परन्तु अभी तक भी यह संस्कृत की "अहि नकुलम्" वाली कहावत के अनुसार ही प्रायः बना हुआ है। सास बहू को कैसा रक्खे तथा बहू सास के साथ कैसी रहे इस पर शायद वेदों के [illegible] ज्ञान की जरूरत है। संसार में आज निःशस्त्रीकरण की समस्या पर जितना ध्यान दिया जा रहा है असंख्य भारतीय कुटुम्बों के लिए शायद यह समस्या निःशस्त्रीकरण की अपेक्षा भी अधिक महत्वपूर्ण है। बालविवाह की प्रथा के कारण हमारी लड़कियाँ तो बचपन से ही दुःखी बन जाती हैं और परदे ने उसे पूरा पशु तथा कैदी बना दिया। लड़कियों की सारी प्रसन्नता खेलन कूदन तथा आनन्द मनाने की उमंगें जहाँ की तहाँ रह जाती हैं और पशु की तरह उन की रस्सी एक दूसरे शख्स के हाथ में दे दी जाती है। कौन कह सकता है कि उस कोमल हृदय पर बिलकुल अपरिचित जगह पर क्या क्या बीतती है। उस पर जो शब्द प्रहार होते हैं उन्हें सुन कर वेद नेति नेति कह कर भागने लगते हैं। उस पर दिन में और रात में जो मार पड़ती है शायद वही जानती है। ननद और देवर उन के दिल में जो कुछ आवे कहते और उस से मन माना काम कराने को मानो नहीं सचमुच अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानते हैं। सदा सवार रहते हैं। मुझे अब भी याद है कि मैं अपनी नई नई भौजाइयों को बचपन में कितना तंग किया करता था। परन्तु मानव हृदय सब जगह अपनी छाप डालता ही है। और वह हर विकट परिस्थिति में से अपना रास्ता निकाल लेता है। उस कठिन परिस्थिति में पले और बढ़े हुए लड़के लड़कियों में भी प्रेम का लहलहाता अपूर्व पौधा तैयार हो जाता है। सासें भी सब ऐसी कठोर नहीं होतीं। उन्हें धुन होती है बहू को सुधारने की और इस जल्दबाजी में वे बहू के हृदय का ख्याल न कर जैसे मुँह में आता है अक्सर बोल जाती हैं। इस सनातन संघर्ष से सास बहू पद तैयार होता है। लड़की की माँ अपनी लड़की को ससुराल भेजते समय इसका पाठ पढ़ाती हैं। बेटी! सास, ननद देवर जेठानी इन की आज्ञा मानना इन का आदर करना। इन को अपने भाई बहिन समझ कर प्यार करना। अब तेरे भाई बहन माँ बाप सब कुछ यही हैं। हम तो दो दिन के साथी हैं। कभी कभी तू यहाँ आयगी। बाकी सारी जिन्दगी तेरी वहीं कटेगी। इसलिए अपनी नम्रता प्रेम आज्ञा पालकता काम की चतुराई उद्यमशीलता पाक निपुणता गुणग्राहकता कठोर वचन सह लेने की वृत्ति किफायतसारी स्वच्छता सुघड़ता मर्यादा आदि दैवी-सम्पत्ति से सब को वश में कर लेना। कभी किसी का मुँह न पकड़ना। एक स्त्री के लिए इस से खराब दुर्गुण दुनिया में नहीं है। इस का ध्यान तो सब लोगों के लिए जरूरी है। मुँह पकड़ने से फौरन लड़ाई होती है। मनुष्य अन्तर्मुख बनने के बजाय बहिर्मुख अर्थात दूसरे के दोष देखने वाला बन जाता है। और बड़ा मनुष्य कभी यह बरदाश्त नहीं कर सकते कि उस के दोष तू बतावे। तेरी भी इस में हानि ही है। जब तू दूसरों के दोष देखने लगेगी तब तेरी नजर अपने दोषों पर न जावेगी। हमेशा तेरे दिल में यही ईर्षा और मत्सर की आग जलती रहेगी कि मुझे ही यह लोग ऐसा क्यों कहते हैं। मेरी ननद में भी तो यही अवगुण हैं। देवर ने भी यही गलती कल की थी। सास जी भी तो कई मर्तबा इसी तरह काम बिगाड़ देती हैं। इस तरह की दलीलें उस के दिल में उठने लगती हैं और वह अच्छी बातें ग्रहण करने के बजाय तुलना के फेर में पड़ जाती है। नित्य नये कलह होते हैं तथा घर नरक सा बन जाता है। ऐसे घर में सास बहू पति पत्नी सब का जीवन मैला दुखी हो जाता है। इसलिए बेटी जब भी कोई तेरा दोष बतावे फौरन उसे सुधार ले और प्रसन्न चित्त से उनकी सूचना का स्वागत करे। तब तू सब की प्यारी हो जायगी और घर की सच्ची मालकिन हो जायगी।

इत्यादि! पर यह ख्याल नितान्त भ्रमपूर्ण है कि सभी सासें कठोर ही होती हैं। आखिर वे भी तो जानती हैं कि घर की असली मालकिन तो कल यही होगी। वे उसे अपनी बेटी की तरह प्यार करती हैं। वह परिवार में इस बात का खास तौर से ध्यान रखती है कि काम का बोझ उस पर अधिक न पड़ने पावे। वे उस का पक्ष लेकर उस का जवाब भी करती हैं और इस तरह की चीज बना कर उसे खिलाती भी है। सास बहू में आगे चल कर माँ बेटी सा सच्चा प्यार हो जाता है। सास बहू की माँ बन जाती है। और बहू बेटी बन कर सास की अनन्य भाव से सेवा करती है।

पर जैसे जैसे बालविवाह की प्रथा टूटती जा रही है सास बहू की समस्या नये रूप में सामने आने लगी है। पलड़ा उलट गया नये पुराने और पुरानों में वैसे भी एक युग का फर्क तो होता है। फिर अगर बहू बेटे थोड़ी बहुत हिन्दी अंग्रेजी पढ़े हों तब तो कहना ही क्या! भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है।

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतर माराध्यते विशेषज्ञः। ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति॥

कि कम पढ़े लिखे आदमी से भगवान बचावे। अपढ़ मनुष्य अच्छी तरह जल्दी समझाया जा सकता है। उसमें बड़ों के प्रति श्रद्धा होती है। अपनी अज्ञता का भान होता है। उसमें अच्छा विशेषज्ञ। क्योंकि उसे अपनी अल्पज्ञता का भान हो जाता है। उस से बातचीत करने में आनन्द आता है। परन्तु कम पढ़े लिखे श्रद्धा रहित मनुष्य को प्रत्यक्ष ब्रह्मदेव भी सन्तोष नहीं दे सकते। थोड़ा सा पढ़ लेने में से यह अहंकार हो जाता है कि मैं पढ़ गया हूँ। परन्तु उनको अच्छी शिक्षाओं को उस के अन्दर अपनी जड़ जमाने का अवसर नहीं मिल पाया।

यह तो श्रद्धापूर्वक दृढ़ अभ्यास करने से होता है। इधर पुराने कुसंस्कार तो उन के जड़ जमाये बैठे रहते हैं थोड़ा पढ़ लिख जाने के कारण न्याय अन्याय समाधिकार सत्य और असत्य की चर्चा करना सीख लेते हैं। अगर ऐसी बहू को पुराने ढंग की सीधी सादी और मामूली देहात की रहने वाली सास मिल जाय तब तो उस की बेचारी का वहाँ जाना। तात्पर्य में पति तो स्वभावतः स्त्री के वश में रहता है और लड़का बहू खाने कमाने लायक होकर अलग रहने लग गये तब तो उन माता पिता की पूरी कमबख्ती ही समझिए। अगर साथ रहे तो आज पुराने जमाने की सास का स्थान बहू ले लेती है और वह सास को डिक्टेट करती है। सास कहती है— ऐसा होना चाहिये बहू कहती है— नहीं यह होगा। मान मर्यादा उम्र का ख्याल सब ताक में रख दिये जाते हैं। अब तो समानाधिकार का जमाना जो है जिस के दिल में जो पैदा हुआ वह सब तड़ाक से कह दिया और जो कह दिया वह सब सत्य ही होते हैं।

परदा हट गया। पति पत्नी अब तो दो मित्र हैं। सुधार के नाम पर आचार विचार कुल धर्म सब का स्वच्छन्दतापूर्वक त्याग होने लगता है। बाहरी बन्धनों की दीवार हटते ही मनुष्य एक खुले हुए बछड़े की तरह प्रोटेस्ट में उछलता है कूदता है और नाचता है।

यद्यपि यह स्वाभाविक है परन्तु इस तरह काम नहीं चल सकता। जिस परिवार में ऐसा दाम्पत्य है वहाँ सुख और शांति अधिक समय तक कैसे रहेंगी। इसलिए नवविवाहित युवकों तथा युवतियों को बहुत सावधानी से आगे बढ़ना चाहिये। युवक यह खूब समझ रक्खें कि

पतिदेव

(१)

विश्व विपिन में खिला करेंगी कलियाँ यों ही नई नई।
मधुकर! तुम को मिला करेंगी अलियाँ यों ही कई कई॥

(२)

किन्तु प्राणधन भूल न जाना मुझ अबला की दीन पुकार।
निज चरणों से विलग न करना विनती यही है बारम्बार॥

रत्नमाला जैन मेरठ शहर।

उक्त कविता रचयित्री ने अपने विवाह के अवसर पर लिखी थी।

अगर वे अपने जन्मदाता माता-पिता अथवा इन्हीं के समान पूजनीय सास ससुर को संतोष नहीं दे सकते उनको आराम नहीं पहुंचा सकते, उनके साथ शांतिपूर्वक नहीं रह सकते तो और दूसरों के साथ कैसे रह सकेंगे? कुल धर्म की सब से पहली शिक्षा है अपने को भूल जाओ जहां सच्चा प्रेम है, वहां सहनशीलता, नम्रता जरूरी ही होती है। जहां प्रेम है वहां कष्ट सहन का पार ही नहीं। पर यह कष्ट सहन तो मनुष्य के लिये आनन्द की वस्तु होता है। वहां मनुष्य बनिये की तरह यह गिन कर नहीं बता सकता कि लो, मैंने तुम्हारे लिये यह किया, यह दिया वह सहा। जिस मनुष्य की जबान पर यह आ गया तो समझना चाहिये कि उसने कुलधर्म का रहस्य नहीं समझा।

प्रत्येक घर में विचार स्वातंत्र्य, तो होना ही चाहिए। सिद्धांतनिष्ठा के लिए भी कभी कभी घर में मतभेद होता रहता है। और वह अच्छी चीज है। पर इसके कारण परिवार में कटुता आने का कोई कारण नहीं है। मैंने अभी तक ऐसा परिवार नहीं देखा जिसमें सास बहू के बीच सिद्धान्त की लड़ाई हुई हो। जिसने सिद्धांत समझने की उसको मजबूती के साथ पालन करने की बुद्धि होती है, उसमें यह भी विवेक पैदा हो ही जाता है कि दूसरे के साथ खास कर अपने बड़े बूढ़ों के साथ जहां इन बातों का सम्बन्ध आता है वहां पर अपने आचार में कितना और कहां तक समझौता किया जा सकता है।

युवतियां स्मरण रक्खें कि लड़ाइयां, कटुतायें सिद्धांतों के कारण नहीं, छोटी-मोटी, खान-पान की, पहनने, ओढ़ने की, बिलकुल तुच्छ बातों पर और खासकर वाणी के असंयम से पैदा होता है। उनमें अगर वे चतुरता से, नम्रता से, सरलता से काम लेंगी तो सद्धांतिक मतभेद, नयेपन और पुरानेपन की खाई होने पर भी सास बहू के बीच आदर्श प्रेम पैदा हो सकता है। बहुयें याद रक्खें कि अगर ५-४ साल के अभ्यास के कारण उनकी रुचियां, आचार-विचार मजबूत हो गये हैं तो अपने गुरुजनों के संस्कार कई गुने अधिक मजबूत होते हैं। उनके लिए तो अपने आचार-विचार में परिवर्तन करना, सहिष्णुता दिखाना और भी कठिन है। इसी लिए अहिंसा को राजमार्ग बताया है। इस रास्ते पर चलने से सारी कठिनाइयां हल होजाती हैं। नम्रता, विवेक, मर्यादा प्रेम, सहिष्णुता मधुरता आदि इसी महान गुण के अनेक पहलू हैं। जिसने इस महायोग को साध लिया वह सबको अपने वश में कर लेता है।

लड़कियों की दो समस्यायें

(ले०—श्रीयुत कल्याणसिंह वैद्य, इन्दौर)

(१)

क्या शिक्षा दी जाय?

इस प्रश्न ने अच्छे से अच्छे दिमागों को परेशानी में डाल रक्खा रक्खा है। लड़कों की शिक्षा का ही तजर्बा रद्दी साबित हुआ। ग्रेजुएट बन कर भी कुछ न बने, किसी काम के साबित न हुए और उलटे गलग्रह सिद्ध हुए। तब इसी शिक्षा 'बे कमाकाज' लड़कियों पर लादना कहां की बुद्धिमानी है?

जीवन का मूल तत्व कार्य परिश्रम है। परन्तु वर्तमान काल का शिक्षित युवक शारीरिक परिश्रम व घर के काम-काज से जी चुराता है, उसे फैशन के खिलाफ समझता है। यही हाल वर्तमान काल की पढ़ी-लिखी लड़कियों का है, वे सिवाय उपन्यास पढ़ने के और कोई काम करना नहीं चाहती। हर वक्त बनाव सिंगार, उपन्यास पढ़ना और आराम बस यही काम है। मगर, इस काम से गृह-स्थाश्रम या मनुष्य समाज नहीं चल सकता। लड़कियों का क्षेत्र घर है, घर को अधिक-से-अधिक आराम देह, बल्कि स्वर्ग तुल्य सुखद बनाना यह उनका उद्देश होना चाहिये। उन्हें बच्चे पैदा करने हैं, उनकी परवरिश करनी है, उन्हें योग्य बनाना है, यह काम कम जिम्मेदारी का नहीं है। अगर वे बच्चों को योग्य बना सकीं, तभी देश, जाति और समाज का उद्धार होगा। एक भी योग्य बच्चा देश को उठाने के लिये काफी होता है, पुनः यदि सब बच्चे योग्य निकलें तो देश और जाति के उत्थान में सन्देह ही नहीं हो सकता। ऐसे आवश्यक विषयों की उचित शिक्षा न पाना और अनावश्यक ऊल जलूल बातें पढ़ते रहना कहां की बुद्धिमानी है? जो लोग लड़कियों को उनके उचित क्षेत्र से हटा कर, इधर-उधर भटका रहे हैं, हमारी समझ में वे समाज की भारी हानिकर रहे हैं। घर कम दिलचस्पीक चीज हर्गिज नहीं है, जो लोग इस के लिए कुछ नहीं करना चाहते और इधर-उधर उड़ना चाहते हैं—कमाल करते हैं।

> "हजारों काम मजे के हैं,
> दाग़ 'घर के लिये'।
> जो लोग कुछ नहीं करते,
> कमाल करते हैं।"

अगर कुछ खुले दिमाग की लड़कियां गृहस्थाश्रम में न आवें और ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी या स्त्रियों की उन्नति या समाज की उन्नति संबन्धी दूसरे उन्नत कार्यों में लगें तो कुछ हर्ज नहीं उनके लिये क्षेत्र खुला रहे वे उधर काम करें यद्यपि मनुमहाराज तो बहुत उच्च कोटि की शारीरिक और दिमागी शक्ति रखने वाले स्त्री-पुरुषों को ही गृहस्थाश्रम में आने की सलाह देते हैं:—

> "स सन्धार्यः प्रयत्नेन,
> स्वर्गमक्षय मिच्छता।
> सुखं चे हेच्छता नित्यं,
> योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः।"

(२)

विवाह

लिखी पढ़ी लड़कियों के विवाह की समस्या विकट हो उठी है, ऐसी लड़कियों के अभिभावकों को बड़ा परेशान देखता हूं। लिखे-पढ़े लड़कों का रेट चढ़ गया है, उनके मां-बाप बहुत ज्यादा दाम मांगने लगे हैं, जिन घरानों और बिरादरियों में पहले दहेज पर बातचीत करने का कोई प्रश्न ही न था, उनमें भी ठहरौनी होने लगी है। बीमारी नष्ट होने की बजाय नये-नये क्षेत्रों में घुस रही है। पहले कायस्थ, कनौजिया ब्राह्मण, राजपूत, बंगाली और बिहारी ये ही लोग बदनाम थे। अब देखते हैं कुल शिक्षित समाज विवाह में लेन-देन ठहराने लगा है। अर्थ पिशाच ने लोगों को पतित कर दिया है, इस वक्त कमाने पैसे की अमलदारी है, इसने और सब को पीछे छोड़ दिया है। हर एक भले बुरे काम में सब से आगे यही खड़ा दिखाई देता है। यद्यपि पढ़े लिखे लड़कों की वर्तमान काल की दशा अच्छी नहीं है। कोई नौकरी और रोजगार उनको नहीं मिल रहा, बकौल अकबर:—

> "कालिज से मदा आ रही,
> है पास पास की।
> और नौकरियां से आ रही,
> है। दूर दूर की।"

परन्तु विवाह के बाजार में उनके करारे दाम उठ रहे हैं। इसलिए क्यों न फायदा उठाए। परन्तु!

ऐसे निभेगी कबतक?

'घर के लिये' की जगह असली पाठ (अल्फ़त में) ऐसा है।

विधवाओं की चिन्ता

(ले०—बलीराम घनश्यामा कमल)

बिहार के बाद-कोइटा भूचाल प्रलय और पेशावर अग्निकाण्ड के संसार व्याप्त दुःख ने समस्त देश को अनेक चिन्ताओं से आक्रान्त कर दिया है, जहां पर असंख्यदुःखियों के दुःख दूरीकरण, घायलों की चिकित्सा अंगविहीनों और बूढ़ों की सुश्रुषा और विपत्ति जन्य अनाथ बच्चों के भरण, पोषण और शिक्षा आदि मानवोचित अनेक विचारणीय प्रश्न जाति को चिन्ता सागर में डुबा रहे हैं वहां पर विधवाओं का भी एक बड़ा भारी विचारणीय प्रश्न है। जो विचारकों के रक्त को आज घोल कर पी रहा है। शरणहीन वृद्ध अंगहीन युवक अनाथ बच्चे निसन्देह सदा से अन्न वस्त्र पाते आ रहे हैं। पाते आयगे। हिन्दू जाति में इनके लिये औदार्यता है। मानो मर्यादा सम्पन्न ना है। इस में पूर्ण विश्वास है। अनेक स्थानों में सहायक मंडल रक्षा केन्द्र नियत हैं। यह हर्ष और गौरव का विषय है। परन्तु अब तक कहीं से यह आवाज नहीं उठी कि इन असहाय निरपराधिनी दुःखी विधवाओं के जीवन को किस तरह सुखमय बनाया जाय। उनके भविष्य निर्माण के साधन कैसे विचारे जायं। जहां पर हिन्दू जाति अपनी दानशीलता के कारण अनाथों की रक्षार्थ सर्वदा हाथ बढ़ाती रही है। वहां पर उसे अपनी निधि की रक्षा का ख्याल भी अवश्य होना चाहिये। इस नारी धन को जिसके अन्दर अनेक निधियां निहित हैं यदि समय पर न सम्हाला गया तो लुटेरे उसे लूट ले जायंगे और हिन्दू माता विधवा हो जायगी। जहां पर उनके धर्म की रक्षा जातीय गौरव का सुन्दर कामना होनी चाहिये वहां इस हिन्दू जाति की लाडली विधवाओं के प्रति कई पापी गृध्रों की पापमयी-वासनामयी दृष्टि आठो याम लगी रहती है। उन्हें बलात् भ्रष्ट और अपहरण करने की अनेक चेष्टायें की जाती हैं। हिन्दू जाति ने विचारों की संकीर्णता में पड़ कर विधवाओं को त्याज्य और निस्सहाय जान कर अनेक हानियां उठाई हैं। कई एक रत्नगर्भा सुन्दरियों जोजातिच्युत कर के विधर्मियों की कुल वधूएं बनाने में सहायता दी है। हिन्दू जाति की ठुकराई हुई अन्य-शरणीयाभिना विधवाओं ने अपने धर्म देश और समाज को अभिवृद्धि को सचेष्ट रोका है। पापपंक और

(शेष पृष्ठ २७ पर)

आधुनिक हिन्दी के तीन युग

हरिश्चन्द्र युग, द्विवेदी युग और दुलारे युग

वर्तमान हिन्दी के जन्म और उन्नति की कथा बताते हुए श्री चतुरसेन शास्त्री ने एक विस्तृत लेख सुधा में लिखा है। हम उसके कुछ अंश यहां देते हैं। लल्लूजीलाल और ऋषि दयानन्द आदि की सेवाओं का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

इस समय भारतेंदु हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ। बाल्यकाल ही में उनके माता पिता का स्वर्गवास होजाने से १५ वर्ष की अवस्था ही में उनकी शिक्षा समाप्त होगई। इसके बाद उन्होंने सकुटुम्ब जगदीश की यात्रा की। इस यात्रा में इनका परिचय बंगला साहित्य से हुआ। उस समय ग़दर हो चुका था, और अंगरेजी राज्य जम कर बैठ गया था। अंगरेजी शिक्षा का प्रभाव तेज़ी से बंगाल पर पड़ रहा था। इस सबसे यह बड़े प्रभावित हुए। इन्होंने बंगला नाटकों को चाव से पढ़ा, और एक नाटक, 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद भी किया। यही इनकी प्रथम रचना थी। इसके बाद इन्होंने चौखम्भा स्कूल स्थापित किया, और और भी साहित्य संस्थायें स्थापित कीं। यह महाराणा सज्जनसिंह के निमन्त्रण पर मेवाड़ भी गये। इन्होंने कुल ३४ वर्ष की आयु पाई सिर्फ़ १८ वर्ष समाज की सेवा कर सके। इसी बीच में इन्होंने हिंदी-भाषा को अपना रूप दिया और उसमें एक नवीन युग का प्रारम्भ कर दिया। हिंदी-भाषा में देश-काल के उपयुक्त भाव और विचार उत्पन्न किये। उन्होंने शुद्ध हिन्दी का पक्ष लिया और उसे नए सांचे में ढाला। यह एक उत्कट देश-प्रेमी थे और उनकी रचनायें देश भक्ति से ओत प्रोत हैं। उन्हें पढ़ कर देश के लाखों युवकों ने देश प्रेम की भावना को अपनाया। देश-भक्ति के उनके उद्गार नीलदेवी, भारत दुर्दशा और अन्धेर नगरी में कूट-कूट कर भरे हैं।

भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से हरिश्चन्द्र की कविता आदर्श कही जा सकती है। शृंगार, देश-भक्ति और प्रेम, इनका वर्णन ऐसा नैसर्गिक, सच्चा और मर्मस्पर्शी हुआ है कि देखते ही बनता है। हास्य-रस का भी जहां प्रसंग आया है, कमाल कर दिया है।

हरिश्चन्द्र से प्रथम हिन्दी गद्य की शैली में बहुत कृत्रिमता थी। कविता कवित्त, घनाक्षरी और सवैयों में कैद थी। कभी कभी दोहे कुण्डलियां भी कही जाती थीं। पर आपने उन्हें विविध राग-रागिनियों में विभाजित कर दिया। कई पद उर्दू की बहरों में भी लिखे। उन्होंने अलंकारों के प्रदर्शन की कविता नहीं लिखी। व्यापक विषयों का उसमें प्रकटीकरण किया। फिर भी इनकी कविता अलंकारों से परिपूर्ण ही रही।

यद्यपि इनकी कविता की भाषा ब्रजभाषा थी परन्तु इन्होंने भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं का भी काफ़ी उपयोग किया। इनकी रचनायें बड़ी तेज़ी से पसंद की जाने लगीं और इनका प्रचार बढ़ गया। इन्होंने अप्रचलित शब्दों को कविता से निकाल दिया, और शब्दों को तोड़ना भी बंद कर दिया जैसा तत्कालीन कवि किया करते थे। इससे इनकी भाषा में नवीन ज्योति उत्पन्न हो गई।

हरिश्चन्द्र ने कविता को पुराने सभी बंधनों से मुक्त किया और नैसर्गिक प्रवाह में बहा दिया। नाटकों की तो उन्होंने हिन्दी में प्रथम बार ही रचना की। इस प्रकार यह महासंस्कृत आत्मा अल्प काल में ही हिन्दी का नवीन युग प्रवर्तन करके परलोकगत हुई।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र की हिन्दी को आगे बढ़ानेवालों में पं० बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, पं० केशवराम भट्ट पं० राधाचरण गोस्वामी पं० अम्बिकादत्त व्यास और पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या मुख्य थे। पं० केशवरामजी ने बिहार में हिन्दी को खूब प्रचलित किया। पं० राधाचरणजी ने समाज सुधार की भी चेष्टायें कीं। पं० अम्बिकादत्त व्यास संस्कृत के भारी पंडित थे। यह बड़े अच्छे वक्ता भी थे। इन्होंने बिहारी पर एक विस्तृत व्याख्या लिखी। कई नाटक भी लिखे। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या इतिहास के अच्छे जानकार थे। उन्होंने हिन्दी को खूब बढ़ाया।

पं० भीमसेन शर्मा स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिष्य थे। इन्होंने प्रांजल भाषा में अनेक पुस्तकें लिखीं इनकी हिन्दी साहित्य में अपना एक स्थान रखती थी। संस्कृत के आप असाधारण पंडित थे।

इस प्रकार हरिश्चन्द्र के युग में इस मंडली ने हिन्दी को सब भांति प्रौढ़ता देनी प्रारम्भ कर दी।

धीरे-धीरे अनेक लेखक उत्पन्न हुये, और पत्रों का जन्म हुआ। बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने कलकत्ते से 'हिन्दी-दीप्ति प्रकाश' नामक एक पत्र निकाला। इसके बाद पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, पं० छोटूलाल मिश्र, पं० सदानन्द मिश्र, बाबू जगन्नाथ खत्री ने 'भारतमित्र कमेटी' बनाई और भारतमित्र-पत्र प्रकाशित करना शुरू कर दिया। उसकी शीघ्र ही धूम मच गई। उन्हीं दिनों लाहौर में मित्रविलास पत्र निकला। कुछ और भी पत्र पत्रिकाएं निकलीं। अन्त में कालाकांकर नरेश राजा रामपालसिंह जी के उद्योग से हिन्दुस्तान नामक पत्र अंग्रेज़ी हिंदी में प्रकाशित हुआ जिस का सम्पादन पं० मदनमोहन-मालवीय पं० प्रतापनारायण मिश्र बाबू बालमुकुन्द गुप्त आदि से जन्म किया। इसी समय बाबू रामकृष्ण वर्मा ने काशी से भारत जीवन पत्र निकाला।

अब जो नवीन लेखक समुदाय उत्पन्न हो गया था उसने बंग भाषा से उपन्यासों की भरमार करनी शुरू कर दी। बाबू गदाधरसिंह पं० राधाचरण बाबू राधाकृष्णदास आदि ने अनेक उपन्यासों का अनुवाद किया। इन उपन्यासों में कुछ बंग-परिभाषाएं ज्यों की त्यों हिन्दी में आ गईं। पं० बालकृष्ण भट्ट ने दो मौलिक उपन्यास भी लिखे।

द्विवेदी युग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ जिस लेखक मण्डल का उदय हुआ उसने ग्रंथों के अलावा भिन्न भिन्न विषयों पर निबन्ध भी लिखे जिनमें पं० गोविन्दनारायण मिश्र तथा पं० माधवप्रसाद मिश्र प्रमुख रहे। इस प्रकार भारतेन्दु के बाद हिन्दी साहित्य का निर्माण-कार्य तो चल निकला, पर उस की प्रगति अभी धीमी थी। अदालतों की भाषा उर्दू थी। अंग्रेज़ी स्कूलों में अंग्रेज़ी व उर्दू की तालीम भी दी जाती थी। यद्यपि प्रतापनारायण मिश्र हिन्दी हिंदू हिन्दुस्तान की तान छेड़ते ही रहते थे। फिर भी हिन्दी पुस्तक प्रकाशन बढ़ता ही न था, पाठक थे ही नहीं। सरकारी दफ़्तरों में नागरी का प्रवेश नहीं था।

अन्त में बाबू श्यामसुन्दरदास पं० रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमारसिंह ने नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की। इनके सहायक हुए, रायबहादुर पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र एम० ए०, बा० रामदीनसिंह 'खड्गविलास प्रेस' के स्वामी बा० रामकृष्ण वर्मा बा० गदाधरसिंह और बा० कार्तिकप्रसाद खत्री आदि। इस सभा के दो उद्देश्य हुए—नागरी अक्षरों का प्रचार और हिन्दी साहित्य की समृद्धि। इस सभा ने नागरी के लिये बहुत उद्योग किया। कई बार डेपूटेशन वायसराय से मिला। अन्त में कचहरियों में हिंदी जारी हो गई। इस से इस सभा की बड़ी प्रतिष्ठा हुई। पीछे सभा ने अपनी पत्रिका भी निकाली और फिर बहुत से ग्रन्थ भी। यह सभा हिंदी को दूसरे युग में ले आई।

इस युग के अधिष्ठाता आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी हैं। इन्होंने दो महत्कार्य किए एक यह कि प्रतिष्ठित विद्वानों को हिन्दी सेवा में लगाया दूसरे हिन्दी की भाषा व्याकरण शब्द योजना को सुसंगठित किया। हिन्दी भाषा को यह महान् सम्पादक हिन्दी को संसार की जीवित भाषाओं की टक्कर के योग्य बना गये।

यह वह समय था जब बंगला-उपन्यासों में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों के प्रयोगों को जानकर लोग खिचड़ी कच्ची हिन्दी लिखने लगे थे। परन्तु केवल शब्दों ही से कोई भाषा नहीं बनती भाव से वाक्य-विन्यास की सफ़ाई मुहाविरे व्याकरण के नियमों की पाबन्दियां आदि सभी बातों की आवश्यकता है। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी व्याकरण को बहुत शुद्ध रूप दिया। उन्होंने पच्चीसों लेखकों को उनकी भाषा तथा व्याकरण-सम्बन्धी ग़लतियों को सुधार सुधार कर सावधान किया। कई लेखक द्विवेदी जी से चिढ़ गये पर द्विवेदी जी हटने वाले जीव न थे। देखते ही देखते सरस्वती की भाषा मानो स्नान करके निकलने लगी और उस की शुद्धता पर सब कोई मोहित हो गये।

यों ही व्याकरण की ओर द्विवेदी जी ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया त्यों ही सामयिक पत्रों में व्याकरण की चर्चा चल निकली। खूब खंडन मंडन का शोर मचा पं० गोविन्दनारायणजी ने विभक्ति विचार लिखा जिसमें उन्होंने हिंदी विभक्तियों को शुद्ध विभक्तियां बता कर लोगों को उन्हें मिला कर लिखने की सलाह दी।

शीघ्र ही भाषा की शैली के भी अनेक रूप हो गये। ऐसे लेखक उत्पन्न हो गये थे जिन की शैली अपनी रूप थे। वाक्य-विन्यास

और विराम घट गये थे। पाश्चात्य भाषाओं के पंडितों ने हिंदी में अभिव्यञ्जन प्रणाली का अच्छा प्रसार किया। साहित्य का अर्थ-गांभीर्य भी बढ़ता गया।

बंग भाषा के उपन्यासों के अनुवाद के बाद ही मौलिक उपन्यास लिखे गये। इसी समय एक अद्भुत प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा हुए। वह थे बा॰ देवकीनन्दनखत्री, जिनके तिलस्मी उपन्यास 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' की एक बार धूम मच गई। इन उपन्यासों ने लाखों हिंदी-भाषा-भाषी पैदा किये। इनके पढ़ने पर ऐसे ही उपन्यास पढ़ने की लोगों की प्रवृत्ति बनी रही, तब अन्य लेखकों ने भी वैसे ही उपन्यास लिखे। इसमें बा॰ हरिकृष्ण जी जौहर सर्व प्रमुख थे।

बा॰ देवकीनन्दन की भाषा साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं, परन्तु जिस पुस्तक ने हिंदी के लाखों पाठक पैदा किये, वह सच्ची भाषा की पुस्तक कहला सकता है।

उपन्यासों का ढेर लगाने वाले दूसरे व्यक्ति प॰ किशोरीलाल जी गोस्वामी थे। इन्होंने ६० के लगभग उपन्यास लिखे। इन के उपन्यासों को साहित्य की कोटि में लाया जा सकता है, परन्तु उन में समाज की वासनाओं का उत्कट रूप देख पड़ता है। यद्यपि इनका प्रभाव नवयुवकों पर अच्छा नहीं पड़ा, फिर भी इन्होंने भाषा के साथ मजाक किया। कुछ दिन इन्होंने उर्दू ढंग पर लिखने की चेष्टा की। उनके उपन्यास में वस्तु स्थिति बहुत कम थी, क्योंकि वे बहुधा काल्पनिक थे। बाबू गोपालराम गहमरी ने प्रथम बंगाली उपन्यासों का अनुवाद दिया, पीछे अपनी खास भाषा में मौलिक उपन्यास भी दिये। उनकी भाषा में मुहाविरे बहुत ही जानदार थे। पं॰ लज्जाराम मेहता और पं॰ अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी कुछ उपन्यास लिखे।

इस युग में निबन्ध खूब लिखे गये। इन निबंधों में पं॰ महावीरप्रसाद जी ने जान डाल दी। जब उन्होंने सरस्वती का सम्पादन-भार लिया, तो वह लिखने में जुट गये। उन्होंने सरस्वती-सम्पादन के अलावा छोटे-बड़े अनेक लेख और कवितायें भी लिखीं। द्विवेदी जी के लेखों में बात को बारम्बार समझाने की चेष्टा की गई है। एक एक बात हेर-फेर कर कई बार कही गयी है। द्विवेदी जी के दाहिने हाथ स्वरूप एक प्रतिभाशाली लेखक उत्पन्न हुए। वह पं॰ माधवप्रसाद मिश्र थे। बा॰ बालमुकुन्द गुप्त भी तेजवान कलम के धनी रहे। खेद है, वह बहुत ही कम आयु में स्वर्गवासी हो गये।! इन के बाद पं॰ जगन्नाथप्रसाद जी चतुर्वेदी भी हास्य-रस के अच्छे लेखक हुए। बा॰ गुलाबराय एम॰ए॰ भी उत्तम निबंध-लेखक रहे।

पं॰ महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने जो दूसरी नवीनता हिंदी-भाषा में पैदा की, वह समालोचना है। यह पहले गुण-दोष दर्शन के रूप में पैदा हुई। पुस्तकों की समालोचना सर्वप्रथम उपाध्याय पं॰ बदरीनारायण चौधरी ने अपनी 'आनन्दकादंबरी' में शुरु की। उन्होंने लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'संयोगिता-स्वयंबर' की खूब विस्तृत और कड़ी समालोचना की। परन्तु पं॰ महावीरप्रसाद जी ने सब से प्रथम कालिदास की आलोचना पर एक पुस्तक ही छाप डाली। इसमें कालिदास की रचनाओं के हिन्दी अनुवाद के दोष, जो लाला सीताराम-कृत थे, खूब स्पष्ट दिखलाये गये थे। इसके बाद उन्होंने संस्कृत काव्यों की खरी समालोचना की। जब उनकी 'कालिदास की निरंकुशता' छपी, तो खूब हलचल मची। हिन्दी की नवीन पुस्तकों की तो वह सदैव खरी समालोचना करते ही रहे। इन सब कारणों से हिंदी भाषा बहुत सुधरी। यदि द्विवेदीजी मुस्तैदी से काम न लेते, तो अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध, ऊट-पटांग भाषा में अनगिनत किताबों का ढेर लग जाता।

पं॰ पद्मसिंहजी शर्मा की बिहारी सतसई के प्रकाश में आने पर तुलनात्मक समालोचना के पीछे लोग बेतरह पड़ गये।

कविता के क्षेत्र में भी द्विवेदीजी ने एक प्रणाली को जन्म दिया। गद्य पर उन्होंने जिस भांति अपना सिक्का जमाया, उसी भांति पद्य पर भी। भाषा में सफाई तो वह प्रथम ही ला चुके थे। उन्होंने प्रेरणा करके बहुतों को नवीन कवि बनाकर उनसे खड़ी बोली की कविता कराई। उन कविताओं का वह बड़े प्रयत्न से संशोधन कर दिया करते थे। धीरे २ सरस्वती की कविताओं में एक नूतन जीवन दिखाई देने लगा। सिर्फ यही नहीं कि उन्होंने केवल भाषा का ही परिष्कार किया, बल्कि मराठी और संस्कृत-पद्यों के ढंग पर कविता भी की और कराई। उन पर इंगलैंड के प्रसिद्ध कवि वर्डसवर्थ का भी काफी प्रभाव पड़ा। और, उन्होंने गद्य की भांति ही पद्य का भी पद-विन्यास कर दिया। अब बोलचाल की भाषा हिंदी में कविता का प्रवाह बह चला। द्विवेदीजी के स्कूल के तीन शिष्य बहुत भारी कवि निकले—बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं॰ रामचरित उपाध्याय और पं॰ लोचन प्रसाद पांडे। बाबू मैथिलीशरण गुप्त इस शैली में खूब उन्नत हुए। पं॰ रामचरित उपाध्याय संस्कृत के अच्छे पण्डित हैं। इनकी भाषा में सफाई तो है ही, पाण्डित्य भी है। इनके सिवा बहुत कवि उत्पन्न हुए। उनमें कुछ ऐसे भी हैं, जो द्विवेदीजी के प्रभाव से उन्मुक्त हैं। स्वर्गीय प॰ नाथूराम जी 'शंकर' शर्मा, पं॰ अयोध्यासिंह उपाध्याय, राय देवीप्रसाद जी 'पूर्ण', पं॰ गयाप्रसाद जी शुक्ल 'सनेही', पं॰ सत्यनारायण जी कविरत्न, लाला भगवानदीन जी, पं॰ रामनरेश त्रिपाठी और वियोगी हरिजी मुख्य हैं।

द्विवेदीजी ने २०-२५ वर्ष घोर परिश्रम किया, और हिंदी-गद्य-पद्य को पूर्ण रूप से संगठित किया। परन्तु साहित्य और कला की प्रदर्शिनी में उनकी कौनसी कृति रक्खी जा सकती है, यह प्रश्न अक्सर किया जाता है। हमारा उत्तर है, उनकी कृति तो उनका भाषा संस्कार ही है। आधुनिक गद्य-पद्य यद्यपि और भी ऊंचा उठ रहा है, फिर भी उसे द्विवेदीजी के प्रशस्त मार्ग ने बहुत आगे बढ़ाया था।

इसमें तत्कालीन नवयुवक यद्यपि विद्वान् नहीं, तो बहुदर्शी तथा विज्ञ अवश्य होगए थे। कालेज की सहायता से उनके विचारों में प्रौढ़ता आ गई थी, और ज्यों ही उनकी रचनाओं को द्विवेदीजी की भाषा का संस्कार प्राप्त हुआ, वे प्रफुल्लित हो उठीं।

सरस्वती विविध विषयक पत्रिका थी। उसमें सिर्फ द्विवेदीजी की परिष्कृत भाषा ही न थी, उनका झुकाव भी था। वह स्पष्ट, स्वच्छ भाषा में लोक-रुचि की वस्तुएं देने लगी। उसमें द्विवेदीजी का प्रबल सिद्धांतवाद तो था ही, उन्होंने अपने लेख छांट लिये थे। संस्कृत-साहित्य का परिचय, प्राचीन अनुसंधान, इतिहास, जीवन-चरित्र, यात्रा-विवरण, नवीन अभ्युत्थान का परिचय और हिंदी-प्रचार, यह सब सरस्वती का ध्येय था। इसके सिवा प्रचलित साहित्य और सामयिक पुस्तकों पर सरस्वती में टिप्पणियां रहती थीं। इन सब चीजों से सरस्वती प्रत्येक मास ओत-प्रोत होकर निकलती थी, और उसे पढ़ कर पाठकों को एक नवीन ज्ञान और विविध वस्तुओं का परिचय मिलता था। उसके द्वारा दूसरी भाषा न जानने वाले भी बहुदर्शी बनते जा रहे थे। इस प्रकार सरस्वती हिंदी पाठकों के लिए बुद्धि-विवेचना और विस्तृत ज्ञान को बढ़ाने वाली चीज थी। और, इसके लिये द्विवेदीजी को विविध भाषाओं का मंथन करके उनका निष्कर्ष लेकर और भगीरथ प्रयत्न करना पड़ता था।

इसमें संदेह नहीं कि सरस्वती विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका थी, पर यथासंभव द्विवेदीजी ने उसे अपने व्यक्तिगत विचार की पत्रिका कभी नहीं बनाया। इसके द्वारा प्रोपेगैंडा कभी नहीं किया, यद्यपि एक परिधि बना ली थी, जहां प्रतिद्वन्दी लेखकों का प्रवेश न था।

दुलारे-युग

द्विवेदी-युग में जो प्रौढ़ कलाकार हिंदी में उत्पन्न हुए, उनका स्थान साधारण नहीं। निबंध और विवेचनात्मक प्रौढ़ विषयों का प्रदर्शन करने में मिश्रबन्धु, पुरातत्व में पं॰ गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा, काव्य-कला में शंकर जी, हरिऔध जी, रत्नाकर जी, लाला भगवानदीन जी आदि समालोचकों में पं॰ पद्मसिंह जी शर्मा तथा प्रबन्ध-विचार में बाबू श्यामसुंदरदास, पं॰ रामचन्द्र शुक्ल आदि हैं। इन्होंने अपना पृथक स्थान निर्माण किया है। इन महानुभावों की हिंदी-सेवा असाधारण तथा अप्रतिम है। द्विवेदी-युग की छाप तो उन पर है, परन्तु उनकी रचनाएं द्विवेदीजी के प्रभाव से मुक्त स्वतंत्र एक अपना व्यक्तित्व लिये हैं।

द्विवेदी-युग अब समाप्त हो गया है। इस युग के जो उत्तराधिकारी पैदा हुए हैं, उनकी विचार-धारा आगे बढ़ गई है। हिंदी में एक नवीन लहर उत्पन्न हुई है। द्विवेदीजी ने उन लोगों के ज्ञान की वृद्धि के लिये, जो हिन्दी के सिवा अन्य भाषायें नहीं जानते थे, हिन्दी में उन्हें अन्य भाषाओं के उपयोगी तथा प्रौढ़ विषय पढ़ने को दिये थे। एक प्रकार से द्विवेदी युग को अनुवाद का युग भी कह सकते हैं। यदि द्विवेदी-युग के साहित्य को ध्यान से देखा जाय, तो वह विविध-व्यापक विषयों के अनुवादों ही का युग है। द्विवेदीजी की सरस्वती को सम्पादकीय टिप्पणियों तक में अन्य भाषाओं के अनुवाद की छाप है। परन्तु अब जो मौलिकता की लहर उठी है, उसने हिन्दी-संसार को क्षुब्ध कर दिया है। इस समय हिन्दी का प्रवाह मुक्त धाराओं में बह निकला है। उसके अनेक मुख हो गये हैं। उसमें वेग है, स्पर्धा है और उत्क्रान्ति है। इस युग में उपन्यास-क्षेत्र में अनेक श्रेष्ठ औपन्यासिक उत्पन्न हुए हैं। सरस, सुसंस्कृत और ओज-पूर्ण

(शेष पृष्ठ २७ पर)

कत्तिनों की मजदूरी का प्रश्न

(ले०—श्री राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद)

महात्मा गांधी जी ने खादी सम्बन्धी काम करनेवालों के बीच खलबली पैदा कर दी है। उनका कहना है कि हम जो खादी खरीदते हैं, वह इतने कम दाम पर लेते हैं कि सूत कातनेवाली कत्तिन को बहुत कम मजदूरी मिलती है। हिसाब लगाकर देखा गया है कि जो कत्तिन सात आठ घन्टे प्रति दिन सूत कातती होगी, उसको भी चार पांच पैसे से अधिक नहीं मिलते होंगे—जो बहुत मोटा सूत कातती होगी, उसको इससे भी कम ही मिलता होगा। दूसरी ओर खादी खरीदनेवाले यह कहते हैं कि इस पर भी खादी देशी अथवा विदेशी मिल के बने कपड़े से महगी पड़ती है। चर्खासंघ का प्रयत्न यह रहा है कि जहां तक हो सके खादी को सस्ती बना कर मिल के कपड़े से उसका मुकाबला कराया जाय और पिछले बारह-तेरह वर्षों के अनवरत परिश्रम और उद्योग का यह फल हुआ है कि खादी बहुत सुन्दर टिकाऊ और कुछ सस्ती भी हो गयी है। आशा की जाती थी कि इस प्रकार से कुछ दिनों बाद हम और भी सस्ते दाम पर बेचना सम्भव हो सकेगा। पर महात्मा जी की घोषणा के कारण सारे खादी-समाज में वाद विवाद उठ खड़ा हो गया है।

खादी प्रचार का उद्देश्य है देश को कपड़े के मामले में स्वावलम्बी बनाना। यह उद्देश्य दो प्रकार से प्रसिद्ध हो सकता है भारत निवासी प्रत्येक मनुष्य अपने लिये जरूरी कपड़ों के लिये सूत स्वयं अपने हाथों कात ले और वह यदि स्वयं न बुन सके तो गांव के जुलाहे या तांती उसे बुन दें। हम बहुत अनुद्यमी और आलसी हो गये हैं, नहीं तो यह काम कुछ असम्भव नहीं है। एक घन्टे में चार सौ गज सूत कात लेना आसान है। यदि हम प्रतिदिन एक घन्टा समय इस काम में नियमित रूप से लगा दें, तो वर्ष में ४० गज कपड़े के लिये सूत बन जाय। भारत वर्ष में आज प्रति मनुष्य १४ गज के लगभग कपड़ा वर्ष भर में खर्च होता है, जिस में बड़ों के तोशेखानों के बक्स के बक्स भरे वस्त्र और गरीबों की लंगोटियां, बड़ों की २० २० गज की पगड़ियां और बच्चों को लपेटने के लिये कपड़ों के टुकड़े, सभी का हिसाब जोड़ कर औसत निकाला गया है। विचार से तो काम सीधा और आसान जान पड़ता है, क्यों कि एक घन्टा समय प्रतिदिन सभी लोग खुशी से निकाल सकते हैं। पर यदि आज की अवस्था पर विचार किया जाय तो इने-गिने ऐसे लोग मिलेंगे जिन्होंने इस नियम का पालन किया हो और वस्त्र के बारे जो अपने को स्वावलम्बी बना चुके हों। इसलिये यदि कहा जाय कि यह काम सहज होने पर भी बहुत कठिन है तो इस में कोई अयुक्ति नहीं होगी। चर्खा संघ ने कई स्थानों पर इस का प्रयत्न किया है कि स्थान विशेष की सारी जनता इस प्रकार वस्त्र स्वावलम्बी हो जाय और इस में उसे सफलता भी मिली है यद्यपि यह सफलता बहुत परिश्रम और समय के बाद मिली है और स्थायित्व अभी निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। इसी सफलता के आधार पर चर्खा संघ कुछ दिनों से इस विषय पर अधिक जोर देने लगा है और महात्मा जी ने भी इस प्रयत्न को और विस्तृत करने का परामर्श दिया है। हम खादी के सम्बन्ध में इसकी चर्चा अब अधिकाधिक सुनते जायगे। कार्यकर्ताओं ने भी समझ लिया है कि इन प्रयत्नों में पूरी सफलता न मिलने का बहुत बड़ा कारण उनकी न्यूनता है और अब इस बात की कोशिश है कि प्रत्येक खादी कार्यकर्ता चर्खा बनाने से लेकर महीन से महीन सूत कातने तक के सभी मर्म केवल सिद्धांत रूप से ही नहीं अपने हाथों से काम करके समझ ले और जनता को इस शास्त्र का ज्ञान देने में पूरी योग्यता प्राप्त कर ले। जिस हद तक हम इस ज्ञान को पर्याप्त बना सकेंगे, उसी हद तक हमारी सफलता होगी और जहां जहां इस ज्ञान के साथ काम किया गया है सफलता मिली भी है। यह हुआ खादी-प्रचार का पहला और सर्वोत्तम प्रकार।

दूसरा प्रकार वह है जिसके द्वारा जो स्वयं खादी नहीं बना सकते उनके लिये खादी तैयार करा कर बाजार में मुहैया करना और उसे सस्ते से सस्ते दामों में खरीदारों तक पहुचाना, जिसमें वे उसे ले सकें। चर्खासंघ आजतक मुख्यतः इसी पर जोर देता आया है। यह आवश्यक भी था, क्योंकि यदि इतना प्रयत्न नहीं किया जाता और इतने दिनों में अनुभव प्राप्त नहीं किया जाता, तो न तो जनता में खादी के लिये वह भावना ही पैदा होती जो आज वर्तमान है और न सूत चर्खे का वह ज्ञान ही प्राप्त होता जिसके बल पर स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाने की हमें आकांक्षा होती है। सस्ती खादी बनाने में हम इस हेतु प्रयत्नशील थे कि जो मिल के कपड़े से मुकाबिला कर उनपर भी हम कुछ कह सकें और खादी को बाजार में बिकने योग्य वस्तु बना सकें। अभी तक हम इस प्रयत्न में पूरी तौर से सफल नहीं हुये हैं। पर इस ओर प्रगति बहुत हुई है और इतना तो अवश्य हम बता सके हैं कि चर्खे द्वारा सुन्दर से सुन्दर, महीन से महीन कपड़े हम बना सकते हैं। लोगों ने यह भी मान लिया है कि चर्खा के बन्द हो जाने से करोड़ों गरीबों की जीविका हाथ से निकल गयी है और इसे पुनर्जीवित करके हमने बहुतों को अधिक नहीं तो एक टुकड़ा, रोटी पहुचाने में सफलता पायी है। महात्माजी कहते हैं—एक टुकड़ा रोटी काफी नहीं है। जिस तरह दूसरा काम करके लोग पेट भर खाना कमा सकने की आशा करते हैं उसी प्रकार चर्खा चलाने वाली स्त्री को भरपेट भोजन तो अवश्य मिल जाना चाहिये। और वे तो यह चाहते हैं कि जो मजदूरी दूसरे लोगों को मिलती है उतनी इसमें भी मिलनी चाहिये। भारत वर्ष इतना बड़ा देश है कि इसमें मजदूरी भी सभी जगहों में एक सी नहीं मिलती और न हम यहां कह सकते हैं कि दूसरे सभी रोजगारों में भरपेट खाने को मिल जाता है। काश्तकारी में जो मजदूर काम करते हैं उनकी मजदूरी इतनी कम है कि शायद एक आदमी अपना पेट दोनों शाम किसी प्रकार भर लेता हो और साथ ही वह काम भी ऐसा नहीं जो जो वर्ष के प्रतिदिन उन मजदूरों को मिलता हो। इतने पर भी काश्तकारी कुछ बहुत मुनाफे का काम नहीं है। यह तो भारतवर्ष की आज की परिस्थिति का एक फल है कि करोड़ों काम करने-वालों को पेटभर खाना दोनों शाम नहीं मिल सकता। सूत कातने वाली स्त्रियां अधिकांश ऐसी हैं जो वैसे तो दूसरा काम करती हैं पर बचे हुये समय में सूत कातकर कुछ और पैदा कर लेती हैं पर चर्खे पर गुजारा करने वाली स्त्रियों की संख्या अनुमानतः कम ही होगी। ऐसी अवस्था में अन्य प्रकार की मजदूरी से चर्खे का मुकाबला हो सकता। हम यह भी नहीं कह सकते कि यदि इस खादी [illegible] तो खरीदने वालों का [illegible] और उत्साह [illegible] एक हद जब हम उसका दाम बहुत [illegible] तब वे खादी खरीदना बन्द कर और जब [illegible] जो भी चर्खा चलते हैं वे [illegible] जायगे और जो कुछ [illegible] आज कत्तिनों को मिल रहा है [illegible] भी मिलना रुक जायगा। इस [illegible] यद्यपि हमारी कोशिश यह अवश्य होनी चाहिये कि कत्तिनों की मजदूरी जहां तक अधिक हो सके मिले पर हम को यह मानना ही पड़ेगा कि उस की वृद्धि की सीमा है और जो उस सीमा को हम पार जायगे तो कत्तिनों का रोजगार फिर एक बार बन्द हो जायगा। चर्खासंघ के सामने आज यह जटिल प्रश्न महात्मा गांधी जी ने उपस्थित कर दिया है और उसके सभी कार्यकर्त्ता इस के हल करने में अपनी सारी बुद्धि और शक्ति लगा रहे हैं। मैं बिहार के अपने कुछ पुराने अनुभव से कह सकता हूं कि चर्खा संघ के दफ्तर खर्च में, जिस में उन सभी कार्यकर्ताओं को वेतन भी शामिल है जो सूत खरीदने से लेकर कपड़ा बेचने तक, और हिसाब किताब रखने में लगे हैं, कमी की गुंजायश कम है। इस समय जितने आदमी बिहार शाखा में काम करते हैं उन में ८६ प्रतिशत २० या इस से कम मासिक पर काम करते हैं और प्रायः २५ प्रतिशत १०) या इस से कम पाते हैं। [illegible] नयी योजना में हम को अधिक कार्यकर्त्ता लगाने पड़ेंगे, क्योंकि उसका मुख्य अंग यह होगा सभी कत्तिनों के चर्खों को देखना चाहिये और उनको व्यक्तिगत देख रेख कर प्रगति बढ़ानी चाहिये जिन से घन्टे में कम से कम ८०० तार अवश्य वे सूत कात सकें। प्रगति के लिये पूनी अच्छी बननी चाहिये और इसके लिये धुनाई के औजार भी अच्छे और धुनाई विद्या भी अच्छी होनी चाहिये। चर्खा हमेशा ठीक रहना चाहिये और उसकी देखभाल बहुत रहनी चाहिये। जब कत्तिन इन चीजों को अच्छी तरह सीख जायेंगी तब इतनी निगरानी नहीं रखनी पड़ेगी पर आरम्भ में तो बहुत काम बढ़ जायगा इसलिये खर्च कम होना असम्भव है—हां सकता है कि बढ़ जाय।

इन सब विचारों से स्पष्ट है कि कत्तिनों की मजदूरी बढ़ाने

आंखों की प्राकृतिक चिकित्सा

चश्मे की निरुपयोगिता

(ले०—श्री डा० रघुवीरशरण अग्रवाल)

(२)

सूर्य प्रकाश से लाभ

सूर्य का प्रकाश आज जब साधारण की दृष्टि में उनकी आंखों को विकारी बना देन वाला माना जान लगा है लोग अन्धेरे कमरे में रहते हैं। हाथो से आंखो को ढक सकते हैं। छाता तो लगाते ही हैं जरा आंख में कष्ट हुआ कि डाक्टर के पास पहुंचते हैं। डाक्टर साहब फौरन चश्मा तजवीज कर देते हैं और उनका दर्द बढ़ता जाता है। वे ज्यों-ज्यों सूर्य के प्रकाश से भागते हैं, त्यों त्यों उनकी आंखें रोगी होती जाती हैं। भारतवर्ष सुनहले प्रकाश का देश है। इस पर भगवान भुवन भास्कर की जीवनप्रद रश्मियां प्रति दिन बिखरी रहती हैं। वे इस देश के निवासियों को बलवान हृष्ट पुष्ट और शक्तिशाली नेत्रों वाला बनाना चाहती हैं। अतः भाइयो! आप अमूल्य वरदान से क्यों वंचित रहते हो। लक्ष्मी के दरिद्री मत बनो। प्रकृति ने मानुषी आंखों को सूर्य के प्रकाश को सहन करने के योग्य बनाया है। ऐनक आदि का व्यवहार अप्राकृतिक है। प्रकृति के विरुद्ध कदम उठाना विनाश की ओर जाना है और आज उसी ओर अंधे के समान जनता दौड़ी हुई जा रही है।

सूर्य किरण शक्ति

सूर्य की किरणों में वह शक्ति है जो तुम्हें नवीन बल सम्पन्न आंखें देगी तुम्हारे प्रत्येक नेत्र विकार का समूल नाश करेगी और सर्वदा के लिये चश्मे की दासता से तुम्हें मुक्ति प्रदान करेगी।

सावधान हो जाओ! आज तुम्हारे जीवन का स्वर्ण प्रभात है।

डा० बेटस

नवीन चक्षु-चिकित्सा के आविष्कार

यह प्रयोग १० मिनिट से ३० मिनिट तक करते रहो फिर पीठ सूर्य की ओर करके या छांह में आकर दोनों हथेलियों से नेत्रों को ढक लो तनिक भी प्रकाश अन्दर न आने दो। नेत्रों को बन्द करके किसी प्रिय वस्तु का ध्यान करो। हथेली हलके से रखो। आंखों पर कोई दबाव न पड़े। पांच या सात मिनट के बाद हाथ हटाओ।

सूर्य चिकित्सा

चिकित्सा विधि

अपनी दृष्टि को पहिले दृष्टि पत्र पर जांच लो। प्रातःकाल का समय सर्वोत्तम है। अब सूर्य की ओर मुख करके बैठ जाओ नेत्र बन्द कर लो। अपनी गर्दन मस्तक और मूंदे हुए नेत्रों को बारी बारी दाहिनी ओर से बायीं ओर और बायीं ओर से घुमाओ इस प्रकार कि सांप अपने फन को तुम्बी की आवाज पर हिलाता है। नेत्र सिर के साथ घूमता रहे और नेत्र या दृष्टि न घूमे और यदि घूमे तो दूसरी तरफ।

लाभ

आंखें खोलकर फिर अपनी दृष्टि काम में लाओ। अब यह बढ़ी हुई मालूम होगी और नेत्रों में अपूर्व शीतलता प्रतीत होगी। इस अभ्यास को प्रतिदिन दोबार करना लाभदायक है। इससे नेत्र पीड़ा दूर होगी। दृष्टि तीव्र होगी। चकाचौंध वाला प्रकाश को देखने पर आंखों में दर्द होना दूर होगा और नेत्र निर्मल होंगे।

निवार्य फल खादी के दाम में बढ़ता। इस के लिये हम को तैयार रहना चाहिये क्योंकि यद्यपि यह तर्क ठीक है कि चर्खा उस समय में ही चलाया जाता है जो बर्बाद होना था तथापि उस समय में जो श्रम उठाया जाता है उसके लिये कुछ थोड़ी रकम तो अवश्य मिलना चाहिये जिससे कत्तिनों को मालूम न पड़े कि वे ठगे जा रहे हैं। कत्तिन का काम सम्माननीय समझा जाना चाहिये और उन्हें जो पैसे मिलते हैं उन को खैरात या भीख न मान कर काम का मेहनताना के रूप में समझना चाहिये। खादी पहनने वालों को यह मान लेना होगा कि यदि खादी पहनना है तो वह मुफ्त में नहीं मिल सकती और उसके लिये भी कुछ त्याग आवश्यक है। खादी कार्यकर्ताओं के अनुभव, उद्यम उत्साह और बुद्धिमानी पर यह निर्भर है कि वे कहां तक कत्तिन और पहनने वाले दोनों को खुश रख सकेंगे।

सूर्य-किरणों से कब लाभ उठाओ

जब सूर्य की ओर मुख किये बैठे होओ, तो सूर्य की ओर देखने की चेष्टा मत करो। जब कड़ी गर्मी हो या तेज धूप हो तब मत बैठो। प्रातःकाल की किरणें अच्छी होती हैं उन से रंग काला नहीं पड़ता। इस समय की किरणें चमड़े में खूबसूरती ला देती हैं और त्वचा निर्विकार हो जाती है।

सूर्य की ओर देखने से नीला, पीला, लाल आदि अनेक रंग दिखाई देता है वह शिथलीकरण प्रयोग से दूर किया जा सकता है। इन प्रयोगों की विस्तृत व्याख्या (Dr bates Perınciple of perfe t sight Witho ıt G asses) नाम की अंग्रेजी पुस्तक में की गयी है।

सूर्य चिकित्सा के बाद ५ से १५ मिनट तक पामिंग करना चाहिये। (देखो दृष्टि पामिंग पृष्ठ) रंगों का दिखना इससे दूर होगा।

चकाचौंध दूर करने का उपाय

जिन्हें धूप में चलने पर चकाचौंध आती है वे बहुधा आंख ऊपर करके चलते हैं और पलक नहीं मारते। चलते समय उन्हें चाहिये कि नीचे देखकर चलें पलक मारते रहें और यह ध्यान करें कि चलने की सड़क पीछे की ओर चलती है और वे आगे आ रहे हैं।

लाभ

सूर्य चिकित्सा से नेत्रों के अनेक रोग शान्त हो जाते हैं यथा पीला मोतिया मोती बिन्द आंख का दुखना आंख जख्म फूली इत्यादि।

आंखों की ज्योति बढ़ाने के लिये पामिंग की उपयोगिता पर मैंने पिछले लेख में कुछ पंक्तियां लिखी थीं। पामिंग का अभ्यास निम्न लिखित विधि से किया जा सकता है।

दृष्टि-पत्र को दीवार में अच्छे प्रकाश में लगाओ। इस से दस फुट की दूरी पर एक कुर्सी पर बैठ जाओ। दृष्टिपत्र की ऊंचाई उतनी होनी चाहिये जितनी कि तुम्हारी आंखें। अब अपने हाथ और उंगलियों को गाय के कान की आकृति का बनाओ और दायें हाथ को दाहिनी आंख पर इस प्रकार हलके से रखो कि हथेली का खड्डा आंख के ऊपर रहे और उंगलियां कुछ तिरछी होकर बायीं भौंह के ऊपर होकर बायें कपाल को ढक लें। दूसरे हाथ को भी ऐसा ही बनाकर बायीं आंख के ऊपर रखो और बायीं उंगलियों को दायें हाथ की उंगलियों के ऊपर कुछ बायीं ओर झुका हुआ रखो। इसी अवस्था में अन्दर आंख खोल कर

देखो कि अंगुलियों आदि के छिद्रों में से किसी में प्रकाश तो नहीं आता। यदि आता हो, तो उसे बन्द करो, और आँखें मूंद लो। अब ध्यान करो, जैसा कि ऊपर कह आये हैं। चलती फिरती और स्थिर वस्तुओं की मानसिक प्रतिमा देखो। यह प्रतिमाएं कांपती हुई दिखाई देंगी। जो वस्तु हम रात दिन देखते हैं और जो हमारे मनको प्यारी लगती है, उस का ध्यान अच्छा होता है। हर एक का ध्यान अपना अपना अलग होता है। केवल बात इतनी ही है कि घूमती चीजें, जैसे झूला, चकई, लट्टू का घूमना, वृक्षों का हिलना आदि देखना चाहिये। ५ से १५ मिनिट तक इस प्रकार ध्यान करने पर अपनी एक हथेली हटाओ। आहिस्ते से आंख खोलो और पलक मार-मार कर दृष्टि पत्र के अक्षर पढ़ो। पहले तो अक्षर बड़े साफ और घने काले दीखेंगे। पर कुछ देर बाद फिर धुंधले पढ़ने मालूम होंगे। ज्यों ही धुंधले अक्षर दीखने लगें, आंख को बन्द कर हथेली से ढककर दूसरी आंख खोलो और उस से पलक मार-मार कर पढ़ना आरम्भ करो, फिर पामिङ्ग करना शुरू करदो और १०-१५ मिनिट बाद पुनः उसी भांति अक्षरों को पढ़ो। पामिङ्ग करते समय यदि दोनों हाथ थक जावें, तो उन को मेज़पर टेक लो या कोहनी के नीचे तकिया लगा लो। खड़े खड़े पामिङ्ग नहीं करना चाहिये। लेटे हुए पामिङ्ग करना अच्छा है। खराब दृष्टि वाले को दिन में कम से-कम चार या पाँच बार पामिंग करना ही चाहिये। उन्हें चाहिये कि वह पामिंग करते-करते सो जाय और प्रातः उठते ही पामिंग करें। यदि दोनों नेत्र एक समान कमज़ोर हों, तो दोनों आँखें खोल कर अक्षर पढ़ने का अभ्यास करो। बच्चों से पामिंग के समय कोई मनोरञ्जक कहानी सुनाओ।

लाभ

सिर दर्द, कमजोर दृष्टि जल्दी अच्छे हो जाते हैं। कई मरीज़ जो जन्म से अन्धे थे, अच्छे हो गये। एक बालक १२ वर्ष का, जो दो घंटे में अच्छा हो गया।

दृष्टि पट

दृष्टि पट का लेख में उल्लेख किया जा चुका है। उस के देखने की विधि निम्न लिखित है:—

दृष्टि-पट से १० फीट दूर खड़े हो जाओ। अपने एक हाथ को गाय के कान जैसा बनाओ, तब इस हाथ से एक आंख को हलके से ढको। आंख पर किसी प्रकार का भी दबाव न हो। अब दूसरी आंख, जो खुली है, उससे पलक मार-मार कर सब लकीरों के अक्षर पढ़ जाओ। जिनके नेत्र कमज़ोर होंगे वे भी यदि नित्य नियमानुसार यह दृष्टि-पट पढ़ लिया करेंगे तो कुछ समय बाद उनकी दृष्टि तीव्र हो जायगी। बच्चों की दृष्टि अच्छी रखने और स्वस्थ रखने का यह उत्तम साधन है। इस प्रयोग को पाठशालाओं में प्रचलित करके परीक्षा ली गई है। इसका लाभ शत प्रतिशत होता पाया गया है। प्रत्येक पाठशाला के अध्यापकों को इस सरल प्रयोग द्वारा बच्चों की आंखें स्वस्थ रखनी चाहिये।

C

R B

T F P

5 C G O

4 K B E R

3 V Y F P T

2 O C O C D B C

R Z 3 B 8 S H K F O

F T Y V P E C D O B R K 5 6

धारावाही उपन्यास

अपराधी कौन ?

(ले०—श्री देव)

मिल की एक मजदूर युवती की गुण्डों के आक्रमण से उम्मेद ने रक्षा की। मिल का खजांची उसे बुरी दृष्टि से देखता था और इस मौके पर मिल की सहायता के नाम पर उसे १०) दे गया। उम्मेद यह सुन कर बहुत क्रुद्ध हुआ।

उम्मेद का अतीत जीवन बहुत बड़ा नहीं है। उसकी वृद्ध माता ने ही उसे पाला था। वह कुछ शरारती लड़कों की संगति के कारण नारंगियाँ चुराने के नाममात्र अपराध पर तीन मास की जेल भी भुगत आया था। उसकी माँ मर चुकी है और अब वह ५ साल से मिल में काम कर रहा है। आज कल वह जाबर है।

———

(अंक ३७ से आगे)

हम बता आये हैं कि भरूवा कारखाने में अपने चरित्र के लिये बहुत बदनाम आदमी था। वह इस घर में घुसा है, यह सुन कर उम्मेद पर मानो वज्र गिरा एक ही दिन में यह घर उसे अपना सा लगने लगा था। मानो उसको खोई हुई कोई चीज़ पा गई हो। उस घर में भरूवा का घुसना ऐसा प्रतीत हुआ जैसे सेंध लगा कर कोई चोर घुस आया हो।

श्यामा अपनी धोती के लड़ में बंधे हुये नोट को खोल कर ले आई, और देखने के लिये उम्मेद के हाथ में दे दिया। नोट में कोई विशेषता नहीं थी, वैसा ही था, जैसा बाजारों में चलता है, पर उम्मेद को वह कांटेदार सा प्रतीत हुआ। उसे हाथ से छोड़ते हुए उम्मेद ने कहा—

"भरूवा बहुत बुरा आदमी है। वह शराब पीता है, और बदचलन भी है। उसके हाथ से तो एक पैसा लेना भी हराम है। उसकी आंख बहुत बद है। तुमने उससे यह नोट क्यों ले लिया और तुमने (श्यामा की ओर देख कर) माँ को यह नोट लेने से क्यों न रोका?'

सुखदेवी ने घबरा कर कहा 'तो बेटा, वह तो कहने लगा कि यह रुपया मील वालों ने भेजा है, मैंने उसकी बात सच्ची समझ कर ले लिया। तो क्या उसने झूठ ही कहा था।'

"हाँ उसने बिलकुल झूठ कहा था। कारखाने वाले ऐसे झगड़ों में किसी की मदद नहीं करते। वह बड़े मतलबी हैं। उनका काम होना चाहिये फिर कोई मर या जिये। यह नोट तो भरूवा ने अपने ही पास से दिया है। इसे तुम न लेतीं तो अच्छा था।'

"तो अब भी कुछ नहीं बिगड़ा बेटा, वह आज सांझ को आने की बात कह गया है। मैं उसे नोट वापिस कर दूंगी।

सांझ की बात सुन कर उम्मेद के तन में आग सी लग गई। एक बार उसने श्यामा की ओर देखा और दूसरी बार सुखदेई की ओर कुछ सोच कर मुसकरा दिया गया वह बोला नहीं।

उसे चुप देख कर श्यामा घबरा गई। वह बातचीत में कोई हिस्सा न लेकर के बात सुन रही थी परन्तु यह सुनना बोलने से भी अधिक महत्वपूर्ण था। वह बातें सुन रही थी, और उम्मेद की ओर देखती जाती थी। भरूवा क्यों आया? और उसका आना उम्मेद को क्यों बुरा लगा, इन सब बातों का रहस्य वह समझना चाहती थी, पर समझ न सकी तो भी उसके दिल में यह बात बैठ गई कि भरूवा बुरा आदमी है और उम्मेद अच्छा।

उम्मेद का जी बुरा सा हो गया। वह थोड़ी देर तक चुपचाप बैठा रहा सुखदेई उसके मुंह की ओर देख रही थी, श्यामा पास ही नीचे को मुंह किये खड़ी थी भरूवा का दिया हुआ नोट उम्मेद के पांव के पास पड़ा था और उम्मेद अन्यमनस्क सा होकर दरवाजे की ओर देख रहा था।

(६)

आज रात कल के ही समय फिर द्वार खुला, और माँ बेटी ने घबराई हुई आंखों से भरूवा को अन्दर आते देखा। भरूवा की आंखों में और चेहरे पर कल की अपेक्षा लाली अधिक थी, और उसके पांव लड़खड़ा रहे थे। उसे अन्दर आता देख कर सुखदेई चारपाई पर से उठ कर बैठ गई और श्यामा अपने कपड़ों में और अधिक सिमट कर बन गई। भरूवा ने सुखदेई के पास आकर पूछा—

'बुढ़िया तुम्हारा क्या हाल है? अब चल फिर सकती हो?

'अब तो अच्छी हूं, बाबूजी, तुम्हारी दया से चल फिर सकती हूं पर कमजोरी बहुत है।

"तो चलो। तुम अपनी बेटी को लेकर यहां से चलो। मैंने तुम लोगों के लिये एक दूसरा मकान किराये पर ले लिया है"। इस गन्दे मकान में तुम्हारी कमजोरी दूर नहीं हो सकेगी।'

इस नए प्रस्ताव को सुनकर सुखदेवी कुछ आश्चर्य में पड़ गई। उसे याद आया कि वह तो १०) का नोट वापिस देने का वायदा कर चुकी थी और यहां मकान किराये पर ले लिया। बोली—

'बाबू जी, हम गरीबों पर आप इतनी दया क्यों कर रहे हैं? हम तो इसी छोटे से घर में खुश हैं। आप की क्या इतनी दया कम है कि आप हाल-चाल पूछ लेते हैं। नये मकान में हम नहीं जाना चाहतीं। हाँ—और आप कल जो १०) का नोट दे गये थे वह ले लीजिये, हमें उस की दरकार नहीं।'

भरूवा कुछ चकरा गया। कल तो बुढ़िया आसानी से हाथ में आ गई थी और आज उलटी बात करती है, बात क्या है? इसे किसी ने ज़रूर बहकाया है? भरूवा को क्रोध आने लगा, परन्तु उसे दबा कर वह सुखदेई की खाट के पायते बैठ गया और चिकनी-चुपड़ी बातें करके उसे फुसलाने लगा। बातें सुखदेई से कह रहा था और आंख श्यामा पर थी, उसे कपड़ों में सुकड़ी हुई, छिपती सी देख कर उस ओर भी अधिक घबराहट हो रही थी।

बहुत सी बातें समझाईं, पर बुढ़िया अपनी बात पर जमी रही। भरूवा की आंखें आज भयावनी थीं उन्हें देख कर सुखदेई और भी घबरा गई और उस से पिंड छुड़ाने का प्रयत्न करने में दृढ़ हो गई, जब देर तक समझाने से भी सुखदेई न मानी तो भरूवा के कोप का पारा चढ़ने लगा। उसने आज नित्य से भी कुछ अधिक मात्रा में शराब चढ़ाई थी। धैर्य हाथ से निकल गया और शैतान अपने असली रूप में दिखाई देने लगा। वह आंखों से आग और मुंह से झाग बरसाता हुआ चिल्लाने लगा—

"तो तू मेरी बात नहीं मानना चाहती, बहुत अच्छा। कान खोल कर सुन ले। मैं तेरी कोई पर्वा नहीं करता। मैं श्यामा को चाहता हूं और उसी को ले जाना चाहता हूं। श्यामा, चल उठ, तू मेरे साथ चल"

इस समय दरवाजे पर किसी के हिलने की आहट हुई, परन्तु भरूवा आपे से बाहर होने के कारण उसे न पहचान सका।

श्यामा कपड़ों में और भी अधिक सुकड़ती हुई कातर दृष्टि से दरवाजे की ओर देख रही थी।

भरूवा चारपाई पर से उठ कर श्यामा की ओर बढ़ा। सुखदेई ने हाथ जोड़ कर कहा—

'बाबू जी-बाबू जी, क्या करते हो, उस बेचारी को माफ करो। गरीब को इस तरह न सताओ।"

पर भरूवा आगे बढ़ता ही गया और श्यामा के पास जाकर बोला।

'चलती है या नहीं, या तुम्हें जबरदस्ती पकड़ कर ले जाना पड़ेगा।'

दरवाजा और अधिक जोर से हिला और जोर जोर से साल चलने की भी आवाज आई। सुखदेई बेचारी चारपाई पर से उठ कर बेटी की रक्षा के लिये आगे बढ़ना चाहती थी, परन्तु बुढ़ापा और निर्बलता के कारण पछाड़ खाकर गिर पड़ी। गिरते हुए मुंह से केवल इतना ही कह सकी— हाय बेटी"

भरूवा ने बुढ़िया के गिरने की पर्वा न करके श्यामा का हाथ जोर से पकड़ लिया। श्यामा ने डर कर चीख मारी। भरूवा ने चीख को रोकने के लिये अपना दूसरा हाथ श्यामा के मुंह की ओर बढ़ाया ही था कि दरवाजा धड़ाक से खुल गया और इस से पहले कि भरूवा सम्भलता, उम्मेद के मजबूत हाथों ने उस की पीठ में इस जोर से मुक्का दिया कि वह श्यामा को छोड़ कर लड़खड़ाता हुआ सुखदेई की खाट से जा टकराया।

(क्रमशः)

(पिछले कुछ अंकों में यह उपन्यास प्रकाशित नहीं हुआ। अब धारावाही रूप से प्रकाशित हुआ करेगा। —सं०)

———

भारत सरकार की ग्राम-सुधार योजना

विभिन्न प्रान्तों को सहायता

भारत सरकार ने ग्रामोद्धार की योजना के लिये एक करोड़ रुपया स्वीकृत किया था। उसके विभाजन और सहायता की रिपोर्ट सरकार ने प्रकाशित की है। उसी के कुछ अंश दिये जाते हैं।

मद्रास	१४ लाख	रु०
बम्बई	७ ,,	,,
बंगाल	१६	,,
युक्तप्रांत	१५	,,
पंजाब	८ ५	,,
बर्मा	५	,,
बिहार और उड़ीसा	१२ ५	,,
मध्यप्रान्त	५	,
उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत	३	,
आसाम	५	,,
दिल्ली	० ५	,,
अजमेर मेरवाड़ा	० ५	,,
कुर्ग	० ५	,,
कुल जोड़	९२ ५	,,

सरकार ने कुछ शीर्षक बतला कर जिसके अन्तर्गत सरकार की दृष्टि में ग्राम्य-जीवन की अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकतायें आजाती हैं, स्थानीय सरकारों का नेतृत्व करने का निश्चय किया और इस प्रकार उनको सक्रिय लाभ पहुंचाया। ये शीर्षक है.

१ स्वास्थ्य रक्षक उपाय, अर्थात

(क) मलेरिया नाशक योजनायें।

(ख) ग्रामों में जल का प्रबंध जिसके अन्तर्गत नालीदार कुएं भी हैं।

(ग) ग्रामों की सफाई जिसमें नालियां बैठाना भी शामिल है।

२ खेतों को छोटे २ भागों में विभक्त होने से बचाना।

३ गावों में सड़कें बनाना।

४ जिला अफसरों को स्वेच्छानुसार स्थानीय छोटे-छोटे सुधार कार्यों की उन्नति अथवा सहायता के लिये रकम मन्जूर करना।

बम्बई

१ ग्राम सुधार योजनाः—	रुपये
उत्तरी विभाग	१,०८०००
मध्य विभाग	२,०२०००
दक्षिणी विभाग	१,५८०००
सिन्ध	१,३८०००
	६,०६०००
(२) भैंसों का सुधार और दूध की व्यवस्था	४,२०००
(३) मुर्गी-मुर्गा रक्षण में सुधार	१,५०००
(४) अण्डों के संग्रह और विक्रय में सहयोग	२०००
(५) चमड़ा कमाना और उसे सुरक्षित रखना	२५०००
(६) तालाबों में मछली पकड़ना	१००००
कुल जोड़	७०००००

बम्बई सरकार की ग्राम सुधार योजना की महत्वपूर्ण बात यह है कि सबसे पहले खास—खास गांव के निवासियों की अत्यावश्यक अभावों की पूर्ति की जाय और फिर कृषकों की सर्वाङ्गीण उन्नति की ओर ध्यान दिया जाय। इस कार्य में सरकार स्थानीय अधिकारी गैरसरकारी संस्था और स्थानीय व्यक्तियों के सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता है। योजना इसी धारणा पर निर्भर है कि जब तक स्वयं गांव वाले सहयोग न करेंगे, उपयोगी उन्नति सम्भव नहीं हो सकती और इस सम्बन्ध में सबसे पहला कार्य यह है कि उनमें अपनी अवस्था सुधारने की इच्छा और रुचि पैदा की जाय।

इस योजना के अनुसार ग्राम सुधार के समस्त कार्य डिस्ट्रिक्ट एक्जिक्यूटिव कमेटी द्वारा संचालित किये जायेंगे जिसके चैयरमैन का स्थान कलक्टर ग्रहण करेंगे और डिस्ट्रिक्ट लोकल बोर्ड का प्रेसीडेंट वाइस—चैयरमैन होगा। कमेटी के सदस्यों में साधारणतः वे सरकारी कर्मचारी होंगे जो सरकार के समाज सेवक विभाग के प्रतिनिधि स्वरूप हैं तथा स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधि जैसे लोकल बोर्ड और उसी की भांति अन्य संस्थायें और समाज सेवा, शिक्षा इत्यादि संस्थाओं आदि से संयुक्त व्यक्ति।

डिस्ट्रिक्ट एक्जिक्यूटिव कमेटी की देखरेख में, तालुका कमेटियां स्थापित करके अथवा जहां तालुका सुधार संघ हैं वहां उनके द्वारा जिलों के तालुकों में काम हो रहा है स्वयं ग्रामों में ग्राम पंचायत कानून के अनुसार पंचायतें अथवा स्थानीय समितियों का उपयोग किया जा रहा है। विशिष्ट उप,समितियां कायम करके खास खास विषयों में जैसे शिक्षा, आर्थिक उन्नति आदि के संबंध में भी विचार किया जा सकता है।

स्थानीय सरकार ने सिफारिश की थी और भारत सरकार उससे एक मत हो गई कि सहायता की रकम का अधिकांश भाग बम्बई प्रांत में, इसी योजना को, जिसके द्वारा उत्तम परिणाम दृष्टिगोचर हुआ है आगे बढ़ाने में खर्च किया जाय। ६०६००० रुपयों में जो इस योजना को क्रियात्मक रूप देने में व्यय होंगे, २००००० रुपये जिला अफसरों में बांट दिये जायेंगे।

मुर्गी मुर्गा रक्षण सुधार की योजना दो भागों में विभक्त होगी कुछ ग्रामों में अच्छी नसल के मुर्गे रखे जायेंगे और उन मुर्गी मुर्गा फार्मों के मालिकों को जो कुछ शर्तों का पालन करना स्वीकार करेंगे जिनमें एक यह है कि इनके अण्डे स्थानीय रूप से मुर्गी पालन के उद्देश्य से नियमित मूल्य पर बेचे जायेंगे, सीमित संख्या में प्रीमियम पुरस्कार दिये जायेंगे।

युक्त प्रान्त

	रु०
(१) खास स्कीम	७०००००
(२) कृषि विषयक योजनायें	३२८०००
(३) पब्लिक हेल्थ और मेडीकल रिलीफ की स्कीमें	३१६०००
(४) औद्योगिक योजनायें	७००००
(५) प्रचार और प्रकाशन की योजनायें	३६०००
(६) कुमायूं जिला	५००००
कुल जोड़	१५०००००

(१) उल्लिखित "खास स्कीम स्थानीय सरकार की देहात सुधार योजना है जिसका उद्देश्य ग्रामीणों में स्वावलम्बन प्रवृत्ति की वृद्धि करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थानीय सरकार लगभग २ वर्ष के लिए एक स्पेशल स्टाफ नियुक्त करने का विचार कर रही है, जिन में निम्न व्यक्ति रहेंगे।—

(क) ४८ जिलों में, प्रत्येक में कम से कम ६ संगठन कर्ता (कमायूं के तीन पहाड़ी जिले इन के बाहर हैं),

(ख) प्रत्येक जिले में एक-एक इन्सपेक्टर होगा जो संगठनकर्ताओं के कार्यों का निरीक्षण और उन का पथप्रदर्शित करेगा। प्रत्येक संगठनकर्ता बहुत कुछ उसी ढंग से काम करेगा, जिस ढंग से विलेज गाइड्स" सहयोगसमिति आन्दोलन के सम्बन्ध में करते हैं। अनुमान किया जाता है कि वह १२ ग्रामों की देखरेख कर सकेगा, लेकिन सम्भव है कि यह संख्या बाद में बढ़ा दी जावे।

(२) विचार है कि १२००००) रुपये सहायतार्थ हर मामले में एक तिहाई तक वर्तमान कुओं में ट्यूब वेल लगाने के लिये खर्च किया जाय। जिन स्थानों में नहरें अथवा ट्यूब वेल नहीं हैं वहां दो वर्ष से भी अधिक समय तक ३००० ऐसे नालीदार कुएं बनाये जायेंगे। असफलता का सामना करने के लिए १८०००) रुपये की अतिरिक्त रकम गारंटी के तौर पर जोड़ दी गयी है।

७१०००) रुपये घाट बनाने में खर्च किये जायेंगे, जिस से जमीन कट नहीं और नमी बनी रहे खास कर पूर्वीय जिलों में। इन घाटों के बनाने के लिये एक ट्रैक्टर खरीदा जायगा, जिस से साल में और समय पर घास फास खोदने का काम लिया जायगा। २५०) अस्थाई जलकुण्ड खोदने की आशा की जाती है और इस के लिये सरकार एक तिहाई खर्च देगी। बशर्ते हर एक जलकुण्ड के लिये अधिक से अधिक ३०००) रुपये ही लगें।

प्रांत में फलों की खेती सुधारने के लिये खास स्कीम के अन्तर्गत आने वाले ग्रामों को फल पौदे और बीज दिये जायेंगे। हर एक जिले में एक-एक माली नियुक्त किया जायगा। इन उपायों के लिये कुल २००००) रुपये खर्च होंगे।

८००००) रुपये आंशिक रूप में गांवों में खराब बीज खरीदने और उस की जगह कृषि-विभाग के उत्तम बीज बांटने तथा कृषि विभाग के बीज की वितरण प्रणाली में सुधार करने के लिये खर्च किये जायेंगे। इस से प्राइवेट रूप से चलने वाले बीज के स्टोरों को भी सहायता मिलेगी और साथ ही आवश्यकता होने पर बीज बढ़ाने की प्रणाली में भी सुधार किया जायगा।

२००००) रुपये जलेश्वर और इटावा में मुर्गी मुर्गा पालन के फार्म खोलने में खर्च किये जायेंगे और ८०००) रुपये बकरियों के सुधार के लिये दिये जायेंगे जिसमें ५ रु० बकरे बांटना और उन्हें पालना भी सम्मिलित होगा।

(३) स्थानीय सरकार नौ स्वास्थ्य केन्द्र स्थापित करना चाहती है प्रत्येक केन्द्र के अन्तर्गत लगभग ५० गांव होंगे जिन की जनसंख्या लगभग ३०००० होगी और इन पर अनुमानतः प्रति वर्ष ११०००) रुपये खर्च होंगे। सरकार का यह भी विचार है कि इन स्वास्थ्य केन्द्रों के साथ-साथ चिकित्सा की योजना को भी क्रियात्मक रूप दिया जाय

जिस में अनुमानतः प्रत्येक केन्द्र पीछे प्रति वर्ष २५४० रुपये खर्च होंगे और एक यह योजना भी कि खास स्कीम के अन्तर्गत आने वाले गांवों के लिये दवाओं के सन्दूक दिये जायं, जिस में ३६०००) रुपय खर्च होंगे।

प्रारम्भिक दो वर्षों में कुल आनुमानिक खर्च ३१६०००) रुपये होगा।

स्थानीय सरकार की धारणा है कि ग्राम-उद्योग धन्धो को सहायता पहुंचाने के लिये हाट व्यवस्था का सुधार सब मे अधिक आशाप्रद कार्य होगा। इस उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए ८०००) रुपये लखनऊ के गवर्नमेंट एम्पोरियम आफ आर्टस एंड क्रैफ्टस के लिये अलग कर दिये जायंगे, जिसे सूचि-पत्र मूल्यसूची, नमूने आदि-आदि तैयार करने और ग्राम उद्योग धंधों की वस्तुओं के क्रय--विक्रय में होने वाली संभाव्य हानि की पूर्ति के लिये खर्च किया जायगा। घी पैदा करने वाले इटावा, आगरा, मथुरा, अलीगढ़ और एटा के जिलों में घी के हाट व्यवस्था के लिये कोआपरेटिव प्रबन्ध करने और घी की विशुद्धता की परख करने के लिये इटावा में जो संस्था स्थापित की गई है, उसी के ढंग पर हाथरस और आगरा की प्राइवेट संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने का भी विचार किया गया है। यह भी विचार है कि इस शीर्षक के अन्तर्गत ४००००) रुपय और खर्च किय जायं, लेकिन इस के लिए अभी स्थानीय सरकार की अन्तिम सिफारिशें प्राप्त नहीं हुई।

(४) ग्रामोद्धार कार्य के अनवरत सुफल प्राप्त करने के लिये खास स्कीम के अन्तर्गत आने वाले ३२४० गांवों को सप्ताह में कम से कम एक बार निःशुल्क समाचार पत्र मासिक और रिप्रिन्ट जिन में ग्रामोद्धार विषयक लेख रहेंगे और समाचार दिये जायंगे, इस के लिये प्रारम्भिक दो वर्षों में अनुमानतः ३०००-) रुपय खर्च होंगे।

६०००) रुपय की लागत से ग्रामोद्धारविषयक एक सौ सेट ग्रामोफोन रेकार्ड भी तैयार किये जायेंगे।

(६) "खास स्कीम" कुमायूं डिवीजन के पहाड़ी स्थान में लागू न होगी। फिर भी इन फायदा पहुंचाने के लिए ५००००) रुपय खर्च करने का विचार है और उपयोगी योजनाओं पर विचार किया जा रहा है।

पंजाब

	रु०
(१) खेतों को टुकड़े-टुकड़े होनेमे बचाना	१०४०००
(२) गुजरात जिले के ग्रामों में स्वास्थ्य-सुधार	९०००
(३) गुड़गांव जिले की शंकरगढ़ तहसील में सण्डास	१०,०००
(४) जल प्रबन्ध की योजनायें	२२५०००
(५) टीके की दवा के गुदाम	२००००
(६) रोहतक जिले में पशु चिकित्सालयों का पुनर्निर्माण	१२०००
(७) १० पशु चिकित्सालयो का निर्माण	६००००
(८) ब्राडकास्टिङ्ग स्कीम	४८०००
(९) खाल कमानेकी योजना	७६०००
(१०) फलों का उत्पादन	६२०००
(११) नालीदार कुए	५००००
(१२) सिनेमा फिल्म और लाउड स्पीकर	५६०००
(१३) मंडों का सुधार	१५०००
(१४) जिला अफसरों को स्वेच्छानुसार खर्च करने के लिये दी जाने वाली रकमें	१०० ००
कुल जोड़ जोड़	८५००००

(१) यह पूर्ण रूप से स्वीकार किया जा चुका है पंजाबके जमींदारो के लिये इस से अधिक फायदे की और कोई बात नहीं हो सकती कि उन के खेतों का टुकड़े होने से बचाया जाय। इस समय ११ जिलों में प्रति वर्ष ६०००० एकड़ के हिसाब से सहयोग समितियों के द्वारा यह काम हो रहा है। ये सहयोग समितियां ८ इंस्पेक्टर और १०४ सब-इन्स्पेक्टरों की जिन्हें सरकार ने अपने खर्च से नियुक्त किया है, देख रेख और नेतृत्व में काम कर रही है इन्स्पेक्टर और सब इन्स्पेक्टरो की सहायता के लिये एक ३ असिस्टेण्ट इंस्पेक्टरो और २२ सब इन्सपेक्टरो का स्टाफ है और इन का खर्च उन व्यक्तियो के खर्चे से पूरा किया जाता है जो खेतों को टुकड़े२ होने से बचाने की दरख्वास्त देते हैं। इस कार्य को शीघ्रतापूर्वक चलाने के लिये एक स्पेशल कन्सोलिडेशन अफसर, ८ इन्स्पेक्टर और ८८ सब इन्स्पेक्टर नियुक्त करने का विचार है। फायदा उठाने वाले जमींदारों से जो कुछ भी रकम मिलेगी उसे अतिरिक्त स्टाफ रखने में खर्च किया जायगा।

(२) इन सुधारों के अन्तर्गत गन्दे नाले बनाये जायंगे, उन के किनारे-किनारे सूखी ईंटें जमाई जायंगी, हाथ से चलने वाले पम्प लगाये जायंगे, करनेदार कुओं की मरम्मत की जायगी और उन पर कुन डाली जायगी। इसी प्रकार के और भी काम होंगे। जिला अफसरों की सलाह से गांवों का चुनाव कर लिया गया है। खर्च का एक तिहाई इस ग्रांट से लिया जायगा, एक तिहाई ग्रामों की इस्लाही तरक्की कमेटियों से लिया जायगा।

(३) गुड़गांव जिले की शंकरगढ़ तहसील में अंतड़ियों में पड़ने वाले कीड़ों की बीमारी है। सण्डास बनाने का उद्देश्य यही है कि कीटाणु नष्ट हो जायं और बीमारी न फैले। रुपया ढेर करने वाले औजारों और पावदान खरीदने में खर्च किया जायगा। अतिरिक्त खर्च होने पर उसे जिला बोर्ड पूरा करेगा।

(४) जल प्रबन्ध की योजनाओं द्वारा कांगड़ा, शाहपुर, मियांवाली, डेरागाजीखां और झेलम जिले में पीने का शुद्ध पानी पहुंचाया जायगा क्यों कि वहां इस की खास जरूरत है।

(५) उपयुक्त केन्द्रों मे टीके की दवा रखने के लिए १०० गुदाम बनाये जायगे जिस से कि जब पशुओं की कोई बीमारी फैले तो टीके तुरन्त लगाये जा सकें। इस का मासिक खर्च जिला बोर्ड बर्दाश्त करेंगे।

(६) सन् १९३२ की बाढ़ में रोहतक जिलेके पशु चिकित्सालय की इमारत को बड़ा नुकसान पहुंचा था और जिला बोर्ड उस की मरम्मत नहीं करवा सकता।

अब ग्रांट के खर्च से उस की मरम्मत की जायगी।

(७) घन्नी और हरियानों को पशुपालन योजना के अन्तर्गत आने वाले देशों में १० नये पशु चिकित्सालय खोले जायगे क्यो कि जिला बोर्डों के पास इस के लिये रुपया नहीं है। जिला बोर्ड इन का मासिक खर्च बर्दाश्त करेंगे।

(८) दिल्ली ब्राडकास्टिंग स्टेशन के अत्यन्त निकट जो जिले हैं जिनके नाम रोहतक करनाल और गुड़गांव हैं, निवासियों की शिक्षा और मनोविनोद के लिये, ४० रिसीवर सेट, दो वर्षों के लिये लगाने का विचार है। भारत सरकार के परामर्श से देहात सुधार कमिश्नर के अधीनस्थ ग्रामो में दिल्ली से उपयोगी कार्यक्रम ब्रोडकास्ट का प्रबन्ध किया जायगा।

(९) बकरे की खालों के निर्यात के लिए पंजाब भारत के प्रमुख केन्द्रों में एक है। और भेड़ की खालों के निर्यात व्यापार पर तो इस का एकाधिकार है। जो चमड़ा विदेशों को भेजा जाता है उस में से केवल ८ फीसदी चमड़ा पंजाब में कमाया जाता है। पंजाब की खालें भी अच्छी होती है और कमाने के मसाले भी वहीं से सप्लाई किये जाते हैं। दो भ्रमणशील प्रदर्शन पार्टियों के साथ-साथ अनुसंधान और प्रदर्शन के लिए एक केन्द्रीय टैनिंग (चमड़ा कमाना) इंस्टीच्यूट खोलने का विचार है।

(१०) ४७००० रुपय विश्वस्त फलों के बागों मे पौदे पैदा करने और उन्हें बहुत बड़ी तादाद में सस्ते दामों में वितरण करने में खर्च किये जायंगे और १५०००) रुपये फलों को सुरक्षित रखने की मशीन का प्रयोग और प्रदर्शन के लिए अर्ध-व्यवसायिक रूप से लगाने में खर्च किये जायगे। पूर्वोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये वर्तमान बगीचे बढ़ा दिये जायगे और नये खोले जायंगे। दो साल बाद योजना (आत्मनिर्भर) हो जायगी। रकम का दूसरा हिस्सा लायलपुर में डिब्बे का एक कारखाना खोलने में खर्च किया जायगा, क्यों कि पंजाब की फलों की खेती के लिए इस की अत्यन्त आवश्यकता है। आशा की जाती है कि पहले साल बाद से इस कारखाने का मासिक खर्च आमदनी से पूरा हो जायगा।

(११) प्रान्त के अनुभव से, सिद्ध है कि नालीदार कुओं से पानी ३०० फी-सदी बढ़ जायगा। कुओं में छोड़ जाने वाले नल और कुओं की कीमत के अलावा सरकार इस समय छेद करने के लिए, चाहे उन से पानी निकले या नहीं, १२ आने लेती है, इस दशा में सर्वसाधारण के प्रोत्साहन और सहायता के लिए सरकार २ साल तक १२ आने फी-फीट की माफी देने का विचार कर रही है। इस में अनुमानतः ५००००) रुपय खर्च होंगे।

(१२) सिनेमा के तमाशे खूब देखे जाते हैं और पंजाब में वे लाभदायक प्रतीत हुए हैं और जनता उन्हें देखने के लिए पैसे भी खर्च करने को तैयार है। स्थानीय सरकार के पास अभी दो भ्रमणशील फिल्मों का सामान है, तीन और एक-एक डिवीजन के लिए चाहिए और एक सुरक्षित रखा रहेगा। इस के अतिरिक्त शिक्षा उद्देश्य के लिए अच्छे और अधिक फिल्मों की आवश्यकता होगी। प्रस्ताव है कि ऐसे फिल्मो पर ३६०००) रुपय खर्च किये जाय और ५०००) रुपये विनोद के फिल्मो के लिए खर्च किये जायं। दो सेट लाउडस्पीकरों का भी प्रबन्ध किया जायगा।

कहानी

दो आंसू

(ले०—श्री ब्रजमोहन गुप्त रामेश्वर स्ट्रीट, देहरादून)

"रा जकुमार, तुम भूल रहे हो, कहां तो विजयगढ़ का भावी नरेश और कहां एक निर्धन राजपूत कन्या !"

"नहीं विभा, भूल कैसी ! शुद्ध प्रेम के मार्ग में न तो धन दो व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधने के लिए बंधन ही हो सकता है और न दोनों को अलग रखने के लिए कंटक ही।"

"किंतु तुम्हें तो एक से एक रूपवती राजकन्यायें प्राप्त हो सकती हैं।"

"विभा ! भोली विभा ! शुद्ध-प्रेम के लिए सौन्दर्य जैसी अस्थायी वस्तुयें आकर्षण नहीं होतीं। इसमें इन्द्रियजन्य सुखों की लालसा नहीं होती। उसका संबंध हृदय से होता है विभा, और आत्मा से। वह धन से खरीदी जा सकने और रूप से बदली जा सकने वाली वस्तु नहीं।"

"राजकुमार ! तुम किस निद्रा में हो ? महाराज को यह कैसे स्वीकार हो सकता है कि विजयगढ़ के भावी नरेश की सहचरी एक निर्धन राजपूत कन्या बने ?"

"अगर कोई भावी विजयगढ़ के नरेश हो तब तो निस्सन्देह अड़चन हो सकती है।"

'कैसी विचित्र बातें कर रहे हो राजकुमार ? क्या तुम एक निर्धन राजपूत कन्या के लिए राज्य-सुख को लात मार दोगे ?"

"सुख ! राज्य-सुख ? तुम कितनी भोली हो विभा ! सुख तो हृदय की शांति का नाम है। वह राजसिंहासन का दास नहीं, और मुझे ज्ञात है कि उस सुख के लिये जिसे तुम सुख कहती हो—तुमही क्या सारा संसार ही सुख कहता है, छोटा भाई अधिक इच्छुक है। मेरा राज-सिंहासन तो तुम्हारा हृदय है विभा ! यदि मुझे इस पर स्थान मिल गया तो किसी और राज-सिंहासन की लालसा न रहेगी।"

विभा ने अपने चंचल तथा सुन्दर नेत्रों से राजकुमार की ओर देखा। उस की दृष्टि में विस्मय था और स्नेह भी। राजकुमार ने भी अपने बड़े २ नेत्र विभा की ओर फिराये उसकी दृष्टि में सुखद शांति थी और अटल विश्वास भी। और क्षण भर बाद ही दोनों एक दूसरे के बाहुपाश में बंध गये।

इस समय सूर्य भगवान् जो तीव्र गति से अस्ताचल की ओर पदार्पण कर रहे थे, वह प्रम-क्रीड़ा देखने के लिए क्षण भर को ठिठक गये। सायंकालीन मंद पवन पुष्पों की मधुर सुगंधि को चारों ओर फैला रहा था और उस रम्य वाटिका के पत्ते २ को कर रहा था वही अलौकिक संगीत सुनाने को प्रेरित।

इसी समय किसी मधुर कंठ की ध्वनि सुनाई दी 'चोली चाहिये चोली।' और एक युवती, जिसकी आयु लगभग बाईस वर्ष की होगी, उस ओर से आती हुई दिखाई दी। यद्यपि उसके वस्त्र फटे हुए थे, मुरझाये पुष्प जैसे चेहरे पर चिन्ता के बादल स्पष्ट दृष्टिगोचर होते थे, फिर भी देखने से ज्ञात पड़ता था कि वह भी कभी किसी रम्यवाटिका की कली रही होगी। विभा ने उसे बुलाया और चोली देखी। चोली देखते ही राजकुमार और विभा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। संभवतः राजकुमार ने भी अपने जीवन में पहिले कभी इतनी सुन्दर चोली नहीं देखी थी। यह रेशम के डोरे से बुनी हुई थी और उस पर सलमे सितारे और सच्चे मोतियों का काम था। उसे देखने से ज्ञात होता था कि कम से कम किसी की तीन चार साल की मेहनत का फल है।

विभा ने उसका मूल्य पूछा। चोली वाली ने दो हजार रुपया बताया। राजकुमार ने उसी समय चोली का मूल्य मंगवा दिया। जिस समय चोली वाली ने चोली विभा को दी और उसके मूल्य को चौकस अपनी उस फटी सी धोती के एक कोने में बांधा तो उसके रोकने का लाख प्रयत्न करने पर भी उसके मुरझाये हुये कमल के समान नेत्रों से निकल ही पड़े "दो आंसू।"

विभा ने सहसा कहा—"अरे तुम रो रही हो जितना मूल्य तुमने मांगा, तुम्हें दे दिया। फिर रोने का क्या कारण ?"

उसने बात टालने का लाख प्रयत्न किया, किन्तु विभा और राजकुमार के आग्रह पर उसे अपनी राम कहानी कहनी ही पड़ी। उसने कहना आरम्भ किया।

"अब से लगभग दस वर्ष पूर्व की बात है कि हमारे गांव में भयंकर प्लेग का प्रकोप हुआ, उस समय हमारे कुटुम्ब में केवल तीन प्राणी थे। मैं, मेरी माता और मेरे पिता। एक दिन माताजी के अचानक गिल्टी निकल आई। तीसरे दिन उनका स्वर्गवास होगया, और क्रूर प्लेग का आक्रमण हुआ पिताजी पर भी। मेरी आयु उस समय बारह वर्ष की होगी। यद्यपि उस समय मुझे दौड़ धूप दवा दारू का ज्ञान न था और

श्री ब्रजमोहन गुप्त

घर में कोई तीसरा प्राणी भी न था फिर भी पिताजी के एक मित्र की कृपा से उनकी सेवा शुश्रूषा में कुछ भी कमी न आई। वे हमारे घर के समीप ही रहते थे। उनके कुटुम्ब में केवल दो प्राणी थे। वे स्वयं और एक उनका चौदह पन्द्रह वर्ष का पुत्र। वे दोनों तीन दिन तक हमारे ही यहां रहे। रात भर पिता जी के समीप बैठे रहते। तीन दिन तक सोने का नाम भी न लिया। चौथे दिन पिता जी की तबियत अधिक खराब हो गई। वे अपने मित्र से जो उनके समीप बैठे हुए थे बातचीत कर रहे थे। मैंने देखा कि उस समय दोनों की आंखों से आंसुओं की झड़ी लगी हुई थी। मैं भीतर बैठी उनकी बातें सुन रही थी और रो भी रही थी, उनकी बातों का महत्व समझ कर नहीं बल्कि उन दोनों को रोता हुआ देख कर। पिताजी कह रहे थे "मुझे अपने मरने की चिन्ता नहीं यह तो संसार का नियम ही है, जो आया सो जायगा अवश्य।" दो दिन पहले या दो दिन बाद। मुझे तो चिन्ता बच्ची की है। अगर उसका विवाह हो लिया होता तो मैं बड़ी शांति से मरता। उसके भविष्य के सहारे तुम ही हो मनोहर। इसका उसका ध्यान रखना।" और कहते उनका कंठ रुंध गया वे आगे कुछ न कह सके।

"आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें आप की बच्ची को आप के पीछे किसी प्रकार का कष्ट न होगा मैं इसे अपनी पुत्री की तरह रक्खूंगा और कोई सुयोग्य वर ढूंढ कर उस का विवाह भी कर दूंगा।" मनोहर ने उत्तर दिया।

पिता जी ने आवाज दी 'बच्ची' मैं उनके समीप गई उन्होंने मेरा हाथ अपने मित्र के हाथ में पकड़ाते हुए कहा 'लो बच्ची आज से इन्हीं को अपना पिता समझना और इन्हीं की आज्ञा में रहना। ईश्वर तुम्हें सुखी र[illegible]।'

और इस के पश्चात् वही हुआ जो इस पृथ्वी मंच पर होने वाले नाटक के सूत्रधार की इच्छा थी। मेरे प्रिय पिता जिन्होंने मुझे नेत्रों की पुतली की तरह रक्खा था। जिन के कारण मुझे माता जी की मौत का भी अधिक दुःख न हुआ ही मुझ से सदा के लिये अलग हो गए।

इस के पश्चात् मैं उन्हीं के यहां रहने लगी वहां मुझे किसी प्रकार का कष्ट न था हां माता और पिता जी की स्मृति कभी कभी चित्त को अवश्य विचलित कर देती थी। जब मनोहर मेरे आंखों में आंसुओं की झलक भी देख लेते तो मुझे बड़े स्नेह से अपनी गोदी में बिठा मेरे दुःख का कारण पूछते, मुझे समझाते और मेरे चित्त बहलाने के लिये मुझे इधर उधर की बातें सुनाते इसी प्रकार उन को पिता जी के समान ही सुखद गोद में चार वर्ष व्यतीत हो गये। किन्तु विधाता को यह भी स्वीकार न था एक दिन उन के लिये भी वहां से जहां माता जी जा चुकी थीं—और पिता प्रस्थान कर चुके थे जहां एक न एक दिन इस नश्वर जगत को त्याग कर प्रत्येक ही प्राणी को जाना पड़ता है—निमन्त्रण आ गया और अब हम दो ही प्राणी रह गये। मैं और उनका पुत्र हम दोनों के पारस्परिक प्रेम ने कुछ ही दिन में उन की मृत्यु का दुःख [illegible] दिया।'

× × ×

"एक दिन सायंकाल को आंगन में बैठा बुन रही थी। बाहर से हड़बड़ाते हुए आ और कहने लगे 'एक बहुत आवश्

कीय कार्य आ पड़ा है । मुझे कल बाहर जाना है ।'

बाहर कहाँ मैंने उत्सुकता से पूछा।

'भारत वर्ष से भी बाहर योरप। लगभग आठ महीने लगेंगे किन्तु कोई चिन्ता की बात नहीं तुम्हारा सब प्रबन्ध कर जाऊंगा उन्होंने उत्तर दिया।'

'मैं तो इतने दिनों तक यहां अकेली नहीं रह सकती। मुझे भी साथ ही ले चलिये।' मैंने आग्रह के साथ कहा।

'यह तो असम्भव है सरोज! तुम विदेश के झंझटों को नहीं समझतीं।' मुझे चुप हो जाना पड़ा।

'यह क्या बुन रही हो?' उन्होंने पूछा।

'चोली' मैंने उत्तर दिया।

'हां जब तक मैं आऊंगा इसे पूरी कर लेना। फिर इसे अपनी शादी में पहिनना।' उन्होंने हंसते हुए कहा।

'शादी! शादी किस के साथ' मेरे मुंह से सहसा निकल गया।

'क्या यह भी बताना पड़ेगा' उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कह अपने बाहुपाश में जकड़ और मेरे कपोलों पर कर दो प्रेमचिन्ह अंकित, जिन की स्मृति हृदय से केवल मृत्यु मिटा सकती है। उस समय मैं पगली सी हो गई। हृदय गति भी तीव्र हो गई थी। लाख प्रयत्न किया कि मैं भी एक बार उनके चरणों को चूम लूं। उन्हें एक बार कह लूं—'प्राणनाथ' और अपने हृदय का बोझ हलका कर लूं।' किन्तु मुंह से एक शब्द तक न निकला और वे अगले दिन चले भी गये हां, मेरी यह सुखद निद्रा भंग होने से पहिले ही!

उन के पीछे मेरा सारा समय चोली के निकालने में ही व्यतीत होता था। उन के पत्र बराबर आते रहते और वहां सदा पत्रों के रूप में पहुंचते रहते मेरे हृदयोद्गार, और इसी प्रकार आठ महीने व्यतीत हो गये मैं रात दिन उन की प्रतीक्षा में रहने लगी। किन्तु एक दिन उनके बदले मिला उन का एक पत्र जिसने मेरे ऊपर वज्रपात किया।

उस में लिखा था—

प्यारी सरोज—

मैं अच्छी तरह जानता हूं कि तुम बड़ी व्यग्रता के साथ मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी। तुम्हें एक शुभ सम्वाद सुनाता हूं जिस से सम्भवतः तुम्हें कुछ दुःख हो, किन्तु तुम समझदार हो, परिस्थितियों पर विचारकर तुम्हें प्रसन्न होना चाहिये। मुझे यहां पर एक तीन सौ रु० माहवार की नौकरी मिल गई है। तुम जानती हो कि यहां पर रहते हुए जीवका उपार्जन का प्रश्न कितना कठिन है। घर में इतने धन नहीं कि चैन से बैठ कर खा पहिन सकें ऐसी अवस्था में मैं नौकरी छोड़ कर आना उचित नहीं समझता। हां, दो वर्ष कार्य करने के पश्चात छः महीने की छुट्टी मिल जायगी तब आकर तुम्हें भी ले आऊंगा। तुम किसी प्रकार की चिन्ता मत करना। तुम्हारे लिए यहां से बराबर खर्च भेजता रहा करूंगा। पत्र डालने में विलम्ब न किया करो।

तुम्हारा,
नरेन्द्र।

वे बराबर मेरे पास १०० रु० माहवार भेजते रहे, यद्यपि मैंने कई बार लिखा भी कि मेरे पास इतने रुपये भेजने की आवश्यकता नहीं। पचास भी आवश्यकता से अधिक है। आप को वहां मेरे कारण स्वयं कष्ट न सहने चाहिये। किन्तु वे सदा लिख देते थे इन बातों की चिन्ता न किया करो। मैं चाहता हूं सरोज, तुम्हें वहां किसी प्रकार का कष्ट न हो। तुम्हारे सुख में ही मेरा भी सुख है। शायद उन्हें ज्ञात न था कि रु० से मेरा कष्ट दूर नहीं हो सकता।

उस मरु भूमि में भी एक उद्यान था, वह था उस चोली का बुनना। जब मैं एकान्त में बैठी इस चोली को बुनती होती तो प्रायः मेरे कानों में उन के ये शब्द गूंजा करते—'जब तक मैं आऊंगा इसे पूरी कर लेना फिर इसे अपनी शादी में पहिनना।'

'शादी! शादी किस के साथ?' 'क्या यह भी बताना पड़ेगा?'

और इस के बाद? आह! वह स्मृति मात्र मुझे में नवजीवन का संचार कर देती और कर देती मेरे हृदय प्रदेश में टिमटिमाते हुए आशा दीपक के लिये घी का काम। जब चोली पूरी हो गई, तो मैंने उसे सलमें सितारों से सजाना आरम्भ किया, किन्तु एक दिन वह कार्य भी समाप्त हो गया। अब मैंने चोली को सच्चे मोतियों से सजाना आरम्भ किया और इसी खेल में दो वर्ष व्यतीत हो गये और एक दिन वह मुझे मिल ही गया, जिस की मैं दिन रात प्रतीक्षा कर रही थी। वह था उन का पत्र, जिस में उन्होंने लिखा था—।

'मेरी सरोज! तुम्हें देखने के लिये मेरा मन कितना व्यग्र है यह बताने के लिये मेरे पास शब्द नहीं। मैंने घर की यात्रा आरम्भ कर दी है आशा है तीन महीने में तुम्हारे पास आ जाऊंगा ....।"

मैंने तीन महीने तारे गिन २ कर काटे। किन्तु आह उस निष्ठुर विधाता को मुझे इतना दुख देने के पश्चात सुखी देखना स्वीकार न था। मुझे सूचना मिली कि जिस जहाज में वे आ रहे थे वह जहाज भूमध्यसागर में तूफान आजाने के कारण इटली के समीप डूब गया। और उस जहाज के साथ ही समुद्र में अन्तर्धान होगया मेरी आशाओं का आधार, मेरे दुखी-जीवन का एक मात्र साथी—हां वह मेरे जीवन का सहारा भी।"

उसका कंठ रुंध गया था। उसने बड़ी कठिनाई से कहा — "बहुत रो चुकी बहिन! हृदय का रक्त भी आंसुओं के रूप में बहा चुकी! अब इन निष्ठुर आंखों के लिए और आंसू कहां से लाऊं? और चल दी। मैंने पूछा अब क्या विचार है बहिन? उसने जाते जाते कहा था "विचार? मनुष्य के विचार से क्या होता है वही होगा जो उसे स्वीकार होगा।"

× × × ×

लगभग चार महीने के बाद लोगों ने अखबार में पढ़ा —

'विचित्र घटना'

एक यूरोप जाती हुई युवा स्त्री ने, जब जहाज भूमध्य सागर को पार कर रहा था, इटली के समीप जहाज से समुद्र में कूद कर प्राण त्याग दिये। बहुत खोज की किन्तु उसकी आत्महत्या का कुछ कारण ज्ञात न हुआ।

कारण? उसकी आत्महत्या का कारण वही निष्ठुर सागर जानता है, जिसके अनन्त आंचल में उसने शरण ली।

पाकिस्तान की योजना

(पृष्ठ ७ का शेष)

म्भव नहीं। जब तक हिन्दुस्तान से पृथक विधान दिये जाने की बात स्वीकार नहीं की जाती तब तक हम में निश्चिन्तता की भावना किसी तरह स्थान नहीं पा सकती। जबकि बरमा को उसका पृथक पद देकर अलग किया जा रहा है तो क्या कारण है कि पाकिस्तानियों को अपीलों की उपेक्षा करते हुये पाकिस्तान का अलग विधान नहीं दिया गया?

यदि इंडिया बिल के समर्थक यह समझें कि बिल पास होने पर हम मान जायेंगे तो वे गलती करते हैं। वे लोग कानून बना सकते हैं पर वे पाकिस्तानियों का सहयोग विधान में नहीं पा सकते।

गुलामी की स्थिति

जहां तक पाकिस्तान आन्दोलन का सम्बन्ध है, फेडरेशन ऐक्ट को हम उस समस्या का अन्तिम निर्णय कभी नहीं मान सकते। भारती संघ योजन में हम से जो आत्मघात करने की नीति पर चलने को कहा गया है, उसका हम कभी अनुसरण नहीं करेंगे। अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में जो हमें प्राप्त हुआ है, उसे हम कभी नहीं दे सकते और न कभी अपने वीरों और शहीदों ने हमें जो कुछ दिया है, उसका बलिदान हो कर सकते हैं।

हम सब कुछ का बलिदान कर सकते हैं, पर भारतीय संघ योजन में शामिल होकर अंग्रेजों को खुश करने अथवा हिन्दुओं को सन्तुष्ट करने के लिये गले में फांसी लगा कर मर नहीं सकते। गुलामी की यह स्थिति कि पाकिस्तान हिन्दुस्तान की आधीनता में उसका एक जिला बना कर रहे, हम कभी स्वीकार नहीं कर सकते। अपना पृथक राष्ट्र अस्तित्व कायम रखने का हमारा परम पवित्र कर्तव्य है और हम पूरा करने के लिये हम दृढ़ प्रतिज्ञ हैं।

विनयपूर्वक निवेदन है कि जिस समय उपर्युक्त प्रस्ताव सभा के सामने पेश था मैं भी श्रीमान की आज्ञानुसार वहाँ उपस्थित था। प्रस्ताव पर मेरी राय भी दरियाफ्त की गयी थी। परन्तु मैंने कई महानुभावों को बजाय न्यायाधीश की भावना के, बदले, के जज्बे से मुतास्सिर पाकर और प० बुद्धदेव जी को गैरहाजिर देखकर अपने को उदासीन रखना ही उचित समझा और यह कहकर "चूंकि वातावरण अनुकूल नहीं है इस लिए कुछ भी कहना बहतर नहीं समझता" खामोश रहा और एक दर्शक की तरह सब कार्यवाही देखता रहा। इस कार्यवाही का जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ा और जो उस वक्त से अब तक अविचल रूप से चला आता है, वह यह है कि प० बुद्धदेव जी के साथ पूर्ण न्याय नहीं हुआ। कारण निम्नलिखित हैं, आशा है कि उन पर विचार करके उचित कार्यवाही करने की कृपा करेंगे :—

(१) प० बुद्धदेव जी को अन्तरंग सभा की बैठक की तारीख से काफी समय पहले सूचना नहीं दी गई और उनको बतलाया नहीं गया कि अगर तारीख मुकर्ररा पर हाजिर न हुए तो सभा उनके सम्बन्ध में अपना निर्णय उनकी गैरहाजिरी की वजह से स्थगित नहीं करेगी।

(२) उक्त पण्डित जी को अपनी सफाई पेश करने का मौका नहीं मिला। जबकि उनकी गैरमौजूदगी में ही प्रस्ताव पास कर दिया गया यह एक निहायत जरूरी बात थी जिस को ख्याल नहीं रखा गया।

(३) प्रस्ताव गैरमामूली उजलत से पास किया गया, क्योंकि पण्डित जी को हाजिरी की आवश्यकता का सवाल पेश होने पर भी प्रस्ताव को पास ही कर दिया गया फिर सूचना देने का क्या अर्थ था, यह समझ में नहीं आया।

(४) जिन गैरमामूली हालात में उक्त पण्डित जी को यह कार्य करना पड़ा उनकी बारीकी पर कुछ भी विचार नहीं किया गया और ऐसी अवस्था में जिस रियायत के वह मुस्तहक थे, वह उनके साथ नहीं की गयी, बल्कि उसको एक साधारणावस्था का कार्य मानकर धर्मविरुद्ध करार दे दिया गया।

(५) प्रस्ताव में "धर्म-विरुद्ध" आरोप का निर्णय मनु धर्म शास्त्र व श्री स्वामी दयानन्द जी की सम्मति के अनुसार कम से कम १० या बहुत कम हो तो ३ धर्मात्मा विद्वानों की

बुद्धदेव और सार्वदेशिक सभा

(लेखक—श्री रामचन्द्र देहल्वी)

उप सभा द्वारा किया जाना चाहिये "धर्माधर्म" जैसी सूक्ष्म और शास्त्रीय बात के निर्णय के लिये चुने हुए धार्मिक विद्वानों की सभा से अतिरिक्त संस्था को फैसला न युक्त हो सकता है और न प्रामाणिक। पर प्रबन्धकारिणी कमेटी के Jurisdiction से ऐसी बात का निर्णय सर्वथा बाहर है, चाहे उस में कुछ धर्मात्मा विद्वान भी क्यों न शामिल हों।

अन्त के दो कारणों पर जरा विशेष प्रकाश डालना चाहता हूं। प० बुद्धदेव जी शास्त्री की यह पुरानी आदत है कि जब कभी शास्त्रार्थ में सामने वाले पंडित ने उन पर आक्षेप किया कि आर्यसमाजी भी हमारी तरह मूर्ति पूजक हैं क्योंकि ऊखल मूसल की पूजा करते हैं। तो पंडित जी यथार्थ उत्तर देने के पश्चात् यह भी कह दिया करते थे कि अगर आप को शक है कि हम ऊखल मूसल को पूजते हैं तो आओ मैं उस के पांव जूते लगा देता हूं और आप भी अपने लगा दीजिये। इस पर अमूमन सनातनी पंडित खामोश हो जाया करता था और प० बुद्धदेव जी का पल्ला भारी हो जाता था। परन्तु इस दफा प० माधवाचार्य की चालाकी में इस दलील ने विपरीत गति धारण कर के प० बुद्धदेव जी को ही दबा लिया और रबड़ की गेंद की तरह टप्पा खाकर उन्हीं की ओर वापिस आ गई। यह है वह मुकाम, जहां से प० बुद्धदेव जी की परेशानी व मजबूरी का शुरू होना है। प्रतिवादी बड़ ओर से कह रहा है कि आज इसी पर फैसला रहा, अगर आप स्वामी दयानन्द की तस्वीर पर लगायें तो आप जीते और हम हारे। तमाम मजमा पंडित जी की ओर टकटकी लगा कर देख रहा है और इन्तजार कर रहा है कि पंडित जी क्या जवाब देते हैं। और क्या करते हैं। पण्डित जी आप अपने दाम में फंसे हुए सोच रहे हैं कि इस आपत्ति का निवारण कम से कम भोंडे तरीके से कैसे किया जावे। विचार करने को कुछ सेकंड रही हैं। अगर जरा सी देर करते हैं तो असर बुरा पड़ना है लिहाजा पंडित जी ने आर्य समाज के सिद्धान्त की रक्षा के लिये स्वामी जी की तस्वीर को, जोकि मेज पर पड़ी एक किताब के टाइटल पेज पर थी, पांव लगा दिया। जो प्रभाव

वहां पड़ा, उस को अच्छी तरह तो वही लोग जानते होंगे, जो वहां मौजूद थे, परन्तु हैदराबाद समाज के मन्त्री के पत्र से यही ज्ञात होता है कि उन को इस घटना का इतना ख्याल नहीं है, जितना कि प० जी के प्रतिज्ञा हेतु का बिना विचार रखते हुए शास्त्रार्थ करने का, और प० वंशीलाल तो स्पष्ट रूप से इस घटना के बुरे प्रभाव का इनकार करते हैं जिसका प्रमाण यह है कि वहां इसकी वजह से कोई गड़बड़ नहीं हुई। ऐसी सूरत में आप विचार कर सकते हैं कि पंडित बुद्धदेव जी का यह कार्य साधारणावस्था का काम नहीं था कि पण्डित माधवा
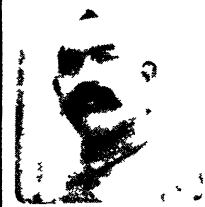
प० रामचन्द्र देहलवी

चार्य ने केवल अपना ओरसे यह कहा है कि अगर आप मूर्ति पूजक नहीं हैं तो स्वामी जी की तसवीर पर लगा दीजिये और पंडित जी ने अपनी मूर्खता का प्रमाण दिया है। उनको तो अपना शुरू की गलती के नतीजे में मजबूरन ऐसा करना पड़ा इसलिये वह ४जून वाली बदसूरतदलील देने के तो दोषी हो सकते हैं परन्तु बाद के फेल के नाम मात्र ही दोषी करार दिए जा सकते हैं श्री स्वामी दयानन्दजी महाराज सत्यार्थप्रकाश के ११ वें समुल्लास में भी श्री स्वामी शंकराचार्य के असाधारणावस्था में किये हुए कार्य को कैसा समझते हैं। वह विचारणीय है—

"अब इसमें विचारना चाहिये कि जीव ब्रह्म की एकता जगत मिथ्या शंकराचार्य का निज मत था तो वह अच्छा नहीं और जो जैनियों के खंडन के लिये उस मत को स्वीकार किया हो तो कुछ अच्छा है।" "अनुमान है कि शंकराचार्य आदि ने तो जैनियों के मत के खंडन करने ही के लिये यह मत स्वीकार किया हो क्योंकि देश काल के अनुकूल अपने पक्ष को सिद्ध करने लिये बहुत से स्वार्थी विद्वान अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध भी कर लेते हैं।

ऊपर वाले लेख से साफ जाहिर है कि ऋषि दयानन्द स्वामी शंकराचार्य के मत को, यदि वह उनका निज मत था तो अच्छा नहीं बतलाते यानी वेद विरुद्ध बताते हैं और अनुमान करते हैं कि उक्त आचार्य ने इस मत को शायद देश काल के मुताबिक अपने दाव को साबित करने के लिये बहुत खुदगर्ज आलिमों की तरह अपने जमीर के इल्म के खिलाफ जैनियों के इल्म के खंडन के लिये ही स्वीकार किया हो। और फिर अपनी राय का इजहार करते हैं कि ऐसी असाधारण अवस्था में यदि शंकर ने इस मत को स्वीकार किया तो अच्छा ही किया अर्थात् अनीति शिष्टाचार और धर्म के विरुद्ध नहीं किया, परन्तु सार्वदेशिक सभा की निगाह में करीब इसी प्रकार का कर्म उपयुक्त शास्त्र के विरुद्ध है यह समझ में नहीं आ सकता।

इसके अतिरिक्त यह बात विचारणीय है कि केवल जीव और जगत को अनादि मानने और ईश्वर को जगत्कर्ता न मानने से यदि जैनों का मत वेद विरुद्ध हो सकता है तो क्या जगत्कर्ता परमेश्वर ही एक अनादि सिद्ध मानकर जीव और जगत् को मिथ्या मानने में शंकराचार्य का मत वेदविरुद्ध नहीं हो सकता? मैं निस्संकोच कहूंगा कि इन दोनों मतों के वेदविरुद्ध होने में कोई भी शंका नहीं। फर्क सिर्फ इतना है कि शंकराचार्य वेदानुयायी थे और जैन वेद विरोधी। अर्थात् वेद का मानने वाला वेद विरोधी के मत के खण्डन के लिए वेद-विरुद्ध मत को स्वीकार करके उसको बतौर औजार इस्तेमाल कर सकता है और निर्दोष ठहर सकता है परन्तु पंडित बुद्धदेव मूर्ति पूजा जैसे स्पष्ट वेद विरुद्ध विषय के खण्डन के लिए एक वेद के अविरुद्ध क्रिया को बतौर औजार इस्तेमाल करने से निर्दोष नहीं ठहर सकते यह आश्चर्य ही है।

बहुत से लोग प्रश्न करते हैं कि क्या ऋषि दयानन्द मूर्तिपूजा के यहां तक खिलाफ थे कि कला शास्त्र के भी मुआफिक नहीं थे? मैं आज कहूंगा कि वह कलाशास्त्र के वहीं तक मुआफिक थे जहांतक कि वह हानिकारक न हो। इसी ओरहमें

(शेष पृष्ठ २६ पर)

व्यापार-डायरेक्टरी

आवश्यक वस्तुयें निम्न पते से खरीदिये—

असेम्बली में सरकार की हार

(पृष्ठ ४ का शेष)

जब देहली में रख ले । छः महीने बाद सरकार कुछ नहीं देगी, फिर भी उस स्टाफ ज्यों का त्यों रखना पड़ेगा ।

हरिजनो के लिये पानी की व्यवस्था

ग्राम-सुधार के लिए सरकारी सहायता का जो विवरण प्रकाशित हुआ है, उस मे हरिजनों के लिए पानी की व्यवस्था करने की मद खास तौर पर बिहार-उड़ीसा और आसाम के लिए हो रखी गई है, क्या अन्य प्रांतों की सरकारों को भी ऐसा करने की हिदायत की जायगी ? प्रो० रंगा के इस प्रश्न पर अर्थ-सदस्य ने कहा, मुझे इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि जो सरकारें पानी की योजना कर रही हैं, उन्हें हरिजनों का भी पूरा ध्यान है ।

क्वेटा का पुनर्निर्माण

श्री सत्यमूर्ति ने पूछा कि क्वेटा के पुनर्निर्माण के लिये क्या सरकार कर्ज लेने का विचार कर रही है ? इस पर अर्थ-सदस्य ने कहा कि इसके लिए आवश्यक रकम में से जितनी के लिए हाउस की इजाजत लेने की जरूरत होगी, उसे पेश किया जायगा । श्री सत्यमूर्ति ने कहा कि यह निश्चय करने से पूर्व कि क्वेटा को ही फिर से बसाया जाय या कोई और जगह चुनी जाय, क्या सरकार हाउस की राय लेगी ? परन्तु कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया गया ।

बेराडो-दुर्घटना पर ला-मेम्बर के रिमार्क

बेराडा (जबलपुर) में किंग्स-रेजिमेंट के गोरों द्वारा स्त्रियों और गांव वालों पर ढाये जाने वाले जुल्मों पर विचार करने के लिए सेठ गोविन्ददास द्वारा पेश किये जाने वाले स्थगित प्रस्ताव पर ला मेम्बर ने यह कहा था कि अभी मामला विचाराधीन है, सम्भव है यह सिद्ध हो जाय, उन्हों ने यह सब आत्म-रक्षा के लिए किया था । इस पर श्री सत्यनारायणसिंह ने आपत्ति उठाई कि यह तो अप्रत्यक्ष रूप से मुकदमा करने वाले मजि० को ऐसा निर्णय करने की प्रेरणा देना हुआ । पर ला-मेम्बर ने पूरा वाक्य उद्धृत करते हुए कहा कि मेरी यह मन्शा नहीं थी ।

अन्डमान के लिये गैरसरकारी निरीक्षक

होम मेम्बर सर हेनरी क्रेक ने कहा कि कालेपानी (अन्डमान) के लिये गैरसरकारी निरीक्षकों को एक बोर्ड नियुक्त करने के बारे में विचार हो रहा है । सर्दियों में वहां का चीफ कमिश्नर देहली आने वाला है तब इस बारे में और विचार होगा ।

पद और भारतीय

होम मेम्बरने एक वक्तव्य उपस्थित किया जिस में बताया कि भारत-सरकार के दफ्तर में ऊंचे ओहदों पर कितने हिंदुस्तानी और कितने गैर हिन्दुस्तानी हैं । १९२५ में कुल १४ सेक्रेटरियों, २ ज्वायन्ट सेक्रेटरियों, २० डिप्टी सेक्रेटरियों और १२ अण्डर-सेक्रेटरियों में हिंदुस्तानियों की संख्या क्रमशः २,०,३ और ६ थी । अर्थात कुल ४८ ओहदों में सिर्फ ११ हिन्दुस्तानियों को मिले हुए थे । १९३० में य संख्या यें क्रमशः १७,४,२०,१२ और ३,१,५,६ थीं अर्थात ४८ ओहदों में १८ हिन्दुस्तानियों को मिले हुये थे । और १९३५ मे इन का क्रम है '१,७,२०,१' तथा ४,२,६,६ अर्थात इस वर्ष भी कुल ५५ ओहदों में से सिर्फ २१ पर ही हिंदुस्तानी हैं, शेष सब गैर हिंदुस्तानियों को मिले हुए हैं ।

भारतीय सेना युद्ध के लिये तैयार नहीं हो रही

आर्मी सेक्रेटरी मि० टौटनहम ने कहा कि हिन्दुस्तानी फौज युद्ध के लिये तैयार हो रही है, यह खबर गलत है ।

भारतीय व्यापार

व्यवसाय सदस्य ने बताया कि सब से हाल के अंकों के मुताबिक (१) १९३४-३५ में भारत से युनाइटिड किंगडम (इंग्लैण्ड स्काटलैण्ड और वेल्स) को ४७.८१ करोड़ ८० का माल गया, जब कि १९३३-३४ में ४७.२१ करोड़ का गया था, अर्थात ६० लाख का ज्यादा गया । (२) युनाइटिड किंगडम से १९३४-३५ में ४३.७३ करोड़ का माल भारत में आया, जब कि १९३३-३४ में ४०.५६ करोड़ का आया था अर्थात ३१ करोड़ को ज्यादा आया । (३) ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशों को १९३४-३५ में भारत से २१४३ लाख का माल गया जब कि १९३३-३४ में २६ करोड़ का गया था, अर्थात ८.४१ करोड़ का कम गया । (४) साम्राज्य के अन्य देशों से १९३४ ३५ में ११, ६२ करोड़ का माल भारत में आया, जब कि १९३३,३४ में १०.११ करोड़ का आया था, अर्थात १.५१ करोड़ का अधिक आया । इस प्रकार साम्राज्यान्तर्गत देशों से आने वाले माल में ८.२ करोड़ ८० की वृद्धि हुई ।

व्यवसाय-सदस्य ने इस बात को मंजूर किया कि हिन्दुस्तान से बाहर जो माल गया उस में जापान में ज्यादा गया । जर्मनी, फ्रांस, इटली और टर्की को जाने वाले माल में बहुत कमी हुई है, मगर कुल मिला कर विदेशों को जाने वाले माल में वृद्धि हुई है ।

भारतीयों का अपमान

मलाया में मनाये जाने वाले ब्रिटिश सम्राट के रजत-जयन्ती समारोह का जो वर्णन पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है उस में के कुछ ऐसे वाक्यों की ओर ध्यान दिलाते हुए, जिन मे भारतीयों का अपमान होता है, श्री सत्यमूर्ति ने पूछा कि क्या सरकार उस पुस्तक को जब्त करने या इस लिये कोई कार्यवाही करने का इरादा रखती है ? इस पर सर गिरिजाशंकर बाजपेयी ने कहा— वहां रहने वाले भारतीयों ने इस सम्बन्ध में उज्र उठाया था जिस पर वहां के गवर्नर ने खेद प्रकाश कर दिया है और भविष्य में पुस्तक के उन अंशों को निकाल देने का आश्वासन दिया है इसलिये अब और कोई कार्यवाही नहीं की जायगी ।

जवाब नहीं दिया जा सकता

डा० खानसाहब ने पूछा कि सीमान्त में जगां खां की हत्या कराने में क्या सरकारी पोलिटिकल विभाग का हाथ नहीं है ? और श्री सत्यमूर्ति ने सरहद्दी कबीलों के प्रदेश के बारे में जानना चाहा । पर मि० अनेसल ने पहले प्रश्न पर आपत्ति की और दूसरे के बारे में कहा—मै इस सम्बन्ध में व्याख्यान माला शुरू कर सकता हूं पर प्रश्न का जवाब नहीं दे सकता ।

बेराडा (जबलपुर) में किंग्स रेजिमेंट के गोरे फौजियों द्वारा मचाये गये उत्पात के बारे में प्रो० सत्यमूर्ति ने पूछा कि जिन लोगों पर उस में भाग लेने का शुबहा था उन सब पर मुकद्दमा चलाया गया है और जंगीलाट मंत्री में अनुशासन का भाव दुरुस्त करने के लिये क्या करना चाहते हैं ? परन्तु सेना मन्त्री मि० टौटनहम ने जवाब देने से इन्कार करदिया ।

भारतीय सुवर्ण के लिये विदेशी कम्पनी

श्री आयंगर को जवाब देते हुए मि० मिचल ने कहा कि नीलगिरी की जनमन भूमि में से सुवर्ण निकालने की इजाजत 'विनाडगोल्ड डवलेपमेंट कम्पनी लिमिटेड' को दे दी गई है, जिस के डाइरेक्टर अंग्रेज और आस्ट्रेलियन हैं । यह पूछने पर कि यहीं कोई कम्पनी क्यों नहीं बनाई गई या सरकार ने स्वयं ही इस काम को क्यों नहीं उठा लिया, आपने कहा कि यहां से निकलने वाले कच्चे सुवर्ण में सोने का हिस्सा इतना कम होता है कि उस में मुनाफा नहीं हो सकता । 'फिर विदेशी कम्पनी ने क्यों यह काम उठाया ?' यह पूछने पर कहा,

—:०:—

दिल्लीका व्यापार

साप्ताहिक रिपोर्ट

चांदी भी सारे सप्ताह अस्थिर रही, कुछ न-कुछ परिवर्तन होते रहे । बाजार का नर्म रुख स्थिर रहा । आज चांदी का भाव ६६।≡) है, जब कि पिछले सप्ताह ६५॥। थी ।

कपड़ा

स्थानीय मिलों की हालत कुछ अच्छी रही । आगामी के लिये आर्डर खूब मिले । स्थानीय कपड़े के बाजार की हालत भी पहले से अच्छी रही ।

अनाज

अनाज के बाजार में स्थिरता रही । गेहूं का बाजार एक आना इधर उधर होता रहा । खरीफ की खड़ी हुई फसल की हालत अच्छी है । नहरी पानी दिया जा रहा है । भाव निम्नलिखित हैं :—

गेहूं सरबती	२॥।≥)॥
,, सफेद	२॥।)
चावल १	१६)
,, २	१२)
दालें उर्द	६)
,, मूंग	४।)
,, अरहर	७।)

बम्बई की कपास की रिपोर्ट

बम्बई—(२६०१ प्रतिशत) बुआई के रकबे का अन्दाजा पहली अगस्त तक १५५५००० एकड़ था जो कि पिछले वर्ष की संख्या से ३। प्रतिशत अधिक है । इसका कारण यह बतलाया जाता है कि बुआई के समय मौसम अच्छा रहा और पिछले वर्ष कपास का भाव भी करारा बना रहा । फसल अच्छी जमी है और मौसम अनुकूल होने की वजह से अच्छी तरह बढ़ रही है । पूर्वीय प्रांत में कुछ अधिक वर्षा होने को आवश्यकता प्रतीत हो रही है । नहर के इलाकों में फसल को कीड़ों से कुछ नुकसान पहुंचा है जो कि जून मास के अन्त की वर्षा से प्रायः सब मर मर गये हैं ।

———

श्री पं० बुद्धदेव जी और आर्य्य सार्वदेशिक सभा

(पृष्ठ २३ का शेष)

समुल्लास के नीचे वाले प्रमाण से यह सिद्ध हो जावेगा कि वह इस शास्त्र को भी एक मर्यादा में रखना चाहते थे—

'जो कोई धार्मिक राजा होता तो इन पाषाणप्रियों को पत्थर तोड़ने और बनाने और घर रचने आदि कामों में लगा के खाने पीने को देता निर्वाह कराता।"

यानी ऋषि दयानन्द बजरिये राजा के वह इंतजाम चाहते थे कि कोई कारीगर मूर्ति न बनाये ताकि जाहिल लोग कलाशास्त्र को झुलाग कर पूजा करने न लग जावें।

पाचवें कारण के सम्बन्ध में भली भांति जानते हैं कि "विरोध" सिद्ध करने के लिये किसी स्पष्टाज्ञा का, जो विधि रूप हो, भंग करना सिद्ध होना चाहिये—जब तक ऐसा न हो, तब तक कोई कर्म विरुद्ध कहा ही नहीं जा सकता। बहुत से काम ऐसे होते हैं कि वेद में न उनका विधान है और न निषेध ऐसे कर्मों को शास्त्रीय परिभाषा में अशिष्टाप्रतिषिद्ध कहते हैं (neither enjoir d nor prohibited) इस लिये यह निर्णय करने के लिए कि प० बुद्धदेव जी ने अमुक कार्य धर्मानुकूल किया है अथवा धर्मविरुद्ध किया है या इन दोनों से अलग अशिष्ट, प्रतिषिद्ध की गणना में आता है, मनु शास्त्रोक्त सभा के द्वारा ही होना चाहिये, ताकि नियम का भंग न हो।

इन कारणों की बिना पर मैं विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूं कि एक ऐसी धर्मापसभा द्वारा, जिस में आधे आदमी पं० बुद्धदेव जी के तजवीज किये हुये हों और आधे सार्वदेशिक सभा द्वारा नियत किये हुये हों- इस बात का निर्णय करावें कि उन पण्डित जी का यह कार्य धर्म विरुद्ध था कि नहीं, वर्ना कृपा करके पास हुए प्रस्ताव में से "धर्म-विरुद्ध" आरोप को निकाल दिया जाए। नीति व शिष्टाचारविरुद्ध के साथ मैं अविरोधपूर्वक समझौता कर सकता हूं, परन्तु धर्म विरुद्ध ने मुझे बड़ा बचैन किया हुआ है।

मेरा अपना विचार प० बुद्धदेव जी के सम्बन्ध में यह है कि — वह पांच जूते वाली उजड्ड दलील देने के अवश्य दोषी हैं और उनका तस्वीर तत्सम्बन्धी कार्य निहायत नकनियती से किया हुआ मौजूदा कानून के खिलाफ और असाधारणावस्था की नीति और शिष्टाचार के अविरुद्ध कर्म है धर्म विरुद्ध मानने में मुझे संकोच है।

अन्त में निवेदन है कि मैं ने यह लेख अपनी आत्मा की आवाज के मुताबिक लिखा है। किसी के विशेष राग या द्वेष के कारण नहीं। इस लिये मैं आशा करता हूं कि इन को ऐसा ही समझा जावेगा। है तो केवल इतना कि जो मेरा नाम है वही इनके पिता का नाम है।

सार्वदेशिक सभा का निर्णय

प्रधान सभा का वक्तव्य

श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार के सम्बन्ध में जो आन्दोलन हैदराबाद के शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में उठ रहा है वह शीघ्रता के साथ खत्म हो जावे, इसलिये तथा इसलिये भी कि अनेक स्थानों से पत्र आ रहे थे कि 'यह सभा अपनी सम्मति शीघ्र देवे" इस सभा ने ११।८ के लिये अन्तरंग सभा की बैठक बुलाई। मीटिंग का नोटिस ता० २ अगस्त को जारी हुआ था और साधारणतया दूर से दूर रहने वाले को भी सूचना मिलने के लिये यह समय काफी से अधिक था। ११।८ की बैठक में यद्यपि पं० बुद्धदेव जी उपस्थित नहीं थे परन्तु उन का वक्तव्य जो सविवरण आर्य वीर लाहौर में छपा वह तथा आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान महोदय का वक्तव्य भी अन्तरंग सभा में सुनाये गये थे। उनके सुनने के बाद ही सभा ने अपना निर्णय दिया। पं० बुद्धदेव जी को इस निर्णय के सम्बन्ध में दो शिकायतें हैं:—(१) यह निर्णय उनकी अनुपस्थिति में हुआ। (२) धर्म सम्बन्धी व्यवस्था इस सभा को नहीं अपितु धर्मार्य सभा को देनी चाहिये थी।

देहली में जब पं० जी थे तब उनको यह शिकायत मुझ तक पहुंचाई गई थी। मैंने पहली बात के सम्बन्ध में उसी समय प० जी को पत्र लिख दिया था कि आर्य्य वीर पत्र में छपा हुआ उनके नाम से जो वक्तव्य है यदि वह उनका नहीं है अथवा उस में कोई ऐसी बात छूट गई है जो यह सार्वदेशिक सभा को लिखते तो वे उसे लिख कर भेज देवें उस पर अन्तरंग सभा पुनः विचार कर लेगी परन्तु उनका कोई उत्तर जहां तक मुझे मालूम है नहीं आया। २२।८ के अर्जुन में छपे उन के वक्तव्य देखने से प्रगट हुआ कि उसमें आर्य्य वीर में छपे वक्तव्य की अपेक्षा कोई ऐसी नई बात जिस से उनकी सफाई हो सकती हो, नहीं है परन्तु फिर भी यदि पं० बुद्धदेव जी चाहें तो इस दूसरे वक्तव्य से भी छूटी हुई कोई बात अपनी सफाई की लिख कर भेज सकते हैं। सार्वदेशिक सभा का अगली अन्तरंग सभा ता० २९ सितम्बर को होने वाली है- उसमें उस पर विचार कर लिया जायगा। यदि पं० जी चाहें तो स्वयं उपस्थित होकर अपना बयान दे सकते हैं।

(२) धर्मार्य सभा में, केवल धर्म का नाम आजाने मात्र से, कोई विषय, प्रवेशनीय नहीं हो सकता। धर्मार्य सभा का नियम यह है कि जिसे सार्वदेशिकसभा भेजे उसी पर वह विचार कर सकती है। धर्मार्य सभा असाधारण शास्त्रीय विषयों पर विचार करने के लिये बनाई गई थी और ऐसा ही काम वह अब तक करती रही है। यह विषय बिलकुल साधारण और इस योग्य है कि सार्वदेशिक सभा की तो कथा ही क्या किन्तु कोई भी आर्य्यसमाज या प्रतिनिधि सभाएं इस पर विचार करके अपना निर्णय दे सकती हैं और दे रही हैं। इस लिये इस शिकायत में कोई सार नहीं है।

यदि प० बुद्धदेव जी ने कोई ऐसी बात अपनी सफाई की प्रगट न की जो अब तक उनके वक्तव्यों में न आ चुकी हो तो वे अपने ही अब तक के वक्तव्यों के आधार पर भूल करने के अपराध से मुक्त नहीं हो सकते और ऐसी अवस्था में इस भूल के लिये पश्चात्ताप करना ही आर्योचित व्यवहार हो सकता है।

मैं अन्त में समस्त आर्य्य पत्र-कारों से प्रार्थना करता हूं कि वे इस विषय में अब वाद विवाद खत्म कर दें। यदि कोई नई बात हुई तो २९—९—३५ को अन्तरंग सभा के बाद उसकी सूचना आर्य्य पत्रों को दे दी जायगी अन्यथा यह विषय समाप्त समझा जावे।

नारायण स्वामी
प्रधान
सार्वदेशिक आर्य्य प्रतिनिधि सभा,
बलिदान भवन, देहली।

(पृष्ठ ४ का शेष)

संधिपत्र का समर्थन करने से इटली और भी खिजा मालूम पड़ता है।

लड़ाई की तैयारियां

लड़ाई की तैयारियां जोरों से जारी हैं। इटालियन फौज अबीसीनिया की सीमा तक पहुंच भी गई। मि० लायड जार्ज ने तो कह भी दिया है कि 'मुसोलिनी अब किसी की अपील व बहाने नहीं सुनेगा, इसलिए राष्ट्रसंघ को उसके विरुद्ध कड़ा कार्यवाही करना चाहिए।' परन्तु मौ० लेवल अभी भी यह यत्न कर रहे हैं कि कोई ऐसा रास्ता निकल जाय कि इटली युद्ध से रुक जाय, इसके लिये उसे जो रियायतें देनी पड़ें उसके लिये वह ब्रिटेन को तैयार करने का भी इरादा रखते हैं। परन्तु मुसोलिनी ने तो ब्रिटेन की नीयत पर ही हमला कर दिया है, जबकि एक पत्र प्रतिनिधि से उन्होंने कहा कि ब्रिटेन अबीसीनिया को स्वयं हड़पना चाहता है इसलिये हमारे हाथ में उसका जाना से सहा नहीं है।

आधुनिक हिन्दी के तीन युग

(पृष्ठ १४ का शेष)

भाषा प्रवाह दिखलाई पड़ता है। कहानीका क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। बीसों कहानी लेखक पैदा होगये हैं। सैकड़ों सुन्दर कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं।

कविता-उपवन सभी प्रकार के सुन्दर सुमनों से सुरभित हो उठा है। नाटकों का निर्माण भी तेजी से हुआ है और हो रहा है। अध्ययन साध्य विषयों पर स्वतन्त्र निबन्ध लिखने वाले अनेक पैदा होगये हैं। इतिहास विज्ञान अर्थशास्त्र, दर्शन और विविध कलाओं के ज्ञाता दृष्टिगोचर होरहे हैं। द्विवेदीजी का लेखक समूह परिमित था, दुलारेलाल का अपरिमित है इस समय लगभग २०० प्रमुख हिन्दी कलाकारों के मध्यबिंदु दुलारे लालहैं। वह उनकी रचनायें धड़ाधड़ छापते हैं उनकी भाषा का संस्कार करते हैं, उनके विषयों का सम्पादन करते हैं, उनकी कविताओं, लेखों और पुस्तकों को शुद्ध करते हैं। इन सबके ऊपर यह कि यथासाध्य पारिश्रमिक भी देते हैं।

दुलार युग में प्रथम कदाचित् ही किसी लेखक को पुरस्कार मिलता हो और मिलता भी था, तो बहुत कम। दुलारेलाल ने क्रमशः गंगा पुस्तकमाला माधुरी, और सुधा निकाल कर पुरस्कार की रीति फैलाई। इससे सैकड़ों लेखकों का निर्वाह हुआ। लेखन कला व्यवसाय का रूप धारण करने लगी, और विशुद्ध साहित्यापजीवी अनेक व्यक्ति दिखाई पड़ने लगे। मासिक पत्र के सम्पादकों को ४००) तक वेतन मिला, और लेखकों को ८-१० रुपये प्रति पृष्ठ तक।

मौलिक रचनाओं का दुलारेलाल ने ढेर लगा दिया। इनमें से बहुत सी साधारण हैं, उनके लेखक अज्ञात, अकुशल हैं, परन्तु दुलारेलाल अपने युग के इन समस्त साहित्य-विद्यार्थियों को लेखक बनाते ही जा रहे हैं। गत कुछ वर्षों में उन्होंने हिन्दी में सबसे अधिक मौलिक पुस्तकें प्रकाशित कीं सबसे अधिक रुपया लेखकों को दिया। अभी दुलार युग का मध्यकाल ही प्रारम्भ हुआ है, किन्तु अब तक दुलारेलाल एक लाख से अधिक रुपया हिन्दी कलाकारों को पारिश्रमिक स्वरूप बाँट चुके हैं। इनमें वर्तमान काल के श्रेष्ठ साहित्यिक भी हैं, और कच्चे पक्के नौसिखिए भी, जिन्हें अन्यत्र पुरस्कार मिलना तो दूर जिन की रचनायें भी न छपतीं, और जो हिन्दी-क्षेत्र से निराश होकर अलग हो गए होते।

उन्होंने भाषा-संस्कार की अपनी अलग शैली बनाई है, जो छापने की कला की दृष्टि से बहुत सुविधाजनक और महत्व पूर्ण है। दुलारेलाल द्वारा सम्पादित प्रायः सभी ग्रन्थों में एक भाषा, एक शैली एक सा पद-विन्यास, शब्दों का एक-सा रूप आदि मिलेगा। यह उन का घोर अध्यवसाय है। वह एक विपरीत परिस्थितियों में डूबा हुआ नवयुवक कवि है जिस की भावना बहुत ऊँची है, जिस में परिश्रम करने की असाधारण शक्ति है जो हिन्दी के विराट स्वरूप को चरितार्थ करने के स्वप्न देखता है, जो असाध्य साधन की कल्पना कर रहा है जो अपनी साहित्यसेवा से सन्तुष्ट नहीं।

गंगा पुस्तकमाला, माधुरी और सुधा द्वारा, जो दुलारेलाल की ही चीज है उदीयमान मौलिक लेखकों ने साहित्य साधना का प्रशस्त मार्ग ही नहीं, आजीविका भी पाई। इस के बाद तो फिर हिन्दी पत्रिकाओं की बाढ़ बह चली। माधुरी के प्रकाशन के एक वर्ष बाद सरस्वती अपनी गाढ़ निद्रा से चौंकती हुई। उस ने अपना कलेवर बदल डाला। जो अन्य पत्रिकाएं प्रचलित हुईं, सभी माधुरी सुधा के आदर्श पर। प्रत्येक में प्रतिस्पर्धा के भाव उत्पन्न हो गये, और वे अभी तक हैं।

दुलारेलाल ने केवल बीसों के गद्य और पद्य के मौलिक लेखक ही पैदा नहीं किये, और साहित्य का पहाड़ ही नहीं खड़ा किया प्रत्युत उन्होंने हिन्दी में एक और भी महत्व पूर्ण बात की। खड़ी बोली के नवीन युग में प्राचीन ब्रजभाषा का काव्य सुधा बह गई थी। प्राचीन कवियों और लेखकों को लोग भूले जा रहे थे। उन कवि कोविदों से लेख और पुस्तकें लिखवाकर वह फिर उन्हें हिन्दी संसार के सम्मुख लाये। इन कृतविद्य कलाकारों में प्रेमघनजी राधाचरणजी गोस्वामी लालासीतारामजी, रत्नाकर जी एवं किशोरी लाल जी गोस्वामी आदि मुख्य हैं। दुलारेलाल ने ब्रजभाषा की मुरझा रही बेल को फिर रस सिंचित किया। उनकी रचना में मौलिकता तो थी ही, उन्होंने अचानक अपनी अप्रतिम कवित्वमेधा दिखा कर हिन्दी-संसार को चमत्कृत कर दिया। उन्होंने बिहारी की शैली पर सरसमय दोहों का एक अनोखा संग्रह प्रकाशित कराया। इस दोहावली ने ब्रजभाषा का सर्वप्रथम देव पुरस्कार [illegible] आधुनिक जाग्रित कवियों में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुए। यह एक ऐसी अद्भुत घटना थी कि हिन्दी-संसार में क्षोभ मच गया। कुछ कलुषित हृदय लोगों ने उन्हें इस सम्मान से वंचित करने के लिये आन्दोलन उठाया, परन्तु प्रायः समस्त हिन्दी संसार ने इस काव्य-ग्रन्थ की मुक्त कंठ से प्रशंसा की, और पुरस्कार के साहसी एवं मर्मज्ञ निर्णायकों ने इस अनुचित और असामयिक आन्दोलन की ओर ध्यान न देकर दुलारेलाल को इस परम सम्मान से पुरस्कृत किया।

दुलारेलाल की यह सोई हुई कवित्व-शक्ति, मालूम होता है, एकाएक ही जाग्रत हुई है। दुलारे दोहावली में महाकवि बिहारी की शैली अवश्य है, पर उद्भावनाएं नवीन और मौलिक हैं। उस में शृंगार ही नहीं, तत्वज्ञान, समाज राजनीति विश्व दर्शन, प्रकृति निरीक्षण और अध्यात्म भी है। अश्लीलता नहीं है वह इतनी परिष्कृत अलंकारिक और सरस है कि निस्सन्देह आधुनिक युग में सर्वाधिक श्रेष्ठ है।

परन्तु जिस प्रकार मौलिक साहित्य-सृजन और प्रचार की दृष्टि से दुलारेलाल का मध्य युग है, काव्य की दृष्टि से तो दुलारेलाल का बाल्य काल ही है। अचानक जो प्रतिभा उनकी दोहावली में प्रस्फुटित हुई है, वह एक दिन इस प्रकार पल्लवित होगी कि हिन्दी-साहित्य उसके रस से शताब्दियों तक प्लावित रहेगा यह तो सत्य ही है कि पिछले ५० वर्षों में हमारी भाषा (खड़ी बोली) ब्रजभाषा से बहुत भिन्न होगई है। उसके मुहाविरे और संस्कार तक बदल गये हैं। बिहारी के काल में वह लौकिक भाषा थी। मुड़ चुकी हुई

(शेष पृष्ठ [illegible] पर)

विधवाओं की चिन्ता

(पृष्ठ १२ का शेष)

वासनाओं में पड़ कर कितनी ही हिन्दू विधवाओं ने विधर्मियों से सन्तान प्राप्त कर उन्हें हिन्दु कल्पतरु माता के पदपंकज पर कुठाराघात करने के लिये शिक्षित किया है। एक एक विधवा ने अधिक से अधिक सन्तान पैदा करके विपक्ष जातियों की अभिवृद्धि और हिन्दु जाति की अकथनीय क्षति की है। हिन्दू कुल में विधवाओं का सुगमतापूर्वक जीवनचर्या धर्म रक्षा, के साधन उनकी बढ़ती हुई मानसिक एवं शारीरिक प्रबलताओं को ठीक उपचारता सुलभ न होने के कारण वे अन्यकुल गामिनी होकर भ्रष्ट होती जाती हैं।

आर्य जाति के प्रत्येक परिवार में सहस्त्रों कुरीतियाँ विषधर बन कर डस जाती हैं। विधवा विवाह नाक काटने वाली प्रथा बताई जाती है हिन्दुकुल में विन विधवाओं के दर्शन यम-यातना स्वरूप दुःखमय और अमंगलजनक बतलाये जाते हैं वह पवित्र हिन्दुस्तान की विधवाओं को अपनी जाति के लिये अन्य जातियों के धर्म पूजा पात्र बनकर द्वार पर खड़ा प्रतीक्षा करता रहता है किन्तु उन हतभाग्य जाति द्रोहियों कर निकाल देते हैं उन्हें भाग्यशाली जातियाँ हृदय से लगा कर हृदयगामी बना लेती है। उन से अनेक लाभ और सुख उठाती हैं।

प्रधान नगर और भाग्यशाली कस्बा में भी हो जाति के अमर शहीद ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और स्वामी दयानन्द सरस्वती के उज्वल ज्ञान प्रकाश और सुधार की चारों ओर पहुंच सका है वहाँ विधवाओं के लिए सुन्दर सञ्चालित आश्रम विद्यालय पुनर्विवाह तक के अनेक सुगम साधन उपस्थित हैं विधवायें अपने २ मनभिलषित कार्यों में रह कर मनोविनोद में व्यस्त हो वैधव्य को भुला कर जीवन के दिन बिता रहीं हैं। परन्तु उन विधवाओं के लिये है जो छोटे २ ग्रामों में हठ धर्मियों की मक्कार पंक्तियों के आतंक में शिक्षावहीनता का कलुषित यामिनी में असह्य दुःख भोगती हैं। इन्हीं में विधवाओं का जीवन घोर दुःखमय होता है। जिस समय नववधू बाप-मात गृह में अपने बचपन को सहेलियां, भावज ननद श्वसुर गृह ननद जेठानियां को सुख राग रंजित देखती हैं। उस समय उनके हृदय उनके बस में नहीं रहते। वे जीवन को भारवत् समझ कर अन्य मार्ग में जुट जाती हैं। जिस मार्ग निर्णय पर वह पद रखने लगती हैं वही मार्ग हिन्दु कुल के लिए घातक बन बैठता है। इसलिए प्रत्येक देश विशेषतः गढ़वाल सदृश जिले के होनहार नौनिहालों को जिनके हृदय में अपनी जाति के लिए कुछ भी तड़प है उन्हें चाहिए कि वे अपने समाज में ऐसी लहर पैदा करें जिससे कि समस्त विधुर और अविवाहित नौजवान विधवाओं के पाणिग्रहण का सत्कार करके उन्हें चिर सुखिनी बना कर अक्षय पुण्य प्राप्त करें। बाधाओं की चिन्ता न करते हुए कर्तव्य पालन अपने इष्टदेव के समतुल्य जाय तो देश और विधवा दोनों का भारी कल्याण हो सकता है।

सोमवार २३ सितम्बर सन् १९३५ ई० : Monda 23rd September 1935

वार्षिक मूल्य ३॥)] सम्पादक—कृष्णचन्द्र विद्यालंकार एक अङ्क का मूल्य -)

विषय-सूची

साप्ताहिक डायरी

१४ सितम्बर

—पूना में पुलिस ने एक दुकान पर छापा मारकर २१ सट्टे वालों को गिरफ्तार कर लिया।

—बर्लिन की एक खबर से ज्ञात हुआ है कि श्रीमती कमला नेहरू की कोठी में अधिक पसीना निकलने के कारण श्वास की गति ठीक हो जाने से उन की तबीयत पहिले की अपेक्षा अच्छी हो गई है। आप का तापमान घट गया है तथा आप अधिक आहार लेने में समर्थ हो गई है।

—अमरीका के प्रधान मन्त्री श्री० .ट ने देश की आर्थिक विषमता पर प्रकाश डालते हुए ओटावा से अपने ब्रॉडकास्ट भाषण में कहा कि 'धनियों की स्वयं प्रेरित उदारता आवश्यक होते हुए भी अपर्याप्त है। इसलिये अधिक रूप से उन पर टैक्स लगाने चाहिये। पूंजी राष्ट्र और प्रजा की सेवा में हो लगनी चाहिए।

१५ सितम्बर

—कोलम्बो में मि० विलियम स्माल नामक एक प्रख्यात शिल्पकार की मोटर एक अन्य मोटरकार से टकरा गई। जिस से मि० स्माल की मृत्यु हो गई।

—करांची की खबर है कि महाराजा काश्मीर डाक के वायुयान द्वारा आज लन्दन से वापिस भारत आ गए।

१६ सितम्बर

—रंगून के एक बाजार में भीषण आग लग जाने से २३ मकान जलकर खाक हो गए। नुकसान का अन्दाजा ३ लाख रुपये का लगाया जाता है।

—दिल्ली म्यूनिसिपल कमेटी के ...री ने म्यूनिसिपल-कमेटी के ... की आजादी को रोकने के ...उनके मताधिकार पर अधिक पाबन्दियां लगाने का प्रस्ताव रखा है।

जापानी मंत्रिमण्डल को बम से उड़ाने तथा राजनीति व अर्थ के नेताओं का खून करने के लिये एक भीषण षड्यन्त्र की तैयारी हुई थी। उस का विस्तृत रहस्य अब खुला है। इस सम्बन्ध में २४ व्यक्तियों पर केस चल रहा है।

—जर्मनी में एक ऐसा कानून बना दिया गया है कि कोई भी ... कहीं किसी आर्य लड़की को नोकर नहीं रख सकेगा। इस से १०००० यहूदी-भिन्न लड़कियां और स्त्रियां बेकार हो जायेंगी।

—सिकराय गांव (जयपुर) में एक खेत पर दो दलों में दंगा हो गया। जिस से एक व्यक्ति मरा और ४ घायल हो गए।

—क्वेटा में माल की खुदाई का काम जारी है। अभी तक ७॥ लाख रुपयों का माल असबाब तथा धन इमारतों से निकाल कर उनके मालिकों को सौंपा जा चुका है।

१७ सितम्बर

—आसाम कौंसिल ने १९३५ के आसाम क्रिमिनल ला एमेण्डमेंट बिल की धाराओं पर विचार करके उसे स्वीकार कर लिया।

—अहमदाबाद की खबर से ज्ञात हुआ है कि बम्बई सरकार ने बारडोली आश्रम को, जिसे सरकार ने सत्याग्रह आन्दोलन के दिनों में अपने कब्जे में कर लिया था, कांग्रेस को वापिस देने का फैसला कर लिया है।

१८ सितम्बर

—कौंसिल आव स्टेट में सर एम० चोकसी का प्रस्ताव फीरोज सेठना के संशोधितरूप में ११ के विरुद्ध २४ मतों से स्वीकृत हो गया। प्रस्ताव में सरकार से अनुरोध किया गया है कि वह रद्दी तथा नकली औषधियों की बिक्री रोकने के लिये प्रभावशाली कानून बनाए।

—बम्बई पुलिस ने रूस से आए हुए कम्यूनिस्ट साहित्य की खोज में २० से अधिक मजदूर नेताओं जिन में मेरठ षड्यन्त्र केस के भू०पू० अभियुक्त श्री० निम्बकर श्री० जोगलेकर भी शामिल हैं, के मकानों की तलाशी ली। पुलिस बहुत से आपत्तिजनक कागजात अपने साथ ले गई।

—आगरे में पुलिस कप्तान की नई आज्ञानुसार २० सितम्बर से पुलिस एक्ट की दफा ३० फिर लग जायगी। इसके अनुसार कोई भी पुलिस कप्तान से लायसेन्स लिए बिना जलूस नहीं निकाल सकेगा।

सूचना

—*—

'साप्ताहिक अर्जुन' का आगामी ४४वां अङ्क पाठकों के सम्मुख महिला-अङ्क के रूप में आयगा। ३० सितम्बर के अङ्क की 'अर्जुन' छुट्टी लेगा। ७अक्टूबर को साधारण अङ्क पाठकों की सेवा में न पहुंच कर महिला-अङ्क पहुंचेगा। पाठक तथा एजेन्ट नोट करलें।

—व्यवस्थापक

—शहीदगंज आन्दोलन के सम्बन्धमें सरकार ने रावलपिंडी में दो मुस्लिम नेताओं को गिरफ्तार कर लिया।

—कुम्भकोणम् में एक आदमी ने, जो पुलिस की हिरासत में कहीं ले जाया जा रहा था, भागने की कोशिश में असफल होने पर, पुलिस वालों पर हमला कर दिया। पुलिस वालों ने आत्मरक्षा के लिये गोली चलाई जिस से उक्त व्यक्ति मर गया।

—सिसली द्वीप के पास से रात में एक भारी बवन्डर उठा और ब्रिटिश आइल्स की ओर अग्रसर हुआ। इस से ब्रिटेन में आतंक छा गया। शहरों में तारों और वृक्षों से सड़कें पट गई हैं। जहाज भी मुसीबत में हैं। एक जहाज तो डूब भी गया है। तूफान अभी शान्त नहीं हुआ।

—शिमला की खबर है कि श्री० सत्यनारायणसिंह एम० एल० ए० का क्वेटा सम्बन्धी पत्रव्यवहार प्रकाशित करने के विषय में आवश्यक प्रश्न अस्वीकृत हो गया। उन्होंने पुनर्विचार के लिये प्रार्थना की है।

—बम्बई के आसपास कई गांवों में जोर का भूकम्प हुआ। ४५ सेकिण्ड तक जमीन हिलती रही।

—मदरास के प्रामाणिक क्षेत्रों से ज्ञात हुआ है कि कोचीन बन्दरगाह के शासन प्रबंध के प्रश्न पर सरकार तथा कोचीन व ट्रावन्कोर के दरबारों में समझौता हो गया। बन्दरगाह का नियंत्रण कोचीन दरबार के हाथ में रहेगा।

१९ सितम्बर

—ब्रिटेन में हवाई तूफान से टेलीफोन की ११००० लाइनें खराब हो गई हैं।

—स्टेट्समैन की खबर है कि फीरोजपुर में रहने वाले संसार के सब से बूढ़े आदमी की मृत्यु हो गई। १०० वर्ष की आयु होने पर इसके बाल काले हो गये थे और दांत नए निकल आये थे। यह व्यक्ति ७८ वर्ष तक पेंशन पाता रहा।

—कोलम्बो की खबर है कि गत ५ महीनों से बान्दरा बेला में पानी नहीं बरसा है जिस से वहां सूखा पड़ने के आसार नजर आ रहे हैं।

—अमरोहा (यू० पी०) में ३ दिन को भीषण वर्षा से नदी नालों में बाढ़ आ गई है। चार स्थान पानी से भरे पड़े हैं। सड़कें टूट गई हैं। खेती भी नष्ट हो गई है।

—बम्बई में शेयर मार्केट को अनिश्चित काल के लिये बन्द कर दिया गया है। कारण, सट्टे वाले स्टाक का मूल्य गिरा रहे थे और एक बड़ी जबरदस्त समस्या पैदा हो गई थी।

—बम्बई प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के इस निर्णय को कि ओहदे स्वीकार करने के सम्बन्ध में विचार करने के लिये, कोई कानफरेन्स न की जाय, ठुकराकर कांग्रेस साम्यवादियों ने कानफरेन्स करने जो प्रयत्न किया है उसके लि... प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी उन... विरुद्ध अनुशासन सम्बन्धी कार्यवाही करेगी।

ऊपरी आस्ट्रिया के लिंज नामक स्थान पर एक ऐसे षड्यन्त्र का पता चला है, जिसमें १० प्रमुख राजनीतिज्ञों को कत्ल करने की कोशिश की गई थी।

—इलाहाबाद की खबर है कि सरदार शार्दूलसिंह कवीश्वर का कांग्रेस-कार्यसमिति की सदस्यता से स्तीफा स्वीकार कर लिया गया है।

—लखनऊ कांग्रेस कमिटी के सदस्यों में मतभेद बढ़ता ही जा रहा है। वाइस प्रेसीडन्ट श्रीमती मिस्त्र तथा अन्य कुछेक मेम्बरों ने नगर कांग्रेस कमेटी से स्तीफा दे दिया है।

—न्यू-गायना को जाने वाले तीन ब्रिटिश वायुयानों में से दो वहां पहुंच गए हैं। तीसरा वायुयान लापता बतलाया जाता है।

—खागा तहसील(फतेहपुर)के प्रमुख जमींदार ला०शिवनारायणसिंह अपने दो मित्रों के साथ हटगांव पुलिस स्टेशन से घर लौट रहे थे। मार्ग में कुछ अज्ञात व्यक्तियों ने उन्हें लूट लिया और गोली से मार दिया।

२० सितम्बर

—दिल्ली के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट व डिप्टी कमिश्नर ने एक विज्ञप्ति निकाल कर ता० २२ सितम्बर से एक मास के लिये दफा १४४ लागू करदी है।

—मोतीहारी से खबर मिली है कि गण्डक नदी में बहनवा घाट के पास एक देशी नाव के उलट जाने से ३० व्यक्ति पानी में बह गये। उन में एक डाक हरकारा भी था। ... स्त्रियों की लाश मिल चुकी ... फैक्टरी

———

असेम्बली

वायसराय की सिफारिश ठुकरा दी गई

काला कानून फिर रद्द

शुरू से आखिर तक धोखा ही धोखा

इस सप्ताह असेम्बली के अधिवेशन में पहले दिन को छोड़ कर कोई विशेष हल-चल नहीं रही। पहले दिन वायसराय का भाषण हुआ, उस में आप ने विविध विषयों पर चर्चा करते हुए कहा—

गिलगित वजारत का सिन्ध-नदी पार का इलाका काश्मीर-राज्य से भारत सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया है। उसका स्वामित्व तो अभी भी काश्मीर का ही होगा, पर नियन्त्रण और व्यवस्था सम्पूर्ण रूप में सरकार का होगी।

सिनकियांग या चीनी तुर्किस्तान की परिस्थिति अभी तक अनिश्चित है और वहां का आन्तरिक ... के फलस्वरूप कराकारम के रास्ते चीन और भारत में पुराने जमाने में जो व्यापार होता आ रहा था, वह रुक गया है।

भारत के विदेशिक व्यापार के बारे में आपने ने कहा कि संसार की परिस्थिति में अभी तक कोई सुधार नहीं हुआ है, उलटे इटली व जर्मनी में बाहर से आने वाले माल पर रुकावट लगा दी, फिर भी ... तक भारत में सम्बन्ध है, इस वर्ष के प्रथम चार महीनों में गत वर्ष (१९३३) के इन चार महीनों में ४। करोड़ का माल ज्यादा गया है। अलबत्ता जापान ने इस साल गत वर्ष से २॥ करोड़ का माल कम खरीदा है।

नये शासन-विधान का उल्लेख करते हुए आपने इस बात पर गौरवानुभव किया कि समस्त भारत को एक सूत्र में बद्ध करने का जो प्रयत्न अशोक के वक्त में होता आ रहा था पर पूरा नहीं हुआ था वह आपका वायसरायलटी में ... यह कानून बनने के रूप में हुआ है।

"वैध उपायों को छोड़ देने या खाली विध्वंस की भावना से विधान पर अमल करने में कोई लाभ न ... ।" यह कहते हुए आपने दो ... में नये विधान को अपनाने की सलाह दी—(१) इसमें भारत ... में आबद्ध होता है और ... साम्राज्यान्तर्गत उपनिवेश जिस राजनीतिक सत्ता का उपभोग कर रहे हैं उसको पूर्णरूप से प्राप्त करने की यह आवश्यक और सर्वोत्तम भूमिका है। वैध उपायों को छोड़ देने से तो," आपने कहा, "न हमें पहले ही कुछ हाथ आया है और न भविष्य में ही कभी कोई नतीजा हासिल हो सकता है।"

अन्त में साम्प्रदायिक वातावरण की विभीषिका उपस्थित कर 'ब्रिटिश भारत की शान्ति, सुरक्षा व भलाई' के नाम पर क्रिमिनल ला अमेंडमेंट बिल को स्वीकार कर लेने की अपील करते हुए आपने अपना भाषण समाप्त किया।

शाम को असेम्बली में बिल फिर पेश हुआ।

विरोधी-दल के नेता श्री भूलाभाई देसाई ने विरोध करते हुए कहा,—

हम लोगों में थोड़ा-बहुत भी वैधानिक भावना है तो अपने गुरुवार के निश्चय का खयाल करके हम इस को पेश नहीं होने देंगे।

मत लेने पर ५७ के विरुद्ध ६७ मतों से बिल को पेश करने का प्रस्ताव रद्द हो गया।

क्रिमिनल ला अमेंडमेंट एक्ट का रद्द करना

क्रिमिनल ला अमेंडमेंट एक्ट (१९०८) को रद्द करने के श्री भुवनेश्वरदास के बिल पर, साढ़े पांच महीने के बाद, मंगलवार को फिर बहस शुरू हुई।

पिछली बार ला-मेम्बर सर नृपेन्द्रनाथ सरकार का भाषण पूरा नहीं हो पाया था, अतः उन्होंने उसे पूरा किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि आतंकवाद न तो दमन से मिट सकता है और न शासकों को न्याय के अधिकार सौंप देने से। लेकिन आवश्यकता से विवश होकर दमनकारी कानून बनाने ही पड़ते हैं।

समर्थन और विरोध

ला० शामलाल ने, जो ऐसे मामलों में सफाई के वकील रह चुके हैं, जुडीशियल रिकार्डों से कुछ

(शेष २६ पर)

उपसमिति की रिपोर्ट ठुकराई जायगी

इटली लड़ने के लिये तैयार

लड़ाई की हलचल

इटली अबीसीनिया की चर्चा अभी तक कठिन ही होती जा रही है। पांच राष्ट्रों की जो उपसमिति बनी थी, उस की रिपोर्ट तैयार हो गई है।

रिपोर्ट में क्या

कहा जाता है कि कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में निम्न सिफारिशें भी की हैं—

(१) अबीसीनिया के शासन प्रबन्ध की विभिन्न शाखाओं के लिये सलाहकार नियुक्त किये जायं। उक्त सलाहकार किस किस देश के होंगे, यह रिपोर्ट में बतलाया गया है।

(२) इटालियनों तथा अन्य विदेशियों की रक्षा की योजना रखी जाय और इटालियन सीमाओं की रक्षा का विश्वास दिलाया जाय।

(३) ब्रिटिश व फ्रेंच सोमालीलैंड के कुछ हिस्से छोड़े जायं।

दोनों देशों की सरकारें इस पर विचार कर रही हैं। 'डेलीमेल' के रोम स्थित सम्वाददाता से इटली के तानाशाह सीनयार मुसोलिनी ने ५ राष्ट्रों की कमेटी के प्रस्तावों के बारे में निम्न प्रकार कहा है:—

राष्ट्र संघ की योजना केवल अस्वीकार्य ही नहीं बल्कि उपहासजनक भी है। ×××× कमेटी ने यह समझा है कि इटली अफ्रीका के रेगिस्तान का संग्रहकर्ता है!

रोम में यह अफवाह जोर पकड़ रही है कि इटली का मन्त्री मंडल राष्ट्र संघ की कमेटी द्वारा पेश की गयी समझौते की योजना को ठुकरा देगा और बाद को समझौते की कोई बातचीत नहीं शुरू करेगा

यह भी खबर है कि इटली युद्ध शुरू करने के लिये कोई नियमित घोषणा नहीं करेगा, बल्कि किसी छोटी सी घटना को लेकर संग्राम प्रारम्भ कर देगा।

५ राष्ट्रों की कमेटी की योजनायें अबीसीनिया के सम्राट के पास पहुंच गई हैं। कहा जाता है कि सम्राट उक्त योजना को स्वीकार कर लेगा। इस बारे में विचार करने के लिये सम्राट ने अपने मन्त्री मण्डल की एक विशेष बैठक बुलाई है।

(शेष पृष्ठ २५ पर)

म० गांधी फिर लौटेंगे?

'हिन्दुस्तान टाइम्स' को मालूम हुआ है कि म० गांधी बहुत सम्भवतः राजनीति में पुनः प्रवेश करेंगे।

गान्धीजी के पुनः राजनीतिक क्षेत्र में आने की सम्भावना इसलिये है कि जिन कामों के लिये वह पृथक हुये थे सब अब जम चले हैं।

ग्राम-उद्योग-संघ अपने पैरों पर खड़ा होगया है, उसके लिये ऐसे कार्यकर्ता और साधन जुट गये हैं कि महात्मा गान्धी की अनुपस्थिति में भी काम चलता रह सकता है। हरिजन-कार्य निर्बाध रूपसे हो रहा है और खादी कार्यक्रम में भी सन्तोषजनक प्रगति हो रही है।

यह भी याद रखने की बात है कि म० गांधी हमेशा के लि... नीति से नहीं हटे हैं, ... अलग होते समय उन्होंने यही था कि जब मैं यह समझूंगा देश की आजादी की लड़ाई में उपयोगी हो सकता हूं तभी पुनः कांग्रेस में आऊंगा।

लेकिन यह सब अभी है सिर्फ कल्पना, यह सही होगी या नहीं, यह तो तभी पता चलेगा जब कि इस साल के अन्त में म० गांधी वर्धा छोड़ेंगे।

पं० रामचन्द्र का अनशन

पशु-बलि का विरोध

पं० रामचन्द्र शर्मा ने कलकत्ते के काली-मन्दिर में पशु-बलि होने के विरोध में गत ५ सितम्बर से आमरण अनशन शुरू कर दिया है। उन की प्रतिज्ञा है कि जबतक उस मंदिर में पशु-बलि बन्द नहीं होगी, तबतक मेरा अनशन जारी रहेगा। पशु-बलि हिन्दू धर्म के विपरीत है। म० गांधी तथा राजेन्द्र बाबू ने अनशन का विरोध किया। लेकिन उन्होंने नहीं माना। कलकत्ते और विशेष कर मारवाड़ियों में इस की बड़ी चर्चा है। खूब सभायें हो रही हैं, परन्तु बंगालियों पर अभी इसका बहुत कम प्रभाव पड़ा है।

श्री रामचन्द्र शर्मा का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया है। मुंह में से खून निकलने लगा है, १०० तक ज्वर रहने लगा है और भी तकलीफ हो रही हैं। यदि अनशन कुछ अधिक समय तक चला तो कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ेगा। कुछ मारवाड़ी-युवक मन्दिर पर पिकेटिंग लगाने की भी सोच रहे हैं। इस लिए मजिस्ट्रेट ने १४४ धारा लगा दी है।

सोमवार ता० २३ सितम्बर १९३५ ई०

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्

विशेष अधिकारों का दुरुपयोग

(ले०—इन्द्र विद्यावाचस्पति)

भारत सरकार दमन-कानून (क्रिमिनल ला अमेण्डमेंट बिल) को असेम्बली से स्वीकार कराना चाहती थी। असेम्बली ने बहुसम्मति से उसे अस्वीकार कर दिया। वायसराय ने उसे फिर अपनी जबर्दस्त सिफारिश के साथ असम्बली के पास भेजा। असेम्बली ने फिर बहुसम्मति से गिरा दिया। पहली बार विरोधी मतों में १० की अधिकता थी, दूसरी बार वह बढ़ कर १२ हो गई। इस प्रकार देश के प्रतिनिधियों ने दो बार अपना मत स्पष्ट-रूप में प्रकट कर दिया।

यह तो सर्वसम्मत बात है कि वर्तमान असेम्बली पूरी तरह देश के प्रतिनिधियों की सभा नहीं है, उसे हम प्रतिनिधियों की सभा कह सकते थे, यदि उस के सभी सदस्य चुन हुए होते। परन्तु इस समय तो सभासदों का एक बहुत बड़ा हिस्सा सरकार का नौकर है, और एक दूसरा बड़ा हिस्सा सरकार द्वारा मनोनीत होने के कारण सरकारी ही है, ऐसी असेम्बली ने दो बार प्रस्तावित दमन-कानून को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। जिसका अभिप्राय सर्वथा स्पष्ट है कि देश दमन कानून को नहीं चाहता।

किसी भी सभ्य देश में असेम्बली के दोबार विरुद्ध मत प्रकाशन का यही परिणाम होता कि वह प्रस्ताव भूमि की बड़ी गहराई में दफना दिया जाता, परन्तु भारतवर्ष चमत्कारों की भूमि है, यहां परस्पर विरुद्ध अनहोनी बातें दिन रात सम्भव होती दिखाई देती हैं। असेम्बली द्वारा दोबार ठुकराये हुए बिल को अपनी सहीसे प्रकाशित करके वायसराय ने इस प्रस्ताव को स्वीकृति की सिफारिश के साथ कौंसिल आव स्टेट में भेज दिया है। कौंसिल आव स्टेट सरकार का गढ़ समझा जाता है, इस कारण सम्भव है, वहां दमन कानून पास होजाय, परन्तु उससे यह सिद्ध न होगा कि देश उस काले कानून को स्वीकार करता है। कौंसिल आव स्टेट की तो उपयोगिता ही यह है कि सरकार को सर्वसाधारण के लोकमत के विरुद्ध सहारा मिलता रहे, उसका मत प्रजा का मत नहीं है वह तो कुछ धनी लोगों का मत है। आशा तो यह की जाती है कि ऐसी कौंसिल आव स्टेट भी शायद दमन कानून को अस्वीकार कर दे।

फिर क्या होगा?

फिर वायसराय महोदय उस कानून को अपने विशेष अधिकार से स्वीकार करके कानून की पुस्तक में चिपका देंगे। पूछा जा सकता है कि देश के सामने ऐसी क्या विकट परिस्थिति आगई है कि लोकमत का सर्वथा तिरस्कार करके वायसराय अपने विशेष अधिकारों का उपयोग में लाये, और दमन कानून को स्वीकार करें? न देश के अन्दर कोई गड़बड़ है, और न बाहिर से कोई आक्रमण हो रहा है। असाधारण परिस्थिति तो दो ही तरह से पैदा हो सकती है। अन्दर से या बाहिर से। देश का राजनीतिक जीवन बिलकुल मंथरगति से चलता प्रतीत होता है, और भारत की सीमाओं को कोई खतरा नहीं, फिर वायसराय को अपने विशेष अधिकारों के प्रयोग की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई?

नये शासन विधान में भी वायसराय को दो विशेष अधिकार दिये गये हैं, वह धारा सभा द्वारा स्वीकार किये गये प्रस्ताव को रद्द (Veto) कर सकता है और धारा सभा द्वारा अस्वीकार किये गये प्रस्ताव को स्वीकार (Certify) कर सकता है। यह दोनों विशेष अधिकार उसे नये विधान में भी प्राप्त रहेंगे। इन विशेष अधिकारों पर प्रारम्भ से भारत-वासियों की ओर से आक्षेप किया गया है। कहा गया है कि इन विशेष अधिकारों से तो प्रजा के मत का सर्वथा विघात होता है, उसका कोई मूल्य ही नहीं रहता। इस आक्षेप का उत्तर सरकार की ओर से यही दिया जाता है और नये विधान में लिखा भी यही है कि यह विशेष अधिकार बहुत कम, विशेष अवस्थाओं में ही व्यवहार में लाये जायंगे, परन्तु हम देखते हैं कि उन अवस्थाओं की विशेषता का निर्णय सर्वथा अधिकारियों की मर्जी पर है और उनकी संख्या भी कम नहीं है। देश में कोई विशेष परिस्थिति नहीं है, लोकमत दमन-कानून के सर्वथा विरुद्ध है, फिर भी आश्चर्य है कि वायसराय उसे अपनी मुहर द्वारा अंगीकार करना आवश्यक समझते हैं।

ब्रिटिश गवर्नमेंट चाहती है कि भारत वासी उसकी बात पर विश्वास करें। भारत सचिव और वायसराय बार-बार दुहराते हैं कि भारत-वासियों को नये शासन विधान का प्रारम्भ विश्वास और सहयोग की भावना से करना चाहिये। परन्तु विश्वास और सहयोग ऐसे वातावरण में कैसे पैदा हो सकते हैं। शीघ्र ही भारत पर नये शासन-विधान का परीक्षण होने वाला है। उस के लिये शान्ति और परस्पर विश्वास के वायुमंडल की आवश्यकता है, परन्तु यहां उस का कोई चिन्ह हो नहीं है, और न कोई इच्छा ही प्रतीत होती है। यदि भारत के राजनीतिक वायुमंडल को अशान्त और अविश्वास पूर्ण करने का कोई सर्वोत्कृष्ट साधन हो सकता था, तो वह दमन-कानून को असेम्बली से दो बार अस्वीकृत होने पर भी वायसराय द्वारा स्वीकृत करना था, लार्ड विलिंगडन ने भारत छोड़ने से पूर्व वह भी कर दिया। भारत आप के अधिकार काल को चिरकाल तक न भूलेगा।

—:०—

सम्पादकीय विचार

जयपुर के अधिकारियों से

श्री जमनालाल बजाज ने सीकर और जयपुर के झगड़े आंदोलन के सम्बन्ध में एक विज्ञप्ति प्रकाशित की है। उसमें उन्होंने लिखा है—

जब तक उन कष्टों को दूर नहीं किया जाता तब तक उनको मानसिक शांति नहीं मिल सकती, जो कि वास्तविक उन्नति का चिन्ह है। सन्तुष्ट किसान ही किसी राज्य की असल ताकत हैं। सीकर के वर्तमान शासन के सम्बन्ध में यह लिखना ठीक है कि यहां के शासकों ने भी इस बात को महसूस कर लिया है और मुझे आशा है कि वे यथाशक्ति उन कष्टों को दूर करने का यत्न करेंगे। अब तो जयपुर के महाराजा भी विलायत से लौट आए हैं इसलिए आशा की जा सकती है कि वह इस विषय में पूरी दिलचस्पी लेंगे तथा अन्याय नहीं होने देंगे। राजपूतों ने यह अनुभव कर लिया प्रतीत होता है कि जाटों की कुछ मांगें तो [illegible] कम उचित हैं और उन्हें [illegible] नहीं कहा जा सकता और [illegible] बहुत से तो यह मानते हैं कि जाटों को भी नागरिता के वे अधिकार मिलने चाहियें जो कि उनको मिले हुए हैं।

क्या हम आशा करें कि श्रीयुत बजाज की यह अपील बहरे कानोंपर नहीं पड़ेगी और राज्य के अधिकारी क्रियात्मक रूप से इसका उत्तर देंगे।

—

स्त्रियों पर से पाबन्दी उठी

कौंसिल आफ स्टेट ने महिलाओं पर से मताधिकार की पाबन्दी उठा कर वस्तुतः एक उचित कार्य किया है। स्त्रियां इसके लिये खड़ी होंय न हों, यह प्रत्येक महिला के लिए अपने अपने विचार की चीज है परन्तु स्त्री होने के कारण उन पर कोई प्रतिबन्ध अत्यन्त अवांछनीय है। इस प्रतिबन्ध का स्पष्ट अर्थ यह है कि हम स्त्री को पुरुष की अपेक्षा कम महत्व देते हैं और उसे अयोग्य मानते हैं। इस प्रस्ताव को पास कर कौंसिल आफ स्टेट ने उचित ही किया है। फैक्टरी

अनवरत जागरूकता !

वायसराय ने असेम्बली के भाषण में जंजीबार प्रवासी भारतीयों के प्रश्न पर विचार करते हुए असेम्बली के सदस्यों को यह विश्वास दिलाया है कि मेरी सरकार इस मामले में अनवरत जागरूकता और उद्विग्नता के साथ काम ले रही है।

जंजीबार कोई बहुत बड़ा मुल्क नहीं है। वह ब्रिटिश सरकार का उपनिवेश ही है। इस लिये वहाँ भारतीयों के कष्ट को यदि ब्रिटिश सरकार चाहे तो एकदम रोक सकती है। जंजीबार के भारतीयों का सम्पूर्ण इतिहास श्री पन्तजी के शब्दों में दुःख, रंज और अपमान की कहानी है। जंजीबार के लौंग-सम्बन्धी विधान तो निश्चित रूप से जातीय पक्षपात से पूर्ण है। यह मामला साल भर से चल रहा है। ब्रिटिश औपनिवेशिक सचिव भी ... कर रहे हैं लेकिन अब तक समस्या हल नहीं हुई। यदि किसी देश में ब्रिटेन की गोरी प्रजा के लिये ऐसे ही नियम बना दिये जावें तो क्या ब्रिटिश सरकार भी ऐसा ही अनवरत जागरूकता दिखायगी जैसा कि अब भारत सरकार दिखा रहा है और जिससे एक साल तक भी समस्या का हल नहीं हुआ। हमें निश्चय है कि यदि अंग्रेज प्रजा के लिये कहीं ऐसे अपमानजनक कानून बन जावें तो ब्रिटिश सरकार भरसक कुछ न उठा रखेगी और उस से बदला लेने का भी निश्चय तुरन्त कर लेगी। लेकिन भारत सरकार की अनवरत जागरूकता किसी भी अन्य स्वतन्त्र राष्ट्र की अनवरत जागरूकता से भिन्न होनी चाहिये।

—

गांधी-जयन्ती कैसे मनायें ?

राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने सम्पूर्ण राष्ट्र से अपील की है कि वह गांधी सप्ताह समारोह में राष्ट्र के सम्राट म० गांधी की जयन्ती और गत सप्ताह अधिक से अधिक कती और हाथ बुनी ... म० गांधी दरिद्रनारायण के सच्चे उपासक हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन दरिद्रों की सेवा में बीता है। इसलिये यदि हम म० गांधी की जयन्ती सच्चे हृदय से मनाना चाहते हैं, तो खद्दर बुन लेने और उसे अधिकाधिक मात्रा में खरीदने के सिवा और कोई अच्छा उपाय नहीं है। खद्दर का अधिकांश भाग किसानों और बुनकरों को ही मिलता है। इसलिये म० गांधी के जयन्ती सप्ताह को मनाते समय यदि हम अधिकाधिक खरीदेंगे, तो म० गांधी के कार्य में भी पूर्ण सहायता दे सकेंगे।

—

अन्त में पशु हो

मनुष्य अन्त में पशु ही रहा और विजय उसी की होगी जिस का पाशविक बल अधिक होगा। इटली और अबीसीनिया की चर्चा के प्रसंग में आयर्लैंड के डी वेलरा ने राष्ट्रसंघ में उक्त शब्द कहे थे। आज की वस्तुस्थिति की इससे अच्छी आलोचना हो नहीं सकती। यूरोप की सम्पूर्ण राजनीति पर, फिर वह चाहे इटली अबीसीनिया सम्बन्धी हो या किसी अन्य साम्राज्यवादी देश के सम्बन्ध में हो ये शब्द पूर्णतः चरितार्थ होते हैं। आज जिसकी लाठी उसकी भैंस की ही उक्ति सर्वत्र चरितार्थ हो रही है। इसीलिए बहुत से राष्ट्र परतन्त्र हैं और बहुत से साम्राज्यवादी। आज सदियों के बाद भी मनुष्य की संस्कृति का विकास पशुत्व तक ही जा सका है। इससे बढ़ कर मानव जाति के लाञ्छन और अपमान की क्या बात होगी? क्या यूरोप के राजनीतिज्ञ कुछ अनुभव करेंगे?

—

पंजाब में जहर

पंजाब में साम्प्रदायिकता का विष बढ़ता जा रहा है। शहीदगंज आन्दोलन के प्रथम डिक्टेटर पीर जमात अली शाह ने हिन्दू बहिष्कार का नया आन्दोलन शुरू किया है। उन्होंने एक सभा में सब श्रोताओं से हाथ उठवा कर प्रतिज्ञा कराई है कि वे न तो खुद किसी हिन्दू की दुकान से सौदा खरीदेंगे और न अपनी स्त्रियों को हिन्दुओं की दुकान पर भेजेंगे। यह आन्दोलन अत्यन्त निन्दनीय और शरारत से भरा है। इन मुसलमान नेताओं को यह समझ लेना चाहिये कि वे हिन्दुओं के सहयोग के बिना जी नहीं सकेंगे। यदि यह बीमारी कहीं हिन्दुओं में फैल जाय, तो मुसलमानों की आफत आ जाय। हमें यह विश्वास है कि यह आन्दोलन सफल न होगा। मुसलमान जनता इतनी भोली नहीं है कि इन साम्प्रदायिक नेताओं के बहकावे में आ कर वह अपना लाभालाभ न सोच सके। जिन से पीढ़ियों से उस का लेनदेन हो रहा है वह छूट नहीं सकता। हाँ इतना अवश्य है कि इस प्रकार के आन्दोलन परस्पर विष फैला देते हैं, जो अन्त में कभी न कभी दुष्परिणाम ही उत्पन्न करेंगे। क्या कभी इन साम्प्रदायिक नेताओं में समझ आवेगी और क्या मुसलमानों के राष्ट्रीय नेता इसे नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील होने का कर्तव्य समझेंगे ?

यात्रियों से दुर्व्यवहार

ईस्टइण्डियन रेलवे ने श्री मृणाल कान्ति घोष से क्षमा माँग ली, क्योंकि रेलवे अधिकारियों ने उन के साथ दुर्व्यवहार किया था।

रेलवे अधिकारियों का यात्रियों और खास कर तीसरे दर्जे के यात्रियों के साथ दुर्व्यवहार कोई नयी चीज नहीं है। इस की आम जनता को बहुत शिकायत है। श्री मृणालकान्ति घोष समर्थ और शक्ति सम्पन्न हैं। वे अपने अधिकारों को समझते हैं। उन्होंने रेलवे पर दावा दायर कर दिया और रेलवे ने माफी माँग ली। लेकिन लाखों अशिक्षित असमर्थ यात्री तो अपने अधिकारों को पहचानते नहीं और जो पहचानते भी हैं वे इतने समर्थ नहीं हैं कि रेलवे पर मुकदमा चला सकें। लेकिन रेलवे-अधिकारियों को इसी उदाहरण से यह शिक्षा लेनी चाहिये कि रेलवे-अधिकारी जब इतने उच्चशिक्षितों से अपमानजनक व्यवहार करते हैं, तो सर्वसाधारण से तो न जाने किस बुरी तरह पेश आते होंगे। रेलवअधिकारियों का कर्तव्य है कि वे यात्रियों को दुःख पहुँचाने वाले कर्मचारियों पर विशेष निगरानी करें और जो भी कोई इस का अपराधी पाया जाय, उसे पर्याप्त दण्ड दिया जाय।

लाख से भी कम

कांग्रेस कमेटी ने यह निश्चय किया था कि कांग्रेस के १० लाख सदस्य बन जाने चाहियें। लेकिन अभी तक ५ लाख भी सदस्य नहीं बने, यह हमारे लिये अत्यन्त खेद का विषय है। कांग्रेस के नये शासन-विधान के अनुसार ५०० से कम सदस्य अपना एक भी प्रतिनिधि नहीं चुन सकते। एक दो प्रांत ऐसे भी हैं, जिनके सदस्यों की संख्या ५०० से कम है। इस कानून के अनुसार उन प्रांतों का एक भी प्रतिनिधि लखनऊ कांग्रेस नहीं जा सकेगा। यह अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। कांग्रेस हमारे राष्ट्र की सर्वोच्च राजनीतिक संस्था है। उसके १० लाख सदस्य भी नहीं बने यह हमारे आलस्य और पारस्परिक विद्वेष का स्पष्ट परिणाम है। सभी स्थानों पर कांग्रेसी नेताओं में व्यक्तिगत संघर्ष ने कांग्रेस की स्थिति को खराब कर दिया है। लोगों का कांग्रेस के लिए प्रेम है, यह हमारा विश्वास है यदि वे सदस्य नहीं बने तो इसका कारण केवल यह है कि अपने नेताओं के क्षुद्रतापूर्ण झगड़ों से वह ऊब गई है। क्या कांग्रेसी कार्यकर्ता इधर ध्यान देंगे ?

निर्यात में कमी

जनवरी १९३५ से जून तक ६ महीनों के व्यापारिक आँकड़े ओटावा पैक्ट के बाद ब्रिटेन से भारत का व्यापार कैसा रहा, इस पर अच्छी तरह प्रकाश डालते हैं। उनको देखने से प्रतीत होता है कि ब्रिटेन की भारतीय कच्चे माल की खरीद में उत्तरोत्तर कमी ही हो रही है। कपास की खरीद में १९३४ की अपेक्षा बहुत कमी हुई है। इसी प्रकार अन्य मालों में भी कमी हुई है। उदाहरण के लिए ऊन ८००० पौं०, जूट ८०००० टन, अलसी ४४००० टन, कच्चा तम्बाकू २००००० पौंड, जूट के कपड़े ३८००० गज, बिना कमाया चमड़ा २०००० टन, कच्चा लोहा (इस पर चुंगी भी नहीं लगती) १०००० टन पिछले वर्ष की अपेक्षा कम खरीदा गया है। ये संख्यायें अपनी कहानी स्वयं ही कह रही हैं। क्या अब भी सरकार यह कहने का दावा करती है कि ओटावा पैक्ट से भारत को हानि नहीं हुई।

अमेरिका के हिटलर की हत्या

श्री ह्यू० पी० लौंग के जीवन पर कुछ प्रकाश

संयुक्त राष्ट्र, अमेरिका के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, सैनेटर लौंग को किसी ने गोली मार दी और डाक्टरों के अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी उन की मृत्यु हो गई। श्री लौंग बड़े अनोखा रङ्ग ढंग के राजनीतिज्ञ थे। संयुक्त राष्ट्र में लोक तन्त्र की भावना बड़ी प्रबल है, जब से वह एक स्वतन्त्र राष्ट्र बना है तब से वहां लोकतन्त्र शासन-प्रणाली ही रही है, परन्तु श्री लौंग को मुसोलिनी और हिटलर जैसी तानाशाही में अधिक विश्वास था। आप लुईसियाना प्रान्त के रहने वाले थे और कम से कम उस प्रांत में तो आप की तानाशाही स्थापित हो ही चुकी थी। अभी चन्द दिन पहले आप ने यह घोषणा की थी कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट का कार्यकाल समाप्त होने पर जब भावी राष्ट्रपति का निर्वाचन होगा तो आप इस पद के लिये उम्मीदवार बनेंगे। इस समाचार से काफी सनसनी फैली थी क्योंकि लोगों का यह ख्याल था कि अगर वह राष्ट्रपति हो गये तो दूसरे मुसोलिनी या हिटलर ही प्रमाणित होंगे और संयुक्त राष्ट्र में लोकतन्त्र का खात्मा ही हो जायगा। परन्तु इस घोषणा को दस दिन भी न बीतने पाये थे कि किसी विरोधी ने उन्हें अपनी गोली का निशाना बनाकर दूसरे लोक में पहुंचा दिया।

सैनेटर लौंग का जन्म अगस्त सन् १८९३ में हुआ था और इस प्रकार मृत्यु के समय उनकी अवस्था केवल ४२ वर्ष थी। उन का जन्म एक गरीब घर में हुआ था और लड़कपन में उन्हों ने अखबार तथा पेटेंट दवाएं बेचने का भी काम किया था। उन का विद्याध्ययन भी अधूरा ही रह गया था। वह विश्वविद्यालय तक पहुंचे तो गये परन्तु बी० ए० पास न कर सके। खैर उन्होंने वकालत की परीक्षा पास कर ली और वकालत करने लगे।

सन १९२४ में श्री लौंग लुईसिआना प्रान्त की गवर्नरी के लिए खड़े हुए, परन्तु निर्वाचित नहीं हुए। १९२८ में वह दूसरी बार फिर खड़े हुए और अब की बार निर्वाचित भी हो गए। गवर्नरी का कार्य काल समाप्त होने में अभी एक वर्ष की देर थी कि वह संयुक्त राष्ट्र की सैनेट (पार्लीमेंट की बड़ी सभा) की मेम्बरी के लिए खड़े हुए और निर्वाचित भी हो गए। इस पर उन के नायब गवर्नर श्री ऐस्टर ने कहा कि सैनेटर हो जाने के कारण श्री लौंग की गवर्नरी का स्वतः खातमा हो गया, और इस लिए अब मैं गवर्नर हूं। लेकिन श्री लौंग इस तरह के कानून कायदों के ऐसे पाबन्द न थे। उन्हों ने फौरन हुक्म निकाल दिया कि अगर श्री ऐस्टर पार्लीमेंट में आ कर अपने को गवर्नर कहे तो पुलिस उसे गिरफ्तार कर ले। और इस ख्याल से कि कहीं पुलिस उन की आज्ञा का पालन करने में पसोपेश न करे, उन्हों ने फौज को भी बुला लिया।

अपनी ऐसी ही हरकतों के कारण श्री लौंग तानाशाही के समर्थक समझे जाते थे। एक बार उन्हों ने लुईसिआना के किसानों के नाम आज्ञा निकाल दी थी कि इस वर्ष कोई कपास की खेती न करे ताकि रुई की कीमत चढ़ जाय। इसी तरह एक बार उन्हों ने लुईसिआना की पार्लीमेन्ट में यह कानून पास करा दिया था कि यदि कर्जदार को कर्ज चुकाने में कोई दिक्कत हो तो उन्हें दो साल की मोहलत अवश्य दे दी जाय। इस से लोगों में इतनी नाराजी फैली कि दूकानदारों ने यह इरादा कर लिया कि हम उधार बेचना ही बन्द कर देंगे। उन्होंने अपनी प्रांतीय पार्लमेंट से यह अधिकार भी प्राप्त कर लिया था कि वह गैस, पानी, बिजली आदि की कीमत निश्चित कर सकेंगे, और फिर उन्होंने कम्पनियों के नाम यह फर्मान निकाल दिया था कि या तो फौरन अपनी चीजों की कीमत खूब घटाओ, नहीं तो हम जबर्दस्ती घटा देंगे।

श्री लौंग फिर दूसरी बार तो लुईसिआना की गवर्नरी के लिये खड़े नहीं हुए, परन्तु उन्होंने अपने एक पिट्ठू को गवर्नर निर्वाचित करा दिया था और उस द्वारा स्वयं गवर्नर न रहने पर भी वास्तव में शासन वही करते थे। लुईसिआना की पार्लीमेंट में अभी उन के अनुसार चलने वाले सदस्य भरे हुए थे और म्युनिसिपल बोर्डों आदि में भी उन्हों ने अपने पिट्ठुओं की भरमार कर दी थी।

उन के इतने अधिक प्रभावशाली होने का कारण यह था कि उन्होंने कई बातें ऐसी की थीं जिन से साधारण गरीब जनता में वे बड़े लोकप्रिय हो गये थे। उदाहरणार्थ उन्होंने अपने यहां यह नियम बना दिया था कि स्कूलों में पढ़ने वाले लड़कों को किताबें स्कूल से मुफ्त मिलेंगी। कुछ समय से उन्होंने 'सम्पत्ति विभाजन'' का आन्दोलन चला रक्खा था जिस का मुख्य सिद्धान्त यह था कि धनी लोगों के पास अधिक रुपया न रहने दिया जाय ताकि गरीबों को अधिक रुपया मिल सके। इस का उपाय वह यह बतलाते थे कि रुपये वाले आदमियों पर खूब भारी इन्कमटैक्स लगाया जाय, जब किसी धनी व्यक्ति की मृत्यु हो तो उस के उत्तराधिकारी से सरकार भारी रकम वसूल करे और यह नियम बना दिया जाय कि अगर किसी की वार्षिक आय इतने से अधिक होगी या किसी कुल की कुल सम्पत्ति इतने

श्री ह्यू० पी० लौंग

से अधिक होगी तो बाकी रुपया सरकार का हो जायगा। इस आन्दोलन में उन सभाओं की संख्या ४॥ करोड़ बताई जाती है और सारे देश भर में उन के समर्थकों के 'सम्पत्ति विभाजन क्लब' कायम हो गये थे। इस प्रकार के आन्दोलन के समर्थकों की संख्या काफी होना कोई आश्चर्य की बात तो हो नहीं सकता।

श्री लौंग साधारण और गरीब लोगों में यह भावना उत्पन्न करने के लिये कि वह उन्हीं की श्रेणी के हैं इतने उत्सुक रहते थे कि उन के सम्मुख भाषण करते समय जान बूझ कर गलत और गंवारू भाषा का व्यवहार किया करते थे। उन्होंने अपने खास खास अनुयायियों का एक संगठित दल बना लिया था और उसे अपना प्राइवेट सेना कहते थे। अकसर वह अपने पांच पांच हजार सैनिकों को साथ लेकर फुटबाल मैच देखने जाया करते थे।

श्री लौंग फुटबाल के बड़े शौकीन थे। एक बार उन्होंने एक फुटबाल के खिलाड़ी को लुईसिआना की पार्लमेंट का मेम्बर बना दिया। विद्यार्थियों की एक पत्रिका ने उन के इस कार्य की प्रतिकूल आलोचना कर दी। इस पर उन्होंने उस पत्रिका को बन्द करा दिया और कहा कि लुईसिआना का विश्वविद्यालय मेरा विश्वविद्यालय है, मैं यह सहन नहीं कर सकता कि कोई विद्यार्थी मेरी आलोचना करे अपना आलोचना रोकने के लिए अगर मुझे एक हजार विद्यार्थियों को भी विश्वविद्यालय से निकालना पड़े तो मुझे उसमें भी संकोच न होगा।

यदि ऐसा व्यक्ति संयुक्त राष्ट्र का राष्ट्रपति हो जाता तो उस के दूसरा हिटलर बन जाने में किसे सन्देह हो सकता है।

अनुभूति

कुछ मत पूछो ! निर्दय कैसे होते हैं, पहिचान चुका,
कैसे हँस कर ठुकरा देते हैं, यह तो मैं जान चुका।
द्रवित न हो कैसा होता है दयाहीन पाषाण हिया,
निःस्नेही आँखों का कौतुक अब तो मन देख लिया।
देखा है मैंने गरीब के,
रोने पर हंस-हंस गाना।
कोई तड़पे इधर-उधर,
अपने जुल्मों पर इतराना।
अब तक आये भाग्यहीन के,
दुःखों का ताना बाना।
तब प्रमुदित होना, प्रमुदित हो-
उन आहों पर मुसकाना।
रुँधे कंठ से "भूल गई क्या ? सुन विरक्ति का बढ़ जाना,
और किसी के कोमल उर का पल भर में मुरझा जाना।
गला जले प्यासे प्राणी का मूक व्यथा में अकुलाना,
पूर्ण पात्र लेकर हाथों में एक बूंद को तरसाना।
टूक-टूक हो जाय कलेजा,
कर निराशा आलिंगन।
रो-रो कर सोये प्राणों को,
रुकती जाती हो धड़कन।
कोई उन का द्वार छोड़ कर,
सूने मग में आ जावे।
उथल-पुथल हो दूर, कहीं फिर-
'शांति शांति' यदि सुन पावे॥
मैंने तब देखा है:—
मन्थर गति में धीरे-धीरे आ जाना,
जादू वाली उन आँखों में "प्यार करूंगी" कह जाना।

—श्री व्रिजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'

———:०:———

धिक रिश्वत रानी

(तर्ज आरती)

धिक रिश्वत रानी, धिक रिश्वत रानी
जो कोई बन उपासक, सहे परेशानी
धिक रिश्वत रानी॥
पढ़ अपढ़ हो जावें, साधु अभिमानी
धर्मी बन अधर्मी, ज्ञानी अज्ञानी
धिक रिश्वत रानी॥
दया कूच कर जावे, क्रूर बन दानी
सदाचारी कुकर्मी, फिसल जाय ध्यानी
धिक रिश्वत रानी॥
चोर चोरी छोड़, न्याई निगरानी
साहू चोर बन जावे, चोर बइमानी
धिक रिश्वत रानी॥
नाच, रंग मन भावे, करे नशे पानी
चर्चा-जोर मचावें, सन्तति सहलानी
धिक रिश्वत रानी॥
ज्यों आवे त्यों जावे, व्यर्थ खाक छानी
सर धुन-धुन पछतावे निष्फल जिन्दगानी
धिक रिश्वत रानी॥
तेरी आमद आफत, जिसने ना जानी
पलक चैन नहिं पावे, अन्त धूल-धानी
धिक रिश्वत रानी॥
काटे दूर किनारा, तुझ से महारानी
"जागन" प्रभू का निश दिन रहे मेहरबानी

—श्री जगन्नाथ उपाध्याय।

———:*:———

—: नारी के प्रति :—

(१)

प्रेममय है सभी तुम्हारा,
जीवन, सरल, सुन्दर वेष !
मातृ-गृह में आई तुम जग को,
देने प्रेम का सद् सन्देश !!

(२)

पवित्र हृदय, कोमल भुज से,
बुला-बुला करके सादर !
दान स्वरूप में सब को देती,
यह विश्व-प्रेम संदेश प्रखर !!

(३)

इस पर भी ये नर करते हैं,
तुम पर अगणित शब्द प्रहार !
धन्य नारि-जाति सब सहकर भी,
करती तुम उन का उपकार !!

(४)

क्रूर स्वार्थ-रत विश्व-मध्य तुम,
फैलाए हो भुजा विशाल !
अमर सरलता का, सेवा का-
देने अभय दान सब काल !!

(५)

अङ्ग प्रत्यंग पुलकित रहता,
करने को सेवा प्रतिपल !
समझ सकते हैं सहृदय ही,
उस के सब ये भाव गहन !!

(६)

स्वार्थ-लोभ, उत्सुक समझे क्या,
तुम अनन्त का नीरव गान !
सेवा-योगिन ! प्रेम मूर्ति-
तुम्हारे सब कृत्यों का ज्ञान !!

—श्री रामस्वरूप शर्मा, देहरादून।

———

जगावें

हे करुणेश, सुनो विनती हम आज तुम्हें कर जोड़ सुनावें।
देश दुःखी यह आज बड़ा, इसको अब आप न और रुलावें॥
फूट मिटे घर की घर में, सब आपस में अति नेह बढ़ावें।
कर्म करें जग में रह के, हम दीनन के हतभाग्य "जगावें"॥१॥

ज्ञान प्रभा चमके उर में, मद, मोह निशा तम दूर भगावें।
दीन, किसान, अछूत, दुखी, इन के दुःख में हम हाथ बटावें॥
वैभवहीन—करें उन को, नित जो जन दीनन को तड़फावें।
वीर बनें हम भारत में, फिर से नवजीवन-ज्योति जगावें॥२॥

—श्री लक्ष्मीप्रसाद मिश्र "कवि हृदय"।

———:*:———

लार्ड लिनलिथगो

आपने क्रिमिनल ला अमेंडमेण्ट बिल को असेम्बली के दो बार गिराने पर भी सर्टिफाई कर दिया।

श्री सत्यमूर्ति

आपने वायसराय की आलोचना करते हुये कहा है कि सरकार की दुर्नीति असफल हुई है।

श्री श्यामलाल

आपने सरकार को दिये गये विशेषाधिकारों के दुरुपयोग की असेम्बली में बहुत कहानियाँ सुनाई।

श्री मालवीय जी

आपने बिहार के बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिये एक बहुत ही मार्मिक अपील की है।

श्री हर हिटलर

आपने एक महत्वपूर्ण घोषणा द्वारा यहूदियों को फिर से कुचलने की धमकी दी है।

श्री घनश्यामदास बिड़ला

आप अभी इंग्लैण्ड से कई मास के प्रवास के बाद भारत लौटे हैं और सीधे वर्धा गये हैं।

श्री एच० जी० वैल्स

आप मुंह पर सीढ़ी गिरने के कारण घायल हो गये हैं।

सर शादीलाल

आप लण्डन से स्वास्थ्य सुधार के लिये भारत पहुंचे हैं और बहुत सम्भवतः वापस नहीं आवेंगे।

प्रिंस आफ वेल्स

आप भी अस्वस्थ हैं और वीयना में चिकित्सा करा रहे हैं।

महिला जगत्

विवाहित जीवन सुखी रखने के १५ उपाय

पत्नी का कर्तव्य

पहला नुसखा—पत्नी को पति के नए घर में प्रवेश करने के दिन से ही अपने कर्तव्यों का पालन आरम्भ कर देना चाहिये यहाँ तक कि उस घर में प्रथम ही दिन भोर होते ही अपने पति के लिये चाय बना कर देनी चाहिये।

आपे से बाहर न हो

दूसरा—गृह को शांति बनाये रखने के लिये सीधा-सा नुसखा यह है कि एक ही समय में पति और पत्नी दोनों ही आपे से बाहर न हो जायें। ज्योंही दोनों आपे से बाहर होजाते हैं त्यों ही घर में भारी अशांति भड़क उठती है। जब आग भड़क उठे, तब जिसका मस्तिष्क अधिक ठंडा हो, उसे कम-से-कम उस समय चुप रह जाना चाहिए।

धन का भेद न छुपाओ

तीसरा—पति और पत्नी के बीच धन सम्बन्धी कोई भेद कभी न रहना चाहिये। अवश्य, पत्नी के पास घर का काम चलाने के लिए काफी पैसे होने चाहिए, परन्तु उसे सदा यह पता होना चाहिये कि घर में कितनी रकम है।

पति सर्वोपरि रहे

चौथा—घर की सूची में बच्चे को कभी प्रथम स्थान न दिया जाना चाहिये। आरम्भ में जिस तरह पति को सबसे अधिक महत्व का व्यक्ति समझा जाता है वैसा ही उसे सदैव समझते रहना चाहिये।

पति का स्वागत करने को

पांचवां—अगर पति प्रति दिन सवेरे काम पर जाता है और रात में प्रायः एक निश्चित समय पर वहां से लौटा करता है, तो पत्नी को चाहिये कि उस समय उसका स्वागत करने के लिए घर में रहे।

पति की बुद्धिमत्ता

छठा—बुद्धिमान पति वह है जो पत्नी के कहे बिना ही यह समझ जाय कि वह थकी हुई है। उसी समय वह पत्नी को आरामकुर्सी पर आसीन करके अपनी कमीज की बाहें मोड़ कर उन कामों को करने में लग जाता है, जो उसे रात करने हैं।

पति के मन की तरंग

सातवां—किसी पति के मन की तरंग ऐसी न होनी चाहिए कि उसी के पीछे उसका सारा समय व्यतीत हो। उसके मन की तरंग किसी खास ओर हो तो कोई हर्ज नहीं है, परन्तु उसी में उसका सारा समय न लगना चाहिए।

सबंधो के झगड़े में जाना व्यर्थ

आठवां—सम्बन्ध के प्रश्न पर मतैक्य होने का नुसखा यह है कि सम्बन्धो के झगड़ों में न पड़ा जाये पति और पत्नी को अपने सम्बन्धों की बातचीत गंभीरता के साथ कभी न करनी चाहिए।

भोजन का नियम

नवां—घर में भोजन परोसने में भी खूबी होनी चाहिये। अधिकांश भोज्य पदार्थों का सुन्दर गरम होना आवश्यक है उनमें भिन्नता भी होनी चाहिए और कुछ भी हो उनका ठीक समय पर होना आवश्यक है। जो आदमी भोजन के समय घर नहीं आता, वह आफत बुलाता है।

विवाद से बचना

दसवां—विवाहित जनों को विवादग्रस्त बातों से दूर ही रहना चाहिये। अगर पति और पत्नी में धर्म, राजनीति और कलाओं के सम्बन्ध में मतैक्य न हो तो उन्हें इस सम्बन्धमें मतभेद से बुरा कदापि न मालूम होना चाहिये। खास कर पुरुषों को यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समान ही अधिकार हैं, जिन्हें काम में लाने को वे उत्सुक रहती हैं।

विवाह की चटनी।

ग्यारहवां—प्रशंसा करना विवाह की चटनी है। जो स्त्री बराबर अपने पति की प्रशंसा कर रही है, उसे यह दोष कभी नहीं दिया जा सकता कि वह उसका मूल्य नहीं समझती है। इसी तरह वह आदमी अधिक सुखी रहता जो यह कहता है कि, मेरी स्त्री विश्वास-पात्र है। जो आदमी यह कहता है कि मेरी स्त्री अच्छी तो है, लेकिन सभी स्त्रियां कभी कभी बेहूदा होती हैं, वह उतना सुखी कदापि नहीं रह सकता।

घर का अभिमान।

बारहवां—अगर पत्नी को अपने घर का अभिमान है, तो उसे साथ ही अपना अभिमान भी होना चाहिये। घर को असबाब की दुकान की भांति बना देना ठीक नहीं है।

विवाह में धन को सर्वोपरि स्थान प्राप्त होता है, यह तो सच है, लेकिन इसके सम्बन्ध में यदि सावधानी से काम लिया जाय, तो आमदनी के भीतर ही खर्च करने में कोई कठिनाई नहीं उपस्थित हो सकती।

बाहर भी एक दूसरे का ध्यान रहे

तेरहवां—पति और पत्नी जब मित्रों के साथ बाहर जाय, तब भी एक दूसरे का पूरा ध्यान रखना जरूरी है। एक दूसरे की उपेक्षा करने से बड़े अनर्थ हो जाया करते हैं और वैवाहिक जीवन दुःखमय हो जाता है।

उदासी ठीक नहीं।

चौदहवां— विवाहित पुरुषों को पत्नी के लिए और पत्नी को अपने पति के लिये हो अपना सारा उदास स्वभाव न बना रखना चाहिये।

नम्रता की आवश्यकता।

पन्द्रहवां — वैवाहिक जीवन को सुखमय बनाने का सब से बढ़िया नुसखा नम्रता है। ज्यों ही पति अपनी पत्नी की और पत्नी अपने पति की उपस्थिति में नम्र होना बन्द कर, त्यों ही सुख की समाप्ति का आरम्भ समझना चाहिये।

ऊंची एड़ी के जूते

यूरोपियन महिलाओं में फेशन नहीं रहा

यूरोपियन महिलाओं के फेशन में अभी हाल में ऐसा परिवर्तन हुआ है, जिस का सभी जगह स्वागत किया जा रहा है। सब लोग जानते हैं कि नीची एड़ी का जूता सब से अधिक आरामदेह और स्वास्थ्यप्रद होता है, परन्तु फेशन के आगे इन सब बातों की उपेक्षा कर दी गयी। जिस किसी जमाने में ऊंची एड़ी के जूते का फेशन जोरों से चला था वैसे ही अब नीची एड़ी के जूते का रिवाज चल पड़ा है कि कहा जाता है कि नीची एड़ी के जूतों का रिवाज अब फिर इतना चल पड़ा है कि ब्रिटेन के जूते बनाने वाले कारखाने इस मांग की पूर्ति के लिए रात दिन काम करने में लगे हुए हैं।

अब इतनी नीची एड़ी के जूते का फैशन चला है कि जूते चप्पल के समान ही समतल बनने लगे हैं। कुछ लोगों को इस में बड़ा खतरा दिखलाई दे रहा है। उनका कहना है कि जो महिलायें इतने दिनों से ऊंची एड़ी के जूते पहिनती आई हैं, उनके लिए एकाएक नीची एड़ी के जूते पहिनना बहुत ही कष्टकर होगा।

कन्या ने अपना पति चुना

पिता का असन्तोष

तवरघार जिले के शहर में कुछ महीनों से एक युवती की विशेष रूप से चर्चा हो रही है। कहानी इतनी करुणाजनक है कि उस को प्रकाश में लाना कुछ आवश्यक सा प्रतीत होता है। मोरेना के एक कुलीन सज्जन की चार कन्यायें है। प्रथम कन्या का विवाह हो चुका है। द्वितीय कन्या का विवाह गत फरवरी मास में किया जाने वाला था। बारात भी आ गई थी, परन्तु इस समय ऐसी घटना हो गई कि जिस से उक्त कन्या की करुण कहानी लोगों के सामने आ गयी। सुना है कि जिस समय विवाह की चर्चा हो रही थी उसी समय लड़की ने अपने माता पिता से कह दिया था कि उसने अपनी इच्छा से अपना पति चुन लिया है और वह उसीसे विवाह करेगी। कन्या का चुना हुआ वर कन्या के पिता को बिल्कुल पसन्द न आया। वह युवक पाठशाला का अध्यापक सुधारक सज्जन का सज्जाता उनकी कन्याओं को भी पढ़ाता पिता ने लड़की को सब त समझाया। उसके पसन्द [illegible] को गरीबी में होने वाला की भी खूब चर्चा की कि पर इसका कोई असर फिर भी लड़की का इ[illegible] उसका विवाह एक [illegible] साथ करना तय कर लिया [illegible] युवती ने महारानी ग्वालियर की सेवा में एक पत्र लिखा, जिसके परिणाम स्वरूप ता० ८—९—१९३५ को ७ बजे सवेरे एक इन्सपेक्टर कुछ सिपाहियों को लेकर कन्या के घर पहुंचे और पिता व पुत्री के बयान लिये। पुत्री ने सुना है, स्पष्ट कह दिया कि शादी उसकी मर्जी के खिलाफ तय की गई है यदि वह शादी करेगी तो अपने पसंद किये हुए वर के साथ ही करेगी। इस पर पुलिस ने पिता पुत्री को हवालात में ले जाने की बात कही। किसी प्रकार पिता ने पुलिस से लड़की समझाने का समय मांगा और इस अपमान से बचने के लिए पुत्री से कहा कि उसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध न होगा। अपने घराने की मान मर्यादा तथा माता पिता की रक्षार्थ पुत्री ने पुलिस को लिख दिया कि वह शादी के लिए तैयार है। पुलिस के चले जाने के

(शेष पृष्ठ १२ पर)

सेवा बनाम वासना

पश्चिमी शिक्षा में त्रुटि

(ले०—श्री शान्तिस्वरूप गौड़)

समय का प्रत्येक पग एक अनोखी विचित्रता के साथ आगे बढ़ता है कभी वह अन्धा बन किसी दलदल में जा फंसता है और कभी उस भाग्यशाली स्थानमें जा पहुंचता है, जहां थोड़े मे परिश्रम से ही सुख की अतुल-राशि प्राप्त हो जाती है। मनुष्य का सुख दुःख भी समय के भाग्यशाली एवं भाग्यहीन होने पर ही निर्भर है। समय के सुख में ही मनुष्य का सुख है और उस के दुख में ही मनुष्य का दुख। इस का अनुभव मनुष्य पगपग पर करता चला आ रहा है। एक वह समय था, जब भारत में धन धान्य की प्रचुरता थी, जीवन का सुख था और भगवान की भक्ति के साथ साथ सांसारिक सुखकी बहुलता थी, परन्तु आज दिनों देख रहे हैं कि इन में से एक भी नहीं। समय के फूटे भाग्य के साथ सब कुछ खो गया। न धन धान्य ही रहा, न जीवन का सुख ही और न भगवान की भक्ति ही रहा। मनुष्य के जीवन का ह्रास हो रहा है, जो समय के फूटे भाग्य का द्योतक है।

दुर्भाग्य के साथ साथ भाग्य इतना हीन हो ... सोचने ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं, शरीर में से प्राण से जाते हैं। वे दिन कितने सुन्दर ... समय भाग्यशाली था और ... वह समय ऋषियों ... काल का है। उन स्वर्णीय ... मनुष्य सत्यवादी थे, ... था थी। प्रेम का ... की अवहेलना ... नहीं था, भगवान की भक्ति थी। प्रत्येक मनुष्य के जीवन का लक्ष्य होता था, जिस तक पहुंचने के लिये उस को सबसामग्री पूर्ण मात्रा में मिलती थी। स्त्री-पुरुष दोनों धर्म-पूर्वक अपना पूर्ण-आयु समाप्त कर उस अवस्था के बन्धन को छोड़कर इस लोक से उस लोक को चले जाते थे। परन्तु अब वह भाग्यशाली समय नहीं। अब वह अभागा समय दानवता का सेवक बना हुआ है। जिस के फलस्वरूप भारत में अराजकता, भ्रष्ट, व्यभिचार, नास्तिकता और अनेक प्रकार के दुखों का प्रश्न सामूहिक है। पुरुष समझते हैं कि पाप में ही जीवन का सुख है। स्त्रियां विचारती हैं कि चौका न पाटकर तख्त पर चोट करना ही श्रेयस्कर है। गृहदेवियां न बन कर अदालती हाकिम बनना ही अधिक उपयुक्त है।

निर्मूल धारणा

कुछ काल बीता, स्त्री शिक्षा को पुनर्जीवित होते देख कर भारतवर्ष की अतृप्त आंखे इन कुमारियों की ओर लगीं थी। देश को इन से बड़ी बड़ी आशाएं थीं। पुरुषों का एक बहुत बड़ा समुदाय समझता था कि भारत में अब फिर उसी दाम्पत्य सुख के दर्शन होंगे, लेकिन अब देख रहे हैं, हमारी वह धारणा निर्मूल थी। पश्चिमी ढंग में दी जाने वाली इस दूषित शिक्षा ने समाज का रूप और विकराल एवं घृणास्पद कर दिया। अंग्रेजी के केन्द्रों में ऊंची शिक्षा का अध्ययन करने वाली आर्य कुमारियों ने अपने रीति रिवाज, धर्म कर्म आदि सब ही कुछ भुला दिये। जिस से कारणवश दाम्पत्य, जीवन सुखी होने के विपरीत और दुःख-मय होगा। दिन प्रति-दिन घरों में देखते हैं कि सास और बहूको आपस में बनती ही नहीं। वैदिक धर्म में किसी अंश तक ज्ञान रखने वाली सास अपना धर्म समझ बहू,को अपने आधिपत्य में होरखना ठीक समझती है तो इस के विपरीत नवीन वायु मण्डल में, नये ढंग से शिक्षा प्राप्त करने वाली बहू उसको यह अत्याचार समझ अपनी सास को घृणा की दृष्टि में देखती है, अपनी स्वतन्त्रता में सास को बाधक समझ कर वह उस से कटु वचन बोल बोल कर उस का सर्वदा तिरस्कार करती रहती है। मां बेटे से बहू के उद्दण्ड एवं विचारहीन स्वभाव की शिकायत करती है। तो बहू पति से सास को बेवकूफ आदि शब्दों से सम्बोधित कर उसे अनधिकारिणी सिद्ध करने का भरसक प्रयत्न करती है। बेचारा निर्दोष पुरुष एक दिन बहुत तंग आकर आत्म-हत्या करके अपने जीवन का अन्त कर देना ही उपयुक्त समझता है और प्रायः ऐसा ही होता है। मां के इकलौते पुत्र की दशा का यह करुणा-चित्र आंखों में आंसू ला देने की पूर्ण सामर्थ रखता है। मां रो रो कर जीवन व्यतीत कर देती है।

जहां भारतवर्ष के लिये यह बड़े गौरव की बात है कि आज दिनों स्त्री समाज शिक्षित होता जा रहा है, वहां यह बड़े दुख की भी बात है कि स्त्रियां शिक्षित होकर भी वैदिक संस्कृति को न अपनाकर पश्चिमी सभ्यता की ओर ही झुकी जा रही हैं वे नहीं चाहती हैं कि वे ऊंची-ऊंची शिक्षा प्राप्त करके घर तथा देश के लिये लाभकारी सिद्ध हों, बल्कि इस के विपरीत पढ़ लिख कर वे गृहस्थ से छुटकारा पाकर पुरुषों के समान नौकरियां करना ही पसन्द करती हैं। उन की यह नीति प्रकृति के विरुद्ध अनधिकार चेष्टा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अपने शरीर की रचनानुसार स्त्रियां गृह-देवी के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। जिस से उन का सब से पहिला धर्म अपने घर के लिये लाभकारी ही बनना है। घर ही उन का देश है। घर को सुचारू रूप से चलाने से ही स्त्री देश की सेवा कर सकती है, अन्यथा नहीं। घर में भोजन बनाना, बच्चों का पालन पोषण करना, सास-श्वसुर की सेवा करना और पति को ही सर्वस्व समझना स्त्री की सबसे बड़ी घर और देश के लिये सेवा है। स्त्री के लिये यही गौरवकी बात है। उसका सबसे बड़ा त्याग इसी में छिपा हुआ है। इस की पुष्टि के लिये श्री प्रेमचन्द जी कहते हैं— 'सोचिये, जिस देवी की आप पूजा करते हैं, वह सिंहासन से उतर कर आप के साथ सपड़ २ खाने लगे तो आप की भक्ति बनी रहेगी? गृहिणी अपने त्याग, सेवा और प्रेम से घर पर हकूमत करती है। स्त्री अपनी निःस्वार्थ सेवाओं से ही घर का सब से जरूरी अंग बन जाती है। परन्तु अब गृहिणी का पद छोड़ कर वे विलासिनी बनती जा रही हैं और उन अमीर-जातियों की नकल कर रही हैं, जो संसार को लूट कर अपना घर भर चुकी हैं।' स्त्रियां घर की देवी हैं। देवी को अपना उच्च-स्थान त्याग कर विलासमय नीच-स्थान में पहुंचना शोभा नहीं देता। वैदिक-सभ्यता द्वारा मिला हुआ गौरव छोड़ कर अंग्रेजी सभ्यता द्वारा केवल नुमायश और विलास की वस्तु बन कर अपनी दिव्यता को नष्ट करना कोई बड़प्पन की बात नहीं।

उपर्युक्त कथन में मेरा यह आशय कहीं भी नहीं है कि स्त्रियों की बढ़ती हुई शिक्षा में रुकावट पैदा कर दी जाय या उन को शिक्षा से बिलकुल वंचित ही कर दिया जाय, बल्कि मैं तो वैदिक-धर्म के अनुसार स्त्रियों की शिक्षा भी उतनी आवश्यक समझता हूं, जितनी कि पुरुषों की। वेद कन्या को सब से पहिले ज्ञानोपार्जन की ओर ही संकेत करते हैं, लेकिन उनका संकेत इस लिए नहीं कि वे घर से बाहर पुरुषों की भांति जीविका-उपार्जन करें, बल्कि इस लिये जिस से उनके हृदय का अज्ञानान्धकार दूर हो जाय और वे गृहस्थी का भार संभालने के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकें। वे विद्वान बन कर संसार सागर में अपनी जीवन नौका को सफलता-पूर्वक उस पार लेजा सकें। अपनी सन्तान को अर्जुन, भीष्म, ध्रुव, और गान्धारी के समान बना सकें। परन्तु आजकल की बढ़ती हुई यह नई सभ्यता स्त्रियों को प्रेम और सेवा के वायु-मण्डल से निकाल कर वासना और निर्लज्जता की ओर लेजा रही है। स्त्रियां गृह के स्वतन्त्र-कार्य को भूल कर पुरुषों के साथ परतन्त्र-कार्य में हाथ-पैर पीटना ही उचित समझती चली जा रही हैं। ऐसी शिक्षा से भारत-माता को कोई लाभ नहीं। यह उनकी शिक्षा में दोष ही नहीं, बल्कि महादोष है, जिस से उनकी शिक्षा निष्फल हो जा रही है।

(पृष्ठ ११ का शेष)

बाद पिता ने पुत्री को शादी के लिए फिर दबाया, पर वह किसी प्रकार राजी न हुई। पिता का संकट तथा बहिन की वेदना को देख कर तीसरी कन्या ने कहा कि पिताजी बरात न लौटाइये। मेरी शादी कर दीजिए। उधर बराती भी बिना शादी किए लौटने की अपेक्षा इस प्रस्ताव पर राजी होगए और आये हुवे लड़के के साथ उक्त सज्जन की तीसरी कन्या की शादी होगई। तब से, कहते हैं यह दूसरी कन्या अनेक कष्टों का शिकार हो रही है। मगर उसने दृढ़ संकल्प कर लिया है वह अपनी प्रतिज्ञा पर डटी हुई है। पिता अच्छे सुधारक विचार के हैं, उदार भी हैं, न मालूम इस वक्त वे ऐसी सकीर्णता में किस तरह फिर गए हैं। यदि वे चाहें तो उक्त युवक की भी अच्छी स्थिति कर सकते हैं।

इस घटना की ओर पिता सहृदयता के साथ देखें उनकी स्वाधीन शिक्षा का क्या यही परिणाम होगा कि उनकी कन्या दारुण वेदनाओं की शिकार बनी रहे?

हमारी वास्तविक शक्ति पूजा

(ले०—श्री कालीप्रसाद "विरही")

दुर्गा

दुर्गा पूजा का त्यौहार वर्ष में एक बार नहीं दो बार आकर हमारे उजड़, उपवन और टूटे खंडहरों में ऋषि का वही पवित्र सदेश सुना जाता है कि यदि तुम अपनी तथा अपने राष्ट्र की शत्रुओं से रक्षा करना चाहते हो और संसार में विजयी बनना चाहते हो तो उसी शक्ति की उपासना करो जिस की शुंभ निशुंभ आदि दैत्यों से त्राण पाने के लिए देवताओं ने की थी! उसी दुर्गा मैया पर विश्वास रखो जिस ने राजा सुरथ को विजय वैजन्ती माला पहनाई थी। किन्तु हमें इतना सुध कहां जो हम ऋषि के वचनों को सुनने और समझने का कष्ट करें। आप की हमारी दुर्गा-पूजा वास्तविक दुर्गा पूजा नहीं, वरन् यदि मैं सत्य कहूं तो मुझे कहना चाहिये कि आप, हम वास्तव में शक्ति पूजा के नाम पर अपनी शक्ति और समय का दुर्पयोग कर रहे हैं। कोरी जय जयकार का कोई अर्थ नहीं है और न थोथी श्रद्धा का कोई मूल्य! आज हम प्रत्येक वर्ष जिस प्रकार बकरे भैंसे काट कर दुर्गापूजा का पवित्र त्यौहार भ्रष्ट करते हैं वह हमारी प्रतिष्ठा को कलंकित करने का उद्योग है! न कि शक्ति की उपासना उस शक्ति की उपासना जो निरीह प्राणियों की रक्षा करना है और विरोधियों का दमन!! यदि हम सच्चे सपूत और भारतीय होने का अभिमान करते हैं तो हमें अपनी भारतीयता की रक्षा करने के लिए कोई काम ऐसा नहीं करना चाहिए जो हमारे देश की प्रतिष्ठा को गिराने वाला अथवा हमारे पूर्वजों की बुद्धि पर अविश्वास उत्पन्न करने-वाला हो। अन्यथा न हमें भारतीय कहाने का ही अधिकार है और न अपने को "आर्य्यपुत्र" कहलाकर दंभ करने का हक!

मैं अपने पिछले लेख में जिस में मैंने गणेश जी के स्वरूप के संबन्ध में, कुछ निवेदन करने का साहस किया था, यह लिख चुका हूं कि हमारी अधिकांश पौराणिक कथाएं, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार प्रधान कविताएं हैं! और उन कविताओं की तह में ऐसे २ जगमगाते अमूल्य रत्न छिपे हुए हैं जिन के सन्मुख विश्व की आंखें चौंधिया जाती हैं। और जिन्हें हम न दुर्भाग्यवश या तो कंकड़ समझ कर उपेक्षा करली है अथवा अन्धश्रद्धा से उन्हें पूजा मात्र की वस्तु समझ कर मस्तक झुका दिया है! और सच तो यह है कि हमने अपने पूर्वजों की आज्ञाएं पालन करनी, नहीं उन्हें पूजना ही अपना कर्त्तव्य समझ लिया है, जो आज हमारे इस वर्तमान पतन के कारणों में से एक प्रधान कारण है!

यदि हम दुर्गा सप्तशती नामक ग्रन्थ से-जिस की आज हम कथा सुनकर ही शक्ति प्रसन्न होने की कल्पना कर लेते हैं—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार हटा दें और संक्षेप में कहें तो कथा इस प्रकार रह जाती है कि "जब देवता शुंभ निशुंभ आदि दैत्यों से अपनी २ रक्षा न कर सके तो उन्होंने एकत्रित होकर शक्ति की उपासना की जिस से एक शक्ति का अवतार हुआ--जिस ने शुंभ निशुंभ आदि दैत्यों का संहार किया" यह है वह मूल कथा जिस पर 'दुर्गा सप्तशती' जैसे महाकाव्य की रचना हुई है और कथावाचक पंडितों की 'दूकान' हो रही है! और यदि हम इस से भी अधिक स्पष्ट शब्दों में ऋषि का सदुद्देश्य व्यक्त करना चाहें तो हमें इस प्रकार कहना चाहिए कि "देवताओं के एकत्रित होकर प्रार्थना करने पर 'संघ शक्ति' ने अवतार लेकर शुंभ निशुंभ आदि दैत्यों का नाश किया"। और आज जिसे मानने में शंका की गुन्जायश ही नहीं रहती क्योंकि 'संगठन' में उस शक्ति का निवास है जिस के सन्मुख विश्व की बड़ी से बड़ी शक्ति को भी सिर झुका देना पड़ता है! किन्तु बेचारे मार्कण्डेय ऋषि को क्या खबर थी कि उनकी भावी सन्तान उनकी 'कविता पर ओफल पुष्प चढ़ा कर उस निर्जीव प्रतिमा की भांति से पूज कर उसका अपमान करेगी।

इतना ही नहीं, भारतीय चतुर चित्रकारों ने मार्कण्डेय ऋषि के कथा के आधार पर दुर्गा का जो चित्र निर्माण किया है, उसने ऋषि के पावन उद्देश्य के साथ मिलकर 'स्वर्ण में सुगन्ध' का काम किया है, आइये आज उस पर भी विचार करलें।

दुर्गा के वैसे तो अनेक रूप-रंग के चित्र बनाये जाते हैं किन्तु, सब में एक ही भाव निहित है— सब का जन्म एक ही उद्देश्य को लेकर हुआ है। सब एक ही ध्येय को चित्रित करने के लिए अंकित किये गये हैं। आप दुर्गा के अधिकांश चित्रों में देखेंगे कि उनके चरणों तले 'शंकर' हैं जो वैराग्य की प्रतिमा है! दुर्गा के एक हाथ में तलवार है और दूसरे में नर मुण्ड तीसरे हाथ में रक्त का खप्पर, और चौथे हाथ से 'अभय' का संकेत है! दुर्गा के इस भावपूर्ण चित्र से जो उपदेश हमें मिलता है वह यह है कि यदि हम संसार में विजयी बनना चाहते हैं यदि हम विश्व में जीवित बनकर रहना चाहते हैं तो हमें वैराग्य की भावनाओं को कुचल कर-पैरों तले रौंध कर, खड़े हो जाना चाहिये। हमारे एक हाथ में अपने तथा अपने राष्ट्र के शत्रुओं के दमन के लिये तलवार की धार के समान नष्ट करने की, काट डालने की शक्ति होनी चाहिये, और साथ ही दूसरे हाथ में अपना मस्तक भी, होना चाहिये अर्थात प्रत्येक वीर को दूसरों पर विजय पाने से पहले अपना मस्तक हथेली पर समझना चाहिये। और भी स्पष्ट शब्दों में उसे आत्मबलि-दान करने के लिये सदा उद्यत रहना चाहिये। और जहां यह दोनों शक्तियां हों वहीं अपने आश्रित और भयातुर निरीह प्राणियों को अभय कर देने की सामर्थ्य भी चाहिये आज के आपके वे शुंभ निशुंभ जो आपको सुख की नींद नहीं सोने देते, आपके अधिकारों पर अपना कब्जा किये बैठे हैं आप के एकत्रित होते ही, आप के 'संघ-शक्ति' को जन्म देते ही अपने आप नष्ट हो जायगे। उन बेचारों में तो रक्त बीज की शक्ति भी नहीं, मैं समझता हूं तभी होगी हमारी वास्तविक शक्तिपूजा! उसी दिन हम अपने को शक्ति का उपासक कहने के अधिकारी होंगे,अन्यथा मुझे यह कहने दीजिये आप बकरे भैंसे काट कर, मिठाई से देवी की पूजा कर, मांस मदिरा का भोग लगाकर और सप्तशती की कथा सुन कर कभी भी अपने शत्रुओं का दमन नहीं कर सकते! वरन् उल्टा अपने सिर निरीह प्राणियों को धर्म के नाम पर काट कर देवी को प्रसन्न करने के बदले अपनी शक्ति को नष्ट कर रहे हैं! यदि शक्ति की पूजा के लिये-उस की प्रसन्नता के लिये बलिदान की आवश्यकता है आत्मबलिदान कीजिये, न कि निरपराध प्राणियों का! छिः अधिक धर्म का अपमान है।

कालीप्रसाद 'विरही'

(पृष्ठ १३ का शेष)

तात्कालिक फल तो यह है घर की बहनों ने ताश कर दिया है, और अब चर्खे की ओर आकर्षित हैं। स्वयं मिश्र जी में आकर धनना सू. कर घर की स्त्रियों को सिखाते हैं। दो बहनें तो अब धुनने भी लगी हैं। आजकल इनके घर तीन चर्खे चलते हैं। अब तक १४ नम्बर का तीन सेर सूत इन्होंने जुलाहों को बुनने के लिए दिया है।

इन तीन परिवारों की इस साधना के अतिरिक्त यहां के खादी-कार्य की प्रगति का सार यह है कि प्रति मास आठ मन तक सूत भंडार में खरीदा जाने लगा है। गत अगस्त महीने में ११। मन से कुछ अधिक सूत खरीदा गया। रुई सहित इतने सूत की कीमत ४७४॥)॥। दी गई है। १८) रुपये प्रति मन के हिसाब से रुई के दाम काट कर २४४-)॥। कत्तिनों को उनकी कताई के रूप में मिले हैं। रुई भोगल जाति की है. जो मिवाम से आती है। रुई का बाजार भाव प्रति रुपया २। से २ सेर तक है।

संक्षेप में यहां के कार्य यही विवरण है।

मनुष्य का शारीरिक बल एक दो मनुष्यो पर ठन्डा पड जाता है। वाक् शक्ति पांच सौ हजार श्रोताओं पर समाप्त होजाता है। परन्तु लेखन शक्ति सीमा-रहित है और सर्वत्र एकसा प्रभाव रखने वाली है। यह अपनी लेखनी से मनुष्य को ज्ञानी, पागल, बलवान, और चपल अथवा सुस्त आदि सब बना सकती है। यह बेतार का तार हमारा सन्देश वाहक और हमारा मित्र है। इसकी धार तलवार से तीव्र और वार आधुनिक गोलों से अधिक आक्रमणकारी है।

क्या यह कभी हमने सोचा है कि जिस लेखनी में इतने गुण हैं, उसके धारण करने वाला कैसा मनुष्य होना चाहिये। हमने शास्त्र बना दिए कवच बना दिए। लेकिन आज उसके धारण करने वाले सैनिक नहीं ...। जिसके जी में आया, वही ... बैठा यहीं हम अपने ... भूल बैठे और लेखन शक्ति ... होगया। अब भी समय है ... एक स्टैंडर्ड पर ले ...

अधिकांश लेखकों की ... आरम्भ है। अधिकतर ... अनुभव हीन हैं और नौसिख ... लेखक की पदवी धारण ... लेखन-कला को बदनाम कर ... संघ के सदस्यों से ... कि जहां उनका ध्यान ... थियेटर और उपन्यास ... उन्हें लेखन कला ... अपना ध्यान देना चाहिए। इस सम्बन्ध में जितना पुस्तक आज तक छपी हैं वह उन को सूची प्रकाशित करायें। एक कमेटी बना कर एक कोर्स मुकर्रिर करें और साथ ही साथ परीक्षा का भी प्रबन्ध करें यह काम सरल है और यदि अधिक सहयोग प्राप्त न हो सके तो दो चार निपुण सम्पादक मिल कर इस कार्य को भली भांति चालू कर सकते हैं।

आज सैंकड़ों पत्र निकल रहे हैं, जिनमें हजारों अवैतनिक रूप से हिन्दी जगत की सेवा कर रहे हैं। लेकिन अफसोस है कि उनके पत्र सञ्चालक उनके तथा अपने कार्य को सफल बनाने के लिए गाइड de भी बना कर नहीं देते। अतः मैंने इस सम्बन्ध में अपने अनुभव द्वारा थोड़ा बहुत जो ज्ञान प्राप्त किया है उसे पाठकों के लाभार्थ उनके सामने रखने का साहस करता हूं। त्रुटियां होना अनिवार्य है। सहयोगियों से प्रार्थना है वह भी स्वयं इस पर ... डालें।

लेखन-कला

(ले०—श्री यादराम शर्मा बुलन्दशहर)

लेखक कैसा हो

चपल विद्यार्थी का हृदय क्रांति से उथल-पुथल होता है। वह अपने मन को छाप दूसरे हृदय पर डालने का प्रयत्न करता है, उस का यही प्रयास उसे लेखन कला की ओर प्रवृत्ति कराता है। जैसे मनुष्य जलदी और जोश में अपना काम बिगाड़ बैठता है, वैसे ही लेखक की जलदी और जोश का उबाल उसके लिए एक घातक वस्तु प्रमाणित होती है। लेखक का हृदय लिखते समय शान्त, उदार और उत्साह वर्धक होना चाहिये। कटु विचार-हीन और असमय के वाक्य विपत्ति और दुःख को आवाहन करने वाले होते हैं और प्रायः जेलखाने का निमन्त्रण देते हैं। लेखक का बल धैर्य और साहस है और लगन पागल जैसी होती है। अतः लेखक को साहसी, गम्भीर, पक्षहीन, शांत, उदार और धुनी होना चाहिये। संसार एक तरफ हो और उसकी धुन दूसरी तरफ। पुस्तकें उसके मित्र, लेखनी उस की तलवार और साहित्य उस की सम्पत्ति होनी चाहिये। लोभी और भीरु लेखक लेखन-कला को बदनाम करने वाले होते हैं।

लेखः—लेखक का लेख उसकी सम्पत्ति है यही उस का मान और प्रतिष्ठा है। अतः जब उसे लेख लिखना हो, मन को एकाग्र और शान्त कर ले। विषय का खूब मथन करे। उस के आदि और अन्त पर विचार करके उस से उत्पन्न होने वाले लाभ या हानि पर दृष्टि डाले और लोक व्यवहार का ध्यान रख कर फिर अपनी राय कायम करना चाहिये गप्प और मिथ्या कभी न लिखे। लेख को जितने टुकड़ों में बांट सको, उसे बांट दो और फिर उस के विभाजन अनुसार ठीक २ विचार करके एक एक हैडिंग के ऊपर पंक्तियां बढ़ा कर लिखते जाओ।

अखबारों दुनिया अन्य विषयों पर लिखे ग्रन्थों से विभिन्न होते हैं, क्यूं कि उस का सम्बन्ध राजनीति से होता है, इस लिये यह सब से अधिक भयावनी है। तनिक-सी त्रुटि अथवा भूल जेल का आवाहन करती है। राजनीति का सार है, जब मनुष्यों को अपनी ओर करना हो अपने लेख से उन्हें प्रभावित करना हो तो धर्म का सहारा लिया जाता है। धर्म कायर और भीरु मनुष्य को भी बलवान बना देता है। जब किसी संस्था में त्रुटि देखो तो लिखने से पूर्व उस के सदस्यों से हो सके तो विचार विनिमय कर लो और एक एक बात को खूब ठोक पीट कर लिखो। इच्छा हो लेखक बनने से पहले किसी पत्र का सम्वाददाता बन जाय, वहां खबरों को ठीक ठाक जुटाना और उन पे हैडिंग देना और लिखना सीख ले। अनुभवहीन होने पर अपने पत्र प्रबन्धकों से परामर्श करें और यह मालूम कर ले कि कौन कौन से आफिस अधिकारी वर्ग खबर देने पर बाधित है और सम्वाददाता का क्या कर्तव्य है। चुप्पी भीरुपन और लड़कपन सम्वाददाता के लिये दुःखदायी है। इस सम्बन्ध में मुझे जो ज्ञान है, उसे पाठकों के लाभार्थ नीचे देता हूं।

क्या २ बातें सम्वाददाता लिख सकते है

अपनी आंखों देखी बात, दूसरों की बताई या सुनी बात पुष्टि होने पर, कोई सच्ची घटना हस्ताक्षर प्राप्त होने पर विवादग्रस्त विषय सरकारी तथा अर्ध-सरकारी रिपोर्ट निष्पक्ष समाचार ... कर्मचारियों की शिकायत पुष्टि होने पर, क्या क्या बातें न लिखनी चाहियें

कोर्ट में चालू मुकदमे, ऐसी बातें जिस पर मुकदमे पर प्रभाव पड़े, द्वेष राग फैलाने वाली बात, बिना सबूत की बातें मुकदमे से पहिले मजिस्ट्रेट की जांच मुकदमे में किसी पार्टी की तरफदारी की बातें किसी ऐसे व्यक्ति का फोटो जिस की मुकदमे में शनाख्त होनी हो किसी की इज्जत पर बट्टा लगाने वाली बातें।

अपने बचाव की बातें

लिखने से पूर्व अपने दिल में उत्तर प्राप्त करके लिखो? १ क्या इस बात से किसी की इज्जत पर बट्टा लगता है? अगर बट्टा लगता है तो क्या मुकद्दमा चलने पर वह बात साबित हो सकती है?

पीड़ितों का वस्त्र स्वावलम्बन

(ले०—काशीनाथ त्रिवेदी)

मुजफ्फरपुर जिले के बदौल ग्राम में जो डाक खाना खजौलेसपुर के करीब है, गत वर्ष फरवरी में भूकम्प पीड़ितों की सहायता के लिये बिहार की केन्द्रीय रिलीफ १९३४ कमेटी के प्रयत्न से एक कताई केन्द्र खोला गया था। नीचे इस केन्द्र के व्यवस्थापक जो का भेजा हुआ गत वर्ष से अब तक के कार्य का विवरण दिया जाता है। इस केन्द्र के कार्यालय का नाम अशोक आश्रम है। नीचे क विवरण मे पाठकों को इस आश्रम की स्थिति और इस के कार्य की प्रगति का कुछ पता चल सकगा, और बिहार क इस भाग की करुणाजनक परिस्थिति का एक हृदय द्रावक वर्णन भी पढ़न को मिलेगा।

अशोक आश्रम बदौल क व्यवस्थापक लिखते हैं—

"बिहार के उस प्रलयकारी भूकम्प के बाद १२ फरवरी १९३४ को मैं बदौल ग्राम में आया। मर आन से पहले कलकत्ता सहायक कमेटी की ओर से श्री० सत्यदेव जी विद्यालंकार यहां भूकम्प पीड़ितों की सहायता कर रहे थे। उनकी विद्वता और सौजन्य से आकृष्ट हो कर मैं भी यहीं जम गया और उन की देख रेख में काम करन लगा। तब से अब तक म यहीं हू।

इस स्थान का इतिहास यह है कि पिछले ७-८ वर्षों स यहां लगातार बाढ़ आती हैं। समाचार पत्रों के पाठकों न यहां क भरथुआ चौर का नाम कदाचित सुना होगा? यह वह स्थान है जो १० मील की लम्बाई चौड़ाई में बारहों महीनों पानी से घिरा रहता है। बारिश में यही पानी बढ़ कर आस पास ५० मील के घेरे में फैल जाता है। लगातार बाढ़ पर बाढ़ आन मे यहा की बहुतरी उपजाऊ जमीन प्रति वर्ष कट-कट कर पानी के साथ बह जाती है। भरथुआ चौर क आस पास जितने गांव हैं उन सब गांवो क किसान प्रायः अपनी मौत क दिन गिना करते हैं। जिन क पास सौ बीघा जमीन है, उन के खेतो में भी खान भर को अन्न पैदा नहीं हो रहा है। इन किसानो क बाज बाज खत और पेड़ तो प्रायः सब क सब सूख गये हैं। बहुतेरे गांव ऐसे हैं कि जिन में दतौन तकक लिये लकड़ी नहीं मिल रही है। इस चौर के कारण यहां के इस उपजाऊ प्रदेश की जो बरबादी हो रही है, वह बहुत ही हृदय-विदारक है।

*   *   *

चर्खा-संघ का केन्द्र खुलन से पहले यहां चर्खों का नामोनिशान तक नहीं था अब इस विस्तार में जिन लोगों ने चर्खे को अपनाया है, वे अधिकतर ऐसे लोग हैं जो सच्चे भावो में गरीब कहे जा सकते हैं। इन गरीबों में भी चर्खे को अपनाने वालों में अधिकतर परिवार मुसलमानों के हैं, इन लोगो की अप। कोई जमीन नहीं है। पुरुष बाहर मजदूरी करते हैं। और स्त्रियां घरो में चर्खा चलाती हैं। चर्खे म अभी तक इन गरीबो को वह मदद मिली है। कि वह इन की रोटी पर नमक दे देता है। यहां के किसानो के पास जो थोड़ी बहुत ऊंची जमीन बची है उस में प्रायः शकरकन्द की खती करते हैं। यह जमीन कार्तिक से लेकर ज्येष्ठ तक सूखी रहती है। इन्हीं महीनो में लोग यहां इस को खती करते हैं। यह कन्द यहां एक बीघे में कम स कम ढाई सौ म लेकर तीन सौ मन तक पैदा होता है। फसल के दिनो में इस का भाव फी रुपया तीन से चार मन तक रहता है। यदि किसानो न इस फसल को न अपनाया होता तो आज यह स्थान उजड़ कर एक निर्जन बनसा हो चुका होता। गरीबो का तो एक मात्र आधार यह कन्द ही है। चर्खा चलान वाले गरीबो को सूत की कताई से जो चार पैसे मिल जाते हैं, उन पैसों से य सस्ते शकरकन्द खरीद कर उन मे किसी तरह व अपने पेट की आग बुझाते हैं।

जमीन यहां की बहुत उपजाऊ है। धान और रब्बी की फसल काफी उपजती है, पर पानी म सारा जमीन धुल जाने क कारण किसानो का कोई बस नहीं चलता। बारिश के पहले हर साल किसान कर्ज निकालत और बड़ी आशा से धान की फसल बोते हैं। धान उगता है, पौधे पनपते हैं खेतो में खड़े हुए इन हरे भरे लहराते पौधों को देख कर किसान की छाती दुगुनी हो जाती है। उसकी प्रसन्नता का पार नहीं रहता। पर इतने में एकाएक मूसलधार पानी बरस पड़ता और जोरो की बाढ़ आ जाती है। यह बाढ़ इन हरे भरे खेतों के साथ किसानो की आशा और सम्पदा को भी बहाले जाती है। किसान बिचारे मन मसोस कर रह जाते हैं।

इस साल करीब २ आधे अगस्त तक वर्षा बहुत कम हुई थी। किसानों ने धान की फसल को बड़े उत्साह से आबाद किया था। लोगों का ऐसा अनुमान था कि इस साल बाढ़ नहीं आवेगी और वे धान की फसल ले सकेंगे। भरथुआ चौर का पानी भी और सालो की अपेक्षा इस साल बहुत सूख गया था। पर अगस्त के जाते जाते तो इतनी जोरकी बाढ़ आई कि किसानो की सारी आशा धूल में मिल गई। इस समय यहां का दृश्य देख कर कलेजा मुंह को आता है। पचासों मील में समुद्र की तरह पानी ही पानी बह रहा है। गांव-गांव और घर-घर में पानी घुसा हुआ है।

*   *   *

यह तो हुई यहां की परिस्थिति! अब पिछले दिनो चरखे का जो काम यहां हुआ है उसे भी सुन लीजिये।
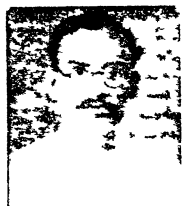
काशीनाथ त्रिवेदी

चर्खे से सम्बन्ध रखन वाला जितना सामान है वह सब हमने यहीं के कारीगरों स बनवाया है। जो चर्खे बनवाये गये हैं, उनका व्यास १६ से १८ इंच तक है। इस तरह का बना बनाया चर्खा यहां के बढ़ई ।।।) बारह आने में बचते हैं। चमरखें यहां के चमार बनाते हैं और फी पैसा एक जोड़ा क हिसाब से बेचते हैं। गांव का लुहार तकुये बना देता है और फी तकुआ तीन पैसे लेता है। चर्खे के एक चक्कर में तकुआ ८४ मर्तबा फिरता है। हमारे चर्खे पर यहीं के बने तकुए मे एक घंटे में ३०० गज सूत आसानी स कत जाता है। सूत औसतन १२ से १६ नम्बर का कतता है। भीषण गरीबी के कारण यहां की अधिकतर कत्तिनें अपना सूत बेच देती हैं। इस विस्तार में अभी तो केवल तीन परिवार ऐसे तैयार हुये हैं जो अपने सूत की खादी खुद बनवा लेते हैं। ये तीनों परिवार स्वावलम्बन के पथ पर हैं, और अधिकतर खादी ही पहनने लगे हैं। इनमें एक परिवार ऐसा भी है, कि जिसने अपने कते सूत को बेच कर अपनी जीविका भी चलाई है, और बचे हुये सूत की ४४ इंच की १६ गज खादी भी बनवाई है। इस परिवार के मुखिया का नाम घूरन राउत है ये खुद चर्खा चलाते हैं। इनकी एक छोटी लड़की है जो घर का बहुत कुछ काम और भोजन आदि बना लेती है। इनके पास अपनी कुछ जमीन भी है और दो तीन गाय बैल भी हैं। अपनी खती और पशुओं की सार-सम्हाल करते हुए बाकी समय में ये काफी सूत कात लेते हैं। बाप और बेटी, दोनों शुद्ध खादी-धारी हैं।

दूसरे व्यक्ति हैं श्री० महेन्द्र मिश्र ये घर क सुखी आदमी हैं। इनके पास अपनी काफी जमीन है जिसमें खान भर का अन्न तरह पैदा हो जाता है। घर बुढ़िया मां है जिनका समय सूत कातने में रोज का करीब २॥ तो० लेती हैं। इनके सूत का से कुछ ऊपर ही होता है। ये अपने कते सूत की १० इंची दो जोड़ साड़ियां बु है और इतने ही अज की साड़ियां और बुन देने जुलाहे को दे चुके हैं मिश्र अभी २० विवाहित नवयुवक चर्खे में इनका अपार धुनने का इनका ढंग बहुत ही आकर्षक होता है। जब ये धुनने उठते हैं, तो इच्छा होती है कि देखते ही रहें। इनके पड़ोसियों के यहां कुल आठ चर्खे और चलते हैं। इन आठ चर्खों के लिए आवश्यक सारी रुई मिश्रजी ही धुन कर देते हैं। नित्य बीस तोला रुई धुनने के बाद ही किसी दूसरे काम को हाथ लगाते हैं। धुनाई बारडोली के ढङ्ग की मध्यम पींजन से करते हैं।

तीसरे व्यक्ति श्री देवचन्द्र मिश्र हैं। इन्होंने बहुत ही सराहनीय कार्य किया है। ये काफी सम्पन्न और अमीर आदमी हैं। इनके घर की स्त्रियों को सिवा ताश खेलने के और कोई काम नहीं रहता था। रसोई बनाने और घर गृहस्थी के दूसरे काम करने के लिए नौकर रक्खे गए हैं श्री देवचन्द्र मिश्र ने खादी और चर्खे के महत्व को समझा है। वह अपने परिवार की स्त्रियों की बेकारी मिटाने का सिर तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। इनके इस परिश्रम

शेष पृष्ठ १८ पर

आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली-पूर्ण वैज्ञानिक है

(ले०—श्री वैद्यभूषण पावनिप्रसाद शर्मा, वैद्यराज आयुर्वेदाचार्य)

युक्त प्रांतीय मेडीकल विभाग के इन्सपेक्टर लेफ्टीनेन्ट मि० बक्ले ने हाल ही में अपने एक भाषण में कहा है कि आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली अवैज्ञानिक है। मालूम नहीं कर्नल साहब जैसे विचार शील विद्वान की यह धारणा कैसे हो गयी। क्या कर्नल महोदय ने आयुर्वेद शास्त्र का भली भांति अध्ययन किया है या मनगढ़न्त ही यह निश्चय कर लिया? कर्नल साहब ने यदि आयुर्वेद का अध्ययन नहीं किया था तो यूरोप के उन विचारशील डाक्टरों के गवेषणात्मक विचारों का अध्ययन करते जिस में उन्होंने आयुर्वेदिक चिकित्सा-प्रणाली को पूर्ण वैज्ञानिक बतलाया है।

जिस विज्ञान को लेकर कर्नल महोदय आयुर्वेद को अवैज्ञानिक बता रहे हैं, वह विज्ञान ही अभी [illegible] है।

[illegible] इतिहास के पाठकों से यह [illegible] है कि एलोपैथिक के जन्म-[illegible] स को जन्म जब हुआ [illegible] त में आयुर्वेद की ध्वजा [illegible] थी। आयुर्वेद ही नहीं [illegible] स्त विद्याओं के शिलालेख [illegible] और तक्षशिला के विश्व-[illegible] थे और उस समय उनका [illegible] करने वाला संसार में [illegible] टी न थी। कर्नल महो[illegible] परिचित होंगे।

[illegible] चिकित्सा

[illegible] आयुर्वेदिक चिकित्सा सिद्धान्त वाद पर निर्भर है। उसका प्रत्येक अक्षर सार गर्भित है। आयुर्वेदिक साहित्य में प्रत्येक बात को सूत्र-रूप में वर्णित किया गया है। अनकों बातें जो आज आविष्कार समझी जा रही हैं, व आयुर्वेद के ग्रन्थों में हजारों वर्ष पूर्व में वर्णित हैं। आधुनिक वैज्ञानिक जिन बातों का अभी पता नहीं लगा सके हैं, वे भी आयुर्वेद में विद्यमान हैं।

तुलसी रोपण की प्रथा हमारे यहां चिरकाल से चली आई है। वैज्ञानिकों को अब पता चला है कि इस में अनेक रोगों के हरन की शक्ति है। प्रातःकाल में उठना हमारे यहां बहुत समय से प्रचलित है। वैज्ञानिकों को पता चला है कि अल्ट्रा वायो लेट किरणों का नेत्रों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है।

माल्टा ज्वर फैलने के बाद ही वैज्ञानिकों को पता चला कि बकरी का दूध कच्चा पीना उचित नहीं। आयुर्वेदज्ञ इस बात को हजारों [illegible] पूर्व बतला गये हैं कि बकरी का [illegible] न पीना चाहिये। बच्चों के गले में तावा डालना बहुत समय से प्रचलित है। जर्मनी में एक बार हैजा फैला और तांबे की खान पर काम करने वालों पर उसका आक्रमण नहीं हुआ, तब उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि तांबे में हैजे के कीटाणुओं को नष्ट करने की शक्ति है। तांबे के पात्र में पानी पीना हमारे यहां आयुर्वेदज्ञों ने बतलाया है। अब वैज्ञानिक भी कहते हैं कि तांबा जन्तुनाशक (Anticeptic) है।

प्राच्य सिद्धान्त जो हजारों वर्ष पूर्व से चले आये हैं वही आज भी उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। परन्तु पाश्चात्य विज्ञान में एक शताब्दी में ही बहुतर हेर फेर हो रहे हैं। पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र के सिद्धान्त बार बार बदलते रहते हैं। पिछले सिद्धान्तों को आधुनिक चिकित्सक हानिकारक बतला रहे हैं। आयुर्वेद में जिस औषधि में जो गुण २००० वर्ष पूर्व था वही आज है, आप किसी प्रयोग को लीजिये उसमें वही गुण मिलेगा। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि भारत के ऋषि मुनियों ने पूर्ण अनुभव के बाद ही उसे लिखा। परन्तु पश्चिम का विज्ञान इससे भिन्न प्रतीत होता है। सुप्रसिद्ध डाक्टर जैनर ने चेचक के टीके का आविष्कार किया था इस पर उसे ब्रिटिश पार्लियामेंट से ३०००० पौंड पारितोषिक मिला ज्यों ज्यों इसी का प्रचार संसार के राष्ट्रों में बढ़ता गया वैसे २ चेचक की वृद्धि होती रही। यहां तक कि सन् १८५३ में जब इंग्लैण्ड में चेचक का टीका अनिवार्य हुआ तब थोड़े समय में ही पहली यह बीमारी बढ़ गई। लिस्टन नगर में तो जब टीका प्रारम्भ हुआ, तभी मृत्यु संख्या बढ़ने लगी।

जिन बड़े बड़े स्कॉलरों ने आयुर्वेद को अच्छी तरह समझा है उनमें से कुछ ये हैं—सरविलियम हंटर, कर्नल एम० ए० क्लार्क, लार्ड एम्पाथिल, डाक्टर फर्नेल कलकत्ता हाईकोर्ट के भूतपूर्व चीफ जस्टिस मिलोरेंस, डाक्टर ए० पी० रुडोल्फ मोरल्ड (सी० आई० ई० पी० एच० डी०) सर चार्ल्स पार्डीक्यूकिस (मर्जन जनरल गवर्नमेंट आफ इण्डिया), मि० एलीफिन्स्टन, सर चार्ल्स हैवलोक (प्रिंसपल गवर्नमेंट कालेज कलकत्ता), भारत के भूतपूर्व वायसराय लार्ड हार्डिंग आदि। इनमें से कुछ को हम हिन्दी में अनूदित करके पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दिये देते हैं।

सर विलियम हंटर कहते हैं कि हिन्दुओं के निघंटु शास्त्र में बहुत सी औषधियां वनस्पतियों और प्राणिधारियों से संकलित थीं, उनमें से बहुतों को यूरोपियन चिकित्सकों ने अब ग्रहण किया है। एक जगह फिर लिखते हैं कि हमने नाक, कान, मुंह बनाना वैद्यक से सीखा है। यह इलाज आयुर्वेद में अति प्राचीन है।

डाक्टर कर्नल डिपुटी सर्जन-जनरल ने कहा था कि हिन्दुओं की चिकित्सा पद्धति संसार में सबसे बढ़ कर है।

सर चार्ल्स पार्डीक्यूकिस कहते हैं। जितने ही अधिक समय तक मैं भारत में निवास करता हूं, उतनी ही मेरे हृदय में प्राचीन चिकित्सकों की दूरदर्शिता के प्रति श्रद्धा अधिक हो जाती है और मैं यह उतने ही अधिक जोर से महसूस करता हूं कि पाश्चात्य देशों को इस प्राच्य देश से बहुत-कुछ सीखना है।

मि० एलीफिन्स्टन कहते हैं कि भारतीय रसायन बुद्धि बहुत चमत्कारिक और अनुमान से बहुत चढ़ी-बढ़ी है।

भारत के भूतपूर्व—वायसराय लार्ड हार्डिंग कहते हैं कि जब मुझे याद आता है कि जो लोग बड़े-से-बड़े डाक्टरों को बुलाने के योग्य धनीमानी हैं, वे आज-कल भी भारतीय चिकित्सा-क्रम से इलाज कराना अच्छा समझते हैं, तब मैं इस परिणाम पर पहुंच जाता हूं कि इस चिकित्सा शास्त्र को उन्नत और समृद्ध करने वाली योजना को निरुत्साहित करूं तो मेरी बड़ी भूल होगी। देश के ९० फी-सदी प्रजाजन आयुर्वेदिक प्रणाली चिकित्सा से आरोग्यता प्राप्त करते हैं, अतः उनकी उपयोगिता को माने बिना मैं नहीं रह सकता।

ये उद्धार सिर्फ २-४ के ही लिखे गये हैं। यदि सबों के उद्धृत किये जायं तो एक पुस्तक बन सकती है। क्या कर्नल साहब अपने देश के गण्यमान्य व्यक्तियों के वाक्यों पर विचार करेंगे। यदि कर्नल साहब आयुर्वेद का अध्ययन करते या आयुर्वेद के विद्वानों से इस विषय पर बातें करते तो हमें आशा है, कर्नल साहब की यह सम्मति न होती। हां, यह हो सकता है कि कर्नल साहब ने नीम-हकीमों तथा अत्तारों की बातें सुन कर ही ऐसी धारणा कर ली हो। इस के लिये कर्नल साहब को यह चाहिये कि अत्तारों को बन्द करें, न कि आयुर्वेद को अवैज्ञानिक बतलावें। आयुर्वेदिक चिकित्सा-प्रणाली स्वाश्रय है। यह जरूर है कि सरकार इस ओर ध्यान नहीं देती।

सरकार जितना व्यय डाक्टरी में करती है, यदि उस से चौथाई भी व्यय आयुर्वेद में करती तो आज आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली उसी रूप में होती, जैसी कि चन्द्रगुप्त और अशोक आदि शासकों के समय में थी, परन्तु आज भी राजकीय सहायता न होने पर भी भारत की अधिकांश प्रजा वैद्यों से ही आरोग्य पाती है, इस बात को लार्ड हार्डिंग महोदय कह चुके हैं। डाक्टरी के जितने भी साधन हैं, वे अभी दीन हीन किसानों की झोपड़ियों तक नहीं पहुंचे हैं, वहां पर आयुर्वेद के छोटे-छोटे चुटकुले ही काम आते हैं। आयुर्वेद एक उच्च कोटि का चिकित्सा-विज्ञान है, यह अवैज्ञानिक और गड़रियों के गीत नहीं। आशा है कि कर्नल साहब भविष्य में ऐसी सम्मति न देंगे।

ने हुए व मला का और
ह हुआ थी उस
ने से कहता कि
थी रह कर सुखी
उसका विश्वास
संकट थी कि न तो
थी, न उसमें
शब्द था जिससे मैं
अपन को धन्य
पूछा आय तो
का उत्तर हो मन जिस
है। खींचा रखा
होगा सब गुणों को
जब मेरे मित्र
लोगे तुम कैसी स्त्री न
ति हो तो मैं हसते
सुन्दर हो कवि
जाति कम जो प्रूफरीडर
हो।') इसी की बात
थी परन्तु अन्तर्हृदय में यह भाव अ
वश्य था कि मेरी स्त्री कमला जैसी
सीधी-सादी न हो। यद्यपि मैं यह
नहीं चाहता था कि मेरी स्त्री मेम
साहिबों की तरह दिल्ली की सड़कों
पर स्वच्छन्दता-पूर्वक—विहार कर
मेरी आज्ञा की खुल्लमखुल्ला अव
हेलना करे। परन्तु मैं यह भी नहीं
चाहता था वह घर की चहारदिवारी
के भीतर बन्द रहे और जो कुछ मैं
कहूं उसे आंख मूंद कर मान ले।

कमला का जन्म गांव में हुआ था। वह एक साधारण परिवार में पली थी। उसके पिता वहां सुधा रकों में गिने जाते थे और इसीलिये उन्होंने अपनी कन्या को गांव के स्कूल की अन्तिम परीक्षा (मिडिल) पास करा दी थी। यद्यपि उनके विचार बहुत उदार थे परन्तु बीसवीं सदी में दुनियां जिस तेज रफ्तार से दौड़ रही है उसके देखते हुए वह बहुत पिछड़े हुए थे। दिल्ली जैसे नगर में रहने वाले के लिये तो वह एक प्रकार से गंवार ही थे। उन्होंने कमला का मुझसे संबंध करके अपने को धन्य माना। उन्होंने न मेरी स्थाई सम्पत्ति के विषय में पूछ-ताछ की न कभी यह पूछा कि मुझे आजकल क्या वेतन मिलता है। सम्भव है उन्होंने गुप्त रीति से इन बातों की जांच पड़ताल की हो। परन्तु उनकी इसी सज्जनता ने मेरे हृदय को खींच लिया था। मैं उनके सामने कुछ बोल न सका। मेरा सिद्धांत था कि मैं कन्या को देखे बिना विवाह न करूंगा परन्तु गांव में भगीरथ प्रयत्न करने के बाद भी यह सम्भव न था। बड़ी मुश्किलों से मुझे अपनी भावी पत्नी की फोटो मिली। आखिर मैंने इसीमें सन्तोष किया। ईश्वर के नाम पर मैंने भी

कहानी

प्रेमी के पत्र

(ले०—श्री प्रो० जगदीशचन्द्र शास्त्री काव्यतीर्थ)

अपनी अन्तिम स्वीकृति दे दी। एक शुभ दिन शुभ घड़ी में कमला और मैं पति पत्नी बन गये।

विवाह से पूर्व मैंने विवाह के पक्ष और विपक्ष में बहुतसी युक्तियां सुन रखी थीं। मेरे मित्रों में दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते थे। सब की दशा देख कर मैंने यही परिणाम निकाला था कि यह दिल्ली का लड्डू है इसको खाता है वह भी पछताता है जो नहीं खाता वह भी पछताता है इसलिये मैंने इस लड्डू का स्वाद चखने का ही निश्चय किया। इसे भाग्य कहिये या ईश्वर की कृपा कि कमला जैसी धर्मपत्नी पाकर मेरा यह विचार भ्रम सिद्ध हुआ कि दिल्ली का लड्डू खाने वाला भी पछताता है। मुझे कमला के रूप में स्वर्ग की देवी मिली और गृहस्थ मेरे लिये स्वर्ग हो गया। कमला दस पांच दिन में ही मेरे स्वभाव को समझ गई और गांव की वह गंवारिन लड़की दिल्ली में आकर दिल्ली वाली बन गई। सचमुच स्त्रियों में एक अद्भुत गुण है कि वह भिन्न २ परिस्थितियों में अपने आपको बड़ी आसानी से ढाल लेती हैं।

(२)

विवाह के पहले दिन मस्ती के होते हैं। वर वधू इस नये जीवन का मजा बड़े मजे से ले लेकर लूटते हैं। कुछ दिनों के लिये तो वे भूल जाते हैं कि संसार में हम दोनों को छोड़ कर किसी और का भी अस्तित्व है या नहीं इसी लिये इस छोटे से जीवन को बिताने के लिए लाखों वर्षों से तैयारी करते हैं। इसी मादक जीवन पर बड़े २ लम्बकों ने सोहाग रात और बहुरानी को लेकर जाने पुस्तकों की रचना की है। पाश्चात्य देशों में इसी का नाम हनीमून है इसका आनन्द लेना योवन का चरम लक्ष्य समझा जाता है।

कमला के साथ मेरे दिन भी खूब मजे से कटे। मैंने तो विवाह संबंधी बहुत सा साहित्य पढ़ा था परन्तु वह बेचारी इस प्रकार किताबी ज्ञान से शून्य थी। फिर भी वह किसी बात में मुझ से पीछे न थी। शायद स्त्रियों को इन बातों को सीखने के लिए किसी पुस्तक को पढ़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

इसी प्रकार हमारे जीवन के इस नये अध्याय को प्रारम्भ हुए ६ मास व्यतीत होगए। एक दिनकी बात है। कमला कहीं गई हुई थी। मैं अपनी बही ढूंढ रहा था ढूंढते २ मैं कमला के बिस्तरे पर पहुंचा। ज्योंही मैंने उसका तकिया उठाया उसके नीचे मुझे एक लिफाफा मिला। उस पर कमला का पता लिखा हुआ था। सिद्धान्तरूपेण मैं इस का विरोधी हूं कि कोई किसी का पत्र पढ़े। परन्तु जब मैंने एक सुन्दर लिफाफे पर किसी पुरुष का हस्त लेख देखा तो मैं उसके पढ़ने की उत्सुकता को न दबा सका। मैंने चोर की

श्री जगदीशचन्द्र शास्त्री

तरह डरते २ उस लिफाफे को उठाया। उसके भीतर सुगन्धि निकल रही थी। मेरा हृदय जोर २ से धड़कने लगा। मैंने झट उस लिफाफे को खोला और पढ़ने लगा

लाहोर
ता० १०-११-३३

प्यारी कमला,

तुम सचमुच बड़ी कठोर हो लोग पुरुषों की तोताचश्मी की निन्दा करते हैं। परन्तु क्या तुम्हें अच्छा लगता यदि मैं स्त्रियों की तोता चश्मी की निन्दा करूं। मेरा दिल चाहता है मैं तुम पर क्रोध करूं पर तुम्हारा ध्यान आते ही क्रोध काफूर हो जाता है। मुझे तुम्हारे सौभाग्य से ईर्ष्या होती है परन्तु मैं नहीं चाहता तुम इस मधुर जीवन में मेरी कटु स्मरण को स्थान दो। लिखता तो नहीं—परन्तु इसलिए लिख रहा हूं तुम पर मैं कुछ अपना अधिकार समझता हूं और दुर्भाग्य से तुमने भी उस अधिकार को स्वीकार किया है। मैं तुम्हारे आनन्द में बाधा नहीं डालता परन्तु मैं चाहता हूं तुमने प्रेम के जिस दुर्लभ का दान मुझ जैसे अभागे को दिया है उसे छीन मत लो तुम जानती हो मेरा सर्वस्व छिन गया है। अब तुम भी नहीं हो जो मुझे ढाढस बंधा सको। हां कभी २ एक दो चिट्ठी मुझ अभागे के लिए भी रखना और हृदय के किसी कोने में मुझे भी पड़ा रहने देना। करुणा के विषय में क्या लिखूं तुम्हें मुझ से अधिक मालूम होगा। अच्छा तुम्हारा अधिक समय नहीं लूंगा। ईश्वर तुम्हारे सौभाग्य को अचल रखे।

तुम्हारा—
रमाकान्त

मैं एक सांस में पत्र को पढ़ गया। एक बार दो बार नहीं कई बार मैंने इस पत्र को पढ़ा। मेरा हृदय बार बार यही कह रहा कि निश्चय इस पत्र को खोला कोई उस का प्रेमी जितना मैं इस समस्या पर करता था, उतना ही बढ़ता जा रहा था। मेरे यह पहला अवसर था, इतना बड़ा धोखा हुआ। मेरे मित्र ठीक कहते तिरिया चरित्र में बड़ा है। इसी सिलसिले में दादी की बात याद एक दिन मुझ से तुम ने क्या—पढ़ स्त्री को समझाने लगाने की इच्छा से मैंने कहा—दादी मैंने बड़ी मोटी मोटी पोथी पढ़ी है। यह कह कर मैंने उसे अपना डिक्शनरी दिखला दी।' बेटा तुमने तिरिया चरित्र भी पढ़ा है?' उसने फिर पूछा।

मैंने कहा—'नहीं।

तो तुमने कुछ नहीं पढ़ा है। उसने जरा तिरस्कार के साथ कहा उस दिन के बाद ही मैं बाजार से तिरिया चरित्र खरीद कर लाया और उसे आद्योपान्त पढ़ गया

तब से आज तक मैं उस विद्या का उपयोग नहीं कर सका था

विवाह के बाद उसके उपयोग करने का अवसर आया, परन्तु मैं कमला के चक्कर में आ गया देहात की एक गंवार लड़की मुझ जैसे देहली वाले को ठग गई। यह सोच कर तो मैं और भी पागल होता जा रहा था। मैंने मन ही मन में कहा—"अच्छा, मैं भी बदला लेकर छोड़ूंगा।

विषय-सूची

———:———

——:*::——

साप्ताहिक डायरी

१५ अगस्त

शिमले का समाचार है कि डा० फकीरचन्द की खाली सीट के लिए डा० नन्दलाल बार-एट-ला, भूतपूर्व एम० एल० ए० भी उम्मीदवार हैं।

—ब्रिटिश पत्रकार गेरथ जोन्स को चीनी डाकुओं ने पावलन्द (चीन) के पास गोलियों से छेद कर मार डाला।

१६ अगस्त

—बर्मा प्रान्तीय हिन्दू-महासभा ने भिक्षुसभा को एक मान-पत्र दिया है।

—फीरोजाबाद दंगे के पाडितों को १० हजार रुपये बतौर मुआविजा देना जिला अधिकारियों ने स्वीकार किया है।

१७ अगस्त

—शेखूपुरा जिले में रावी नदी की बाढ़ के कारण एक गाँव तो पानी में डूब गया और दूसरे गाँव के डूब जाने का अन्देशा है।

—जोधपुर का समाचार है कि वहाँ एक कच्ची खान के नौकर ने कच्ची-खान के सुपरिडण्ट के विरुद्ध अदालत में एक अर्जी पेश की है कि मेरी स्त्री को रामसिंह सुपरिंटेन्डेन्ट ने अपनी दूषित इच्छाओं की पूर्ति के लिये बलपूर्वक अपने घर में रखा हुआ है।

—नवसारी ग्राम के पास एक चीते ने दो व्यक्तियों को मार दिया तथा कइयों को घायल कर दिया है।

—लाहौर हाईकोर्ट ने दुबारा एक सरक्यूलर निकाल कर वकील, मजिस्ट्रेट और जजों को ता० १ अक्टूबर से अदालत खुलने पर काले कोट पहन कर ही आने की आज्ञा दी है।

१८ अगस्त

—लाहौर में एक लुहार की भट्ठी में अचानक दो बम फट गये, जिसमें एक व्यक्ति मर गया और दो सख्त घायल हुए।

अलबानिया बलकान-राष्ट्र में अनरल मिलारटी की हत्या के परिणाम-स्वरूप भारी विद्रोह हो गया है।

—मुरादाबाद की खबर है कि एक बीमार स्त्री के इक्के में सफर करते हुए बच्चा पैदा होकर सड़क पर गिर गया और तुरन्त मर गया।

१९ अगस्त

सं० प्रा० के अस्पतालों के इन्स-पेक्टर जनरल लेफ्टीनेण्ट कर्नल एच ई. बकले ने बनारस में कहा है कि आयुर्वेदिक चिकित्सा अवैज्ञानिक है।

—कलकत्ता हाईकोर्ट के जजों ने श्री नरेन्द्रनाथ देव प्लीडर (सिलहट) का वकालत करने का सर्टीफिकेट रद्द कर दिया। गत भद्रअवज्ञा आन्दोलन में सजा भुगतने के कारण जजों ने उनपर कैरेक्टर को खराबी का जुर्म लगाया है।

—बांसदी के महाराज ने युवराज के सफल आपरेशन के बाद स्वास्थ्य लाभ करने के उपलक्ष में १ लाख रुपये की छूट दी है।

—लाहौर के एक मजिस्ट्रेट ने १० सिक्खों को अदालत उठने तक कैद तथा ५)-५) जुर्माने की सजा एक से अधिक कृपाण रखने के जुर्म में दी है।

—जोधपुर में स्पेशल ट्रिब्यूनल ने जाली सिक्के और नोट बनाने के दो मामलों में फर्दजुर्म लगा दी है। मिठड़ी के ठाकुर भोमसिंह पर दफा ५८१ की फर्द जुर्म लगा दी गयी है।

—जालंधर की खबर है कि पंजाब क्रिमिनल ला अमेण्डमेंट एक्ट के मातहत नजरबन्द भाई धर्मसिंह अपने गाँव से गायब हो गये हैं।

—दिल्ली म्युनिसिपल कमेटी ने अपने स्टाफ में मुसलमानों को ४ प्रतिशत स्थान अधिक देने का फैसला किया है। अब हिन्दुओं को ४८ प्रतिशत तथा मुसलमानों को ५२ प्रतिशत स्थान मिला करेंगे।

२० अगस्त

हैदराबाद की निजाम सरकार ने ३॥) रु० फीसदी ब्याज पर १ करोड़ रुपया कर्ज लेने की घोषणा की है।

—आगरा सेन्ट्रल जेल में उरई-शूटिंग केस के श्री रमेशचन्द्र गुप्त तथा काकोरी षड़यन्त्र केस के श्री० मन्मथनाथ गुप्त ३ अगस्त से भूख-हड़ताल कर रहे हैं। अधिकारियों ने उनके भाई तक को मिलने की इजाजत नहीं दी।

—मुरादाबाद जिले में घोर वर्षा के कारण नदियों में बाढ़ आ जाने से किनारे पर के बहुत से गाँव जल-मग्न हो गये हैं।

—सीतापुर पुलिस ने वहाँ एक मकान की तलाशी लेकर कई शस्त्र बरामद किये। एक लंगड़े युवक और मकान मालिक को गिरफ्तार कर लिया गया।

—क्वेटा में शाम के ४ बजे के करीब फिर भूकम्प का धक्का आया।

२१ अगस्त

पूना जेल से भागे हुए पठान कैदी की तलाश में २०० सिपाहियों ने पार्वती मंदिर के आस-पास जबरदस्त छानबीन की। मगर कुछ पता नहीं चला।

—इलाहाबाद हाईकोर्ट ने पो० बी० जौन नामक एक ईसाई को लात-घूसों से अपनी स्त्री को मार डालने के अभियोग में आजीवन कारावास की सजा दी है।

—डा० खरे आगामी असेम्बली में यह प्रस्ताव पेश करेंगे कि भारत-मंत्री ब्रिटिश पार्लमेंट में न बैठें।

—रंगून में आबकारी महकमे वालों ने दो मोटरों द्वारा एक मोटर का पीछा करके ३१२० तोले गाँजा बरामद किया।

—श्रीनगर की सोप धर्मशाला सम्बन्धी सिक्ख-हिन्दू झगड़े ने भीषण रूप धारण कर लिया। १७ ता० को १०० सिक्खों ने प्रताप भवन में हिन्दुओं पर हमला कर दिया, जिसमें १२ हिन्दू और २ मुसलमान घायल हुए हैं।

—चांदा (नागपुर) जिले में दो व्यक्तियों को फाँसी और ३ को आजीवन काला पानी की सजा नरबलि के जुर्म में दी गई है। वहाँ एक वृद्ध पुरुष की बलि फसल सुधार के लिये दे दी गई थी।

२२ अगस्त

—हबीगंज (सिलहट) में अनेक मकानों की पुलिस ने तलाशी ली। कुछ कारतूस मिले भी हैं।

—जर्मनी में दो भयंकर दुर्घटनायें इस सप्ताह हुईं। एक रेडियो-प्रदर्शनी का भयंकर अग्निकांड और दूसरा भारी सुरंग दुर्घटना। सुरंग गिरने से बहुत से आदमी दब गये।

—राजस्थान के प्रख्यात राजवैद्य श्री रामदयालजी का ७५-७६ साल की उम्र में देहांत होगया।

२३ अगस्त

—दिल्ली में ६ बज कर २ मिनट पर भूकम्प का धक्का आया जो २-३ सेकिंड तक रहा।

—कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने आगामी १ सितम्बर को भारत में 'अबीसीनिया' दिवस मनाने का निश्चय किया है।

—शिरोमणि अकाली दल की कार्यकारिणी की बैठक २६ सितम्बर को शहीदगंज पर विचार करने के लिये बैठेगी।

—दामोदर और अजय नदियाँ फिर बढ़ रही हैं।

सरकार ने 'ज्वाला' अखबार का भारत में आना निषिद्ध कर दिया है।

—बंगाल कौंसिल में होम मेम्बर ने बंगाल पब्लिक सीक्योरिटी (एक्स-टेंडिंग) बिल कौंसिल में पेश कर दिया है।

चित्र-परिचय

विलीपोस्ट — आप अमरिका के प्रसिद्ध उड़ाके थे और अमरिका से रूस तक की हवाई यात्रा के महान पराक्रम करते हुए हवाई दुर्घटना के कारण मर गये।

डोन्लरा — आप ने घोषणा की है कि आप राष्ट्र-संघ में उपस्थित हो कर अबीसीनिया के पक्ष का समर्थन करेंगे।

मा० तारासिंह — आप ने एक वक्तव्य निकाल कर पंजाब के हिन्दुओं व सिक्खों को आने वाली गंभीर परिस्थिति से सावधान होने की सूचना दी है।

सर एच० पी० मोदी — आप ने नये शासन विधान को चलाने के लिये एक नयी पार्टी खड़ा करना चाहा है।

जापान का ब्रिटेन को इन्कार

जल-सेना की बातचीत में भाग नहीं लेगा

विश्वस्त रूप से ज्ञात हुआ है कि जल सेना सम्बन्धी बातचीत को पुनः जारी करने के विषय में ब्रिटेन ने जापान का रवैया जानने का यत्न किया था। जापान के मन्त्री-मण्डल ने अपने लण्डन-स्थित राजदूत को हिदायत दी है कि वह ब्रिटेन को यह जतला दे कि जब तक जापान का समानता का दावा मंजूर नहीं कर लिया जायगा तब तक वह किसी प्रकार की भी बातचीत में शामिल होने के लिये तैयार नहीं।

सप्ताह की हलचल

भारत से अबीसीनिया को फौज रवाना

पेरिस कान्फरेन्स भंग

इटली की सामरिक तैयारियाँ

अक्टूबर में युद्ध शुरु होगा ?

———:———

इटली अबीसीनिया की स्थिति विषम होती जा रही है। पेरिस में इटली फ्रांस और ब्रिटेन की जो कान्फ्रेन्स हो रही थी वह किसी निर्णय पर न पहुंच सकने के कारण भंग हो गई। इटली ने अपनी मांग में कमी नहीं की। वह ब्रिटेन के इस प्रस्ताव में सहमत नहीं हुआ कि इटली अबीसीनिया पर केवल आर्थिक प्रभुत्व करले। वह तो अबीसीनिया पर अपनी सार्वभौम सत्ता कायम करना चाहता है। मि० ईडन तो इस कान्फरन्स के भंग होने से निराश हो गये हैं लेकिन फ्रान्स के प्रधान-मन्त्री मि० लेवल को अब भी आशा है कि ४ सितम्बर को जेनवा में होने वाली कानफरन्स में कोई राह निकल आयगा। रोम में खयाल किया जा रहा है कि समझौता नहीं होगा।

इटली की तैयारियाँ बदस्तूर जारी हैं। उस ने अपनी वायु-सेना में १६,००० सैनिकों की वृद्धि और करके उनकी कुल संख्या ४०८५३ कर ली है। ब्लैकशर्ट डिवीजन के ९००० सैनिक २१ अगस्त को नेपल्स से अफ्रीका के लिये और रवाना हुए हैं। फासिस्ट पार्टी के प्रमुख व्यक्तियों ने युद्ध के लिये अपनी सेवायें समर्पित की हैं, जिन्हें उपयुक्त अवसर पर स्वीकार करने की मुसोलिनी ने इच्छा भी प्रकट कर दी है।

इटली के प्रतिनिधि बैरन अलायसी ने एक वक्तव्य में कहा है कि अबीसीनिया की सेना भंजन में इटली का मुख्य उद्देश्य अबीसीनियन आक्रमण से अपने को रक्षित रखना ही है और इसके लिये अबीसीनिया को निःशस्त्र करना पड़ेगा। इटली राष्ट्र-संघ को नहीं छोड़ना चाहता, पर आवश्यकता पड़ने पर वह उसे छोड़ भी देगा।

ब्रिटेन में चिन्ता

पेरिस कान्फ्रेन्स भंग होने के बाद से ब्रिटेन में अत्यन्त गंभीर परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है। ब्रिटेन की नीति क्या हो, इस पर गंभीरता से विचार किया जा रहा है। ता० २२ अगस्त को ब्रिटिश मन्त्री मण्डल की बैठक हुई। कहते हैं कि—

विचारोपरान्त मन्त्रि मण्डल इस निश्चय पर पहुंचा कि राष्ट्र संघ की बैठक तक फ्रान्स के साथ मिल जुल कर समझौते का रास्ता निकालने का ही प्रयत्न जारी रखा जाय और इस बात को मद्दनजर रखते हुए शस्त्रास्त्र के निर्यात पर लगाये हुए प्रतिबन्ध बदस्तूर कायम रहें। राष्ट्र संघ और उसके सन्धि पत्र के सम्बन्ध में जिस नीति की घोषणा पहले कई बार की जा चुकी है, उसी पर कायम रहने का भी निश्चय हुआ।

भारत से फौज रवाना

ब्रिटिश सरकार को अबीसीनिया में अपने हितों की रक्षा के लिए चिन्ता हो रही है। वहां रहने वाले ब्रिटिश और भारतीयों की रक्षा के नाम पर वहां भारत से ५।१४ वां पंजाब रजिमेण्ट गत २४ अगस्त को रवाना कर भी दी गई। यह उस भारतीय सेना की सहायता करेगी जो अदीस अबाबा के ब्रिटिश दूतावास में नियत है।

स्वेज नहर का रास्ता बन्द होगा ?

यह भी सोचा जा रहा है कि इटली पर दबाव डालने के लिये स्वेज नहर के रास्ते इटैलियन जहाजों का आना जाना रोक दिया जाय और उसकी जल शक्ति के खिलाफ जबरदस्त जल शक्ति का प्रदर्शन किया जाय परन्तु इसके लिये राष्ट्र संघ को पहले जल शक्ति वाले अपने हिमायती राष्ट्रों अर्थात् ब्रिटेन और फ्रांस का आदेश करना पड़ेगा। कहते हैं इस सम्बन्ध में ब्रिटेन जो भी करेगा अकेला नहीं करेगा।

हर हाल में ऐसा अनुमान है, एक पक्ष के अन्दर २ लड़ाई और राष्ट्र संघ के भाग्य का फैसला हो जायगा।

———

लोहारू की भीषण परिस्थिति

गांवों पर पुलिस का घेरा

जंगलों में बच्चे पैदा हुए

लोहारू के किसानों के सम्बन्ध में अब तक सनसनीखेज खबरें आ रही हैं। सिंघानी गांव के अतिरिक्त अन्य गांवों में भी पुलिस के अत्याचार बढ़ रहे हैं।

लोहारू रियासत से जो लोग भागकर आये हैं वे वहां की परिस्थिति के बारे में भयंकर वर्णन कर रहे हैं। कहा जाता है कि खड़खड़ी और गोठड़ा गांव पुलिस के घेरे में हैं और वहां लूटमार हो रही है। लोग जंगलों में भागकर जान बचा रहे हैं। जंगलों में धूप और वर्षा में पड़ी हुई कुछ गर्भवती स्त्रियों के बच्चे होने की भी खबर आई है।

भिवानी अस्पताल में पड़े घायलों में अभी कुछ की हालत ज्यादा खराब है।

घायलों में बेचैनी

मालूम हुआ है कि लूटमार के ताजे समाचारों से घायलों में बड़ी बेचैनी है। उन्होंने पंजाब की रियासतों के ए० जी० जी० को रक्षा के लिये तार दिया है।

भिवानी में कल लोहारू पीड़ित-सहायक सभा की बैठक हिसार के चौधरी लाजपतराय साहब की अध्यक्षता में हुई। निश्चय हुआ कि लोहारू की स्थिति के सम्बन्ध में पम्फलेट छपा अधिकारियों तथा सर्वसाधारण के पास भेजे जायें। एक जबरदस्त डपूटेशन भी वायसराय तथा ए० जी० जी० के पास भेजने की तजवीज है।

प० नेकीराम शर्मा ने एक वक्तव्य के सिलसिले में लिखा है:—

'पीड़ित तथा अन्य लोगों से लोहारू के विषय में मैं जितना जान पाया हूं उसके बल पर मुझे विश्वास हो गया है कि अभी वहां की स्थिति बिलकुल ठीक नहीं हो सकी है, प्रत्युत मैं तो यह भी कह सकता हूं कि लूटपाट स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार निर्दय लाठी प्रहार और निष्ठुरता पूर्वक गोली चलाने की जो बातें कही जाती हैं वे सत्य और साधार हैं।'

"मुझे मालूम हुआ है कि अब भी गांव लूटे जा रहे हैं और गांवों वाले पिट रहे और गिरफ्तार किये जा रहे हैं तथा डर हुये लोग जंगलों में शरण ले रहे हैं जहां गर्भवती स्त्रियों के बच्चे तक होने की खबर है। यही कारण मालूम होता है कि राज्याधिकारी जिम्मेवार व्यक्तियों को राज्य में नहीं घुसने देते और वहां की स्थिति देखने नहीं देते तथा निष्पक्ष जांच की आवश्यकता को अस्वीकार करते हैं।"

सीमा प्रांत में उपद्रव

गोलाबारी शुरु

पहरेदारों पर आक्रमण

गत १६ अगस्त को सीमाप्रान्तीय सरकार ने सरहद की गड़बड़ के बारे में निम्न विज्ञप्ति प्रकाशित की है:—

लोअर मोहमन्द इलाके में अपर मोहमन्दियों के हमलों से लोअर मोहमन्दियों की रक्षा के लिये १९३३ में शबकदर से यूसुफ खेल तक एक सड़क बनायी गयी थी। आलिंगर के फकीर ने ९०० सहायकों की मदद से उक्त सड़क को तोड़ने की कोशिश की। इस पर हलीम जाई लश्कर के लोग फकीर से लड़ने को तैयार हो गये। गत जुलाई मास में डावड और कारपर्कोडो के बीच में सड़क की कुछ मरम्मत की जा रही थी। ईसाखेलो लश्कर के नौजवान कबीले वालों ने सड़क की मरम्मत के विरुद्ध प्रदर्शन किया। २९ जुलाई को सुबह २०० कबीले वालों ने अचानक गोलियां चलानी शुरु कर दीं। सरहदी सिपाहियों ने उनका मुकाबला किया और पीछे हटा दिया। दोनों ओर से दिन भर गोलियां चलती रहीं। फौजें भी घटनास्थल पर पहुंच गयीं। मगर उन्होंने लड़ाई में कोई भाग नहीं लिया। ८ अगस्त तक सड़क की मरम्मत पूरी होगई। सरकारी आदमियों में से किसी के चोट नहीं आई, परन्तु ३ कबायली हताहत हुए।

३ अगस्त को मुल्ला हाजी तुरंगजई का बेटा बादशाहगुल लोअर मोहमन्द इलाके में उतर आया। उसके पास एक मशीनगन थी। बुरहानखेल ईसाखेल वालों ने बादशाह गुल से वापिस चले जाने को कहा, मगर वह वापिस नहीं गया। ७ अगस्त को बुरहानखेल कबायली ने ८,० गज तक टेलीफून के तार काट दिये और सरहदी पुलिस वालों पर हमला कर दिया।

१५ अगस्त को बादशाहगुल की पार्टी ने सड़क को तोड़ना शुरु कर दिया। विद्रोही चिमनाई भी गुल के साथ था। गुल की इन हरकतों को देख कर सरकारी फौज घटनास्थल पर भेजी गयी।

———

——:——

सोमवार ता० २६ अगस्त १९३५ ई०

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्

विश्वविद्यालय और बेकारी

भारतीय विश्वविद्यालयों की वर्तमान उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में असन्तोष शनैः शनैः उग्र रूप धारण करता आ रहा है। प्रायः सभी प्रान्तों के अधिकांश विचारक और शिक्षाशास्त्री वर्तमान अंग्रेज़ी शिक्षा के दुष्परिणामों को अधिकाधिक अनुभव करते आ रहे हैं। केवल विचारक और शिक्षाशास्त्री ही नहीं यूनिवर्सिटियों के संचालक सरकारी अधिकारी भी वर्तमान शिक्षा के क्रम में दोष देखने लगे हैं। यही कारण है कि आजकल किसी विश्वविद्यालय का दीक्षांत अभिभाषण हो, वर्तमान उच्च शिक्षा की त्रुटियों पर अवश्य प्रकाश डाला जाता है और शिक्षा-क्रम में परिवर्तन पर ज़ोर दिया जाता है। वस्तुतः आज की उच्च शिक्षा विद्यार्थी को जीवन-यात्रा के निर्वाह के योग्य नहीं बनाती १४ साल तक एक विद्यार्थी अपने माता पिता का अमित धन, अपनी शक्ति और सब से बढ़ कर अपना स्वास्थ्य नष्ट कर ग्रेजुएट बनता है। उसके हृदय में बड़ी २ उमंगें होती हैं, वह समझता है कि संसार में उसका बड़े प्रेम से स्वागत होगा और उसकी जीवन-यात्रा बड़े आराम से व्यतीत होगी। लेकिन संसार-क्षेत्र में प्रवेश करने के बाद वह देखता है कि उसकी सब आशायें, सब स्वप्न, मिट्टी में मिल गये। संसार में सभी स्थानों पर उसका तिरस्कार होता है। उसे अपनी शिक्षा पर किया गया व्यय भी पूरा करना मुश्किल हो रहा है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है और अत्यन्त दीनता और नम्रता से—अपना आत्मसम्मान खोकर २५)-३०) की नौकरी के लिये प्रार्थना करता है, लेकिन हर जगह उसे 'नो वकेंसी' का टाटूक सा जवाब मिलता है। तब वह सोचने लगता है कि इतनी भारी शिक्षा क्या निरुपयोगी ही हुई है। आज बढ़ती हुई शिक्षित बेकारों की समस्या ने भीषण रूप धारण कर एक बार सभी विचारकों और शिक्षा शास्त्रियों का ध्यान जबर्दस्ती अपनी ओर खींच लिया है। बम्बई विश्वविद्यालय में दीक्षांत भाषण देते हुए बम्बई गवर्नर लार्ड ब्रेबोर्न ने भी स्वभावतः ही इस आवश्यक विषय पर प्रकाश डाला है। शिक्षित बेकारों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं—"मैं इन सब का उल्लेख इन बेकारों की उत्पत्ति पर किए गए व्यर्थ व्यय को दिखाने के लिए कर रहा हूं। माता पिता, जो अपने गाढ़े पसीने की कमाई में से जो कुछ बचाते हैं वह सब अपने पुत्र की शिक्षा पर व्यय कर देते हैं, अपने धन का दुरुपयोग ही करते हैं। विश्वविद्यालय भी उन्हें शिक्षित करने में शक्ति और अपने साधनों का तथा सरकार अपनी सहायता का दुरुपयोग करती है।" वस्तुतः उस धन और शक्ति का व्यय दुरुपयोग ही कहा जायगा जिसका कोई अच्छा परिणाम न निकलता हो।

इस स्थिति का कारण क्या है? क्यों शिक्षित युवक बेकार रहते हैं? इसका विवेचन करते हुए बम्बई गवर्नर ने बहुत ठीक कहा है—"जैसा कि आप जानते हैं, यूनिवर्सिटी से शिक्षाप्राप्त युवक साधारणतया क्लर्की के सिवा और कोई काम करना ही नहीं चाहता। हालत इतनी खराब है कि कृषि पढ़े हुए बी० ए० भी खेती का हाथ का काम करना नहीं चाहते।" विश्वविद्यालयों की शिक्षा विद्यार्थियों को निस्तेज और निरुत्साहित कर देती है उसमें किसी कार्य को करने का, कष्ट उठाने का साहस नहीं रहता, उसका मन और आत्मा दोनों निर्बल हो जाते हैं। यही वर्तमान उच्च शिक्षा का सब से बड़ा दोष है। यदि वह उच्च शिक्षा में धन का दुरुपयोग न कर वह धन किसी शिल्प को सीखने में या व्यापार प्रारम्भ करने में लगाता, तो अधिक अच्छा होता। कालेज के ४ सालों की शिक्षा पर औसतन ४०००)—५०००) रु० माता पिता व्यय करते हैं और सरकारी सहायता, दान आदि के रूप में जो धन एक विद्यार्थी पर व्यय होता है, वह इससे पृथक है। भारत में बीसियों विश्वविद्यालय और सैंकड़ों कालेज हैं। इन सब में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के व्यय की एक बार कल्पना तो कीजिए। कितना भारी और विशाल धन राशि आज व्यय हो रही है। यदि यह रुपया व्यापार व व्यवसाय में लगाया जाय, तो देश की बेकारी समस्या भी दूर हो और देश की समृद्धि भी बढ़े।

एक बड़ा भारी भ्रम हम लोगों में यह फैल रहा है कि साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करना—बी० ए०, एम० ए० बनना आवश्यक है। मानवजीवन का ध्येय परीक्षाएं पास करना नहीं है। परीक्षा और उच्च शिक्षा तो मानसिक विकास का साधन है। कालेजों में तो उन्हीं विद्यार्थियों को जाना चाहिये जो प्रतिभाशाली हों जिनकी रुचि बौद्धिक विकास की ओर हो। ऐसे विद्यार्थियों को, जिनकी रुचि व्यापार, व्यवसाय और शिल्प की ओर हो, कालेजों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है। वे क्यों वह उच्च शिक्षा प्राप्त करने में अपने समय और धन का दुरुपयोग करें, जो उनके लिये लाभप्रद न हो। क्यों न वे अपना समय और धन उस कार्य में व्यय करें, जिसे सीखकर वे संसार के संघर्षमय वातावरण में अपनी जीवन यात्रा निर्विघ्न गुज़ार सकें। इस भ्रम के दूर होने पर ही हमारी बेकारी की समस्या हल हो सकती है।

———

सम्पादकीय विचार

जनता का हृदय और राष्ट्र भाषा

"भारत के देशभक्तों ने प्रारम्भ में राष्ट्र-भाषा का महत्व नहीं समा-

का था। वे अंग्रेजी में बोलना गौरव समझते थे। किन्तु अब लोगों का यह दृढ़ धारणा हो गई है कि भारत की विशाल जन-संख्या के हृदय में पहुंचने के लिए इस की महान् आवश्यकता है। फलस्वरूप हिन्दी ने, जो सर्वसाधारण की भाषा है, राष्ट्र-भाषा का पद एवं गौरव प्राप्त किया है।' कलकत्ता यूनिवर्सिटी के भाषा विज्ञान के प्रोफेसर डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लन्दन में एक भाषण देते हुए उक्त शब्द कहे। इन शब्दों की व्याख्या व्यर्थ है। जनता के हृदय तक पहुंचने के लिए राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता होती है और सर्वसम्मति से यह गौरव हमारी हिन्दी को मिल चुका है। परन्तु यह अफ़सोस की बात है कि आज भी अधिकांश कांग्रेसी नेता अंग्रेजी में ही वक्तव्य दिया करते हैं। स्थिति इतनी खराब है कि कांग्रेस कमेटियां देशी भाषा के अखबारों को भी अंग्रेजी में सूचनायें भेजती हैं, क्या राष्ट्र भाषा के प्रेमी इस की ओर ध्यान देंगे।

गांवों की ओर

स्काउटिंग या बालचर्य आज-कल यदि ठीक दिशा में चलाया जाय, तो चरित्र-निर्माण का प्रधान साधन है। अन्य देशों में इधर काफी ध्यान दिया जाता है। भारत में भी बेडनपावल और सेवासमिति प्रयाग की ओर से दो बालचर संस्थायें चल रही हैं, लेकिन इन दोनों का कार्य अधिकतर शहरों में ही है, गांवों में नहीं या बहुत थोड़ा। लेकिन भारत की ९८ फ़ीसदी जनता गांवों में निवास करती है। इसलिए यदि ग्रामीणों की सेवा करनी हो, तो बालचर-आन्दोलन के नेताओं को गांवों को अपना मुख्य कार्य-क्षेत्र बनाना होगा। हर्ष की बात है कि चीफ कमिश्नर श्री हृदयनाथ कुंजरू ने इस की ओर ध्यान दिया है। उन्होंने एक कान्फ़रेन्स में भाषण देते हुए कहा कि—आवश्यकता इस बात की है कि स्काउटिंग गांवों और देहातों में और भी अधिक फैल जाय, क्योंकि वहां शिक्षा का अभाव है। देहातों में तो स्काउट मास्टर ही बच्चों तथा ग्रामीणों के पथ प्रदर्शक होते हैं। "देहातों में बालचर-आन्दोलन फैलने के अनेक लाभ होंगे। देहातियों में भ्रातृत्व, सेवा और विपत्ति में उत्साह आदि की भावनायें पैदा होंगी। पर ग्राम-प्रचार के लिये स्काउट मास्टरों में यदि निस्स्वार्थ सेवा भाव न होगा, तो कोई लाभ न होगा। आशा है कि बालचर-आन्दोलन के कार्यकर्ता श्री कुंजरू के परामर्श पर विचार करेंगे।

मांग के पीछे बल

कलकत्ते में श्री चिन्तामणि के सभापतित्व में अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए हैं। प्रेस इमर्जैंसी पावर्स एक्ट, देशी राज्य-रक्षा कानून और बंगाल क्रिमिनल एमेंडमेंट एक्ट तथा अन्य दमनकारी साधनों का तीव्र प्रतिवाद करते हुए पत्रकार सम्मेलन ने सरकार से प्रबल अनुरोध किया है कि इन्हें एक दम रद्द कर दिया जाय। वस्तुतः ये कानून अखबारों पर नंगी तलवार का काम करते हैं। प्रत्येक पत्रकार दफ्तर में बैठ कर अपने सामने लटकती हुई नंगी तलवार से कांपता है। और कभी वस्तुस्थिति का सच्चा वर्णन नहीं कर सकता। पत्रों की स्वतन्त्रता और विकास के लिए इन कानूनों का रद्द होना अनिवार्य है। सम्मेलन ने अन्य भी अनेक उपयोगी प्रस्ताव पास किये हैं। लेकिन यदि इन प्रस्तावों के पीछे कोई शक्ति न हो, तो इन प्रस्तावों का कोई अर्थ नहीं रहता। क्या हम पत्रकार सम्मेलन के सभापति श्री चिन्तामणि से यह आशा रखें कि वे इन प्रस्तावों को कार्यान्वित कराने के लिए एक प्रबल आन्दोलन चलायेंगे। उन्हें अबतक के अनुभव से यह मालूम हो गया होगा कि जिस मांग के पीछे कोई बल नहीं है, वह मांग बहरे कानों ही पड़ेगी।

अभी से

राष्ट्रपति बा० राजेन्द्रप्रसाद ने अभी एक वक्तव्य देते हुए कांग्रेस कमेटियों का ध्यान एक बहुत महत्वपूर्ण मामले की ओर खींचा है। नये शासन विधान में कांग्रेस की नीति क्या होगी, यह तो अभी निश्चित नहीं हुआ है, परन्तु फिर भी यदि असेम्बली, कौंसिलों पर कब्ज़ा करने का निश्चय हो, तो उसके लिए तैयारी अभी से शुरु कर देनी चाहिए। अनेक प्रान्तों में मतदाताओं की सूची तैयार हो रही है। यह सूची जितनी पूर्ण होगी, जनता का उतनी ही ठीक प्रतिनिधित्व हो सकेगा। इसलिये "प्रान्तीय कमेटियों को जनता में वोटरों की सूची में अपना नाम दर्ज कराने के सम्बन्ध में प्रचार अवश्य करना चाहिये।' जितने अधिक राष्ट्रीय विचार के लोग मतदाताओं में अपना नाम लिखा सकेंगे, उतने ही अधिक, यदि चुनाव में कांग्रेस खड़ी हुई, कांग्रेसी उम्मीदवार सफल हो सकेंगे। भावी शासन विधान में कांग्रेस की विजय कितनी आवश्यक है, यह सभी जानते हैं। यदि चुनाव में कांग्रेस खड़ी न हो, तो मतदाता उदासीन रह सकते हैं। लेकिन यदि कांग्रेस चुनाव में खड़ी हो गई, तो आज की उदासीनता हमारे लिए घातक सिद्ध होगी। इसलिए सभी कांग्रेसियों का कर्तव्य है कि वे इस ओर उदासीनता न दिखावें और अधिकाधिक संख्या में मतदाताओं की सूची में अपना नाम लिखावें।

अंग्रेजी अनिवार्य नहीं है!

अंग्रेजी राज-भाषा है और उसके द्वारा अनेक विज्ञान अध्ययन किये जा सकते हैं, यह मानते हुए भी हम यह मानने को तैयार नहीं कि प्राइमरी या मिडिल विद्यालयों के लिये भी अंग्रेज़ी को अनिवार्य कर दिया जाय। अंग्रेजी शिक्षा नौकरी वालों या ऊंची शिक्षा प्राप्त करने वालों के लिए तो आवश्यक है, इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु सर्वसाधारण के लिए, जिन्हें ग्रामों में खेतीबाड़ी दुकानदारी या अपने शिल्प पर बसर करना है, अंग्रेज़ी के ज्ञान को अनिवार्य नहीं ठहराया जा सकता। हिंदी या प्रांतीय भाषायें इतनी उन्नत हो चुकी हैं कि सर्वसाधारण जनता को प्रत्येक विषय का साधारण ज्ञान उन भाषाओं द्वारा हो सकता है। इस अवस्था में अंग्रेज़ी को अनिवार्य कर के विद्यार्थियों का धन, समय और श्रम नष्ट करना बुद्धिमत्ता नहीं है। अभी ग्वालियर के मिडिल स्कूलों में अंग्रेज़ी को अनिवार्य कर दिया गया है, इससे उन ग्रामीण विद्यार्थियों को बहुत असुविधा हो गई है, जो अपने २ गांवों से ४ या ६ श्रेणियां पास कर आते हैं। पहले वे मिडिल स्कूल में ५ वीं या ७ वीं श्रेणी में भरती हो जाते थे, लेकिन अब उन्हें अंग्रेजी पढ़ने के लिए फिर तीसरी कक्षा में भरती होना पड़ता है इससे उनके ४ साल खराब हो जाते हैं। कोई भी विदेशी भाषा अनिवार्य नहीं है, इस सत्य को समझ लेना चाहिए। आशा है ग्वालियर का शिक्षा विभाग इस निवेदन पर ध्यान देगा।

लोहारू-प्रवेश पर पाबन्दी

भाई परमानन्द गोलीकांड पीड़ित जाटों की स्थिति का अध्ययन करने के लिये लोहारू जा रहे थे। वे हिंदू महासभा के अध्यक्ष हैं उनका वहां की विषम स्थिति की जांच करना आवश्यक था। लेकिन लोहारू के अधिकारियों ने रोक दिया। उन्हें जो तार मिला है, वह अत्यन्त अशिष्ट है। उसमें लिखा है कि "हम जोश और उससे पैदा होने वाले उपद्रव से बचते हैं।" क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि अधिकारियों की सम्मति में भाई परमानन्द जोशीले और उपद्रवी हैं। अन्य भी अनेक सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को वहां जाने से रोक दिया गया है। इस रुकावट के कारण वहां की सच्ची स्थिति के सम्बन्ध में जांच होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। इस जांच के अभाव से यदि लोग अत्याचार और गोलीकांड की उन रोमांचकारी कथाओं पर विश्वास करलें, जो अखबारों में प्रकाशित हुई हैं, तो आश्चर्य न होगा। यदि नवाब साहब सचमुच यह चाहते हैं कि वे अपनी प्रजा का विश्वास सम्पादन करें, तो उनका कर्तव्य है कि वे सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का सहयोग प्राप्त करें।

गंगा—मैया

(ले०—श्री दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर, वर्धा)

गंगा कुछ न करती, केवल देवव्रत भीष्म को जन्म देती, तो भी वह आज आर्य जाति की माता के रूप में प्रख्यात होती ! पितामह भीष्म की टेक, भीष्म की निस्पृहता, भीष्म का ब्रह्मचर्य और भीष्म का तत्वज्ञान आर्य जाति के लिये सदा आदर पात्र ध्येय बन चुका है। ऐसे महापुरुष की माता के रूप में ह लोग गंगा को जानते हैं।

नदी को यदि कोई उपमा सजती है तो वह माता की ही ! नदी तीर पर रहें तो दुकाल का भय तो रहा ही नहीं। मेघ राजा धोखा देदें तब नदीमाता हमारी फसल को परिपक्व बनाती है। नदी का तीर शुद्ध और शीतल हवा का धाम है। नदी के किनारे किनारे भ्रमण करने जाय तो कुदरत के मातृवात्सल्य के अखंड प्रवाह का दर्शन होता है। नदी बड़ी हो तथा उसका प्रवाह धीर गंभीर हो तब तो उसके तीर पर बसने वाले लोगों की समृद्धि उस नदी पर ही अवलम्बित होती है। वस्तुतः नदी जन-समाज की माता है। नदी-तीर पर बसे हुए नगर की गली गली हम घूम रहे हों और किसी एका-एक कोने से नदी का दर्शन हो जाय तब हमको कितना आनन्द होता है। कहां शहर का मलिन वातावरण और कहां नदी का प्रसन्न दर्शन ! तुरन्त ही दोनों का भेद मालूम होजाता है नदी ईश्वर नहीं है, पर ईश्वर का स्मरण कराने वाली देवती है। यदि गुरु को नमन करना योग्य है तो नदी को भी वंदन करना उचित है।

यह तो हुई सामान्य नदी की बात। गंगा मैया तो आर्य जाति की माता है। आर्यों के बड़े २ साम्राज्य इसके किनार पर ही स्थापित हुए हैं। कुरुपांचाल देश का अंगवंगादि देशों के साथ गंगा ने ही संयोग किया है। आज भी भारतवर्ष की आबादी गंगा के किनारे पर ही अधिक से अधिक है।

जब हम गङ्गा का दर्शन करते हैं तब फसल से लहलहाते खेत ही हमारे ध्यान में नहीं आते, माल से लदे हुए जहाज ही हमारे ध्यान में नहीं आते पर, साथ ही ही व्यास और वाल्मीकि के काव्य, बुद्ध और महावीर के विहार, अशोक, समुद्रगुप्त, और हर्ष तुल्य सम्राटों के पराक्रम तथा तुलसीदास और कबीर सरीखे सन्तजनों के भजन—इन सबका स्मरण होता है। गंगा का तो दैव्यपावनत्व का प्रत्यक्ष दर्शन है।

पर गंगा का दर्शन एक प्रकार का ही नहीं है। गंगोत्री के समीप हिमाच्छादित प्रदेशों में इसका क्रीड़ा-पूर्ण कन्या रूप है। उत्तर काशी की ओर तीड़ देवदार के काव्य मय प्रदे. में इसका मुग्धा स्वरूप है। देवप्रयाग के पहाड़ी और सकरे प्रदेश में चमकीली अलकनंदा के साथ इसकी क्रीड़ा, लक्ष्मण झूले की करालदंष्ट्रा में से छूटने के बाद हरद्वार के पास उसका अनेक धाराओं में स्वच्छन्द विहार, कानपुर को घिस कर आता हुआ इसका इतिहास प्रसिद्ध प्रवाह, प्रयाग के विशाल पाट में इसका कालिन्दी के साथ त्रिवेणी संगम प्रत्येक की शोभा कुछ जुदी जुदी ही है। एक दृश्य देखने से दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रत्येक का सौंदर्य जुदा, प्रत्येक का भाव जुदा, प्रत्येक का वातावरण जुदा और प्रत्येक का माहात्म्य जुदा है।

प्रयाग से गंगा जुदा ही स्वरूप धारण करती है। गंगोत्री से लेकर प्रयाग तक गंगा प्रवर्धमान होती हुई भी एकरूप मानी जा सकती है। परन्तु प्रयाग के पास इसको यमुना मिलती है। यमुना का काठा (तीर) तो पहिले से ही दुहरा है। वह खेलती, कूदती है परन्तु खिलाड़ी नहीं प्रतीत होती। गंगा शकुन्तला जैसी तपस्वी कन्या दीखती है और काली यमुना द्रोपदी सरीखी मानिनी राजकन्या प्रतीत होती है। शर्मिष्ठा और देवयानी की कथा सुनते हैं उस समय भी प्रयाग के समीप गंगा और यमुना का बड़ी कठिनता से मिलता हुआ शुक्ल-कृष्ण प्रवाह याद आता है। भारतभूमि में असंख्य नदियां हैं, अतः उनके संगम भी अगणित हैं। हमारे पूर्वजों ने इन सब संगमों में गंगा यमुना का यह संयोग सबसे अधिक पसन्द किया है और इसीलिए उसका प्रयागराज जैसा गौरव भरा नाम रक्खा है। भारतवर्ष में मुसलमानों के आने के बाद जिस प्रकार भारत के इतिहास का रूप बदल गया है, उसी प्रकार दिल्ली आगरा और मथुरा-वृन्दावन के समीप से आते यमुना के प्रवाह के कारण गंगा का स्वरूप भी सर्वथा बदल गया है।

प्रयाग के बाद गंगा कुलवधू की भांति गंभीर और सौभाग्यवती दिखाई देती है। इसके पश्चात् इस को बड़ी २ नदियां मिलती जाती हैं।

यमुना का जल मथुरा वृन्दावन में श्रीकृष्ण के संस्मरण अर्पित करता है। अयोध्या में आने वाली सरयू आदर्श राजा रामचन्द्रजी के प्रतापी परन्तु करुण जीवन की स्मृतियां लाती है। दक्षिण की ओर से आने वाली चंबल नदी रन्तिदेव के यज्ञ याग की बात करती है, उधर महान कोलाहल करता हुआ शोण भद्र गज ग्राह के दारुण युद्ध की झांकी कराता है। इस प्रकार पुष्ट बनी हुई गंगा पाटलिपुत्र के समीप मगध साम्राज्य के समान विस्तीर्ण होजाती है। तो भी गण्डकी अपना अमूल्य कर-भार लाने में हिचकती नहीं। जनक और अशोक तथा बुद्ध और महावीर की प्राचीन भूमि में निकल कर आगे बढ़ती हुई गंगा मानो विचार में पड़ जाती है कि अब कहां जाना चाहिए। इतनी प्रचण्ड वारिराशि अपने अमोघ वेग से पूर्व की ओर बढ़ रही हो तो उसे दक्षिण की ओर मोड़ देना क्या सरल बात है ? तथापि 'वह इस ओर मुड़ गई है। दो सम्राट अथवा दो जगद्गुरु जिस प्रकार एकाएक एक दूसरे को नहीं मिलते हैं, उसी प्रकार गंगा और ब्रह्मपुत्रा का हाल है। ब्रह्मपुत्रा हिमालय के दूसरी ओर का समस्त पानी लेकर आसाम में होकर पश्चिम को ओर आती है और गंगा इस ओर से पूर्व की तरफ जाती है। इनका मिलाप आमने सामने किस प्रकार हो सकता है ? कौन किसको प्रथम झुके अथवा कौन किसको मार्ग देवे ? अन्त में दोनों ने निश्चय किया कि दोनों को दाक्षिण्य—चातुर्य—का विचार करके सरित्पति—समुद्र—के दर्शन के लिए जाना चाहिये और भक्ति-नम्र होकर जाते-जाते, जहां भी हो सके वहां, मार्ग में एक दूसरे को मिल लेना चाहिए'!

इस प्रकार जब गोलंदो के समीप गंगा और ब्रह्मपुत्रा की विशाल जल-राशि एकत्र होती है तब शंका उत्पन्न होती है कि क्या सागर इससे भिन्न होता होगा ? विजय प्राप्त करने के पश्चात जिस प्रकार बड़ी हुई सेना भी अव्यवस्थित हो जाती और विजयी वीर जहां चाहें वहां घूमते हैं, उसीप्रकार इन महान नदियों की भी, इसके बाद यही अवस्था होती है। ये जाकर अनेक मुखों द्वारा सागर को मिलती हैं। गंगा और ब्रह्मपुत्रा एक होकर पद्मा का नाम धारण करती हैं। यही आगे जाकर मेघना नाम से पुकारी जाती है।

यह अनेकमुखी गङ्गा कहां जाती है ? सुन्दरबन के वन के झुण्ड उगाने के लिए या सगर-पुत्रों की वासना तृप्त करके उनका उद्धार करने के लिये ? आज जाकर देखोगे तो प्राचीन काल की कोई बात यहां नहीं रही है। जहां देखो वहां सन की बोरियां बनाने वाली मिलें—पुतलीघर—तथा इसी प्रकार अन्य अशुभ कारखाने खड़े हैं। जहां से भारतीय कारीगरी की असंख्य वस्तुयें भारतीय जहाजों में लंका तथा जावा द्वीप तक जाती थीं, वहीं से अब विलायती और जापानी आगबोट परदेशी कारखानों में बना हुआ कूड़े कचरे जैसा माल हिन्दुस्थान के बाजारों में भर देने के लिए आती हुई दिखाई देती हैं। गङ्गा मैया तो पहिले की तरह ही हमको समृद्धि अर्पित करती है, परन्तु हमारे निर्बल हाथ उसको संभाल नहीं सकते ! गंगा मैया, यह दृश्य देखना तेरे भाग्य में कब तक बदा रहेगा ?

अनुवाद कर्ता—शंकरदेव विद्यालंकार

आकर्षण

——:**:——

कितना प्रिय आकर्षण !
विहग-विकूजित यमुना तट की,
सुभग शिला के वक्षस्थल पर।
मृदु लतिकाओं से परिवेष्टित,
मंजु निकुञ्ज पुंज के भीतर।
प्रेम-मूर्ति का दर्शन !
कितना है आकर्षण !
मन्थन ध्वनि गुंजित प्रांगण में,
बाल कृष्ण का अविरल क्रन्दन ;
स्नेहमयी जननी के उर का,
क्रन्दन-जनित मधुर आल्हादन !
अनुपम नन्द-निकेतन !
कितना प्रिय आकर्षण !

—राधेश्याम गर्ग

——(:⊙:)——

जग-यात्रा

——:*:——

जग-यात्रा करने को मैं भी निकल पड़ा दीवाना।
कण्टकमय होगा कितना मग, नहीं जरा अनुमाना ॥ १ ॥
पता नहीं कब अवधिपूर्ण हो ? किस मंजिल तक पहुंचूं ?
कौन जानता बुत सा कब तक, खड़ा खड़ा यों सोचूं ? ॥ २ ॥
इस अनन्तमयविश्व-काव्य की, कहो कौन परिभाषा ?
सोच सोच मैं हार गया पर, थकी न पगली आशा ॥ ३ ॥
जगत मार्ग है बीहड़ अतिशय, यहां मोह-तम, माया।
लोभ, स्वार्थ, मद, मान, क्रोध के, कांटों से पथ छाया ॥ ४ ॥
इस असीम की कहो भला कब ? किसने सीमा बांधी ?
इस अनन्त पथ में कितनों को, उड़ा ले गई आंधी ॥ ५ ॥
भाई के सिर पर भाई चढ़, इठलाता जाता है।
उदधि तरंगों सा जन जन का, जीवन मिट, बनता है ॥ ६ ॥
देख यहां का विषम विवर्तन, कहो कौन टिक पाता ?
किसे पता है; मृत्यु गोद में, कौन कहां सो जाता ? ॥ ७ ॥
जग-संचालक काल-चक्र जो, प्रति पल चलता जाता।
दैव वही या 'अलख' वही, कुछ नहीं समझ में आता ॥ ८ ॥
बहा रहे रो रो सरितायें, जीवन दुखमय सब के।
शशव, यौवन, और बुढ़ापे बीत गये कितनों के ॥ ९ ॥
"जग-यात्रा" में मुझ पागल को, समय-प्रवाह बहाता।
सबके साथ साथ मैं लघु कण, अविकल उड़ता जाता ॥ १० ॥

—लक्ष्मीप्रसाद मिश्र

——:**:——

तुलसीदास

——:*:——

प्रेम की मय से है पुर मयखाना तुलसीदास का।
भक्ति-रस से है भरा पैमाना तुलसीदास का ॥
देखते हैं वह हर इक शै में उसी के नूर को।
क्या अनोखा रंग है मस्ताना तुलसीदास का ॥
इश्क थो तो राम से और प्रेम था तो राम से।
राम थे गर शमा, दिल परवाना तुलसीदास का ॥
दिल के इत्मीनान को खातिर जिधर भी जा बसे।
बन गया राम-आश्रम का शाना तुलसीदास का ॥
उनकी रामायण पै क्यों हम हिन्दियों को हो न नाज।
मोतरिफ है जिसका हर बेगाना तुलसीदास का ॥
क्यों न ऐसे ज़िक्र से 'रहमान' हो दिल को सुरूर।
क्या सबक आमोज़ है अफ़साना तुलसीदास का ॥

—'रहमान' सागरी।

——:**:——

घन से—

——::*::⊙::*::——

घन गरज न हिय तरसा !
रे पागल ! निद्रित जग में फिर कोलाहल न मचा !
सोने दे बिखरी-सी आशा !
सोने दे असफल अभिलाषा !
मुस्काने दे निठुर निराशा !
युग युग की सोई स्मृति दीवाने फिर न जगा !
बना न फिर पागल मतवाला !
पिन्हा न अरमानों की माला !
मन्द सुलगने दे यह ज्वाला !
अरे बावले दो कण जल से और न अग्नि बढ़ा !
रे घन गरज न हिय तरसा।

—राजकुमार झा 'दीन'

——:**:——

अखबार बेचने वालों की पुकार

——:**:——

लीजो अखबार मेरो आनन्द बढ़ावे तेरो,
हाल वर्तमान लोको पत्र मांहि पेखो है।
अवते निहारो मन मोद लमि आयो अति,
अतिहू अनोखो समाचार सब चोखो है ॥
हालतें नवीन बहु भांति देश देशन की,
बैठि पढ़ि लैबो ग्रह मांहि यदि धोखो है।
कहां लौं बखानै 'लज्जेश' गुण याके आज,
अर्जुन अखबार बाबू देखलो अनोखो है ॥

—'लज्जेश'

——:0:——

पं० जवाहरलाल नेहरू

आप लखनऊ कांग्रेस की स्वागत कारिणी के सभापति चुन गये हैं।

श्री राजेन्द्रप्रसाद

आपन कांग्रेसियों को सामा निर्धारिणी समितियों म असहयोग का आदेश दिया है ।

श्री श्रीनिवास शास्त्री

आपन कांग्रेस का पद-ग्रहण को नाति स्वाकार करन का परामर्श दिया है।

श्री चिमनलाल
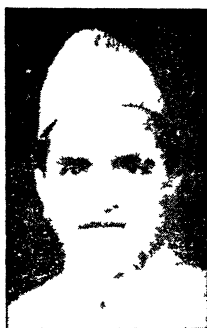
आपने मध्य एशिया की यात्रा करने वाले किसी भारतीय पत्रकार को ४००) रु० देन का वचन दिया है।

श्री सुभाषचन्द्र वसु

आपन बंगाल प्रां० कां० कमेटी की अध्यक्षता स्वीकार करन की एक यह भी शर्त रखी है कि उक्त कमेटी सांप्रदायिक निर्णय का अस्वीकृत करे।

भिक्षु उत्तमा

आप ५ साल बाद अपने प्रांत बरमा पहुंचे हैं और वहां हिन्दू व बौद्धों में एकता स्थापित करने का यत्न कर रहे हैं

भाई परमानन्द

आपको लोहारू रियासत में प्रवेश करन म राक दिया गया है।

श्री जमनालाल बजाज

आप सीकर आंदोलन के सिलसिले में वैब सीनियर अफसर से मिले।

श्री हृदयनाथ कुंजरू

आपन स्काउटिंग आन्दोलन को गांवों के लिए अधिक उपयोगी बनाने पर जोर दिया है।

अभी पिछले दिनों फ्रांस के विश्वविख्यात लेखक रोमां रोलां सोवियट यूनियन में भ्रमणार्थ गये थे। अपनी यात्रा के बाद इन्होंने स्टालिन को जो पत्र लिखा है, वह अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। आप लिखते हैं कि—

प्यारे कामरेड स्टालिन,

मास्को से अपने प्रस्थान के समय मैं आपको हार्दिक बधाइयाँ देता हूं। सोवियट सोशियलिस्ट प्रजातन्त्र में कतिपय दिनों में ही मैं उस महान जाति के सम्पर्क में आया हूं जो हजारों विघ्न बाधाओं के होते हुए भी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में बड़ी वीरता और नियन्त्रित यत्न के साथ एक नवीन संसार की रचना कर रहे हैं। मैं इस जाति का स्वस्थ शक्ति, उसके जीवनानन्द की क्षमता अभाव और भूख के मुकाबले जो दिन प्रति दिन कम हो रहे हैं उनको जाश देख कर प्रसन्न हूं, जिसमें उनके महान् श्रम का मूल्य और अधिक बढ़ जाता है।

मैं अपनी यात्रा में पहिले का कल्पना और भावनाओं की पूर्ण पुष्टि और उन में विश्वास के साथ लौट रहा हूं कि संसार की वास्तविक उन्नति सोवियट सोशियलिस्ट प्रजातन्त्र के भाग्य के साथ अविच्छिन्न रूप में बंधी हुई है—यह कि संसार के श्रमजीवियों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रज्वलित भट्टी सोवियट सोशियलिस्ट प्रजातन्त्र संपूर्ण संसार का बन जायगा, और यह कि संसार के सम्पूर्ण देशवासियों का यह कर्तव्य है कि वह इस प्रजातन्त्र के शत्रुओं से जो इसकी उन्नति में बाधक हैं रक्षा करें।

प्यारे कामरेड! आप जानते हैं कि मैं अपने इस कर्तव्य में कभी विमुख नहीं हुआ और नाहीं जब तक तन में प्राण हैं मैं इसमें चूकूंगा।"

सोवियट सरकार अपने देशवासियों पर स्वास्थ्यरक्षा पर ही कितने रूबल खर्च करती है। इसकी एक झांकी निम्न अंक बता सकते हैं:—

एक रूबल	=१॥)
वृद्धावस्था प्राप्त मजदूरों पर	२१ ७००,०००
अस्थायी बीमारों व गर्भिणी स्त्रियों पर	१०,०००,०००
कारखानों में आकस्मिक कारणों से आहतों पर	१०,०००,०००
चिकित्सालयों की सहायतार्थ	१५ ००० ०००
सामाजिक बीमा वाले व्यक्तियों के बच्चों की सहायतार्थ	४८४६००,०००
विश्रान्तिगृह, स्वास्थ्य गृह इत्यादि पर	४०३ ७५०,०००
स्वास्थ्य शिक्षा प्रचारार्थ	१५४,५५०,०००
नागरिक निवास सुधार	१,१४०,८६०,०००
सामाजिक बीमा	
१९२७ में	३००,००० ०००
१९३५ में	७,०७१,०००,०००

रूस और जर्मनी

रोमां रोलां और डा० शाख्त के पत्र

—*:*—

क्या कोई पूंजीपति साम्राज्यवादी देश सामाजिक उन्नति क्षेत्र में उपर्युक्त अंकों का मुकाबिला कर सकता है? हमारा विश्वास है कि नहीं।

जर्मनी

आर्थिक उन्नति ही किसी देश की सर्वतोभद्र उन्नति का निदर्शक यन्त्र है। ऊपर हम रूस के विषय में कुछ अंक दे आये हैं। अब डा० शाख्त के शब्दों में ही नाजी जर्मनी के बारे में सुन लीजिये।

'अपने कार्य को पूर्ण करने की समस्या पर—जिस में पुनः शस्त्रीकरण भी सम्मिलित है, विचार कर मेरा माथा फटा जाता है। विद्यमान व्यवस्थाओं और प्रचार द्वारा पूर्ण समझना मूर्खता ही नहीं, अपितु बड़ा खतरनाक है। सम्पूर्ण संसार संकट और कष्ट में है। ऐसी हालत में यदि हम अपने देश को अपवाद समझें तो उपहासास्पद ही है।

इस के विपरीत हमारा कर्तव्य अत्यन्त कठिन है। हमारे नेता की नीति तभी सफल हो सकती है, कर्तव्य को सिर्फ सस्ते धुआंधार

(शेष पृष्ठ २३ पर)

जेनवा की झील

(चित्र परिचय के लिए पृष्ठ १७ देखिये)
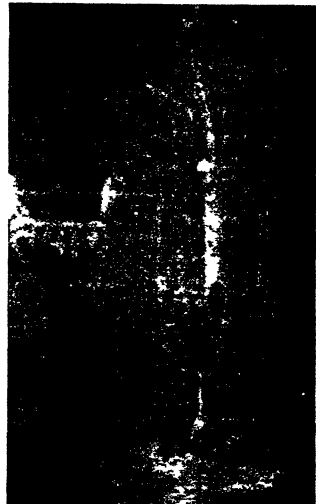
जेनवा आजकल अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हो चुका है। परन्तु यह केवल राजनैतिक दृष्टि से ही नहीं, प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण है। जिनवा की झील बहुत लम्बी चौड़ी है। इसकी परिक्रमा में पूरा एक दिन लग जाता है। इसी के किनारे शहर बसा हुआ है।

शृङ्खलाबद्ध बोनिवार्ड

बोनिवार्ड एक बार जेल से निकल भागा था उसे गिरफ्तार कर फिर यहां चित्र में प्रकाशित खम्भे के साथ जञ्जीर से बांध दिया गया। वह इसी खम्भ के चारों ओर सालों घूमता रहा। इसीलिए पैरों के नीचे पत्थर भी घिस गये आज भी पथ प्रदर्शक इन पत्थरों को दिखाकर बोनिवार्ड के दुःख की कल्पना कराते हैं।

महिला-जगत

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली से हमारा ह्रास

(ले०—श्री ज्ञानकुमारी भंवर खुर्जा)

———*:*———

सौभाग्यवश आज भारतवर्ष में स्त्री शिक्षा का प्रचार अत्यन्त ज़ोर पकड़ रहा है। किंतु हमें यह देखना है कि शिक्षा का अर्थ क्या है। आत्मा एवं मानसिक शक्तियों के सुचारुतया विकास द्वारा लौकिक व्यवहार सिद्धि पूर्वक निर्वाण-पद प्राप्ति ही शिक्षा का शब्दार्थ है। वैदिक शिक्षा अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों जीवन ध्येयों की साधक है। वैदिक शिक्षा के द्वारा ही दाम्पत्य जीवन नितान्त सुखमय एवं शान्तिकारक होता है। नर या नारी का प्रत्येक के साथ जो उत्तम कर्त्तव्य होता है, उसका यथावत् शिक्षण वैदिक शिक्षा से मिल जाता है। धर्म, जाति और देश के प्रति जो कर्त्तव्य होना चाहिये उससे उक्त शिक्षाप्राप्त नर नारी कभी विमुख नहीं हो सके। वैदिक शिक्षाप्रणाली पुरुषों के ही लिये नहीं, प्रत्युत नारी वर्ग के लिये भी सर्वथा निर्दोष एवं पूर्ण उन्नति और हितसाधक है। वैदिक शिक्षा का ध्येय सांसारिक तुच्छ स्वार्थ नहीं, विलासमय जीवन बनाने के लिये यह शिक्षा आज्ञा नहीं देती। सांसारिक त्रिगुणजन्य पदार्थों में रम कर आत्मा-परमात्मा प्रकृति के रहस्य से विमुख होकर जीवन को नष्ट करने में कभी सहायक नहीं हो सकती। सुचारुतया अभ्युदय सिद्ध करते हुए निःश्रेयस या मानव-जीवन में उच्च ध्येय अर्थात् निर्वाण-पद प्राप्ति करना है। इस बात का पूर्ण परिचय तो वैदिक-शिक्षा से ही मिल सकता है। उक्त शिक्षा से शिक्षित अथवा प्रभावित प्राचीन आर्य देवियों का जीवन आदर्शमय था, शांति के अन्दर स्वर्ग का भंडार था, अपने उज्ज्वल चरित्र से बड़े २ प्रकाण्ड विद्वान और अनोखे वीरों को जन्म देती थीं। इसी कारण उनको 'शक्ति' का रूप माना जाता था और 'देवि', इस दिव्य नाम से विभूषित किया जाता था। प्रत्येक उत्तम गुण शिक्षा और शिक्षाप्रणाली से ही प्राप्त किया जा सकता है। किंतु आज वैदिक समय नहीं है। वैदिक शिक्षा का दौर-दौरा भी नहीं। वैदिक शिक्षा प्रणाली का तो सर्वथा लोप ही हुआ समझना चाहिए। आज हमारे इस स्वर्णमय भारत में पाश्चात्य अधूरी शिक्षा का और उसकी दूषित प्रणाली का प्रचार और प्रसार है। प्रायः प्रत्येक शिक्षणालय में मुख्यतया इंग्लिश भाषा द्वारा भारतीय बालक और बालिकाओं को शिक्षण दिया जाता है। किसी भी देश या जाति की भाषा बुरी नहीं। शिक्षा और शिक्षा प्रणाली दोषकारक हो सकती है इन दोनों में भी उन्नति या अवनति-कारक प्रधानतया शिक्षा प्रणाली ही होती है। जिस प्रकार की शिक्षा प्रणाली होगी उसी प्रकार का प्रभाव पाठक या पाठिकाओं पर पड़ता है। आज कल भारत वर्ष में विदेशी सरकार द्वारा परिचालित भारतीय बालक बालिकाओं की शिक्षा प्रणाली हलाहल विष के समान दोनों के लिए घातक सिद्ध हो चुकी है। विशेषतया बालिकाओं के लिए तो अतीव हानिकारक सिद्ध हो रही है।

इस शिक्षा से शिक्षित बालिकायें अपना स्वास्थ्य एवं सदाचार सदा के लिए खो देती हैं। कोई न कोई रोग राक्षस की भांति पीछे पड़ा ही रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि आगे चल कर गृहस्थ में प्रवेश होते ही डाक्टर और वैद्यों के ध्यान के लिए घर केन्द्र बन जाता है। स्वास्थ्य बिगाड़ कर रोग मोल लेना डाक्टर और वैद्यों के द्वारा निरन्तर सुख की अपेक्षा स्वयं दुःखी रह कर सब परिवार वालों को सदा चिंतित रखना यही उपलब्ध होना है। कालेज और स्कूलों में पढ़ने वाली बहनों की अपवित्र प्रेम-पूर्ण मनोवृत्ति और बुरी हालतों से कौन परिचित नहीं है? गृहसम्बन्धी या गार्हस्थ्य जीवनोपयोगी उत्तम कार्यों में पढ़ने वाली बहिनें हाथ लगायें, यह उनकी शान के विरुद्ध है। पानी के एक ग्लास के लिए भी किसी अन्य व्यक्ति से कहना ही पड़ेगा, यदि किसी घरवाले ने कार्य करने की ओर संकेत भी किया तो उससे कोप भाजन होना ही पड़ेगा।

जहां उत्तम शिक्षाप्रणाली से वृत्तियों में सात्विकता और जीवन में सादगी और सुन्दर चरित्रबल द्वारा मानसिक सुखशान्ति प्राप्त होनी चाहिए थी वहां आज जीवन नितान्त विलासमय हो गया है। जिधर देखो भारतीय बहिनें विदेशी वेश-भूषा या फैशन की पुतलियें नजर आती हैं। स्वास्थ्य के लिए हानिकारक तरह २ के कृत्रिम तेल, क्रीम, स्नो, पाउडर आदि से सौन्दर्य सम्पादन के लिये भारी कोशिश में दृष्टिगोचर होती हैं। पीयर सोप के बिना स्नान हो ना तो कठिन ही है। सारांश यह है कि विदेशी चीजों के लिये लालायित रह कर अपने शरीर को विदेशी वस्त्रों द्वारा अलंकृत करने में अपना अहोभाग्य समझती हैं। पूज्य बापू जी अथवा देश का अन्य कोई नेता अपनी आवश्यकताओं को कम करने के लिये कितना भी कहे अथवा कितना भी आग्रह खादीधारण करने को कहें, वे सदुपदेश तो एक कान से सुने दूसरे से निकाले। जहां वैदिक-शिक्षा-प्रणाली से भारतीय बहिनों में धर्मपरायणता का भाव उद्भव होता था वहां आज वह विषमय वातावरण से दूर बहुत दूर उड़ाया जाता है। जातिसेवा की भावना आज भारतीय बहिनों के हृदयों में नहीं रही। जाति में अनेक कुरीतियों ने अड्डा जमा रक्खा है। रूढ़िवाद जाति को घुन की तरह खोखला कर रहा है। दूषित वृत्ति स्वीकृत करने वाली बहिनों की भी संख्या बढ़ती ही जा रही है। किन्तु इसकी चिन्ता किसको है? हो भी क्यों? वर्तमान शिक्षा-प्रणाली ने तो काया ही पलट दी है। इसके कारण प्रवृत्तियां गुणों की तरफ न होकर अवगुणों की तरफ झुक रही हैं। आज हमारा देश विदेशियों से शासित और गुलाम है। विदेशियों से पददलित भारत वसुन्धरा को संकट-मुक्त करना सर्वप्रथम हम भारतीय बहिनों का कर्तव्य था। इसके लिए पुरुषों को हमारे द्वारा उत्साह मिलना चाहिए था, स्वतंत्रता की लड़ाई में सर्वप्रथम हमें कूदना चाहिए था। किंतु चारों ओर से नेतृ वर्ग द्वारा पुकार जाने पर भी देश की लड़ाई में मुट्ठी भर बहिनों ने ही साथ दिया। इसमें भी दोष हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली का है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली भारतीय बहनों को उन्नति की तरफ नहीं ले जा रही है, भारी अवनति या ह्रास की ओर ले जा कर संकट के गर्त में डालना चाहती है। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक भारत में विदेशियों का स्वार्थ-पूर्ण शासन रहेगा, जब तक विदेशियों द्वारा परिचालित यह दूषित शिक्षा-प्रणाली रहेगी और जब तक भारतवर्ष में गुलामी के अड्डे कालिज आदि शिक्षा संस्थायें रहेंगी, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की जड़ें उखाड़ कर खार समुद्र में नहीं फेंक दी जायेंगी, तब तक भारतीय और विशेषतया भारतीय बहिनों का उद्धार कठिन ही नहीं प्रत्युत असंभव ही है। इस लिये मैं वर्तमान भारत के पूज्य नेताओं और अभिनेत्रियों से साग्रह प्रार्थना करूंगी कि यदि वे भारतीय भगिनी-मंडल का उद्धार चाहते हैं तो उनका परम कर्तव्य है कि वर्तमान स्त्री-शिक्षा-प्रणाली जड़ से ही बदलने और सुधारने की कोशिश करें। तभी इस मंडल के द्वारा सबको कल्याण संपादित होना संभव है। अन्यथा "अब पछताये क्या होवत है, जब चिड़ियन चुग गयो खेत" वाली लोकोक्ति चरितार्थ होगी।

सौन्दर्य के दस शत्रु

इनसे बचिये

सौन्दर्य स्त्रियों का एक स्वाभाविक गुण है और प्रत्येक स्त्री के मन में सुन्दर बनने की स्वाभाविक इच्छा होती है। आज तक शायद ही कोई ऐसी स्त्री सुनी गई हो जिसे सुन्दर बनने की चिढ़ हो। आधुनिक संसार ने सौन्दर्य के अनेक साधन उपस्थित कर दिये हैं और पाश्चात्य देशों में तो इन साधनों की संख्या और इन पर होने वाले व्यय हद दर्जे पहुँच गये हैं। सौन्दर्य बढ़ाने का एक पहलू यह भी है कि सौन्दर्य के शत्रुओं का पता किया जाय और उनसे दूर रहा जाय। एवेलिन फार्स नाम के एक विदेशी सौन्दर्यविशेषज्ञ का कहना है कि सौन्दर्य के दस शत्रु हैं और प्रत्येक स्त्री का यह कर्तव्य है कि वह इनको अपने पास से दूर रक्खे।

सौन्दर्य को हानि पहुँचाने वाली सब से पहली वस्तु [illegible] है। यदि आपके भोजन में स्टार्च की मात्रा अधिक है और फलों तथा शाक आदि की कमी है तो उससे आपके स्वास्थ्य और सौन्दर्य दोनों को ही हानि पहुँचेगी।

कम सोना भी सौन्दर्य को नष्ट करता है। हिन्दुस्तान जैसे देश में सौन्दर्य ठीक रखने के लिये दिन रात में ८ घंटे अवश्य सोना चाहिए। यदि गर्मियों में आपको नींद कम आती है तो आप लापरवाही न कीजिए और किसी न किसी उपाय से अपनी नींद अवश्य पूरी कीजिए। नहीं तो आपका सौन्दर्य नष्ट हो जायगा।

इसी प्रकार प्रतिदिन कसरत न करना भी अपने सौन्दर्य के साथ शत्रुता करना है। प्रतिदिन शीतल छाया में कुछ देर टहलने से आपका सौन्दर्य बढ़ेगा और आपका स्वास्थ्य भी सुधरेगा।

सौन्दर्य के अन्य शत्रु

इसके बाद सुन्दर तथा भद्दी आकृति का प्रश्न आता है। यह सब आदत पड़ने की बात है। हँसते समय आँख ऊपर चढ़ा लेने की आदत बहुत ही खराब है और इससे चेहरे का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार भौंह तान देने से माथे पर सिकुड़न पड़ जाती है और वह भी सौन्दर्य को धक्का पहुँचाता है। तीसरी बुरी आदत आँखों को बार बार मलना है। इससे पलकें मोटी पड़ जाती हैं और चितवन बिगड़ जाती है।

आँखों पर अधिक भार पड़ने से उनको बहुत हानि पहुँचती है। परिणाम यह होता है कि ऐसी स्त्री अपनी आयु से भी अधिक बूढ़ी जान पड़ने लगती है। कम अथवा अत्यन्त अधिक प्रकाश में काम करने तथा पढ़ने से आँखों पर अनावश्यक जोर पड़ता है।

शरीर को ठीक तरह से पोंछना भी एक कला है। आजकल के जमाने में प्रत्येक सुन्दरी सोने से पूर्व अपने चेहरे तथा शरीर को अवश्य ही सावधानी से पोंछती है परन्तु इनमें से अधिकांश को यह कला मालूम नहीं है। लापरवाही से रगड़ कर शरीर पोंछने का परिणाम ठीक नहीं होता। इससे चमड़े पर झुर्रियां पड़ जाती हैं। अधिकांश स्त्रियां अपने चेहरे को खुरखुरे तौलिये से रगड़ डालती हैं। उन्हें चाहिए कि वे मुलायम कपड़े से आहिस्ता से उसे सुखा लें।

इसके बाद अन्य उपयोगी बातों पर ध्यान देने का सवाल उठता है जिनको अधिकांश स्त्रियां भुला देती हैं। यदि हमारे पाउडर अथवा पफ, बालों के ब्रश या इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं में जरा भी खराबी आ गई है या वे हमारी आवश्यकता के अनुरूप नहीं हैं तो हम चाहिए कि हम उन्हें तुरन्त ही बदल दें।

सौन्दर्य का नवां शत्रु उसके साधनों की कमी होना है। साबुन का अच्छा न होना अथवा घटिया पाउडर लगाना और मामूली क्रीम का इस्तेमाल सौन्दर्य को अवश्य बिगाड़ देगा।

सौन्दर्य का दसवां शत्रु तो सब से जबरदस्त है। हम लोग डाक्टरों से उचित सलाह लिए बिना ही अन्दाज से सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए अनेक दवाओं का इस्तेमाल करने लगते हैं। यह बहुत ही हानिकारक होता है। अच्छी तरह से निश्चित किये बिना मोटापा कम करने की गोलियां खाना या इसी प्रकार की किसी और दवाई का प्रयोग सौन्दर्य को सुधारने के बदले उसे बिगाड़ देता है।

स्त्री-शिक्षा की जरूरत

रानी लक्ष्मीकुमारी का भाषण

आर्यसमाज कन्या पाठशाला के वार्षिकोत्सव पर रानी लक्ष्मीकुमारी धर्मपत्नी स्व० अवधेशसिंह जी (कालाकांकर) ने निम्नलिखित आशय का भाषण रक्षाबन्धन के दिन दिया था —

पहले भारतवर्ष में स्त्रियों का स्थान उच्च था लेकिन आज उसी भारतवर्ष में यह कहते हुए अति दुःख होता है कि स्त्री जाति का पतन हो रहा है। आज स्त्रियों का कोई स्थान ही नहीं रहा है। स्थान की बात तो दरकिनार, उनका कोई अस्तित्व ही नहीं। समाज ने स्त्रियों को ऐसे निकाल रक्खा है जैसे दूध से मक्खी, इसके कारण अनेक हैं। परन्तु किसी को दोष न देकर मैं यही कहूंगी कि इस दुरवस्था का कारण अशिक्षित रहना ही है। हमें अपने अधिकारों का कुछ ज्ञान ही नहीं। ज्ञान हो भी कहां से क्योंकि हम लोग अशिक्षित रक्खी जाती हैं। अशिक्षित रहने के कारण स्त्री जाति की दशा अत्यन्त शोचनीय है। लोग लड़कियों को शिक्षा देना पसन्द ही नहीं करते। अशिक्षित रह कर स्त्रियां आगे के जीवन में नाना प्रकार के कष्ट उठाती हैं। उन को इतनी भी शिक्षा नहीं देते कि वे अपना हिसाब, चिट्ठी आदि गृहकार्य भी उचित रूप से कर सकें।

हम सब का धर्म है कि मिल कर बालिकाओं में शिक्षा का प्रचार करें। यों तो शिक्षा का प्रचार स्त्रियों में आरम्भ हो ही गया है, बड़े नगरों में स्त्रियां और बालिकायें स्कूल कालेज में पढ़ने लगी हैं परन्तु शिक्षित स्त्रियां अभी उंगलियों पर गिनी जा सकती हैं। स्त्रीशिक्षा की गति बहुत धीमी है। शिक्षा की गति तेज करने के लिये हमें बहुत जोर लगाना चाहिये, क्या आप उस दिन देखने की आशा नहीं करेंगी जब कि भारत की प्रत्येक स्त्री और बालिका पुरुष समाज के साथ २ सुशिक्षित हो कर अपना ही नहीं बल्कि कुल भारतीय समाज का कल्याण करें।

मैं अक्षरों के लिखने पढ़ने को ही शिक्षा नहीं समझती। मेरी शिक्षा से अर्थ, धार्मिक, मानसिक और शारीरिक विकास है ऐसी शिक्षा हो जिस से हम अपना भला बुरा तथा देश और सन्तान की ओर कर्तव्य पहिचान लें। हमें शिक्षा से यह ज्ञान हो कि हमारे क्या अधिकार हैं, क्या कर्तव्य हैं ?

मुझे बड़ा हर्ष होता है जब कन्याओं और बालिकाओं को पाठशालाओं में पढ़ने आती देखती हूं। मैं सदैव भगवान से प्रार्थना किया करती हूं कि हे भगवन्! हम भारतीय स्त्रियों को बुद्धि ज्ञान और बल प्रदान करें कि जिससे हमारा भी दूसरे देश की स्त्रियों की तरह समाज में मान हो।

मैंने अपने पूज्य पति स्वर्गीय राजा साहेब के साथ यूरोप की यात्रा की थी। परन्तु अस्वस्थ होने के कारण मैं अधिक कुछ ज्ञान प्राप्त न कर सकी। परन्तु यह देख कर मेरी आंखें खुल गईं कि योरोपियन स्त्रियां कितनी सुशिक्षित हैं। वह पुरुषों के साथ जीवन के हर एक विभाग में भाग लेती हैं। उन्हें पुरुषों के साथ धार्मिक सामाजिक राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं। वह केवल अच्छी तरह आभूषण और वस्त्रों से ही अलकृत और सुसज्जित हो कर रहना ही नहीं जानतीं बल्कि वह हर तरह से सुशिक्षित हैं। उन्हें हर एक बात का ज्ञान प्राप्त है। वह धार्मिक सामाजिक राजनैतिक आर्थिक गृहस्थ और स्वास्थ्यरक्षा के विज्ञानों से भली भांति परिचित हैं शिक्षा और ज्ञान के प्रभाव से वह मानव जीवन का पूर्ण लाभ उठाती हैं।

प्यारी बहिनो! क्या आप भी इसी प्रकार शिक्षा पाकर भारतीय स्त्री समाज को सम्मानित बनायेंगी ?

एक असाधारण खगोलवेत्ता

अध्यात्मिक जीवन से प्रेम

(ले०—श्रीमहादेवभाई देसाई)

कारेल हुयेर एक असाधारण व्यक्ति है। इसे हमारे यहां (भा०) आये भी थोड़े ही दिन हुए हैं उम्र सिर्फ ३२ साल की है। पर बात कुछ ऐसी अनुभववर्जित आत्मश्रद्धा के साथ करता है, जैसे कोई ६० वर्ष का अनुभवी वृद्ध हो। सभी विषयों में प्रवेश है। और फिर चक्षु-प्रवेश नहीं, किन्तु विचार अथवा गहरे संस्कार के परिणामस्वरूप परिपक्व ज्ञान उसमें दिखाई देता है। यह युवक जेकोस्लोवेकिया का है। वह अपना परिचय खगोलवेत्ता के नाम से देता है और खगोलवेत्ता है। दुनिया में वह खूब घूमा है। खगोलविद्या का अध्ययन करने के लिए वह एक वर्ष इंग्लैन्ड में, दो वर्ष फ्रांस में और पांच वर्ष अमेरिका में रहा है, यूरोप की सभी भाषाएं जानता है। केवल सूर्यचन्द्रादि ताराओं से विभूषित नभोमंडल को देखकर वह संतोष माननेवाला जीव नहीं, उसे तो इस नभोमंडल की अतुलनीय व्यवस्था, अपार शांति और अद्भुत संगीत हमारी इस पृथिवी पर उतारना है। इतनी कम उम्र में वह अहिंसा का पुजारी है। टाल्सटाय को गुरुवत् मानता है। खगोल विद्या में फ्रांस के महान् खगोलवेत्ता फ्लामेरियों को वह अपना गुरु मानता है। और अहिंसा के पुजारी गांधीजी के साथ कुछ दिन रहने के लिए वह यहां आया है। दिल्ली में वह गांधीजी से मिला था। पर उसकी दस-पांच मिनिट की बातचीत का गांधीजी पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने उसे वर्धा आने के लिये कहा। वह भारत में छः-सात महीने से है। भारतवर्ष के प्राचीन खगोल विज्ञान का अध्ययन करके अब वह अपने देश को वापस जा रहा है। फ्लामेरियों जैसे और भी खगोलवेत्ता आज यूरोप में हैं, जीन्स तो हैं ही, पर फ्लामेरियों को कारेल हुयर ने अपना गुरु क्यों बनाया? इसका कारण यह है कि फ्रांस का यह खगोलशास्त्री एक संत था। उसका सिद्धान्त यह था कि सच्चे खगोलवेत्ता का जीवन मलिन होना ही नहीं चाहिए। फ्लामेरियों ने कभी शराब या सिगरेट नहीं पी, और इसी तरह "हमारे राष्ट्रपति मसरिक का जीवन" कह कर वह तुरत अपने देश की स्तुति करने लगता है। उसकी देशभक्ति उसके रोम रोम में दिखाई देती है। "हमारा देश तो यूरोप का एक सच्चा प्रजातंत्रात्मक देश है। हमारे ८६ वर्ष के प्रेसिडेंट मसरिक की प्रकृति में ही जीवर-शाही, हिटलरशाही, या मुसोलिनी-शाही नहीं है। उसे एक भी बात बिना प्रजा की राय के करना असुहाती लगती है। शराब से उसे बड़ी ही घृणा है। उसकी चले तो वह शराब का बहिष्कार सारे राज्य में करा दे। उसका शासन-सूत्र इतना सुन्दर चल रहा है कि १७ बरस से हमारा वही प्रेसिडेन्ट बना हुआ है। दूसरा प्रेसिडेन्ट चुनने का हमारा मन ही नहीं होता हमारा। प्रेसीडेन्ट टालस्टाय का भक्त है। टालस्टाय से मिलने वह रूस गया था। गांधीजी

नैपाल के प्रधान मन्त्री श्री जुद्धशमशेर राणा जंगबहादुर

आपका नाम हिन्दू महासभा के आगामी अधिवेशन के सभापतिपद के लिए लिया जा रहा है।

को भी वह जानता है, और उनकी खूब प्रशंसा करता है।

स्वदेश की बात करते हुए तो कारेल हुयर कभी थकता ही नहीं। "हम स्लाव लोगों और आप भारतीयों के बीच परापूर्व का संबंध है। हम लोगों ने एक ही संस्कृति का दूध पिया है। हमारी भाषा को ही देखिये। जेक और स्लोवाक प्रजा कहने को दो हैं, पर दोनों की भाषा करीब करीब एक ही है। आपकी भाषा और हमारी भाषा में यों देखने में भारी अन्तर मालूम पड़ता है। पर हमारी भाषाओं का मूल तो एक ही है। हमारी भाषा का शब्द 'द्वेजे' ले लीजिए। स्लोवाक लोग उसका 'द्वेरे' उच्चारण करते हैं, जेक लोग 'द्वेजे' कहते हैं। 'द्वेरे' और संस्कृत 'द्वार' में क्या अन्तर है? द्वेजे और फारसी 'दरवाजा' में क्या कोई बड़ा फर्क है? 'दूम' शब्द का अर्थ हमारी भाषा में घर होता है। 'दूम' और 'धाम' शब्द में अन्तर ही कितना है? आपको आश्चर्य होगा कि हमारे पड़ोस की भाषा लिथुएनियन ने संस्कृत का 'गुरु' शब्द ज्यों का त्यों ले लिया है। पर यह तो भाषा की बात हुई, मैं तो आप से यह कहता हूं कि हम लोगों की धमनियों में एक ही प्रकार का शांत रक्त प्रवाहित हो रहा है। आप लोग अहिंसा के उपासक हैं, और यूरोप में स्लाव लोग अहिंसा के सच्चे उपासक हैं।"

'पर रूस में भी स्लाव लोग ही हैं न?' मैंने पूछा।

'हां वहां भी स्लाव ही हैं, पर उन स्लावों का दिमाग आज चक्कर खा गया है। ठिकाने आयगा। रूस में यह विप्लव का बीज फ्रेंच विप्लव से आया है। तो भी स्लावों का सच्चा प्रतिनिधि तो टालस्टॉय ही था। रूस का यह हिंसा तो एक ऊपरी चीज है। रूस धर्म की नहीं, किन्तु मौजूदा धर्म संस्था की निंदा करता है क्योंकि धर्म ने नहीं, बल्कि धर्म संस्था यानि चर्च ने यह सब सत्यानाश किया है। चर्च ने हमेशा ही धनिकों की खुशामद की है, और गरीबों को चूसने में मदद दी है। यों तो मैं भी किसी चर्च को नहीं मानता। जन्म मेरा रोमन कैथलिक घराने में हुआ था पर रोमन कैथलिक चर्च छोड़े तो मुझे कई साल हो चुके हैं। आज तो मैं 'ईसाई' बनने का विनम्र प्रयत्न कर रहा हूं।

"पर हमारे यहां भी इस जमाने की हवा बह रही है। हमारे शहरों में आप घर-घर रेडियो लगे देखेंगे। हम जो यह मानते हैं कि रेडियो से हमारी ज्ञान वृद्धि होती है, वह हमारा भ्रम है। अरे, यह सब धनियों के चोंचले हैं। इस रेडियो के द्वारा ही लड़ाइयों और खून-खराबियों की अधकचरी खबर गांव-गांव में फैलाई जाती हैं।

"और यह चर्खा भी किसी जमाने में हमारे घरों में गूंजती थी। हमारी भाषा में चर्खे और कर्घे पर अनेक गीत मिलते हैं। पर आज तो हम लोग भी इस 'उद्योगवाद' के शिकंजे में फंसे हुये हैं। अब हमारे यहां चर्खे और कर्घे की कहानी ही कहने को रह गई है।"

पर अब महान् प्रतिभावान् कारेल हुयर के खगोल ज्ञान की थोड़ी सी बानगी दे दूं। वह यह मानता है कि खगोल विज्ञान का आध्यात्मिक संदेश ग्रहण करने के लिये खगोल शास्त्री होने की आवश्यकता नहीं। हम लोग साधारणतया आंख मूंद कर और कान बन्द करके जीते हैं, इसलिए विश्व में जो सीखने की चीज है वह हम नहीं सीख सकते। कारेल हुयर को अगाध ज्ञान देख कर गांधी जी ने जमनालाल जी

से कहा कि इसका यहाँ भाषण कराना चाहिए। अपने भाषण मे हमारे उस युवक महमान न सबको मंत्र मुग्ध कर दिया। उसकी मातृ-भाषा अंग्रेजी नहीं है। साधारण बातचीत में अकसर अशुद्ध व्याकरण के प्रयोग करता है और भाषा भी उस टूटी-फूटी हो जाती है। पर जब वह भाषण देन के लिए खड़ा हुआ और बोलन लगा, तब ऐसा लगा कि जैस कोई द्रष्टा बोल रहा है। वह बोलता तो जमीन पर था, पर उड़ता आसमान में। उसकी असाधारण तन्मयता देखकर आश्चर्य होता था। बल्कि यह तन्मयता ही उसके जीवन की कुंजी है। उसके भाषण को में शब्दशः दूं तो पाठक उसे ठीक ठीक समझेंगे नहीं और जो क'खा कराड़ों और अर्ब-खर्ब के आंकड़े वह उगलता चला जा रहा था, वह सब मै यहां दूं, तो पाठक घबरा जायेंग। इसलिए मैं तो उसके भाषण का केवल सारांश ही दूंगा।

विशाल विश्व

अनादि अनन्त काल का भान हमें सब से पहिले खगोल विद्या न कराया। और हमारा जीवन इस अनादि काल में एक बिंदु मात्र है। इस बात का हमें अपने इस ग्रहों और नक्षत्रों से विभूषित नभामंडल मे चलता है। यह सामन दिखाई दन वाला शीतल चन्द्रमा हम से इतना दूर है कि अगर हम वहां जाना चाहें, तो एक एक्सप्रेस गाड़ी में बैठ कर १७५ दिन में हम चन्द्र-लोक में पहुंच सकेंगे ' और सूर्य तक पहुंचन में ? सूर्य की बात इस मे भी निराली है। हम अपनी इस पृथ्वी की ही विशालता मे विस्मित हो रहे हैं। पर सूर्य तो इस पृथ्वी से १३ लाख गुना बड़ा है! सूर्य तक पहुंचना हो, तो ७५ मील की स्पीड वाली एक्सप्रेस ट्रेन से १७५ वर्ष मे हम वहां पहुंचेंगे। और फिर नभो-मडल में यह एक ही सूर्य नहीं है। ऐसे अगणित सूर्य आकाश-मडल में हैं। यह अखिल विश्व-ब्रह्मांड अनादि काल से चला आ रहा है और अनंत तक चलेगा। इसका कभी नाश होने का नहीं, यद्यपि इसमें परिवर्तन तो प्रतिक्षण होता ही रहता है। यह सूर्य भी कई लाख वर्ष के बाद नष्ट हो जायगा, किन्तु लाखों सूर्यों की भस्म से अन्य अनेक नये सूर्य प्रगट होते रहेंगे। प्रयत्न मिथ्या नहीं जाता। इस जीवन में नहीं तो अनेक जीवनों के अनन्तर वह अवश्य सफल होगा, इस जीवन के नाश में से अनेक उज्ज्वल जीवन प्रगटेंगे। लोवेल नाम का एक साधु चरित खगोल-शास्त्री सारी जिंदगी अन्वेषण करते करते मर गया, अपनी शोध का फल उस ने तो नहीं उसके बाद के लोगों ने देखा। उसने तो सामग्री इकट्ठी की और उंगली से दिखाकर वह बतला गया कि, 'देखो, फलां जगह नया ग्रह 'प्लूटो' होना चाहिए।' सन् १९१४ में वह गुजर गया, और १९३० में उसके बताये ग्रह का दर्शन हुआ। अन्वेषक के बाद अन्वेषण का दर्शन हुआ। पर क्या उसे कम सफलता मिली? उसने तो इस अनंत अपार विश्व के एक अल्प अंग के रूप में अपना पुरुषार्थ जगत को अर्पित कर दिया, और अपने जीवन का सारस्प यह सिद्धात संसार के आगे रख गया कि, 'नभोमडल के तत्व तो उसके भक्तों के ही लिये हैं। और फिर वे भक्त कैसे? इस दुनिया के वातावरण से अपने चित्त को पराङ्मुख करके जगत् से निवृत्त होकर हृदय की गुफा में प्रवेश करके सम्पूर्ण आत्म-शुद्धि कर चुकने बाद ही मनुष्य सच्चा भक्त बन सकता है। जिस आत्मशुद्धि की साधना हमारे पूर्व के ऋषि मुनियों की थी, वही आत्मशुद्धि हमारी आंख को सच्ची दृष्टि देगी, हमारे कान को सच्ची श्रवण-शक्ति देगी। तभी हम अदृष्ट देख सकेंगे, अश्रुत सुन सकेंगे।

यह सारा विश्व अहर्निश घूम रहा है। एक ग्रह के आसपास अनेक चन्द्रमा घूम रहे हैं। कुछ तो एक दूसरे के आसपास घूमने वाले दुगुने, तिगुने और चौगुने आकार वाले नक्षत्र हैं ये सब अपनी इतनी नियमित गति से घूमते हैं कि उसमें क्षण के एक हजारवें भाग के जितना भी फर्क नहीं पड़ता। ईश्वरीय नियम से ये सब नक्षत्र अपनी अपनी कक्षा में घूमते हैं, इसलिये वे आपस में कभी टकराते नहीं। इसीलिए विश्व में विवाद नहीं, किन्तु सवाद है कोलाहल नहीं, बल्कि स्वर्गीय सगीत है। इस सगीत को सुनकर भी हम अल्प जीव क्या आपस का कलह नहीं भूलेंगे? हमारा जीवन क्या है! खगोल की इस विशाल घड़ी के लटकन की टिक् टिक् की अपेक्षा हमारा जीवन कितना क्षणिक है! इसलिए हम गरूर किस बात का करें? किस गुमान में रहें? लेकिन फिर भी आज हम आंखें होते हुए भी अंध होकर घूम रहे हैं, कान होते हुए भी बहरे बने फिर रहे हैं! जहां एक भूकम्प पलक मारते हजारों के प्राणों को ले लेता है, वहां बड़े-बड़े युद्ध करोड़ों का संहार कर देते हैं। हमारे जीवन कलह के नीच स्थानों का भी कोई पार नहीं। अमेरिका में ऐसे ऐसे करोड़पति पड़े हुए हैं, जिन्हें यह भी पता नहीं कि वे अपने पैसे का किस प्रकार उपयोग करें, और उनकी आंखों के आगे ही लाखों बेकार आदमी भूखों मरते रहते हैं। जहां एक १२०० फुट ऊंची इमारत ७५ लिफ्ट लगे हैं जो लोगों को ११५ वीं मंजिल तक पहुंचाते हैं, वहां कितने ही ऐसे मनुष्य हैं, जिन्हें रहने को झोंपड़ी तक नहीं। कनसास के परगने में मेरे देखते-देखते लाखों टन गेहूं नष्ट कर दिया गया, और टेक्सास के परगने में लाखों टन रुई की गांठों में आग लगा दी गई—इसलिए कि रुई और गेहूं का भाव कहीं गिर न जाय, और धनाढ्य लोग कहीं कम धनवान् न हो जायं! जब कि उसी अमेरिका में हजारों लोग चिथड़ा लपेटे घूम रहे थे, अब अमेरिका में ही नहीं, बल्कि हिंदुस्तान और चीन में लाखों नगे और भूखे मनुष्य बिलबिलाते फिरते थे। यह सभ्यता है या जंगलीपन? अब भी हम चेत जायं, तो विधिनियंता के नियम पर टिके हुए इस दिव्य नभो-मडल का दर्शन करके अपना यह मलिन हृदय शुद्ध कर लें, और मनुष्य-मनुष्य और राष्ट्र-राष्ट्र के बीच का यह नाशकारी कलह दूर करके पृथ्वी पर स्वर्ग को उतार लें।
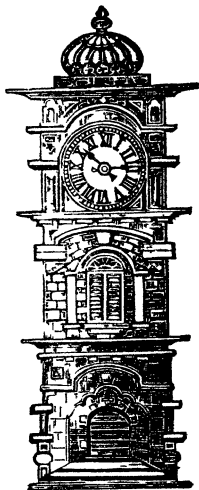
('हरिजन सेवक' से)

क्या कर्जदार अब से जेल नहीं जाया करेंगे ?

भारत सरकार का नया बिल

छः प्रांतीय सरकारें बिल के पक्ष में

पक्ष और विपक्ष में युक्तियां

———(:○:)———

कुछ समय से विभिन्न प्रान्तों में कर्जा-कानून जारी हो रहे हैं। प्रायः सब प्रान्तों के कानूनों का एक ही अभिप्राय है और वह यह कि ऋण-ग्रस्त किसानों और अन्य व्यक्तियों को सहायता दी जाय, उन्हें महाजनों या जमींदारों के अत्याचारों से बचाया जाय। इन बिलों में सूद की उच्चतम दर नियत करने, किश्तों में अदायगी करने और समझौता बोर्ड कायम करने आदि का विधान है। पंजाब के बिल में एक और धारा भी जोड़ी गयी थी कि कर्जदार को कर्ज अदा न कर सकने की हालत में गिरफ्तार भी न किया जा सके। इसका पंजाब में बहुत विरोध हुआ और वह धारा पास न हो सकी।

अब भारत-सरकार के गृह-सदस्य सर हेनरी क्रेक ने सिविल प्रोसीजर एक्ट ५१ धारा में एक संशोधन पेश किया है, जिसके अनुसार कर्जदार व्यक्तियों को जेल न भेजा जा सकेगा। यह बिल लोकमत के लिये प्रचारित किया गया था। भारत-सरकार के पास इस बिल पर सरकारी, गैर-सरकारी, हाईकोर्टों के जजों, बार-एसोसियेशनों और व्यापारिक-संघों तथा अन्य व्यक्तियों के मत आये हैं। इन सम्मतियों में तीव्र मतभेद है। कुछ इस धारा को अत्यन्त आवश्यक मानते हैं और कुछ इसे लेन-देन के कारोबार के लिये अत्यन्त हानिकर।

पक्ष में

कर्जदार को जेल भेजने की धारा को उड़ाने के पक्ष में जितनी युक्तियां आई हैं, उन में से कुछ नीचे दी जाती हैं।

१. कैद और जेल बहुत आतंककारी है। अपनी बिरादरी का अपमान और जेल की तंगियों से बचने के लिये उस को बिरादरी वालों को रुपया चुकाना पड़ जाता है।

२. जेल से बचने के लिये प्रायः कर्जदार को बहुत भारी सूद पर किसी और महाजन से कर्ज लेने के लिये बाधित होना पड़ता है। इस का परिणाम यह होता है कि वह और भी कर्ज के समुद्र में डूब जाता है।

३. अपने पावने वसूल करने के लिये उत्तमर्ण (लेनदार) जिस सम्पत्ति को कानून के द्वारा लेने का अधिकारी नहीं भी है, वह भी जेल के डर दिखा कर वह वसूल कर लेता है।

४. कर्ज न दे सकने के कारण प्रतिष्ठित व्यक्तियों को फौजदारी मुजरिमों के साथ रखा जाता है, जो अत्यन्त अनुचित है।

विपक्ष में

वर्तमान कानून में कोई भी परिवर्तन करने के विपक्ष में निम्नलिखित युक्तियां दी जाती हैं —

१. जब अधमर्ण (कर्जदार) कर्ज चुकाने की क्षमता रखता भी है, तब भी वह संयुक्त परिवार की प्रथा की आड़ में या कोई और बहाना बना कर कर्ज देने से इन्कार कर देता है। यदि कैद की सजा का डर न रहे, तो इस प्रकार के बहाने बहुत बढ़ जायेंगे।

२. उस मनुष्य की साख बिलकुल न रहेगी, जिस के पास जायदाद न हो या थोड़ी हो।

३. जहां अधमर्ण की बहुत बुरी हालत होती है और कर्ज चुकाने में असमर्थ होता है, वहां साधारणतः उत्तमर्ण उसे जेल भेजना नहीं, क्यों कि उसके भोजनादि का व्यय व्यर्थ करना पड़ जाता है।

४. वैसे भी बहुत कम हालतों में अधमर्ण जेल जाते हैं। इस लिये थोड़े से लोगों के लिये नया कानून बनाने की जरूरत नहीं रहती।

५. आज का कानून भी ईमानदार कर्जदार को जेल से बचाने की पर्याप्त सुविधायें देता है।

कुछ लोगों ने यह भी सलाह दी है कि कानून में सब के लिये कोई नियत व्यवस्था न हो, लेकिन हर एक के मामले में अदालत अलग अलग विचार करे। जो आदमी दे सकता हो और देता न हो, उसे जेल भेजा जावे, लेकिन जो दे ही न सकता हो, उसे गिरफ्तार न किया जाय।

दिल्ली के शासक

यह समझा जाता है कि देहली के चीफ कमिश्नर अधमर्णों को जेल भेजने के हक में नहीं हैं। उनका कहना है कि यह अधिकार केवल सरकार को होना चाहिये कि वह समाज के हित की दृष्टि से किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता छीन सके। यह अधिकार महाजनों को तो कभी भी नहीं सौंपना चाहिये। किसी भी हालत में अदालत को बिना जांच किये किसी कर्जदार को जेल में नहीं भेजना चाहिये। वे नये संशोधन को बहुत अधिक पसन्द करते हैं।

लेकिन दिल्ली के सबजज दीवान श्रीराम पुरी इस बिल को बहुत उग्र समझते हैं। उनका खयाल है कि इस से उत्तमर्णों का अधिकार छिन जायगा। इससे पंजाब और दिल्ली में तो कर्जदारों को कर्ज न चुकाने का साहस हो जायगा, क्योंकि वहां तो किसानों की जमीन भी जब्त नहीं की जा सकती।

मध्यप्रांत की सरकार ने बिल का पूर्ण समर्थन किया है। नीमाड़ के जिला और सेशन्स जज ने यह सलाह दी है कि यह बिल केवल गरीब कर्जदारों के लिये ही रखा जाय।

बरार में यह अनुभव किया जा रहा है कि इस बिल के बनाने की कोई खास जरूरत नहीं है। इसे यदि प्रांतीय कौंसिलों पर छोड़ दिया जाय, तो अधिक अच्छा हो।

अजमेर मेरवाड़ा का अडिशनल जिला जज जहां इस बिल से सहमत है, वहां इस बिल को १००) रु० तक वेतन भोगियों के लिये रखने की आवश्यकता नहीं समझते। वे कहते हैं कि आमदनी छोटी या बड़ी हो, इसका खयाल नहीं करना चाहिये। सभी के लिये यह बिल लागू होना चाहिये।

अजमेर के सब जज स्माल काज की सम्मति है कि बिल लाभ की अपेक्षा हानि अधिक करेगा।
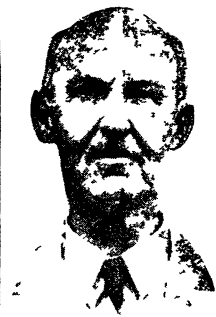
बिहार व उड़ीसा की सरकार, मालूम हुआ है, इस बिल के सिद्धान्त के विरुद्ध है। उसकी सम्मति में यह संशोधन अनावश्यक है और यह बिल धोखेबाजी को बढ़ाने और उत्तमर्ण पर अनुचित भार बढ़ावेगा।

सर हेनरी क्रेक

बम्बई सरकार ने इस बिल का पूरा समर्थन किया है। लेकिन बम्बई हाईकोर्ट के जजों ने वर्तमान कानून में संशोधन का विरोध किया है। उनकी सम्मति है कि यदि कर्जदार दीवाले के कानून की शरण नहीं लेता, तो यह समझा जा सकता है कि वह अपनी जायदाद को बचाना चाहता है।

संयुक्तप्रान्त की सरकार बिल के हक में है।

बंगाल सरकार इस बिल को बहुत लाभप्रद समझती है।

मुस्लिम चैम्बर कामर्स कलकत्ता इस बिल के पक्ष में है। ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन कलकत्ता की सम्मति है कि इस बिल से उत्तमर्णों के अधिकारों का नाश हो जायगा।

पंजाब सरकार इस बिल का समर्थन करते हुए इसे अपने कानून से कम पर्याप्त समझती है।

अब यह बिल असेम्बली के शिमला अधिवेशन में पेश होगा। देखना चाहिये कि भारतीय जनता के प्रतिनिधि अधमर्णों का पक्ष लेते हैं या उत्तमर्णों का और उससे कर्जदार जेल जाने से बच सकते हैं या नहीं ?

———

अल्मोड़ा में ऊनी खादी

(ले०—श्री मथुरादत्त त्रिवेदीसम्पादक 'शक्ति')

कुमाऊ के पर्वती खंड में, साल के छह महीने जाड़ों की ऋतु में ऊनी वस्त्रों की आवश्यकता पड़ती है। गढ़वाल कुमाऊं के शीत प्रधान खंडों में ऊन कातने व बुनने का रिवाज प्राचीन काल से अंग्रेजी राज्य के आरम्भ काल तक बराबर चलता रहा है। अंग्रेजों के आने के बाद जब विदेशी ऊनी व सूती वस्त्रों का प्रचार बढ़ा तब ऊन कातना शनैः शनैः कम हो गया। ऊन कातने की प्रथा बनी रही तो वह कुमाऊं के भोट इलाके में और गढ़वाल के उत्तरी भाग में। भोट के बने ऊनी माल की बाजार में खपत है। भोट-निवासी ही तिब्बती ऊन को कुमाऊ व गढ़वाल के लोगो के घरो में पहुंचाते रहे हैं।

अन्तिम २०-३० वर्षों के बीच ऐसी अवस्था कुमाऊ में आ गई है कि लोगों को कातने के लिये तिब्बती ऊन मिलना कठिन हो गया है। लाल इमली व धारीवाल मिलो के एजन्टो ने सारी तिब्बती ऊन अपना लिया है। वैसे कुमाऊं में भेड़ें बहुत कम पाली जाती हैं, इधर कोई पालने का यत्न भी करे तो जंगलात विभाग के कड़े नियम होने से ऐसा करना भी कठिन है। भोटिय व्यापारी यद्यपि पशु कर देते हैं, तो भी वह स्वच्छन्दतापूर्वक कुमाऊं के किसी रिजर्व या सिविल जगल में अपना भेड़ो का गल्ला नहीं रख सकते।

तिब्बती माल को भारत के बाजार में पहुंचाने वाले व्यापारी इस समय तरह-तरह के विदेशी माल का तिब्बत देश की मंडियो में व्यापार करते हैं। भोटियों के जिन करघों में अपने हाथ का कता तिब्बती 'पशम' बुना जाता था आज उन्हीं करघो में आस्ट्रेलियन ऊन (कता हुआ) बुना जाता है। जब भोटियों के घरो का यह हाल है, तो दूसरी मिश्रित फैक्टरियों में विदेशी मिलो में कते ऊन के तागों के बुने जाने का क्या दुःख रोना।

ऊन कातने का सरल साधन तकली है। भोट व उत्तरी गढ़वाल निवासी अपनी कमर में एक तकला व कुछ धुनी ऊन की पिन्डियां रखते हैं। थोड़ी ही फुर्सत पर, या बात करते २, या रास्ता चलते चलते ऊन कात लेते हैं। इसके सिवाय ऊन कातने का एक चरखा भी इधर प्रयोग में आने लगा है। इस चर्खे को 'श्रीकृष्ण चरखा' कहते हैं। आदि में इस के बनाने वाले स्वर्गीय श्री कृष्ण जोशी जी थे। पीछे प० लक्ष्मीदत्त त्रिपाठी शास्त्री, श्री० प्रभुदास गांधी, ठा० जीतसिंह (चर्खाश्रम) बोर गांव वाले ने इस के सुधार का प्रयत्न किया। स्वर्गीय पं० श्री कृष्ण जोशी जी के बाद डा० जीतसिंह जी का चर्खे में सुधार को परिश्रम सफल रहा। यह चर्खा सिंगर कम्पनी की पैर से चलने वाली सीन की मशीन की तरह है। हाथ से ऊन देते रहो। मशीन सूत कात देगी। उसे स्वतः लपेट लेगी। कते हुए सूत को दुहरा कर देवेगी। साधारण चर्खे की कीमत आठ रुपये है। चरखा तरोड़ मरोड़ कर पैक किया जा सकता है। यह चरखा महात्मा गांधी जी के पास पहुंच चुका है और उन्होंने इसकी तारीफ की है। चर्खे में दो आदमी एक साथ काम कर सकते हैं और एक आदमी ६ घंटे में पाव भर ऊन कात लेता है। इस चरखे का प्रचार शनैः शनैः बढ़ रहा है।

अल्मोड़े में ऊन-कताई के काम के पुनरुद्धार का श्रीगणेश सन् २१ २२ में कांग्रेस कमेटी के द्वारा हुआ था। संभवतः उस समय तिलक स्वराज्य फन्ड से कई हजार रुपया इस काम के लिये जिला कांग्रेस कमेटी अल्मोड़ा को मिला भी था। बाद में सोमलाखत, ताड़ीखेत बागेश्वर, देघाट आदि स्थानों में कताई बुनाई के काम का जीवन देने के लिये कांग्रेस की ओर से काम हुआ इन स्वतंत्र केन्द्रों में मिल मिला कर एक लाख रुपया तक खर्च हुआ होगा।

अल्मोड़े जिले में ऊनी खादी के काम का सन् १९२६ में जब कि जिला बोर्ड के सभापति प० हरगोविन्द पन्त जी और मंत्री श्रीयुत जोशीजी थे हाथ में लिया गया था। उस समय जिला बोर्ड में स्वराजी' कहे जाने वाले मेम्बरों का बहुमत था। राष्ट्रीयदल का ध्यान रचनात्मक कार्य की ओर था। उत्साही व आशावादी चेयरमैन व सेक्रेटरी का रोब डि० बो० स्कूल के अध्यापकों पर गालिब था। वह उनकी इज्जत करते थे। बोर्ड में ऊन कताई का प्रस्ताव पास हुआ और अध्यापकों व छात्रों ने वचन दे दिया कि स्कूल समय के बाद एक घंटा हम व हमरे विद्यार्थी बोर्ड की ऊन निःशुल्क कात देंगे। सर्वप्रथम खादी संचालक प० शिवदत्त जोशी जी नियुक्त हुए। आप एक स्कूल के अध्यापक हो थे और अब भी हैं। बीच में आप आन्दोलन में आगये थे। आप साबरमती आश्रम में भी कुछ दिन रहे। आपने बड़े जोश व लगन से प्रायः ४ वर्ष खादी का काम किया। आपने जब त्यागपत्र दे दिया तब महात्मा गांधीजी की सलाह से श्री शांतिलाल त्रिवेदी खादी संचालक बनाये गए। आपने भी सन् ३४ के अन्त में स्तीफा दे दिया है।

सन् २६ से मार्च सन ३५ तक डि० बो० अल्मोड़ा ने २५२६४) रु० ऊनी खादी के प्रचार में खर्च किया है। इन वर्षो के बीच माल की बिक्री से आमद ८१६५ रु० की हुई है। डि० बो० के गुदाम में कता हुआ सूत व बुना हुआ सामान बाकी है। इस समय डि० बो० के अल्मोड़े जिले में सात खादी केन्द्र हैं,—यथा अल्मोड़ा, खेतीखान, बरोनाग, पोला गणनाथ, सालम (ठा० रामसिंह धोनी आश्रम) और गणनाथ, विद्यापीठ। १५० अपर स्कूलों और १२ मिडिल स्कूलो में ऊन काती जाती है।

सन ३१ से ३५ तक इस तरह ऊन खरीदी व काती गई।

३१—३२	२७॥।८९॥।	वजन	६७० १३-० फी मन
३२—३३	१५८७॥	,,	४२६ १५ ० ,,
३३—३४	२०८	,,	३००-० ० ,,
३४—३५	१४८३		३०८-७-० ,,

कुल खर्च अन्तिम वर्षों इस तरह पर था।

७३१ ३३	१७६१) रु०
७३३ ३४	२८८४) रु०
७३४ ३५	३५००) रु०

कार्यकर्ताओं के वेतन में ही अन्तिम वर्ष में २७६६) रु० निकल गया। १२ कताईनिरीक्षक सेन्टरों के इन्चार्ज अध्यापकों को १) रु० माह के हिसाब से १४४) देना पड़ा। ऊन सिर्फ २००) की कती, वह भी निःशुल्क।

ऊन बहुत कुछ बर्बाद जाती है, इसका बोर्ड को ध्यान नहीं है। कते हुए मोटे सूत का अब तक एक मात्र उपयोग गलीचों को तैयार करने में होता रहा है। जो कती ऊन काम में नहीं लाई जा सकी, उसकी बर्बादी हुई है। प्रसन्नता है कि बोर्ड ने अब मोटी ऊन के कम्बल तैयार करने की सोची है। बोर्ड के खर्च से ठा० कृष्णसिंह व पं० शिवदत्त कम्बल बुनने में ट्रेन्ड होकर वापिस आगए हैं। कम्बल बुनने के लिए जरूरी सामान भी बोर्ड के पास तैयार है। बोर्ड का अपना अनुमान है कि १२ सेन्टरों से बोर्ड की सन ३४ की कती हुई ऊन प्रायः १०८ मन जमा होगी। सन ३५ के लिए केवल ८॥८५ ऊन बाहर भेजी गई है!

इधर जिले में डेढ़ दो दर्जन प्राइवेट केन्द्र, जहां कि ऊन काती बुनी जाती है कायम हो गए हैं। कोई २ केन्द्र नफे के साथ काम कर रहे हैं। उनका कताई व बुनाई काम सफलता पूर्वक चल रहा है। (लेखक डि० बो० सम्बन्धी आंकड़ों के लिए बो० देवीसिंह कुंवर बोर्ड के एक उत्साही मेम्बर का ऋणी है।)

अल्मोड़ा डि० बोर्ड ने सन २६ से आगे अब तक कई सौ या हजार विद्यार्थियों का दफा ४ और मिडल पास का सार्टीफिकेट देकर तथा ऊन कातना सिखा कर अपनी रोजी पैदा करने के लिये ससार क्षेत्र में छोड़ दिया है।

आग बोर्ड के इस काम को व्यापक रूप देने तथा इसके जरिये बेकारी के प्रश्न को हल करने के लिए तीन तरह से मदद चाहता है।

(१) सरकार—सरकार ग्राम-उद्योग धंधों का पुनरुद्धार करने के जा रही है। कुमाऊं में ऊनी खादी के कार्य का बढ़ावा देना सरकारी ग्राम उद्योग-धंधा विभाग का मुख्य काम होना चाहिए। श्रीयुत मोहन जोशी जी ने सन ३० के लगभग इस खादी धंधे को व्यावसायिक रूप देने की सरकार के सामने एक स्कीम पेश की थी और उस काम के लिये १ लाख की सहायता चाही थी। उस समय डाइरेक्टर आफ इन्डस्ट्रीज ने इस स्कीम पर विचार करने का वचन दिया था। सरकार को भेड़ पालने के लिये कुमाऊं के भोटियों को उत्साहित करना चाहिए। महात्मा गांधी जी—सन २९ के दौरे में महात्मा गांधी जी को कुमाऊं के

(शेष पृष्ठ २२ पर)

चिलों का किला--तीन दृश्य

जेनेवा की सुन्दर झील के उत्तरी तट पर चिलों का सुन्दर प्रसिद्ध किला है। किसी समय यह समर्थ दुर्ग माना जाता था। इस किले में स्वतन्त्रता के कितने भक्त सरकार की कोपदृष्टि के पात्र होकर अपनी उम्र गुजार चुके हैं। सोलहवीं सदी में सवाय के ड्यूक ने जनेवा के स्वतंत्रता आन्दोलन के नेता बोनिवार्ड को इसी किले में कैद कर रखा था। बोनिवार्ड वस्तुतः ड्यूक का ही कर्मचारी था, लेकिन ड्यूक के जनेवा के निवासियों पर अत्याचार को देखकर ही वह स्वतंत्रता आन्दोलन में सम्मिलित होगया। किले में तहखाने में उन पर अत्यन्त भयानक अत्याचार होते थे और सरदार भवन में ड्यूक आमोद प्रमोद में मस्त रहता। बोनिवार्ड छः वर्ष तक कैद रहा। … बोनिवार्ड का चित्र अन्यत्र देखिये।

जिनवा की झील से किले का दृश्य

चिलो का किला जहां बोनिवार्ड कैद था

किले का सरदार भवन

श्याम कृष्ण और गौरी राधा

कवियों की अनूठी कल्पनायें

(ले०—श्री जगदीशप्रसाद माथुर "दीपक", राजस्थान-पत्रकार)

हिन्दी का प्रत्येक पाठक जानता है कि यदि किसी को भी कृष्ण का वात्सल्यरस चखना हो, मोर-मुकुट, वन-माला, रस-विहार का सुख लूटना हो, गोपियों की विरहाग्नि में जलना हो, तो वह ब्रज भाषा के सजीव कृष्ण-साहित्य का, हिन्दी की अन्य-कृष्ण भक्ति अनुरंजित काव्य-माधुरी का परिशीलन कर जाय। शत-शत कवियों ने लीला बिहारी, रास क्रीड़ा-कौतुक के आगार और तदुपरान्त भी योगी राज, कृष्ण की भक्ति के प्रबल प्रवाह में आत्म-विस्मृत हो, ऐसा ले दे झकझोरा है कि क्या कहा जाय? भक्तों ने जिस तूफानी आवेग में भगवान को आड़े हाथों लिया है, उसे आप ढिठाई और मुंह लगे-पन की अन्तिम सीमा-रेखा तक तो पहुंचा हुआ ही समझिये। हम यहां अपनी इस भूमिका-कथन को स्पष्टीकरण एक अनूठे उद्धरण में करके अपने मूल-विषय पर आयेंगे कि कवियों ने अपने भगवान की विपरीत रंग की जुगल-जोड़ी को भी कविता का कैसा अनूठा विषय बना लिया है।

इस ढिठाई की हद है। उदाहरण देखिये पाठक! एक भक्त शिरोमणि कहां तक मुंहलगे हैं, अपने भगवान के कि कृष्ण महाराज को यहां तक नीचा दिखाते नहीं डरते!! कहते हैं, भिन्न २ पशु-रूप में अवतार ले कर कब तुम ने गोपियां नचाई, मत्स्य अवतार में किस के चीर हरे, कच्छप रूप में कब बांसुरी बजाई, किस की छातियां छुईं। यह तो राधा-लीला ही ऐसी प्रगट हुई कि जिनहीं में तुम ने कामकला का पाठ पढ़ा है। नहीं तो, शायद, इस में भी कोरे रह जाते! क्यों कवि जी महाराज, यही सन्देह रहा होगा न आप का, जब कि आप ने गाया था:—

> सूकर ह्वै कब रास रच्यो,
> अरु बामन ह्वै कब गोपिन नचाई?
> मीन ह्वै कौन के चीर हरे,
> तिमि कच्छप ह्वै कब बेनु बजाई?
> होय नृसिंह कहौ हरि जू!,
> तुम कौन की छातिन रेख लगाई?
> वृष-भानुसुता प्रगटी जब तें,
> तब तें तुम केलि कला निधि पाई?

इतना ही नहीं सम्भवतः यह पल्ला झाड़ कर अपने भगवान के पीछे पड़े मौजी कवि 'रसखान' थे, जो और आगे बढ़ कर 'अहिर की छोरियां की छछिया भर छाछ पर नाचने वाले और फिर भी अगम्य (!) प्रभु की पोल खोलते हैं—

> नारद लै सुक व्यास रटैं पचिहारें,
> तऊ पुनि पार न पावैं।
> ताहि अहिर की छोहरियां छछिया,
> भर छाछ पै नाच नचावैं।

वाह, वाह! क्या खूब! छोरियों के, चुल्लूभर छाछपर योगीराजका नाच!

* * *

आइये पाठक, देखें—यह विश्व-विमोहन गात 'सांवल' क्यों है? कवियों के कल्पना की उड़ान में इस का कारण ढूंढना हो तो नागरीदास जी सहज हो गये चुके हैं ना, सहस्रों कजराही आंखों वाली गोपियों की आंखों में समाया गात भला काला क्यों कर न हो:—

> कजरा हो अंखियानि में,
> बस्यौ रहै दिन रात।
> प्रीतम प्यारो है सखी
> या तें सांवल गात।

* * *

कुंवारे-पन ही में कुमारियों के नैनों में घुम २ कर काजल तो थे हुए। अब कृष्ण प्रणयिनी, नव विवाहिता दुलहिन आईं। कवि प्रीतम के रूप में उनकी आंखों का भी लगान का अछूता साधन अपनी कल्पना की उड़ान में ले आता है और कृष्ण-प्रणेता अपनी नायिका से कैसी मनोज्ञ की श्याम लिवाता है यह कहला कर—

> सांवरे श्याम को सांवरो रूप में,
> नैनन को कजरा करि राख्यो।

* * *

'स्याम कृष्ण और गोरी राधे' का असादृश्य रंग, कवियों की कल्पना उड़ान के लिये होली के उन रसीले खिलैया नायक नायिकाओं पर रंग फिकवाने में भी, चातुरी-भरी बात कहलाने का कारण भूत होने से, न बच सका। यहां तो कवि-चातुरी ने प्रणय माधुर्य की ऐसी रंग सृष्टि की है कि बस, सुनते ही बनती है—

> विहरति सह राधिकया रंगी।
> मधु-मधुरवृन्दावन राधा सिहरिरिह
> हर्ष तरंगी॥

अर्थात्—विलासोत्सुक तथा हर्षोन्मत्त श्रीकृष्ण, वसन्तागमन पर, कुञ्जों विटपों में, श्री राधा से क्रीड़ा कर रहे हैं।

> विकिरति यन्त्ररित मथ वैरिरिंग राधा
> कु कुमपकम्।
> दयिताम् यमपि सिञ्चाति मृग मद रस
> राशिभिर विशंकम्॥

अर्थात्—राधाजी श्रीकृष्ण पर कुंकुम आदि आनन्ददायक वर्षण फेंक रही हैं और इसके प्रतिरोध स्वरूप श्रीकृष्ण कस्तूरी मिश्रित-वारि की पिचकारी अपनी प्रेयसी की देह पर मार रहे हैं।

यहां श्याम और गोरी की रंग-रसानुभूति का मनोरंजक बोध कराने के लिये सम्भवतः स्पष्ट विश्लेषण की आवश्यकता रह गई है। सुनिये—

राधाजी के वर्ण-साम्य से पीला कुंकुम श्रीकृष्ण को प्रिय होजाना स्वाभाविक ही है। ठीक इसी प्रकार, श्रीकृष्ण का वर्ण-साम्य हेतु कस्तूरी भी श्री राधाजी को सहज प्रिय हो ही जाती है।

इतना ही नहीं, श्याम और गौर के इस रंग-खेल में दूसरा काव्य सादृश्य महाकवि ने यह अन्तर्निहित किया है कि:—

श्रीकृष्ण के श्याम अंगों में, पन्ने (हरे रंग के जवाहिर यो मणि विशेष) के साथ स्वर्ण की भांति कुकुमशान्ति करवाकर और राधा के गौरांग में, चांद के कलंक की भांति, गहरी कस्तूरी शोभावर्द्धक रंग मंजित करने की कल्पना कर, उनके प्रेमाधिक्य के सहज चित्रण के साथ सुगन्ध भर दी है।

* * *

श्याम-कृष्ण को पन्ने की झांई में मिलाकर, उन पर पड़े कुंकुम के छींटों को स्वर्णवत् सौभाग्यमान बताने हुए, एक और महाकवि की उक्ति हृदय हुलसित करती निकली पड़ती है। गौरवदनी राधा और श्याम वर्ण कृष्ण के एकात्मक भाव की क्या सुन्दर उपमा बांधी है। सुनिए.—

"राधे सोने की अंगूठी, श्याम नीलम नगीना है।"

* * *

लो यह तो हुईं स्याम और गोरी की जवानी की बातें। अज्ञात यौवना निर्बोध राधा के बालहठ की ओर भी हजरत कृष्ण की महाकवि देव ने अच्छी किरकिरी करवाई है। एक दिन कान्ह कृष्ण को बीच में सुलाकर, उसके पास ही बाल राधा को एक ओर सुलाय, 'धाय' सोने ही चाहती थी कि हठीली गौरी-राधा काले कृष्ण के संसर्ग से स्याम रंग चढ़ जाने का भय खाकर चहुंक उठी। चतुर धाय ने बाला को भुलावा तो दिया किन्तु उस में भी स्वर्ण राधिका के सामने बेचारे स्याम को कसौटी की उपमा सहनी पड़ी है। कवि ही के शब्दों में—

> "राधिका माधवै एक ही सेज पै,
> धाय लै सोई सुभाय सलौने।
> पारै 'महाकवि' कान्ह को मध्य में,
> राधे कह्यो "यह बात न होन॥
> सांवरो होउंगी सांवर संग में",
> "बावरी तोहि सिखाई है कौने।
> सोने को रंग कसौटी लगै,
> पै कसौटी को रंग लगै नहिं सोने॥"

* * *

बचपन की वही, सांवर के स्पर्श से, ऐसी भोली बाला, जवानी में श्याम रंग के विरद गाती न अघाती है। यहां कवियों ने प्राकृत स्वाभाविकता की क्या ही खूब रक्षा की है। यौवन की मादकता ही तो वह काल है, जहां नारी का पूर्ण आत्म-समर्पण सहज मिलता है और उसके हृदय पर नर का एकाधिपत्य। अब वही राधे समझी:—श्याम से उज्ज्वलता मिलती है।

> 'कोटि भानु जो ऊगवै, तऊ उजियार
> न सोय।
> तनिक स्याम की स्यामता, जो दृग
> लगी न होय॥'

* * *

राधा के इस मानस-परिवर्तन का निरंतर विकास बिहारी की शब्द-जादूगरी ने देखिए:—

> या अनुरागी चित्त की, गति समुझै
> नहिं कोय।
> ज्यों ज्यों बूड़े श्याम रंग, त्यों त्यों
> उज्ज्वल होय॥

* * *

मन ही मन यह पराजय अनुभव करते हुए भी, कृष्ण के—"तेरो मुख गोरो कि मेरा राधे प्यारी?"—ऐसा पूछने पर क्या ही मुंहतोड़ उत्तर दिया है.—

> "हम का कहैं तुमहीं क्यों न देखो,
> मैं गोरी तुम श्यामबिहारी।
> हमरे बदन उजों चंदा की उजियारी,
> तुम्हरो बदन ज्यों रैन अंधियारी॥
> तुम्हरे भाल पर मुकुट बिराजै,
> हमरे सीस पर तुम गिरिधारी।
> 'चन्द्र सखी' भजु बाल कृष्ण छवि,
> दोउ ओर प्रीति बढ़ी अति भारी॥

इसी दुरूह स्वभाव ही को तो स्त्री को "मन ही मन हांहि कहैं पै बैनन ही ते नहियां" कह कर कवियों ने सहज गाया है।

भारत में योरोपियन जजों की नियुक्ति क्या ठीक है?

जजों को सर लालगोपाल मुकर्जी के परामर्श

साम्प्रदायिकता से बचो

वेतन से ही सन्तुष्ट रहो

ठीक समय पर अदालत में हाजिर हो

अवध चीफ कोर्ट के न्यायाधीश सर ए० मर्किंग के सम्मान के उपलक्ष्य में किये गये युक्त प्रान्तीय जुडिशियल आफिसर एसोसियेशन के दशम सम्मेलन में उस के सभापति सर लालगोपाल मुकर्जी ने निम्नलिखित आशय का भाषण दिया:—

यूरोपियन जजों की नियुक्ति

मुझे यह एक बड़ी खेदजनक बात जान पड़ती है कि इस देश के न्याय विभाग का संपूर्ण शासन देशवासियों के हाथ में नहीं है, देशवासियों को ही मुकदमे लड़ने वालों की भाषा रीति-रिवाज आदि से परिचय होता है और इसीलिए वे उनके मामलों पर अधिक अच्छी तरह से विचार कर सकते हैं। आप लोग सब यह जानते हैं कि जिन दाम्पत्तिक मामलों में यूरोपियनों का सम्बन्ध रहता है उन पर सभी जज विचार नहीं करने पाते। इसका कारण यह दिया जाता है कि भारतवासियों को यूरोपियनों के नियमों और रीति-रिवाजों का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। यदि यह सिद्धांत ठीक है—तो यह इस देश के मामलों पर इसी देश के विचारपतियों द्वारा विचार करने की समस्या पर भी लागू होता है। कहा जाता है कि कुछ यूरोपियन जज इस में भी बहुत सफलता प्राप्त करते हैं परन्तु उनको यह सफलता कितना अनुभव प्राप्त करने के बाद आरम्भ होती है और इस बीच में उनके अनुभव प्राप्त करने तक कितने निर्दोष व्यक्तियों को हानि उठानी पड़ती है, यह कौन कह सकता है।

हाईकोर्ट में नियुक्तियों के संबन्ध में कहा जाता है कि इंगलैण्ड की अदालतों का अनुभव प्राप्त किये हुए लोगों के यहां आने से हाईकोर्टों का बड़ा लाभ होगा। परन्तु आप उन अफसरों के सम्बन्ध में क्या कहते हैं जो कि कालेजों से शिक्षा प्राप्त करके ताजे ही आते हैं और उन्हें अंग्रेजी कानून विधान का भी अच्छी तरह ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार के युवकों के हाथ में न्याय विभाग में जिम्मेवारी पूर्ण पद देने का कोई भी औचित्य नहीं बतलाया जा सकता।

आई० सी० एस० वाले

शासन विभाग में कुछ थोड़ा सा ही अनुभव प्राप्त करने के बाद सिविल सर्विस वाले युवकों को डिस्ट्रिक्ट जजों के पद देने में भी कहां तक न्याय है। वे उन सबार्डिनेट जजों और मुंसिफों की अपीलें सुनते हैं, जो कि उनमें कहीं अच्छे वकील रह चुके होते हैं और जिन्हें उनकी अपेक्षा कहीं अच्छा अनुभव होता है मुंसिफों को बड़ी कड़ी परीक्षा पास करनी पड़ती है और उन्हें १२ साल का अनुभव प्राप्त किये बिना सबार्डिनेट जज के पद पर नियुक्त किया भी नहीं जाता। आई० सी० एस० पास युवक इन लोगों तथा कई साल के अनुभव प्राप्त सबार्डिनेट जजों की अपील सुनता है। इस प्रथा से न जनता के स्वार्थों की भी रक्षा नहीं होती और मुकद्दमा लड़ने वालों को व्यर्थ में हानि उठानी पड़ती है। इस के सिवाय यदि आई० सी० एस० वाला सज्जन अंगरेज हुआ तो उस देश की रीति-रिवाज भाषाओं और प्रथाओं का भी कुछ अनुभव नहीं रहता। यदि आई० सी० एस० हिंदुस्तानी हुआ तब उसे कानूनी ज्ञान और अनुभव की आवश्यकता रहती है। पहले आई० सी० एस० वालों को मुंसिफी का पद मिलना चाहिए और तब कहीं तरक्की करते करते उन्हें डिस्ट्रिक्ट जज के पद पर पहुंचना चाहिए।

साम्प्रदायिकता का विष

सज्जनो! साम्प्रदायिकता का विष हमारे भारतीय समाज में बुरी तरह घुसा हुआ है। मैं सच्चे हृदय से विश्वास करता हूं कि इस प्रान्त की जुडिशियल सर्विस वाले इस विष से अछूते हैं। आप लोग विचारपति हैं और न्याय के पवित्र सिंहासन पर आसीन होते हैं। परमात्मा ही कानून है और आप उसके प्रतिनिधि हैं जब कि आप न्याय के आसन पर बैठते हैं। परमात्मा मनुष्य मनुष्य में भेद नहीं करता और सभी समान रूप से उसके पुत्र हैं। इस सम्बन्ध में भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों का उल्लेख करूंगा—'समोहम् सर्वं भूतेषु'—अर्थात् मैं सभी प्राणियों के लिये समान रूप से हूं। मुझे विश्वास है कि इसी प्रकार के कथन सब धर्मों में होंगे, जिन्हें मैं यहां सुना नहीं सकता। यदि ईश्वर सभी के लिए समान रूप से है तो वह मनुष्य कि जो उसका प्रतिनिधि है विविध व्यक्तियों के लिये विविध प्रकार का कैसे हो सकता है। जिन लोगों का ईश्वर में विश्वास नहीं है उन पर साम्प्रदायिकता का तो कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा पर वे जातीय विद्वेष की भावना के शिकार हो सकते हैं। उन के लिए मैं कहूंगा कि न्याय में कोई राजनीतिक प्रभाव नहीं पड़ सकता। मुझे आशा है कि इस प्रकार के लोगों से मैं कहूंगा कि मनुष्यत्व के नियम के आगे उन्हें भी अपना सर झुकाना पड़ेगा। बहुत दिन हुए महात्मा कबीर ने जिन्हें हिन्दू हिन्दू मानते थे और मुसलमान मुसलमान—गाया था,

> पोथी पढि पढि जग मुआ,
> पण्डित भया न कोय।
> ढाई अक्षर प्रेम का,
> पढे सो पण्डित होय॥

प्रेम की सहायता से आप सच्चे और बुद्धिमान जज बन सकेंगे।

सज्जनो! आप जानते हैं कि प्रांतीय जुडिशियल सर्विस के नये उम्मेदवारों का वेतन कम कर दिया गया है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि नये साहब ईमानदारी के रास्ते में किंचितमात्र भी हटें। वास्तव में मनुष्य की सच्ची आवश्यकताएं बहुत कम होती हैं। बात यह है कि मनुष्य के अस्वाभाविक जीवन के ही कारण उसकी जरूरियातें भी बढ़ जाती हैं। प्रत्येक भारतीय चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो, इस बात को भली भांति जानता है। शारीरिक वासनाओं के पीछे फिरने से अपनी कभी तुष्टि नहीं मिल सकती। यदि ऐसा न होता तो धनी व्यक्ति संसार में सब से अधिक सन्तुष्ट होते। परन्तु क्या परिस्थिति वास्तव में यही है? इसलिए मैं आप से आग्रह करता हूं कि जो कुछ भी वेतन आपको मिलता हो उसी से सन्तुष्ट रहिये।

सच्ची सलाह

अब मैं अपने लम्बे भाषण को सर्विस में नये आने वालों को सच्ची सलाह देकर समाप्त करूंगा। आप लोग सदा बड़ी अदालतों और प्रिवी कौंसिल के फैसलों को पढ़ते रहिये ऐसा करने से आपको अनुभव होगा कि आप मुकद्दमों का फैसला जल्दी करने लगेंगे और इस तरह से आपके समय की भी काफी बचत होने लगेगी। जो मामला आपके सामने हो उस पर निर्णय देने में कभी जल्दबाजी न करिये। अन्तिम बात समय की पाबन्दी है। अदालत में आने के सम्बन्ध में ही नहीं, बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, यदि समय की पाबन्दी करियेगा तो आपको काफी फुरसत मिलेगी, जिसमें आप कसरत मनोरंजन आदि करके अपना स्वास्थ्य बना सकेंगे।

अन्त में मैं आप की कान्फरेंस की सफलता की कामना करता हूं, और अपने अध्यक्ष बनाये जाने के लिये आप सब को फिर धन्यवाद देता हूं।

सिनेमा स्टूडियो या वेश्यालय : एक अभिनेत्री की आत्मकथा

क्या कुलीन देवियों को फिल्मी दुनिया में जाना चाहिये ?

(ले०—श्री शान्ताकुमारी)

मैं सच कहती हूं कि वास्तव में मुझे अपनी जीवन कथा लिखते हुए लज्जा आती है और मेरी लेखनी रुकी सी जाती है। कारण? मुझे पूर्ण विश्वास है कि जब सिनेमा प्रेमी मेरी जीवन कहानी से परिचित हो जायगे, तो वे मुझ पर कृपा करना तो दरकिनार बल्कि उल्टे मुझे घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे। सचमुच मैं अपनी जीवन-कथा न लिखती और अपने विचारों को न प्रकट करती, कारण मेरा हृदय इस बात की गवाही न देता, परन्तु चूंकि मि० सुभाषचन्द्र बोस ने मुझे जोर दिया है कि मैं अपनी जीवन कथा स्पष्ट रूप से लिखूं, ताकि जो लोग इस क्षेत्र में हैं तथा जो पड़ने वाले हैं उनके लिये हितोपदेशी साबित हो। इस लिये मैं इतने स्पष्ट शब्दों में आज अपनी जीवन कथा लिख रही हूं।

बहुत दिनों की बात है ठीक तो नहीं बता सकती, परन्तु लगभग १५ वर्ष से कम न हुए होंगे कि मैं १० वर्ष की एक सुन्दर कन्या थी। मेरे पिता स्वर्गीय मानीलाल जी एक स्कूल के प्रिंसिपल थे और सारे शहर में उनका बड़ा मान था। वह एक अच्छे तथा ऊंचे कुल के सज्जन पुरुष थे और कम्ब्रिज विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट थे। परन्तु मुझे शोक सहित कहना पड़ता है कि जिस माता से मैं जन्मी थी वह ऊंचे कुल की न थी, बल्कि एक नीच वातावरण में उन्होंने जन्म लिया था। जब मैंने होश संभाला उस समय मेरी आयु केवल ७ वर्ष की थी और उसी अवस्था में मेरे पिता ने मुझे एक अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा। इस स्कूल में मैंने एक साल तक पढ़ा। इस के बाद मेरे पिता का देहान्त हो गया।

वास्तव में मैं अबोध अवस्था ही से बड़ी सुन्दर थी। इतनी सुन्दर थी कि जब मैं स्कूल में पढ़ने के लिये जाती तो बहुत से युवक मेरी ओर घूर २ कर देखते। मुझे यह देख कर बड़ा बुरा मालूम होता था, पर उस समय कर ही क्या सकती थी। मुझे यह भी याद है कि इसी अवस्था में बहुधा अच्छी-अच्छी प्रेम की पुस्तकें तथा उपन्यास पढ़ा करती थी। यही नहीं बल्कि खूब सिनेमा भी देखा करती थी और मैं सच कहती हूं कि इन्हीं दो बातों (उपन्यास का पढ़ना तथा सिनेमा देखना) ने मेरे हृदय में कूट कूट कर प्रेम भर दिया था और मेरा हृदय प्रेम से इतना प्रचण्ड हो गया था कि मेरी यही प्रबल इच्छा होती कि कोई मुझ से प्रेम करे। पर पाठक इस बात को ध्यान रक्खें कि मेरा मतलब प्रेम से उस प्रेम का नहीं था जो बाजार में सस्ते दामों बिकता है और जिसे हर कोई खरीद सकता है। कारण मैंने यह पहले ही से निर्णय कर लिया था कि मैं अपने पिता के नाम को कलंकित न करूंगी। परन्तु शोक मेरी यह सब आशायें खाक में मिल गईं और मैं अति शीघ्र अपनी प्रतिज्ञा को भूल गयी।

भाग्य की बात है कि मैं स्कूल में केवल साल भर ही पढ़ पाई थी कि मेरे पिता का स्वर्गवास हो गया। मेरे पिता की मृत्यु के बाद मेरे घर में तबाही आ गई। अब मेरी माता को पूरी आजादी मिल गई। वह अपनी वास्तविकता पर आ गई और खूब जी भर कर अपनी मनोकामनायें पूरी करने लगीं। ईश्वर जाने उनके हृदय में किस प्रकार का प्रेम था, किस प्रकार की अग्नि उनके अन्दर प्रचण्ड थी। वह हर समय एक न एक युवक को अपने पास रखना पसन्द करती थीं। यही नहीं, बल्कि उन्होंने यह भी चाहा कि मैं भी स्कूल जाना बन्द कर दूं और उन्हीं की भांति जीवन को उसी कुमार्ग की ओर डाल दूं। परन्तु मैंने ऐसा नहीं किया। अन्त में जब उन्होंने मुझ पर बहुत जोर दिया तो मैंने स्कूल जाना बन्द कर दिया और इस बात को स्वीकार कर लिया कि मैं गाना सीख लूंगी और लोगों को गाना सुनाया करूंगी। थोड़े दिनों के बाद मैंने कई अच्छे २ गाने सीख लिये। इस प्रकार मैं उन लोगों को जो मेरी मां के पास आते अपने गाने सुनाती। परन्तु इसके अतिरिक्त मैं किसी अन्य बात में शामिल न होती। दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ कि मेरे गाने सुन कर सैकड़ों मुझे चाहने लगे। उस समय मैं यह सोचती थी कि ए परमात्मा! मैं भला किस प्रकार इतने युवकों को प्रसन्न कर सकूंगी, परन्तु कुछ दिनों के बाद सब कुछ होने लगा और मैंने अनुभव किया कि मैं सब कुछ कर सकती हूं।

इस के बाद सिनेमा की ओर मेरा ध्यान दौड़ा और मेरी यह इच्छा हुई कि मैं किसी प्रकार सिनेमा ऐक्ट्रेस बनूं। सन १९२० ई० में मैंने सब से प्रथम सिनेमा क्षेत्र में पदार्पण किया। चूंकि मैं काम करने में पहले ही से बड़ी निपुण थी इस लिये शीघ्र ही मैंने इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर ली। बस कुछ ही दिनों में मैं एक प्रसिद्ध ऐक्ट्रेस हो गई और सारे सिनेमा प्रेमी मुझे चाहने लगे।

इस प्रकार मुझे सिनेमा क्षेत्र में काम करते २ लगभग १४ वर्ष हो गये हैं। इन्हीं १४ वर्षों में मुझे इस क्षेत्र का काफी अनुभव हो गया है। मेरा तो यह अनुभव है कि सिनेमा-कम्पनियों के मालिक, सिनेमा इण्डस्ट्री की तरक्की देने के लिये नहीं बल्कि अपनी मनोकामनाओं को पूरी करने के लिये कम्पनियां खोलते हैं। कारण जहां कोई सुन्दर अभिनेत्री इनके हाथ आई झट इन्होंने अपनी कामना पूरी की। पाठकों को यह बात आश्चर्यजनक मालूम होगी परन्तु मेरा तो यही अनुभव है। कम-से-कम मुझे तो यह मुसीबत भोगनी पड़ी दिन-भर तो मैं कैमरा के सामने काम करती और रात को अपने मालिकों, डायरेक्टरों तथा ऐक्टरों की 'नाइट ड्यूटी' करती। मैं ही नहीं बल्कि मेरा तो यह अनुभव है कि जितनी भी ऐक्ट्रेसेज हैं प्रायः रसिक तथा मनचले मालिकों डायरेक्टरों और एक्टरों को मासिक वेतन शीघ्रातिशीघ्र वसूल कर लेती हैं। कारण एक्टर व डायरेक्टर जो कुछ भी कमाते हैं वह सब इन्हीं ऐक्ट्रेसों को दे देते हैं। मुफ्त नहीं। यह हाल है सिनेमा जगत का। बस, मैं अपनी बहिनों से प्रार्थना करूंगी कि वह कभी भी इस क्षेत्र में पदार्पण करने की चेष्टा न करें और कभी भी फिल्म ऐक्ट्रेस बनने का विचार न करें। कारण यदि वह ऐसा करेंगी तो उन्हें भी "नाइट ड्यूटी" (Night duty) करनी पड़ेगी। मैं कहती हूं कि सिनेमा-क्षेत्र में कोई भी एक्टर या एक्ट्रेस पाकदामन हो कर नहीं रह सकती ऐसा करना बड़ा कठिन है। और यदि कोई एक्ट्रेस ऐसा है जो बिलकुल पाक व साफ है (मुझे तो कम से कम विश्वास नहीं) तो वास्तव में वह एक्ट्रेस तारीफ के काबिल है। यही नहीं बल्कि हम लोग उनकी इज्जत करें।

वास्तव में मुझे यह सब लिखते लज्जा आती है परन्तु फिर भी ऐसा कर रही हूं क्योंकि मैं समझती हूं कि इस लेख से मेरी बहुत सी शरीफ बहनों को फायदा पहुंचेगा। सिनेमा क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व ही मेरे बहुत से चाहने वाले थे, परन्तु जब मैं फिल्मों में काम करने लगी तो मेरे चाहने वाले और भी बढ़ गये और अब तो मुझे बड़े २ शरीफ लोग भी चाहने लगे हैं। परन्तु मैं अनुभवशून्य थी और मैंने यह नहीं सोचा कि बड़े २ प्रेम करने वाले अपना मतलब निकल जाने के बाद मुझ से ऐसे निठुर हो जायेंगे मानो मुझे जानते ही न थे। परन्तु मैं उस का कर ही क्या सकती थी। भाग्यवश कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने चार वर्ष तक मेरा साथ दिया और बड़ी मुहब्बत करते रहे, परन्तु वे भी जब मेरी सुन्दरता कम हो चली, निठुर हो गए और प्रेम करना तो दूर किनार फिर दुबारा सूरत भी न दिखाई। सच है प्रेम करना कोई आसान काम नहीं। सच्चा प्रेमी इस संसार में मुश्किल से मिलता है। मुझे खूब याद है कि मेरे जीवन में मुझे प्रेम करने वाला केवल एक ही ऐसा युवक मिला था जो वास्तव में मुझ से प्रेम करता था। परन्तु शोक! अत्यन्त शोक! मैंने उसकी कद्र न की उसके प्रेम को न पहचान सकी यह न जान सकी कि उसका प्रेम सच्चा है, और वह बिचारा (मेरा सच्चा प्रेमी) मेरी निठुरता देख कर जहर खाकर मर गया। आज दिन जब मुझे उस प्रेमी की याद आती है तो मेरा हृदय तड़प उठता है और कलेजा मुंह को आ जाता है। परन्तु अब वह कहां मिले जो मेरे जीवन की नाव को पार लगाये। बस यह है मेरे प्रेम की कहानी और यही है मेरी जीवन-कहानी।

(रंगभूमि से)

कहानी

टाकी स्टार

(ले०—श्री पुरुषोत्तम महादेव वैद्य सिनेमेटोग्राफर, इंदौर)

नरेन्द्र के सिर पर टाकी-स्टार बनने की धुन सवार है। यूं तो किसी चित्रपट में पार्ट करने का निश्चय वह पहले कई बार कर चुका था, पर अब की छुट्टियों में उसका यह मर्ज अपनी आखिरी डिग्री पर पहुंच गया। गांव का सेवक बना रहने के बजाय परदेश में लीडर बनना ठीक समझ कर उसने बम्बई का टिकट कटवाया और वहां पहुंचते ही पम्पायर होटल में आ ठहरा।

होटल के कमरे में बैठा हुआ वह 'सिनेमा-संसार' में छपी हुई किसी "मिस" की तसवीर पर दृष्टि जमाये कुछ सोच रहा था कि एक नौकर ने आ कर कहा "ग्रेट, इंडियन पिक्चर्स के मैनेजर टेलीफोन से कह रहे हैं कि आप एक बजे डाइरेक्टर से कम्पनी में मिल सकते हैं।"

"ठीक है, साढ़े बारह तो बज ही चुके हैं लेकिन"'क्यों जी, दादर कहां है?"

"दादर! क्या आप ने होटल में आते वक्त दादर नहीं देखा? अच्छा चलिये मैं बतला दूं पास ही तो है!"

नरेन्द्र उठ खड़ा हुआ और नौकर के साथ हो लिया। दो-चार कमरे पार कर नौकर ने रुक कर कहा, "यहां है दादर"

"कहां है?"

"यह क्या है फिर? आप देखते नहीं ये लोग चढ़ उतर जो रहे हैं!"

"ओफ! तो क्या तुम लोग यहां जीने को दादर कहते हो!" अरे मैं पूछ रहा हूं, जहां फिल्म कम्पनियां हैं, वह दादर कहां है?"

"अच्छा, अब मैं समझा' दादर परेल के पास है।"

"और परेल"

"परेल दादर के पास है"

"बड़े अजीब आदमी हो! ये दोनों कहां हैं?"

"कौन दोनों?"

"परेल और दादर"

"देखिये, चिंचपोकली का अगला स्टेशन परेल, परेल से अगला स्टेशन दादर और दादर से आग "

"बस करो, रहने दो तुम'''देखो जल्दी से एक टैक्सी बुलवा दो।"

\+ \+ \+

"गुड मार्निंग डाइरेक्टर!"

"गुड मर्निंग मिस्टर' ?"

"नरेन्द्र।"

"मिस्टर नरन्द्र, आइय-आइये, कहिये मैं आप के लिये क्या कर सकता हूं?"

"आप मुझे टाकी-स्टार बना सकते हैं?"

"बड़ी खुशी से। मेरे खयाल से आप बंगाली हैं?"

"जी हां, मैं कलकत्ते रहता हूं, वहीं से आ रहा हूं।"

"ओहो, मैं समझता हूं कलकत्ते में तो आप के लिये सिनेमेटोग्राफी का काफी "स्कोप" था।"

"माफ कीजिये डाइरेक्टर, लेकिन मैंने सुना है, आप हॉलीवुड से ट्रेनिंग लेकर भारत आये हैं"

"जी हां।"

"फिर वहां तो आप के लिए काफी से भी ज्यादा स्कोप था?"

"ओ, हो, भाई सी आप की ऊंचाई क्या है?"

"जनाब, मैं हर्र हिटलर से सिर्फ आधा इंच नाटा हूं।"

"ठीक है, आप बाक्सिंग जानते हैं?।"

"बखूबी हमारे कालेज का मैं फेदरवेट ओइमीन लाइटवेट चैंपियन हूं।"

"बड़ी अच्छी बात है, तैरना तो आप को याद ही होगा?"

"मुझ से आप तैरने की कैफियत पूछते हैं डाइरेक्टर! तो फिर आप ने अखबारों में मेरा नाम नहीं देखा?"

"जी नहीं और हम लोगों को इतनी फुर्सत कहां है"?

"अफसोस! अजी साहब गंगा की बड़ी धार में तैरते हुए कलकत्ते से मुजफ्फरपुर पहुंचने का मेरा आल इण्डिया रकार्ड है!"

"ओह! सो ग्लैड टू मीट यू मिस्टर ?"

"नरेन्द्र!"

"मिस्टर नरेन्द्र माफ कीजिये, मैं हर वक्त आप का नाम भूलता हूं!"

"क्या हर्ज है, आज तो पहली रात आइ मान पहला ही दिन है, देखिये रसाई होते-होते शनासाई भी हो जायगी"

"दरअसल अजी आप हमारे फोल्ड में आइये तो! बड़ी चैन से गुजरेगी, समझे मिस्टर'''?"

'नरेन्द्र!"

"मिस्टर नरन्द्र, माफ कीजिये, फिर भूल गया लेकिन देखिये हम सोशियल और हिस्टारिकल सभी फिल्म बनाते हैं। क्या मैं आपसे और भी कुछ सवाल कर सकता हूं।"

"अजी आप मुझे क्लास और रीक्लास कर सकते हैं"

"आप को तलवार के हाथ याद हैं?"

"अक्सर याद हैं।"

"और घोड़े की सवारी?"

"वाह! यह बात खूब पूछी आप ने जाते का अरब और घोड़े पर न चढ़! अजी हजरत, मेरे पापा के दर्जनों घोड़े कलकत्ता 'टर्फ' में दौड़ते हैं, कई घोड़े तो मैंने खुद ट्रेन किये हैं और दो मर्तबा रेस में दौड़ा कर फर्स्ट आया हूं मैं! कहिये और ?

"जी नहीं और कुछ नहीं, हम बड़ी खुशी से आप को चान्स देंगे लेकिन हां एक बात रह गई"

"सो कौनसी?'

"क्या आप गाना जानते हैं?"

"जी नहीं, मैं गद्य-काव्य का पुरस्कर्ता हूं।"

"हमारी नजर में यह बड़ी कमजोरी है?"

"इसमें कमजोरी की क्या बात है। इस मुश्किल को आप सहज में आसान कर सकते हैं। देखिये, अब गाने की जरूरत होगी, मैं सिर्फ अपना मुंह हिलाया करूंगा और कोई दूसरा जानकार गाया करेगा, यह हथकंडा तो आपके मुहावरे का।"

इतने में एक नौकर ने कहा "डाइरेक्टर साहब, कोई नयी ऐक्ट्रेस आई है, बम्बूभाई आपको बुला रहे हैं।"

"मैं आता हूं क्यों रामू, बापा आए?"

"अभी नहीं आए।" कहकर वह चला गया।

नरन्द्र ने पूछा, 'ये बापा कौन हैं?"

"मालिक कम्पनी के।"

"अच्छा! तो आप मालिक को बापा कहते हैं?"

"जी हां, यहां यही रिवाज है, सिनेमा कम्पनी के मालिक अकसर बापा, काका, या दादा के नाम से ही पुकारे जाते हैं अच्छा, आप तशरीफ रखिये, मैं अभी हाजिर हुआ।"

* * *

डाइरेक्टर के चले जाने के बाद नरेन्द्र ज्यादा देर चुप न बैठ सका। कुतुब के मीनार सा एक जगह हट रहना उसके मिज़ाज के खिलाफ था। वह कुर्सी पर से उठा और पतलून की जेबों में अपने दोनों हाथ डाले मुंह से सीटी बजाता हुआ कमरे में रखी चीजों को घूम फिर कर देखने लगा, दीवालों पर बहुत सी तसवीरें लटक रही थीं, किसी तसवीर में मिस नैना अपनी जहरीली आंखों से देखने वाले पर छुरियां चला रही थीं तो किसी में मिस नैना अपने होठों की मसीहाई पर इतरा रही थीं देखते देखते नरेन्द्र की नजर एक टेबल पर पड़ी, उस पर शृंगार का सामान और एक बड़ा आइना सजा हुआ था। सभी सामान एक जगह देखकर उसे भी 'मेक अप' करने की इच्छा हुई। उसने तुरन्त अपना चेहरा बड़ी कुशलता से रंगा, भौंह साफ कीं और पौडर लगाकर झाड़ डाला, ओंठ पोते, "कप-हेयर" काट छांट कर उसने अपने सफाचट ओठों के ऊपर बड़ी रुआबदार मोंछ चिपका लीं और हाथों पर रंग मल लिया, पास ही खूंटी पर टंगी एक पोरसी पगड़ी सिर पर रख अपना चश्मा नाक पर चढ़ा लिया, बड़ी शान से जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाई और अकड़कर इधर उधर टहलने लगा।

"क्या मैं अन्दर आ सकती हूं जनाब?" कमरे के बाहर से आई हुई बड़ी मीठी आवाज उसके कानों पर पड़ी। देखा, दरवाजे में एक जवान लड़की बड़ी उसकी तरफ आशा भरी आंखों से देख रही है।

"आइये तशरीफ लाइए, घर आपका ही तो है, मैं तो बदा आपका फर्माबर्दार हू । कहिये, क्या हुक्म बजा लाऊ ? लेकिन पहले आप यह बतलाइये, आपको मैं किस नाम से पुकारू ?"

श्वेत वदना सुदरी ने कमर में आकर बडी अदा और अदब से कहा— 'सरकार, मेरा नाम महताब है क्यों ? आपने अपनी आखे क्यो मूद ली ?'

'अजी, महताब की रोशनी में बडे बडो की आंखे चौंधिया जाती हैं ! फिर मैं तो एक नाचीज शख्स हू ।

हुजूर बडे दिलवर मालूम होते हैं बदी किस लायक है ?

"आप मेरी दिली-सल्तनत की मलका बनने लायक हैं लेकिन आप कुर्सी पर तशरीफ तो रखिये दखिये, आप खडी हैं पैरो में मेरे दर्द उठता है बैठिये आप सिगरेट का शौक तो जरूर करती होंगी ?

जी मुझे आदत तो नहीं है कभी कभी ।

'अजी रहने भी दो यह चीज तो ताजमहल बनवाने वाले शाहजहां को भी मयस्सर न थी । देखिये

अब तरस आया हमारे
हाल पर अगरेज को।
बख्श दी फौरन हमें
यह नियामत सिगरेट की ।

उनकी इस आला रहम को तो हमें गले लगानी चाहिए—लीजिये ।'

'जी बडी खुशी से अजी मैं खुद सुलगा लूगी आप क्यों तक लीफ करते हैं अजी सरकार ऐसी बाते कर मुझे शर्म में न डालिये जी हां बेशक सिगरेट दरअसल बढ़िया मारका है लेकिन गुस्ताखी माफ हो मैंने सुना है पारसियों के मजहब में तो तमाखू पीना कतई मना है ।

छोडो भी झगडे को ! आप क्यों मजहबी दलदल में फस रही हो ? मेरे खयाल से अब भी आप ऊटो के सवारो का ख्वाब देखती हैं, अजी अब तो महताब की जगह बिजली ने हथिया ली है और कासिद को टेलीफोन ने खदेड दिया है जिस पर मैं सिगरेट पी रहा हू यह बात इस घडी सिवा आपके दूसरा कौन जानता है ?

'खुदा तो हाजिर नाजिर है ।

वाह क्या फिलासफी है ! अजी खुदा के तो हम सभी बंदा बन्दी हैं न ?....फिर ..बाबा आदम की पैदा की हुई चीज हम खूब शौक से बरत सकते हैं !'

'अगर आपके उसूल ऐसे ही हैं तो मैं खुश हू खैर, अब मैं सरकार से कुछ अपना भी हाल बयान करू ?''

"जरूर, आप इतनी पशोपेश में क्यों पडती हैं, क्या हम दो हैं ?'

महताब ने अपनी कुर्सी नरेन्द्र के बिलकुल पास सरका ली और कहा, "खुदा न करे, हम दो हो, देखिये मैं बनारस की रहने वाली हू, गाने बजाने का मेरा पेशा है मैं डेरेदार हू ।

'अच्छा ! तो आपने अपना डेरा किस मैदान में खडा किया है ? इस बरसात के दिनों में ।'

'जो आप समझे नहीं, बदी का कुसूर माफ हो, डेरदार से मतलब है खानदान का मैं खानदानी तवायफ हू ।''

'ओह ! माफ कीजिये मुझे अब मैं समझा लेकिन यह तो बतलाओ यह सब मुझ से किस मतलब से कह रही हो ?

महताब ने नरेन्द्र के हाथ पर अपना मुलायम हाथ बडे प्रेम से रख कर मधुरता से कहा "अजी साहब, बगैर मतलब के तो मक्खी भी फूल पर नही बैठती ! बदी की अर्ज है, सरकार मुझ पर करम करें और एक्ट्रेसों में मुझे नौकर कर ले ।

'यह बात तो आपको डाइरेक्टर से कहनी चाहिए ।

'जी, उनसे तो मैं अभी मिलकर ही आ रही हू, उन्होंने खुद मुझे आपकी खिदमत में भेजा है ।'

क्यों ?

'आप मालिक कम्पनी जो हैं, सिवा आपके हुक्म मेरी दर गुजर

आप गलती कर रही हैं, मैं मालिक कम्पनी नहीं हू मैं तो खुद यहां नौकरी की तलाश में आया हू

'अजी आप मुझे क्यों बनाते हैं, भला खाक के कूडे में कुन्दन को ढरी भी छुप सकती है ! प्यारे ! इस बदी को अपने कदमों में जगह दीजिये। कहते कहते महताब ने उसके गले में अपनी सुडौल बांहें डाल दीं और उसके सीने पर अपना सिर टेक दिया । नरेन्द्र उसकी इस हरकत से एका-एक सिहर उठा और दूर हटाने की कोशिश करता हुआ बोला "छोडो, छोडो मुझे तुम ! देखो तुम्हारे बालों में लगे तेल से मेरा कमीज खराब हो रही है ।'

'अल्लाह ! क्या कहते हैं, अजी हुजूर इस सिर को अपने सीने से लगाने की उम्मीद में सैकडों मेठिया मेरे कूचे की खाक छानते फिरते हैं और आपको अपने कमीज की पडी है ? बगैर वायदा किये आप अब नहीं छूट सकते मैं आपको हरगिज नहीं छोडने की ।'

* * * *

"क्यो नहीं छोडने की ! यह कम्पनी का दफ्तर है या तुम्हारी ख्वाबगाह ?' एक बूढा सा आदमी कमर में आकर बुरी तरह बिगडा ।

महताब उछलकर नरेन्द्र से दूर जा खडी हुई और उस बूढे को सलाम कर बोली 'अजी तो बाबाजान आप इतने नाराज क्यों हो रहे हैं ?'

"बाबाजान किसे कहती हो जी ! जरा भर तमीज नहीं रखती ! औरत जात हो नहीं तो बतलाता !"

नरेन्द्र बीच ही में बोल उठा 'क्या बतलाते आप ? अपने मुह में लगे बनावटी दांत बतलाते ! लो बाबा जान कह दिया तो तमक उठे ! क्यो आपकी सफेदी पर चढा हुआ खिजाब धुल गया !'

देखो जी मुह सम्हाल कर बोलो वरना ''

अजी आप इतने पाजामें में से क्यो मीन धोती से बाहर क्यों होरहे हैं ? देखिये, आपकी सांस फूल रही है बैठ जाइये जरा कुर्सी पर दम लीजिये महताब खडी देखती क्या हो जरा आगे बढ कर अपने दामन से हवा झलो सेठ पर बैठिये सेठ जी मै आपकी पीठ मल दू।

'चुप रहो ! तुम जानते नहीं मैं कौन हू !'

'मैं जानता हू आप इन्सान हैं मगर शैतान के फेर में पड कर हम पर नाहक बिगड रहे हैं ।'

महताब आंखे मटका कर बोली और नहीं तो क्या जरासी बात पर इतनी नाराजी आप जैसे बुजुर्गों को भली नहीं मालूम देती। भला आपने कुछ देख भी लिया तो उस पर परदा डाल देना था आप के बाल बच्चे भी तो घर में कुछ करते ही होंगे ।

चुप रहो जी ! फुजूल की बकवास मैं नहीं चाहता, मैं पूछता हू उस बात का जवाब दो ।

"आप मुझ से जवाब तलब करने का क्या हक रखते हैं ?'

मैं इस कम्पनी का मालिक हू । समझीं'

नरेंद्र घबरा कर बोल उठा "तब तो बडा गोलमाल हो गया । आप अगर कम्पनी के मालिक हैं तो मुझे यहां से सही-सलामत निकल भागने की बात सोचनी पडेगी"

(शेष पृष्ठ २७ पर)

अलमोड़ा में ऊनी खादी

(पृष्ठ १६ का शेष)

प्रायः २५ हजार रुपया खादी-कार्य के लिये भेंटस्वरूप दिया गया था। महात्मा जी ने यह वचन दिया था कि इस धन को कुमाऊ में खादी कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए खर्च किया जावेगा । हमारी महात्मा जी से निवेदन है कि वह देखे कि चर्खा-संघ कुमाऊ के हिस्से के धन को कहां और कैसे खर्च रहा है । चर्खा संघ से सीधी सहायता अल्मोडा डि० बोर्ड के नाम जानी चाहिए। युक्त प्रान्त में सिर्फ अल्मोडा डि० बोर्ड ही ऐसा बोर्ड है जो कि खादी का काम करता है और पिछले वर्षों २५ हजार रुपया कताई बुनाई के प्रचार-कार्य पर खर्च कर चुका है । सभवत. डि० बोर्ड (अल्मोडा) के सेक्रटरी प० गोविन्दवल्लभ पंत जी का महात्मा जी के साथ विस्तृत पत्र व्यवहार हुआ है ।

अल्मोडा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को अब खादी का काम इस ढंग पर चलाना चाहिए कि जिस से उसे ऊनी-खादी के काम से कुछ प्राप्ति हो । कम से कम उसे इस काम मे घाटा न उठाना पडे । डि० बोर्ड ऊन खरीदे । उसको बिक्री करे । या उसे बिक्री करने प्राइवेट सस्थाओं के हाथ सौंप देवे । कार पन्द्रहो स्कूल मे ऊन कातने के चरखे तैयार कराकर या ठा० जोतसिंह को आर्थिक सहायता देकर ऊन कातने के चरखा का प्रचार बढ़ावे । स्वतन्त्र सस्थाओ को जमानत पर रुपया ऊनी खादी का काम करने के लिए उधार दे । बागेश्वर व दूसरे स्थानो में ऊनी माल की प्रदर्शिनी अपने खर्च पर करे । ऊनी वस्तुओं के लिए बाहर बाजार खोज दे । सरकारी वोकेशनल स्कूल के साथ सहयोग कर वहां के अध्यापकों को नये २ डिजाइन तैयार करने के शिक्षा देने के लिए देहात भिजवावे ।

चूकि इस समय बेकारी को दबाने तथा ग्राम उद्योग धंधो को उत्तेजना देने की ओर सरकार व महात्मा गांधी जी का ध्यान है, इसलिए हमें आशा करनी चाहिए कि किसी न किसी दिशा से कुमाऊ में खादी के काम को सहायता मिलेगी। सहायता पहुचाने का जरिया डि० बो० अल्मोड़ा है ।

———

सप्ताह का फल

राशि-क्रम से

(ले०—श्री सकर्मण्य व्यास)

ता० २६ अगस्त से १ सितम्बर तक

मेष

मनः स्थिति खराब रहेगी, शत्रुवर्ग से सचेत रहना चाहिये। राजकार्यों में यश मिलेगा। भागीदारों में व्यवसाय करना चाहिये। बाल बच्चे और स्त्री तकलीफ भोगेंगे, आर्थिक स्थिति सन्तोषप्रद न रहेगी। एकाध कार्य हाथ से बिगड़ जाना सम्भव है, मन में पश्चात्ताप रहेगा।

वृष

आर्थिक परिस्थिति से असन्तोष रहेगा। कर्जदार सतायेंगे। आय साधारण होगी सवारी से भय रखना चाहिये। कारखानदारों को अपने नौकरों से सतर्क रहना चाहिये। घरके लोगों के द्वारा संकट के सामने करने पड़ेंगे। भागीदारों में व्यवसाय करने से कुछ बचत हो सकेगी।

मिथुन

नौकरी की तलाश में घूमना व्यर्थ है। औरत की तरफ से चिन्ता बहुत सतायेगी। बहुत श्रम का अल्प फल मिलेगा। साथी रख कर व्यवसाय में पैसा कमाना ठीक नहीं। मन में अस्थिरता रहेगी। देश विदेश घूमने से शारीरिक स्थिति बिगड़ी रहेगी। लकड़ी-कोयले के व्यापारी घाटे में रहेंगे।

कर्क

आय साधारण होती रहेगी। साथी की सहायता रहेगी। राजकार्यों में यश की उम्मेद रहेगी। नवीन लोगों से परिचय बढ़ेगा। लोहे लंगर के सामान में विशेष खर्च होगा। हलके दर्जे के व्यवसाय में अधिक मन लगेगा। नौकरी की तलाश में रहने वाले कुछ स्थान पा जायेंगे। बीच २ में शीत विकार का अन्देशा रहेगा।

सिंह

देश विदेश घूमने से व्यय विशेष होगा। सब प्रकार से सुख रहते हुए भी मन में सन्तोष रहना सम्भव नहीं। आपस के लोगों से कलह के कारण बढ़ेंगे ऊंचे से गिरने की चोट का सन्देह है। बहुत दिनों की बंधी आशा पर पानी फिर जायगा। स्त्री की तरफ से चिन्ता बढ़ेगी। राजकार्यों में सफलता मिलेगी। भाई २ में कलह हो सकती है।

कन्या

आय अच्छी होगी परन्तु खर्च के रास्ते भी हजारों खुले रहेंगे व्यापार में लाभ सम्भव है किन्तु रिश्तेदार ठेस लगा देंगे। शारीरिक श्रम बहुत उठाना पड़ेगा। नौकरी की तलाश में रहना आशाप्रद है। कर्जदारों के लिए सप्ताह खराब है। वकालत पेशे वाले और पटवारी वर्ग के लिए सप्ताह नेष्ट है, शारीरिक श्रम बहुत उठाना पड़ेगा। नौकरी की तलाश में कुछ आशा बंध सकेगी।

तुला

गल्ले के व्यौपारी सुखी रह सकते हैं आय के नवीन रास्ते बंधेंगे दूसरों की दलाली में खुद चैन उड़ायेंगे, अर्श के बीमारों को और मुख की (पायरिया) बीमारी वालों को सतर्क रहना चाहिये, स्त्री की तरफ से चिन्ता के कारण उपस्थित होंगे। दूसरे के आश्रय से धंधे लगने की उम्मेद रखना चाहिए स्त्री की तरफ से चिन्ता के कारण उपस्थित होंगे। परन्तु खुशामद बहुत उठानी पड़ेगी। नौकरी की तलाश में रहना बेकार है।

वृश्चिक

आय की औसत से खर्च की स्थिति बढ़ी हुई रहेगी, अपचन की शिकायत कभी रहेगी। राजकार्यों में सफलता मिलेगी व्यापार से भी लम्बी अवधि में आशा रखनी चाहिए घर के मामले आमन हर दम चिन्ताप्रद रहेंगे। नौकरी की धुन में रहना ठीक है।

धन

व्यापार व्यवसाय में लाभ होगा। सहायता मित्रों की रहेगी, शारीरिक स्थिति भी अच्छी रहेगी परन्तु मानसिक कमजोरियां अकारण बढ़ेंगी। राजकार्यों में सफलता की आशा रहेगी। भागीदार पर विश्वास रखना ठीक नहीं। वात के रोगी कुछ तकलीफ उठा सकते हैं।

मकर

शारीरिक परिस्थिति एक दम खराब रहेगी, दूसरों की सहायता से प्रत्येक कार्य होंगे। आर्थिक स्थिति अच्छी रहेगी कुछ फंसा हुआ माल निकलवाने में राजकार्यों को झंझट सहनी पड़ेगी। राजकार्यों में सफलता की आशा कम रहेगी। सप्ताह मध्यम है।

कुम्भ

आर्थिक परिस्थिति एकन्दर में अच्छी रहेगी, बीच २ में नुकसान लगने के आसार बनेंगे परन्तु बड़ों की सहायता से आपत्ति का छुटकारा हो जायगा घर के लोगों की बीमारी परेशान करेगी, श्रम बहुत उठाना पड़ेगा। राजकार्यों में भी असफलता प्रबल रहेगी।

मीन

मन में चंचलता विशेषकर होगी काम काज में मन कम लगेगा कारीगर और सुनार शिल्पी वर्ग के लोग कष्ट उठायेंगे गुर्दे के बीमार और अर्श तथा निमोनिया के बीमारों के उपचार चिन्ता से करना चाहिये राजकार्यों में सफलता की आशा रहेगी भागीदारी में व्यापार रखना ठीक है, सप्ताह मध्यम है।

चांदी का भाव कुछ नरम होकर ऊपर चढ़ेगा, गल्ले का बाजार कड़क रह सकेगा। रुई और होशायान तथा जूट पाट के भाव में साधारण तेजी रहेगी वायदे का भाव कुछ तेज होना सम्भव है।

(पृष्ठ १० का शेष)

जब कि सम्पूर्ण राष्ट्र की उसको मदद हो और हम दृढ़ निश्चयी हों यदि आर्थिक दृष्टि से हम सफल नहीं होते तो वे लोग जवाबदेह होंगे, जो अनियम से चलते हैं।

आगे चलकर डा० शाख्त कहते हैं कि—

मैं तब तक अपने प्रयत्नों में ढील नहीं करूंगा जब तक कि वर्तमान विदेशी ऋण असम्भव नहीं चुकाये जाते।

शस्त्रीकरण ने। मजदूरों के काम पर नियुक्त करने की स्कीमों पर लगाई महान धन राशियों का रहस्य सम्पूर्ण आर्थिक नीति के केन्द्रीकरण में है। ये सब धनराशियां—जो नार्मल-स्टंडर्ड के मुकाबले में अत्यन्त विशाल हैं, किसी भावी तिथि में जर्मन जनता की बचत तथा उनके श्रम से ही चुकाई जायगी।

'मैं ऐसे समय चेतावनी देना चाहता हूं और जता देना चाहता हूं कि प्रत्येक छदाम जो व्यर्थ खर्च की जायगी वह हमारे देश की हालत को खराब ही करेगी।"

व्यापार-डायरेक्टरी

आवश्यक वस्तुयें निम्न पते से खरीदिये—

व्यापार-मंसार

दिल्ली का व्यापार साप्ताहिक रिपोर्ट

(इंडस्ट्री सुपरिन्टेन्डेन्ट दिल्ली द्वारा)

२३ अगस्त

सोन का बाजार स्थिर रहा और सोने का भाव ३४॥) पर ही स्थिर रहा स्थानीय बाजार में व्यापार साधारण रहा। गत सप्ताह ३४।≋) दाम थे, आज ३४॥) है। इसी तरह गिनो के दाम २२≈)॥ से २२≈) हो गये हैं।

चांदी का बाजार भी स्थिर रहा। भाव ६४॥-) से ६५॥।-) तक चढ़ते बढ़ते रहे। पिछले सप्ताह ६६॥-) दाम थे, आज ६५॥-) हैं। अभी तक भी रुख नीचे होने का है।

कपड़े—देसी कपड़े का बाजार बहुत मंदा रहा, क्योंकि मांग बहुत कम हुई है, इस सप्ताह दिल्ली के 'पीसगुडस' के बाजार में कोई उन्नति नजर न आई।

अनाज—इस सप्ताह अनाज का बाजार एक सा रहा। आज के भाव यह हैं:—

गेहूं (शरबती)	२॥।-)।
सफेद	२॥≋)
चावल (१)	१६)
(२)	१३)
दालें उर्द	५॥)
मूंग	३॥।≈)
अरहर	६॥)

हिन्दुस्तान में बहुत गेहूं जमा हो गया है

ठिकाने पर पहुंचाने का प्रबन्ध हो रहा है

माल भेजने के सम्बन्ध में स्थानीय जहाजों के दफ्तरों में जांच करने पर ज्ञात हुआ है कि प्रति दिन १३,००० बोरी गेहूं करांची में आती है और इस समय गोदामों में ११ लाख बोरियां जमा हो चुकी हैं। व्योपारी लोग प्राणपण से प्रयत्न कर रहे हैं कि इस माल का ठिकाने पर पहुंचा दें। 'माई सरवाई' जहाज जो कि १५ दिन पहिले कलकत्ता के लिए रवाना हुआ था, वहां पहुंच चुका है और उसके अधिकारी 'बरोंदे कमाद' जहाज से पत्र-व्यवहार कर रहे हैं ताकि उस जहाज द्वारा एकत्रित माल यथास्थान पहुंचाया जा सके।

मर्चेण्टस कान्फरेन्स ने माल भेजने की दर ५) से ४) रु० कर दी

विदेशों में गेहूं की हालत

(निज सम्वाददाता द्वारा)

अमरिका के संयुक्त देश से विशेष रूप से जो समाचार मिले हैं उन से ज्ञात होता है कि सन् १६३५ की गेहूं की पैदावार तथा रकबे का अन्दाजा क्रमशः ६०-० लाख बुशल तथा ५२२२६ हजार एकड़ है। जब कि पिछले वर्ष की संख्या क्रमशः ४६६० लाख बुशल और ४२२३५ थी।

कनडा में गेहूं की बुआई के रकबे का अन्दाजा इस वर्ष २४११६ एकड़ है और पैदावार का अन्दाजा औसत से ८६ प्रतिशत है।

आस्ट्रेलियन गेहूं की पैदावार का अन्दाजा १८४४३० बुशल (३६०१०००) टन है जो कि पिछले वर्ष से २४ प्रतिशत कम है।

अरजेण्टाइन में पैदावार का अन्दाजा ६३८२००० टनों का है जब कि पिछले वर्ष ७६६२००० टन था। १६३५ ३६ को फसल के लिये बुआई का काम वर्षा न होने की वजह से हलका पड़ा है और अगले साल का रकबा इस साल से भी कम रहेगा।

इटली की पैदावार का अन्दाजा इस वर्ष का ७५१४००० टन का है। जब कि पिछले वर्ष की संख्या केवल ६२३३००० टन थी।

यूरोपीय देशों में गेहूं का रकबा हजारो में

	सन १६३५	सन १६३४
फ्रांस	१३२३४	१३२०२
स्पेन	११०६३	११०३६
रूमानिया	७४५८	६८२४
यूगोस्लेविया	५३५४	५०८१
जरमनी	५३२६	५४३१
पौलेंड	४४०१	४३८२
बलगेरिया	३०३७	३०५७
ग्रीस	२०२०	१६८३

१६३४-३५ में गेहूं की पैदावार

अन्तिम भविष्यवाणी

सन् १६३४-३५ में भारतीय गेहूं की पैदावार के बारे में अन्तिम फोरकास्ट निम्न प्रकार है.—

सं० प्रां० में गेहूं का दाना बहुत पतला पड़ जाने से पैदा बहुत कम हुई थी। पैदावार की औसत इस वर्ष ६३२ पौंड फी एकड़ और पिछले साल ५८६ पौंड थी। उपरोक्त रिपोर्ट १८ प्रतिशत रकबे की ही है। इस प्रकार कलकत्ते के बाजारों में बराबर हो गई है।

इसके अलावा जो रकबा बाया जाता है वहां की पैदावार का अन्दाजा क्रमशः ५४६००० एकड़ और १५४००० टन है। अलग २ प्रान्तों में पैदावार और रकबा इस प्रकार है:—

प्रान्त	पैदावार १००० टनों मे	एकड़ रकबा १००० में
पंजाब	३४६८	
सं० प्रां०	२५५४	१०४८३
मध्यप्रान्त व बरार	७८१	३७१३
बम्बई	७०६	३३८४
बिहारउड़ीसा	५०५	११६७
उत्तरीय पश्चिमीप्रांत	२३१	६६४
बंगाल	५१	१५५
देहली	१२	३४
अजमेर	६	३०
मध्यभारत	४१६	२३१६
राजपूताना	३८३	१५२०
ग्वालियर	३६४	१६४६
हैदराबाद	१५६	१२५६
बड़ोदा	१७	७४
मैसूर	×	२

इस वर्ष कुल रकबा बुआई का ३४४८५००० एकड़ था, जबकि पिछले वर्ष ३५६६२००० एकड़ था। पैदावार का अन्दाजा जो कि कट चुकी है, ६७२४००० टन है पिछले वर्ष ६४१४०००टन थी। एकड़ों में ४ फी सदी की कमी और पैदावार में ३ फीसदी की बढ़ोतरी हुई है। सूबवार सूची देखने से पता चलता है कि लगभग तमाम सूबों में जहां कि गेहूं बोया जाता है पैदावार बढ़ा।

चांदी के बाजार में खलबली

अमरिका ने खरीद बंद की

कुछ समय पहले अमरिका ने चांदी की खरीद की थी, जिसके कारण चांदी के दाम एक दम बढ़ गये थे। और भारत के भी बड़े २ व्यापारियों ने भारी मात्रा में चांदी खरीद रखी थी। अब अमरिका के खरीद अकस्मात् ही बन्द करने से चांदी के दाम एकाएक गिर गये। इससे बम्बई के चांदी के व्यापारियों में बड़ी घबराहट फैल गई है। अनेक कम्पनियां ठीक लेनदेन न कर सकीं। चांदी के बाजार में क्रान्ति आन लगी, इस लिये दो तीन दिन के लिये वह बाजार ही बन्द कर दिया गया है। ३। प्रतिशत की सिक्यूरिटी के दाम भी कम होगये है।

युद्ध की संभावना और बाजार

अबीसीनिया-इटली की लड़ाई अभी शुरू नहीं हुई परन्तु उसकी सम्भावना ने बाजार पर असर करना शुरू कर दिया है। लण्डन के स्टाक एक्सचेन्ज में उदासी छा गई और प्रायः सभी तरह के शयरों के भाव गिरने लगे हैं, इसके विरुद्ध गेहूं, रूई, मक्का आदि अनाज और जिन धातुओं से सिक्के बनते हैं, उनके दाम बढ़ने लगे हैं। विदेशी विनिमय में सरकारी तौर पर लीरा की दर कायम रखने का दृढ़ता से यत्न किया जा रहा है, पर सोदा बहुत कुछ गेरसरकारी तौर पर उसके दाम कम आंक कर ही हुआ है। बैंकर और माल भेजने वाले व्यापारी इटली के साथ कोई ऐसा नया सौदा करना भी नहीं चाहते, जिससे उनका रुपया वहां फसता हो। 'न्यूज़ क्रानिकल' के अनुसार लण्डन के पांच बड़े बैंकों में से एक ने तो इटली में लगी हुई अपनी सब पूंजी को वहां से मगवाया है।

यह भी खबर है कि बम्बई में इटली और अबीसीनिया की सरकारों के लिये अनाज तथा आवश्यक सामान की खरीद की जा रहा है। कलकत्ता में जूट की बोरियों का आर्डर अधिक आने की संभावना की जा रही है।

निजाम हैदराबाद और आर्यसमाज

स्थानीय प्रतिनिधि सभा ने अवज्ञा शुरू कर दी

सब आर्यसमाजें तैयार रहें

आर्य सार्वदेशिक सभा के मंत्री सूचित करते हैं कि निजाम हैदराबाद में आर्यसमाज के प्रचार पर जो पाबन्दी लगाई गई है, उसके विरुद्ध आर्यप्रतिनिधि सभा निजाम स्टेट ने प्रचार शुरू कर दिया है क्योंकि अधिकारियों से सब प्रार्थनायें बेकार गईं। सार्वदेशिक सभा ने भी सहायता का आश्वासन दिया है और गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक प्रसिद्ध आर्य मिशनरी पं० केशवदेव शास्त्री को हैदराबाद भेजा है। सभा की ओर से सब आर्यसमाजों से अपील है कि वे महान से महान बलिदान के लिये तैयार रहें।

सिक्खों और मुसलमानों में फिर तनातनी

सिक्खों पर दो मुकद्दमे

शहीदगंज की गूंज

लाहौर की स्थिति अधिकाधिक विषम होती जा रही है। शहीदगंज का आंदोलन एक बार समाप्त हो कर फिर जारी होने के आसार नज़र आ रहे हैं।

मुसलमानों ने शहीदगंज गुरुद्वारे के सम्बन्ध में एक नई शिकायत पेश की है कि सिक्ख लोग उस की एक कबर को, जो कि गुरुद्वारा के आंगन में विद्यमान है, उखाड़ रहे हैं। यह समाचार मिलते ही सीनियर पुलिस सुपरडंट मि० रमल, मजिस्ट्रेट तथा अन्य आफिसरों के साथ तुरन्त घटना स्थल पर पहुंचे। वहां कोई कबर नहीं दिखाई पड़ी। एक एग्जिक्यूटिव इंजीनियर को इस बात के लिए नियुक्त कर दिया गया है कि वह जांच करके बताये कि कोई कबर वहां खोदी गई है या नहीं। इंजीनियर की रिपोर्ट के आधार पर पुलिस ने ४ सिक्खों को, जिन में एक औरत भी है, ताजीरात हिन्द की दफा २९५ और २९७ के मातहत गिरफ्तार कर लिया। औरत बाद में १०००) की ज़मानत पर रिहा कर दी गई।

गत शनिवार की रात को एक भीड़ ने गुरुद्वारा शहीदगंज का सामा में घुसने का भी प्रयत्न किया परन्तु पुलिस ने उन्हें बलपूर्वक तितर-बितर कर दिया।

मकबरे की खोज

शनिवार को सारे दिन मिस्मार की गई मस्जिद के मलबे में एक मजिस्ट्रेट व सिक्ख मुसलिम नेताओं के सामने मकबरे की खोज होती रही है, बड़ी खोज के बाद कुछ ऐसी ईंटें दिखाई दीं, जिन पर सीमेन्ट लगी हुई थी। मुसलिमों ने उसी को मकबरा बतलाया।

सिक्खों ने उसे पेशाब के बर्तनों के टुकड़े बताये। इसी सिलसिले में सिक्खों पर एक मुकदमा दायर भी किया है। खाजारएमामियशन के मन्त्री ने दूसरा मुकदमा कबर के गिराने के अभियोग में दायर किया है। इसमें मि० खलीफ़ लतीफ गोबा एम० एल० ए० मुसलमानों की ओर से वकालात कर रहे हैं।

शहीदगंज गुरुद्वारा और पीर-कक्कूशाह के मकबरे के सम्बन्ध में विचार करने के लिए मुसलमान नेताओं और वकीलों की एक बैठक 'रियासत' पत्र के दफ्तर में गत २१ अगस्त को दोपहर के २ बजे हुई। यह फैसला किया गया कि—

कक्कूशाह की कब्र पर अधिकार के लिए दी गई दर्खास्त के सम्बन्ध में मुसलमान पुलिस के साथ कोई बात चीत नहीं करेंगे और न कोई वक्तव्य देंगे, वे ऐसा करने को बाधित भी नहीं हैं। यह पुलिस का काम है कि वह उचित जांच-पड़ताल के बाद मुकद्दमे का चालान पेश करे।

कां० स्वागत समिति का चुनाव

बैलटों द्वारा होगा

डा० मुरारीलाल को कार्यभार मिपुर्द

गत १८ ता० को लखनऊ में कां० स्वागत समिति के पदाधिकारियों का चुनाव श्री श्रीप्रकाश की अध्यक्षता में हुआ। चुनाव में दोनों पार्टियों के लोग पूरे बल के साथ उपस्थित थे।

स्वागत समिति के अध्यक्षपद के लिये श्री प० जवाहरलाल नेहरू का नाम पेश हुआ और सर्वसम्मति से स्वीकृत होगया। इसके बाद मन्त्री पद के लिए श्री चन्द्रभानु गुप्त और श्री मोहनलाल सक्सेना के नाम पेश हुये। बैलट डालते समय गड़बड़ बहुत बढ़ गई। इसलिए सभापति ने सभा भंग कर दी। इसके बाद संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की विशेष बैठक हुई, जिसमें यह निश्चय हुआ कि स्वागत समिति का सम्पूर्ण कार्य-भार लखनऊ टाउन कांग्रेस कमेटी से लेकर कानपुर के डा० मुरारीलाल को सौंप दिया जाय ताकि प्रतिद्वन्द्वी कांग्रेस दलों के झगड़े से समिति के काम को ठेस न पहुंच सके।

यह भी निश्चय किया गया कि स्वागत समिति के सदस्य' की भरती १५ अक्तूबर तक जारी रखी जायगी और पदाधिकारियों के चुनाव के लिए बेलट पेपर सीधे सदस्यों के पास ही भेजे जायेंगे, जो कि २० नवम्बर तक वापिस करने पड़ेंगे। बाद को प्रांतीय कांग्रेस कमेटी पदाधिकारियों के चुनाव का नतीजा घोषित कर देगी।

पदाधिकारियों का चुनाव करने के लिए अब स्वागत-समिति की कोई बैठक नहीं होगी, क्योंकि इस प्रकार की दो बैठकें व्यर्थ साबित हो चुकी हैं।

क्वेटा में सफ़ाई

बहुतसी दुकानें साबुत निकलीं

क्वेटा में सफाई का काम ज़ोर शोर से जारी है। गवास-रोड, ब्रांकी रोड गुरुदत्तसिंह रोड और शाहमोहम्मद रोड भी साफ़ की जा चुकी हैं। आजकल जिन सड़कों की सफाई की जा रही है वे मलबे से पटी पड़ी हैं।

६०० भूकम्प पीड़ित

अब यहां के कैम्पों में भूकम्प पीड़ितों की संख्या ६०० से भी कम रह गयी है।

भूकम्प में गिरे मकानों की सफाई भी कुछ कुछ शुरू होगई है और जो मालमत्ता उन में से निकल रहा है वह मकान मालिकों अथवा सम्पत्ति के असली हकदारों को दिया जा रहा है। बहुत सी दुकानें अन्दर सही सलामत निकल रही हैं।

सम्पत्ति के हकदारों को ठहराने के लिए टीन की झोंपड़ियां बनाई जा रही हैं।

देहातों में सफाई कार्य

बलूचिस्तान के देहातों में भी शीघ्र ही सफाई का काम शुरू किया जायगा। इस काम में १। लाख के लगभग रुपया खर्च होगा। यह भी खबर है कि भूकम्प पीड़ित ग्रामीणों को नये मकान बनाने के लिये सरकार की ओर से रुपये की सहायता दी जायगी।

कहानी

(पृष्ठ २२ का शेष)

मेहताब ने हाथ नचा कर कहा, देखिये तो ! आप कम्पनी के मालिक बन हैं, आप की तसवीर गजट में छापा करने लायक है जनाब !

इतने में डाइरक्टर ने कमरे में पैर रखा, उन्हें देखते ही उसने पूछा "क्या डाइरक्टर साहब आप ने बनारस से मुझे इस लिए बुलवाया है कि मैं इस बूढ़े

"चुप रहो मेहताब ! मालिक कम्पनी से अदब करो"

"क्या यह वाक़ई में हमारे मालिक हैं ? तो फिर बन्दी लाख लाख गुनहगार है मेरा खता माफ हो हुजूर" कह कर मेहताब मालिक की बगल में आ खड़ी हुई और बोली "अल्लाह ने खैर की हुजूर जो आपने मौके पर आकर मुझे बचा लिया, वरना यह शख्स तो मुझे उड़ा ले जाने की फ़िक्र में था।"

डाइरेक्टर ने आँखे फाड़ कर नरेन्द्र से पूछा 'क्यो जी आप कौन हैं ? यहां कैसे आना हुआ आप का ?"

"जी मैं आप के बापा के सेठ का "डेट कलक्टर" हूं कम्पनी पर चढ़ा हुआ रुपया वसूल करने आया हूं"

मालिक कम्पनी बड़ी नरमाई से बोले "मुझे माफ कीजिये, अगर मैं कुछ ज्यादा कम बोल गया हूं देखिये, सेठ जी से मेरी जय श्री कृष्ण कह देना और मेरी तरफ से अर्ज कर देना कि हमारी नयी पिक्चर परदे पर आते ही हम हिसाब कर देंगे।"

'कितने दिन और लगेंगे आप की पिक्चर को ?

"अभी तो 'आउट डोअर' शूटिंग हो रहा है करीब दो महीने तो और लग हो जायेंगे

हम बहुत ठहर चुके, सेठ साहब, अब हमारी लाचारी है कल आपके पास हमारे वकील का नोटिस आजायगा इतना कह कर नरेन्द्र वहां से जाने लगा।

ठहरिये, ज़रा आप, कहते हुये सेठजी ने अपने मनीबैग से सौ-सौ के पांच नोट निकाले और नरेन्द्र की तरफ अपना हाथ बढाते हुये कहा आप दो महीने और निभा लीजिये मुझ पर बड़े अहसान होंगे आपके, मैं आपका भूलूंगा नहीं यह लीजिये आपके लिये

आपही रखिये इन्हें, कह कर नरेन्द्र कमरे के बाहर चला और दरवाजे में कुछ देर रुक कर बोला 'आगे जब भी मौका मालूम होगा आपको अपना और ये मेहताब इन पांचसौ रुपयों के लिये पांच महीने आपके आगे पाउ नाचा करेगी

पं० रामगोपाल विद्यालंकार प्रिंटर और पब्लिशर के लिये अर्जुन प्रेस, श्रद्धानन्द बाज़ार, देहली में छपा

resumed command of the British army in the Peninsula, achieved great things during 1809. He captured *Oporto* (May), and drove Soult out of Portugal. Then, turning south, he marched into Spain, to co-operate with the Spanish armies, and won a brilliant victory at *Talavera* (July). But new French armies were coming up, and the Spaniards were impracticable and untrustworthy. He had to fall back upon Portugal,and to look on while the French—reinforced after the defeat of Austria—crushed the Spanish resistance in Andalusia, the only province where organised Spanish armies held out.

Torres Vedras.—In 1810 Napoleon hoped to bring this dragging war—so unlike his usual thunderbolt triumphs—to an end by destroying the British Army, which was the backbone of the resistance. For this purpose he entrusted a fine army of 130,000 men to his best general, Masséna, while other armies, numbering in all some 300,000, held down the provinces of Spain. Wellesley (now Lord Wellington), who had only 30,000 British troops and an equal number of untried Portuguese, prepared for the storm by fortifying the lines of *Torres Vedras*,* across the peninsula between the Tagus and the sea. He cleared the country along the French line of advance of all foodstuffs, and removed the population, partly behind his fortfications, where they could be fed from the sea. He inflicted a sharp check upon Masséna's advancing army at *Busaco*; and then fell back upon Torres Vedras. Masséna found himself, in a foodless country, faced by impregnable fortifications. He could do nothing but retreat; and in the retreat he lost 25,000 men. No French force ever again entered Portugal.

Apparent Deadlock.—This was the real turning-point of the war, but at home there was impatience, because no progress seemed to be made. The impatience grew when the whole year 1811 was spent in fighting round the fortresses which guarded the main roads into Spain—Ciudad Rodrigo in the north, Badajoz in the south. Neither was captured, though two bloody battles were fought—*Fuentes d'Onoro* near Ciudad Rodrigo, and *Albuera* near Badajoz. Meanwhile, in Spain, no Spanish army dared to measure swords with the French; but in every part of the country during guerilla bands made the French occupation insecure. In fact, during these years, Wellington was holding the fort, and inflicting upon the French an incessant and intolerable strain.† Napoleon spoke of the war in the Peninsula as a "running sore"; and his failure to heal it was a constant encouragement to the underground movements which were elsewhere at work, especially in Germany.

6. The Peninsular War (Second Phase) and the Downfall of Napoleon (1812—1814)

The Russian Campaign.—In 1812 the tide at last turned. Irritation with the Continental System brought a breach between Napoleon and his most valued ally, Alexander of Russia. In 1810

* For the Lines of Torres Vedras, see School Atlas, Introduction,p. 20,fig. 20.
† Lever's *Charles O' Malley* is a rollicking tale of the Peninsular War.

and 1811 Alexander had gradually relaxed the restrictions upon British trade. The Continental System was failing. Unless Russia could be forced to come into line again, other countries would follow suit : Sweden was already beginning to do so. Napoleon resolved to teach Alexander a lesson. From France and from her subject allies he collected a vast army for the invasion of Russia. In point of numbers it was the greatest army that Europe had yet seen ; but it consisted largely of raw and unwilling conscripts. The Russian campaign held Europe spell-bound during the summer of 1812. Napoleon defeated the Russians at *Borodino*, and occupied Moscow. But he could not hold the city, a large part of which was burnt by patriotic Russians. He had to retreat. Winter caught him. The snows, aided by Russian attacks, destroyed the great army, and the spell of the invincible Emperor was broken. In the meanwhile, the Russian campaign had drawn off troops from Spain, and given Wellington his chance.

Advance into Spain.—In the campaign of 1812, Ciudad Rodrigo and Badajoz were stormed, and Wellington, advancing far into Spain, inflicted a crushing defeat on the French under Marmont at *Salamanca*. For a moment Madrid was occupied, and King Joseph had to flee. And although it was regained by a concentration of French forces, this involved the evacuation of southern Spain. The clearing of Spain had begun. And, for the next and decisive campaign, Wellington was given the supreme command of all the Spanish forces as well as of the British and Portuguese.

Leipzig.—In 1813 Napoleon, back from Russia, was fighting desperately with improvised armies to maintain his hold over Central Europe. Prussia, which had been secretly preparing for vengeance ever since 1806, had been encouraged to revolt by the Russian disaster; and presently Austria and Sweden joined. At first Napoleon held his own ; but in the later part of the summer of 1813, the ring of foes closed round him at *Leipzig* :* he had to admit defeat, and his power over all Europe east of the Rhine crumbled away.

The Clearing of Spain.—To meet this terrible ordeal, large forces had to be withdrawn from Spain, though, even so, the French armies in Spain still outnumbered those of Wellington. Wellington's task was made easier ; but, on the other hand, if he had not exercised steady pressure—still more if he had been cleared out of the way in 1809 or 1810—Napoleon would almost certainly have been victorious in Central Europe. The defeat of Napoleon was achieved as much in Spain as on the field of Leipzig. Wellington's campaign of 1813 was perhaps the most masterly of the series. He manœuvred the French steadily backwards until they were against the Pyrenees. Then he inflicted upon them a crushing defeat at *Vittoria* (June) : it was the news of Vittoria that encouraged the European allies to their final attack at Leipzig. By the end of the campaign Wellington had crossed the frontier of France, forcing two successive lines of defence, on the *Nive* and the *Nivelle*. His was the first hostile army to encamp on French soil since 1793.

* For the battles of Leipzig, see School Atlas, Introduction, p. 15, fig. 13

The Downfall of Napoleon.—In 1814 Napoleon was forced back into France, and was fighting desperately against a ring of enemies, striking fiercely this way and that, but steadily borne down until, on April 11th, he was forced to abdicate at Fontainebleau. Even in this last stage, he might have held his own if he had been able to use the army with which Marshal Soult was striving to withstand Wellington's continued attacks. Soult had to submit to defeats at *Orthez* (February) and at *Toulouse* (April); this final battle of the Peninsular War was actually fought after Napoleon had abdicated, though before the news could reach the combatants.

The Whale becomes Amphibious.—The last long phase of the war, from 1806 to 1814, had been essentially a duel between land-power and sea-power. Land-power had struck its blow, and it had returned like a boomerang. The Continental System was the cause of Napoleon's downfall; but his fall was quickened by the fact that, in the Spanish Peninsula, sea-power had found an ideal field for the operation of armies supported from the sea

7. The American War of 1812

During the last three years of the Peninsular War an unhappy conflict had been raging between Britain and the United States of America. This was one of the most unfortunate consequences of the Continental System.

America and the Revolution.—Bad feeling already existed between Britain and the States before the French Revolution came to embitter it still further. The States had refused to carry out the terms of the Treaty of 1783 in regard to the compensation of the Loyalists, and Britain had consequently refused to hand over certain fortresses on the American side of the Great Lakes. When the Revolution began in France, American opinion was strongly in sympathy with it; and when the war between France and Britain began, American feeling was so bitter against Britain that the States nearly came into the war on the French side. A new cause of quarrel arose when British warships began to stop American trading vessels to search for deserters from the navy. Washington (now President) succeeded in preserving neutrality, and even negotiated, in 1794, the *Jay Treaty*, whereby a joint commission was set up to settle the boundary between Canada and the United States—perhaps the earliest example of arbitration on such a matter. But Washington belonged to the more conservative "Federalist Party" in American politics. The rival party of "Republicans," led by Thomas Jefferson, was violently anti-British. Nevertheless, the force of circumstances almost drove the States on to the English side. From 1798 to 1801 there was almost open war between America and France, because the French Government seized and confiscated American ships for taking British goods into French harbours.

The Louisiana Purchase.—In 1801 the situation changed, because Napoleon was trying to make friends with the neutrals. Meanwhile, however (1800), he had bought Louisiana from Spain, with the idea of creating a new colonial empire—which would have

been an unpleasant neighbour for the United States. But the outbreak of war with Britain made it impracticable to develop this idea ; and in 1803 he sold Louisiana and its 60,000 inhabitants to the United States for something over £5,000,000.

America and the Blockade.—During the first years of the Napoleonic war, the Americans enjoyed immense prosperity, trading as neutrals freely with both sides. But when the struggle over the Continental System began (1806), the position was changed. Both side were making things impossible for neutrals ; but while Napoleon's restrictions were the more unjust, Britain's were the more effective, because they were enforced by the power of the navy, and it was against Britain that American anger was chiefly turned. Jefferson, now President, tried to force the hands of the combatants by forbidding American exports (1807) ; but this would merely have ruined American trade, and the embargo was withdrawn in 1809 In 1810 President Madison adopted a new device. He threw American trade open, but announced that if one of the belligerents should withdraw its restrictions, he would impose an embargo on trade with the other.

British-American War.—Napoleon saw in this a chance of enlisting the States on his side. He announced that he would withdraw his decrees, so far as concerned America, if before a fixed date Britain cancelled her Orders in Council. That is to say, British trade was still to be excluded from Europe, but free access was to be given to American ships to import the needed goods. Naturally Britain would not agree to this one-sided arrangement. President Madison, after three months' notice, laid an embargo on British trade ; and in June 1812, he declared war against Britain. By a stroke of irony, the declaration of war took place in the very month in which Napoleon started his march to Moscow. The Continental System had broken down ; and—five days after the opening of the American war—Britain withdrew the Orders in Council, because they had served their purpose. Yet the war went on, largely because the States hoped to be able to conquer Canada while Britain was engaged in the death-grapple with Napoleon.

The War in Canada.—The war thus needlessly begun lasted for three years. In 1812 and 1813 its main feature was an attack by the Americans upon Canada, in which large forces were employed : some 500,000 troops were raised by the States during the war. But the Canadians defended themselves with great staunchness. The chief battle-ground was the Niagara peninsula, where the hard-fought but indecisive battle of *Lundy's Lane** was fought in 1814. The American armies failed to make any advance into Canada. They were held at bay ; and the struggle did much to strengthen Canadian patriotism.

Naval War.—Meanwhile there were a good many single-ship actions at sea, in which the Americans had many successes. And a swarm of American privateers crossed the Atlantic to prey upon

* See the larger Atlas, Plate 79*d*.

British trade, using French ports as their bases. This went on throughout the three years when Europe was desperately struggling to throw off Napoleon's yoke. About 1,700 British ships were thus captured.

Invasion of the States.—In 1814, the Peninsular War being over, Britain was at last able to send troops to America. An army was taken by sea up the Potomac . it defeated the American army defending Washington, and the Capitol and the President's house were burned : an indefensible act of vandalism. At the beginning of 1815 a similar attack was directed against New Orleans : it was driven off with heavy loss. Before this battle was fought, negotiators sitting at Ghent, in Belgium, had concluded a treaty of peace, which made no change whatsoever.

This was the most futile and wasteful of wars. Its only result was to embitter the relations between the two main groups of English-speaking peoples. To most Englishmen at the time it seemed to be a stab in the back, delivered when Britain was fighting for her life and for the freedom of the world. To most Americans it appeared to be a war in defence of the freedom of traffic on the seas, against the naval tyranny of Britain.

8. The Hundred Days

The Year of Peace.—When Napoleon had abdicated, and been sent to the little Mediterranean isle of Elba, all Europe believed that the nightmare of twenty years' war was at an end. Troops were disbanded ; ships returned from their endless vigil ; and (November 1814) the diplomats gathered at Vienna to re-settle the affairs of Europe and the world after the upheaval. Eleven months passed : the diplomats had reached the point of quarrelling over the spoils, and were beginning to range themselves in hostile groups, when startling news made them patch up their differences. Napoleon had returned.

Napoleon's Return.—He landed on the shore of France on March 4th, 1815. As he advanced towards Paris the nation gave him a hero's welcome and his veterans flocked to join him. The restored Bourbon king fled. On March 20th Napoleon was again master of Paris. But the Allies had made a new league for his overthrow. Before their armies were upon him he must achieve some great stroke. He took less than three months for preparation ; then (June 12th) started for Belgium, where the nearest enemy forces were. In the west of Belgium was an army under Wellington—half British, half Belgian, Dutch and German ; when all its reinforcements had come in it numbered 67,000. In the east of Belgium and the Rhine provinces was Blucher, with a Prussian army of over 100,000. Napoleon could dispose of 125,000. His plan was to strike at these two armies in turn, and prevent their joining. They had moved towards the frontier as he advanced, and were close together—Wellington's van at *Quatre Bras*, Blucher at *Ligny*. But their bases lay in different directions—Wellington's to the north-west, Blucher's to the north-east.

Waterloo Campaign.—Napoleon first struck hard at Blucher, and beat him back, while Marshal Ney held the British at Quatre Bras (June 16th). But Ney was too hard pressed to be able to detach troops to complete the victory over the Prussians, who made good their retreat. Wellington fell back in sympathy, and took up his position across the Brussels road, on low rising ground at *Waterloo*. Half of his army being untrustworthy, he would not have ventured to fight a pitched battle against Napoleon's superior force of veterans, but that Blucher had promised to be with him by midday on the 18th.
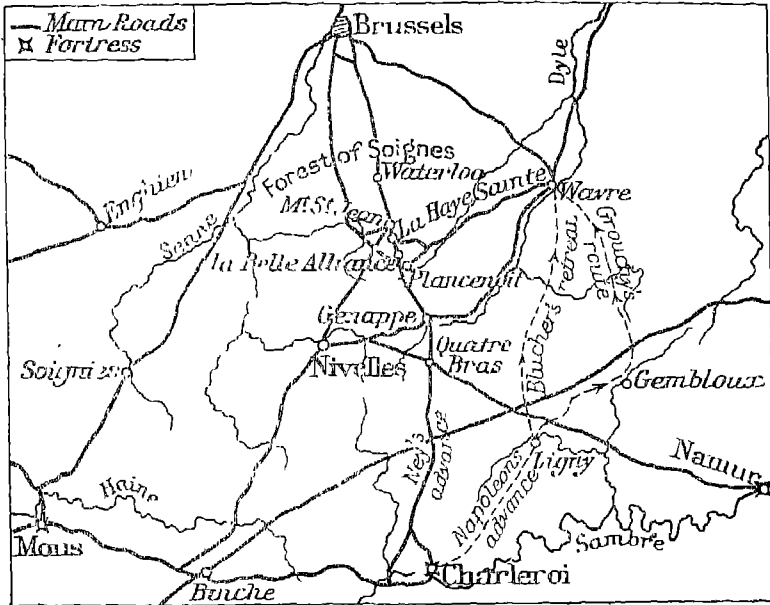
Fig. 35.—The Waterloo Campaign.

The Crowning Victory.—On the morning of the 18th, soon after eleven o'clock, Napoleon deployed his troops for his last battle.* He hurled charge after charge at the British lines along the slope. For five hours these hammer-blows went on, and still Blucher had not come. It was four o'clock before the Prussians were on the field, and half-past six before they made contact with the British left. But they came in the nick of time. The British troops were almost exhausted. All the reserves were in the line. Blucher's arrival made it possible to withdraw troops from the left to meet the final desperate attack of the Old Guard. It was repulsed, and then routed by a charge of the long-enduring infantry: "Up, Guards, and at 'em!" British and Prussian troops reached the headquarters of the

* For the campaign of Waterloo, see School Atlas, Plate 22*b*; for the battle, School Atlas, Introduction, p. 15, fig. 14. There is a moving impression of the battle in Thackeray's *Vanity Fair*.

French army almost at the same moment : the victory was complete.

Napoleon's Surrender.—Napoleon fled to Paris, and talked wildly of a levy *en masse* for further resistance. Even his marshals knew that further resistance was impossible. He fled from Paris, a fugitive. Blucher had announced a reward for his capture, and promised that he should be shot. He betook himself to Rochefort. There, out at sea, was a squadron of the British navy, still on guard. He surrendered to the navy which had from the beginning been the unconquerable obstacle to his ambitions ; and Captain Maitland of the *Bellerophon* received his sword. Then he was sent as a captive to St. Helena, amid the limitless seas which had always baffled him. Thus ended, at the age of forty-six, the most dazzling career in human History.

CHAPTER XXXIX

AFTER THE WAR

1. The Settlement of Europe

The vast upheaval of the French Revolution and the long wars which followed it deeply affected the life of every people in Europe, and made, as it were, a fresh starting-point in history. It is necessary to understand the nature of the changes which this upheaval brought, because the future history both of the British peoples and of the world depended upon them.

An Unrestful Century.—Ancient landmarks which had seemed to be almost part of the order of Nature, such as the Holy Roman Empire and the Republic of Venice, had been swept away ; long-established boundaries had been changed ; time-honoured institutions and systems of government had been scrapped and remodelled. The habit of taking for granted, which had kept people content with the old ways during long centuries, had been disturbed. and the result was that the next century, the nineteenth, was to be; a period of greater and more rapid changes than any previous century

Liberalism and Nationalism.—Great new ideas were fermenting in men's minds. One was the idea that men had a right to be consulted about the way in which they were governed : the theory of the Divine Right of Kings, which had held sway since the sixteenth century, was dead, and the theory of the Divine Right of Peoples was taking its place ; it was gradually to conquer Europe during the nineteenth century. Another was the idea that the limits of States ought not to be fixed by the accidents of conquest or dynastic inheritance, but by the natural affinities and desires of the population : this was the idea of Nationality, and the aspirations of divided nations to be united and of subject nations to be free were to be among the moulding forces of the next era. National aspirations had long been vaguely at work in Europe, but the teachings of the French Revolution, and still more the fight of peoples for freedom from the sway of Napoleon, had given to them a new force. And

there was also a third idea, to which the Revolution had given fresh potency: the idea that it was wrong that a small class should enjoy all the material goods of life without labour, while the mass of men and women toiled for little reward; from this were to spring Socialism, and many other movements of social reform. Finally, there had already begun in Britain the profound change in the methods of wealth-making which is known as the Industrial Revolution: with the coming of peace it was soon to spread to other countries, and to bring about immense changes in the structure of society.

The Temper of Vienna.—When the long wars ceased, therefore, the world was only at the beginning, not at the end, of a period of great change. But the statesmen who gathered at Vienna in the Autumn of 1814, and resumed their sessions after Napoleon had been disposed of at Waterloo, had no appreciation of these great forces that were at work. They thought they had beaten down the revolutionary movement, and could get back to the old ways. They could not do so completely, but they did their best, and then endeavoured to make sure that there should never be any more change or disturbance. The result was that all their arrangements were overturned during the next hundred years. The history of the nineteenth century is largely the history of the destruction of the Vienna settlement.

The Big Three.—The Congress of Vienna was a scramble of competing interests. But three personalities dominated it. One was Alexander I of Russia, who, though he was a despot and very jealous of his power, had a shallow, sentimental sympathy with liberal ideas. The second was the Chancellor of Austria, Prince Metternich, who was the supreme representative of hidebound reactionism. As the Austrian Empire was a medley of discordant nationalities, only held together by a despotic government, both the national movement and the demand for self-government seemed to be hostile to its interests. Metternich, therefore, did everything in his power to check and discourage these movements, especially in Germany and Italy, in which Austria was interested. The third leading figure was the British Foreign Secretary, Lord Castlereagh * He was essentially a man of moderation. He shared the dislike of his class and his party for all revolutionary movements; but, being an Englishman, he had some sympathy with national feeling, and hated despotism. The influence of Britain in these discussions was naturally very great, seeing that she alone had carried on the struggle from the beginning to the end; moreover, she was the most disinterested of the Great Powers, because she wanted nothing in Europe.

Treatment of France.—In the settlement with France, the Powers showed a wise moderation, for which the credit was mainly due to Castlereagh. The contrast between the treatment of France in 1815 and the treatment of Germany in 1919 is very marked. France was allowed to keep (roughly) the boundary which had

* There is a short Life of Castlereagh by J. A. R. Marriott, and a good essay on him by Lord Salisbury.

existed when the revolution broke out. Britain restored to her most of her conquered colonies. An indemnity was imposed upon her, and an army of occupation was planted on her territory until it should be paid ; but the indemnity was so moderate that France was able to pay it off in three years. Though the Bourbon line was restored, there was no attempt to restore the old feudal order, or the legal system, which the Revolution had destroyed ; and a parliamentary system, modelled on that of Britain, was established under a charter granted by the restored King Louis XVIII.

The Netherlands and the Rhine.—To guard against future danger from France, the Austrian Netherlands (Belgium) were united with Holland, which became a kingdom.* This arrangement, which was made without consulting the Belgian people, lasted only fifteen years before it was destroyed by a revolt of the Belgians (1830). The lands in West Germany which Napoleon had turned into vassal States were, for the same reason, given to Prussia,† instead of being restored to their original owners : thus Prussia became the watchdog against France instead of Austria, and in the long run this was to give Prussia the chance of seizing the leadership of Germany.

British Acquisitions—With the exception of Britain, the Great Powers all rewarded themselves for their efforts by large acquisitions of territory in Europe, and the claims of "legitimacy" went by the board when they came in conflict with their ambitions. Britain kept the islands which she had taken as naval or smuggling bases during the war—Heligoland, Malta, and the Ionian Islands. Hanover also was enlarged and turned into a kingdom ; it was linked with the British Crown until 1837. But the main gains made by Britain were those she had made by her own efforts beyond the seas.

Russian Gains.—Russia kept Finland, which she had taken from Sweden in 1808 ; but as Sweden had fought against Napoleon, she had to be compensated, and Norway (separated from Denmark without any consultation with the people) was added to Sweden. This arrangement lasted until 1905, when the union of Sweden and Norway was peacefully dissolved. The Tsar also showed his devotion to the idea of nationality by insisting that Poland—dismembered by the three partitions of the eighteenth century‡—should be re-established as a separate State. Accordingly, Napoleon's Grand Duchy of Warsaw was turned into a Kingdom of Poland, with a constitution. But the Crown was united with that of Russia, and the constitution was not long allowed to survive. Poland did not become independent State until 1919.

Prussian Gains.—Prussia had to be compensated for the Polish lands she had given up. She got, besides wide and rich territories in western Germany, a great part of Saxony, which had foolishly been loyal to Napoleon. This made her much the greatest of the

* For Europe after the Congress of Vienna, see School Atlas, Plate 19.

† For the re-settlement of Prussia after the Congress of Vienna, see School Atlas, Plate 19*b*.

‡ School Atlas, Plate 29*b*.

German States, the destined leader of Germany, and the inevitable rival of Austria.

Austria and Italy.—Austria rewarded herself for giving up the Netherlands by taking Dalmatia and the richest part of northern Italy*—Venetia and Lombardy; while the lesser States of Italy, all restored as they had been in 1789, were all under Austrian influence. But the Italian people had begun to conceive the idea of Italian unity. They could not forget that Napoleon had created a Kingdom of Italy. These arrangements made Austria the inevitable foe of Italian nationalism, and exposed her to the wars by which Italian unity was created.

Germany.—In Germany the national idea was even more strongly at work than in Italy. But the Vienna arrangements seemed to deny it any chance of satisfaction. Though it was impossible to undo the simplification which Napoleon had carried out, there were still twenty-six separate States. In place of the old Holy Roman Empire they were linked together in a Germanic Confederation,† under Austrian presidency, the main purpose of which was to prevent any change. This arrangement lasted for half a century.

The Eastern Question.—No attempt was made to deal with the Turkish Empire, where national aspirations were already fermenting among the Christian peoples of the Balkan Peninsula—Greeks, Serbs, Bulgarians, Rumanians This was to be the source of frequent disturbance during the nineteenth century, and the direct cause of the next general European war—that of 1914.

The Holy Alliance.—Thus the opportunity of reorganising the European system which was open in 1815 was used by the Great Powers partly to aggrandise themselves, and partly to erect futile barriers against inevitable changes. The architects of this system had a sincere desire to secure permanent peace. They hoped to do so partly by making the Vienna settlement unalterable, and pledging all nations to regard it as sacred; partly by holding frequent conferences of representatives of the Great Powers to deal with each dangerous question as it arose. This was the origin of the "Concert of Europe," which played an important part in the affairs of Europe throughout the ninteenth century, and often averted war. But the Concert was limited to the Great Powers, who thus asserted a right of dictating to the world; and as, during the next thirty years, a majority among them were hostile to all liberal movements, their union was not lasting, and came to be regarded as the enemy of progress. In the emotion of the moment, Alexander of Russia asked his fellow-monarchs to join in a Holy Alliance, in which they pledged themselves to be guided in all their work by "the sacred principles of the Christian religion." The name of the Holy Alliance—which was pure sentimentalism and had no practical effect—was popularly attached to the Concert of the Powers, and became a synonym for tyranny.

---

* For the Austrians gains see School Atlas, Plates 19*a* and 25*d*.
† See School Atlas, Plate 28*d*.

The Organisation of Peace. Yet it ought not to be forgotten that these arrangements were inspired by a desire to make peace lasting and safe. They were a sort of crude anticipation of the League of Nations, a recognition that Europe needed some common authority if her civilisation was not to be ruined by war. In 1818 the Powers were so confident that their scheme would work that they announced, in the protocol of the Conference of Aix-la-Chapelle, that "the era of permanent peace had arrived." In fact, their arrangements made many wars inevitable; and it was not an era of fixed and settled order, but of rapid change, largely brought about by wars and revolutions, which was now beginning.

2. The British Empire in 1815

The years of war had brought great changes not only in Europe, but in the non-European world.* The colonising and trade activities of the Continental States had perforce been brought to an end; and Britain had become the one supreme colonising and trading nation.

Disappearance of Colonial Empires.—During the war Britain had conquered all the colonial possessions of France, save San Domingo (Hayti), which had become an independent negro republic: Martinique, Guadeloupe, and St. Lucia in the West Indies; Bourbon, Mauritius, Rodriguez, and the Seychelles in the Indian Ocean; Pondicherry and Chandernagore in India. All these were restored at the peace except St. Lucia, Mauritius, and the Seychelles; but, in fact, the French colonial empire was now negligible Britain had conquered Ceylon and Cape Colony from the Dutch in the first period of the war, and although Cape Colony was restored at the Peace of Amiens, it was reoccupied in 1806 and retained in 1815. In the second period of the war she had taken from the Dutch part of Dutch Guiana (which was retained), and the rich island of Java—the centre of the Dutch East Indian Empire—which was restored. Henceforward Dutch activity was limited to the Malay archipelago, and even here Britain was soon (1819) to acquire, in Singapore, the most valuable trade centre. At one moment Britain had even begun to conquer the Spanish American Empire, which lay at her mercy: an unsuccessful attack was made upon the Argentine in 1806, and an attack on Chile was designed. But these plans, if they were ever seriously conceived, were stopped by the outbreak of the Peninsular War, when Spain became the ally instead of the enemy of Britain.

Revolt of Spanish America.—During this period, however, the Spanish American colonies, having refused to recognise Joseph Bonaparte as their sovereign, became in practice independent.† They threw open their trade to Britain, and British merchants rapidly obtained almost a complete monopoly of South American trade. When the Bourbon monarchy was restored in Spain in 1815, it tried in vain to impose its authority upon the colonists. After some years

* For the changes in the non-European world, see School Atlas, Plate 45a

† For South America, see School Atlas, Plate 52c.

of trouble, they established their independence ; and nothing remained of the Spanish colonial empire save Cuba and Porto Rico in the West Indies, and the Philippines in the far east. It was already pretty clear, in 1815, that this was going to happen.

British Monopoly.—Thus all the historic colonial empires of the European Powers had shrunk to the smallest dimensions. Everywhere the belief was current that colonies were not worth acquiring, because sooner or later they must be lost. For more than sixty years to come, the European nations, engrossed by their own problems, disregarded the non-European world almost completely, and left a practical monopoly of oversea trade and empire in the hands of Britain.

The New British Empire.—In 1815, thanks very largely to the war, the British Empire had already become the most amazing series of possessions that had ever been brought under a single government in the history of the world ; and this was less than a generation after the loss of the first British Empire by the revolt of the American colonies. The emergence of this gigantic structure was perhaps the most remarkable outcome of the revolutionary and Napoleonic wars. But each part of it presented problems of great and varied difficulty—problems far more difficult than those which had caused the revolt of the United States—and it remained to be seen whether any means of holding all these territories together could be devised.

(1) **Canada.**—The six self-governing colonies of Canada had just repelled the attacks of the United States, and were full of loyalty. But they were economically stagnant ; their progress could not compare with that of the United States. Moreover, bad feeling was growing up between the French and the English settlers ; and there was already a good deal of friction between the nominated governors and their elected assemblies.

(2) **The West Indies.**—The West Indian group of colonies—Jamaica, the Bahamas, the Leeward and Windward Islands, Barbados, British Guiana, and British Honduras—had enjoyed a period of very great prosperity during the war. But they depended upon slave-labour, and the movement against slavery was very strong in Britain, where the stoppage of the slave trade in 1807 was promptly followed by an agitation of the emancipation of all slaves within the Empire. British feeling against slavery was now so strong that Lord Castlereagh had to make it one of his chief aims, both in 1815 and later, to persuade all the powers to prohibit the slave trade If the dominant power insisted upon abolition, there was bound to be trouble in the West Indies.

(3) **Australia.**—The distant settlements in Australia were as yet little more than convict-stations, though sheep-breeding had been introduced during the war, and had shown how immense were the possibilities of that vast, empty land. But a whole continent could not be left unpeopled, or reserved for convicts, and the journey was so long and costly that the problem of peopling it seemed to be almost insoluble.

(4) **South Africa.**—In South Africa Britain had recently acquired a very rich and fertile land, suitable for white settlers. But the existing white population consisted of Dutch Boers, who not only resented foreign domination, but held views about the treatment of the natives widely different from those to which the humanitarian movement had given birth in England. Moreover, hordes of warlike Kaffirs, the advance-guard of the great Bantu race, were pressing down upon the colony. Thus a double racial problem, of great acuteness, had to be solved.

(5) **India.**—In India Britain had recently and suddenly become the paramount power over a thickly populated country as big as Europe, leaving out Russia. This empire presented a problem of government to which there has been no parallel in human history; and not the least difficult part of it was the question whether it was not necessary to complete the subjugation of the still unconquered princes (notably the Marathas) before settled peace and justice could be made secure in India.

Links of Empire.—Besides these five main blocks of territory, each of which constituted a gigantic empire, and which were distributed over every continent, the British Empire also already included a large number of islands and trading-posts, scattered over all the seas of the world: Heligoland, Gibraltar, Malta, and the Ionian Islands in Europe, St. Helena, Ascension and Tristan d'Acunha in the Atlantic, the Falkland Islands off the coast of South America, Mauritius and the Seychelles in the Indian Ocean. These were the links of an empire that rested on sea-power.

This mighty fabric had mainly been built up during the lifetime of men who were alive in 1815. Its existence placed Britain in a unique position among the nations of the world, and made her the greatest of them all. But was there in the British people a sufficient stock of wisdom and character to find the means of keeping together and ruling efficiently this amazing empire? Nine out of ten observers abroad, if not at home, reflecting upon what had already happened to all the other colonial empires, would in 1815 have answered this question in the negative.

3. The State of Britain in 1815

British Wealth—On a superficial view, the position of Britain was as splendid as the oversea empire she had acquired. She was the unchallengeable mistress of the seas. Her trading vessels were to be seen in every port of the world. She had a monopoly of the new processes of manufacture, and they were yielding her immense wealth. She, alone among the nations, could command a supply of capital sufficient for the greatest undertakings She had become the world's workshop and market. Her nobles and merchants were as rich as princes. Nowhere in the world was such luxury to be seen as in London: "What a city to loot!" said Blucher, when he visited it after the peace.

British Poverty.—But beneath the surface a very different

state of things was revealed. A great proportion of the British people were sunk in a squalid poverty such as their fathers had not known in modern times. The towns in which her wealth was created, the new manufacturing towns of the north and midlands, were incredibly mean, ugly, and unhealthy. Her population was increasing by leaps and bounds—it had grown 35 per cent. since the war began, while the population of France had increased only 11 per cent. But most of this growing population were living in conditions which promised to turn them into a stunted and unhealthy race. They were working incredibly long hours for incredibly low wages—so low that some 10 per cent. of the population had to receive allowances from the Poor Law in supplement of their wages if they were to keep body and soul together. Even their children, infants of eight years old, were in many cases working fourteen hours a day to earn a pittance of a few pence. Yet there were tens of thousands who could get no work at all. The vast wealth which Britain had learnt how to make was not bringing well-being to the mass of her people. It was going into the pockets of a small rich class. And there was a horrible gulf fixed between the prosperous classes and the labouring mass. The widely diffused comfort which had been a feature of "Merry England" had vanished. Cobbett,* that vivid journalist, complained that the well-fed peasantry he had known in his youth had been replaced by a population of starvelings, living in hovels and feeding on slops and tea.

Causes of Distress.—This had been the result of the agrarian and industrial revolutions, complicated by Napoleon's Continental System. The agrarian revolution had increased the supply of food grown from English soil, but not sufficiently to balance the rapid increase of population; and it had at the same time reduced the peasantry to the level of a wage-earning proletariat living on subsistence wages, which were kept down by the influence of the poor-law system. Meanwhile the Continental blockade had increased the difficulty of importing foodstuffs, and prices had soared up. The Industrial Revolution had immensely increased the amount of goods that could be produced by a given amount of labour. During the blockade the power-loom had come into wide use alongside of the spinning-jenny and the mule, while the use of the steam-engine and the development of improved methods of iron working had made giant strides. These changes alone had enabled British traders to face the risks and cost of running the blockade, and still to undersell all competitors. They had made it possible for the volume of British exports to be kept fairly level in spite of the blockade. But when the machines were enabling one man to do the work of two, it was not enough to keep sales at a steady level. They must grow. The blockade prevented them from growing. It consequently created a large surplus of unemployed labour, whose pitiful competition for jobs kept wages very low. And as the State would not endeavour to protect the workers itself, and prohibited them by the

* There is a good Life of Cobbett by E. I. Carlile. Cobbett's *Advice to Young Men* is a racy little book well worth reading, and largely autobiographical.

Combination Acts from trying to protect themselves by forming trade unions, there seemed to be no remedy.

Menace of Revolution.—In this wealthy and victorious nation, which held sway over so large a part of the world, mere misery was driving many of the working-class into a sort of blind revolt. During the years of the Continental blockade there were risings to destroy the machinery which seemed to be ruining the workers—the Luddite riots of 1811 and 1812. In fact, the condition of a great number of the British people in 1815 was probably worse than the condition of the French peasantry before the Revolution. And at any time during the quarter of a century after 1815 a violent revolution seemed not only possible but probable in Britain. It would have come if the British people had not been incredibly steady, patient, and enduring

The Landowning Oligarchy—Over this mass of wealth and misery ruled a self-complacent oligarchy of landowners who had been immensely enriched by the rising price of food, and by the squalid towns which had grown up on their land. Every cry of discontent seemed to them an expression of that "revolutionary spirit" against which they had fought with such admirable tenacity. Because the nation was ceasing to be mainly agricultural, and because the mass of even the agricultural population had been severed from all rights in the land, the landowners were no longer the natural leaders of the nation, as they had been until the middle of the eighteenth century. They no longer represented its main interests, or understood its new and great problems. Yet their power seemed to be solidly entrenched. They ruled through a Parliament whose hereditary house was entirely composed of great landowners, and whose nominally representative house was not in any true sense representative at all, a large proportion of its constituencies being "pocket" boroughs or "rotten" boroughs This system ought to have been reformed long before. It would have been reformed but for the coming of the French Revolution. Now all talk of the necessity for reform was regarded as evidence of a "revolutionary spirit," to be sternly repressed Yet the only hope of reform without revolution was that this unrepresentative Parliament should consent to reform itself. It is no wonder that many thought revolution inevitable

Radical Movements.—The demand for reform had been silenced during the first period of the war. But during the Napoleonic struggle it had come alive again There was an active "Radical" movement afoot. It even had one or two members in the House of Commons, notably Sir Francis Burdett. All over the country the indefatigable "Orator Hunt" and other speakers were demanding radical reform and the introduction of democracy ; and innumerable "Hampden Clubs" to forward this end were being formed. In 1802 the eccentric William Cobbett, most trenchant of writers, had turned Radical, and in his vigorous *Weekly Political Register*, which from 1816 was published at twopence, was denouncing the evils of the existing system and the crimes of the borough-mongers. Throughout the country his influence was immense : more than any other

man, he stimulated and expressed the angry discontents of the time. Meanwhile, the philosopher Bentham and a group of disciples were working out elaborate plans of reform : they had no great popular audience, but they did more than any other group to indicate practical methods of redress. A powerful school of economic thinkers were also at work, demanding great changes in the fiscal system of the country, and especially the substitution of free trade for the elaborate protectionist system which, in their view, was preventing the expansion of British trade. And soon a more sweeping demand for change was to become prominent. Thomas Spence, a Newcastle workman, had long been preaching land nationalisation as a cure for the nation's ills, and there were many Spencean Societies up and down the country. In 1815 Robert Owen, a Lanarkshire manufacturer who had done his best to create improved conditions of his own workpeople, began to preach the necessity for social revolution as the only means of ensuring that the wealth created by the industry of the whole nation should be diffused over the whole nation. He was the father of "Socialism," though the word had not yet been coined.

The Need for Reform.—Thus a formidable ferment was already at work among the British people when the war came to an end It was not only the sufferings of the working-class, the wretched conditions of the industrial towns, the grossly unrepresentative character of the system of government, that needed amendment. Every part of the legal and social system of the country needed to be overhauled : not least the hideous penal code, which (inspired by the fear of revolution) imposed the penalty of death for innumerable petty offences such as stealing linen from a bleaching-ground or being seen at night with one's face blacked ; or the game laws, which had been made more and more ferocious as the landowners spent more of their growing wealth upon game preservation, and the starving peasantry netted the game for food ; or the exclusive privileges of the Established Church, with its richly endowed episcopate and its impoverished lower clergy ; or the monstrous imperfections of the police system, which allowed crime to breed unchecked in the festering alleys of the towns. Almost every aspect of the nation's life demanded reconstruction.

The defeat of Napoleon, therefore, did not mean the end of the revolutionary movement in Britain any more than in Europe. On the contrary, a revolution had to come. The only question was, whether it would come peacefully or by violence. And that depended upon whether the ruling class would open its eyes, or would display the same unyielding tenacity in resisting change at home that it had displayed in resisting the might of Napoleon.

The End of the Old Regime.—In truth, the close of the Napoleonic War may be said to mark, in England as in Europe, the end of the old regime of hereditary class ascendancy. The governing class in England had been less exclusive, more public-spirited, and more liberal in its outlook than the ruling classes in other countries ; and for that reason its power, exercised through Parliament, had been more willingly accepted than in any other country. Indeed, the power of the landowning aristocracy had

never been more complete nor its pride greater than in these last days of its supremacy, when it led the nation's resistance to the menace of foreign conquest. But it had already been seriously undermined, by the ideas of the French Revolution, by the teaching of many schools of reformers in England, and, above all, by the great social changes which the Industrial Revolution was bringing about. It was bound to come to an end The gradual transition from aristocracy to democracy is the main interest of the nineteenth century, and gives to it its distinctive character.

Supplementary Reading on Book VII

The ground covered by this Book is dealt with, much more fully, in the *Short History of the British Commonwealth*, Vol. II, pp. 147 to 324. See also Grant Robertson, *England under the Hanoverians*. For Indian affairs, V.A. Smith, *Oxford History of India*, and Muir, *Making of British India*. The best general account of the Industrial Revolution is by a Frenchman, P. Mantoux (English trans.) On the changes in agriculture, Lord Ernle's *English Farming, Past and Present*. There are good summaries of European history during the period in Morse Stephen's *Revolutionary Europe*, and Holland Rose's *Revolutionary and Napoleonic Epoch*. Holland Rose's *Life of Napoleon* (2 vols.), and his two volumes on Pitt are full and useful. A stimulating book on the period is Fortescue's *British Statesmen of the Great War*. J. L. and B. Hammond's *Village Labourer* and *Town Labourer* are full of vivid detail on social conditions. The best general account of the French Revolution in one volume is by Madelin (English translation).

BOOK VIII

NATIONAL AND IMPERIAL RECONSTRUCTION
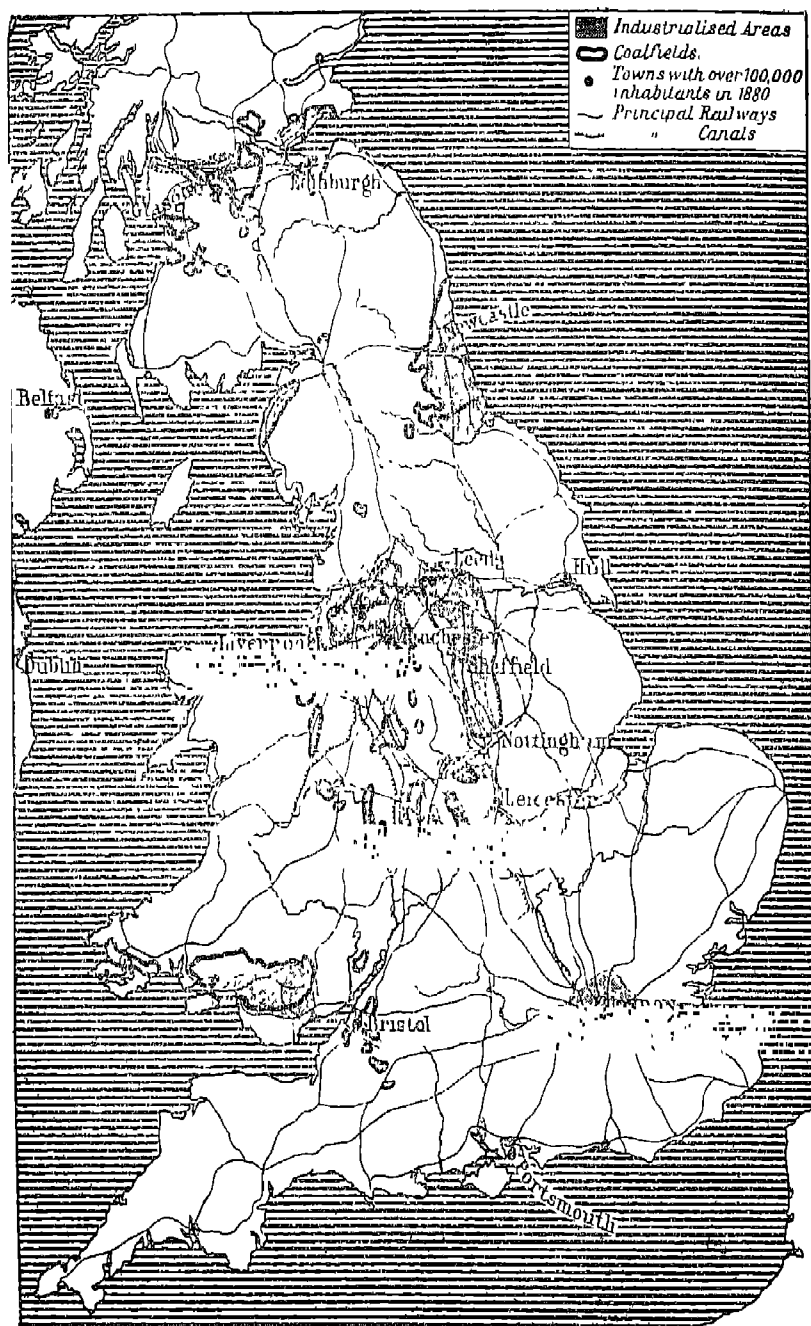
(1815—1880)

Fig. 36.—The Industrial Revolution.

BOOK VIII

NATIONAL AND IMPERIAL RECONSTRUCTION (1815—1880)

BRITAIN and the British Empire as we know them to-day have been mainly shaped by the changes of the nineteenth century. During that century the British people ceased to be a nation chiefly composed of country-dwellers, ruled by a landowning oligarchy, and became a nation chiefly composed of town-dwellers, ruled by the system of democracy. During the same period the British Empire ceased to be empire in the old sense of the term, and became a loosely linked fellowship of free peoples, marked by an infinite diversity of type; at the same time its area was greatly extended, and there was an immense increase of the English-speaking population in the vast areas which it included.

These momentous changes were due in the first instance to the rapid development of the Industrial Revolution, and to the unprecedented increase of population and wealth which it brought. But the form which the group of British nations assumed was determined by a deliberate process of reconstruction, which effected every aspect of their social and political life. The fact that this revolution was peacefully and gradually achieved has largely obscured its greatness; but it is impossible to form any just view of the history of the British peoples without some understanding of the significance of these changes.

The two generations during which this immense change was being effected may be divided into three sections: first, a period of challenge and unrest from 1815 to 1830; next, a period of reconstruction, from 1830 to about 1850; finally, a period of self-complacency and of growing prosperity, from about 1850 to about 1880.

While the British peoples were undergoing these great changes, and were enjoying a supremacy of wealth and influence which gave to them the first place in the world, the peoples of Europe, and even of the United States of America, were passing through cruel ordeals of war and revolution. Britain became the envy and the model of the old world; and in almost every civilised country her institutions and her social system were more or less closely imitated. But towards the close of the period the European peoples, having overcome, for the moment, their own troubles, awoke to the fact that the destinies of the world outside Europe were largely passing under the control of the English-speaking peoples. This realisation opened a new period both of British and of world history, and began a fierce rivalry for imperial power which led up to the Great War.

CHAPTER XL

OLD TORYISM AND YOUNG TORYISM (1815—1830)

1. The Years of Blind Reaction (1815—1822)

It was universally expected that the return of peace in 1815 would bring with it prosperity and plenty. The reverse happened; and the years which immediately followed the great triumph of Waterloo were perhaps the most unhappy in the modern history of the British peoples. The distress of the war years, instead of being alleviated, was intensified. The defects of the unreformed system of government became so apparent that it completely lost the confidence of the nation, and a revolution by violence seemed all but inevitable.

The Distress of 1815.—All sections of the nation shared in the miseries of the time. Expecting a great increase of foreign sales after the peace, manufacturers had heaped up stocks of goods; but the Continent was too much impoverished to buy. There were numerous bankruptcies; factories closed down; and the numbers of the unemployed went up by leaps and bounds. Many trades were hard hit by the sudden cessation of war orders. The disbandment of the army increased the volume of unemployment. Even the farmers, who had enjoyed immense prosperity during the war, and had brought a great deal of poor land into cultivation, were panic-struck at the prospect of an inrush of cheap foreign corn.

The Royal Family.—The Government which had to deal with this difficult situation was wholly unfitted for the task. The old king had been insane since 1810, and was also blind and deaf.* His eldest son, the Regent, was a contemptible and dissolute fop, whose relations with his errant wife were a matter of public scandal; and his younger brothers were not much better. Princess Charlotte, the Regent's daughter and the heir to the throne, was regarded as the hope of the nation; but she died in 1817. Then there was a rush among the younger princes to get married. But until Princess Victoria, daughter of the Duke of Kent, was born in 1819, it seemed likely that the royal line would become extinct, and many anticipated that the monarchy also would disappear.†

The Government.—As for the administration, its head, Lord Liverpool, was a colourless figure; and it was dominated by three men who came to be hated with an extraordinary intensity—Castlereagh, Eldon, and Sidmouth. Lord Castlereagh,‡ the Foreign Secretary, was a much misunderstood man, but he was unquestionably a reactionary in home politics. Lord Eldon, the Lord Chancellor, was a great (though a very dilatory) lawyer; but his creed was that which was once pithily expressed by the Duke of York—"any change, at any time, for any purpose, is much to be deprecated." Lord

---

* Thackeray draws a touching picture of him in *The Four Georges*.

† See Genealogical Table C, at the end of the volume.

‡ There is a short Life of Castlereagh by J. A. R. Marriott, and a good essay on him by Lord Salisbury.

Sidmouth (who, as Addington, had been Prime Minister in 1801—1803) was a second-rate and unimaginative man; and unfortunately he was, as Home Secretary, responsible for public order. Ridden by the nightmare of revolution, he believed in the existence of an underground conspiracy to overthrow the Government, and took every cry of distress for a tocsin of revolution He worked largely through paid spies and informers, who fabricated evidence when it was not otherwise forthcoming, and kept the Government in a profitable state of alarm

The Corn Law.—With one exception, the Government had no remedy to propose for the distresses of the time, save stern repression. The exception was the distress among farmers, which affected the landlords' rents. To meet this, a new *Corn Law* was carried through Parliament in 1815 It prohibited the importation of corn until the price in England reached eighty shillings a quarter. Thus, at a time of acute distress, low wages and widespread unemployment, the price of bread was artificially kept high, and the people were deprived of the one immediate consequence of peace which might have alleviated their sufferings—cheap food.

The Disturbances of 1815—1820.—During the years 1815 to 1820 there was a series of disturbances. None of them was formidable. Some of them were deliberately fomented by informers. All of them were easily suppressed. But ministers spoke as if revolution was brewing, and *Habeas Corpus* was suspended In 1816 there was a riot after a Radical meeting at Spa Fields, and the spies swore that the rioters meant to seize the Tower of London; a handful of constables broke up the crowd. In 1817 a few hundred starving workmen set out to walk from Lancashire to London to present a petition to the Regent, carrying their blankets to sleep in. The "Blanketeers," as they were called, were turned back by a few troops, and some of them were imprisoned for months without trial. In the same year a more serious rising of a few hundred men in Derbyshire was easily stopped by eighteen hussars; it was proved to have been instigated by the infamous spy Oliver. In 1819 a big Radical demonstration in favour of parliamentary reform, held at St. Peter's Fields, Manchester, was actually charged by the yeomanry, and several lives were lost. This was known as the *Massacre of Peterloo*;* and when Sidmouth congratulated the magistrates on their vigour, moderate opinion was outraged. To deal with these troubles, the Government introduced a group of measures known as the *Six Acts* (1819), which forbade all public meetings unless summoned by those in authority. Finally, in 1820, a murderous conspiracy (known as the *Cato Street Conspiracy*) was formed to kill the whole Cabinet. This was the only serious outrage of these years; and it was provoked by foolish repression.

George IV and his Queen.—Meanwhile (January 1820) old George III had died, having long been dead to the world; and was

* These events are vividly described in Sam Bamford's *Passages in the Life of a Radical*—an honest book, well worth reading.

succeeded by his worthless son, George IV. The new king's first act was to refuse royal rights to his queen, and to get the ministry to introduce a Bill of Pains and Penalties in the House of Lords to divorce her. Popular sympathy was so violently on the side of the queen that the Bill had to be withdrawn ; and the unsavoury episode completed the discredit of the whole system of government. It was in this year that Shelley wrote *The Mosque of Anarchy*, in which he scarified the rulers of Britain, and called upon the "men of England" to "rise like lions out of slumber, in unvanquishable number : cast your chains to earth, like dew ; ye are many, they are few."

The End of Reaction.—The Government of reaction sank under the weight of obloquy. Sidmouth resigned in 1822 ; Castlereagh, a victim of morbid depression, committed suicide in the same year ; and although Lord Liverpool continued to be Prime Minister, the men who now took the lead in his Cabinet changed its character, and began the era of reform. They were the abler Tories of the younger school, notably Canning,* his friend Huskisson, and Sir Robert Peel. † Already, indeed, improvement had begun when, in 1819, on the advice of a Committee over which Peel presided, cash payments were resumed, and the inconvertible paper currency established in 1797 came to an end. This meant that money became more valuable, prices fell, and wages went a little farther.

2. Tory Reformers (1822-1828)

The years from 1822 to 1828 brought a very marked change in the spirit of British politics, both at home and abroad.

Canning's Foreign Policy.—At the Foreign Office, Canning was responsible for a definite breach with the reactionary powers of Europe, popularly known as the "Holy Alliance." In 1820 and 1821 there had been a series of futile revolutions in Spain and Italy. Metternich, Chancellor of Austria, and the Powers were for sending armies to stamp out these movements, and actually did so. Castlereagh had privately resisted in vain, urging a policy of non-intervention ; but he had been loth to break with the alliance of the Powers. Canning publicly protested, broke with the Alliance, and won the gratitude of Liberals throughout Europe. When the Powers proposed to send forces to reduce the revolting South American republics to obedience, Canning formally recognised the republics as independent States, and let it be known that the British navy would not permit any expedition against them In a grandiose phrase, he claimed to have "called a new world into existence to redress the balance of the old." He also urged the United States of America to take similar action ; and in a message to Congress President Monroe announced that the United States would resist any intervention in South America by European Powers. This was the first promulgation of the famous "*Monroe Doctrine*."

* There is a short Life of Canning by H. V. Temperley.

† There is a short Life of Peel by J. R. Thursfield, (Twelve English Statesmen).

Greek Independence.—Even more striking was Canning's action on the Greek question. In 1821 the Greeks had revolted against Turkey. Many English and French volunteers had gone out to help them, the most famous among them being Lord Byron, the poet. who lost his life in the Greek cause at Mesolonghi (1824). In 1825, however, the Greeks were very hard pressed: a fleet and an army from Egypt threatened not only to defeat them but to exterminate them. Thereupon (1826) Canning made an agreement with France and Russia to compel the Sultan to grant autonomy to the Greeks A joint fleet, under the British Admiral Codrington was sent to enforce these demands. At *Navarino*, (1827) it destroyed the Egyptian fleet, and in the next year a combined French and British force cleared the Morea. In 1829 Greece was recognised as independent, under the protection of Britain, France, and Russia.* This was the first triumph of the cause of nationalism. Both in South America and in Greece, Britain had appeared as the friend of the movement of emancipation abroad. She could not remain committed to reaction at home.

Law and Trade Reforms.—Meanwhile, Peel, as Home Secretary, had swept away Sidmouth's wretched spy system. He also did very valuable work in revising the iniquitous Penal Code No less than one hundred capital offences were abolished, and the British legal system was redeemed from the savagery which had disgraced it. Huskisson, at the Board of Trade, took in hand the tariff, revised and greatly reduced the customs duties, sweeping away the taxes on raw materials; and made a substantial step in the direction of free trade Huskisson also abandoned the prohibition of the export of machinery, which had been forbidden with the idea that foreigners ought not to be helped to use British machines. The trade in machinery soon became one of the greatest of British trades.

The Freeing of Trade Unions.—The most remarkable advance of those years was not due to the Government, but to the work of Francis Place,† a London tailor and a disciple of the Radical philosopher, Bentham. Working in conjunction with Joseph Hume, a Radical member of Parliament, he managed to obtain an inquiry into the working of Pitt's Combination Acts, which prohibited the formation of Trade Unions The evidence was so skilfully presented that even a Tory committee reported in favour of the repeal of the Acts. They were repealed in 1824; and although, after an outbreak of strikes, the Act was modified in 1825, nevertheless the establishment of Trade Unions had become legally possible. This was an event of the highest importance for the future development of the British social system.

The Canningite Split.—In 1827 Lord Liverpool died, and Canning became Prime Minister in his place. But this led to a split in the Tory party, because, while Canning favoured Catholic Emancipation, the majority of the Tories, including Peel, opposed

---

* See School Atlas, Plates 19 and 26c.
† There is a very interesting Life of Place by Graham Wallas.

it; and Canning was only able to form his Government with the help of the Whigs. In a few months, Canning died; an attempt to carry on his ministry under his friend Lord Goderich was a failure; and in 1828 the Duke of Wellington* became Prime Minister, with Peel as his right-hand man. Some of Canning's followers (including Lord Palmerston and William Lamb, afterwards Lord Melbourne, both of whom later became Liberal Prime Ministers) were at first included in the ministry. But the breach was too deep: in three months they had resigned and thrown in their lot with the Whigs. The Tory ascendancy was beiginning to crumble.

Police Reform.—Even under the Wellington government, reform still went on. On the motion of Lord John Russell,† a future Liberal leader who now first obtained political prominence, the *Test and Corporation Acts*, which had survived from the intolerance of the seventeenth century, were repealed, and the disabilities of the Dissenters were at last removed. And Peel carried out a piece of work which deserved to rank with the reform of the Penal Code, when he organised the Metropolitan Police, and the old incompetent bodies of watchmen who had failed to keep crime in check disappeared. Other towns imitated London; and the admirable new police forces, in honour of Sir Robert Peel, came to be known as "bobbies" or "peelers."

The more reactionary Tories were beginning to be restive under this reforming activity. But perhaps Peel would have achieved more good work, to demonstrate that the old unreformed system of government was still capable of good things, if his policy, and the existence of the Wellington ministry, had not been interrupted by a series of events which before very long broke down the Tory ascendancy altogether, and opened the way for more far-reaching constructive work.

3. Catholic Emancipation and Irish Problem

The Condition of Ireland.—The cause of disturbance came from Ireland. Since the Act of Union little attention had been paid to the needs of Ireland, the Irish representatives in the united Parliament being all members of the Protestant minority. But there were very great evils in the condition of Ireland, which demanded attention. The population was too great for the means of subsistence; it had reached 7,000,000 in 1821; and the great majority of these, the disinherited Irish peasantry, were in a state of abject and grinding poverty, worse than that of any peasantry in Europe. The competition for land was so fierce that rack-rents were paid which left no sufficient margin for livelihood, and the people lived mainly on potatoes, the cheapest form of human food. They were always on the verge of starvation, and a very severe famine, which caused serious

* There is an essay on the Duke of Wellington as a statesman, by Sir Charles Oman, in Hearnshaw's *Prime Ministers of the Nineteenth Century*.

† There is an essay on Russell, by W.F. Reddaway, in Hearnshaw's *Prime Ministers of the Nineteenth Century*.

loss of life, happened in 1822. Again, it was a bitter grievance that one-tenth of all the produce of these wretched little farms was exacted as tithe for the maintenance of the Anglican Church, to which scarcely any of the peasantry belonged. Finally, though since 1793 Irish Catholics (unlike those of England) had the right to vote for members of Parliament, they could not be elected, nor could they hold any public office. They therefore could not do anything to improve the lot of their fellows.

O'Connell.—Ever since the Act of Union there had been acute division in English politics between the majority of the Tories, who were opposed to Catholic Emancipation (*i.e.* the conferment upon Catholics of the right to hold public offices and to sit in Parliament), and the Whigs and Canningite Tories, who were in favour of such a measure · this was, in truth, the main line of cleavage in English politics. Meanwhile, in Ireland, a Catholic Board kept the question alive by petitions and in other ways. In 1805 the leadership of this movement was assumed by Daniel O'Connell, a very successful lawyer and an orator of great power.* He contrived to give new force and vigour to the movement. In 1823, moved by the famine of the previous year, he founded a Catholic Association, supported by a regular weekly levy called the Catholic Rent. Thousands of Catholic peasants joined, and excitement steadily increased. In the north of Ireland Orange Lodges were organised on the other side, and feeling ran so high that the authorities feared an outbreak of civil war, with all the horrors that have always accompanied civil war in Ireland. They tried to prohibit the organisations on both sides (1825); but this was of no avail. O'Connell dissolved his Association, but formed a new one within the letter of the law.

The Clare Election.—In 1828 a bye-election was necessitated in County Clare. The outgoing member was a popular Protestant landlord, who had always been able to count upon the votes of his Catholic tenants. O'Connell resolved to try a great experiment. He became a candidate himself, although, as a Catholic, he was legally disqualified ; and he was triumphantly elected. What had happened at Clare was likely to happen, at the next election, in eight out of ten Irish constituencies. Either O'Connell must be admitted to Parliament, which meant that Catholic Emancipation must be granted ; or the Government must be prepared to face the disfranchisement of four-fifths of Ireland, and the rise of an intense excitement which would almost certainly lead to civil war.

Catholic Emancipation.—Wellington and Peel, the heads of the Government, were both opposed to Emancipation. But Wellington was a soldier, who knew when a position was untenable ; and Peel had an honest mind which would not refuse to face facts. Both agreed that emancipation must be granted. Peel wanted to resign, to save his personal honour. Wellington insisted that as their influence alone could force the Tories to accept the hated Act, the

---

* There is an excellent Life of O'Connell in Lecky's *Leaders of Irish Public Opinion.* There is also a Life by Judge O'Connor Morris in the Heroes of the Nations Series.

national need must come first. Accordingly the statesmen who had refused to support Canning because he advocated the Catholic cause, now introduced a Bill to secure the triumph of that cause. It was carried with the aid of Whig and Canningite votes ; and Catholics became eligible for Parliament and for all but three public offices.

Fall of the Tories.—The passage of the Catholic Emancipation Act, coming on the top of other reform measures, rent the Tory party in twain, and destroyed its faith in its leaders. In the next year. 1830, George IV died ; and the accession of his brother, William IV, made a general election necessary. That election was one of the turning-points in British history. It returned a Whig majority ; and the Whigs were committed to parliamentary reform, which, in the eyes of Tories, meant political revolution. Moreover, in the same year, revolutions broke out in France, Belgium, Italy, and Poland. Revolution was in the air. Could the necessary changes be peacefully achieved ?

4. Colonial Policy (1815- 1830)

Large-scale Emigration.—The development of the new British Empire was deeply influenced by the course of events in Britain. Unemployment and distress led to emigration on a very large scale—the first movement of mass-emigration yet seen in the modern era. It was after the famine of 1822 that large-scale emigration from Ireland began. A very large proportion of these emigrants went to the United States ; and the rapid growth of the States in this period, when the Mississippi valley was being very quickly settled, was mainly due to conditions in Britain. But there was also a strong movement towards Canada—as many as 20,000 a year ; and for the first time a steady though small stream of free emigrants flowed to Australia, where in 1828 a new settlement was made on the west coast, at Swan River.* In 1819 organised and assisted emigration began, when, as a means of relieving unemployment, Government supplied £50,000 to defray the cost of a British settlement in South Africa. The area chosen was Eastern Cape Colony, round Grahamstown : † this region is still the most English district in South Africa, and its new inhabitants formed the first solid block of English-speaking settlers among the Dutch Boers.

Racial Problems.—This new stream of emigration produced its own problems in all the colonies. Racial feeling was stirred not only in South Africa but in Canada, where the French of Quebec began to fear that the English would soon outnumber them. In Australia the coming of substantial numbers of free settlers made it necessary to modify the form of government appropriate for a convict station. In 1824, therefore, a nominated legislative council was set up in New South Wales, and next year Tasmania was organised as a separate colony.

Movement against Slavery.—Not only in the lands suited

* See School Atlas, Plate 55*b*.
† See School Atlas, Plate 56*b*.

for white settlement, but in the old and new tropical possessions, changes were beginning. The chief agents of the change were the missionaries, of whom hundreds were now scattered over the face of the globe. Their reports, sent home to the Churches whose subscriptions supported them, stirred public interests in the backward or primitive peoples, and in the slaves of the slave-owning colonies. After the abolition of the slave trade, an agitation had begun for the abolition of slavery. It reached an important stage in 1823, when T.F. Buxton moved a resolution in the House of Commons condemning slavery, and Canning, on behalf of the Government, undertook to impose upon the various colonies regulations for the protection of the slaves. The planters were indignant at this threatened interference with their "property," and Jamaica even threatened to secede from the Empire Most of the planters were inclined to lay the blame on the missionaries. In Demerara there was a rising among the slaves when they heard that something was to be done for them. It was cruelly suppressed ; and the Rev. John Smith, a Nonconformist missionary, was tried and condemned to death for inciting the slaves to mutiny, though he had done nothing to justify such a charge. He died of the hardships inflicted upon him in prison. Every church and chapel in Britain rang with the story of his martyrdom ; and this episode, more than anything else, brought the British people to the conviction that slavery must be abolished.

Evidently difficult questions were brewing both in the white men's colonies and in the tropical colonies. By 1830 reconstruction had become as inevitable in the colonies as at home.

5. India : the Overthrow of the Marathas

Finally, in India, great events were taking place during the years following Waterloo. It is scarcely too much to say that in this period the British conquest of India was completed.

Marathas and Pindaris.—When Wellesley was recalled in 1805 (p. 396) he had not completed the subjugation of the Maratha princes, who still controlled nearly half, though mostly the wildest and least civilised half, of India ; and the home authorities gave strict injunctions to his successors that there was to be no interference with the Marathas. For eight years this prohibition was observed. During that time the Marathas gave protection within their territories to bands of wild and savage marauders, known as Pindaris, who frequently raided and plundered territories for whose protection the East India Company had made itself responsible. The neglect to deal with this evil was highly discreditable to the British power. At the same time Bengal suffered a good deal from raids by the warlike Gurkhas, who inhabited the kingdom of Nepal on the southern slopes of the Himalayas. "Non-intervention" in Indian politics was in fact an impossible policy for the power that was now paramount in India.

Lord Hastings and the Gurkhas.—In 1813 there came out to India a new Governor-General, Lord Moira, afterwards Marquess

Hastings,* who deserves to rank, after Clive, Warren Hastings, and Wellesley, as the fourth of the great builders of the Indian Empire. He refused to observe the policy of non-intervention, and dealt very vigorously with the forces of disorder in India. First he attacked the Gurkhas, defeated them in difficult mountain campaigns, drove them back into their hill-country, and made with them a treaty (1816) which has lasted to this day. Ever since then Gurkha troops, recruited from the independent State of Nepal, have been among the most valued elements in the Indian army.

Overthrow of the Marathas.—The Gurkha war was no sooner completed than a Pindari raid of the most outrageous character was perpetrated in the peaceful British province of Madras. Hastings resolved that these raiders must be finally brought to book. But there was obviously a danger that an attack on the Pindaris would involve trouble with the Marathas, who sheltered them. Hastings therefore organised the largest armies that had yet been put in the field by the East India Company.† His foresight was shown to be needed; for three of the great Maratha princes seized the opportunity to attack the British power, and a fourth, Sindhia, would have done so if he had not been overawed by large forces. The Peshwa, head of the Maratha confederacy, though formally in alliance with the Company, made a treacherous attack upon the British Resident at his capital, Poona. He was defeated at *Kirki* (1817), and finally overthrown at *Ashti* (1818). Bhonsla, the raja of Nagpur, made a similar attack upon the Resident at that city, and was soundly beaten at *Sitabaldi* (1817); while the armies of Holkar, raja of Indore, were thoroughly defeated in the biggest battle of the war, at *Mahidpur* (1818). Meanwhile the strongholds of the Pindaris had been cleared out, and India was freed from a pest. This was the third and the most decisive of the Maratha wars. It finally disposed of the ambitions of the Marathas to be masters in India, and it was followed by a very important series of treaties, which definitely established British supremacy over the whole of India up to the line of the Indus.

Resettlement of India.—The Peshwa was dethroned and pensioned off. His lands went to make the modern Presidency of Bombay, and they were admirably organised by a great administrator, Mountstuart Elphinstone. The Peshwa retired to a palace near Cawnpore; and there, forty years later, his adopted son, Nana Sahib, was to play a terrible part in the Indian Mutiny. The other Maratha princes were made to accept strict treaties of subsidiary alliance, and to make some cessions of territory; and henceforth they took rank among the other dependent native princes. All the numerous Rajput princes of the wide province of Rajputana, who had long been vassals of the Marathas, and had suffered much at their hands, were bound to the Company by subsidiary treaties. This series of treaties, added

---

* There is a short Life of Hastings, by Major Ross, in the Rulers of India Series.

† See School Atlas, Plate 54.

to those which Wellesley had made (1818), still form the foundation of the British power over the Indian Native States.

First Burmese War.—From the Indus to Cape Comorin the East India Company was now supreme, and peace reigned over that vast and populous area, as never before in its long history. But the series of Indian wars and conquests was by no means at an end. In 1823 Lord Hastings' successor, Lord Amherst, was drawn into conflict with Burma, a land quite distinct from India in character and civilisation. The Burmese had been aggressive for some forty years. They had conquered Assam, next neighbour of Bengal on the north; they had conquered the coastal region of Arakan, next to Bengal on the south. Embassies to establish friendly relations with them were received with studied insolence. They announced that they were going to conquer Bengal next, and in 1823 they attacked that province. The war thus begun lasted for three years. But in the end the king of Burma had to admit defeat, and to cede not only the provinces of Assam and Arakan, but the long coastal region of Tenasserim, which runs down the east coast of the Bay of Bengal to the Malay peninsula (1826). By these acquisitions the East India Company obtained control of all the shores of the Bay of Bengal.*

The Straits Settlements.—Meanwhile the British Government (not the East India Company) had been establishing British power still farther east.† There had long been a British trading-station at *Penang*, on the Malay Straits (1786). In 1819, as a sort of compensation for the loss of Java, which had been restored to the Dutch in 1816, Sir Stamford Raffles, who had ruled Java during the British occupation, obtained the island of *Singapore* by treaty with the Sultan of Johore. Here was founded a port of call for traders on the way to the Far East which has since developed into one of the great ports of the world. In 1824 a new arrangement was made with the Dutch, whereby, in return for the abandonment of a British trading-station in Sumatra, they gave up *Malacca* in the Straits; and in 1826 the Straits Settlements were organised as a separate Presidency under the Governor-General of India.

Thus, while the oversea empires of the other European Powers had shrunk to nothing, the British power was still growing steadily in all directions, even during these years of distress and disturbance at home; and the problem of the organisation and government of the Empire was becoming every year more difficult and more important.

6. The Movement of Ideas

It is clear that, amid all the distresses of the time, there was a stir of life among the British peoples, and that powerful forces making for change were at work. This is still more evident if we consider the intellectual life of the people.

---

* See School Atlas, Plate 54.

† See School Atlas, Plate 55*a*.

Literature.—The years which followed Waterloo were one of the greatest ages in English literature ; indeed, if the great name of Shakespeare could be disregarded, it surpassed even the Elizabethan age in the richness and variety of its achievements. It was the age of the Romantic Revival, when men were seeing with a fresh vision the wonder and beauty of nature, and the mystery of human life, because their minds had been deeply stirred by great events and profound problems. Wordsworth and Coleridge had been at the height of their powers during the struggle with Napoleon, when Wordsworth's noble patriotic sonnets did much to inspire the best part of the nation. Coleridge had gone into retreat at Highgate in 1816, but his teachings were exercising a very deep influence on many disciples ; Wordsworth, in his simple home among the mountains; still wore his singing-robes. The great glory of the period, however, was the work of three young poets, all of whom died young, and whose best work falls entirely within the fifteen years from 1815 to 1830—the splendid and romantic Byron, first of English poets to win the ear of Europe ; the ethereal Shelley ; and, greatest poet of them all, the unhappy Keats. Many lesser poets, such as Scott, Landor, Campbell, Moore, and Rogers, combined to make England once more "a nest of singing birds." In imaginative prose the age was not less distinguished. The marvellous series of the Waverley novels had begun in 1812 and was being poured out in all its rich variety during the years of storm and stress. The exquisitely finished work of Jane Austen also belongs to the years of war and peace. And, in another kind, the genius of Charles Lamb, of Hazlitt, and of de Quincey all illuminated these cruel times.

Science and Economics.—There was also beginning in these years the great movement of scientific investigation which was to transform the character of civilisation. In 1804 Dalton had expounded the atomic theory ; Faraday and Humphry Davy were carrying on their chemical investigations ; and the first of the great geologists were disclosing the secrets of the rocks. Science had not yet become a controlling factor in the life of man, nor had it yet been taken fully into the service of industry, but the greatest of all the revolutions of the nineteenth century was beginning. Again, in the field of social study important advances were being made. Starting from the work of Adam Smith, a group of great economists, among whom the chief was David Ricardo, were working out the principles of political economy. Others, especially under the inspiration of Jeremy Bentham, were investigating the principles of law and government, and preparing the way for the great reforms of the next era, which were to be chiefly due to the ideas and proposals of the Benthamites, or "Philosophic Radicals." A very different body of thought was also being developed by another group of writers. The theory of Socialism was worked out during the 'twenties by Robert Owen and others ; and it has been asserted that all the ideas of Karl Marx were anticipated by the British Socialist writers of this period.

Education.—Organised knowledge could not play its part in the life of the nation until there were facilities for making it available. The educational machinery of England, though not of Scotland, was

as yet of the most rudimentary kind, Oxford and Cambridge clave to the old ways, gave no recognition to the new knowledge, and rigidly excluded Dissenters ; and there were no other centres of organised learning. In 1825 a group of liberal thinkers proposed the foundation of a university in London. In 1828 an institution called "the University of London" was opened, but it was on a modest scale, and the opposition of Oxford and Cambridge prevented it from getting a charter. Moreover, because it imposed no theological tests, it was distrusted by orthodox Anglicans, who in 1829 founded King's College as a rival institution. Such were the modest beginnings of the modern university movement. Meanwhile the provision of schools for the poor, which had begun with the Sunday school movement in 1780, had made some progress. It was wholly supported by the Churches, and there were consequently two rival sets of schools, organised by the (Church) National Society and by the (Dissenting) British and Foreign Society. But they were all poorly equipped ; they had no adequate staff of teachers ; and the work of teaching had to be carried on largely by the senior pupils under what was known as the "pupil-teacher" system Britain was very poorly equipped with the means for training her people when she entered upon the era of reconstruction. But at least she was beginning to realise her need.

CHAPTER XLI

NATIONAL RECONSTRUCTION IN BRITAIN (1830—1841)

1. The Reform Act of 1832

Revolution in the Air—The general election of November, 1830, took place in an atmosphere of revolution. In July the Paris mob had, in a few days, overthrown the reactionary monarchy of Charles X, and set up a new constitutional monarchy under Louis Philippe. In August the Belgians had risen in revolt and asserted their independence of Holland. In September the revolutionary movement had spread to several of the German States, and it was about to flare out also in Poland and in Italy. These Continental agitations stimulated the excited Radicals in Britain, who had long been demanding parliamentary reform, and had now almost made up their minds that it could only be got by force. There were nightly meetings in London, and it was thought unsafe to let the new king drive through the streets. A great Political Union, with thousands of members, had been organised in Birmingham. There was an epidemic of strikes in the North, and some talk of a march on London. In the southern counties, from Kent to Wiltshire, a sort of peasants' revolt was afoot during the summer ; landowners were receiving threatening letters signed by "Captain Swing," and hundreds of ricks were burnt. Britain was on the verge of revolution All depended upon whether the unreformed Parliament could be got to reform itself.

Grey's Government.—The election gave an uncertain result, though the strength of the Whigs was greatly increased. The Duke of Wellington was defeated; but before his defeat he made a die-hard speech against parliamentary reform, in which he asserted the perfection of the existing system. Earl Grey was called upon to form a ministry—the first Whig ministry for twenty-five years. Grey himself was no Radical; but he had been a consistent advocate of parliamentary reform since 1792, and he was a brave and upright man. His Cabinet consisted, however, entirely of aristocrats, drawn from the very class whose power the Radicals hoped to see overthrown, and it included the leading followers of Canning, who had always opposed reform No great hopes were entertained from such a Government But it included also some thorough-going reformers, such as Lord Durham (known as Radical Jack) and Lord John Russell. To them Grey entrusted the framing of a Reform Bill.

The Reform Bill.—When the Bill was produced (March 1831) it startled Parliament and delighted the public by its thoroughness. All pocket-boroughs were to be swept away. The 160 seats thus obtained were to be distributed among big towns and counties. There was to be a uniform franchise, and in the towns every tenant of premises worth £10 a year—4*s*. a week—was to have the right of voting. This was not a democratic franchise But at least the old anomalies, which had given power into the hands of a small class, were to disappear. This was what captivated the country; and the whole strength of the popular agitation was diverted from revolutionary aims into enthusiastic support of "the Bill, the whole Bill, and nothing but the Bill."

The Fight for the Bill.—The second reading was carried by only one vote. Then Parliament was dissolved in order that the country might pass judgment on the proposals. So great was the enthusiasm that even the unreformed electoral system yielded a large majority to the Whigs. The Bill went through the Commons; but the Lords rejected it (September 1831). There was a tornado of popular indignation; vast meetings and processions; and serious riots in several towns. The Government stood firm, passed the Bill again through the Commons, and once more submitted it to the Lords (1832). They gave it a second reading by nine votes; and then proceeded to eviscerate it in committee. Lord Grey resigned. Wellington tried in vain to form a Government. The public excitement became unbounded, and there was real danger of violence. Grey returned to office, on condition that the king would undertake to create as many peers as might be necessary to carry the Bill. This settled the issue. Many peers abstained. The Bill was carried, and on June 7, 1832, received the royal assent.

Effects of Reform.—Popular opinion was right in recognising this measure, moderate as its terms were, as a real revolution, quite as important as that of 1688. It destroyed the entrenched power of the landowning oligarchy which had governed Britain since the fall of the Stewart monarchy; and it gave to a large electorate the opportunity of recasting the political and social system. The section

of the nation to which controlling power now passed was in the main the middle class, together with the more prosperous artisans. The middle class (which loves a lord) did not dream of dethroning the aristocracy. Cabinets continued to be manned by statesmen of the old class. But it was influence, not domination, which the aristocracy now enjoyed ; and to maintain their leadership thay had to study and accept the opinions of the electorate.

2. The Reforms of 1832—1834

The "Liberals."—A fresh general election had to take place under the new Act. The Parliament which it chose (1832) showed an overwhelming majority for the Whig Government. But it was not a purely Whig majority. It included reformers of many schools and types, eager to get to work upon the tasks of reconstruction ; and although the direction of affairs remained in the hands of the aristocratic Whigs, who monopolised cabinet office, the real drive towards reform came from these new elements, and the character of the work that was done was largely due to them. The old name "Whig" was no longer suitable for this mixed army of reformers. The name "Liberal" came into use in its place. It was first employed about 1834, and was gradually adopted as the only name that covered all the sections of reformers. It was, in fact, a "Liberal" policy that was pursued by this Government, both at home and abroad, though the Government itself was essentially "Whig."

Palmerston and Belgium.—In foreign affairs the Government had to decide upon its attitude towards the results of the various revolutionary movements which had broken out in Europe in 1830. Lord Palmerston,* a disciple of Canning, became Foreign Secretary, and under his direction Britain adopted a definitely friendly attitude towards the Liberal movements on the Continent. Palmerston made friends with the new Government in France ; and this *entente* ranged the Liberal powers of the west against the despotic empires of Eastern Europe. The most important consequence of this alliance was that the Belgian revolt, which the reactionary Powers would have liked to suppress, won success, thanks to the protection of Britain and France ; and in 1832 the independence and neutrality of Belgium were formally recognised. This was the first definite breach in the provisions of the Treaty of Vienna. Palmerston had the reputation of being restless and meddlesome, and the diplomats of the old school regarded him as pestilent fellow. But he identified Britain with the cause of Liberalism in Europe, and brought to an end the period of reaction.

At home, meanwhile, the work of reconstruction was very actively taken in hand. The new Parliament was to last for only two years , but few Parliaments, long or short, have done a larger amount of useful work : in many different fields the work of reconstruction was set on foot.

* There is a brilliant Life of Palmerston by Philip Guedalla.

The Irish Question.—As in almost every other Parliament of the nineteenth century, more time was given to Ireland than to any other subject. For O'Connell, now at the head of a solid body of followers, was insistent that Irish grievances should be attended to. Yet little was done, because the House of Lords stood in the way. The Government reorganised the finances of the (Anglican) Church of Ireland, and proposed to transfer some of its surplus revenues, which were drawn from the Irish people, to education and other public objects; but the House of Lords would not permit this sacrilege. Much time was spent on an attempt to deal with the grievance of tithe, by making it a rent-charge, payable by the landlord instead of the tenant; but the proposal could not be got through; it was not passed until 1839; and in 1834 it led to a serious secession from the Government, which considerably weakened it.

Abolition of Slavery—Meanwhile, however, a series of very important measures were successfully carried. The first, and one of the most remarkable, was the abolition of slavery throughout the British Empire, £20,000,000 being voted to purchase the freedom of every slave. This noble and generous Act was the sign of a new spirit in imperial affairs, and a new attitude towards backward peoples, who had hitherto been pitilessly exploited throughout the history of European colonisation. But, as we shall see, it led to serious difficulties in more than one part of the Empire, and notably in South Africa.

The Factory Act.—Equally important in the new outlook which it expressed was the Factory Act of 1833, which was the real beginning of State intervention for the protection of the mass of working people. There had been Factory Acts in 1802 and 1819, but they were useless, because their enforcement was left to the justices of the peace. The new Act was first proposed by Michael Sadler, a Tory member, in 1831; when he failed to be elected in 1832, it was taken up by the great philanthropist, Lord Ashley, who was to be more famous as Lord Shaftesbury. But the Government took it over, and carried it by the weight of its great majority. What is more important, it inserted the provision which made the Act effective—the appointment of inspectors to go round the factories and see that it was errried out. The actual provisions of the Act were far from sweeping It was limited to the labour of children in cotton factories; it prohibited the employment of children under nine, and limited the hours that might be worked by older children to nine a day. This in itself was a real advance, and it also carried with it a reduction of the hours of work of adults who worked on the same machines as the children. But the important thing was the appointment of the inspectors; for their reports, presented year by year, drew the attention of the nation to the need of reform, and thus led to the long series of Factory Acts which gradually swept away the ugliest features of the industrial system.

Law Reform.—Law reform constituted another side of this Parliament's work. It established the *Judicial Committee of the Privy Council*, which has become the central court of appeal of the

whole empire ; it started the reform of the land laws ; and, if the House of Lords would have permitted, it would have set up a cheap system of local courts, like the later County Courts, to bring justice within the reach of ordinary citizens.

The India Act.—Another field of activity was represented by the India Act of 1833, which was based upon a very searching inquiry into the working of the whole system of Indian government. Now that Britain had become the paramount power in India, it was necessary that the principles of her government should be clearly defined. This Act put a stop to the trading activities of the East India Company, and thus ended the vicious combination of administration with profit-making. It swept away the rigid restrictions which had hitherto been imposed upon the entry of Western missionaries, teachers or traders into India, and thus allowed Western ideas to play freely upon the mind of India, with momentous results. And it laid down two new principles of vital importance. The first was that "the interests of the native subjects are to be preferred to those of Europeans wherever the two come in conflict." The second was that no native of India should be debarred by race, colour or religion from holding any office · in other words, the restriction upon the employment of Indians in responsible positions, which had been imposed ever since the time of Cornwallis, was cancelled. The Indian Empire was henceforth to be governed in the interests of the Indian peoples.

Poor Law Reform.—The most difficult, controversial and unpopular measure of this Parliament was the Poor Law Reform Act of 1834. Ever since 1795, on a growing scale, the poor law authorities had been making grants in supplement of wages. This practice had pauperised large numbers of the working class ; it had prevented a natural rise of wages ; and it had imposed crippling burdens upon the ratepayers. The Act provided that in future no "out-door relief" should be given to any but aged and infirm persons. "Able-bodied" persons, if they needed relief, must go into a workhouse and earn it ; and the conditions in the workhouses were to be less attractive than the worst-paid work, in order to discourage resort to them These were harsh provisions, especially at a time when many thousands depended upon the rates for subsistence. In the long run the harshness might be beneficial,if it forced employers to pay a living wage and made workers more eager to be self-supporting. But there ought to have been an allowance of time to let wages adjust themselves. In any case, the system was hard on the man who was out of work through no fault of his own. For these reasons the Act was intensely unpopular throughout the working classes, and made them feel that the reformed Parliament had betrayed them. Yet harsh as it was, the Act did lead to a great improvement ; and it immediately reduced the burden of rates. To administer the new system, it was provided that parishes shoud be grouped into Unions under partly elected Boards of Guardians. This was the first use of popular election for local authorities. A Poor Law Commission was also set up, to supervise the Guardians. The Commission was

the ancestor of the modern Ministry of Health ; and it represented the first attempt on the part of the national Government to regulate the work of the local authorities, which had been left to themselves ever since the breakdown of the Tudor system of Privy Council control.

The Dissolution of 1834.—This was a wonderful record of work for two years ; but it was now to be interrupted. In 1834 Lord Grey resigned. The ministry was reconstituted under Lord Melbourne. But, although it still had a large majority, the king saw fit to object to some of the ministers, called for Melbourne's resignation, and Commissioned the Duke of Wellington to form a ministry. This was the last occasion upon which a British sovereign interfered with the control of Parliament over the Government. Wellington and Peel tried to form a ministry. Knowing that they would be defeated by the existing Parliament, they asked for a dissolution, and the Parliament of the Reform Act came to a premature end.

3. The Melbourne Ministry (1834—1841)

The Tamworth Manifesto.—The election of 1834 was mainly important because Peel issued a manifesto in which he announced that he accepted the decision of 1832 and would play his part in carrying out needful reforms. In other words, Old Toryism, the mere negation of change, was dead ; and to express the new character of the Tory party, the word "Conservative" came into use. Peel had, in fact, played the part of a Conservative reformer throughout the last two years , his influence had prevented his party from attempting to resist all reforms ; he was by far the ablest parliamentarian on either side of the House ; and for these reasons public opinion had been steadily swinging in his favour. Partly for this reason, and partly because of the unpopularity of the Poor Law Reform Act, the Liberal majority was greatly reduced, and the two parties were not unevenly balanced. This remained the normal state of things until after the next Reform Act, in 1867. Indeed, there was now no very sharp difference between the main bodies of the two parties, and men passed easily from one to the other. But the narrowness of the majority put an end to the active legislation of the previous period.

Municipal Reform—The only important achievement of the Melbourne Ministry was the Municipal Reform Act of 1835. It was one of the most valuable of the series. Until 1835 English towns were divided into two classes, those which possessed ancient charters, and those which had grown up in modern times. The former had nearly all passed under the control of "close corporations," who represented only the interests of a small privileged class, and seldom made any attempt to carry out schemes of improvement for the borough as a whole. The latter had no organised system of government at all, save the machinery of a mediæval manor-court. Essential functions, such as street-cleaning, drainage, and lighting, were either not performed at all, or were undertaken by special

bodies set up by special local Acts of Parliament. The result of this system, or lack of system, was that the towns were mostly in a wretched condition, especially the rapidly growing industrial towns of the north and midlands There was no attempt to ensure that houses were healthy, no adequate water-supply, no sufficient police, no proper system of drainage, no supervision of public health. The new generation of Englishmen were being bred in conditions which were often destructive of health and morals. The Municipal Reform Act set up elected municipalities in every town of a certain size, with substantial powers, including the power to raise rates. Public-spirited men found in these bodies a great chance of rendering public service. There was no part of the work of reorganisation that was carried out in Britain during the nineteenth century which produced greater results upon the well-being of the community than the work of these bodies, which was all the more important because the British people were now becoming a town-dwelling people.

Education.—One almost unnoticed change made during these years deserves notice. In 1833 Government had made small grants to the societies which were maintaining elementary schools In 1839 the grants were increased, and a Committee of the Privy Council was set up to administer them, with a staff of inspectors. This was the beginning of national attention to education. The reports of the inspectors led to a gradual increase of Government action, and ultimately (in 1870) to the establishment of a national system of education.

Irish Affairs —Even more than in the previous years the main attention of Parliament was perforce given to Ireland, for whose problems no sort of solution had yet been found ; with the result that the Irish were beginning to lose patience, and to clamour for the repeal of the Union, and the establishment of an Irish Parliament to deal with Irish problems. Agrarian outrages, due to poverty, rack-rents, tithes, and general misery, were frequent. They had to be met by Coercion Acts, because they could not be met by ameliorative measures. A Municipal Reform Bill, on the lines of the English one, was introduced for Ireland ; the House of Lords threw it out. The eternal discussion on Irish tithes still dragged on · the House of Lords would not accept any proposal which decreased the revenues drawn from the Irish peasantry by the Church of Ireland, and it was only on this condition that, in 1839, a Tithe Commutation Act was at last passed. But nothing had yet been done to deal with the causes of the appalling misery in which the mass of the Irish people were sunk.

Accession of Queen Victoria.—Meanwhile, in 1837, William IV had died. He was succeeded by the young Princess Victoria,* eighteen years old. In the election which followed her accession, the strength of the Liberals was still further reduced ; and the ministry's existence was so precarious that it attempted to do nothing serious. The most valuable work of Melbourne was that of

* *Queen Victoria*, by Lytton Strachey, is a brilliant and penetrating biography.

teaching the young queen, who was devoted to him, the duties of a constitutional sovereign. This he did admirably: throughout her long reign of sixty-four years, Queen Victoria was the model of a constitutional monarch, and under her the conventions of the constitution were firmly established.

The Bedchamber Question.—In 1839, indeed, Melbourne's majority became so narrow that he resigned; but Peel, when called upon to form a ministry, offended the queen by insisting that the Whig Ladies of the Bedchamber, whom she knew, should be replaced by Tory ladies. On this paltry issue, Melbourne resumed office, and held it for two more years: long enough to see the happy marriage of his beloved young mistress (1840) to Prince Albert of Saxe-Coburg—an upright and dutiful man who helped to give to the British court a reputation for purity and simplicity which wiped out the memory of the Regency, and won the loyalty of the middle class.

Palmerston's Foreign Policy.—During the years of Melbourne's Government (1834—1841) the chief interest lay in the sphere of foreign politics, over which Palmerston exercised an almost unchecked sway. Two questions, both of great importance for the future, excited a great deal of attention. The first was the emergence of the Eastern Question, and of a growing fear of the designs of Russia on Constantinople. The second was the outbreak of trouble with China, and the forcing open of that ancient and exclusive empire.

Mehemet Ali.—After the successful revolt of the Greeks, the Turkish Empire seemed to be on the verge of dissolution. The Sultan had not even been able to fight the Greeks alone; he had had to call upon his powerful vassal, Mehemet Ali of Egypt, to supply him with a fleet and an army. Mehemet, who was a very vigorous despot, and had conquered the Sudan and attracted the attention of Europe, conceived the idea of enlarging his power at the expense of his suzerain. He had overrun Syria and threatened Constantinople. Thereupon Tsar Nicholas I of Russia had offered his protection to Turkey, and for a moment the Sultan, in desperation, had submitted (Treaty of Unkiar-Skelessi, 1833). Palmerston hated and feared Russia, both because the Tsar was the mainstay of reaction in Europe, and also because he was rapidly conquering Central Asia, and seemed to be threatening India: this fear of a Russian attack led to a foolish British adventure in Afghanistan, of which more will be said elsewhere. But it also led Palmerston to believe that it was necessary to strengthen Turkey as a barrier against Russia; and this idea governed British policy for a long time to come. He therefore did everything in his power to checkmate Russia, with a large degree of success. In 1833 Nicholas had to be content to see a common guardianship of Turkey by all the Powers substituted for the protectorate which he had hoped to establish. And in 1838, when a new war broke out between Turkey and Mehemet, who once more got the better of the struggle, Palmerston again succeeded in persuading the Powers to come to the aid of Turkey, and to order

Mehemet back into Egypt. This was, in its way, a great diplomatic success; and from that date British influence was dominant at Constantinople, and all sorts of schemes for reforming Turkish government were pressed forward. But Palmerston's success had one unfortunate result. It broke the friendship between Britain and France; for Mehemet Ali was a special protégé of France, and her disappointment at the way in which he was treated was so acute that for a time her relations with Britain were strained almost to breaking-point (1840). One incidental result of these events was that Britain annexed *Aden*, as a check to Mehemet, who had been making conquests in Arabia.

The "Opium War" in China.—The trouble in China was the direct consequence of the abolition of the East India Company's trading functions. China rigidly excluded the despised foreigner, but a limited trade was allowed under severe restrictions at Canton, where European traders bought tea, silks and porcelain in exchange for opium and other goods. The East India Company had obtained control of this trade: its agents did not mind submitting to the humiliations which the Mandarins exacted. But after the Act of 1833 a government agent took the place of the Company's agent. Representing the Crown, he could not submit to these humiliations, and he had no proper control over the private traders who now carried on the traffic. In 1796 the Chinese Government had prohibited the importation of opium, but the Mandarins themselves had defied the prohibition. Suddenly a vigorous Mandarin was sent down, who arrested all the British traders, and demanded that the stocks of opium should be handed over for destruction. They were handed over. But smuggling by private traders continued. Negotiations were impossible, because the Mandarins would not treat on equal terms. Finally, a wretched war broke out, not on the question of admitting opium, but on the question of respectful treatment for the king's representative. In reality it was a war against the exclusive policy of the Chinese. After two years of aimless fighting, it ended (1842) with a Treaty by which China agreed to open five "treaty-ports"* to European traders, and ceded the island of *Hong-Kong* to Britain. It was a sordid business, but it began the penetration of China by Western influences. All the European Powers hastened to take advantage of the treaty.

4. The Chartist Movement: First Phase

The slow and practical process of Liberal reform was not enough for the more ardent spirits who expressed the discontents of the working class, and during all the years from 1830 to 1840 a series of agitations, which sometimes appeared to be dangerous, disturbed the nation

Robert Owen and Socialism.—In the 'twenties the doctrine of Socialism had been developed by a series of writers and speakers, among whom the chief was Robert Owen; and it had obtained a

* See School Atlas, Plate 55*a*.

strong hold in many districts. For a time it was diverted by the agitation for the Reform Bill. But the provisions of the Bill did not go far enough, and the popular agitation soon revived. Since political action was too slow, Robert Owen conceived the idea of a universal national strike as a certain method of bringing down the existing order. In 1834 he started an organisation known as the Grand National Consolidated Trades Union, whose aim was to enrol the whole body of workers. Millions joined it; but it collapsed very quickly by its own inherent weakness. The Government made no attempt to prohibit it. But they prosecuted six Dorsetshire labourers, who had formed a lodge in the village of Tolpuddle, on a charge of sedition under an Act of 1797. The six labourers were sentenced to seven years' transportation, and were actually sent to Australia. They were pardoned two years later, but this monstrous deed completed the alienation of the working class from the Whig Government. When the Poor Law Reform Act of the same year came into effect, and its harsh results were felt, the conviction grew that the people had been betrayed by the "base, bloody and brutal Whigs," and that a much more drastic change than the Reform Act of 1832 was needed.

The People's Character—In 1836 and 1837 this conviction took shape in a demand for the immediate introduction of complete democracy. A *People's Charter* was drafted, in the first instance, by William Lovett, of the London Working Men's Association, which had been started in 1836; and it was taken up with enthusiasm in other parts of the country, notably in Birmingham, where the Birmingham Political Union was active, and in Leeds, where a fiery writer and orator, Feargus O'Connor, published a newspaper, *The Northern Star*, which became the organ of the Chartist movement. The Charter demanded universal suffrage, annual parliaments, secret ballot, equal electoral districts, the abolition of property qualifications, and the payment of members of Parliament. This was a purely political programme, every item of which (except annual Parliaments) has since become law without bringing about the millennium. But the Chartists were not aiming merely at political democracy, which they regarded as only a means to social reconstruction. The real character of the ideal which aroused for the Charter an intense and passionate enthusiasm* was, according to one of its advocates, "the right of every man to have his home, his hearth, and his happiness. Every working man in the land has a right to a good coat, a good hat, a good dinner, no more work than will keep him in health, and as much wages as will keep him in plenty"—an excellent aim, but, as we now know, universal suffrage does not automatically realise it.

The Chartist Movement.—From the first there was a sharp division between the majority who wanted to confine themselves to constitutional action, and a vigorous "Physical Force" minority, led by Feargus O'Connor, who insisted that nothing could be done

* Mrs. Gaskell's noval, *Mary Barton*, deals with these events.

save by a rising in force. The majority had their way. All through 1838 an extraordinarily active agitation was carried on throughout the country. The Government made no attempt to prevent it. "The people have a right to meet", said Lord John Russell. "If they had no grievances, common sense would put an end to their meetings." The result was that the discussion took place openly and above ground, instead of in secret conspiracies. Apart from some rioting at Birmingham in 1839, there was no disturbance of order. Troops were drafted to the danger-spots, but they were carefully kept in reserve. At length, in July 1839, a monster petition was presented to Parliament. It was discussed, and rejected.

Collapse of the Movement.—What were the Chartists to do now? There was an attempt to call a general strike, but it had no success. At Newport, in South Wales, some 3,000 armed Chartists attempted to release one of their leading orators who had been imprisoned, but they were easily dispersed, and, for a time, the agitation died down. It might have become very formidable if the methods of Sidmouth had been employed.

5. Industrial Development of the 'Thirties

The worst of the distresses from which Chartism sprang were to be alleviated, in part, by the working of the new laws we have described, but these could only operate gradually. Meanwhile, the development of the Industrial Revolution, which was going on more rapidly than ever, was bringing about an increase of wealth, which would make better conditions possible; although, in the meantime, it was inflicting real sufferings upon certain sections of the community.

The Textile Trades.—In the textile trades, in which the Industrial Revolution began, the main feature of the period—apart from the perpetual improvement of spinning machinery, and the general adoption of steam instead of water power to drive it—was the conquest of the weaving branch of the industry by machinery. Owing to the necessity of a great variety of patterns, the power-loom had at first been applied only to the simpler stuffs, and the hand-loom weavers still held their own in all other branches. A series of inventions enabled the power-loom, during this period, to be used for the most complicated patterns. The result was that the hand-loom weavers were crushed out of existence. They put up a long struggle, and suffered acutely; but in the end they had to yield, and become, like the spinners, operatives in great factories. There was loss in this process, but there were also gains. Not only were prices reduced and output expanded, but the workers themselves, if they lost independence, gained in improved conditions of work, especially when the Factory acts were extended; moreover, it was now easier for them to combine, and their Trade Unions, now legal, were able by negotiation with the employers to obtain better conditions.

The Metal Trades.—In the metal trades the new methods of large-scale production were becoming increasingly dominant. In particular, the engineering trade, which made all the machines,

was growing with extraordinary rapidity, especially since the withdrawal of the prohibition to export machines in 1825. Engineering was rapidly becoming the key-industry of the modern world. And because of its demands, the iron and steel industry was also growing rapidly; and coal-mining, upon which all the rest depended, was increasing the number of its employees very quickly.

Improving Conditions.—In all these trades the supremacy of Britain over the rest of the world was still overwhelming. It was only in the 'forties that the Industrial Revolution began to take root in other countries—first in Belgium, then in France and Germany. Consequently the volume of available employment was growing very swiftly. It was beginning to outpace the growth of population, though that was very swift, rising from 10,000,000 (for England and Wales) in 1811 to 18,000,000 in 1851 And as employment increased, the level of wages rose. It was rising steadily (apart from occasional set-back) all through these years, in spite of the weakness of the Trade Unions, which still included only a small fraction of the working population.

The Railways.—But the great revolution of these years, and the chief cause of improving conditions, was the application of machinery to transport—the coming of the steamboat and the railway. The steamboat began first (in 1812), but developed the more slowly, because of the difficulty of carrying enough coal; yet by 1840 the first "liners" were plying across the Atlantic. But the development of the railways was extraordinarily swift. In 1825 a railway between Stockton and Darlington was opened, and in 1830 one between Liverpool and Manchester. During the next few years progress went on at a furious rate: engines were rapidly improved, and lines were laid in every part of the country. By 1837 the main features of railway system were already blocked out; by 1851 6,500 miles of railway track had been laid, and the railway had already become the principal means of communication. The vast labours of construction, which employed about 200,000 men, greatly diminished unemployment; the manufacture of rails, engines, and a thousand other necessities, employed many thousands more; and the wages of all these workers, spent on food and clothing stimulated all the other industries. It was the great effort of railway, construction which lifted Britain out of the bog of unemployment And its results were a great increase of the nation's wealth, and an immense reduction in the cost of transport, and therefore of all commodities.

These were the main causes of the marked contrast between the miseries of 1821 or 1831, and the self-complacent prosperity of 1851, when the Great Exhibition was opened, and when all the turmoils of the previous period had died away.

CHAPTER XLII

RECONSTRUCTION IN THE EMPIRE

1. New Ideas on Imperial Policy

If the British people were recasting their institutions, and making a fresh start, at home, this is even more true of the British Empire, in which the changes that took place during the years from 1830 to 1840 were so great that they may fairly be described as a revolution in the character and organisation of the Empire.

The Radical Imperialists.—These changes were mainly due to the ideas that were now dominant in the mother-country. But they were especially influenced by two groups of men In the wide lands under British control which were suited for white settlement, the new policy was mainly due to a group of colonial reformers, who may be called the Radical Imperialists, and who were able to influence the policy of government. The chief inspirer of this group was Edward Gibbon Wakefield, with whom were closely associated Lord Durham (the "Radical Jack" of the Reform Bill), Sir William Molesworth, who later became a Liberal Cabinet minister, and a number of others : they founded a Colonisation Society in 1830, and were extremely active in the 'thirties and 'forties. Their main ideas were two. In the first place, they strongly believed in colonial self-government, which most Conservatives were inclined to resist as tending towards the disruption of the Empire. In the second place, they advocated "systematic colonisation," as a means both of peopling empty lands and of relieving distress at home ; and they worked out a scheme for forwarding it by using the money derived from the sale of colonial lands to defray the cost of assisted emigration by carefully selected emigrants. The peopling of Australia and New Zealand, and the growth of self-governing institutions in the "white" colonies were largely due to their influence.

The Missionaries.—The second influential group consisted of the friends of missionary and philanthropic work. They had a dominant influence at the Colonial Office, where both the Colonial Secretary, Lord Glenelg, and the Permanent Under-Secretary, Sir James Stephen, were convinced adherents of this school. Their chief concern was for the protection of backward peoples. For that reason they were opposed to the extension of self-government in those countries where the backward peoples were very numerous, because this would involve the ascendancy of their white masters. They were mainly responsible for the adoption of the view that it should be the primary duty of the Home Government to protect the native races. Their influence was to be seen in the emancipation of the slaves, in the India Act of 1833, and in the policy adopted by the British Government in South Africa.

Between them, these two bodies of opinion exercised a profound influence upon imperial policy, and transformed in a very short time the character of the British Empire.

2. CANADA : THE DURHAM REPORT

Friction in Canada:—The most remarkable development fo this period was in Canada, the senior group of British colonies, and the most populous.* The system established by Pitt's Canada Act of 1791 was not working well. There was sharp friction between the French and the English settlers in Quebec, and racial feeling had reached a high pitch of bitterness. But there was also dangerous friction in all the colonies, British as well as French, between the Governors with their nominated Councils who controlled the executive Government, and the representative assemblies which controlled legislation and taxation. This state of friction was gravely impeding the development of Canada. As in the American colonies before the American Revolution, it was making efficient government very difficult · the assemblies were refusing the money needed by the administration, because they had no control over it ; and a second colonial revolt seemed probable.

The Rebellion of 1837.—Indeed, it actually broke out in 1837. There was a revolt of the French Canadians, under Louis Papineau ; another revolt of the discontented English settlers in Ontario, who at one moment brought in help from the United States ; and though there was no actual rising, the position was almost equally strained in the maritime colonies, especially Nova Scotia. The old British colonial system, of a nominated executive and an elected assembly, was in fact breaking down.

The Durham Report.—The revolts were crushed without difficulty, but the situation was so serious that Melbourne government decided to send out Lord Durham to report on it (1838). Durham took out with him his friends of the Colonisation Society, Wakefield and Charles Buller. Durham acted high-handedly in banishing the leaders of the late revolt to the Bermuda Islands, and for this he was recalled in disgrace. But after his recall he presented a Report on Canada (1839) which was in itself an act of the highest statesmanship. It placed the problems of colonial government in a new light, and laid down the principles which were henceforward to govern British colonial policy in all the "white men's" colonies. It made a very searching examination of the situation in Canada, and urged that the only solution lay in making the colonists, French and English alike, feel that they were responsible for the destiny of their country by giving them full responsibility for its government. Durham was bitterly criticised at the time on the ground that his policy involved colonial independence and the dismemberment of the Empire. But he was an enthusiastic believer in the Empire ; he believed that it was only in freedom that it could hold together ; and subsequent history has shown that he was right.

The Canada Act.—The result of Durham's report was the Canada Act, passed by the Melbourne government in its last year of precarious office (1840), which united Upper and Lower Canada in a single colony, and endowed it with a two-chamber legislature. But the decisive step of making the executive responsible to the

* School Atlas, Plate 51.

legislature was not yet taken. The Duke of Wellington, whose party came into power in the next year, declared that "local responsible government and the sovereignty of Great Britain are completely incompatible" ; and it was not until another Liberal Government returned to power in 1846 that full responsible government was established Nevertheless, the principle had been definitely laid down in Durham's great Report, which is one of the classics of colonial government.

3. Australia and New Zealand : Systematic Colonisation

Systematic Colonisation.—In two ways the decade 1830-1840 marked a fresh start in the development of Australia. In the first place a great part of the interior was revealed by the journeys of a number of intrepid explorers.* In the second place systematic colonisation began on a large scale, largely on the Wakefield system. The number of free immigrants, which had been usually less than 1,000 a year in the 'twenties, rose to 14,000 in 1838 and 32,000 in 1841. This could not have happened—in view of the length and cost of the journey—unless there had been a scheme of assisted emigration. In 1831 the Colonial Office adopted Wakefield's plan and ordered that land should be sold instead of being given away, and that the money should be used to bring out emigrants and settle them Under this system *Victoria*, to which convicts were never admitted, received a large inrush of immigrants : it was organised as a separate colony in 1835 *South Australia*, which also received no convicts, was started as a colony in 1836, on Wakefield's plan ; and although it was badly managed at first, a great administrator, Sir George Grey,† who was sent out in 1841, soon pulled it round.

Transportation Abolished.—The contrast between the growing prosperity of these new free colonies and the relative stagnation of the older convict settlements of New South Wales and Tasmania made it clear that the presence of the convicts was an obstacle to progress. Accordingly, in 1837, a parliamentary committee under Sir William Molesworth (another of the colonial reformers) recommended that transportation should be abolished. It was abolished in New South Wales in 1840, with the result of an immediate increase of the better type of immigrants. Thus Australia, after a very unpromising beginning, had made a fair start on the way to prosperity.

New Zealand.—Meanwhile, a beginning had been made with the colonisation of New Zealand.‡ Since Captain Cook's discovery of the islands in 1769, they had been left to themselves. But a drift of traders, escaped convicts and runaway sailors had found their way to the North Island, where they lived among the Maoris. Then,

* For the exploration of Australia, see School Atlas Plate 55*b*.

† Sir George Grey played a very important part not only in Australia but in New Zealand and South Africa. There is a good Life of him by G.C. Henderson.

‡ See School Atlas, Plate 55*c*.

from 1814 onwards, the ever-active missionaries had planted stations in New Zealand, and had won great influence among the Maoris. Their view was that the Maoris should be left to themselves, under missionary influence. But it was unreasonable that these fertile and beautiful lands should be left almost empty, for there were only about 100,000 Maoris.

First Settlement and Annexation.—Wakefield had fixed his eye upon New Zealand, as an eminently favourable field for colonisation In 1839 he started a New Zealand Company, to carry out his plans ; and the first party of 1,300 settlers, carefully selected were promptly sent out. But they got themselves into difficulties with the missionaries and the Maoris. In order to ensure that justice was done, Captain Hobson was sent out in 1840 by the British Government to annex the islands and to act as lieutenant-governor. He promptly concluded a treaty with the Maori chiefs, whereby, in return for the recognition of British sovereignty, they were guaranteed full possession of their lands. Thus began the history of the youngest of this British dominions. Here the two influences in colonial policy—the systematic colonisers and the missionaries—met, and to some extent clashed ; and from this troubles were to arise in the next period.

4. South Africa : the Great Trek

Boers and Britons.—In the history of South Africa the decade 1830—1840 was a period of momentous importance ; it saw the beginning of that unhappy clash between Boer and Briton which was to embitter its history for three-quarters of a century. The main cause was a difference of view as to how the natives should be treated. The Boers had always employed the natives as slaves, and still held the same ideas on that head which every Englishman had held in the seventeenth century. The English came to this new land full of the new ideas of humanitarianism, bringing with them missionaries whose work lay among the natives, and who took up the cause of their flocks with a sometimes excessive zeal.

The Kaffir Wars.—Not only had the Boers always employed natives as slaves, but those of them who had gone farthest afield lived in dread of the warlike and aggressive Kaffirs, the advance-guard of the formidable Bantu race, who had long been pressing southwards from Central Africa. There had already been four Kaffir wars before the British occupation of South Africa,* and there were two dangerous Kaffir raids in 1812 and 1819. The Boers, therefore, were in no mood for sentimentalism about the natives. On the other hand, the missionaries sent home exaggerated pictures of the way in which the natives were treated by the Boers.

Growing Friction.—Trouble on this question had begun as early as 1815, when a farmer at Schlachter's Nek refused to attend a court on a summons obtained by a Hottentot, and there was a little

* See School Atlas, 56*b*

rising in his support. But two events of 1834 strained the relations between the Boers and the British Governments to the breaking-point. The first was the emancipation of the slaves, and the fact that the compensation paid in South Africa was less than half of the estimated value of the slaves. The second was a very serious Kaffir raid, which inflicted a vast amount of damage. The able governor, D'Urban, beat back the raiders, and annexed part of their territory (1835); but he was overridden and recalled by the Colonial Secretary, who attributed the invasion to the "systematic injustice" from which he believed that the Kaffirs suffered. This ended the patience of the Boers; and the more enterprising among them resolved to go into the wilderness rather than remain subject to a Government so unsympathetic.

The Great Trek.—The "Great Trek," which began in 1836, and affected perhaps 16,000 of the Boer farmers, was one of the most romantic events in modern history. Crossing the Orange River in their tented wagons, the trekkers moved into the north of what is now the Orange Free State. There they routed the terrible host of the Matabili king, Mosilikatze (1837), and started a little republic of their own. Some of them pressed on into the Transvaal,
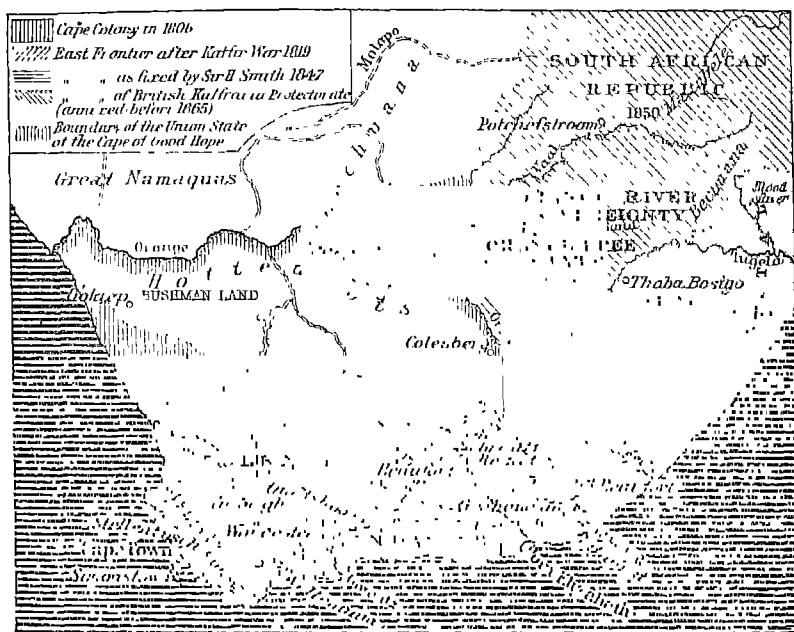
Fig. 37.—South Africa and the Great Trek.

which they occupied. In 1838 a party of them came down through the Drakensberg mountains into the empty land of Natal, which had been devastated by the fierce warrior tribe of the Zulus. Here, at *Weenen*, some of them were massacred; whereupon they attacked

the formidable Zulu empire, broke its army at *Blood River* (1838), and enthroned a new Zulu king. In three years these farmers had carved out for themselves an empire.

A Difficult Problem.—This was the first result of the emancipation of the slaves, and of the adoption of the policy of protecting the rights of native races. The British Government watched these events with perplexity. Could the Boers safely be left to stir up the natives in this dangerous way, and to "oppress" them? On the other hand, was it wise or just to force them back under an authority which they repudiated? These were questions for the future.

In its first stages, the new colonial policy was thus raising difficulties as well as solving them. But whether in Canada, Australia, New Zealand or South Africa, it is clear that the years which followed the Reform Act in Britain were a period of new beginnings.

5. Reorganisation in India

An Era of Peace and Reform.—From the end of the First Burmese War in 1826 to the outbreak of the First Afghan War in 1841 there was an interval of unbroken peace in India and on its borders—probably the longest period of unbroken peace that India had ever enjoyed. The India Act of 1833 (p. 443) came in the middle of it. The first Governor-General under the Act* was Lord William Cavendish-Bentinck, who had already held office since 1828. His reign is pre-eminently known as a period of reform, and much of this reform was due to the requirements of the Act.

The Indian Code.—Hitherto the three Presidencies of Calcutta, Bombay, and Madras had, under the general supervision of the Governor-General, maintained their own systems of law. The Act laid it down that a single uniform code of law for all British India should be drawn up, "due regard being had to the peculiar usages of the people"; and a Legal Member of the Governor-General's Council was appointed for this purpose. The first Legal Member was Macaulay, † the historian, and to him fell the immense work of supervising the preparation of the code.

Macaulay's Minute.—Macaulay also played the leading part in another change of even greater importance. Since 1813 the Government had devoted funds to the encouragement of education; but these had been mainly given to the Oriental schools of learning, whose teching was conducted in the ancient classical tongues, Sanskrit and Arabic. More recently, however, several schools of Western learning had been opened, by the missionaries and others, and many held that the Government funds should be devoted to them. A long controversy had raged on the subject. Macaulay, as Chair-

---

* He was indeed the first Governor-General of India; for until the title was altered by this Act, it had been "Governor-General of Fort William in Bengal." There is a short Life of Bentinck in the Rulers of India Series

† Sir George Trevelyan's *Life of Macaulay* is one of the best biographies in the language.

man of the Committee on Education, drew up a famous Minute, which fixed the future policy of government, and in which he urged that the great need of India was the extension of Western knowledge, and that teaching should be given in English rather than in Sanskrit and Arabic : teaching in the spoken languages being impossible, partly because there were 147 of them, partly because they were not sufficiently developed to express the ideas of Western science.

Western Education.—The development of Western education was further encouraged by the freedom of entry to India which the Act gave to Europeans : they had hitherto been kept out lest they should disturb or exploit the Indians. Now many missionaries came in. They devoted themselves largely to teaching, founding schools and colleges ; and their work was supplemented by the establishment of a number of Government schools and colleges. All this involved a change of momentous importance. Hitherto the British power had been content to give peace and order to India, and had scrupulously avoided any attempt to modify her ancient ways of life. Now the influence of Western ideas was being introduced and fostered. This has done more than anything else to determine the modern development of India, whose educated classes have been trained in English and impregnated with Western ideas.

Social Reforms.—Bentinck also attacked certain Indian usages, repugnant to Western ideas, with which previous governors had never dared to meddle for fear of outraging Indian susceptibilities. The most important of these was the practice of *Sati* or *Suttee*—the burning of widows on the funeral pyres of their husbands. *Sati* was made illegal. A systematic campaign was also organised against the *Thugs*, who practised organised murder and robbery on the pretext of making sacrifice to the Goddess of Destruction. Again, Bentinck took over the government of two Indian States, Coorg and Mysore, on the ground that they were being misgoverned, a step for which there was no precedent ; and the supervision over native States was made much closer. The British Government was assuming responsibility for the maintenance not only of peace but of good government throughout India.

In short, in India, as in the colonies, a new outlook and new conceptions of government came into being in these years. They were a direct result of the change that was taking place in Britain.

At the end of the period (1839) the government of India was involved in an unfortunate adventure in Afghanistan. But as this did not mature until later, and as it was the beginning of a new period of conquest, it had best be left until a later chapter (p. 469).

CHAPTER XLIII

THE SECOND STAGE OF RECONSTRUCTION (1841—1852)

1. Sir Robert Peel and Free Trade (1841—1846)

Sir Robert Peel.—In 1841 Sir Robert Peel* came to power with a solid Conservative majority. Peel was in some respects the most typical statesman of the early nineteenth century, for his career reflected the change that was passing over the country. The son of a Lancashire cotton manufacturer, he had been educated at Harrow and Oxford. He thus linked, in his own person, the old tradition with the new. All his manhood had been spent in politics, and most of it in office. In many spheres he had shown himself a man of great practical capacity, and he had no rival as a parliamentarian. He was not a theorist, and he never looked far ahead ; but he was honest, upright, loyal to facts, and not ashamed to change his mind. His action on Catholic Emancipation, which had shattered the old Tory party, had shown both his weakness and his strength—he had failed to foresee the inevitable, but he had frankly accepted it when it came. In the same way, he had opposed parliamentary reform as long as possible ; but when it was carried he had seen that it must be followed by other changes. He was never in advance of public opinion ; but he could learn from events. He had educated his party out of Toryism and into Conservatism, and made it take a share in the work of reform. Soon he was to shatter it once more, as a result of the last and greatest of his conversions . he came into office as an avowed Protectionist, and he established Free Trade.

Peel as Prime Minister.—Peel's practical capacity was shown in the skill with which he managed his Cabinet. It has been said that under him the cabinet system reached its perfection. His Cabinet was a team, whose captain was fully in touch with the work of every department, whereas most Prime Ministers have been predominantly interested in one aspect of public affairs. He was a great administrator rather than a great reformer. Most of his measures dealt with practical and immediate issues raised by public agitations which forced the Government to take action. He came to power at a moment when great agitations were afoot, and they determined the lines of his policy.

O'Connell and Repeal.—In Ireland trouble was clearly brewing. The younger generation, tired of O'Connell's strictly constitutional policy, which had produced so little result, were preparing for more drastic action. They called themselves Young Ireland, and were in touch with the revolutionary movements on the Continent which were to bring about an epidemic of revolution in 1848. O'Connell, eager to regain his leadership, had started a vigorous agitation for the repeal of the Union. In 1840 he had

* There is a short Life of Peel by J R. Thursfield (Twelve English Statesmen), and an essay by Sir Richard Lodge in Hearnshaw's *Prime Ministers of the Nineteenth Century.*

founded a Repeal Association, and was raising from the peasantry a "repeal rent" like the earlier "Catholic rent" (p. 433). He was addressing great meetings, and promised that 1843 should be the "year of repeal." When 1843 came, a gigantic meeting was to be held at Clontarf. Peel prohibited the meeting, and sent troops to prevent it. Always eager to avoid violence, O'Connell declared the meeting cancelled. In spite of this, he was tried and sentenced for sedition. The House of Lords quashed the sentence. But this failure killed O'Connell's influence. "Young Ireland" resolved henceforward to abandon the constitutional methods to which O'Connell had clung.

Irish Reforms.—Peel's Irish policy was not, however, merely one of repression. He appointed a Commission (the Devon Commission) to inquire into the causes of Irish unrest. Its report for the first time pointed to the evils of the land system as the principal cause; but when Peel made a very modest attempt to carry out some of its recommendations, his proposals were rejected by the House of Lords. He tried to placate the Catholic priests by making a grant to the Catholic seminary of Maynooth. And, as the only Irish University was confined to Anglicans, he found public money to start modest colleges at Belfast, Cork and Galway. These were the first exchequer grants for university education. But they did little good in Ireland, because few Irish Catholics were willing to go to what were called "godless colleges." In any case these measures did nothing to remedy the worst evils of Ireland—the rack-renting of the land, and the grinding penury of the peasantry. These were cruelly shown when, in 1845 and 1846, the potato crop failed. A terrible famine followed. Thousands died of starvation The result of the famine, and of the wholesale emigration which was its sequel, was that the population of Ireland fell from 8,300,000 in 1845 to 6,600,000 in 1851. This was a grim comment on the failure to find any remedy for the economic distress of Ireland

The Chartists Again.—Meanwhile, in England the agitation for the People's Charter had recommenced. After the failure of 1839 (p. 449) a National Charter Association had been founded. The old enthusiasm was reawakened, and in 1842 a second petition, with over 3,000,000 signatures, was presented to Parliament. Again it was rejected. Thereupon a general strike was called, and there was some talk of rebellion. But there was little response to the strike call, and no rebellion. Unlike the Melbourne government in 1839, Peel took strong measures of repression: some 1,500 arrests were made, 500 men were sent to prison, and 79 were transported. These sentences were probably unnecessary.

Cobden and the Anti-Corn Law League.—Far more important and far more successful than the Chartist movement was an agitation for the repeal of the Corn Laws, which had been started at Manchester in 1839. The Anti-Corn Law League was supported by large funds, subscribed mainly by the manufacturers of Lancashire and Yorkshire; and it carried on, for eight years, by meetings and pamphlets, the most systematic campaign that had yet been seen in

Britain or any other country. Its leaders were two very remarkable men: Richard Cobden, a Manchester cotton printer, who has never been surpassed in the power of cogent argument; and John Bright a Rochdale manufacturer, who was to prove himself the noblest English orator of the century. Although their attack was primarily directed against the Corn Laws, they denounced all protective duties, and demanded the establishment of complete freedom of trade as the surest means of curing economic ills. They argued that if taxes on imports were withdrawn, not only would the cost of living be reduced, but the manufacturers would be able to produce their goods more cheaply, since they would get all their requirements at the lowest prise. They argued that, since all imports must be paid for by exports, the exclusion of imports must be bad for export trade. If foreign corn were allowed to come in free of duty, British manufactures would have to be sent out to pay for it; and thus the cost of living of the worker would be reduced, and the amount of work available for him would be increased, at the same time.

Peel's Budgets.—The Free Trade agitation produced so great an effect that it alarmed the landowning class. They looked to Peel to protect their interests. Peel was indeed pledged to maintain the Corn Laws. But he saw that they were working badly. Various modifications had been tried, notably a sliding-scale of duties, introduced in 1828; but they had all had unexpected and unfortunate results. Peel tried a reduced scale of duties, but this satisfied neither the landlords nor the Free Traders. On the general free-trade case, however, Peel was gradually converted by the Manchester apostles. In the Budget of 1842, although he was faced by a deficit, he boldly abolished the duties on about four hundred articles, and greatly reduced them on as many more, imposing an income tax to make up the deficiency. Three years' experience showed that the lower duties actually gave a better yield, because lower prices led to bigger sales. In the Budget of 1845, therefore, he made still larger reductions.

Disraeli and "Young England."—Peel's progress towards free trade aroused many misgivings among his followers. There was a group of romantic young Tories who called themselves "Young England," and drew their inspiration from a brilliant Jew, Benjamin Disraeli. They were alive to the miseries of industrial England, which their leader vividly portrayed in his novel *Sybil*; they believed that these miseries were due to the hard materialism of the manufacturers, whom they despised; and they dreamed of restoring the leadership of the aristocracy by taking up the cause of the suffering factory workers, and stimulating the nationalist spirit of England. To them the doctrine of free trade seemed to be conceived solely in the interests of the manufacturers. They thought it a bagman's creed. They feared that Peel was about to betray them by going over to the manufacturers.

Repeal of the Corn Laws.—Soon their fears were justified. The failure of the Irish potato crop in 1845 completed Peel's conversion. It seemed monstrous to tax foreign corn when thousands were on the verge of starvation. Peel told his Cabinet that the Corn

Laws would have to go, and that if they went they would never be restored. This broke up the Cabinet, and split the Conservative party. Peel resigned. But as Lord John Russell could not form a government, he had to resume office (January 1846) with a reconstituted Cabinet. He carried the repeal of the Corn Laws with Liberal support, against the angry denunciations of his followers, led by Lord George Bentinck and Benjamin Disraeli.

Fall of Peel.—A month later he was turned out of office by the votes of his angry followers, and the Conservative party, so recently reconstituted, was shattered once more. The establishment of Free Trade completed the series of great changes which had been made since 1830. It led to a very rapid increase of British trade, and to a decrease of unemployment and distress; because British manufacturing supremacy was so overwhelming that the removal of trade barriers was bound to increase it. Hence the adoption of the new fiscal system, combined with the social reforms already carried out, brought to an end the thirty years of acute distress and readiness for revolution which had followed Waterloo.

Bank Act and Railways Act.—This was, beyond question, the most important achievement of Peel's ministry. But it did not stand alone. In 1844 Peel had carried a *Bank Act*, which defined the principles of British banking, and by so doing contributed to the country's prosperity. In the same year a *Railways Act* defined the relations of the State to the great railway monopolies. The responsibility for this Act fell to Peel's favourite disciple, William Ewart Gladstone,* a young man of immense earnestness and ability, who had been engrossed in religious questions until Peel, guessing at his capacity to handle economic problems, sent him to the Board of Trade. Gladstone was anxious to bring the railways under direct State control. Peel was not willing to go so far; but the Act which he accepted imposed upon the railways a very high degree of State regulation, and assumed for the State the power of fixing their rates and fares.

Mines and Factories.—Meanwhile, the great philanthropist, Lord Ashley (Shaftesbury), had stimulated still further interferences with the business-man's control over his own business. In 1840 Ashley had obtained the appointment of commission of inquiry into the conditions of work in the mines. Their report, published in 1842, revealed a hideous condition of things, which awakened the public conscience. Women and children were working underground, like beasts of burden, for thirteen or fourteen hours a day, often half naked. The *Mines Act* of 1842 forbade the employment underground of women or of boys under ten years old. In 1844 a new Factory Act, introduced by the Government, forbade the employment of children under nine in factories, limited the hours of older children, and required employers to take precautions against

* There is an abridgment, by G. F. G. Masterman, of Morley's great Life of Gladstone; and there is an essay on Gladstone by Ramsay Muir in Hearnshaw's *Prime Ministers of the 19th Century*.

accidents. This did not satisfy Ashley and the reformers. Supported by the Young England Tories and by many Liberals, he almost defeated the Government, though it was backed by Liberals of the Manchester school. On the question of State interference with the conditions of labour, both of the great political parties were deeply divided But experience showed that the enforcement of decent conditions was not bad for trade, and did not lead to a reduction of wages, as critics had feared ; it rather led to greater efficiency.

American Boundary Question.—In external affairs two questions of importance arose during Peel's tenure of power. One was the beginning of a new period of war and conquest in India, which will be discussed later (p. 468). The other was the settlement of two longstanding boundary disputes with the United States. The boundary of *Maine* had been disputed ever since 1783. In 1831 the United States had agreed to submit the question to arbitration but had refused to accept the award In 1842 this vexed question, was settled by the Ashburton Treaty,* though Canada was anything but satisfied with the decision Again, there had long been a dispute as to the boundary between Canada and the United States in the far west. In 1818 it had been agreed that the boundary should follow the forty-ninth parallel of latitude from the great Lakes to the Rocky Mountains. Beyond the Rocky Mountains, in the region which now includes British Columbia and the States of Washington and Oregon, there were both British and American settlers. The United States claimed the whole Pacific coast ; the British Government claimed that the River Columbia should be the boundary. Feeling ran high on this subject, and in 1840 the Americans were threatening war unless their claims were conceded in full. A rational settlement was reached in the Oregon Treaty of 1846, which took the forty-ninth parallel as the boundary as far as the Pacific Ocean.† Thus was fixed a boundary line 3,000 miles long—the only frontier in the world which is not guarded on either side by troops or by forts. Much of the credit for these peaceful adjustments belonged to Peel's cool and moderate Foreign Secretary, Lord Aberdeen, who prided himself upon avoiding the irritating and dictatorial methods of his predecessor Palmerston.

2. The Russell Government (1846—1852)

Russell's Government.—Peel's Government was succeeded by a Liberal Government under Lord John Russell, which lasted for six years. But the Liberals had not a majority. They depended upon the support of Peel's followers, between whom and the protectionist section of the Conservative party there was now a bitter cleavage. For that reason Russell was not able to undertake much controversial legislation ; and the chief interest of his Government lay in the realms of colonial and foreign policy. In domestic affairs its main achievements were the repeal of the Navigation Acts (1849),

* See the larger Atlas, Plate 69*e*.
† See School Atlas, Plate 51.

which was a logical consequence of the adoption of free trade ; a further extension of the Factory and Mines Acts, notably by the adoption of a Ten-hours' Act for textile factories in 1847 ; and the beginning of systematic attention to Public Health under the terms of the Public Health Act (1848).

Famine and Evictions in Ireland.—Ireland, however, continued to be a great source of difficulty. The worst phase of the potato famine came in 1846, after Peel's resignation. Relief funds were raised, and other measures were taken, to save the population from starvation, but the suffering was intense, many thousands died, and many thousands more passed out of the country to crowd the poorer quarters of English cities, or to seek new homes in America. They carried with them an unquenchable bitterness against Britain. When the famine was over, new horrors followed. The wretched cottiers were unable to pay their rents. They were evicted by thousands from their tiny holdings, which in many cases they had cleared and fenced by their own toil. These evictions brought about an ugly war between landlords and tenants. Agrarian outrages were incessant. The Government had to pass a Coercion Act for the maintenance of order ; but when they tried to obtain powers to control evictions and to secure compensation to the outgoing tenant for the improvements he had made, their proposals were thrown out. Nothing was done to tackle the evils from which all these troubles flowed.

The Rebellion of 1848.—The consequence was that the Young Ireland party turned to violence. They cannot be blamed : no country has ever passed through worse miseries than those of Ireland from 1845 to 1848. In 1848 the revolutionary spirit was abroad in Europe. Monarchies and powers were toppling in all directions ; and the Young Ireland leaders hoped to get help from the revolutionary leaders in France. They got none. But they organised a hopeless little rebellion with their own resources. It was crushed without difficulty ; its leaders were captured and transported. Thus, while the worst distresses of Britain were being gradually healed, no remedy had yet been found, or even seriously sought, for the yet deeper distresses of Ireland, which were the outcome of three centuries of mistaken policy.

End of the Chartist Movement.—The revolutionary spirit which was abroad in 1848 also stimulated a last attempt to reinvigorate the Chartist movement. Once more a huge petition was prepared, and arrangements were made for a monster meeting to accompany it in procession to Westminster. Government did not interfere with the meeting ; but it refused to allow the procession, and enrolled an army of special constables to guard against possible disorder. But no disorder occurred. The swollen petition was taken in three cabs to Westminster. The signatures were said to number 6,000,000. But it was discovered that a large proportion of them were frauds, and the ridicule aroused by this discovery snuffed out the guttering flame of Chartism. To the credit of the Government there were no prosecutions or imprisonments. Chartism was dead,

and needed no persecution : it had been killed by reviving trade and by social reforms.

Revolution in Europe.—The contrast between these ineffectual movements in Britain and Ireland and the tremendous upheavals which disturbed almost every part of Europe between 1848 and 1850 seemed to be a tribute to the work of reconstruction which had been carried out during the last eighteen years, and made Europe envious of the solidly founded liberty of Britain. The British people looked on with a sort of self-complacent sympathy at the revolutionary movements in France, Germany, Italy, and the Austrian Empire. Palmerston, once more in control at the Foreign Office, made himself detested by the governments of Europe by his restless attempts to help the Continental Liberals—especially when the tide turned against them in 1850 ; but he made himself very popular in Britain, and his popularity was the chief asset of an otherwise weak Government.

Grey's Colonial Policy.—The most important work of the Russell Government lay in the realm of colonial policy. Here alone it made an important contribution to the work of reconstruction ; it is not too much to say that Earl Grey, the Colonial Secretary of this Government, fixed the lines of British colonial policy. All the Dominions look back to his period of office as marking an important epoch in their development. Grey was apt to be stiff, dogmatic and unsympathetic, and he earned unpopularity by trying to force convicts upon some of the colonies. But he had clear ideas about colonial policy, and he carried them out.

Responsible Government in Canada.—One of his first acts was to instruct the governors of the Canadian colonies that their ministries must in future be drawn, as in Britain, from the party that had a majority in the legislature. This implied the full establishment of responsible government. The new system was put to a severe test in 1849, when the Canadian Government proposed to pay compensation to the rebels of 1837. The "Loyalists" were furious, and demanded that the Governor should veto the Bill. The Governor was Lord Elgin, a son-in-law of Lord Durham. In spite of riots he refused to interfere, on the ground that the Government must accept the responsibility for its own acts. This decision made responsible government in Canada a reality.

Self-government in Australia—In Australia Lord Grey strove to bring about a federation of the group of colonies ; but they were not yet ready for this step In 1850, however, a remarkable step was taken. The four colonies of New South Wales, Tasmania, South Australia and Victoria were endowed with single-chamber legislatures, and they were empowered to draft their own constitutions, subject to the approval of the Privy Council. The constitution drawn up under this Act were in all cases modelled on that of Britain, and they were confirmed by a British Act of 1855. Thus democratic and responsible self-government was established in Australia as in Canada.

Progress of New Zealand—The infant settlements of New Zealand had made great progress since the annexation of the islands

in 1840. There were now six distinct settlements, three in the North Island and three in the South Island.* They had been nurtured by Wakefield's New Zealand Company, which had organised admirably selected bands of emigrants. One of these (sent to Otago) consisted of Scottish settlers chosen by the Free Church of Scotland; another (sent to Canterbury) consisted of English settlers chosen by the Society for the Propagation of the Gospel. Under the wise guidance of Sir George Grey, who went out as Governor in 1845, difficulties with the Maoris about land had been overcome. By 1852, only twelve years after the first settlement, 30,000 settlers had been planted in New Zealand. The time had come for the New Zealand Company to wind up its work; and Lord Grey devised a federal democratic constitution for the six settlements, reserving to the Crown the control of relations with the Maoris, so as to protect them against unfair treatment.

Expansion in South Africa.—In South Africa the policy of the Government was more uncertain and wavering. It could not make up its mind what to do about the Boer "trekkers": it did not wish to extend its responsibilities, or to force its rule upon unwilling subjects; but, on the other hands, the Boers were causing trouble among the natives. It could not make up its mind what to do about the natives, whether to leave them alone or to bring them under control. In 1843, as the Boers in Natal were causing unrest among the Kaffirs, Sir Robert Peel's Government authorised the annexation of *Natal*, which was later to become the most English part of South Africa.† And at the same time treaties of protection were made with a series of native States on the north of Cape Colony, between the colony and the Boers. But this system of protected states did not work. In 1846, when Grey's administration began, a formidable Kaffir war broke out, while there was constant friction between the protected native States (which were badly governed) and the Boers of the Orange Free State. Grey sent out Sir Harry Smith, a vigorous veteran of the Peninsular War, to deal with the situation (1847). Smith decided that the only way to ensure peace was to bring the whole region under control. He therefore annexed British Kaffraria (between Cape Colony and Natal), extended the boundary of Cape Colony northwards to the Orange River (1847), and finally annexed the whole of the territory as far as the Vaal River, that is, the native protectorates and the Orange Free State. Some of the Boers resisted: they were beaten at *Boomplatz* (1848), and withdrew to the Transvaal. But the majority remained, quite content with British authority so long as the Government was dealing firmly (as Smith was doing) with the natives.

Change of Policy.—In 1850, however, a new Kaffir war broke out. It was the most formidable of the series. Grey came to the conclusion that Smith's policy did not bring peace, but involved a constant extension of territory. He was satisfied also that the

* See School Atlas, Plate 55*c*.
† See School Atlas, Plate 56*b*.

Boers wanted to be independent, and that they would be most likely to settle down quietly if they were left alone. He therefore decided to reverse Smith's policy, to be content with Cape Colony and Natal, and within these limits to establish the regular system of self-government. In 1852, therefore, Smith was recalled; the independence of the Boers beyond the Vaal (Transvaal) was recognised by the Sand River Convention; and two years later, after Grey had ceased to be Colonial Secretary, his policy was completed by the recognition of the independence of the Orange Free State (Bloemfontein Convention, 1854) and by the establishment in Cape Colony of representative institutions.

The result of this government's work was, therefore, that the Canadian and Australian colonies had been endowed with responsible government, while both New Zealand and South Africa were well on the way to the same system.

Palmerston and Don Pacifico.—The most powerful and popular member of the Russell Government was its high-spirited Foreign Secretay, Lord Palmerston. Though he was anything but a Radical, he had a genuine sympathy with Liberal movements everywhere, and under his direction the influence of Britain was everywhere used on that side. He kept foreign affairs very much in his own hands, and both the queen and the Prime Minister often complained that he made important decisions without consulting them Sober and conservative politicians such as his predecessor, Lord Aberdeen, and earnest pacifists like Cobden, deeply distrusted his often meddlesome and high-handed treatment of foreign affairs. In 1851 a concerted attack upon him was made by the Peelites, the Conservatives and the Cobdenite Radicals, on the ground of the way in which he had treated the Greek Government in what was known as the Don Pacifico case. The Greek Government had in Palmerston's view treated unfairly certain British subjects, including Don Pacifico, a Levantine Jew, and Palmerston, demanding immediate redress had threatened a blockade of the Greek coast. Against a formidable combination of all the ablest speakers in the House of Commons, Palmerston defended himself with such courage that he carried with him the majority of the House. He had become the most popular figure in British politics. But his autocratic conduct of foreign affairs became intolerable to his colleagues. In 1850 the queen had demanded that he should not send out dispatches until they were approved, or alter them after they were approved, as he sometimes did. In 1851, when Prince Napoleon, who had been elected President of the French Republic, carried a *coup d'état* which turned him into the all but irresponsible head of the State, Palmerston expressed his approval to the French ambassador, though he had been instructed by the Cabinet to preserve strict neutrality. Upon this his resignation was demanded, and he went out of office. He soon had his revenge, defeating the Government on a militia Bill, and forcing it to resign.

Political Confusion.—This episode not only ended Russell's Liberal Government, it produced a state of confusion in English

politics ; for now the Liberals as well as the Conservatives were split, and nobody could form a government which could command a majority in the House of Commons. The Conservatives under Lord Derby and Disraeli tried their hand. This ministry lasted for only a few months (February—December, 1852). But it lasted long enough to make it plain that even the Protectionist Conservatives dared not now interfere with the system of Free Trade under which the country was thriving. The deadlock was at length ended by the formation of a Peelite and Liberal coalition, under Lord Aberdeen, which was ultimately to lead to fusion of the two groups.

3. Religious Movements

Nineteenth-century Britain was deeply concerned about religious questions. The evangelical movement, which had been dominant in the early part of the century, had not only influenced the life of the people, it had profoundly affected both national and imperial policy. But after 1830 a new movement began within the English Church, which challenged not only some of the fundamental ideas of the evangelicals, but also the whole relation of Church and State as it had hitherto been conceived in England.

The Oxford Movement.—The founders of this movement were a group of earnest and scholarly young clergymen at Oxford—J.H. Newman, R.H. Froude, E.B. Pusey, John Keble, and others. They were shocked by the way in which reformers were laying sacrilegious hands upon the Church . in the first instance, their protest was against the whole Liberal movement, and the power over the life of the Church which it claimed for Parliament. They exalted the authority and tradition of the Church as against the authority of private interpretation of the Bible, and State-imposed formularies. They refused to think of the English Church as having had its beginning in the Reformation, and claimed that it had a continuous descent from the Church of the Fathers ; in short, their attitude was very like that of the Anglo-Catholics of the seventeenth century. They expounded their views in a series of "Tracts," whence they were often called "Tractarians." In the last of these, Tract Ninety, Newman strove to show that there was no essential incompatibility between the doctrines of the Church of England and those of the Church of Rome ; that they were two branches of one Catholic Church with a common tradition and inspiration.

Its Influence—The Tractarians had a profound influence, first in Oxford where many of the ablest of the rising men, like Gladstone, imbibed their ideas ; and gradually throughout the English Church Their influence was greatest among the clergy, especially perhaps because their teaching exalted the priestly office. In many ways it led to increased fervour and earnestness ; it led also to an added interest in the rites and cermonies. A conflict, often bitter, raged between the new school and the old. As the movement progressed, many of its members found it impossible to reconcile their opinions with continued membership of the State-controlled Church of England. Newman; the greatest leader of the movement,

went over to Rome in 1845, and many others followed him. Another secession followed a few years later, when in 1850 the Judicial Committee of the Privy Council undertook to decide whether the opinions of a clergymen named Gorham were or were not in accordance with the tenets of the Church of England This evidence of lay control drove Manning and others along the road which Newman had followed.

The Roman Catholics.—In this way, and for other reasons also, the Roman Catholic Church was steadily increasing its numbers and influence in England. In 1850 the Pope recognised this growth by appointing a series of bishops for England, with territorial titles. This aroused an outburst of the old anti-Roman sentiment, and in 1850 Lord John Russell tried to prohibit the Pope's plan by means of an Ecclesiastical Titles Act. There was a storm of controversy for a year. The Roman Church disregarded it, and the Act became a dead letter.

The Free Church of Soctland.—A controversy in some ways akin to that which was raised by the Oxford Tractarians also arose in scotland. Like the Tractarians, ardent Presbyterians refused to Submit to outside interference with the organisation of the Church. The General Assembly of the Scottish Church asserted the right of congregations to reject ministers appointed by lay patrons. The law-courts and the House of Lords, regarding the right of presentation as a form of property, upheld the right of the patrons. Thereupon the General Assembly repudiated the right of law-courts, or of any lay power, even Parliament itself, to meddle in spiritual matters. Rather than submit, half the clergy of Scotland left their parishes, manses and glebes. Within a year five hundred new churches had been built for them, and the Free Church of Scotland was at work in full vigour. The disruption of the Church of Scotland (1843) was a heroic act, which showed how sincere and strong was the religious life of the period.

4. The Conquest of North—Western India

The interval of peace which India had enjoyed between 1826 and 1839 was followed by a new period of war and conquest, extending almost without a break to 1856.*

The North-West Frontier.—Since 1818 the frontier of the British Indian empire had followed the line of the River Indus. Beyond this line lay three unsubdued powers. The region of Sind, on the Lower Indus, was occupied by a group of Mohammedan emirs. The wide and fertile plain of the Punjab—the country of the Upper Indus and its great tributaries—was ruled by the military power of the Sikhs, a religious sect who had extended their control over the Mohammedan and Hindu population. The great organiser of the Sikh empire, Ranjit Singh, who had employed European adventurers to train his army, was one of the ablest of Indian statesmen. Until his death in 1839 he was careful to maintain friendly

* See School Atlas, Plate 54.

relations with the British *raj* ; but it was doubtful whether his successors would be able to hold in check the formidable force he had built up. Beyond the Sikhs lay the wild Afghan tribes in their mountains, nearly always on bad terms with their neighbours in the plains.

The First Afghan War.—Russia had since 1815 been steadily engaged in the conquest of Central Asia.* In the time of Napoleon she had projected an advance upon India, and Palmerston believed that she still entertained this idea. When it was learnt that Russian agents had visited Kabul, the Afghan capital, and had been well received, these suspicions deepened. The Governor-General, Lord Auckland†—a friend of Palmerston—resolved that a friendly prince must be placed upon the throne of Afghanistan. He took up the cause of an exiled claimant. Shah Shuja, who had been excluded by a more vigorous prince, Dost Mohammed. The Sikhs and the Amirs of Sind were persuaded to give free passage for an army ; and
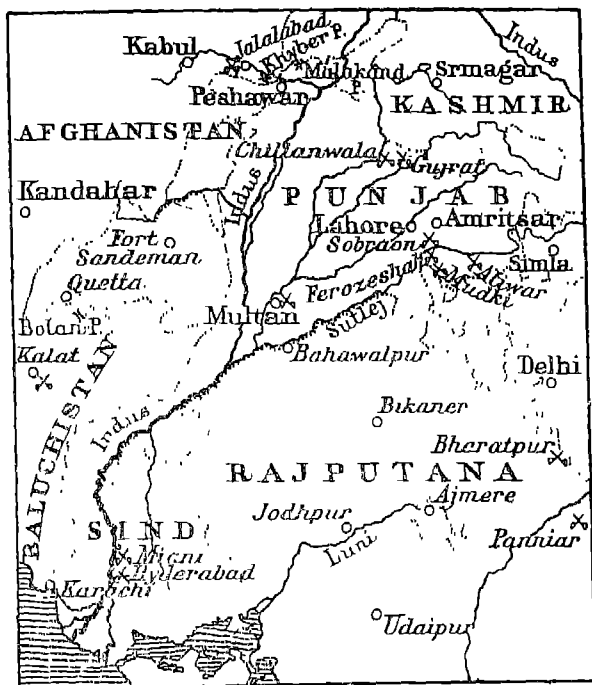
Fig. 38.—The North-West Frontier of India.

in 1839 Shah Shuja was enthroned at Kabul under the protection of a British army and a British resident. For a time the Afghans remained sullenly quiet. Then the army of occupation found that

* See School Atlas, Plate 55*a*.

† There is a short Life of Auckland by L. J. Trotter (Rulers of India).

it was isolated. The Resident, trying to negotiate for a retreat, was murdered (1841). The army had to attempt to fight its way back through very difficult country in the dead of winter. Before it could reach Jalalabad, where a British garrison held the mouth of the Khyber Pass, it was annihilated : the worst disaster that had ever befallen British arms in India.

Withdrawal.—Half the strength of the British in India rested upon the prestige of victory. This disaster had to be redeemed. Lord Ellenborough was sent out to perform this task Two armies marched against Kabul, the one by Kandahar, the other by the Khyber Pass (1842). Kabul was occupied, only to be evacuated as soon as the prisoners had been surrendered ; and Dost Mohammed was left to himself, as he ought to have been from the beginning.

Conquest of Sind.—But these events broke the tradition of British invincibility, and caused unrest throughout the north-west. In 1843 the unruly levies at Sind attacked the British residency at Hyderabad, This was used as an excuse for the annexation of Sind, after the Sindis had been defeated by Sir Charles Napier at *Miani.* The annexation was unnecessary. It was in part provoked by the desire to restore British prestige, and there was a double truth in the famous punning despatch whereby Napier announced his conquest—"Peccavi" (I have Sind), The new province was added to the Presidency of Bombay.

First Sikh War.—More serious was the effect upon the Sikh army, which had got out of hand since Ranjit Singh's death. It began to raid the British territory beyond the Sutlej ; and in December, 1845, it crossed the Sutlej in force, bent upon conquest and plunder. Sir Henry Hardinge,* an old soldier who had succeeded Ellenborough as Governor-General (1844), was ready for them. But the Indian army, under sir Hugh Gough, had harder fighting against the warlike Sikhs than they had yet had to face from any Indian State. Four fierce battles, at *Mudki*, at *Firozshah*, at *Aliwal*, and finally, the fiercest of all, at *Sobraon*, had to be fought (1846) ere the Sikhs would acknowledge themselves defeated. Their lands in the Punjab were not annexed, nor was their army disbanded. For a time the Punjab became a sort of protectorate, with Sir Henry Lawrence as British representative.

5. DALHOUSIE IN INDIA

Second Sikh War.—In 1848 Lord Dalhousie,† one of Peel's young men, came out to India as Hardinge's successor. He was one of the ablest and one of the most devoted in the long line of British rulers in India, deserving to rank with Warren Hastings and Wellesley. Before he had been in the country three months (April 1848), the Sikhs were once more up in arms. The rising started at *Multan*, where two British officers were murdered, and for some

* There is a short Life of Hardinge by his son (Rulers of India).
† There is a short Life of Dalhousie by Sir W. W. Hunter (Rulers of India).

months the skill and daring of a young officer, Herbert Edwardes, confined the trouble to that region. But by September the rising had spread over the whole of the Punjab. At the desperate battle of *Chillianwalla* (January 1849) the British army suffered heavier losses then in any previous Indian battle. But in the next month the Sikhs were completely defeated at *Gujerat*, which ended the war. No other Indian province had ever offered such fierce resistance

The Punjab Annexed.—After this second war, annexation was inevitable. The annexation of the rich and fertile land of the Punjab brought British India to its natural frontiers, the great mountain ranges of the north-west. Dalhousie set himself to make the province a model of good government; he drained the other provinces of their best men; and under the firm and able rule of John Lawrence* the province enjoyed so much prosperity that the Sikhs became reconciled to British supremacy. Their loyalty in the Mutiny, only eight years after their defeat, saved the situation.

Second Burmese War.—The Punjab was not Dalhousie's only conquest. In 1852, after many provocations, he was involved in the Second Burmese War. A brilliant campaign, planned beforehand in every detail, ended in the defeat of the Burmese, and the annexation of *Pegu* or Lower Burma—the delta of the Irrawaddy—with the great trading city of Rangoon.

The Doctrine of "Lapse."—Dalhousie was very able and honest man, devoured by a sense of responsibility, and of the magnitude of the task which Britain had undertaken in India. He was deeply impressed by the defects of the system of "subsidiary alliances" whereby the Company's power over the native princes had been secured, for, while these treaties guaranteed the princes' security, they left them free to misgovern their subjects. Impatient of injustice and inefficiency, he took the view that the native States ought to be brought under direct British rule as rapidly as their treaty rights permitted. In order to hasten the process, he consistently refused to allow the princes to adopt heirs when they had no sons; and laid down the doctrine that, in the absence of a natural heir, a dependent State must "lapse" to the suzerain power. Under the doctrine of lapse he annexed no less than eight States, covering an area of 150,000 square miles. The most important of these was the great Maratha State of Nagpore, which to-day forms the main part of the Central Provinces.

Annexation of Oudh.—Dalhousie's intolerance of misgovernment led him also, in 1854, to annex the State of Oudh, the Company's oldest ally. Unquestionably Oudh had been shockingly misgoverned. But its annexation, coming on the head of so many others, created a deep feeling of insecurity among the Indian princes, and was one of the causes of the Mutiny, which broke out the year after Dalhousie left India.

* There is a short Life of John Lawrence by Sir Charles Aitchison (Rulers of India).

Dalhousie's Reforming Work.—In the service of India Dalhousie spent himself and wore himself out. Not only did he labour incessantly to improve the administration in the old provinces as well as the new, he made it his aim to introduce the benefits of Western civilisation as rapidly as possible. He planned the railway system, and saw the first line opened ; he constructed the first telegraph lines ; he laid down great trunk roads, and constructed great irrigation canals ; he systematically explored the trade-resources of India, and developed new lines of trade ; he reconstructed old ports and harbours and opened new ones. During his period of office the exports and imports of the country were doubled But the unchanging East was made to feel that it was being hurried and hustled into new ways of life ; and this also had its share in making the Mutiny possible.

Completion of the Conquest of India.—Substantially the structure of the Indian empire was completed by Dalhousie, just a hundred years after the battle of Plassey, and just fifty years after Wellesley's recall. For the first time in all its long history the whole of India was now united under a single rule. Within its limits war had been wholly banished, and an equal justice was administered under known and published laws. At the same time the new wine of Western civilisation was being poured into the ancient wine-skins of Indian society. The completion of the conquest ends the first stage in the history of British India. The second stage—the permeation of Indian life by the ideas and metheds of the West—was just beginning. Even the beginning was causing unrest.

CHAPTER XLIV

THE ERA OF PALMERSTON (1852—1865)

1. Prosperity and Quiescence

An Era of Complacency.—In 1851 a great exhibition, held in a crystal palace erected in Hyde Park, celebrated the triumphs of British industry, and displayed to the world its unchallenged supremacy. Not only in Britain but in Europe, the revolutionary troubles of the first half of the century were now over, and there was a general hope that the Great Exhibition would mark the establishment of settled peace. This hope was disappointed : ere long there was to begin the first of a series of European wars which kept Europe in a state of disturbance until 1880. But in all these wars (after the first) Britain had no part. Except in the outlying parts of her empire, she enjoyed, from 1858 to 1880, unbroken peace and growing prosperity. Her internal troubles seemed to have come to an end. Wages were steadily rising, while the cost of living decreased ; and her working people seemed to be content. Her institutions were admired and imitated everywhere in the world. This was, therefore, a period of self-complacency, in which, for a time, reforming activity almost ceased.

Social Ills.—Not that there were not, in Britain, many evils that needed to be amended. The industrial towns were still ugly and unhealthy places, though the new municipalities were gradually improving them : in all of them there were revolting slums unfit for human habitation. The mass of the population was still sunk in ignorance, for the schools provided by the religious denominations could not accommodate half of the children. The hours of work were still far too long, and the conditions of labour were often cruelly hard. The great mass of working people had no prospect save a life of endless toil, and they had no protection against the distress due to sickness or unemployment save the harsh assistance of the Poor Law. But in all these respects a steady improvement was taking place—the working of the Factory Acts, the growth of collective bargaining through Trade Unions (though these were still small and weak), the steady rise in the level of wages, the steady fall in prices, all meant improvement ; and in these conditions the violent protests of the previous period died down.

Self-help.—This generation, indeed, was ready to believe that—since the old entrenched power of privileged classes had been overthrown—the natural working of economic forces would of itself bring about jutice and happiness ; and the steady rise of wages and fall of prices seemed to justify this view. It was not, men held, the business of the State to creat the conditions of well-being, but only to remove the obstacles which stood in the way of each man's pursuit of his own advantage. "Self-help" was the gospel of the time ; and the working people accepted this view equally with their employers

Co-operation.—Various working-class organisations were being created which were inspired by this idea. In 1844 the great co-operative movement had been started by a little group of workmen in Rochdale, who opened a modest store to supply their own needs, and arranged that the profits which would otherwise have gone to shopkeepers should be distributed amongst them, partly in dividends and bonus, partly in the provision of recreation and education. This movement was spreading rapidly in the manufacturing districts, and it gave to many working folk the chance of showing their powers of organisation and of working for a common cause. Numerous friendly societies were serving a similar function, and encouraging thrift.

National Trade Unionism.—Most important of all, the trade union movement was taking a new start. It was abandoning the revolutionary aims by which it had largely been governed down to the collapse of the Chartist movement in 1848. Hitherto trade unions had been little local clubs. In 1851 the first great national union—the Amalgamated Society of Engineers—was created by the combination of a large number of local clubs , and other trades followed suit. These powerful bodies were able to maintain a whole-time staff of skilled negotiators, who could deal with the employers on more equal terms , they were able also, out of their large funds, to pay substantial benefits to their members when they were ill or out

of work. Not wishing to waste their funds in disputes, they ceased to consider that their main job was to fight the employers, and aimed rather at getting improved conditions by steady negotiation, and by forcing the worse employers to keep up to the level of the best In this way the trade union movement was making steady progress; but it was mainly among the skilled workers that this new type of highly organised national unions throve; the mass of unskilled workers were still unprotected.

The Christian Socialists: Mill. Marx.—There were still groups of reformers who urged the need for great changes in the social order One of these was the group who called themselves Christian Socialists—F. D Maurice, Charles, Kingsley, and others. In their view, to work for a reorganisation of society was an essential part of Christianity. Kingsley wrote, in *Yeast* and *Alton Locke*, bitter indictments of the existing order. The Christian Socialists strove to set on foot co-operative industrial enterprises, in which groups of workmen should be their own employers; and in one or two trades they had a modest degree of success. Again, Disraeli and the Young England group were still preaching the ideas that Disraeli had put forth in his novel *Sybil*, in which he had drawn a picture of the division of England into the "two nations" of the rich and the poor, and suggested that the old nobility should take the lead in an attempt to fight the ugliness of industrialism; but no very definite results followed from this. Even the economist, John Stuart Mill, was deeply unhappy about the social condition of the country, and in his *Political Economy*, published in 1848, propounded ideas which departed widely from the ruling ideas of the time. And, since 1849, there had been living obscurely in London a man whose teachings were to exercise a profound influence in the future—an exiled German Jew named Karl Marx. His theory was that under the system which he called 'Capitalism" the rich must become fewer and richer and the poor more numerous and poorer. The theory was contradicted by the facts. But on it he based the doctrine that there must inevitably be a war between rich and poor, and that the 'proletariat" or wage-earning mass must establish their supremacy by revolutionary means.

Contentment.—None of these teachings, however, had much influence as yet either upon public opinion or upon Parliament and its work, except in so far as they helped to create a more humane feeling, and a great willingness to extend Factory Acts and other legislation of the same kind. Upon the whole, all classes in Britain were content, and believed that things were getting steadily better, that the British system was nearly perfect, and that no further sweeping changes were needed.

Literature—The early Victorian period was not only a time of great material prosperity, it was a time of great intellectual distinction. A very remarkable group of great writers had arisen since 1830; in poetry, Tennyson and Browning; in prose, Carlyle and Newman and Ruskin and Macaulay and John Stuart Mill; in fiction, Dickens and Thackeray and the Brontes and Disraeli and Trollope,

were all at the height of their powers. All of these great writers had been born during the Napoleonic wars: all had lived through the distresses of the following period and their work is deeply marked by its influence. Nearly all of them were dissatisfied with one or another aspect of their country's life; and Dickens, who was perhaps the greatest of them, did a great deal to arouse the anger of his generation against injustices and cruelties of many kinds. But nearly all of them were satisfied that Britain was making progress, and that her amended social and political system put into the people's hands the means of improving their own condition. Thus the Mid-Victorian age was, on the whole, an era of contentment, and this was reflected in a period of political quiescence that separated the reforming activity of the 'thirties and 'forties from the later era of change which followed

2. The Coalition and the Crimean War (1852—1856)

Gladstone's Finance.—In Lord Aberdeen's coalition ministry of Peelites and Liberals, which, took office in 1852, there were two outstanding personalities. The one was the brisk and high-spirited Lord Palmerston, who (though he now held the office of Home Secretary) was chiefly interested in pursuing a vigorous foreign policy of opposition to European despotism and especially to Russia. The other was Peel's great disciple, W E. Gladstone, who became Chancellor of the Exchequer, and hoped for a period of peace and retrenchment, in which the beneficent effects of trade expansion might be enjoyed to the full. In the Budget of 1853 Gladstone for the first time displayed his financial genius, sweeping away many duties and making another long step towards complete freedom of trade.

Russia and Turkey—But the interval of peace was not to last long; for Britain found herself drawn into a futile and unnecessary war with Russia. Russia had long wanted to extend her power over the European part of the Turkish Empire. She regarded herself as the protector of the Christian subjects of the Turk, and in that capacity had helped in the emancipation of the Greeks in 1829. She also wanted to get access to open water in the Mediterranean. At one time (1833) she had tried to establish a sort of protectorate over Turkey, but had been defeated by Palmerston's opposition (p. 446). In 1844, and again in 1853, she had urged upon British statesmen that Turkey was not only a reactionary but a decaying power, and had suggested that the best way of avoiding trouble was to arrange quietly for a partition of the Turkish Empire. These advances had been rejected. The generally accepted view in Britain (which was strongly held by Palmerston) was that Turkey must be upheld as bulwark against Russia; and that Turkey could be made to reform her methods of government.

Outbreak of War.—Meanwhile, a quarrel had arisen over the right to appoint priests to take charge of the Holy Places at Jerusalem. The Tsar claimed that Greek priests should be appointed. On the other hand, Napoleon III, who had just made himself

Emperor of the French by a *coup d'état*, and was anxious to win prestige, took up the cause of the Latin priests ; and the Sultan,
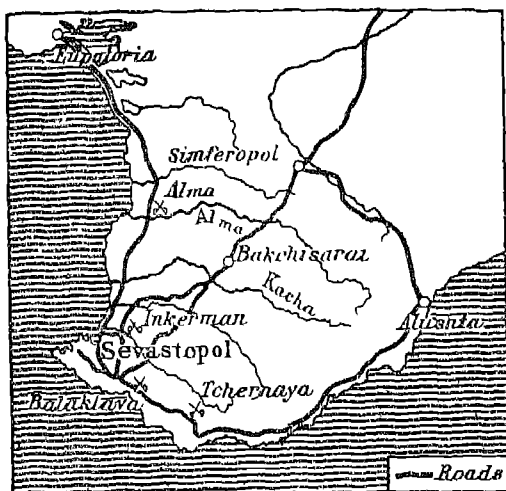
Fig. 39.—The Crimea.

anxious to win protectors against Russia, had rejected the Tsar's claim. Thereupon the Tsar put forward a claim to be recognised as the protector of all the Greek Christians in the Turkish Empire, and when the claim was rejected, sent armies to occupy "the Danubian provinces," *i.e.* Moldavia and Wallachia, the modern kingdom of Rumania. Upon this both France and Britain came to the protection of Turkey. In March 1854, war was declared against Russia, and a joint army was sent to Varna (on the Black Sea coast of Bulgaria) to aid the Turks in repelling the Russian aggression. The Tsar, who had failed to make any successful advance even against the Turks alone, withdrew his troops.

Invasion of Crimea.—Peace might now have been made. But the allies resolved to pursue the attack against Russia. A naval expedition was sent into the Baltic ; it bombarded the fortress of Cronstadt without producing any effect And a combined French and British force was sent to the Crimean peninsula,* where the Tsar was building a naval base at Sevastopol. If the attack had been promptly made, Sevastopol might have been seized before its fortifications could be completed. But there were long delays before the allied army was landed on the coast of the Crimea at Eupatoria (September 1854). It defeated a Russian army which attempted to resist its advance, in the battle of the *Alma*, in which the brunt was borne by the British troops. Then, instead of making a dash for Sevastopol (which was not prepared for defence), the allies settled down to besiege the fortress. They had to repel several attacks by Russian armies which were thrown into the peninsula.

* For the Crimean War, see the large Atlas, Plate 68*a* and *b*.

One of these was an attack on *Balaklava* (October), the British base : it was repelled after hard fighting, in which the daring but misdirected charge of the Light Brigade was the most famous episode. Another attempt to relieve the fortress was beaten back in the hard-fought "soldiers' battle" of *Inkerman* (November).

Fall of Aberdeen.—Then the besiegers had to settle down for the winter. The earlier events of the campaign had shown that, though British soldiers could fight as well as ever, the organisation of the army needed to be reconstructed ; and this was perhaps the most useful lesson of the war. The cruelties of the Russian winter showed that no adequate provision had been made for medical service or even for commissariat. By January 1855, more than half of the army was in hospital, under the most cruel conditions. This was the first war in which newspaper correspondents accompanied an army in the field ; and their revelations aroused such a storm of indignation at home that the Government was forced to resign. Lord Aberdeen and all the Peelites withdrew, and Lord Palmerston was called to power by the almost unanimous demand of the nation.

Florence Nightingale.—Palmerston undoubtedly put greater energy and vigour into the conduct of the war. But the amendment of the real evil had already been begun by Sidney Herbert, the Secretary for War, who had happily come into contact with a woman of genius, Florence Nightingale,* to whom he gave ample powers. Miss Nightingale became famous throughout Britain as "the Lady with the Lamp" tending the wounded soldiers. But she was far from being merely a gentle ministering angel. She had a genius for organisation ; and, backed by intense public feeling, she was able to begin the reorganisation of the whole medical service of the British Army, and especially the provision of skilled nursing. Later, taking advantage of the immense popularity she had won, she took in hand the system of nursing at home. Her life, which did not end until 1910, was mainly given to this work ; to this masterful lady, more than to any other single person, we owe the development of an efficient system of nursing in hospitals and in private homes.

End of the War.—Another long campaign had to be fought in 1855 before the fortress of Sevastopol was captured by assault in September of that year : and a final Russian attempt to relieve the siege had to be beaten off in the battle of the *Tchernaya* (August), in which the main part was played by the French, aided by a small force of Italians who had been sent by the King of Sardinia as a means of winning the friendship of France and Britain. Meanwhile, in the Caucasus, a Russian army had been besieging the Turkish fortress of *Kars*, whose long resistance was mainly due to three British officers ; Kars was straved into surrender in November 1855.

Results of the War.—This was the end of the war. After so many months, and so lavish an expenditure of lives and money, one Russian town was captured and one Turkish town was lost.

* There is a brilliant essay on Florence Nightingale by Lytton Strachey in *Eminent Victorians.*

Peace was concluded at Paris in 1856, when both towns were restored. The treaty decided that no naval vessels of any Power except Turkey should pass through the Bosphorus, and thus locked Russia into the Black Sea, which was declared to be neutral ; it was decided also that Sevastopol should be dismantled, and that Russia should keep no warships in the Black Sea. Fourteen years later, Russia repudiated these obligations Russia's claim to a protectorate over the Christian subjects of Turkey was also formally denied ; but twenty years later they were reasserted. The Sultan promised great reforms, which he never carried out Thus the Crimean War found no solution for the Eastern Question. The Powers seized the occassion of the Paris Conference to lay down new principles in regard to the conduct of war at sea, whereby Britain gave up a right which she had always asserted. The practice of privateering was prohibited ; and it was laid down that cargoes carried by neutral vessels, other than contraband, should be immune from seizure. These provisions, which had nothing to do with the Russian quarrel, were the only lasting results of the war, upon which so many lives and so much treasure had been squandered.

3. The Ascendancy of Palmerston (1856—1865)

Palmerston's Government.—The Crimean War left Palmerston at the height of his prestige, as the minister of victory. His popularity was immense When, in 1857, his high-handed dealings with China (below, p. 490) were challenged in Parliament, and he was defeated, he appealed to the country, and returned with a greately increased majority. With one brief interval in 1858—1859, he remained at the head of the British Government until his death in 1865. The gay, high-spirited old man truly represented the temper of the British middle-class in this era of self-confident prosperity. So long as he lived, domestic questions fell into the background, and the maintenance of British prestige abroad became the chief interest of politics. It was a period of prosperity and political stagnation at home, and of stirring events abroad.

Conspiracy to Murder—Palmerston's foreign policy was always the object of strong criticism. The old Tories disliked his friendliness to Liberal movements abroad ; the Peelites and the Manchester Radicals disliked his meddlesomeness and his readiness to involve the country in risky situations. In 1858 they found a question upon which they could unite against him. A bomb outrage against Napoleon III was known to have been planned by Italian refugees in London, who were angry because Napoleon did not aid the Italian nationalist movement. Great indignation was expressed in France against Britain for harbouring the assassins. Palmerston, anxious to maintain friendly relations with France, introduced a Conspiracy to Murder Bill which was generally regarded as being dictated by France. Palmerston's majority deserted him, and he was defeated. Lord Derby, the leader of the Conservatives, took office, with Disraeli as Chancellor of the Exchequer and Leader in the Commons.

Derby's Ministry.—The Conservative ministry of 1858 was almost as short-lived as its predecessor of 1852. But it lasted long enough to make it clear that the Coservatives had definitely abandoned Protection. It was responsible for the organisation of the volunteer movement as a supplement to the Army, and as an expression of the public distrust of the ambitions of Napoleon III. It fell on the defeat of an elaborate Reform Bill introduced by Disraeli, who looked to an extension of the franchise to restore the power of the Conservatives. But neither Parliament nor the country was yet ready for a further step towards democracy ; two previous Whig Bills, introduced by Lord John Russell, had both been rejected, and it was evident that the country was quite satisfied with things as they were

Palmerston and Gladstone.—In 1859, therefore, the Conservative ministry fell, and Palmerston again became Prime Minister. The ministry thus established lasted until 1865. It included the leading Peelites, notably Gladstone ; henceforth after twelve years of precarious existence as a third party, they were incorporated in the Liberal party, to which they brought new elements of strength. Throughout these six years there was constant strain between Palmerston and Gladstone, who was becoming more Radical as he grew older. One thing alone held them together—their common sympathy for nationalist movements in Europe, and especially in Italy.

The Paper Duties.—But the astute old Prime Minister held his own. So long as he lived, no great issues could be raised in domestic politics. Gladstone had to content himself with the sphere of finance, in which he introduced a succession of brilliant budgets that completed the Free Trade system. One of these budgets gave rise to the only important domestic controversy of the period. In 1860 Gladstone proposed the abolition of the Paper Duties, in order to encourage the cheap Press. The House of Lords threw out his proposal Thereupon Gladstone embodied the proposal in his Budget, which the Lords could not touch. This was attacked as an unconstitutional act ; it implied a definite victory for the House of Commons over the House of Lords. But it was a very placid period in which so small a matter could be subject of acute controversy.

Foreign Troubles.—These placid years were, however, full of excitements abroad. They began immediately after the Crimean War, and they lasted until after Palmerston's death. First came little wars with Persia and China , then the tragedy of the Indian Mutiny ; then the establishment of Italian freedom and unity ; then the great Civil War in the United States ; and finally the rise of Prussia to supremacy in Germany, by means of the Danish War of 1864 and the Austrian War of 1866. All these events were of immense importance to the British peoples.

Persian War.—Persia, at the instigation of Russia, had invaded Afghanistan at the end of the Crimean War. Although Britain had no responsibility for Afghanistan, Palmerston could not overlook this evidence of Russian designs. A British expedition was sent to the

Persian Gulf, and the Shah of Persia was forced to withdraw from Herat, which he had occupied.*

Second Chinese War.—The Second war with China, which also broke out in 1857, was more serious, and marked an important change in the relations between Europe and the Far East. The Chinese authorities at Canton seized a little Chinese vessel called the *Arrow*, which had some British officers and flew the British flag. The British agent at Hong-Kong demanded the release of the crew, which was granted ; but he also made other demands, which were rejected. Thereupon Canton was bombarded, and open war began. It was on this high-handed action that the House of Commons overthrew Palmerston, and the electors supported him. The war went on, and France co-operated with Britain ; but there was some delay, owing to the outbreak of the Indian Mutiny, which made it necessary to divert to India the troops needed for China. In 1858 Canton was occupied and pillaged, and the Taku forts, which guarded the river-route to Peking, were destroyed. This led the Chinese Government to accept the allied demands (June 1858). A year later, when the time came for ratification, the Chinese Government refused to admit the Western envoys, and beat off their fleets from Taku. In 1860 the Taku forts were finally captured. But the Chinese were so reluctant to submit to dictation from the barbarians that they arrested and tortured the envoys sent to deal with them Thereupon the Emperor's summer palace was looted and burnt to the ground : and the Chinese Government submitted. It was forced to pay a heavy indemnity, and to agree to receive residents at Peking, and foreign consuls at the Treaty Ports. Sordid as it was, this war had momentous consequences, because it definitely forced open the gates of China to Western influences, and compelled the Chinese Government to recognise the superior strength of the Western powers. It is therefore a landmark in the relations between the East and West.

4. The Indian Mutiny (1857—1858)

In May 1857 the British Empire in India was suddenly exposed to the most terrible menace in its history. At some of the most important centres in the country the Sepoy Army, by whose means the British power had in the main been established and was maintained, broke into revolt, and for several months the very existence of the Empire seemed to be threatened.

Unrest in India.—A good deal of unrest had been caused in India by the rapidity with which innovations had recently been made, especially under Dalhousie. The displacement of a number of native dynasties had created a sense of insecurity, and some of the dethroned families were very ready to make trouble. In Oudh, more particularly, which had only been annexed in 1856, there was a great deal of unrest, and the *talukdars* or native landholders were convinced that they had been unjustly treated There was a widespread

* For Asia, see School Atlas, Plate 55*a*.

suspicion that the British Government meant to attack the time-honoured religious and social usges of India ; and secret influences were at work fomenting these fears. But all this would have meant nothing if it had not predisposed the sepoys to revolt : when the revolt came, it was not a popular rising anywhere except in Oudh ; it was almost exclusively a military rebellion. Even so, it did not affect the greater part the country The Presidencies of Madras and Bombay were practically undisturbed ; in Bengal proper there was only momentary trouble, which was quickly suppressed ; and even the recently conquered province of the Punjab remained loyal, and supplied many of the troops necessary for the reduction of the Mutiny. The disturbances were, in fact, limited to the Upper Ganges valley, from Delhi to Allahabad, though it later spread to the native States of Central India.*

Sepoy Grievances—The sepoy had grievances of their own, upon which the fomenters of discontent could work. Their area of service had been extended as the Empire grew. It was a grievance that they had had to cross the "black water" to fight in Burma. Their pay and allowances were felt to be inadequate. They knew that they had mainly won the Empire. They saw that they outnumbered the British forces in India by eight to one. The British prestige of invincibility had been impaired by the Afghan disaster of 1842, and by the Crimean War. On the head of all this came the introduction of a new rifle, whose greased cartridges had to be bitten. Rumour asserted that the grease was made from the fat of swine and cows ; and the Mohammedan is defiled by touching swine's flesh, while the cow is sacred to the Hindu. This seemed to bear out the view that the British had a malignant design to destroy the faith of their subjects The British officers were so convinced of the loyalty of their men that they paid little attention to the evidences of this unrest, and no precautions were taken.

Seizure of Delhi.—On May 10th, 1857, three native regiments at the military station of Meerut murdered their officers and marched to Delhi, where they were joined by the garrison.† A handful of British soldiers blew up the powder-magazine, and died in its ruins ; a telegraph operator had time, before he was killed, to flash the news along the new wires to the Punjab ; and these two heroic deeds perhaps saved the situation. But the mutineers controlled Delhi, the historic capital of India. They dragged out the old Mogul, who still lived in the faded splendour of Shah Jehan's palace, and proclaimed him Emperor.

The Revolt Spreads : Cawnpore—Then there was a pause of three weeks, during which John Lawrence, in the Punjab, disarmed the sepoy regiments, assured himself of the loyalty of the Sikhs, and made ready to attack the mutineers at Delhi. In June, however, the revolt spread over the greater part of the Ganges valley. Many

---

* For the area of the Indian Mutiny, see the larger Atlas, Introduction, p. 57, fig. 41.

† Two good novels dealing with the Indian Mutiny are Mrs. F.A. Steel's *On the Face of the Waters*, and R.E. Forrest's *Eight Days.*

isolated British officers were slaughtered with their families, others were saved by the loyalty of their Indian servants. At Cawnpore*
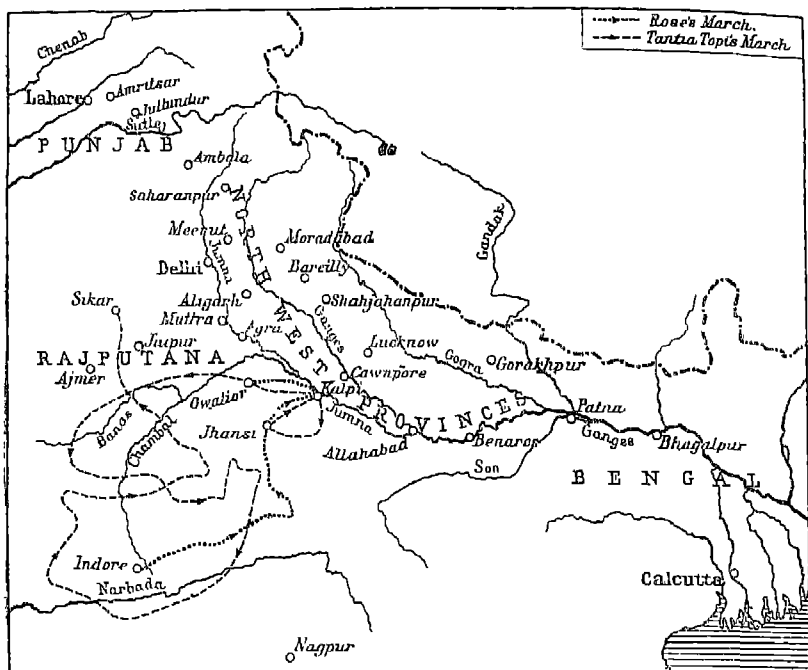
Fig. 40.—The Area of the Indian Mutiny.

a small British force, with many women and children, endeavoured to defend themselves against tremendous odds. They accepted with gratitude the offer of a safe retreat given to them by the Nana Sahib, whom many of them had known as a friend ; but they left their entrenchments only to be mercilessly slaughtered (June 27th). The women and children were imprisoned ; a fortnight later they were massacred in cold blood, and their bodies were thrust down a well. Meanwhile, the mutiny had spread to the great city of Lucknow, the capital of Oudh ; where less than 2,000 men—one-third of them loyal sepoys—and over 1,000, non-combatants were besieged by swarming crowds of enemies within the houses and gardens of the Residency.

The Recapture of Delhi.—Delhi and Lucknow were the main centres of the mutiny ; but all the country between them had passed out of control, and the two main centres had to be attacked from opposite directions—Delhi from the Punjab, Lucknow from Bengal. Fortunately the mutineers, being without leadership, made no attempt to use their overwhelming superiority of numbers, but waited to be attacked. All through June and July a small army of 4,000 men, British and Sikh, hung on to the Ridge, a line of rocky heights just outside Delhi : they were rather besieged than besieging.

* Read Sir George Trevelyan's *Cawnpore*.

In August reinforcements came from the Punjab under the hero John Nicholson.* On September 14th the Kashmir Gate of the city was blown in, and the small attacking force stormed through the gap. Nicholson was killed at their head; but after six days of street fighting, Delhi was captured.

The Relief of Lucknow.—Meanwhile, at the other end of the line, still fiercer fighting was going on Havelock,† starting from Allahabad with 2,000 men, marched under the blazing sun of an Indian July against Cawnpore. After fighting four pitched battles, he reached that city of horror the day after the women and children had been massacred: his men took vows of vengeance over the tragic well. Havelock had to be reinforced by Outram before he could cut his way through to Lucknow, fighting three more battles on the way. He saved the garrison of the Residency (September 25th), but had himself to endure a further siege. Thus, before the arrival of the troops who were being hurried out from Britain, the back of the Mutiny had been broken.

The End of the Mutiny.—But there was still long and hard fighting ere peace was fully restored. Sir Colin Campbell had to reconquer Oudh and the north-west provinces in detail, and his task was not completed until the summer of 1858. Meanwhile the revolt had spread to Central India, where the army of the loyal prince Sindhia joined the mutineers, and proclaimed Nana Sahib Peshwa, or head of the Marathas. Sir Hugh Rose had to fight a long and arduous campaign before the Maratha general, Tantia Topi, was subdued. By the autumn of 1858 the Mutiny had been finally crushed.

Clemency Canning.—It was not unnatural that the story of the mutiny, and especially the horrors of Cawnpore, should have given rise to a fierce lust for vengeance both among the British in India and at home. The gallantry of the loyal sepoys, the steadfastness of thousands of Indians, were too readily forgotten. During the suppression of the rising there were many instances of ferocity. But happily there was no orgy of revenge when it was over. Lord Canning, the Governor-General who had borne the responsibility of Government throughout the troubles, kept his head. He earned the nickname of "Clemency Canning."‡ It was given in derision; but the wise moderation which earned it perhaps saved the Indian Empire from later disasters.

End of the E.I.C.—After the Mutiny a reconstruction of the system of government in India became inevitable. By the *India Act* of 1858 (which was drafted by Palmerston's Government, but actually carried by Derby's) the East India Company was abolished, and the Indian Empire was brought under the direct control of the British Crown, acting through a new Secretary of State, with whom

* There is a short Life of Nicholson by L J. Trotter.

† There is a short Life of Havelock by Archibald Forbes (English Men of Action).

‡ There is a short Life of Canning by Sir Henry Cunningham (Rulers of India).

was associated a Council of India. A proclamation was also issued in the name of the queen, promising to respect the rights of native princes, to give equal protection to all religions, and to admit the subjects of the Crown, without regard to race and creed, to all offices. Although the Act and the Proclamation did not in practice make very much difference, the direct assumption by the British Crown of responsibility for the well-being of 300,000,000 Indians represented the culmination of a long process of development. It seems incredible that this should have happened only one hundred years after the skirmish of Plassey.

5. European Wars and the American Civil War (1859—1865)

The Mutiny was no sooner over than great events abroad engrossed the attention of the British people, and presented difficult problems to British diplomacy.

Unification of Italy.—First came the unification of Italy, towards which Italian patriots, inspired by the exile Mazzini from his home in London, had so long striven in vain.* In 1859 Napoleon III of France, in agreement with Cavour, the great minister of the king of Sardinia, declared war against Austria, and tore from her the province of Lombardy, which was added to Sardinia. In 1860 the petty duchies of Northern Italy cast out their dukes, and voted for incorporation with the kingdom; Garibaldi with his gallant Thousand landed in Sicily and was the means of bringing the Bourbon kingdom of Naples and Sicily into the new national State; while the greater part of the Papal States, north of the Apennines, were also absorbed. The first stage of this development was due to the military intervention of France. But the later stages would most probably have been resisted or impeded by the European Powers if Palmerson and Russell, with the warm support of Gladstone, had not thrown all the weight of British influence upon the side of the Italians. Thus a new nation had entered the European family, and a great breach was made in the settlement of Vienna. The unification of Italy was completed when Venetia was added after the Austro-Prussian war of 1866, and Rome during the Franco-German war of 1870.

The American Civil War.—Next came, in 1860—1865, the terrible civil war in the United States of America.† This so directly concerned the British peoples, and so seriously affected the relations of the two main branches of the English-speaking race, that more than a passing mention of it is necessary.

Growth of the United States.—Since 1815 the population of the United States had been increasing with unprecedented rapidity. Immigrants had poured in by hundreds of thousands, at first mainly from Britain, then from Ireland (especially after the famines of 1822 and 1846). and finally, after the abortive revolutions of 1848, from

* For the Unification of Italy, see School Atlas, Plate 25*d*.

† For the campaigns of the American Civil War, see the larger Atlas Plate 51.

the countries of western Europe, particularly Germany. Thirteen new States were added to the Union between 1815 and 1860.* The population was rapidly spreading across the American Continent. In 1846 a war with Mexico tore from that country a vast area stretching to the Pacific; and in 1848 the discovery of gold in a part of the conquered area—California—brought the tide of settlement to the shores of the Pacific.

Free States and Slave States.—As the population grew, the cleavage became more marked between the northern States, in which slavery had ceased to exist, and the southern States whose whole economic life depended upon slavery. Most of the immigrants went to the northern States: the southern States began to fear that they would be swamped, and strove to maintain the slave-system over as wide an area as that in which slavery was prohibited. This conflict was the central fact in American politics throughout the period 1815 to 1860. It was in part the cause of the Mexican War: Mexico had abolished slavery, but slavery was introduced in the States which were made out of the territory conquered from her. In 1820, by what was known as the Missouri Compromise, it was agreed that all States south of 36° 30′ should be organised as slave States.† But this compromise broke down; in 1848 California, which was south of the line, refused to accept slavery. In 1850 a new compromise was made, which gave slave owners the right to claim fugitive slaves who had taken refuge in the northern States. But this only intensified the abolitionist sentiment of the north. Elaborate methods were organised to assist slaves to escape to Canada, where (because it was British territory) they automatically became free

Danger of Disruption.—The question threatened to tear the Union asunder. It was impossible to make slavery illegal, as the British Parliament had done, because the Constitution reserved full power in this matter to the individual States. Yet it was clear that two groups of States could not long continue in fellowship while their whole organisation was based upon such different ideas. Abraham Lincoln,‡ an Illinois lawyer who was a candidate for the presidency in 1860, declared that "this Government cannot endure permanently half slave and half free." Yet there was no means, under the constitution, by which this cleavage could be bridged; not even Lincoln ever suggested that the constitutional rights of the States should be overridden.

The Civil War.—In 1860 Lincoln was elected President by a minority vote. His election so alarmed the southern States that they resolved to secede from the Union, which they claimed the right to do. The North denied the right of any State to secede, and on this issue, not on the direct issue of slavery, civil war broke out. The war lasted for five years, 1861 to 1865 Though the Confederates (as the Seceders called themselves) were hopelessly outnumbered as immeasurably poorer than their rivals, they held out

* School Atlas, Plate 51.

† See the larger Atlas, Plate 7?*d*

‡ There is a good Life of Lincoln by Lord Charnwood.

with great valour under their noble leader, Lee; and there was terrible slaughter ere their resistance was beaten down. Then, by an amendment of the Constitution forced upon the southern States, slavery was declared illegal. The war cost more than a million lives, and an outlay of money which would have sufficed to purchase the freedom of every slave in the Union many times over, if the Constitution had permitted any such solution.

Britain and the Civil War.—This bitter and prolonged struggle was of the first importance to Britain. In the first place, her greatest industry depended upon the supply of raw cotton from the southern States. When the North declared a blockade of the southern States, a cotton famine followed in Lancashire, which caused terrible suffering. The export of British goods also suffered seriously; but a huge smuggling trade grew up through the West Indies. For these reasons the war put a serious strain upon the relations between Britain and the federal government. In general, British feeling was strongly on the side of the Union, because the hatred of slavery had become very deep in the British people. But the sentiment of the governing class—including Gladstone—was on the side of the Seceders; and it was these views which were mostly transmitted to America. The Federal government—forgetting how it had fought for the rights of neutrals in the war of 1812—was very severe on neutral trade with the southern States; British ships bound for the West Indies were seized at sea on the ground that their "ultimate destination" was a southern port; and although this was doubtless true, it represented a great extension of interference with neutral trade. A Federal ship even seized two southern envoys on their way to Britain in a British ship, and this episode nearly led to a breach. Finally, the Confederates, finding it difficult to send out privateers from their own ports, imitated Napoleon, who had had many privateers built in America, and gave commissions for the construction of commerce-raiders to British shipyards. The British Government stopped most of these. But four of them escaped, and among these was the notorious *Alabama*, which escaped, from Liverpool just before the order for its arrest came down, and did an immense amount of damage to the commerce of the northern States.

The *Alabama*.—All these things put a severe strain upon the relations between Britain and the United States. When the war was over, the United States claimed compensation for all the damage done by the *Alabama*. There was no precedent for such a claim. But after long discussion, it was agreed to refer the matter to arbitration. The arbitration went against Britain (1871). Although the American claims were enormously cut down, the balance was so large that the American treasury never succeeded in spending it all.

The Danish War.—Before the American Civil War had come to an end, a new trouble had broken out in Europe, over the right of the Danish crown to the duchies of Schleswig and Holstein. The question is too complex to be discussed here It concerns us only as an illustration of Palmerston's diplomacy. Palmerston's sympathies

were strongly on the side of the Danes, and he and his Foreign Secretary, Lord Russell, expressed them so frankly that the Danes were encouraged by the expectation of British support to resist the combined attack of Prussia and Austria. In this instance, however, Palmerston had to deal with a new Power with whom words and threats counted for little. Bismarck, the chief minister of Prussia, had designed the Danish war as a first step towards the unification of Germany under Prussian control. He believed in "blood and iron"; and nothing that Palmerston could have said or done would have influenced his plans. The Danes had to be left to suffer; * and the prestige of Britain, which Palmerston valued so highly, suffered also.

Death of Palmerston.—This was the last important event in the brilliant career of the man who had played so great a part in European affairs for thirty-five years; and it was a proof that the era in which his methods were effective was coming to an end. He died in 1865, and his death was the end of an era in European as well as in British politics. In the following year, 1866, came yet another event in which his spirited and dictatorial methods would have been quite unavailing: Prussia turned upon Austria, and broke her power at Sadowa; and by doing so secured for herself the mastery of Germany.

CHAPTER XLV

DISRAELI AND GLADSTONE (1865—1880)

1. A Political Awakening (1865—1868)

The period of quiescence in British politics came to an end with the death of Palmerston. In Parliament the strife of parties revived, and the powerful and sharply contrasted personalities of Gladstone and Disraeli filled the public eye. But, besides this, difficult problems presented themselves, which would in any case have brought a new interest into public affairs.

The Fenians in Ireland.—The eternal Irish question demanded attention in a new form. No attempt had yet been made to grapple with the causes of Irish misery. The population of Ireland was steadily dwindling, and the condition of the peasantry was still wretched. The innumerable emigrants who had flocked to America since 1846 carried with them a bitter hatred of Britain, and some of them now began to make plans for using the wealth they had acquired in the New World to overthrow the British power over Ireand. Revolutionary conspiracies, fomented and supported from America, gave a new aspect to the Irish problem. In 1858 a body called the Fenian Brotherhood had been founded in America When the Civil War was over (1865), many men trained to arms were available, and the plans of revolution began to be seriously undertaken In 1866 informers put the British Government on the track

* For the campaign, see the larger Atlas, Plate 72*f*.

of these preparations : stores of arms were discovered in Ireland ; and *Habeas Corpus* was suspended. Nevertheless, there were several little outbreaks by Irish-Americans in Ireland, and 1,200 Irish-Americans made a raid into Canada, to deal with which the Canadian volunteers had to be called out. In 1867 the Fenians resolved to "carry the war into England." They tried to seize Chester Castle. An attempt was made to blow up Clerkenwell Gaol, and twelve people lost their lives in the explosion. In Manchester a gang of Fenians, trying to release two of their comrades who had been arrested, murdered a police sergeant. Three of them were hanged. They were dubbed "the Manchester martyrs." These alarming outrages received no support from the Irish priesthood, and scarcely any from the peasantry. They were entirely due to Irish-American Fenians. But they were a danger-signal. They deeply impressed the mind of Gladstone, who was convinced that drastic measures must be taken to remove the evils which produced such terrible fruits. The Irish question dominated him for the rest of his life.

Trade Union Problems.—In the same years Trade Unionism in England was coming to a crisis of its history. The great national trade unions had been growing steadily in strength, and had done much, by rational negotiation, to improve the condition of their members. But the great majority of trade unions were still little local organisations, which lacked the competent guidance of the big national bodies. In some cases they exercised a cruel tyranny over non-unionists. In 1867 it was proved that for some years a positive reign of terror had existed among the cutlery-workers of Sheffield, where workmen's tools were stolen, houses were blown up, and deliberate murders were committed. Some sections of public opinion were inclined to regard these revelations as a condemnation of the whole system of trade unionism. But they concerned only a few of the unions ; they were largely due to the character of secret conspiracy which the law had imposed upon the trade union movement, and they were condemned by nobody more vehemently than by the well-organised unions which knew that their usefulness was impaired by such actions. At the same time the position of the trade unions was endangered in other ways. During a tailor's strike in London a number of trade unionists were found guilty of criminal conspiracy for trying to persuade men not to work for the employers, and the judge laid it down that any trade union, being in restraint of trade, was a criminal conspiracy. Again, when a trade union official embezzled the funds of his union, the courts found that no action would lie against him, because the union itself existed for an illegal purpose. If this view of the law held good, the trade union movement would be reduced to impotence, and the repeal of the Combination Acts in 1824 and 1825 might as well never have been carried. The law would have to be altered. This conviction led trade unionists to take a new interest in the question of parliamentary reform, to which they had hitherto been indifferent. It accounts for the sudden rise of enthusiasm for this question : hitherto every attempt of Russell, Bright and Disraeli to deal with it had been balked by public indifference.

A Liberal Reform Bill.—After Palmerston's death the Liberal ministry was reconstituted under Russell now Earl Russell) with Gladstone as leader in the House of Commons. They promptly introduced a new Reform Bill It was a modest measure. But the Palmerstonian temper was still so strong that its introduction aroused keen opposition among some of the more conservative Liberals, led by Robert Lowe, a brilliant speaker who had seen democracy at work in Australia, and did not like it: John Bright called these malcontents "the Cave of Adullam." The debate aroused intense public interest, such as had not been seen since the collapse of Chartism : there were processions and mass meetings, and when the authorities tried to prevent a meeting in Hyde Park, fifty yards of railings were pushed down by a good-humoured crowd.

Disraeli's Reform Act.—Supported by the "Cave of Adullam," the conservatives voted down the Government, which resigned. For the third time Lord Derby and Disraeli formed a Conservative ministry (1866). It lasted for eighteen months. Its chief work was the passage of the *Reform Act* of 1867. Having defeated the Liberal ministry on the question of parliamentary reform, Disraeli promptly proceeded to introduce a Reform Bill of his own. He recognised that the change must come ; he disliked the middle class, who had wielded power since 1832, and believed that his ideas would have a better chance of acceptance in the artisan class, whom he proposed to enfranchise ; and he was anxious that the inevitable concession should be made by his own party. In its original form the scheme was surrounded by safeguards, in the form of extra votes for property and educational qualifications. But these were swept away, mainly by the pressure of the opposition. In the end the Bill conferred the vote upon all householders in towns, and also upon lodgers ; while in the country every occupier of a tenement worth £12 per annum was enfranchised. This change, which was a long step towards complete democracy, was regarded with deep misgivings by many Conservatives Lord Derby described it as "a leap in the dark" ; Lord Cranborne (later Lord Salisbury) denounced it as "a political betrayal which has no parallel in our annals."

The New Democracy.—Disraeli, who had been engaged for thirty years in "educating his party," had, in fact, committed them to the experiment of Tory democracy. Subsequent events showed that his calculations were justified. In the thirty-four years from 1832 to 1867 the Conservative party had held office for only seven and a half years. In the next thirty four years, down to the death of Queen Victoria, the Conservative party held office for nineteen and a half years. Moreover, the new electorate brought about one marked change in the British political system. Instead of the very narrow majorities which had been usual ever since 1846, successive elections from 1868 onwards gave sweeping majorities to one side or the other : the "swing of the pendulum" became more violent. This was because, in a larger electorate, the number of voters not pledged to either of the great parties was larger, and though they were still a small proportion of the total, they could turn many elections. This wavering body became the real governing power

in English politics, and politicians inevitably strove to appeal to it. Consequently public meetings and other forms of popular appeal became more and more important; the machinery of party organisation was gradually brought to a high pitch of efficiency; and the actual proceedings of Parliament became relatively less important than they had been.

2. Gladstone's First Government (1868--1874)

Disraeli and Gladstone.—The new era of British politics which now began was dominated by the two powerful personalities of Disraeli* and Gladstone. Both had become the leaders of their respective parties by 1868, Lord Derby having retired and left the office of Prime Minister to Disraeli, while Lord Russell almost at the same moment withdrew from the Liberal leadership, in which he was succeeded by Gladstone. The two men were nearly of an age; in 1868 Disraeli was sixty-three and Gladstone fifty-nine. Both had given up their lives to politics, and had sat in parliament continuously since the first Reformed Parliament. Both disliked the tepid temper of Whiggism. Disraeli, having begun as a Radical, had been led by his Jewish sense of the importance of race to attempt the task of educating the gentlemen of England into Tory democracy; Gladstone, having begun as a true-blue Tory, had followed his master Peel into a Liberalism that became more and more unflinching. Neither knew what it was to be timid or half-hearted. Both were distrusted by the more stolid and orthodox members of their parties. Both had strong intellectual interests outside politics, Disraeli being a brilliant novelist in the brocaded style, while Gladstone had an immense range of knowledge, and made elaborate studies of Homer, Dante and Butler. But their differences were far deeper than their resemblances. Disraeli was a mysterious, sphinx-like, impassive figure, with a gift of sardonic phrase, a humorous detachment which enabled him to take large views, and an Oriental delight in splendour. This made him an imperialist, but it was in the dominion of the East that he took delight, rather than in the new lands of the colonies, of which he had once said (in 1852) that they were "millstones round our neck." He had also a vision of England led back out of the ugliness of industrialism into happiness under the leadership of an imaginative aristocracy. Gladstone, on the other hand, was a man of intense religious fervour He could be completely captured by an idea or a cause, and when this happened, nothing could daunt or deter him. He combined extraordinary gifts of majestic eloquence with a subtlety of mind which enemies described as Jesuitical. Like his master Peel, he did not look far ahead, or form mental visions of an ideal state of society. But he passionately believed in liberty, and threw himself with intense earnestness into each new reform that seemed to him to be needed. No two men could have

* There is a short Life of Disraeli by J. A. Froude, and a very entertaining one by the French writer, Andre Maurois. There is an essay on Disraeli by F. C. Hearnshaw in *English Prime Ministers of the 19th Century.*

been more different. They deeply distrusted one another. Disraeli thought Gladstone a sophisticated windbag, and Gladstone thought Disraeli an insincere trifler. They appealed to different elements in the national mind. Gladstone brought the spirit of religion into politics, and Disraeli the spirit of romance.

Gladstone's First Ministry.—The election of 1868, under the new Franchise Act, returned a large Liberal majority, and Gladstone formed his first ministry. It showed a greater activity in constructive legislation and in administrative reform than any Government since 1834.

Irish Disestablishment.—Gladstone's own attention was concentrated upon Ireland, where he was resolved to redress what seemed to him the three main evils—the exclusive privileges of the Anglican Church, to which only one-twelfth of the population belonged ; the land system, which left the impoverished tenants at the mercy of their landlords ; and the exclusion of Catholics from the opportunities of university education. The first was dealt with by an Act for the disestablishment of the Irish Church (1869), which aroused fierce opposition among English Churchmen and in the House of Lords. It was only carried after substantial concessions had been made. The Act not only deprived the Anglican Church in Ireland of its exclusive privileges, it also took from it all endowments earlier in date than 1660, on the ground that these had not been meant for the maintenance of a minority Church. The wealth thus withdrawn was used for the relief of distress Although it thus lost nearly half of its capital wealth, the English Church of Ireland soon found that it was strengthened rather than weakened by the change.

Irish Land Act.—The Irish Land Act (1870) was designed to protect the tenant against unfair eviction, which had been the chief cause of recent disturbances. No tenant was to be evicted so long as he paid his rent, and he was to be entitled to compensation for improvements which he had made. But the Act did not put an end to agrarian troubles, because rents were far too high, and no means of reducing them were provided. Agrarian outrages became even worse than before ; Coercion Acts had to be maintained ; and in 1871 a band of Irish-American "Ribbonmen," as they called themselves, created such a reign of terror in Westmeath that a special Act had to be passed to deal with the situation Something more drastic than the Land Act of 1870 was needed. Nevertheless it was the first serious attempt to deal with the Irish land problem, and the first definite interference with the rights of landlords. In a third Act Gladstone tried to deal with the university problem, but his proposals pleased nobody, and had to be withdrawn.

A National System of Education.—The most important measure of this Government was the Education Act of 1870, which for the first time established a universal system of elementary education. This was one of the most important social reforms of the century. Only about half the children of the country received any education at all before this act was passed ; and many of the existing

schools were totally inadequate for their work. The Act provided that in every district where there was insufficient school accommodation a School Board should be set up, with the duty of filling the gap, partly at the cost of the rates, partly with the aid of grants from the Treasury. But a bitter controversy sprang up on the question whether religious instruction should be given in these new public schools, and if so, of what kind. After much controversy, this question was settled by a compromise—"undenominational" religious teaching should be given. But this satisfied nobody, although it worked well enough; both Churchmen and Dissenters were alienated, and (as often happens) the Government was weakened by its most valuable achievement.

Army Reform.—Ever since the Crimean War it had been evident that a drastic reform of the Army was needed. It was carried out by Cardwell, the Secretary of State for War in this Government. He set himself to create a military system suitable for the needs of the British Empire, which requires an efficient force ready to be despatched to any part of the world, and capable of easy expansion. For this purpose he devised a system of short-term service, followed by a period in the reserve, in place of the old system of long-term service. He also assigned a fixed area of recruitment to each regiment, and linked up the militia and volunteers with the regular battalions in an orderly system Finally, in 1871, he abolished the old abuse whereby commissions in the Army were purchased, and were thus limited to the wealthy This was an attack upon the last stronghold of aristocratic privilege. There was vehement opposition to all these reforms, but especially to the abolition of purchase, which was only effected by the use of the queen's prerogative because the House of Lords would have thrown it out.

Other Reforms.—Not less important than these great reforms were certain others which were necessitated by the growth of democracy, though they were fiercely opposed. The universities of Oxford and Cambridge were for the first time thrown open fully to Dissenters and Roman Catholics by the abolition of religious tests (1871). The system of nomination to positions in the Civil Service was abolished everywhere save in the Foreign Office, and open competitive examinations were established in its place (1870) The Ballot Act (1872) introduced secret voting, and thus put an end to intimidation. A new department of government, known as the Local Government Board (the predecessor of the modern Ministry of Health) was set up to look after the administration of the poor law, the organisation of measures for public health, and, in general, the rapidly growing activities of the local authorities. An attempt was made to deal with the social evil of excessive drinking by a Licensing Bill, which proposed a systematic reduction in the number of public-houses wherever they were excessive, and allowed ten years' grace to the publicans in lieu of compensation; but the brewers and the temperance enthusiasts combined to defeat these proposals, which greatly added to the unpopularity of the Government.

Legal Reform.—A far-reaching reform of the whole system

of justice was also set on foot, whereby the old, complex and overlapping organisation of the law-courts was systematically recast. This reform was not completed until after the Government had fallen, but it was one of the most valuable of its achievements.

Trade Unions Legalised—Finally, the trade union problem was tackled. In the Trade Union Act of 1871 the trade unions were for the first time recognised as legal bodies. An attempt was also made to distinguish between legal and illegal "picketing," but the definition was interpreted by the law-courts in such a way that it gave no real protection to legitimate trade union activities, and a new Act had to be passed for this purpose in 1875. The result of these Acts was a very rapid growth in the strength of trade unionism.

Decline of the Government.—There was a marked contrast between the strenuous reforming activity of this ministry and the placid inaction of the previous period. It aroused intense public interest and keen controversy. But too many interests had been attacked, and for this reason the popularity of the Government rapidly declined. Churchmen were alienated by Irish disestablishment and the opening of the universities ; neither Churchmen nor Dissenters were satisfied with the Education Act ; landlords were alarmed by the Irish Land Act ; publicans and temperance enthusiasts were equally angered by the Licensing Bill ; the whole officer class was outraged by army reform ; and even trade unionists were dissatisfied with the Trade Union Act. And the foreign policy of the Government did nothing to restore its popularity. It was pacific and unexciting, and lacked the flamboyant assertion of British prestige which had made Palmerston popular.

The Franco-German War.—Three questions of importance in foreign affairs emerged during these years. One was the advance of Russia in Central Asia, which in 1869 reached the borders of Afghanistan Instead of taking any military measures, the Government came to an agreement with Russia, whereby both powers undertook to respect the independence of Afghanistan. The second question arose from the outbreak of war between France and Prussia in 1870, which led to a crushing Prussian victory and the formation of the German Empire, now obviously the greatest and most menacing power in Europe. The Government tried to mediate between the rivals, but the attepmt was hopeless, because both (and especially Germany) were determined to go to war. On one point, however, a real diplomatic victory was secured. One or other of the belligerents might be tempted to cross the frontier of Belgium. But the neutrality of Belgium was secured by treaties of 1832 and 1839, guaranteed by Britain among other powers. Gladstone and his Foreign Secretary, Lord Granville, made Belgium's neutrality safe by negotiating identical treaties with both France and Prussia, whereby Britain undertook, if either party violated the neutrality of Belgium, to join forces with the other. By this arrangement Britain completely safeguarded the neutrality of Belgium ; but she obviously was not playing the masterful part which she had seemed to play under Palmerston.

Alabama Arbitration.—Finally, in 1872, after long delays,

the *Alabama* case was brought to arbitration ; and when the arbitration went against Britain, the Government accepted the decision and paid the heavy damages awarded. This was the greatest victory which had yet been won for the method of arbitration. It was a landmark in the movement towards organised peace. But it could be, and was, represented as a mean-spirited surrender of British rights.

Defeat of Gladstone.—Thus, reforming activity at home and a pacific attitude abroad combined to alienate the electorate. When Parliament was dissolved in 1874 the voting went heavily against the Liberals ; and Disraeli, after his long patience, found himself at last not merely in office but in power, with a very large majority, able to carry out his ideas.

3 DISRAELI'S ADMINISTRATION (1874—1880)

The Home Rule Party—The new Parliament of 1874 contained two new elements One consisted of two trade union members, whose expenses had been paid by their unions. They voted as Liberals, but they were the forerunners of the future Labour Party. The other was the appearance of fifty-eight Irish members who for the first time refused to associate themselves with either of the older political parties, but called themselves Home Rulers, and made it their aim to break down the English parliamentary system as a means to securing legislative independence for Ireland. Among them was Charles Stewart Parnell,* a Protestant landlord, but a fervid hater of the English ascendancy. Throughout this Parliament, but especially in its later years, they set themselves with skill and assiduity to obstruct public business,especially on Irish questions. These new tactics at first seemed only vexatious. In the next Parliament they were to become alarming.

Social Reform.—In the first years of the new Parliament Disraeli had an opportunity of showing what he meant by the new Toryism which he had been preaching since the days of "Young England" in the 'forties. It was expressed in a series of useful measures introduced by the Home Secretary, Richard Cross. One was a Trade Union Act (1875), which remedied the defects of the Act of 1871 by declaring that an act which would be legal if done by one man should not be illegal if done by two or more ; this Act also made peaceful picketing legal. A second Act (1875) empowered municipalities to acquire insanitary property, demolish it and construct workmen's dwellings, if need be at the cost of the rates This was the modest beginning of public attention to the housing of the people, though many municipalities had already obtained similar powers by private Acts. Two further Acts were useful codifications of previous legislation on social questions, one dealing with the numerous Public Health Acts which had been passed since 1848, while the other codified and simplified the provisions of the numerous Factory Acts since 1833. All this was

* There is a short Life of Parnell by R. Barry O'Brien.

useful work, though it scarcely fulfilled the vague hopes of social reconstruction of the Young England days.

Imperial Activities.—Disraeli's main interest now lay, indeed, not in domestic but in imperial and foreign affairs, and he did much to stimulate that pride in empire which was to become so strong during the next generation In 1875, by a dramatic stroke, he purchased from the almost bankrupt Khedive of Egypt his shares in the Suez Canal, which had been opened in 1869; and thus secured to Britain a voice in the control of that vital waterway to India. It was on his advice that the queen assumed in 1877 the title of Empress of India; and a splendid Durbar was summoned to give the Indian princes an opportunity of doing homage. His Government encouraged a vigorous and assertive policy in various parts of the world. Thus a strong effort was made to bring about the federation of South Africa; the Transvaal was annexed, against the wishes of its inhabitants, who soon broke into revolt; and the disastrous Zulu war was fought in 1879. Again, the cautious attitude of the Gladstone Government in regard to Afghanistan was abandoned; in view of the advance of Russia in Asia, Afghanistan was invaded, and the second Afghan War was undertaken, which almost led to a disaster as great as that of 1842. These events will be dealt with in their own place (pp. 500 ff.); but they were signs of the imperial spirit which Disraeli did so much to cultivate.

The Eastern Question.—The most important events of Disraeli's Government were connected with the Eastern Question, on which he took up once more the old attitude of Palmerston, and found himself in acute conflict with Gladstone. All the promises of reform which the Sultan had made at the time of the Crimean War had come to nothing, and the misgovernment of Turkey's Christian subjects was if anything worse than it had been. In 1875 the Christians of Bosnia and Herzegovina broke into revolt, and the semi-independent princes of Serbia and Montenegro went to their aid.* These events attracted the attention of the Powers, as joint guardians of Turkey, and long conferences were held, which came to no conclusion. While the Powers argued, revolt broke out in Bulgaria, and was suppressed by the Turks with atrocious savagery. When the news of the Bulgarian atrocities reached Europe, Gladstone broke out into fierce denunciations of the Turk, and demanded that he should be cleared "bag and baggage" out of the oppressed provinces.

Russo-Turkish War.—This would have involved a total reversal of the traditional British policy. Disraeli, like Palmerston, feared any weakening of Turkish sovereignty, lest Russia should be strengthened, and was anxious to prevent military action, especially by Russia. In 1877 Russia, refusing to wait any longer for the joint action of the Powers, declared war against Turkey, and (after some initial checks) beat down the Turkish resistance and marched almost

* For the Eastern Question, see School Atlas, Plate 26*e*, and the larger Atlas, Plate 86.

to the gates of Constantinople. Thereupon Disraeli's Government asked Parliament for war-credits, sent a fleet to the Sea of Marmora, and brought Indian troops to Malta. War seemed to be near. War-fever was high in England; and the popular song of the moment, with which the music-halls rang, declared that "we don't want to fight, but by Jingo, if we do, we've got the ships, we've got the men, we've got the money too." Gladstone denounced these preparations, and a substantial part of the nation, stirred by the tales of Turkish atrocities, took his view, though the majority was certainly against him.

San Stefano and Berlin.—The outbreak of war was averted because Turkey submitted to the terms dictated by Russia in the Treaty of San Stefano. This treaty would have turned the greater part of the Balkan peninsula into a series of independent Christian States, of which the greatest would have been Bulgaria, while Turkey would have been left with very little beyond Constantinople. In other words, the results of the later Balkan wars would have been anticipated. Disraeli, fearing that these new States would be vassals of Russia, demanded that the terms of the treaty should be submitted to revision by the Powers of Europe; Russia reluctantly agreed, and a Congress was summoned at Berlin (1878). Before the Congress met, however, Disraeli concluded secret agreements with both Russia and Turkey. The agreement with Russia practically defined the terms subsequently reached at Berlin. By the agreement with Turkey Britain guaranteed the Turkish possessions in Asia, and, in return, received the island of Cyprus on payment of an annual tribute. The result was that the Congress of Berlin was a triumph for Disraeli. The terms of San Stefano were revised; the new State of Bulgaria was greatly reduced in size; and Turkey was left in control of a large part of the Balkan peninsula, including Macedonia, which was to be a constant source of discord.*

Criticism of Disraeli's Policy.—All these arrangements broke down within the next thirty-five years; in the meanwhile they caused incessant unrest. They were, in fact, one of the deeper cause of the Great War of 1914 Lord Salisbury, who was Disraeli's colleague at Berlin, later said that in this business Britain had "put her money on the wrong horse." But at the moment it appeared that Russia's advance had been checked. Disraeli was able to return in triumph, claiming that he had brought back "peace with honour," and if he had gone to the country at that moment he would certainly have returned with a great majority. Gladstone, however, never ceased to denounce all these transactions, although public opinion was against him; the mob of London smashed his windows, and his own colleagues deprecatad his vehemence. As the war fever died down, the body of opinion to which he was able to appeal gained in strength. The disasters of Afghanistan and Zululand seemed to support his denunciations; and by 1880 Disraeli's popularity had so much waned that in the election of that year the Liberals were returned with a large majority.

---

* For Europe after the Berlin Congress, see the larger Atlas, Plate 85.

The End of an Era.—The election of 1880 brought to an end the long rivalry between Disraeli and Gladstone ; for Disraeli (who had for some years sat in the House of Lords as Earl of Beaconsfield) died in 1881. It was significant that their rivalry had ended with a debate upon the principles of foreign policy ; for in 1880 a new period in the relations between Britain and the other Western nations was opening. The long monopoly of oversea power which Britain had enjoyed since 1815 was coming to an end, and a period of fierce rivalry for world-power was beginning ; in the end it was to lead to the Great War of 1914.

The Progress of Science.—While the political situation had been changing, another revolution, vastly more profound, had silently taken place. Not England only, but the whole world, had passed into the Age of Science, in which men's ideas about man's place in the universe have been transformed ; and in which, also, men have obtained a growing command over the forces of Nature which has already transformed, and will increasingly transform, the conditions of our life. It was the patient work of scholars in their laboratories, carried on unrestingly while the politicians were waging their battles in Parliament and on the platform, which had brought about this revolution. Many of the greatest men of science of the century were British, but the work of scientific exploration was international, and its results were shared by all peoples. We cannot here give any account of all this work. The Astronomers had revealed the vastness of the universe, and made this earth appear but an insignificant pin-point in space The Geologists had pushed back the history of the earth into the æons of the past, and shown that the whole story of man was but a brief and late episode in that immense history. The Biologists had shown how the forms and species of plants and animals had gradually developed, and how man was the descendant and the kin of the beasts that perish. The microscope had displayed the infinitely little, as the telescope and the spectroscope explored and tried to measure the infinitely great ; and had shown (especially in the work of Pasteur) how the life of man depends upon invisible micro-organisms, which maintain his life or take it away The Chemists had penetrated deeply into the mysteries of the composition of matter, and shown how this knowledge could be used to give man powar over his environment. The Physicists were pushing further and further the analysis of the forces at work about us, and they too were placing potent and dangerous weapons in the hands of man.

The Darwinian Controversy.—It was but slowly that the mass of ordinary men realised the significance of these astounding revelations, in comparison with which the change of ideas that came in the sixteenth century was a small matter. In Britain, especially, the governing class was out of touch with all this movement, for its schools and its universities long continued to despise this revolutionary "New Learning" The first shock came with the controversy that raged round the work of the biologist Charles Darwin ; his famous book, *The Origin of Species*, which set forth the doctrine

of Evolution, and traced the descent (or ascent) of man from the animals, was published in 1859. The storm of discussion which it raised was at its height about 1865. From about that time the new ideas about man's place in the universe ceased to be confined to scholars, and gradually coloured the thinking of all educated people. It also brought about a rapid change in the methods of many industries By understanding the processes of Nature, man was obtaining a new power over them ; and the progress of discovery and invention became bewilderingly swift.

Britain's Backwardness.—In this tremendous revolution, which transformed the conditions of life upon our planet within two generations, individual British scholars played a very great part; they included many of the greatest contributors to the scientific revolution which was taking place. But the British peoples were as yet ill-equipped to take advantage of the new knowledge ; in comparison with other countries, and notably with Germany, their universities were too few, and too scornful of "the new learning," while they had as yet (except in Scotland) no adequate system of schools above the elementary grade. Their old endowed schools had largely become a preserve of the governing class, and were apt, with the universities, to be scornful of "the new learning." It would have been a very grave matter for the British peoples if they had not quickly mended their deficiencies in this respect, as they began to do in the next period, when new universities came into being, and a whole system of new schools was created. Even as it was, British trade suffered a good deal during the next generation from the country's backwardness in this field ; and the supremacy in some of the new scientific industries largely passed to other countries, notably to Germany.

CHAPTER XLVI

THE BRITISH EMPIRE IN 1880

1. Changing Conditions

End of the Era of Monopoly.—Since Waterloo the British peoples had enjoyed an extraordinary ascendancy in manufacture and commerce, and an almost complete monopoly of oversea dominion. This Period of supremacy was now coming to end. The European peoples had reached,for a time,the close of the long troubles which had engrossed their attention during the nineteenth century, and which had sprung from the struggles for national unity and freedom, and for the institutions of self-government. Germany and Italy were now powerful and united States ; France, after many revolutions, had in the bitterness of defeat at last succeeded in finding a system of government which was stable; every European country except Russia and Turkey had adopted the system of Parliamentary government ; and the United States, having overcome the long disputes about slavery which had impeded her development, and

having opened up and settled the whole of her vast territory, was entering upon a period of unprecedented growth.

Trade Developments.—All the nations were now addressing themselves to the task of developing their industry and trade, and were beginning to aspire after dominion in the non-European world. The growth of industry in Germany, America, Belgium, and France had hitherto been slow.* These countries had largely been content to buy the products of the modern industry from Britain. There now began in all of them a period of fierce energy in industrial development, and a systematic application of science to industry, which made it necessary for British traders to overhaul their methods. In many fields, and especially in the more modern and scientific industries, the new competitors were more alert and more enterprising than their British rivals. Moreover, they could profit by British experience. They were not handicapped, in the same degree, by the ugly conditions which had grown up during the first period of the Industrial Revolution in Britain, and which could only be amended slowly and at great cost.

Protection v. Free Trade.—In the middle of the century it had seemed likely that, besides imitating other British methods, the newer industrial countries would also imitate her system of Free Trade. France had gone a long way in that direction when she accepted Cobden's commercial treaty of 1860, and until after the Franco-Prussian War Germany was almost a Free Trade country. But this expectation was disappointed. Both the European countries and the United States adopted the policy of building up their industries behind high tariffs, that is, making their people pay, in higher prices, for the creation of industries. Of course, by doing so, they restricted their export trade, because no country can export more goods than are paid for by its imports, and if it shuts out imports it must restrict its exports. This was why Britain did not adopt the same policy : she depends upon export trade. And she still, for this reason, preserved her ascendancy in export trade. But the restriction of markets in which she had hitherto sold many of her goods, and the necessity of finding fresh outlets and developing new methods, placed difficulties in the way of British traders.

Trade Depression in Britain.—It was in the 'seventies that Britain first began to feel the effect of these new conditions, because the competition began to be keen after the Franco-Prussian War. The last years of Disraeli's Government were years of relatively bad trade, and many years passed before the level of 1875 was reached again. Agriculture also was suffering in these years. Its prosperity had not been affected by the repeal of the Corn Laws. But the cheap corn of the American middle west began to pour in in the 'seventies. In some countries, notably Denmark, the farmers took advantage of this by using cheap imported foodstuffs for their cattle, and thus developed a great dairy industry ; but the British farmer could not

* For the growth of industrialism in Europe and the United States between 1860 and the present day, see the larger Atlas, Plate 90-91.

so easily adapt himself to the new conditions. British agriculture began to decay, and the decay has continued until this day. British industry was in no sense decaying ; as soon as it had adjusted itself to the new world-conditions, it obtained a greater prosperity than ever, because the wealth of the world was growing, and all nations had more to spend. British shipping, in particular, was in its golden age. The growth of trade all over the world meant that there were more goods for it to carry. The protectionist policy of other countries, whatever its effects upon their industry, was bad for their shipping, because their imports, and consequently also their exports, were restricted. Thus the mercantile marine of the United States, which had been a serious competitor of the British mercantile marine down to the 'sixties, shrank rapidly and soon ceased to be of much importance when America adopted a policy of high protection after the Civil War. Hence the position of Britain in the world was changing. She was no longer the one supreme manufacturing country, with a practical monopoly of the new mechanical processes; she was only one of a number of competing industrial peoples ; she could only expect her share of the total trade of the world ; and the magnitude of that share must depend upon the skill and character of her people.

Imperialist Ambitions.—The European nations were about to show a similar eagerness to acquire oversea possessions. Their population was growing, and they did not want the surplus to go to strengthen other countries. Their trade demanded raw materials, and they wanted control over some of the lands from which these raw materials came They were beginning to measure the greatness of a State by the extent of its dominions, and the small States of Europe seemed to be dwarfed by the three gigantic empires of Britain, Russia, and the United States of America.

Hence there now began a rush for the control of the unoccupied regions of the earth, and huge colonial empires were rapidly built up during the generation following 1880. Britain also entered the competition and added vast new territories to her already gigantic empire. Before we enter upon the story of this fevered period, which led up to the most terrible war in history, we must survey the British Empire as it was in 1880, and see what development it had undergone during the thirty placid and prosperous years between the Great Exhibition and the death of Disraeli.

2. India

Economic Development.—Between the Mutiny (1858) and the outbreak of the second Afghan War (1879) India enjoyed twenty years of unbroken peace, during which the introduction of Western methods was rapidly carried on. A railway system, built by British capital, was carried over the whole country. Large works of irrigation were constructed, bringing under cultivation areas which had yielded few or no crops. Trade increased rapidly, and India became the best customer for British goods. Population also increased. But the growth of population presented serious problems. India

has always been liable to famines, when the monsoons failed. There were very severe famines in this period, in 1861, 1865, and 1876, and the Government was forced to take up seriously the problem of famine relief. In the old days little could be done. Each district grew only sufficient food for its own needs; when famines came it was impossible to bring adequate supplies from elsewhere, and the people just had to die. This was one of the factors which had kept the growth of population in check. Now the fertile districts grew more than they needed for their own use, because they could export the surplus. The railways made transport easy. It was therefore possible to work out an efficient system of famine-relief, such as India had never known in the past. The foundations of this system were laid during the famines of 1865 and 1876. To-day, though an Indian famine causes hardships, it does not cause wholesale deaths by starvation.

Western Education.—Yet more important than the introduction of the meterial civilisation of the West was the growth of Western education in India. In 1857 three universities were founded, at Calcutta, Bombay, and Madras. Numerous schools were also established, with Government grants. The result was the creation of a considerable Western-educated, English-speaking class of Indians, scattered over every Indian province. All the lawyers, school-master, minor government officials, and journalists belonged to this class. Using the English language, Bengalis and Marathas, Punjabis and Madrasis, were able to communicate with one another as never before. They also had a common body of ideas, drawn from the English books which they studied. Even more than the railways, the English language was drawing together the intellectual leaders of the Indian peoples, and making possible, what had never existed before an Indian national movement. The growth of this movement was to be one of the features of the next period.

Baluchistan.—The interval of peace was interrupted by new troubles on the north-west frontier, due (like the first Afghan War) to the fear of Russian advance. Afghanistan was in a state of disturbance; Russia, by the conquest of Bokhara (1869) and Khiva (1873), had brought her empire to the Afghan borders.* The Amir of Afghanistan asked for British protection (1869): Gladstone's Government, unwilling to assume fresh responsibilities, refused it. The Amir then turned to Russia, and Russian envoys were at the Court of Kabul in 1876. Lord Lytton, whom Disraeli had sent out as Viceroy, thereupon declared a protectorate over Baluchistan, took control of the Bolan Pass, and established a military station at *Quetta*, from which a flank attack could be made on any force advancing through Afghanistan.†

Second Afghan War.—In 1878, when anti-Russian feeling in Britain was at its height, the Amir of Afghanistan received a Russian envoy and refused to admit a British envoy. War was

* See School Atlas, Plate 55*a*,
† See School Atlas, Plate 54.

thereupon declared. A triple advance on Kabul drove the Amir to flight. Afghanistan became a vassal State, with a British resident at Kabul, and the frontier was revised so as to secure to India the control of the passes. But, as in 1840, there was a revolt: the British resident was murdered, and the war had to be fought all over again. There was much difficult fighting. A British force was seriously defeated at *Maiwand* (1879) and shut into Kandahar. In order to relieve, General Roberts had to make a march of 300 miles through hostile and difficult country. This brilliant achievement made the reputation of the most beloved of British soldiers. But it also showed how perilous was the occupation of such a country as Afghanistan. In 1880 Lytton's and Disraeli's forward policy was reversed. Afghanistan was left to itself. But the war had given to the Government of India the keys of the mountain wall which forms its defence on the north-west.

3. The Self-Governing Colonies

Withdrawal of Troops.—In all the self-governing colonies the quiet years from 1850 to 1880 formed a period of steady and rapid growth. The colonies were now fully self-governing. They no longer needed the nurturing hand of the mother-country, which had been so necessary in the earlier period. It was a sign of this that in 1862 Parliament resolved to withdraw all the garrisons which had been maintained in these colonies; they were all gone by 1873, and officers had been sent out to help Canada and Australia in organising their own system of defence.

Progress of Canada.—Canada, which had been stagnant and unprogressive in the period before she became self-governing, had made rapid progress since that date. Her population rose from 1½ millions in 1840 to nearly 4½ millions in 1881. A vast deal of work was done in opening out the country by means of railways, mainly financed by British capital. A new colony was organised on the Pacific coast in 1858 (British Columbia).* But it was separated from the other colonies by the vast expanse of the central plain, still controlled by the Hudson Bay Company; it was jealous of admitting immigrants. In all this wide region there was only one small settlement, that of Red River (Manitoba); it had been founded as early as 1811. The trade relations of the various separate colonies were rather with the United States than with one another or the mother-country, and many feared that unless they could be more closely welded together, they would be absorbed by their greater neighbour. The tradition of the United Empire Loyalists was too strong to make this an attractive prospect. Moreover, friction had begun to grow again between the French and English in Upper and Lower Canada, which had been united in 1840. This would be avoided if each race could have its own legislature, but nobody wanted to separate them completely.

Canadian Federation.—All these reasons led to a movement for the federation of all the Canadian colonies, which was agreed

* See School Atlas, Plate 51.

upon under the leadership of Sir John Macdonald, and embodied in the British North America Act, passed through the British Parliament in 1867. This Act separated Ontario from Quebec, but it also united all the colonies as "the Dominion of Canada" under a single federal government; the various colonies becoming "provinces" with local legislatures of their own. Warned by the American Civil War, the framers of the Canadian constitution avoided the American model, and definitely subordinated the provinces, to the central government. Instead of giving limited powers to the central government, and all other powers of the States (as in America) it gave limited powers to the provinces and all other powers to the central government.

Annexation of the North-West.—Two years later (1869) with the aid of the British Government, the Hudson Bay Company was bought out, and the vast central plain passed under the control of the Dominion. This change, however, caused a rebellion among the half-breed trappers of the Red River district. Led by Louis Riel, and with some help from across the American border, they seem to have aimed at founding a French-Catholic State British troops had to be sent out under Sir Garnet Wolseley before the rebellion was crushed. Then the province of *Manitoba* was organised (1870); and the general maintenance of order throughout the vast area of the north-west was entrusted to a magnificent corps, organised in 1874, under the name of the North-West Mounted Police.

Railway Construction.—In order to weld the new federation together, great railway works had to be undertaken. The Intercolonial Railway, linking Canada proper with the maritime provinces, was completed in 1876. The greater task of linking east with west was longer delayed, though British Columbia only came into the federation (1871) on condition that a transcontinental line was built. The line, the famous Canadian Pacific Railway, was not begun until 1881. But already in 1880 the Canadian group of colonies had been united into a single free nation, controlling half a continent. This was just a century after the failure to bring about a similar union had led to the unhappy breach between Britain and the thirteen American colonies.

Progress of Australia.—In Australia the progress made in these quiet years was even more remarkable: the population of the Australian group of colonies rose from less than half a million in 1850 to over 2½ millions in 1881. This was mainly due to the discovery, in 1851 and the following years, of rich deposits of gold, which brought a sudden inrush of gold-diggers. And, since the diggers had to be fed, it also led to a great increase of cultivation. The chief gold-fields were in Victoria, which multiplied its population tenfold in twenty years; but there were others in New South Wales and Queensland, which became a separate colony in 1859.* Alongside of this increase of wealth and population went a rapid development of railways, whereby the country was opened up. This was

* See School Atlas, Plate 55*b*.

also the heroic age of Australian exploration, when Burke and Wills, Stuart, Forrest and others mapped out the great desert heart of the Continent. Australia was not without her troubles in this period. The gold-diggers were turbulent, and difficult to keep in order; the bush-ranger also gave a good deal of trouble; in some respects the
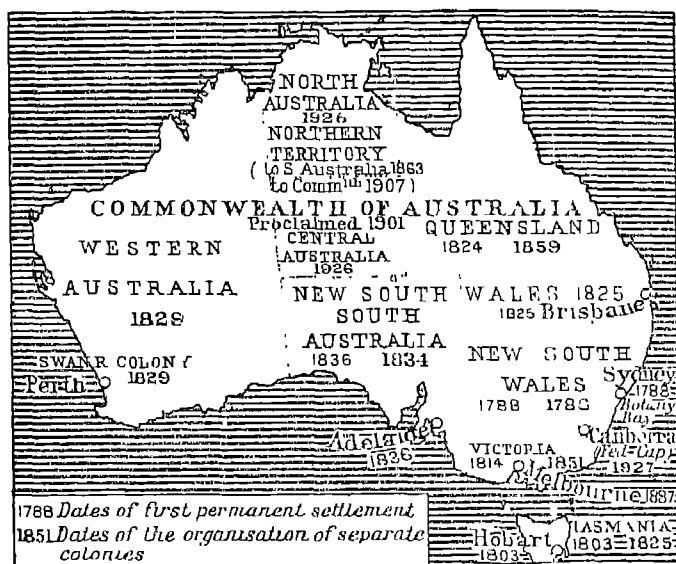
Fig. 41.—Australia.

system of government worked badly, and some of the colonies were brought to the verge of bankruptcy by their reckless expenditure. But, with the exception of Western Australia, which made no progress until gold was discovered there in the 'nineties, the Australian colonies were in 1880 prosperous and rapidly advancing, and had justified their claim to the ownership of a continent.

The Maoris in New Zealand.—The progress of New Zealand was handicapped by troubles with the warlike Maoris of the North Island. For ten years, 1860 to 1871, there was incessant fighting, in which British troops as well as colonial volunteers had to be employed. The Maoris were gallant aud chivalrous fighters. In the end terms of peace were arranged which have proved satisfactory ever since (1871). The main difficulty was the land question, which was settled on terms that securely reserved a sufficiency of land for the Maoris A striking feature of the settlement was that four Maori representatives were admitted on equal terms to the colonial legislature.

Progress of New Zealand.—In spite of these difficulties New Zealand made steady progress, but the majority of the new settlers came to the South Island, out of reach of Maori troubles.

In the twenty years from 1861 to 1881 the population rose from 100,000 to 500,000. The increase was mainly in the last ten years, during which both coal and gold were developed, and over 1,200 miles of railway were built. New Zealand was fairly launched upon her career as a free and self-governing State. Her growing unity was recognised by a change in the system of government. The little provincial assemblies of the isolated settlements which had been set up in 1856 were no longer needed; and in 1876 a single Parliament took control of the country's destinies.
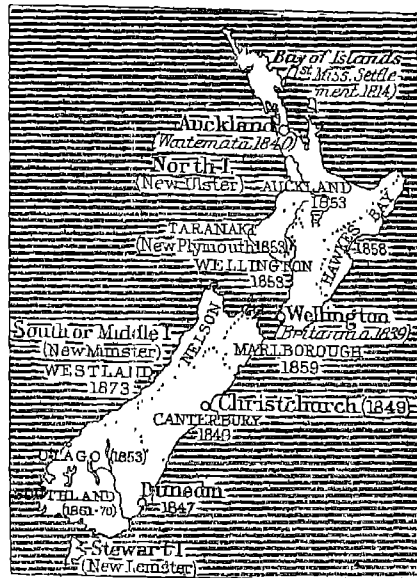
Fig. 42.—New Zealand

Cape Colony and Natal.—South Africa was, as always, the most disturbed of the colonies. But even South Africa enjoyed a period of comparative peace after the conventions of 1852 and 1854, by which the independence of the Transvaal and the Orange Free State had been recognised (p. 466). *Cape Colony* prospered steadily: its white population multiplied threefold in the quarter of a century from 1850; Boers and British were friendly; the native population was peaceable; and in 1872 the colony was endowed, by Gladstone's Government, with the full system of responsible government. It is noteworthy that the franchise, on an educational qualification, was given to the natives. Cape Colony is the only part of South Africa in which this has ever been done. *Natal* had as yet few white settlers; they were vastly outnumbered by the natives; and they lived in some dread of their dangerous neighbours, the Zulus, who had built up again under their chief Cetywayo the formidable military power by which they had terrorised South Africa before they were defeated by the Boer trekkers (1837).

Diamonds and the Free State.—The *Orange Free State* passed through a troubled time in the first years after independence (1854), and had several wars with their native neighbours the Basutos. After 1864, however, they settled down under an able President, J. H. Brand; and in 1869 *Basutoland* was formally declared a British protectorate, and Basuto wars came to an end. In 1870, however, a difficulty arose between the British Government and the Orange Free State. Diamonds were discovered in 1868 on the western borders of the Free State, in the neighbourhood of the modern Kimberley. This brought an influx of undesirable immigrants, difficult to control. The diamond area was claimed both

by the Free State and the native tribe of Griquas. The British Government, feeling that the policing of the diamond-diggers would be beyond the powers of a community of farmers, with the consent of the Griquas annexed Griqualand West, including the diamond area, and paid £90,000 to the Free State as compensation This might well appear a high-handed act, and it poisoned relations with the Free State for some time.*

The Transvaal and the Zulus.—Finally, in the *Transvaal* the Boer settlers, who numbered only about 10,000, scattered over a vast area, were throughout this period in a condition of anarchy. At one moment they were divided into four republics, on bad terms with one another. They were also restless and adventurous, and constantly at issue with their native neighbours. Complaints of their behaviour came to the British Government from several of the native tribes, and from the missionaries: Livingstone complained that they had raided the tribe among whom he was working, and burnt his house. It was feared that they would stir up serious native trouble. In particular they were on bad terms with Cetywayo and his Zulus, and had annexed territory which Cetywayo claimed. If a war with the Zulus broke out, all native Africa might be aflame.

Need for Federation.—It was clearly desirable that a common native policy should be pursued by South Africa as a whole. Sir George Grey had, as early as 1858, advocated a federation of the four white States. In 1876 Lord Carnarvon, Disraeli's colonial secretary, took up this scheme, and tried to get the two British colonies and the two Boer States to agree. He also sent out Sir Bartle Frere, a very able Anglo-Indian, as High Commissioner, with instruction to carry out federation.

Annexation of the Transvaal—Independently of Frere, Shepstone, the Lieutenant-Governor of Natal, who was very anxious about the Zulus, went up to the Transvaal, and, finding that some of the Boers were as anxious as himself, and that the republic was in a state of anarchy, declared the Transvaal annexed to the British Crown (1877), and promised that it would receive full powers of self-government under a scheme of federation. The annexation was at first quietly received; partly, perhaps, in expectation of the federation proposals, but mainly because Cetywayo and his Zulus were threatening, Nothing happened, however, about federation, and the promised system of self-government was delayed.

The Zulu War.—Cetywayo, on the other hand, became more and more menacing; and in 1879 war broke out. It was badly conducted, and very damaging to British prestige in South Africa.† A disaster at *Isandhlwana* would have exposed Natal to the Zulu hordes, but for the valour with which *Rorke's Drift* was defended by a small force. Large reinforcements had to be brought up before the Zulu army was crushed at *Ulundi*, 1879, after which Cetywayo was deposed. The annexation of the Transvaal, and the incompetence with which the Zulu War was conducted, led directly to the

* See School Atlas, Plate 56*d*.
† See School Atlas, Plate 56*e*.

revolt of the Transvaal Boers (1880), which was the beginning of twenty years of trouble in South Africa that filled the next period.

4. The West Indies, West Africa, and the Pacific

Effects of the Abolition of Slavery.—The older tropical colonies of Britain, in the West Indies and West Africa, had fallen on evil days during the nineteenth century. Their prosperity had depended on slavery: slaves grew the sugar and tobacco of the West Indies; and it was the inhuman traffic in slaves for the West Indian plantations that brought riches to the trading stations on the West African coast. The abolition of the slave trade in 1807 almost put an end to trade in West Africa for two generations; and the abolition of slavery in 1833 brought ruin to the West Indies, because the emancipated negroes would not work, finding life very easy in that climate.

The West Indies.—After the middle of the nineteenth century, however, a revival began in the West Indies, largely owing to the coming of free labour from India, especially to Guiana and Trinidad, But the government of the lazy and illiterate negroes was not easy especially as it rested in the hands of their one-time masters. In 1865 a dangerous rising broke out in a corner of Jamaica. Martial law was proclaimed, and the rising was put down promptly by the Governor, Mr. E. J. Eyre. But ugly deeds were perpetrated. A vehement controversy arose in England regarding the conduct of Governor Eyre, which became a party question.*

Abandonment of Self-Government.—The controversy led to an unexpected result. It was felt that the government of ex-slaves by their ex-masters was liable to lead to abuses. The planters themselves found the position invidious, while they hated the idea of admitting the negroes to civic rights. Accordingly, at the request of the planters themselves, the system of representative government, limited to white men, which had existed since the seventeenth century, was abolished in 1866, and Jamaica became a Crown Colony, ruled by a Governor responsible to Downing Street. Most of the other West Indian colonies followed suit. This might seem a retrograde step, but it seemed plain that representative institutions were inappropriate to countries in which there was a white aristocracy amid an overwhelmingly larger population of blacks, at any rate until the blacks were educated and more fully civilised. The principle thus established became a general rule throughout the British Empire: in the backward regions of the tropics self-government has been withheld, and the mother-country has retained control.

West Africa.—In West Africa there were three British colonies—Gambia, Sierra Leone, and a group of trading-stations on the Gold Coast.† For a time, after the abolition of the slave trade, these stations were almost abandoned. But presently a new traffic in palm-oil arose; and there were a number of mission stations, which

---

* Carlyle wrote violently in favour of Governor Eyre (Latter-day Pamphlets).

† See School Atlas, Plate 56c.

were doing good work among the native tribes of the hinterland. In 1843, therefore, Government resumed control, and established a protectorate over some of the tribes. A little later the Danish and Dutch Governments, finding that their forts on the Gold Coast were run at a loss, sold them to the British Government. The Dutch had been in the habit of paying tribute to the savage king of Ashanti. This tribute now ceased; the slave trade, on which he had thriven, had come to an end; and it was no longer safe for him to raid the coast tribes. In 1873 this savage protentate therefore attacked the Gold Coast colony. An expedition under Sir Garnet Wolseley was sent to deal with him; the Ashanti power was broken; the trade routes to the interior were thrown open; and the Gold Coast began to prosper. Meanwhile, in 1861, the islands of *Lagos* had been occupied by the navy as a base for attack on the slave trade which was carried on in this region, and against which the British Navy wedged incessant war. Lagos soon became also a valuable trade centre, being the outlet for the rich palm-bearing region of the Oil Rivers Because of the growing commercial importance of palm-oil, the West Coast was again becoming valuable; and Britain held the predominant position in all this region. Her missionaries as well as her traders were everywhere; many native tribes petitioned to be taken under her protection. But the home Government refused all these requests, being unwilling to extend its obligations.

The Pacific Islands.—In very much the same way British influence had become preponderant in the Pacific. British traders and British missionaries visited all the islands. There were some French traders and missionaries also, and a few Germans. The French annexed the islands of Tahiti (1843) and New Caledonia (1853). Many islands petitioned to be taken under British protection, no doubt under the influence of the missionaries. In 1870 a conference of the Australasian colonies demanded that the home Government should declare a protectorate over most of the islands. But the home Government would not listen to these demands; it wanted no more territory.

Annexation of Fiji.—In 1871, however, its hand was forced. Many traders, being subject to no control in the islands, were scandalously maltreating the natives, carrying them off in batches for forced labour, either in Australia or on the islands where sandalwood could be got These iniquities were rousing hatred for the white man among the islanders. In 1871 the heroic missionary, Bishop Patteson, was murdered in one of the Santa Cruz islands in revenge for the misconduct of a trading vessel. This aroused strong feeling at home; and in 1872 Gladstone's Government passed an Act to regulate the Pacific trade, and to establish a High Commissioner, with powers to enforce these rules on all British subjects. But the High Commissioner had to have a headquarters. In 1874, therefore, the Fiji Islands were annexed, on the petition of their inhabitants, and became the centre of a vague protectorate over all the islands not [an]nexed by other Powers. In the Pacific, as in West Africa, the

British Empire went on growing despite all that the home Government could do to prevent it.

5. The Exploration of Tropical Africa

Africa was the first continent whose outline was revealed to Europe by the great explorations of the fifteenth century. It was the last continent to yield up the secrets of its interior. Down to 1850 very little was known of the Continent, beyond the coastal regions, and current maps were either empty, or filled with imaginary rivers and mountains. In the quarter of a century following 1850 all the main features of the Continent were revealed by a remarkable series of explorations, its immense riches were disclosed, and it lay ready to be exploited by the European powers.

David Livingstone.—The work of discovery was done by a
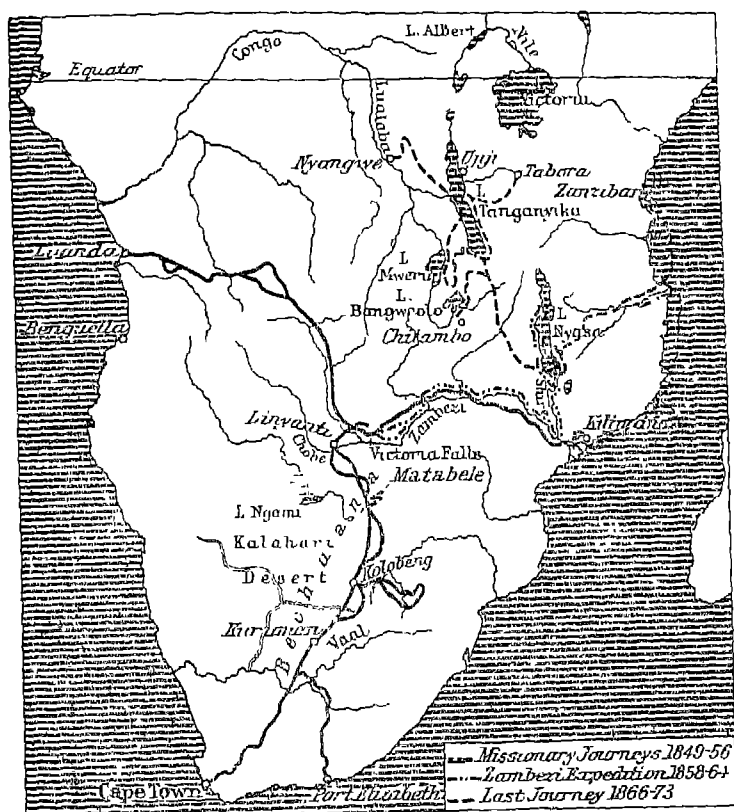
Fig. 43—Livingstone's Explorations.

host of explorers, British, French, and German.* But the most remarkable work was done by British explorers ; this was natural

* See the larger Atlas, Plate 88.

seeing that British traders and missionaries were more active than those of any other country in every part of the African coast. The greatest of them all was David Livingstone.* He was the son of Scottish working people, and had paid for his training as a missionary by working at the loom. In 1840 the London Missionary Society sent him to Kuruman, in Bechuanaland, far to the north of Cape Colony. There he saw what savagery meant, and the degradation and cruelty which it involved. To open up Africa, and to bring to bear upon it the influence of Christianity and civilisation became the passion of his life. In 1849 he made his way to Lake Ngami and the great River Zambesi, with only such resources as a lonely missionary could command. In 1853 he explored the course of the Zambesi, and crossed the continent from shore to shore. Between 1858 and 1864, under a commission from the British Government, he explored the Zambesi valley further, as well as Lake Nyasa, the southernmost of the great African lakes. In 1866 he set forth on the last and longest of his journeys, which ended with his death in 1873. During this journey he mapped out a great part of Western Africa, and the upper valley of the Congo. For courage and devotion, the single-handed achievements of this noble man have never been surpassed.

Other Explorations.—Other explorers were at work during the same years. Button and Speke discovered the great lakes Tanganyika and Victoria; Speke and Grant traced the course of the Nile; Cameron crossed the continent from Zanzibar to Banguela; a series of French and German explorers crossed and recrossed the Sahara. Finally, in 1874-1877, H. M. Stenley (who had previously found Livingstone) traced out the course of the mighty River Congo, and disclosed the enormous potential wealth of its valley. The interest of Europe in Africa had been growing as its secrets were revealed. Stanley's journey, which came when Europe had settled down after the Franco-Prussian war, brought this interest to a high pitch, and started the rush for territory in Africa which took place during the next twenty years.

Character of the Empire.—The British Empire as it was in 1880 was already the most gigantic collection of territories which had ever in the history of the world been brought under a single political system. It spread into every continent and was washed by every ocean. Its greater members were linked together by innumerable trading-posts and calling stations—Gibraltar, Malta, Aden, Mauritius, Singapore, Hong-Kong, and many others. It included peoples of every grade of civilisation, and immeasurable natural resources. Naturally it was regarded with envy by the European nations, who were just beginning to desire external possessions

Its Incoherence.—Yet the British people as yet attached comparatively little value to it. It had grown up almost by accident, mainly during the century since the loss of the American colonies.

* There is a short Life of Livingstone by Thomas Hughes (English Men Action).

It was not held together by any rigid system of control; people in Britain vaguely assumed, at this date, that its members would part company and become indep[illegible] It was not held together by force, for the military for[illegible] Britain could dispose were very small. It was not, [illegible] sense of the term, an "empire" at all, since its main fe[illegible] complete self-government for its English-speaking m[illegible] in other regions, a recognition that it was the primary d[illegible] ruling power to think first of the interests of its native s[illegible] to protect their rights and usages. These features had [illegible] mainly to the work of the colonial enthusiasts of Wakefield [illegible] and to the work of the missionaries and their influence at h[illegible]

Growth of Imperial Sentiment.—In the years be[illegible] a sense of pride in this extraordinary empire was beginning [illegible] up in Britain. One sign of it was the publication, in 18[illegible] excellent book with the significant title of *Greater Br[illegible]* Charles Dilke, a young Radical who became a member of Gl[illegible] Government in 1880, and who was an intimate associate of [illegible] Chamberlain, another fiery Radical of that day: Dilk[illegible] Chamberlain may be described as the heirs of the tradition of [illegible] field, Durham, and the Radical Imperialists of the thirties. [illegible] sign was the emphasis which Disraeli continually laid upon Br[illegible] imperial interests. A third sign was the beginning of a dem[illegible] Imperial Federation, which started with W. E. Forster, the [illegible] of the Education Act of 1870. The imperial spirit was [illegible] Britain at the very moment when the desire for oversea po[illegible] was beginning to capture the European peoples.

Supplementary Reading on Book VIII

The subject-matter of this Book is much more fully covered in [illegible] and X of the *Short History of the British Commonwealth* (Vol. II, pp. [illegible] Trevelyan's *History of England in the Nineteenth Century* is a good a[illegible] able short book; for fuller detail, refer to Marriott, *England in the N[illegible] Century*, or the two volumes of Longmans' *Political History* by Brod[illegible] Fotheringham (1802-1837) and by Low and Sanders (1837-1902). B[illegible] *English Constitution* gives a classical description of the working of the [illegible] system during this period. For the contemporary history of Europe, w[illegible] very slightly touched upon in the text, there are many good summaries; the best is C. H. Hazen's *Europe since* 1815. On special aspects, Muir's [illegible] *ism and Internationalism*, *National Self Government*, and *Expan[illegible]* *English Prime Ministers in the Nineteenth Century*, edited by [illegible] is a collection of useful but unequal essays by various han[illegible] Piers Plowman Social and Economic Histories (by N[illegible] Spalding) is useful. For details about India, V. A. Smit[illegible] *India*. Rice Holmes' *Indian Mutiny* is well worth readi[illegible] it is a biggish book. On Canada, Grant's *Short History* [illegible] Jenks' *History of Australia*; on New Zealand, Reeves' [illegible] South Africa; Theal's *South Africa* (Story of Nations [illegible] *England* should be read not only as a good surve[illegible] create imperial sentiment.

BOOK IX

THE RIVALRY OF WORLD-POWERS AND THE RISE OF NEW SOCIAL AIMS

(1880—1914)

Fig. 44.—The British Empire, 1880-1914.

BOOK IX

THE RIVALRY OF WORLD-POWERS AND THE RISE OF NEW SOCIAL AIMS (1880—1914)

THREE outstanding features marked the generation which lay between the fall of Disraeli and the outbreak of the Great War. They affected not only the British peoples but the whole world.

One was the eager imperialist rivalry of the European Powers, which led to the rapid partition of all the unoccupied regions of the world, the extension of the control or influence of European civilisation over the whole globe, and the emergence of a group of world-powers whose mutual fears and suspicions were among the causes of the Great War. Alongside of this went the grouping of the Great Powers into two rival alliances, armed to the teeth, and watching for an opportunity to take advantage of one another. Britain had her share, and more than her share, of the new territories occupied during this period; and her pride in her vast dominions grew rapidly. She strove to hold aloof from the rival alliances, but was in the end inevitably drawn into association with one of them.

A second feature of this period, closely related to the first, was the growth of a strong nationalist spirit among some of the lesser peoples of Europe, and also in the lands outside Europe. Within the British Empire it was seen in the growing nationalism of the great Dominions, in the rise of a nationalist movement in India, in the nationalist aspirations of the South African Dutch, and above all in the formidable nationalist movement in Ireland. These movements were partly a protest against the dominating power of the great empires. It was an extremely difficult problem to discover how these nationalist aspirations could best be dealt with Some thought they should be met with sympathy ; others thought they should be crushed out by force.

The third feature of the time was the disappearance of the satisfaction with the social results of industrialism that had marked the middle of the nineteenth century The conviction grew that the mass of working men and women did not get their fair share of the wealth that their labour helped to produce, and a demand arose that the power of the State should be used to rectify these inequalities, and to secure better conditions of life for the masses. In their extreme form these beliefs led to a revival of Socialism, that is, to a demand that the State should assume control of the whole process of wealth-production. But even those who thought that such drastic measures would be both impracticable and ruinous shared the growing belief that the power of the community ought to be more boldly used for the protection of the weak and the improvement of the conditions of life. This increasingly became the main object of political action. These ideas were at work not only in Britain, but in all the Dominions, and in all the European countries.

We are still too near the events of this period (which falls entirely within the lifetime of living men) to be able to form a sure judgment about them. But a period in which European civilisation was completing the conquest of the world, in which the question of the rights of peoples to freedom was being raised in new forms, and in which communities were beginning to strive to use their power to bring about a wider diffusion of happiness, is clearly a period that deserves to be studied and understood. The problems raised by this period were so tremendous that in the end they brought about the most terrible war in human history—a war that certainly marks a decisive turning-point in the affairs of the British peoples and of the world.

CHAPTER XLVII

NATIONALISM AND IMPERIALISM (1880—1895)

1. Gladstone's Second Government (1880—1885)

When Gladstone was returned with a large majority at the election of 1880 it seemed as if a new period of Liberal ascendancy was about to begin. But his second ministry was involved in difficulties from the moment of its formation.

Chamberlain and the Radicals.—To begin with, the Cabinet was deeply divided. A strong Radical movement was rising within the Liberal party, which filled the Whig members of the Cabinet with fear. Its leading spokesman in the Cabinet was Joseph Chamberlain, a Birmingham manufacturer who had done great work in the municipal government of Birmingham, and who was ready to make bold use of the power of the State to improve the condition of the people. He was an unflinching democrat, advocating universal suffrage and payment of members, and very scornful of the House of Lords. To pay for the cost of great social reforms, he wanted to impose heavy differential taxation on the rich, as a just "ransom," to be paid by those "who toil not neither do they spin." He also advocated free education, and the revival of British agriculture by the compulsory purchase of land for small holdings. To the Conservatives he appeared to be a red revolutionary; and as he did not hesitate to express his opinions openly, whitout any regard to the views of his colleagues, Gladstone had great trouble in keeping his Cabinet together. Chamberlain was the spokesman of the rising demand for a policy of social reconstruction, and as he was, next to Gladstone himself, much the ablest man in the Government, he had a strong hold upon the rank and file. He was also an imperialist, sharing with his friend Dilke, another advanced Radical, a strong belief in the importance of strengthening the Empire.

Domestic Reforms.—In spite of Radical pressure, however, the Government was not able to achieve very much in the direction of domestic reform, partly because its attention was engrossed by a succession of difficult foreign and colonial problems, partly

because the Irish party and a small group of Conservatives led by Lord Randolph Churchill were doing their best to make the conduct of public business impossible by parliamentary obstruction—with such success that a complete breakdown of the system of parliamentary government almost seemed to be imminent. Nevertheless, some important changes were made. Attendance at school was made compulsory for all children (1881) ; this was the logical consequence of the Act of 1870, but it could not be required by that Act, because the schools had not then been provided. Employers were made liable for accidents to their employees while at work (1880) ; this was the beginning of a long series of laws which imposed new obligations upon employers. A married Women's Property Act (1882) undid the gross injustic whereby the property of married women had hitherto belonged to their husbands ; this was the beginning of the movement towards equal rights for women. Finally, in 1884, the Third Reform Act was passed, which conferred the vote upon agricultural labourers and upon all householders in towns ; this practically established democracy, so far as the male half of the population was concerned. There was a sharp conflict with the House of Lords over this Act, and an agitation for the "mending or ending" of that House was started. But the Lords accepted the Act on condition that it was accompanied by a Redistribution Act, whereby the country was divided into single-member constituencies of approximately equal size

Parnell and Ireland—Ireland occupied most of the time of Parliament, because the Irish problem had reached a critical stage. Parnell had now become the leader of the Home Rulers, and under his strict discipline they so greatly hampered the course of discussion that the traditional freedom of debate, which the House of Commons had always prized, had to be seriously restricted. Parnell and his colleagues did not regard themselves as members of a united parliament, but as the spokesmen of a subjugated nation, who would use every means, including if need be the wrecking of Parliament, to win their national independence. He had become the "uncrowned king" of Ireland. The Land League, which he had founded in 1879, was stimulating the tenants to refuse payment of their rents. When a tenant was evicted, the order was that any one who took his farm should be, in Parnell's words, "treated as a leper" ; and the name of a land agent, Captain *Boycott*, who was a victim of this treatment in 1880, has been added to the dictionary as a synonym for this kind of ostracism. Crimes of violence, including even midnight murder, became common : there were over 2,000 cases in 1880. Parnell did little to discourage these outrages, though he was not responsible for them. The American-Irish organisations of the Fenians and the Clan-na-gael were busily at work.

The Irish Land Act.—Gladstone's Government dealt with this terrible situation in two ways : first by trying to remove the real grievance ; secondly, by strictly enforcing the law. For the first purpose the *Land Act* of 1881 was passed. It established a land court, empowered to fix fair rents on the application of either landlord or tenant ; once the rent was fixed it could not be altered for fifteen

years. At the same time, the Act provided that the State should advance three-quarters of the purchase price to any tenant who chose to buy his land. This was the boldest interference with landlord-rights that had ever been undertaken. It aroused furious indignation among English landlords ; but it did not satisfy Parnell, who wanted nothing short of Home Rule.

Kilmainham and Phoenix Park.—Meanwhile, strong Acts for the maintenance of order had been passed, and numerous arrests were made. At the end of 1881 Parnell and six of his collegues were lodged in Kilmainham gaol, though there was no proof that he was responsible for the outrages, which increased after his arrest. In 1882 Chamberlain made an agreement with Parnell (the "Kilmainham treaty") whereby Parnell agreed to use all his influence against outrages, and to support the Government's land policy, provided that some provision was made to prevent tenants being evicted for arrears of rent. Here was a chance of peace, which Gladstone eagerly welcomed. Forster, the Chief Secretary who had arrested Parnell, indignantly resigned. A new chief Secretary, Lord Frederick Cavendish, was appointed to initiate the policy of conciliation But on the day on which Lord Frederick entered Dublin (May 6, 1882) he was murdered in Phœnix Park, along with the Permanent Secretary, Mr. Burke, by a group of Irish extremists, who were known as the Invincibles. This tragedy destroyed, as it was meant to do, the possibility of peace, which had seemed to be within reach. It turned the sentiment of England and Scotland violently against the Irish. For the rest of Gladstone's Government, nothing could be done but to enforce the law. The task was carried out firmly and justly by Lord Spencer. But sullen unrest continued in Ireland, and incessant obstruction in the House of Commons. Some began to ask themselves whether this state of things could continue, and whether some form of Irish self-government was not the only way out of the difficulty ; and leading Liberals, such as the great journalist, John Morley, became strong advocates of Home Rule.

2. Foreign and Colonial Entanglements

Meanwhile the Government had been involved in one difficulty after another oversea.

Afghanistan.—First the disastrous Afghan adventure (p. 500) had to be wound up. It was decided to withdraw from Afghanistan, as soon as Roberts' brilliant march to Kandahar had restored British prestige (1880.) The decision was right and necessary, but it looked like accepting a humiliation.

The Transvaal · Majuba.—Then followed a rebellion among the Boers of the Transvaal, who had never accepted the annexation of 1877 (p. 505). Gladstone had condemned the annexation at the time ; he did not want to see another Ireland created in South Africa* ; and he at once opened negotiations to discover what terms

*See School Atlas, Plate 50*d* and *c*.

would satisfy the Boers. In the midst of the negotiations, the Boers won a striking success. A small body of 500 British troops had been posted on Majuba Hill, commanding the important pass of Laing's Nek, which leads from the Transvaal to Natal. The Boers crept up the hill in the night, and overpowered its garrison (February 1881). In a military sense, this was an unimportant event; large British forces were assembling, which could certainly have crushed the Boer resistance. Gladstone thought that this incident ought not to stop the negotiations, and that lives ought not to be spent merely for the sake of prestige. He therefore concluded a treaty whereby the Transvaal Boers were granted complete autonomy, subject to their foreign relations being under the control of the British Government. This was regarded, both in South Africa and in Britain, not as an act of magnanimity, but as a humiliating surrender; and the troubles which followed later were attributed to it. It is probably true that the more ignorant Boers thought they had defeated the British Empire, and were encouraged to hope that they might in time secure the aim of an independent Dutch South Africa; for among them, as in Ireland, the nationalist spirit was at work. Three years later the agreement was revised in the *Convention of London* (1884), which provided that the Transvaal should not make a treaty with any other State except the Orange Free State unless the British Government assented.

Partition of Africa.—The Gladstone Government also had to deal with the first movements of the European Powers towards the Partition of Africa. That question will be dealt with elsewhere. It was a problem of a new kind, and involved difficult relations with both France and Germany. The attitude adopted by the Government was to welcome the participation of other Powers in the civilisation of Africa, and to secure (as was done in the Conference of Berlin, 1884) that in the annexed territories slavery should be prohibited and freedom of trade, so far as possible, secured. It also declared a protectorate over *Nigeria*, where British trading interests were menaced by the advancing power of France.

Russia and India—In 1885 a very dangerous situation arose with Russia, and war was almost precipitated. The advancing Russian forces in Central Asia came into collision with the Afghans at Penjdeh. For a moment war was so near that war-credits were asked from the House of Commons, the army and navy were ready for action, and Port Hamilton, on the coast of China, was occupied as a naval base against Vladivostock in case of need. But the danger was staved off by the appointment of a joint commission to delimit the frontier.

The Egyptian Question.—The most serious entanglement into which Gladstone's Government found itself drawn was in Egypt. Since the time of Mehemet Ali (p. 446) Egypt had been a practically independent State, though its Khedive was nominally a vassal of the Sultan. From 1863 to 1879 the reigning Khedive had been a reckless and ambitious spendthrift, Ismail Pasha. He had completed the conquest of the Egyptian Sudan (the upper valley of the Nile),

Fig. 45.—Egypt and the Sudan.

which Mehemet had begun.* The work had been done for him by two adventurous Englishmen, Samual Baker and Charles George Gordon, who successively acted as Governors of that province, and carried Ismail's dominion as far south as the great lakes. Gordon,† who was in the Sudan from 1874 to 1879, was one of the noblest of Englishmen: at once a mystic, a saint and a soldier, he could command the devotion of simple folk, and in the eyes of the British people he was a hero of romance.

The Revolt of Arabi.—The cost of this and other adventures, as well as his general extravagance, reduced the Khedive almost to bankruptcy; this was why he sold his Suez Canal shares to Disraeli in 1875. He also borrowed wholesale from French and English financiers. In 1876, in order to obtain some security for these loans, the financiers obtained the establishment of an international *Caisse de*

* See School Atlas, Plate 56*a*; Introduction, p. 31, fig. 48; and the larger Atlas, Plate 88*a* and *b*.

† There is a short Life of Gordon by Sir W. Butler (English Men of Action). Lytton Strachey has a brilliant essay on Gordon in *Eminent Victorians*.

la Dette in Egypt: it received about half of the revenues of Egypt, and also had some rights of control over the rest Thus European finance wielded great influence in Egypt, and all the European Powers had a voice in Egyptian affairs. Ismail misgoverned Egypt so badly that in 1879 the Powers urged the Sultan of Turkey to depose him, and his son Tewfik took his place. But the Egyptian army resented both the power of the European financiers and the control of the Turkish royal house. A nationalist movement sprang up among the Egyptian officers, led by Arabi Pasha, and in 1882 they got control of the Egyptian Government. The anti-European spirit which they represented was very dangerous to the Europeans in Egypt, especially as the country was falling into a state of anarchy. Their lives and property were seriously menaced.

British Intervention.—What was to be done? The Powers consulted together, but could not agree. The Sultan of Turkey would take no responsibility As France and Britain were chiefly concerned, the French Government proposed that they should take joint action. A combined fleet was therefore sent to Alexandria. But when a nationalist tumult broke out in that city, and Europeans were murdered, the French fleet withdrew, the French Government having in the meanwhile been changed. The British fleet bombarded the forts of Alexandria, and landed marines to protect the Europeans. But this was not enough. Order must be restored. As nobody else would act, the British Government sent an army under Sir Garnet Wolseley, which defeated Arabi at *Tel-el-Kebir* (September 1882), captured the leaders of the revolt, and occupied Cairo. This was done, however, on a pledge that the British army would be withdrawn as soon as order was restored; and the Government evidently believed that this could be quickly accomplished.

Baring in Egypt.—In reality it was an extremely complex and difficult task to restore order and competent government in a country which was so laden with debt, and which had been so long and so badly misgoverned. The position of the British representative was entirely anomalous. Britain was not the suzerain power in Egypt: that position belonged to Turkey, and Turkey made difficulties. More serious, the *Caisse de la Dette* controlled half the revenues, and wielded great powers; while Egyptian sentiment was easily offended. It demanded a man of extraordinary powers to deal with such a situation. He was found in Evelyn Baring, afterwards Lord Cromer, who was sent to Egypt as "Consul-General" in 1884, and achieved miracles during the next few years.

The Mahdi in the Sudan.—A further difficulty arose from the question of the Sudan. In 1881 a fanatic claiming to be the Mahdi (or Messiah) had arisen in the far south of that huge province. He appealed to the fanaticism of the tribesmen, and rapidly made himself master of a great part of the Sudan In 1883 an Egyptian army under a British officer, Hicks Pasha, was sent out to deal with him. It was annihilated. This meant that the Sudan was lost; and that Egypt also would probably be overrun unless the British army remained to protect it.

The Death of Gordon.—What was to be done about the Sudan? Did the undertaking to "restore order" mean that Britain must reconquer the Sudan for Egypt and engage her soldiers in a war in the heart of Africa? The Government declined to accept this view, and decided that the Sudan must be abandoned. But in that case the Egyptian garrisons in the province must be withdrawn. To perform this difficult task, General Gordon was asked to return to the Sudan. He undertook the task (1884). But when he was back in Khartoum, the Sudanese capital, he found it hard to see the province he had once ruled given over to savagery. He delayed the evacuation, sending bewildering and contradictory messages to Baring at Cairo. Soon it was too late. He himself was isolated. It became necessary to send an expedition to relieve him. The Government wavered. The experts quarrelled about the right route. Finally, after unhappy delays, a force under Wolseley made its way up the Nile, only to find that Gordon had been overwhelmed and killed (January 1885). The news of the hero's death was heard with shame and anger at home. All the blame was visited, not quite fairly, upon the Government. Nothing in all its varied history did it more harm.

Fall of the Government.—Everything had combined to harass the second Gladstone Government. Divided among themselves by the quarrels between Whigs and Radicals, they had had to face a practical breakdown of the parliamentary system, a state of revolution in Ireland, a menace of war from Russia, a difficult situation in South Africa, and an extraordinarily complex problem in Egypt. Their prestige declined rapidly; and, being defeated on a detail of the budget of 1885, they were not sorry to resign.

3. Gladstone and Home Rule

The Election of 1885.—For a few months, until the time came for a general election, the Conservatives, though in a minority, took office under Lord Salisbury. The most critical question with which they had to deal was that of Ireland. They let it be known that they hoped to govern Ireland "without exceptional measures"; and Lord Carnarvon, their Lord-Lieutenant of Ireland, in trying to conciliate the Irish leaders, conveyed the impression that his party would be willing to go some way towards Irish self-government. The result was that in the election every Irish vote in England and Scotland was given to the Conservatives. Meanwhile, Gladstone had come to the conclusion that the only way of making peace, and of restoring the efficiency of Parliament, was some measure of self-government for Ireland. He did not announce his conversion until after the election, but he privately offered Liberal support to Lord Salisbury if he would undertake the solution of the problem. The election (December 1885) confirmed Gladstone in his opinion. It gave the Liberals a majority of eighty-six over the Conservatives. But there were eighty-six Irish Home Rulers. The Home Rulers held the balance, and could make government impossible. In these conditions parliamentary government was unworkable.

The First Home Rule Bill.—Gladstone resolved to make the concession, and to make it, fully. But his decision shattered his party. Some of his leading Whig supporters, notably Lord Hartington, declined to join his Government. Chamberlain, who had advocated the establishment of a limited degree of self-government for Ireland, joined at first, but withdrew when he discovered how far Gladstone meant to go. Gladstone's scheme gave Ireland complete autonomy in local affairs, but made a reservation for foreign policy, defence and customs duties; that is to say, it did not go nearly so far as the scheme ultimately adopted in 1921. But it would have been accepted by Parnell and his followers ; and, combined with a large scheme of land-purchase (which was also introduced) Gladstone believed that it would have brought peace. Undismayed by the secession of many of his leading followers, the old man—he was now seventy-six years of age—persisted with his proposals, fighting with a courage he had never surpassed. He was defeated on the second reading by a majority of thirty. Ninety-three Liberal members voted against him. They included nearly all the Whigs, led by Lord Hartington ; some of the old-style Radicals, led by John Bright ; and some of the modern Radicals, led by Chamberlain. The Liberal party was shattered. In particular, it had finally lost nearly all the old Whig aristocrats who had clung to it through all the troubles of the nineteenth century.

Fall of Gladstone.—From Parliament Gladstone appealed to the country. The verdict of the country went definitely against him. It returned 316 Conservatives and 78 Liberal Unionists against 191 Liberals and 85 Irish Nationalists. An attempt to find a basis for the reunion of the divided Liberals (1887) came to nothing More and more the Liberal Unionists—the Whigs easily, the Radicals with greater difficulty—threw in their lot with the Conservatives. Nevertheless, the old man went on fighting during the next six years : the cause of Irish self-government had become the dominating passion of his life.

4. The First Unionist Government (1886—1892)

Salisbury in Power.—For six years, from 1886 to 1892, a Conservative Government, with Lord Salisbury* as Prime Minister, held office with the support of the Liberal Unionists. The main interest of these years lay in foreign policy and the expansion of the Empire By a series of agreements, in nearly all of which Britain played a leading part, the partition of Africa and of the Pacific islands was completed ; and the result was an enormous increase of the area of the British Empire. The character and results of this expansion will be described in the next chapter. Lord Salisbury's reputation mainly rested upon his conduct of foreign affairs. The pivot of his policy was the maintenance of friendly relations with Germany, to whom he ceded the island of Heligoland as part of a bargain about

*There is an essay on Salisbury by C. H. K. Marten in Hearnshaw's *Prime Minister's of the 19th Century.*

Africa (1890); but he was careful to stand aloof from the rival alliances into which the Great Powers were drifting, and he maintained an attitude of "splendid isolation." Secure in her naval strength, Britain seemed to be able to stand alone. The strength of the navy was substantially increased by the Navy Act of 1887, and the principle was laid down that the British fleet must always be equal to that of the next two naval Powers combined. The two Powers against whom the navy was measured were, at this date, France and Russia, who were regarded as Britain's most dangerous rivals.

Queen Victoria's Jubilee.—The vigorous imperialism of the Government reflected the growing imperialist sentiment of the country. This sentiment found a focus when, in 1887, the Jubilee of Queen Victoria was celebrated with brilliant imperial pageantry. The queen had remained in seclusion ever since the death of her adored husband in 1861, and this seclusion had been so unpopular that in the 'seventies there was a considerable growth of republican opinion. But she had always been exemplary in her devotion to duty, and although her people saw little of her, she had exercised a real influence upon successive governments, especially in foreign affairs, while loyally observing the duties of a constitutional sovereign. She was a masterful lady, with strong predilections: she intensely disliked Gladstone, who "treated her as if she were a public meeting"; she had a warm affection for Disraeli, who comforted her with chivalrous deference and delicate flattery; but she never allowed her strong personal and party preferences to stand in the way of the constitutional duty which Melbourne had taught her fifty years before. Now, when the inevitable retrospect was made of fifty years of astounding progress, this little old lady in widow's clothes seemed to be the very symbol of the unity of the far-scattered British peoples and of their long history. Her Jubilee became a pageant of empire. It was attended by the princes of India and the prime ministers of the free daughter-nations; and the occasion was seized for the first *Colonial Conference* in which the common affairs of the Empire were discussed.

Growth of Social Unrest.—Alongside of the growth of imperial sentiment there was a growing dissatisfaction with existing social conditions, and a demand for social reconstruction Charles Booth began (1889) his studies on *The Life and Labour of the People in London*, which showed how large a proportion of the population lived below the poverty-line. General Booth turned his Salvation Army (founded in 1878) to work among the "submerged tenth," and his book *In Darkest England* (1890) revealed terrible conditions. Arnold Toynbee (1883) began the intimate study of slum conditions and started the creation of University Settlements. There was a rapid revival of socialist theories, stimulated by the teaching of an American writer, Henry George, whose book *Progress and Poverty* was published in 1880. A Social Democratic Federation had been founded (1881) to preach the doctrines of Karl Marx It appealed to many young workmen, such as John Burns, who was imprisoned in 1887 for addressing a prohibited Socialist meeting in Trafalgar

Square. The Fabian Society (founded in 1883) was working out a new body of Socialist doctrine, and its tracts had myriads of sympathetic readers. New ideas were fermenting.

The New Trade Unionism.—A significant change was also beginning in the trade union movement. Since the foundation of the Amalgamated Society of Engineers in 1851 (p. 473) its methods had been widely imitated, and powerful national trade unions had grown up in the skilled trades. But the unskilled trades had hitherto failed to organise themselves In 1888 the match-girls and the gas-workers won remarkable success by strikes, which led to the formation of unions. In 1889 a prolonged strike among the London dockers—the most difficult of all classes of workers to organise—was led to victory by John Burns, and awoke widespread sympathy. The unions of unskilled workers, unlike their predecessors, could not levy large subscriptions, or promise substantial benefits to their members. They had to adopt other methods to achieve their aims. In place of the conservative policy of the older unions, they began to advocate more vigorous strike action, and also political action through Parliament. The emergence of the New Unionism, as it was called, was a political event of the greatest importance. As yet it was only beginning.

Domestic Reforms.—The Conservative Government of 1886—1892 was neither unsympathetic nor unprogressive. The ablest of its younger men, Lord Randolph Churchill, had Radical sympathies ; he was opposed to foreign adventures and large military outlay, and although he had to resign the Chancellorship of the Exchequer because of his lack of sympathy with the policy of the Government, his influence remained strong. Chamberlain, leading the Liberal Unionists in the Commons, had not ceased to be a Radical. The influence of these men was felt in the valuable legislation which this Government introduced In 1888, by the *Local Government Act*, it established representative County Councils in every county, which took over the administrative functions of the Justices of the Peace, and thus put an end to the rule of a governing class in almost the last sphere in which it had survived. At the same time, London was endowed for the first time with a central governing body, the London County Council, which promptly entered upon a period of vigorous constructive reform. In 1891, elementary education was made free, though not without many outcries from those who believed that parental responsibility would be undermined. And in the same year a valuable Factory Act prohibited the employment of children below the age of eleven, and reduced the legal hours of labour for women.

Irish Policy.—But it was still the affairs of Ireland which engrossed most of the attention of Parliament. The law was steadily enforced, though not without the aid of "exceptional legislation"—the Crimes Act of 1887. Although there were still occasional affrays, and members of Parliament were still liable to be locked up, there was an undoubted diminution of violence. Conservatives attributed this to firm government ; Liberals attributed it to the fact

that, since their cause had been taken up by one of the great parties, the Irish could now trust to constitutional rather than revolutionary methods. But with "firm government" was combined an honest attempt to redress the economic ills which had been so long disregarded. A Land Act of 1887 accepted and extended the principles of Gladstone's Act of 1881. A Land Purchase Act of 1891 provided that advances should be made to any tenants wishing to buy their holdings. This did not go so far as Gladstone had proposed to go in 1886, but it was the beginning of a change of attitude which ended in the buying out of nearly all the Irish landlords. At the same time, relief works were undertaken in the congested areas of the west. The Home Rule movement was to be killed by firmness and kindness.

The Parnell Commission.—It was not killed, however: the Irish continued to return Home Rule members in undiminished numbers. Meanwhile, Gladstone continued his campaign for the conversion of the British electorate. He believed that he was winning ground, and anticipated a large majority at the next election. He was greatly helped by a series of events which happened in 1888 and 1889. The *Times* published a series of articles asserting that Parnell had been directly responsible for the outrages of the early 'eighties, and printed documents which, if genuine, would have proved its case. Parnell denied the charge, and demanded an inquiry It was held before three judges; and in cross-examination it was proved that the incriminating documents had been forged by a wretched journalist named Pigott, who committed suicide. This led to a strong reaction in favour of Parnell. But this was offset when, in 1890, Parnell failed to offer any defence when charged as co-respondent in a divorce case. The Roman Catholic Church turned against him; the majority of his party deserted him; the Nationalist party in Ireland was hopelessly split; and the Nonconformists of England were alienated. Parnell died in 1891, at the age of forty-six. Next year came the general election which had been expected to give a majority for Irish self-government. It gave a majority, indeed, but a majority of only forty, including the eighty-five Irish members.

5. Gladstone's Fourth Ministry

The Second Home Rule Bill.—In these depressing circumstances Gladstone, now eighty-three years old, formed his fourth ministry, and introduced a second Home Rule Bill. He fought the Bill through all its stages in the House of Commons with unabated courage and skill. But the House of Lords, as was inevitable, rejected it by an overwhelming majority. Gladstone would have liked to appeal once more to the country. His colleagues, anxious to show a record of other work, overruled him. Moreover, they were in favour of an expenditure on the Navy larger than he was prepared to accept. In 1894, therefore, he resigned, and withdrew from the arena in which he had played so great a part for sixty-three years. Once again, in 1896, he emerged from his retirement, to

denounce the Turks for Armenian massacres, as he had once denounced them for Bulgarian atrocities. In 1898, his fiery and tireless life came to an end.

The Rosebery Government.—There was a sharp division among his colleagues, which was accentuated when the queen gave the office of Prime Minister to the Foreign Secretary, Lord Rosebery, rather than to his rival, Sir William Harcourt, the Chancellor of the Exchequer, and the feud between these men and their adherents embittered the remainder of this Government's life. Nevertheless the Government was active. In the Budget of 1894 (which was safe from interference by the House of Lords) Harcourt carried a very important financial change, by imposing heavy "Death Duties" on estates at death, graduated according to the size of the estate. This attack upon great wealth was bitterly criticised as an unjust scheme of confiscation, but it has become an essential part of the financial system, and has been greatly extended by later governments.

Fall of the Liberals.—Again, the Local Government Act of 1888 was supplemented by an Act which established district and parish councils, thus completing the machinery of democratic local government. Several further Bills were introduced in the House of Commons, but failed to reach the Statute-Book: a Bill for the disestablishment of the Welsh Church; a Bill to ensure the payment of compensation to injured workmen; a Bill for local option in the licensing of public houses. With a House of Lords which was permanently and predominantly Conservative, none but a Conservative Government could carry any important legislation unless it had an overwhelming majority in the country. And this the Rosebery Government did not possess, as was shown when, in 1895, being defeated on a "snap" vote, it appealed to the country. Its opponents obtained an overwhelming majority. Thereafter, for ten years, the Liberals, divided and disheartened, dwelt in the wilderness; and a powerful Government, absorbing both Conservative and Liberal Unionists, led the country through a very critical time.

CHAPTER XLVIII

IMPERIAL EXPANSION (1880—1895)

1. The Partition of Africa

The New Imperialism.—The most remarkable feature of the world's history during the last quarter of the nineteenth century was the rapid creation, almost without war, of a series of great colonial empires by the Powers of Europe. When this process began, the only European States, other than Britain, which possessed any territories outside Europe, were the old colonising Powers, Spain, Portugal, Holland, and France; and, with the exception of France, they held only fragments of their old dominions. Spain had Cuba and Porto Rico in the West Indies, the Philippines in the Far East, and the Canary Islands in the Atlantic: she was to lose them all

except the Canaries before the end of the century. Portugal had a few decaying ports in Angola and Mozambique, on the west and east coasts of Africa. Holland had her rich empire in the Malay Archipelago, with its capital at Batavia.*

Ambitions of France.—France possessed, of her old empire, Martinique and Guadeloupe in the West Indies, a strip of Guiana, Senegal on the West Coast of Africa, a couple of islands in the Indian Ocean, and two towns in India. She, alone of the European Powers, had added to her external possessions during the nineteenth century: she had conquered Algeria, on the north African coast, in 1830, had planted herself in Annam in the Far East, and had taken Tahiti and New Caledonia in the Pacific. France was thus the only European Power which had remembered something of her old colonial ambitions. After the Franco-Prussian War had robbed her of the leadership of Europe, she was tempted to seek consolation in colonial expansion, and for that reason played much the most active part in the new rush for oversea possessions.

The Congo Free State.—This began in 1876, when Leopold, King of the Belgians, who was deeply interested in African exploration, called a conference at Brussels on the opening up of Africa † An International African Association was constituted, with branches in various countries; but the attempt to give an international character to the movement soon broke down In 1878, however, when H. M Stanley returned from his exploration of the Congo, Leopold engaged him to organise the administration of the Congo region in the name of the Association. This was the beginning of the Congo Free State (1879). It was administered practically as a private estate of the Belgian king.

French Activity.—French explorers had meanwhile been investigating the lands north of the Congo, and this region (later known as French Congo) was claimed by France in 1880. Portugal, however, put forward a claim to the whole of this coast, and indeed to all Central Africa from shore to shore, and this claim had to be decided upon. Meanwhile, starting from Senegal, the French were pushing into Western Sudan, from the Atlantic to Lake Chad and the upper Niger. Between 1880 and 1884 they made many treaties with native chiefs, and began to build up a great tropical empire. This alarmed the British merchants who traded with the west coast. They formed a United African Company, bought out their French competitors in the lower Niger, and in 1884 persuaded Gladstone's Government to declare a protectorate over Nigeria without any clear definition of its limits.

Italy and Germany.—Italy entered the race in 1882, when she annexed Eritrea on the Red Sea Coast. And, finally, Germany rapidly pegged out various claims in 1883 and 1884, when she annexed German South-West Africa, and declared a protectorate over Togoland and the Cameroons. At the end of 1814 German

* See the larger Atlas, Plate 84*a*.
† See School Atlas, Plate 56*a*, and larger Atlas, Plate 83*a*,

emissaries also put forward claims to vague territories in East Africa behind Zanzibar. At the same time a group of British merchants, later organised into the British East Africa Company, established themselves in the region to the north of the German territory.

The Conference of Berlin.—Thus by 1884 the game of annexation was going on actively in every part of Africa In that year a Conference was held at Berlin, primarily to decide on the large claims of Portugal (which were summarily rejected) and to define the area of the Congo Free State. The opportunity was used to define the rules of the game, and it was laid down that before an area could be claimed by any Power its occupation must be "effective." The Conference also laid down strict rules against slavery.

Partition Treaties—But, in actual fact, the process of partition was settled, not by any European conference, but by a series of treaties between the countries mainly concerned. These were the Great Powers : the little Powers were given no voice in the matter. As British interests were everywhere involved, and as almost every claim put forward by any other Power was challenged by some group of British trades as incompatible with British interests, Britain was a party to all the most important of these treaties. They were mostly negotiated by Lord Salisbury, between 1886 and 1892. The most important of them were two agreements made with France and Germany in 1890 and an agreement with Portugal (1891), which that country very reluctantly accepted, and by which she was compelled to submit to a definite limitation of her territories both in the east and in the west There were also treaties with Italy, in 1890 and 1894, which defined the limits of the Italian and British or Egyptian territories on the Red Sea and in Somaliland

Effects of the Partition.—Behind all these treaties lay an infinite amount of wrangling and bargaining There were always groups in Britain who were convinced that British interests were being scandalously sacrificed by the lethargy or timidity of the Government. Yet when the results are summarised, there does not appear to be much substance in these complaints For the outcome of the period was that while France obtained 3,800,000 square miles of African territory (including the whole of the vast but profitless Sahara desert), Britain obtained 2,700,000 square miles of far more valuable land, while Germany obtained only 933,000, Portugal 790,000, and Italy only 188,000. When it is realised that before the rush for Africa began the British Empire included something like one-fifth of the land-area of the globe, and that the other countries were endeavouring, late in the day, to obtain some counterpoise to her territorial wealth, the surprising thing is, not that Britain did not obtain more, but that she succeeded in obtaining so much, without war or serious conflict. It was indeed a triumph of diplomacy that the partition of Africa should have been carried out without war.

New British Colonies.—Disregarding South Africa, Egypt, and the Egyptian Sudan, the new territory which had thus been added to the British Empire, either in the form of wholly new annexations or of great additions to existing possessions, were as

follows, (1) In West Africa, *Sierra Leone* and the *Gold Coast* Colony were both very greatly expanded by the annexation of extensive hinterlands; while the rich province of *Nigeria*, which alone is more than four times as extensive as Great Britain and Ireland, was wholly acquired during this period. (2) On the eastern side of the continent, British East Africa (now called *Kenya* Colony) and *Uganda* formed an addition to the Empire yet larger than Nigeria; while the hot and barren lands of *Somaliland*, at the mouth of the Red Sea, and the fertile and well-watered region of *Nyasaland*, farther south, were alone more valuable than the whole Italian empire. Most of these new lands were purely tropical territories, unsuited for the habitation of white men; but they yielded in abundance the tropical produce, notably vegetable oils and rubber, which were becoming essentials of modern industry. In East Africa, however, there were extensive highlands where white men could live and thrive. Thus the English-speaking peoples, who had already annexed, in America, Australasia and South Africa, the areas best suited for white colonisation, acquired control over almost the only areas of this kind which remained.

Chartered Companies.—For the development of these new territories, so rapidly acquired, a return was made to the methods of the seventeenth century, by the establishment of Chartered Companies with governmental powers. Thus Nigeria was placed under the control of the Royal Niger Company, and East Africa under the British East Africa Company; while, in the south (as we shall presently see) a British South Africa Company was at work, and in the Far East a Borneo Company. None of these companies, however, survived for long. When the initial period of development was over, they either ceased to exist, or were confined to commercial functions, and the normal system of Crown colony government was established to carry on the work of administration.

2. Rhodes and the Expansion of South Africa

Cecil Rhodes.—The most remarkable result of the imperialist expansion of this period was the development of British South Africa. It was, in the main, the work of a single man, Cecil Rhodes. The son of an English country parson, he was sent to South Africa as a boy, to win health. He arrived in time for the Kimberley diamond rush, made a competence before he was nineteen, and returned to Oxford to get an education. Before his return, he had made a lonely journey far into the interior, from which he returned with two convictions which dictated the course of his life. The first was that the British Empire was so noble a fabric of justice and peace as to deserve the devotion of his life; the second was that his work should be the extension of the British system over as great a part of Africa as possible. The essence of this British system was, for him, the combination of local freedom with imperial unity, and a large tolerance of differences of race. He dreamed of uniting Dutch and British in one great federal State, and of extending its influence over the rich empty lands to the north; he dreamed also of making all

Africa, in this large sense, British, and his plan of a Cape to Cairo railway was a part of this dream.

Boer Aggressions.—When he returned from Oxford, Rhodes devoted himself for some years to organising the diamond industry, and thus winning for himself the wealth and power which he needed as instruments. In 1881, just after Majuba, he entered the Parliament of Cape Colony, being then twenty-eight years old and a millionaire. It was the keynote of his policy to make close friendship with the Dutch, and he formed an alliance with the Dutch leader, Hofmeyr, who was very ready to work for unity. But at this period the Transvaal Boers, fresh from their victory at Majuba, were very restless and aggressive. Few as they were, they raided in every direction. They founded a "New Republic" in Zululand: the British Government recognised this, but to check further advance annexed *Zululand** (1888). They subjugated the native territory of Swaziland. They sent out raiders into Bechuanaland on the west, where they started two new republics called Stellaland and Goshen (1883). This was serious, because these lands lay across the line of communication to the north, and might also lead to a junction with the new German settlements in South-West Africa. Rhodes urged that this must be stopped; and persuaded Gladstone's Government to send an expeditionary force under Sir Charles Warren to occupy Bechuanaland, the southern part of which was annexed to Cape Colony, while the northern part became a British protectorate (1884).

Occupation of Rhodesia.—The way was now open for an advance into the fertile northern plateau of Matabililand and Mashonaland, now known, in Rhodes' honour, as Rhodesia There were rumours both of German and of Boer intervention in this desirable land. In 1887 Rhodes sent an agent to the Matabili king, Lobengula, and obtained from him the exclusive right to extract minerals from his territory. On the strength of this, Rhodes founded the British South Africa Company, for which he obtained a charter from the British Government (1889), conferring power to open up and colonise a vast area stretching from the northern boundary of the Transvaal to Lake Tanganyika. In 1889 the first company of pioneers entered the country. Soon they were laying out roads, railways and telegraph lines, and bringing in settlers. This development went on so rapidly in the country of Lobengula's vassals the Mashonas that his warriors, the Matabili, broke into revolt (1893); after some hard fighting, the Matabili were overthrown and their whole territory was annexed. The land thus conquered was a lofty plateau, well suited for colonisation by white men, and but sparsely inhabited by African natives. It was full of mineral wealth, and suitable for every kind of crop. Thus an extremely valuable colony had been added to the British Empire in a very short space of time.

The Gold-Rush in the Transvaal.—The annexation of Bechuanaland on the west, and of Rhodesia on the north, completely

---

* See School Atlas, Plate 56*d* and *e*.

hemmed in the Transvaal. And this was not the only ground for misgiving felt by those Boers who wanted to maintain their purely Dutch civilisation. In 1884 gold was discovered in the Transvaal, and two years later richest goldfield in the world was opened on the Witwatersrand. Immigrants, not all of a desirable kind, flocked in by thousands. The mushroom city of Johannesburg came into existence. In a few years the immigrants—mainly British—formed half the population of the Transvaal, and owned most of its wealth. The older-fashioned Boers, and notably their President, old Paul Kruger, who had left Cape Colony with the Great Trek in 1836, and had lived through all the stormy history of the Transvaal, felt that the character of their country was imperilled. Kruger refused to grant civic rights to the immigrants, though they were paying the bulk of the taxes ; he refused even to allow municipal self-government to Johannesburg.

Rhodes' Policy.—In 1890 Rhodes became Prime Minister of Cape Colony. He commanded the confidence of both Dutch and British. For half a dozen years he was almost a dictator in Cape Colony ; and he was completely a dictator in the new land of Rhodesia away in the north. His dream seemed to be coming true : Dutch and English were almost ready to combine to make a great free State covering all South Africa. Passionately as he believed in the British Empire, Rhodes did not desire that any direct sovereignty should be exercised by the mother-country ; for him the Empire was a partnership of free peoples. He believed in home rule for every member of the Empire, and in the frank acceptance of differences of race and religion ; that is why he gave £10,000 to Parnell to help his Home Rule agitation. The only obstacle to the unity-in-freedom of South Africa was Kruger and his policy. But Kruger was an old man. The younger Boers were affected by the new ideas. Only time and patience were needed.

The Jameson Raid.—This was the situation in 1895, when Rhodes lost patience and, in his own rough phrase, "upset the apple-cart." Eager to bring the Kruger regime to an end, he lent himself to a scheme whereby the "Uitlanders" of Johannesburg were to revolt, and were to be helped by a small force sent in from Rhodesia. The scheme went wrong. The revolt did not take place. But Dr. Jameson, the administrator of Rhodesia, led a raid with a small force into the Transvaal, where he was ignominiously forced to surrender (Jan. 1896). This act of criminal folly put Kruger in the right. It outraged and alienated Dutch sentiment throughout South Africa. It shattered the good understanding between the two races which Rhodes himself had laboured to build up. It was the beginning of a tragedy which will occupy us in the next chapter.

3. The Pacific and the Far East

Africa was not the only field of European expansion in these busy years. The Powers were only less active in the Far East, and in the Pacific.

Burma and Borneo.—In the Far East, Britain extended her

dominions by conquering the remainder of Burma (1885), which was added to the Indian Empire. Farther South the Malay States recognised her suzerainty. In the Malay Archipelago, where Holland was the dominant power, Britain also had a foothold. As early as 1841 a remarkable Englishman, Sir James Brooke, had established himself as Raja of Sarawak, on the north-west coast of Borneo*. Sarawak naturally recognised Britain as its suzerain power. So did the neighbouring Sultanate of Brunei. And in the north of this great island a British North Borneo Company, founded in 1881, acquired control over an area of some 30,000 square miles.

New Guinea.—East of Borneo lies the still greater island of New Guinea, the nearest neighbour of Australia. The Dutch annexed the western half of this rich island. In 1884 Germany announced the annexation of north-eastern New Guinea. This alarmed Australia, which had for some time been clamouring for the annexation of the island as a measure of security. The British Government reluctantly gave way, and annexed south-eastern New Guinea.

The Pacific Islands.—German traders had for some time been active in the Pacific, though the dominant trading interests were everywhere British. Here, therefore, was a possible further field in which the growing German zeal for colonisation might display itself. In 1884 Germany annexed the group of islands now known as the Bismarck archipelago, and changed the names of New Britain and New Ireland to New Pomerania and New Hanover. This, equally with the annexation of New Guinea, aroused the alarm of Australia and New Zealand, which had long been asking that a British protectorate should be extended over the Pacific archipelagoes. Indeed, many of the island peoples had themselves asked in vain to be taken under British rule Lord Salisbury opened negotiations with Germany, which led (1886) to a treaty whereby a group of archipelagoes in the north were marked off as German, Samoa and other islands were declared neutral, and Germany agreed not to interfere elsewhere in the Pacific. This left a vast, vague "sphere of influence" to Britain, within which, from 1886 onwards, annexation went on steadily ; until the great majority of the myriad islands of the South Pacific had been declared British territory.

Europe and China—There now remained no sphere open to the ambitions of the Powers save China, the Turkish Empire and Persia. These regions were to be the subjects of controversy during the next period. But already trouble was brewing in China. Since the Chinese War of 1857—1860 European influence had rapidly penetrated the Chinese Empire. The treaty of 1860 had secured free access for traders and missionaries. Numerous mission-stations, schools, and hospitals had been opened. The European trader was to be seen everywhere, and British trade vastly preponderated, especially in the rich valley of the Yang-tse-kiang. Shanghai, the gateway of this area, had become almost a European city. For a

* See School Atlas, Plate 55*a*, and the larger Atlas, Plates 82-83.

time it had seemed as if the Chinese system of government was going to break down altogether. A serious rising against the imperial government, known as the Tai-p'ing Rebellion, broke out in 1863, and spread to several provinces. To suppress it, the Chinese Government borrowed General Gordon. His success in reorganising the Chinese army and crushing the rebellion gained him the *sobriquet* of "Chinese Gordon," and was the foundation of his fame. Thereafter the Chinese Government set itself to Europeanise its system, borrowing officers from various European countries, especially from Britain. Sir Robert Hart became collector of European customs (1863), and so rapidly did the foreign trade of China grow that this became the chief source of revenue. Warships were ordered from Britain, and a modest navy was organised, mainly by British officers.

European Pressure.—The pressure of the European Powers was already beginning. Russia seized the Amur province, and built the port of Vladivostok. France had established herself in Annam and Tong-king, provinces regarded as vassals of the Chinese Empire; and in subjugating Tong-king had found herself drawn into a sort of war with China (1884). She was pressing on the south of the empire, Russia on the west and north, while British influence was penetrating from the sea.

The Rebirth of Japan.—Meanwhile, Japan had carried out a reorganisation of her national life far more rapid and complete than China ever attempted. The contact of Japan with the West only began in 1854. A violent reaction against European influence in 1862 had brought an attack from a mixed European and American fleet which proved the superior strength of European methods. Thereupon Japan had deliberately set herself to imitate the methods of Europe. Europe was slow to understand the thoroughness of this transformation. In 1894 its eyes were opened, when, in a war with China, Japan won a victory with a swift efficiency that Europe could not have bettered. The war between China and Japan was a turning-point in the relations between East and West. It opened a restless and difficult period, which added to the complications of European diplomacy for the next eight years, and was ultimately to have an important influence upon the fortunes of the British Empire.

CHAPTER XLIX

FOREIGN COMPLICATIONS AND THEIR RESULTS (1895—1905)

1. The Third Salisbury Government (1895—1902)

For ten years, from 1895 to 1905, Britain was governed by a powerful Unionist ministry, in which the strength of the Conservatives and Liberal Unionists was merged. Lord Salisbury was Prime Minister until 1902, when he was succeeded by Mr. A. J. Balfour. Supported by overwhelming majorities in both Houses of Parliament, and faced by a weak and divided opposition, this Government enjoyed more

unfettered power than any of its predecessors since 1830. Its tenure of power falls into two parts, sharply divided by the South African War of 1899—1902.

Home Policy.—In the first half of the period there was very little legislation of the first rank, largely because the attention of Government and Parliament were engrossed by a succession of difficult problems abroad. There was an ambitious measure of Land Purchase for Ireland, on the same scale as Gladstone had projected in 1886. The system of County Councils was extended to Ireland, which had now become quiescent, for the Nationalist party was cleft in twain, and no leader capable of taking Parnell's place had succeeded him ; nevertheless the demand for Home Rule continued unabated. A valuable Workmen's Compensation Act was passed in 1897 : though limited to a few trades, it placed the right to compensation for accidents for the first time on a solid basis, and fixed the scale on which it should be paid. Chamberlain had promised, in the election of 1895, the establishment of a system of old-age pensions, but nothing was done beyond referring the question to a series of inquiries.

The Socialist Movement.—These were the only contributions which the Government was able to make to the demand for social reorganisation. Nevertheless, this demand went on growing in strength, and it was evident that a new era of social reconstruction must soon begin. The trade unions were increasing very rapidly in numbers, the unskilled unions more rapidly than the skilled. Through the Trades Union Congress they were beginning to demand legislation for the redress of social ills. The Socialist movement was increasing its influence and capturing the younger and more energetic trade unionists. An Independent Labour Party had been founded as early as 1892, and in 1895 its first representative, Keir Hardie, appeared in Parliament. In 1899 the Trades Union Congress passed a resolution in favour of independent political action by organised labour. Next year (1900) the Labour Party came into existence.

The Diamond Jubilee—But the nation as a whole paid, as yet, little attention to these matters. Its attention was engrossed by a succession of difficult problems in imperial and foreign policy, and it was at the height of its imperial enthusiasm. The culminating point of this enthusiasm was marked by the Diamond Jubilee of 1897, which was celebrated with even more impressive pomp and pageantry than the Jubilee of 1887. Once more the Premiers of the great colonies were present, and took part in a second *Colonial Conference*, which was felt to be an expression of the unity of the Empire, and in which, for the first time, the problems of imperial defence were seriously discussed. Some of the colonies undertook to make contributions to the cost of the Navy. Two years later they were called upon to take part in the first war in which contingents from all the principal members of the Empire were engaged.

The European Situation.—The politics of Europe and of the world were in a very dangerous condition in these last years of the

nineteenth century. Each of the Great Powers had interests or ambitions in every part of the world, thanks to the work of empire-building in which they had all been engaged ; and there was always a danger that the outbreak of trouble anywhere would lead to general conflagration. This danger was increased by the fact that the Great Powers were now divided into two alliances, which constantly watched one another. In 1879 Germany had concluded a close alliance with Austria, which became the Triple Alliance when Italy joined it in 1882. Bismarck was the creator of this alliance, and so long as he continued in power, he succeeded in persuading the world that it was really a bulwark of peace, not a menace to it He also had a secret treaty with Russia, and a friendly understanding with Britain But in 1888 a new Kaiser, Wilhelm II, came to the German throne, and in 1890 he got rid of Bismarck. Next year the secret treaty with Russia was terminated. Russia, feeling herself isolated, turned to France, and in 1891 a Franco-Russian Alliance was concluded, although its existence was not known until some years later. Thus the Triple Alliance was faced by the Dual Alliance. On both sides a competition of armaments began, each fearing lest the other would become stronger and seize the opportunity to attack. Every increase on one side was followed by an increase on the other, and there seemed to be no way of escape from this vicious circle, which was bound to end sooner or later in a devastating war.

The First Hague Conference.—This nightmare had already begun to terrify Europe, and in 1899 the Tsar of Russia issued an invitation to all the nations to a conference at The Hague, to see if some agreement for common disarmament could not be reached. Twenty-six nations sent delegates, but, so far as disarmament was concerned, they could reach no result None of the Great Powers which were chiefly concerned would consent to have its armaments limited or defined by any outside authority; and the fatal competition went on. On one point, however, the Hague Conference reached a useful result. In order to encourage and facilitate the use of arbitration instead of war, it set up a panel of arbitrators whom the nations were asked to use. The practice of resorting to arbitration had indeed been growing steadily during the nineteenth century, and a striking illustration of its usefulness had just been given in the case of Venezuela (see below). The world wanted to get rid of the waste and cruelty of war. But so long as rival alliances went on competing in armaments there was very little prospect of achieving this end

British Foreign Policy.—Britain still strove to stand aloof from the rival leagues, and indeed from any foreign entanglements. She still clung to "splendid isolation." On the whole, she was more friendly towards Germany and the Triple Alliance than towards France and Russia, with whom she had far more numerous causes of friction. Both Lord Salisbury and Joseph Chamberlain were strong advocates of friendship with Germany. As late as 1898, Chamberlain publicly urged that an alliance between, Britain, Germany, and the United States would be the best safeguard for the peace of the

world. But throughout the years from 1895 to 1902 there was a gradual alienation between Britain and Germany, the causes of which may be traced in the narrative of events set forth below. It became serious in the last years of the century, when Germany set herself to create a great fleet, and the Kaiser asserted that the trident must be in Germany's hands. The trident had been in Britain's hands since 1588, and she had no intention of resigning it. In 1898 the construction of the great German fleet was begun. In 1900—in the middle of the South African War, when every German newspaper was denouncing Britain—the rapidity of construction was doubled.

This was the turning-point. It brought about a rapid change in the British attitude on foreign politics, and gave rise to a grave doubt whether, after all, "splendid isolation" was a safe policy. This gradual change of attitude was brought about by the series of difficult international problems which filled every year from 1895 to the end of the century.

2. Foreign and Imperial Problems

The Venezuela Boundary.—The first of the problems of the period was a difficulty with the United States. There had been a long-standing dispute between Britain and the South American republic of Venezuela over the boundary of British Guiana.* In 1895 Venezuela arrested two British officers in the disputed territory and appealed to the United States for support. President Cleveland thereupon issued a message to Congress (December 1895), in which he stated that he would appoint a commission to settle the matter and impose its decision by force. The American Secretary of State added that any union between a European and an American State was unnatural, and that under the Monroe doctrine, the fiat of America was decisive on any question affecting the American continent. The imperialist spirit was evidently as strong in America as in other countries at this time. Such an attitude might easily have led to war. But the issue was wisely handled by Lord Salisbury. The Venezuela boundary question was referred to an Arbitration Tribunal composed of two British and two American representatives with a Russian chairman. Their award, which was definitely favourable to the British claim, was given in 1899.

The Spanish-American War.—By that time the United States had gone to war with Spain (1898) over the misgovernment of Cuba. In a short war the Spanish forces were completely defeated. Feeling in Europe was very strongly against America, and there was even some talk of intervention on the Spanish side. When an American fleet attacked Manila in the Philippines, a German squadron which was present showed some inclination to intervene. British vessels, also present, placed themselves in the line of fire. Germany had entertained some hope of acquiring the Philippines from Spain. But at the end of the War the United States annexed not only the

* See the larger Atlas, Plate 76*b*.

Philippines,* but Porto Rico, and set up a protectorate over Cuba (1899). At the same time she annexed Hawaii, and a little later divided Samoa with Germany. Thus the United States took her place among the imperialist and annexing Powers.

The Armenian Massacres.—Throughout this period there was constant and growing trouble in the Turkish Empire. Between 1895 and 1898 Europe was horrified by a series of massacres of the Armenian subjects of the Sultan, worse than the Bulgarian atrocities of 1876. Gladstone came out from his retirement (1896) to denounce this iniquity, and to demand that action should be taken against the Turk. No action was, or could be, taken. British influence at Constantinople had vanished. Russia had washed her hands of the Turkish problem, and declined to meddle. The dominant influence at Constantinople was now that of Germany: German officers were reorganising the Turkish army, and German capitalists were in control of the Turkish railway system. Germany had taken the Turk under her protection, and in view of this nothing could be done. In 1898 the German Emperor paid a friendly visit to the Sultan. He then went on to Jerusalem (still a Turkish city); and there he made a speech in which he proclaimed himself the protector of the Mohammedans throughout the world—most of whom were subjects of Britain or France. This was one of many episodes which led to growing fear and distrust of Germany in Britain.

Balkan Troubles.—The Armenian massacres were not the only troubles in the Balkan peninsula. In 1896 there was a revolt against Turkish misrule in Crete, led by Venizelos, who later became Prime Minister of Greece: the Powers intervened, and a system of autonomy under a Greek prince was established in Crete. In 1897 the Greeks launched into a foolish war with Turkey: they were easily defeated by the German-trained Turkish army. Every year there were troubles in Macedonia, a province which would have been freed from Turkish rule but for Disraeli's intervention in 1878. The government of the Turk in Europe, which had been bolstered up by Britain in 1854 and in 1878, and was now being bolstered up by Germany, was evidently a failure. These events may not seem to be a part of British history, but they filled the minds of the politicians; and in the simmering caldron of the Balkans the poison of the coming world-war was being brewed.

Egypt and the Sudan.—The most remarkable British achievement of this period was in Egypt and the Sudan. Since 1884 Sir Evelyn Baring (better known as Lord Cromer) and his assistants had worked wonders in Egypt. They had saved Egypt from bankruptcy, reduced taxes and increased revenue, put an end to the oppression of the peasantry, reformed the system of justice, and reorganised the army. Meanwhile, the abandoned Sudan had fallen back into barbarism. The Mahdi, and after his death the Khalifa, had ruled so oppressively that the population is said to have shrunk from 12,000,000 to 2,000,000.

* See the larger Atlas, Plate 83*c*.

Reconquest of the Sudan.—In 1896 the British Government decided that the time had come to reconquer the Egyptian Sudan. The cost was shared between the British and Egyptian Governments, and both British and Egyptian troops were employed. The task was entrusted to Sir Herbert Kitchener, Sirdar of the Egyptian army; and he proved himself to be an organiser of genius. In two systematic and carefully planned campaigns he advanced up the Nile to Khartoum, building a railway as he advanced. In 1897 the Sudanese host was shattered at *Omdurman*, opposite Khartoum; a number of European captives who had long been kept in misery were released, and the Sudan was brought under joint British and Egyptian control. In a few years a work of reconstruction almost more remarkable than that which had been achieved in Egypt was carried out.

The French at Fashoda.—Before this work could be undertaken, a very dangerous situation had to be faced. The French, who had gradually made themselves masters first of the western and then of the central Sudan, had conceived the ambition of mastering also the eastern or Egyptian Sudan, and thus extending their empire from the Atlantic to the Red Sea. While Kitchener was advancing up the Nile, a small band of intrepid Frenchmen, under Major Marchand, made its way from the French Congo to the Upper Nile, and planted the French flag at *Fashoda*. Apart from the fact that Egypt had a historic claim to the Sudan, it was held to be impossible to allow the Upper Nile to fall under separate control, because the life of Egypt depends upon the flow of the Nile, and one of the aims of British policy in Egypt was to regulate this flow by irrigation dams. Kitchener, therefore, under instructions from London, advanced swiftly to Fashoda and ordered Marchand to withdraw. This episode brought Britain to the very verge of war with France; but the French Government accepted the rebuff, and by a treaty of 1898 recognised the whole of the Upper Nile country as belonging to the Egyptian Sudan.

The Powers in China.—Meanwhile, throughout all these years, trouble had been brewing in the Far East.* When, in 1895, Japan defeated China, she had demanded certain cessions of territory, including Port Arthur and the Liao-Tang peninsula, which dominated the gulf of Pe-che-li, leading to Peking. The European Powers were perturbed by the growing power of Japan. Posing as protectors of the integrity of China, Germany, Russia and France intervened, and required Japan to abandon Liao-Tang, on the ground that China could not be independent if any foreign Power held that point. Britain stood aloof from this protest. In reality, the three Powers meant to have a share of China for themselves. Two years later (1897) Germany seized and fortified the valuable harbour of Kiao-chau in the rich province of Shantung; Russia demanded a lease of Port Arthur—the very place which Japan had been forbidden to occupy—while her railwaymen and her armies were steadily pene-

* School Atlas, Plate 55a.

trating the great province of Manchuria; and France demanded a port in southern China. Thereupon Britain also put in a claim, and leased from China the port of *Wei-hai-wei*, which she fortified as a naval base, in view of the possibility of war in these waters. The partition of China seemed to have begun, and the Powers began to argue about "spheres of influence"—the prelude to annexations.

The Boxer Rising.—Their activities were interrupted by a sudden national uprising in China against the foreigner, known as the Boxer Rising (1899). Scattered traders, officials, and missionaries were exposed to grave danger; and the embassies of all the Powers in Peking were beset by formidable mobs (1900). To deal with this peril an international force was organised, of which Germany claimed to appoint the commander-in-chief. All the Powers, including the United States and Japan, contributed contingents. Peking was entered, the embassies were relieved, the Winter Palace of the Emperor was looted, and China was forced to pay a very heavy indemnity. But the Powers had learnt their lesson, and the projects of partition were dropped.

Anglo-Japanese Alliance.—Two years later, in 1902, Europe was startled by the conclusion of an alliance between Britain and Japan—the first general treaty of alliance that Britain had made since Waterloo. By this treaty the two Powers guaranteed the maintenance of the *status quo* in China, that is, they declared against partition. The treaty also provided that if one of the two were attacked by more than one Power, the other would come to her assistance. This provision contemplated the outbreak of a war between Japan and Russia, which came two years later. It was practically a warning to France and Germany not to meddle.

3. The South African War

The Position in South Africa.—Of all the troubles of the period, that which was most serious for the British peoples was the trouble in South Africa. It took a new form with the Jameson Raid of 1896 (see p. 532), which stopped the growth of good feeling between Dutch and English, strengthened the reactionary party in the Transvaal, and encouraged the Boers of Kruger's way of thinking to dream of driving the British out of South Africa altogether. In this vaguely-concieved aim they had some reason to hope for help from Germany; for in January 1896, when Jameson's raid was checked, the German Emperor sent a significant telegram congratulating the Boers upon having repelled the invasion "without the help of friendly powers." There were German forces in South-West Africa, near by. In the years following the raid, arms of all sorts were imported into the Transvaal in large quantities.

Before the raid, the British Government had been negotiating for better terms for the "Uitlanders," as the unenfranchised residents in the Transvaal were called. After the raid these negotiations became much more difficult. They were in the hands of Chamberlain as Colonial Secretary; and in 1897 Sir Alfred Milner, one of

the ablest of British public men, was sent out as High Commissioner. But Kruger was unbending: he would not consent to let the votes of the Boers be swamped by those of foreigners. In June 1899, Milner met Kruger in conference at Bloemfontein, and demanded that the Uitlanders should be given the vote after five years' residence. Kruger refused to go below seven years, unless Britain would withdraw all claim of suzerainty. Evidently things were moving towards war, and the predominant opinion in Britain was all for strong action. But the Dutch of Cape Colony, and many people in Britain, thought that the issue did not justify a breach, especially as time could be trusted to bring a change. During the summer British troops were drafted into South Africa, the forces there being totally insufficient to repel a Boer attack. In October 1899, Kruger launched an ultimatum demanding the withdrawal of the British troops from the frontier. He gave two days' notice. On the day on which the notice expired Boer troops crossed the frontier at three points, invading Natal and besieging Mafeking and Kimberley on the western boundary.

The Strength of the Boers.—It seemed mere madness for two small republics—for the Orange Free State joined the Transvaal—to challenge the might of the British Empire; and the sympathy of the whole world was on their side. But their chances were greater than appeared. They had some 70,000 men, skilled in their own type of warfare, good shots and good horsemen; they had abundance of military supplies; they had, at the least, the benevolent neutrality of the Cape Dutch, many of whom would have risen to join them had they invaded Cape Colony in force, and did so, later; they hoped also for help from Europe, especially from Germany, and they might have got it if the British Navy had not stood in the way. On the British side there were available only a few thousand troops; and, though others were on the way, and all the Dominions had volunteered to send contingents, the British Government had no idea of the magnitude of the task which lay before it.

Early Boer Successes.—The first events of the war went very badly for Britain. By November 2nd Sir George White, with the only substantial force in South Africa, was beleaguered in *Ladysmith*, in northern Natal; while Mafeking and Kimberley were holding out against heavy odds. Meanwhile, Sir Redvers Buller had arrived, with some 80,000 men. But a large proportion of them had to be used on lines of communication; and the rest were split into three armies, Methuen in the west aiming at the relief of Kimberley, Gatacre in the centre trying to repel a Boer invasion of Cape Colony, while Buller himself took 20,000 men to relieve Ladysmith. Within a single week, at the end of November, all three had met with stunning reverses—Methuen being defeated at *Magersfontein*, Gatacre at *Stormberg*, and Buller at *Colenso*; while the beleaguered army in Ladysmith was beginning to suffer serious hardships.*

Great British Effort.—This series of checks had a sobering

---

*See School Atlas, Plate 56 *d* and *e*.

effect in Britain. There was even a fear that (like the capitulation of Saratoga in the American revolutionary war) they might lead to

Fig. 46.—The Wars in South Africa.

European intervention. British prestige suffered a heavy blow. The Government promptly resolved to send out every available men, and gave command to Roberts and Kitchener, the two most famous of British soldiers. Large contingents came also from all the colonies, especially from Australia. By the end of the next year the British forces in South Africa were four times as great as the total of the Boer armies, and larger than the whole population of the two republics. They were the largest forces that Britain had ever put into the field.

Defeat of the Boers.—Roberts started his campaign in February 1900. Though Ladysmith was hard pressed, and Buller, trying once more to relieve it, had again failed at *Spion Kop*, Roberts determined to strike into the Boer republics from the west, and thus draw off the besiegers of Ladysmith. *Kimberley* was relieved by a sweeping cavalry movement under French ; then the main western

army of the Boers under Cronje was forced to surrender at *Paardeberg* (February), on the anniversary of Majuba ; and in March Bloemfontein, the capital of the Orange Free State, was occupied. This advance forced the Boers to give up the siege of Ladysmith. In May *Mafeking* was relieved. In June Pretoria, the capital of the Transvaal, was occupied, and the main Transvaal army, under Louis Botha, was defeated at *Diamond Hill*. On September 1st a proclamation was issued declaring the annexation of the Transvaal to the British Empire.

Guerilla Warfare.—This ought to have been the end of the war, but it was not. The gallant Boers would not yield. They broke up into a number of commandoes, under guerilla leaders who showed extraordinary brilliance in this kind of warfare. In the vast open country which they intimately knew, they were extremely difficult to trap ; and time and again they descended upon isolated bodies of British troops. They even extended the war into western Cape Colony. Kitchener, who had been left by Roberts, in November 1900, to finish off the war, was kept at work on this bewildering task for another eighteen months. The toilsome and costly method of holding down a huge country by lines of garrisoned blockhouses had to be adopted. Farms where the wandering commandoes got provisions were burnt, and the women and children were gathered in concentration camps, in some of which disease broke out ; these methods, however necessary, aroused much indignation.

Peace of Vereeniging.—At length, in May 1902, the Boer leaders—Botha, Smuts, and others—consented to negotiate for peace. They had displayed a heroic gallantry and steadfastness which nobody could fail to admire. In the Peace of Vereeniging they consented, reluctantly, to the absorption of their republics in the British Empire But they were promised self-governing institutions. And the victors, instead of exacting an indemnity, undertook to provide £3,000,000 for the settlement of the country.

The Work of Reconstruction.—Thus, at a vast cost in life, in money, and in the loss of prestige throughout the world, the unity of South Africa had been at last secured. Critics said that this war had been fought to acquire the goldfields ; but the goldfields remained in exactly the same hands as before, and Britain drew nothing but loss from the war. During the next four years the work of restoration after the waste of war was undertaken by Milner, with the aid of a body of picked men drawn from Britain. The work was well done. Milner was a man of imagination and generosity. But the conquered Dutch inevitably looked on sullenly at work that was done by their conquerors. The mines were reopened. Owing to a scarcity of labour, Chinese coollies were brought in under indentures and lodged in compounds. This was represented as "Chinese slavery" ; and the introduction of a new racial element in a country whose racial problems were already acutely difficult was much resented. Even the promise of a limited degree of a self-government did not reconcile the people : South Africa was conquered but unhappy.

4. The Reaction after the War (1902—1905)

Death of Queen Victoria.—In 1901, before the close of the South African War, which had weighed upon her heavily, the old queen died. She had been a part of the life of all the British peoples through the lifetime of nearly all her subjects. The Great White Queen had become a legend to primitive African tribes and remote Pacific islands. The world seemed different when she died. All the great Victorians had preceded her to the grave : Gladstone and Disraeli and Tennyson and Browning and Carlyle and Darwin and Dickens and Thackeray. Queen Victoria's death was indeed the end of an era ; the great but self-satisfied Victorian Age had expired in the disappointment of the South African War, and it was a new and very difficult era into which the British peoples had now passed.

Change of Temper.—The temper of the people also had changed. The exultant imperialism of the previous period had been sobered by the disillusion of the war ; there were misgivings about Britain's position in the world ; and the demand for social change was growing in strength. This was not represented in Parliament, because an election had been held in 1900, after Roberts' victories, but before the long, dragging tedium of the later stages ; and the result had been a sweeping victory for the war-government.

Franco-British Entente.—One of the main signs of the new era was that Britain no longer felt safe in "splendid isolation" ; and the conclusion of the Boer War was quickly followed by a change in the direction of foreign policy. The Anglo-Japanese alliance was concluded by the new Foreign Secretary, Lord Lansdowne, in 1902 (p. 540) ; it was the first fixed alliance which Britain had made for nearly a hundred years, apart from the temporary alliance with France at the time of the Crimean War. But a more important change followed, when in 1904—largely through the influence of King Edward VII—an understanding was reached with France, with whom British relations had been consistently bad for twenty years. The *entente* of 1904 was not in any sense an alliance, even for defence. It was only a clearing away of old subjects of controversy, which stood in the way of cordial relations. France formally recognised Britain's position in Egypt and thus removed Lord Cromer's chief source of difficulty. In return, Britain recognised the prior right of France to intervene in the disorderly country of Morocco, the next neighbour of her Algerian colony. Other old controversies, such as the dispute over fishing rights in Newfoundland, were also settled. And an arbitration treaty was concluded between the two countries. There was nothing exclusive in these arrangements, which were published to the world, and nothing to prevent similar agreements with other countries. But the whole world recognised that the real reason for this patching up of old quarrels was that Britain was beginning to be nervous about Germany, as France had long been. Thenceforward the two countries tended to act together in the diplomatic discussions of Europe.

Educational Advance.—In the years following the South African War several important projects of legislation were under-

taken by the Government. In 1902 it introduced an *Education Act* of great importance, which swept away the School Boards, transferred their functions to municipal and county councils and imposed upon these bodies the duty not only of providing "elementary" education, but of creating a coherent system of education, leading up to the universities. Under this Act efficient "secondary" schools were created in every part of the country ; and for the first time England obtained, what Scotland had long possessed, an intelligible and cohernt national *system* of education. But the Act also imposed upon the education authorities the main cost of upkeep of denominational schools ; and this provoked intense opposition, which obscured the value of the other provisions of the Act.

New Universities.—At the same time a vigorous movement for the creation of new universities arose, inspired in a large degree by the conviction that Britain was suffering from her failure to provide facilities for higher training In a few years, not by Government action but by spontaneous local effort, new universities were established in Birmingham, Manchester, Liverpool, Leeds, Sheffield, and Bristol—all on the basis of modest colleges which had arisen mainly during the previous twenty-five years.*

The Irish Problem.—Another measure of great importance which was effected during these years was the final solution of the Irish land problem, by an Act of 1903, under which the British Treasury advanced £100,000,000 to buy out all the Irish landlords and create a peasant proprietary. Alongside of this, a well-designed organisation for agricultural co-operation helped to bring a new prosperity to the Irish peasantry. Ireland had now long since passed out of the period of agrarian outrage which had marked the 'eighties. But she had not forgotten her desire for self-government. On the contrary, it was spreading to the landowner-class, hitherto staunch Unionists. In 1904 they put forward a scheme of devolution ; and the Irish Secretary, George Wyndham, had to resign because he had been sympathetic towards these proposals. The Nationalist movement was anything but dead. On the contrary, it now began to assume a new form A body of enthusiasts began to preach the necessity of holding aloof altogether from British politics, since the British Parliament would not grant what Ireland demanded. This movement was called *Sinn Fein*, which means Ourselves Alone. It was born at the very moment when the policy of killing Home Rule with kindness seemed to be succeeding.

Chamberlain and Tariff Reform.—During the years 1903—1906, however, all these questions were dwarfed by the revival of the old controversy between Free Trade and Protection in a new form. Chamberlain, in his enthusiasm for the unity of the empire, was inspired by the idea of cementing it by fiscal bonds, and of creating something like the *Zollverein* or customs-union which had helped to make the unity of Germany. British trade also was suffering from the competition of Germany and the United States, and Chamberlain

* See the larger Atlas, Introdution, p. 39, fig.38.

believed that it could be helped to hold its own by protection. In 1903, therefore, he started a vigorous campaign for Tariff Reform and Imperial Preference, and a tremendous debate, which lasted for three years, engrossed the attention of the country. But even Chamberlain's influence, which was now at its height, could not persuade the British people to abandon the system of Free Trade on which their prosperity had been built up. The most direct effect of his campaign was to split the all-powerful Unionist party. Chamberlain himself retired from office in order to be free to preach his doctrine; a group of convinced Free Traders in the Cabinet, including the Duke of Devonshire, retired because they thought the Prime Minister ought to have repudiated his powerful colleague. Mr. Balfour, who had succeeded Lord Salisbury as Prime Minister in 1902, tried to keep both sections together, and satisfied nobody.

Fall of the Conservatives.—The result was that in 1905 Mr Balfour's Government had to resign, and make way for a Liberal Government under Sir Henry Campbell-Bannerman; and in the election of 1906 the Unionists were almost swept out of the field by one of the most sudden reversals of political fortune in British political history. Many things contributed to this result. The Free-Trade-Tariff-Reform conflict was perhaps the most important factor; dissatisfaction with the recent legislation of the Government contributed; disillusionment after the imperialist enthusiasm of the 'nineties counted for a good deal. But behind all this lay the vague demand for great measures of social reconstuction, which had been growing for twenty years, and had as yet obtained no satisfaction.

CHAPTER L

THE DEVELOPMENT OF THE BRITISH EMPIRE (1880—1914)

BETWEEN 1880 and 1902 the area of the British Empire had been increased in an unprecedented degree by the acquisition of new territories, mainly in the tropics. In the same period, and in the following period down to the outbreak of the Great War in 1914, a very remarkable development also took place in the great self-governing colonies and in India, while the links which held the members of the Empire together were notably strengthened. These changes had so direct a bearing upon the part which they were all to play in the great ordeal of the War that it is important to study them before turning to the events of the last ten years preceding the War in Britain and in Europe.

1. CANADA

Macdonald and Unification.—It was in this period that Canada developed from a struggling group of colonies but recently linked together into a powerful and united nation, conscious of its nationhood.* The building of the Canadian Pacific Railway (1881—

* See School Atlas, Plate 51.

1885) was the first great step in this process. It opened up the vast central plain, and revealed its immense fertility. During the 'nineties, and down to 1914, immigrants were pouring in in huge numbers, and the unlimited mineral and other resources of Canada were rapidly developed. The presiding genius of the first part of this period of growth was a Conservative, Sir John Macdonald, Prime Minister from 1878 to 1896. He was one of the great builders of Canada. He had been the main promoter of federation. It was his energy which pushed through the construction of the C.P.R. During his long tenure of power he set himself to make Canada economically independent of her great neighbour, the United States, and for this reason he developed a policy of high protection.

The Aim of Self-Sufficiency.—Macdonald's successor, Sir Wilfrid Laurier, held power for an almost equally long spell, from 1896 to 1911. He was a Liberal, and a French Canadian; and his long tenure of office helped to weld together the French and British elements in Canada. Although he favoured lower tariffs, and a trade agreement with the United States, Canadian opinion would not allow him to depart from the policy of protection. When in 1910 and 1911 he revived the old idea of a treaty of trade reciprocity with the United States, his ministry came to an end, and was succeeded by a Conservative ministry under Sir Robert Borden. Determination to avoid any sort of subordination to the United States was thus one of the dominating principles of Canadian policy. Laurier, however, initiated the practice of giving a tariff preference to British trade, beginning in 1897 with preference of 12½ per cent. of the amount of the duties imposed, which was subsequently increased to 25 per cent. and then to 33⅓ per cent. But Canada, like the other Dominions, was determined to foster her home manufactures. The duties were high enough, in spite of the preference, to give her manufacturers a commanding advantage over their British rivals.

Boundary Disputes.—There were several disputes during the period between Canada and the United States—over seal-fishery in the Bering Straits, over the rights of American fishermen in Canadian waters, and so forth. Adjustments were not easily reached. But the most serious of these disputes was over the boundary of Alaska.* The United States had bought Alaska from Russia in 1867, and the cession included a long strip of the Pacific coast; but it had never been exactly determined whether the whole coast, including the shores of the longest inlets, were included. At the opening of the twentieth century a rich goldfield was discovered at Klondyke, in Arctic Canada, on the River Yukon, and there was the usual rush of diggers. Canada was anxious to obtain an outlet of her own by sea for the Klondyke. She claimed the head of one of the long inlets from the Pacific coast. After a long controversy, the question was referred to a commission of arbitration, consisting of three Americans, two Canadians, and the British jurist Lord Alverstone. Lord Alverstone voted with the Americans, and the decision therefore

* See School Atlas, plate, 51, and the larger Atlas, Plate 79b.

went against Canada. This decision aroused strong feeling in Canada, and gave rise to the belief that the mother-country could not be trusted to look after Canadian interests, especially in relation with America. Canada began to claim to have sole control over her own affairs, international as well as domestic.

Settlement of the West.—In the years before the war the progress of Canada, and especially the peopling of the west, went on more rapidly than ever. The prairie provinces became one of the great granaries of the world. The tide of immigration grew in volume; emigrants from Britain, between 1907 and 1914, were turning rather to Canada than to the United States, and there was a large migration of American farmers across the border. The growth of the west was recognised, in 1905, by the constitution of the two great provinces of Alberta and Saskatchewan, in place of the "districts," controlled by the Federal Government, which had previously existed. Later (1912) Manitoba, Ontario and Quebec were enlarged so as to include the greater part of the northern territories But the main feature of these years was the growth of a strong and independent national spirit in the Canadian people. It was by no means incompatible with a warm loyalty to the British Empire, as the events of the war were to show. But the growth of this spirit, not only in Canada, but in all the Dominions, fostered the belief, in Germany and elsewhere, that the Empire would break into its component parts under any serious strain.

2. Australia

Federation.—The outstanding event in the history of Australia during these years was the federation of the six colonies in a single Commonwealth.* This was the outcome of a long discussion, which lasted for ten years (1889—1899). The chief difficulty came from New South Wales, the mother-colony, which had adhered to a policy of Free Trade, while all the other colonies had adopted Protection: as a common tariff was one of the mainsprings of a scheme of federation, New South Wales feared that she would have a protectionist system imposed upon her. The difficulties were overcome by 1899; in 1900 all six colonies passed Acts accepting a scheme which their representatives had drawn up in conference; an Act of the British Parliament registered this decision; and on the first day of the new century, January 1st, 1901, the Commonwealth of Australia came into being.

Economic Crisis.—Before the passing of the Commonwealth Act, Australia had passed through a very difficult economic crisis. The prosperity of the 'seventies and 'eighties had gradually dwindled. Immigration had almost ceased, trade was bad, and wages began to go down. In 1890 and the following years there was a very serious outbreak of labour troubles. The strikes of 1890 were the nearest approach to a general strike which the world had yet seen; those of 1892 and 1894 were only less serious. In 1893 there was also

---

* School Atlas, Plate 55*b*.

a grave financial crisis. Banks failed wholesale, and the credit of the colonies was seriously impaired. Years of drought, which killed off a large proportion of the sheep, added to the troubles of the time.

Labour in Politics.—Disappointed by the results of strike action, the trade unions began, as in Britain, to turn their thoughts to political action, and in all six colonies Labour Parties were formed. Their first important victory was in New South Wales in 1896, when they succeeded in electing a solid block of members. Since then the Labour Party has been strong in all the States, and also in the Commonwealth Parliament. The first Labour governments in the world were those of some of the Australian States. To meet the growing strength of Labour, the older parties were gradually forced to unite.

Compulsory Arbitration.—The economic distress from which Australia had suffered, the frequency of strikes, and the strength of the Labour movement, led to exceedingly interesting industrial experiments, notably an attempt to introduce compulsory arbitration as a method of settling disputes. This movement began in Victoria in 1896, and spread to the other States. In 1904 the Commonwealth Parliament established an Arbitration Court to settle disputes affecting more than one State, under a judge of the High Court. This Court, and the State courts, have in certain conditions the right to fix wage-rates, which then become legally enforceable. The system has not been wholly successful. Trade unions have refused to accept awards which they did not like, and have resorted to strikes in spite of the court. But the scheme has been sufficiently successful to be kept in being, and it is an interesting attempt to substitute law for war in the industrial sphere.

Australian Nationalism.—The national spirit has been extremely strong in Australia, especially since the Union It has shown itself in a determination to maintain a "white Australia," by the exclusion of Asiatic immigrants. At the same time, the powerful labour organisations have been jealous of European and even British immigration, lest it should result in a lowering of the standards of living. A high protective system has been established in the hope of making the country self-supporting ; and although substantial preferences are granted to British trade, the duties are kept sufficiently high to prevent any effective British importation of the main goods produced in Australia. The cost of this tariff falls mainly upon agriculture, which has to sell its products at world prices, and therefore cannot be protected. The result is that the cultivation of the soil does not expand as rapidly as it might otherwise do. Population is consequently mainly concentrated in towns, and this largely accounts for the strength of the Labour Party : half the population of the Australian continent is in four large towns.

Australia has thus been following a very novel and bold social policy, the aim of which is the maintenance of a high general standard of comfort by the exclusive use of the resources of a large continent for a small, pure-bred population. But the strong nationalist feeling of the Australians coexists with an equally strong

imperialist sentiment. It is their pride that they are British; and it is not only a "white" but a "British Australia" that their nationalist policy aims at maintaining.

3. New Zealand

Seddon and National Development.—The development of New Zealand was not unlike that of Australia. New Zealand had her period of depression and stagnation earlier than Australia, between 1879 and 1895, when immigration came to a standstill and progress ceased. In 1891, however, a Liberal Government under John Ballance (1891—1893) and Richard Seddon (1893—1906) undertook a very bold policy of national development, using the power of the State to stimulate activity in every direction. They set to work to create a population of small proprietors, by taxing large estates, by letting out Crown lands, and by buying more land for the purpose. Within a few years they had raised the number of farmers holding their land on a secure tenure to 70,000—one-tenth of the population. They encouraged the creation of trade unions, but set up representative boards of employers and employees in each industry, with an appeal to a national Arbitration Court in case of difference. They established old-age pensions, and State insurance; they laid out capital freely on works of national development, such as railways; and they imposed the main burden on the rich by means of graduated income tax and high death duties. In all these experiments they were in advance of the world, though they were soon to be imitated, in many respects, in Britain. At the same time, like the Australians, they not only excluded Asiatic immigrants, but discouraged immigration generally in order to maintain a high standard of living.

New Zealand Nationalism.—New Zealand had become very prosperous in the decade before the war, though her population, like that of Australia, was still dangerously small. Her people were fervently nationalist. But they were also the most enthusiastically British of all the great Dominions. They, like the Canadians and the Australians, had adopted the nationalist policy of protection, and were aiming at self-sufficiency; but like the other Dominions, they gave substantial preferences to British goods—desiring, if possible, to keep out all external products, but wishing, if they did come in, that they should be British. The unanimous adoption of Protection with British preference by all the Dominions was one of the main reasons why Chamberlain abandoned Free Trade in 1903, and advocated a return to Protection, even in a country which cannot possibly be self-sufficient. His scheme of an Imperial Customs Union was, however, negatived by the unwillingness of the Dominions to throw down their tariff walls against Britain.

4. South Africa

Unrest after the War.—In 1905, three years after the termination of the war, it was still uncertain whether the long and dismal story of strife which constitutes the history of South Africa had come to an end, or whether new trouble must be looked for.

The conquered Dutch of the late republics, and also the Dutch of Cape Colony, were still inevitably discontented and unhappy, looking critically at the work which Milner was doing, and not appeased by the promise of a limited degree of self-government. The schemes which were announced reserved large powers to the executive. They were schemes not of responsible, but merely of representative, government—the same sort of system which had led to continual friction in canada before 1846. It was felt to be unsafe to make larger concessions than this to enemies so recently conquered

Self-Government and Federation.—But in 1906, before these schemes came into operation, Sir Henry Campbell Bannerman, the head of the new Liberal Government in Britain, announced that the Government intended at once to establish full responsible government in both the Transvaal and the Orange Free State. The first elections, in 1907, returned Dutch majorities; there was a Dutch majority also in Cape Colony But this did not lead to a revival of racial friction, as many feared. On the contrary, now that the four South African States all had constitutions of the same pattern, they could begin to discuss their future on equal terms. The result was that in 1908 Dutch and British delegates from all four met at Durban to work out a scheme of federation, which had so often been vainly urged upon them from above. The scheme was quickly and unanimously adopted. It was ratified by the British Parliament in 1909. And in 1910 Louis Botha, who had eight years before been the commander-in-chief of the Boer armies, became the first Prime Minister of the Union of South Africa.

Racial Problems.—The difficulties of South Africa were by no means over. The conflict between the two white races was in a fair way of being settled, though it was inevitable that there should be a survival of ill-feeling. But the problem of the treatment of the coloured races, over which the differences between the British and the Dutch points of view had been a principal source of friction, was still unsolved. And an additional difficulty had been created by the introduction of large numbers of Indian settlers, especially in Natal. The Indians claimed equal rights as British subjects. The rising spirit of nationality in India was offended by the refusal of South Africa to grant equality, and this added to the difficulties of the government of India.

If the enmies of the British Empire hoped that Canada, Australia and New Zealand would break away when trouble came, they had better reason for expecting that South Africa would prove to be a source of weakness rather than of strength in a time of strain. That it was not so was due to the efficacy of the medicine of self government.

5. India

In India two questions demanded attention during this period. The first was the organisation of the frontiers against the possibility of attack by aggressive Powers. The second, and by far the more important, was the rapid rise of a nationalist movement among the

Indian peoples, and (in some quarters) of a violent agitation against the continuance of British rule.

Conquest of Burma.—The territory of India on the east and north-east was rounded off when, in 1885, the kingdom of Burma was finally conquered and annexed after the Third Burmese War.* The immediate cause of this war was the conduct of King Thibaw, who had imprisoned some British traders. But behind this lay a deeper reason. Thibaw, fearing the British power, had been in relations with France. France, extending her empire in Indo-China, already at one point touched the Burmese frontier, and seemed likely to make herself mistress of Siam Unwillingness to see France established in Burma was one of the main reasons for annexation. In 1896 a treaty between France and Britain defined the limits and secured the independence of Siam, the only remaining independent State in that region; and this ground of fear disappeared.

Tibet.—Again, in 1904, an expedition was sent to Tibet, over passes 19,000 feet high, and (after some fighting) a treaty was made with the Dalai Lama, the priestly ruler of that remote region. The reason for this expedition was that Russia had been opening negotiations with Tibet, and the fear of Russia was still active. But the possibility of an invasion of India over the all-but impassable wall of the Himalayas was remote indeed.

The North-West Frontier.—Throughout the whole history of India her only vulnerable frontier has been that of the north-west. When in 1880 the idea of mastering Afghanistan was finally abandoned, the organisation of the north-west frontier still remained important. The boundary between Russia and Afghanistan in the Pamirs was finally settled in 1895. Meanwhile, in 1893, the boundary between Afghanistan and the Indian Empire was finally delimited by Sir Mortimer Durand. The "Durand line" included in India a broad strip of wild country inhabited by warlike and unruly tribes, from Chitral in the extreme north to Baluchistan in the south. No attempt was made to subjugate these tribes, but frequent "punitive expeditions" had to be sent against them : in one of these, the Tirah expedition of 1897, no less than 40,000 troops were engaged. The policy to be adopted in regard to these tribes was determined during the Viceroyalty of Lord Curzon (1899—1905). In order to keep frontier problems apart from ordinary provincial administration, he created a North-West Frontier Province, with its capital at Peshawar. All garrisons were withdrawn from the tribal area ; and a corps of Khyber Rifles was enlisted among the tribes to maintain order along the Khyber Pass route, which was only opened for traffic on certain days in the week.

Army Reform.—At the same time the Indian army was reorganised by Lord Kitchener, who went out in 1903 as Commander-in-Chief in India. The whole system was made to pivot on the defence of the north-west frontier. So long as Britain held the sea, India was now safe from any serious danger of attack.

---

* School Atlas, Plate 54.

Indian Nationalism.—The most remarkable feature of Indian history in this period was the rise and rapid growth of a Nationalist movement, demanding national freedom and self-governing institutions. This was the inevitable and healthy outcome of the introduction of Western methods and ideas, and of the training of the Indian educated classes in English literature, which is the literature of freedom. But it was not easy to see how these aspirations could be safely satisfied in a land so vast, and so deeply divided in race, language, and religion, as India. The most difficult problem of government which the world presents was, in fact, being raised in India during the generation before the war.

Features of Indian Nationalism.—The Indian Nationalist movement had two aspects, which were really incompatible, but which were often combined. The one was a demand for the British institutions of parliamentary government, that is, for the fuller westernising of India. The other was an assertion that Indian civilisation was not only more ancient but far nobler than that of the West, from which it should be freed. This view was, in the 'eighties and 'nineties, beginning to supplant the older deference to the West. It was also beginning to be asserted that British rule had done nothing but harm to India ; that it was the cause of plague, famine, and poverty. All these ideas were limited, as yet, to the Western-educated classes, who formed not more than 1 per cent. of the population. They could only be diffused through the English language, which was the sole common medium of communication for the educated classes in all parts of India. Only a small minority even of the small educated class took the more extreme view ; the great majority always recognised that the unity, peace, and equal laws which had come with British rule alone made these aspirations possible, and that they must not be endangered. But the whole educated class naturally and rightly shared in the desire for some progress in liberty. This class included the lawyers, the officials, the journalists, the teachers, the traders—in short, the whole vocal part of Indian society. Its demands could not be permanently disregarded. At first, however, the movement took root only among the Hindus : the Mohammedans stood aloof.

Lord Ripon.—The first attempt to give some satisfaction to these aspirations was due to Lord Ripon, who was sent out as Viceroy by Gladstone in 1880. For this reason he is still regarded by most Indians as the best of all the Viceroys. He established representative municipalities in the towns, and District Boards in the rural districts, expressly as a means of enabling Indians to train themselves in self-government. He revised the educational system, encouraging the growth of schools and colleges under Indian management by Government grants ; Government funds had previously been spent upon Government schools and colleges. The result was an enormous increase in the number of institutions of Western learning, many of them very poorly equipped. The number of English-speaking Indians was multiplied many times in the next twenty years, and this increased the demand for self-government. A controversy which arose over another of Lord Ripon's measures also contributed to

strengthen the nationalist movement. He had framed an Act (known as the Ilbert Act) whereby Indian magistrates were empowered to try cases in which Europeans were concerned. This proposal aroused such an outcry among the Europeans in India that it had to be withdrawn Its withdrawal seemed like a slur upon Indian judges, and led to vigorous protests.

Indian National Congress.—In 1885, the year after Ripon's return the Indian National Congress was founded, at first as a purely Hindu organisation. Meeting once a year, it grew steadily bolder in its demand that the representative institutions which were conferred on all the British colonies should not be denied to India. Other movements also, which cannot here be discussed, contributed to strengthen the nationalist movement Government, however, made no concession to it, except that in 1892 a small elected element, chosen by very limited constituencies, was added to the Legislative Councils of the various provinces ; but it was completely outnumbered by official nominees. The real control over the government remained in the hands of the highly competent and devoted bureaucracy of the Indian Civil Service, which included in its higher branches only a small number of Indians ; and the final control rested with the British Government and Parliament.

Lord Curzon.—This system reached its culminating point of efficiency under Lord Curzon, Viceroy from 1899 to 1905. In many spheres he did splendid work ; he overhauled and tautened every department of government ; and the superb Durbar of the Princes and Peoples of India which he held in 1903 to celebrate the accession of Edward VII as king-emperor marked perhaps the highest point of British power. But his reign also saw a formidable growth of anti-British agitation Already, in the 'nineties, there had been a great deal of revolutionary talk in the vernacular Press, especially among the Bengalis of Calcutta and among the Marathas of Poona , in 1896, when there was an outbreak of plague, two British officials were murdered at Poona, and this was the beginning of a campaign of assassination which was to reach serious dimensions. Two acts of Lord Curzon added fuel to the flame. He carried out a drastic reform of the university system, taking much fuller powers of control for government than had been exercised since Ripon's time. Reform was badly needed, but it was done in the wrong way, and it touched the educated class at the most tender spot. More important, he divided the unwieldy province of Bengal (where nationalism was strongest) into two provinces (1905).* The Partition of Bengal aroused a frenzy of opposition. A *swadeshi* movement, for the boycott of British goods, was started. More serious, a secret murder conspiracy was organised in Bengal. It began in 1908, after Lord Curzon had returned to England. It was mainly aimed at the Indian police. It was very difficult to deal with, because witnesses refused to give evidence for fear of the consequences. This Bengal movement was still going on when the Great War broke out

*School Atlas, Plate 54*a*.

in 1914. The teaching of an excitable Maratha journalist named Tilak created a ferment also in Bombay, and in 1907 there was a dangerous movement in the Punjab.

Strength of Nationalism.—This movement of violence was confined to a very small number of men—not more than two or three hundred in Bengal. But it was very difficult to deal with, and it was causing dangerous unrest. Unquestionably one of the reasons for the rising tide of nationalist feeling was the victory which Japan won over Russia in 1904—a victory which seemed to show that an Eastern people could achieve a degree of efficiency equal to that of any Western nation, and could face successfully the most powerful of Western empires. The influence of the Russo-Japanese War was felt, indeed throughout the non-European world. But the essential thing was that the growing educated class of India was becoming more and more determined to achieve some sort of self-government.

The Morley-Minto Reforms.—The Liberal Government which came into power in Britain in December 1905—just after Lord Curzon's retirement—recognised this. It made no compromise with violence. But in 1909 Lord Morley, the Secretary of State for India, introduced profound modifications in the system of Indian government. In all the Provincial Councils an elected majority was introduced. In the Viceroy's Legislative Council (which deals with the affairs of India as a whole) a representative element, though not a majority, was introduced. An Indian member was added to the Viceroy's small executive council or cabinet, and two Indian members were added to the Secretary of State's Council in London. In the provincial governments, at any rate, this was the establishment of representative, though not of responsible, government. But precisely for that reason, it did not put a stop to the agitation ; on the contrary, it rather increased it, since the sole function given to the new councillors was that of criticising the Government.

Dangerous Unrest.—When the crisis of 1914 arrived, therefore, India seemed to be in a turmoil : a vigorous constitutional agitation was going on, and a murder-conspiracy was still afoot in Bengal. What was more natural than the expectation that under the strain of war India would break into revolt, and that the British colossus would fall to pieces ? But these anticipations left out of account the facts that the vast mass of the Indian peoples were wholly unaffected by political agitation ; that the Indian princes disliked it ; that only a handful of fanatics were concerned in the conspiracy of violence ; and that the great majority of the educated Indians who were demanding political emancipation were in fact convinced that the maintenance of the connection between India and Britain alone offered any hope of the achievement of their aims.

6. Growth of Imperial Unity

Thus in every part of the British Empire the nationalist spirit was actively at work. There was no central compulsive power to hold the Empire together ; and therefore it appeared to foreign observers that it was bound to break asunder as soon as it was attacked.

The very reverse was the case: only the menace of external peril was needed to still most of the discords, and to prove that a free partnership was stronger than a unity imposed by force. The unrest in the various members of the Empire, and in the mother-country itself, were the growing-pains of freedom.

Imperial Conferences.—During this period, however, a considerable advance had been made in the organisation of consultation between the members of the Empire. These consultations had no power to enforce their decisions, but they made it possible for the various States to act together, and to understand one another's point of view. This process of consultation began with the Colonial Conferences of 1887, 1897, and 1902, there was also a conference at Ottawa in 1894. These were meetings of imperial statesmen who happened to be in London for the great ceremonial occasions of the two Jubilees and the Coronation of Edward VII. A change was made under the auspices of the new Government which came into office in 1905. It summoned two conferences in 1907 and 1911. But they were called Imperial, not Colonial, Conferences. They were specially summoned, and had a full agenda. In 1907 it was decided that conferences should be held every four years, and that there should be a permanent secretariat. Moreover, they discussed far more important business than their predecessors. They were taken into the fullest confidence on foreign policy. They played a vitally important part in working out the plans of imperial defence, and making close co-operation possible in the event of war. In 1909 and 1910 the Dominions undertook systematic defence programmes which resulted from these consultations. They had earlier made contributions towards the Navy. Australia and Canada began to create local navies of their own, but in close co-operation with the Royal Navy.

"Commonwealth of Nations."—The character of the British Empire was changing. It had ceased to be an Empire in the strict sense of the term, and had become, in Campbell-Bannerman's phrase, "a Commonwealth of Nations": not a solid, unitary State, but a planetary system of States, each revolving in its own orbit, yet all held in their places by a nice balance between the centrifugal force of nationalism and the centripetal force of imperial patriotism. Whether war could disturb this balance was soon to be seen.

CHAPTER LI

SOCIAL REFORM AND POLITICAL CRISIS (1906—1914)

1. The Parliament of 1906—1910

A period of Strain.—Britain has never passed through a period of greater strain and more intense political activity than in the nine years before the outbreak of the Great War. While the situation in Europe (which will be discussed in the next chapter) was becoming more and more difficult, and the menace of world-war overhung the

nation, and while the problems of imperial government surveyed in the last chapter were assuming an increasing importance, at home a programme of social and political change was being carried out which aroused acute controversy ; labour conflicts attained an intensity never before known ; respect for law seemed to be breaking down : and Ireland was brought to the very verge of civil war. It was in these circumstances that the British peoples entered upon the most terrible ordeal of their history, and both at home and abroad there were many who doubted whether they would stand the strain. The existence of this belief in Europe perhaps contributed to precipitate the war.

The Election of 1906.—The General Election of 1906 was the most sensational in the history of parliamentary government. The Conservative party lost most of its leaders, and was reduced to 157, while 377 Liberals were returned. The usual solid block of 85 Irish Nationalists gave steady support to the Liberals. But the most significant feature of the election was the return of 51 members of the new Labour party. Yet the Liberals had a clear majority of more than 80 over all other parties combined ; and in conjuction with their allies they had a majority of three to one over the Conservatives. It was very clear that the country was resolved upon a great change of policy. On the other hand, the House of Lords showed a permanent and overwhelming Conservative majority. It could, if it dared, reduce the great majority of the House of Commons to impotence. This, from the first, made a constitutional conflict between the two Houses inevitable.

The Liberal Ministry.—The Liberals had been deeply divided and disheartened during the previous period. One section of them, known as the Liberal Imperialists, and including Lord Rosebery, Mr. Asquith, Sir Edward Grey and Mr. Haldane, had supported the South African War, while another section, including Sir Henry Campbell-Bannerman, Mr. John Morley, and a rising young Welshman, Mr. Lloyd George, had violently denounced it. But common opposition to Chamberlain's Tariff Reform campaign had drawn them together again, and they formed a very powerful ministry under Sir Henry Campbell-Bannerman, which included some recruits from the broken Conservative party, notably Mr. Winston Churchill, a son of Lord Randolph. In 1908 Campbell-Bannerman died, and his place was taken by Mr. Asquith, a man of great intellectual power and imperturbable serenity.

Army Reform.—The legislative work of this Government was so many-sided that it is best to deal with it by subjects, rather than in chronological order. In view of the coming war, first place must be given to the remarkable military reorganisation which it carried out, under the direction of Mr. (afterwards Lord) Haldane, as Secretary of State for War. The South African War had shown that the British army needed drastic reorganisation. Several attempted reforms since the war had led to no useful results. It would have taken months to send any large army abroad, and the army as a whole was not organised for this purpose. Haldane, in the first,

place, reconstituted the Regular Army as an Expeditionary Force, organised into Army Corps and Divisions, each with their proper complements of cavalry and artillery, medical and service corps. The result was that, when the need came, the most perfectly equipped and trained army that Britain had ever put into the field was transferred to France in a few days It was small in comparison with the conscript armies of the Continent, but Britain was a sea-power, and had never contemplated maintaining an army on the Continental scale. Behind the expeditionary Force, Haldane reconstituted the Volunteers as a Territorial Army, organised in proper units, with the necessary equipment, and provided with a much improved system of training. The "Territorials" were designed for home defence; but they were able to strengthen the army in France in the first winter of the war, when they saved the situation. In every university and great school Haldane instituted Officers' Training Corps: without the reserve of partially trained officers thus created, the rapid expansion of the army in war-time would probably have been impossible. He also equipped Britain for the first time, with a General Staff. With these reforms, was linked a corresponding reorganisation of the military system in the Dominions. These reforms which were carried out between 1906 and 1912, alone made it possible for Britain to play her part in the war.

Old Measures Revived.—A part of the time of this Parliament was spent upon old projects of reform. Although the full scheme of Irish Home Rule was not introduced, the Irish university problem, tackled by Gladstone in 1871, was solved by the creation of two new universities, in Dublin and Belfast. A measure of Welsh Disestablishment was introduced, but rejected by the House of Lords. A Licensing Bill was treated in the same way. The summary rejection of measures sent forward by overwhelming majorities from the House of Commons aroused great anger, and made a constitutional struggle inevitable; but the Government waited for a more popular issue.

The Trade Disputes Act.—One of the earliest, and one of the most controversial, of this Government's proposals was the Trade Disputes Act of 1906. A recent judgment in the courts (the Taff Vale judgment) had made trade unions liable for actions done by their members during strikes, and for any wrong suffered as a result of a strike. If the law had remained in this form, strike action would have been impossible; and as the threat of withholding labour is the basis of the trade union's negotiating power, the unions would have been reduced to impotence. The Act of 1906 exempted the trade unions from liability for actions of this kind. It may thus be said to have placed them in a privileged position. Conservatives denounced this as a vicious Act; but the House of Lords did not venture to reject it. The result was a very rapid increase in the membership of the trade unions; and the serious strikes of the next few years were by many people attributed to this Act.

The Political Levy.—A second Act affecting the trade unions came some years later. For many years some of the trade unions

had devoted a part of their funds to paying the expenses of their members who became candidates for Parliament. In 1909 the courts decided, in the Osborne judgment, that trade union funds could not legally be used in this way This would have deprived the Labour party of its financial resources. As it seemed on all grounds desirable that trade unionists should sit in the House of Commons, where so many matters affecting them were discussed, an Act was passed (1913) empowering any trade union, if its members so decided, to raise a special levy for political purposes, provided that any member who did not wish to pay should have the right to claim exemption. These two Acts were the foundations of the industrial and political power of the trade unions, and turned them into one of the strongest forces in the State

Payment of Members.—In 1911 the position of working-class members was further strengthened when Payment of Members—long since demanded by the Chartists—was carried, and every member of Parliament received £400 a year. Until that date, membership of the House of Commons had been reserved for those who were rich enough to be able to give their time, and to meet the heavy expenses which membership entails.

But the main work of this ministry was a remarkable series of measures of social reconstruction, more far-reaching than anything that had yet been undertaken in Britain, or, indeed, any European country.

Protection of Children.—In the first place, there were a number of measures for the protection of children. The Provision of Meals Act (1906) enabled education authorities to feed children who came to school hungry ; and, lest this should impair the responsibilities of their parents, the authorities were empowered to recover the cost from any parents whose means were sufficient. By the Medical Inspection Act (1907) all the children in the nation's schools were brought under medical supervision And by the Children's Act (1908) many forms of protection for children were enacted, and a special system of jurisdiction and punishment was set up for juvenile, criminals, so as to withdraw them from the pernicious influence of the police court and the gaol.

Old-Age Pensions.—The aged poor next received attention. In 1908 a system of old-age pensions was created, under which every person over seventy whose income was less than a certain very modest sum could claim a weekly pension of five shillings, payable at the post-office. The sum was small ; but the immense number of people who were entitled to claim it was a revelation of the mass of unrelieved poverty which existed in the country ; and, small as it was, it enabled thousands of poor folk to live in self-respect with their families, without being driven to the harsh charity of the Poor Law.

Housing and Town-Planning—An attack upon the unwholesome and sordid conditions which existed in British towns was made possible by the Housing and Town-Planning Act (1909), which very greatly enlarged the powers and duties of municipalities in regard to the demolition of unhealthy houses and the construction

of healthy ones for the mass of the people. The Act also introduced a new idea in English legislation, by imposing upon municipalities the duty of working out sound plans for the future development of their towns, and of requiring that landowners and builders should follow these plans. For some time there had been in Britain a movement for the creation of garden cities and garden suburbs, and in some cases admirable results had been obtained by buying up land at a low value and then using for public purposes the increased value which it obtained as soon as houses and shops were planted upon it. The Town-Planning Act made possible the gradual reconstruction of British towns on these healthy lines. But before this could be done, it was held to be necessary to give to public authorities the power to annex the increased values given to land by public improvements instead of letting them pass into private hands. This idea had already been applied in the United States, Canada, Australia, New Zealand, and other countries. But it gave rise to a very acrimonious controversy as to the justice and also as to the probable results of such interference with the existing rights of landowners. In the Land Values (Scotland) Bill of 1907 an experiment in this direction was made; this was only the beginning of a very vigorous and angry discussion which reached its height two years later, on the Budget of 1909.

Small Holdings.—A serious attempt was also made to revive British agriculture and to stimulate hope and ambition among the peasantry by the Small Holdings Act of 1907, which empowered county councils to acquire land by compulsory purchase, and to let it out in small holdings and allotments. The energy with which this Act was applied depended upon the county councils. Some did practically nothing But in those counties, such as Cambridgeshire, where the new function was taking seriously, a large number of small holdings were created, and a beginning was made in recreating the class of small farmers which had largely been destroyed by the enclosure movement. This, however, was only a beginning. The Government had in view far more sweeping proposals when the war came to interrupt their work.

Industrial Reforms.—There was also a very important series of measures affecting industry. Under an Act of 1906 a Census of Production was carried out. It provided, for the first time, adequate information about the actual facts of industry. In the same year a *Workmen's Compensation* Act extended to all trades the right to compensation which had been applied to a few trades in 1897. In 1908 the hours of labour in coal-mines were limited to eight a day; and in 1910 the hours and conditions of work in shops were defined by law.

Trade Boards.—But the most novel and important departure in this sphere was provided by the Sweated Industries Act of 1909. In certain industries where wages were exceptionally low, and where no adequate trade union organisation existed for the protection of the workers, the State undertook the function of fixing a legal minimum wage. For this purpose Trade Boards were to be instituted in each

industry concerned. They were to consist of equal numbers of employers and workpeople, with a natural element, all to be appointed by the Board of Trade. The wage-rates which they defined, after due consideration, were to be laid on the table of the House of Commons, and thereafter were to be enforced by the courts of law; inspectors were appointed to see that these rates were paid In the first instance only seven trades, covering half a million workers, were brought under the scheme; but it has since been greatly expanded. The immediate result was a great improvement in the conditions of the workers concerned. Experience seems to show that, when it is intelligently used, the system is not bad for trade; on the contrary, it stimulates employers to greater efficiency.

Labour Exchanges—Finally, in 1909, a network of Labour Exchanges was set up in every part of the country, in order to help men to find jobs, and employers to find the workmen they needed. This was the necessary preparation for dealing with the immense problem of unemployment, which the Government had next resolved to tackle.

Differential Taxation.—All these reforms involved a very great enlargement of the functions of the State, and consequently a great increase in the number of public officials. This was regarded by many with profound misgiving, and the growth of "bureaucracy" was the subject of many criticisms. The new social policy also involved a great outlay of public money, and rendered necessary large changes in public finance. In the first three Budgets of this Government, Mr. Asquith, then chancellor of the Exchequer, succeeded not only in substantially reducing indirect taxation, but also in paying off a large proportion of the debt incurred during the South African War In doing so he introduced two significant changes. He levied a higher rate of income tax on "unearned" income—that is, income from investments—than on "earned" income, that is, payment for work done. He also increased substantially the duties paid on estates at death. Thus the wealthier section of the community were largely made to pay for the cost of social reforms which mainly benefited the poorer members of the community.

The Budget of 1909.—In the Budget of 1909 Mr. Lloyd George, who had succeeded Mr. Asquith at the Exchequer, went still farther in this direction, levying upon all large incomes a super-tax over and above the ordinary rate of income tax. But this was only one aspect of this remarkable Budget, the most revolutionary of modern times. It was linked up with a whole programme of new social legislation, for which it was to find the means, and some part of which was embodied in the Budget itself. The part of these proposals which aroused the bitterest controversy was a series of new taxes proposed to be levied on land All the land in the country was to be valued, and during the next few years the valuers were very busy. A small tax was to be levied on the capital value of the land (apart from the buildings on it), and a further tax, called "increment duty," was proposed as a means of securing for the community a share of all increases of value that were due, not to the enterprise of the owner, but to the presence of a large population. There was an

extraordinary fierce controversy over these proposals, in the course of which the taxes are whittled down until they amounted to very little. On the one hand, the landowning class were denounced for taking toll of the nation's industry, and for holding up land needed for national expansion in order to get ransom prices. On the other hand, the supporters of the scheme were denounced as revolutionaries who were upsetting the very foundations of the nation's economic life.

Rejection of the Budget.—Passions ran so high that the House of Lords, defying the constitutional usuage of two centuries, actually rejected the Budget. In doing so they practically claimed the right of dismissing a ministry, since no ministry can carry on government if its budget is rejected. At the very least, they were claiming the power of forcing a dissolution of Parliament. Thus was raised the largest and most exciting constitutional controversy since 1832.

2. Constitutional Conflict (1910—1914)

The Conflicts of 1910.—The year 1910 was a year of intense political excitement. In January there was a general election on the issues raised by the House of Lords. But far deeper questions were raised. There were proposals for reconstructing the House of Lords, for revising its powers, or for abolishing it The great issues of national finance and social reorgnisation were also raised. The Tariff Reform controversy was revived. And meanwhile the foreign situation was becoming grave, and the Government was charged with neglecting the Navy The election resulted in a great reduction of Liberal strength . Liberals and Conservatives were practically equal, and the Irish Nationalists and the Labour Party held the balance. But these parties were not less determined than the Liberals to cut down the powers of the House of Lords. The rejected Budget had to be carried ; and the Government was definitely committed to a scheme for limiting the powers of the House of Lords and revising its composition. An attempt to reach a settlement by agreement in a conference of party leaders failed. King Edward VII died during the controversy, and a second election, which gave very much the same result, was held at the end of the year.

The Parliament Bill.—In 1911 the Parliament Bill was introduced. It proposed to reduce the duration of Parliament to five years, and to deprive the House of Lords of the power of rejecting or altering any Bills certified by the Speaker of the House of Commons as Money Bills ; in the case of other Bills the Lords might reject twice but on a Bill being sent up for a third time it was to be submitted for the royal assent. There were furious and bitter debates, with scenes of violence, before the Bill passed the House of Commons. A majority in the Lords would have liked to reject it. But it was known that King George V had agreed, if necessary, to create four hundred peers in order to secure the passage of the Bill, and in face of this possibility the Lords reluctantly gave way. The

House of Lords by this Act definitely became a subordinate body. It could no longer destroy measures supported by a substantial majority. On the other hand, it could compell a majority in the Commons from which it differed to waste the time of Parliament and the patience of the electors by passing every important measure through all its stages three times ; and it could make controversial legislation impossible in the last two years' of a five year's Parliament. The Government had undertaken to introduce a supplementary measure dealing with the constitution of the Second Chamber. It never did so.

National Development.—During and after the constitutional discussion, a further series of economic and social changes were carried. A Development Commission, with large funds, was set up to carry out projects of national development not likely to be under taken by private enterprise. A Road Board was established to reconstruct the road system of the country in view of the coming of motor traffic. It was financed by special taxes levied on motor-cars.

Social Insurance.—The most important measures of this period, however, and perhaps the most important new social devices introduced by this Government, were two immense schemes of social insurance, whereby provision was made on an insurance basis, for safeguarding working people against those risks of life in an industrial society against which it was impossible for them to provide out of their own resources. The chief of these were sickness and unemployment. The National Health Insurance scheme provided medical attendance and medicines, and allowances during a period of disability, for all insured persons, and also maternity benefits for their wives ; the funds being found by contributions from employers, employees, and the State. The scheme involved very complicated arrangements with doctors and chemists and with the friendly societies which undertook to administer it. The Unemployment Insurance scheme, which was confined at first to a few of the greater trades in which unemployment was most prevalent, similarly provided out-of-work pay during periods of involuntary unemployment. It was administered through the Labour Exchanges and the Trade Unions. These far-reaching schemes aroused furious controversy. They represented a new departure in State action. They have since become an essential part of the social structure, and the unemployment scheme has been extended until it covers almost the whole of the working population.

The Third Home Rule Bills—The destruction of the Lords' Veto made it practicable to introduce two measures which the Lords had repeatedly rejected—Irish Home Rule and Welsh Disestablishment. Both aroused very bitter controversy, which seemed interminable because the whole process had to be gone through three times. As the time came near for the final passage of the Home Rule Bill, the Ulster Protestants, realising that the House of Lords was no longer able to protect them, prepared to offer armed resistance. Led by an eminent lawyer, Sir Edward Carson, they organised volunteer corps, smuggled large supplies of arms into

the country from abroad, and even set up a Provisional Government. The Nationalists, as well as the Ulster men, began to drill. The more extreme party in Catholic Ireland, "Sinn Fein," was believed to be in relations with Germany. In the spring of 1914, civil war seemed to be at hand. Even the army, at the Curragh camp in Ireland, threatened to mutiny, many of the officers being determined to refuse duty if they were ordered to serve against Ulster An attempt to reach a compromise was made in a conference of the political leaders on both sides, summoned by the king. This was on the very eve of war, when it was known to be imminent ; but even this knowledge did not bring agreement. This was the situation at the moment when the war-cloud burst.

3. Industrial and Social Unrest

Great Strikes —During these years of intense political activity and growing political strife, Britain was also passing through a series of labour disputes of unprecedented seriousness. In the eight years preceding 1906, the average number of days lost through industrial disputes in each year was four million ; but in the eight years from 1906 to 1914 the figure rose to eleven million. Not only this, but the disputes were of a gravity unknown before, and they were especially serious in industries which were essential to the nation's life, industries the dislocation of which affected the whole sphere of industry, notably coal-mining and the railways. There were prolonged stoppages in the mines, which were only temporarily cured, in 1912, by the hurried enactment of a minimum wage for three years. In 1911 there was an almost complete stoppage of railway transport, and, in some ports, of the loading and unloading of ships. The strike-fever was in that year so virulent that children began to strike against going to school. This profound industrial unrest, which seemed to be intensified rather than alleviated by the sweeping reforms introduced into Parliament, appeared to many observers to be an even graver national malady than the acrimony of politics.

Causes of Unrest.—The causes of this industrial unrest were clear enough. In the first place, the steady rise in the real value of wages which had gone on uninterruptedly from 1846 to the end of the nineteenth century, had been followed first by stagnation and then, in some trades, by a fall In some trades, and notably on the railways, the rates of wages were disgracefully low—insufficient to provide a decent livelihood. The growing strength and activity of the trade unions had been quite unable to prevent this, because it was due to the fact that British industry was, relatively to that of other countries, less efficient than it had been in the nineteenth century. On the other hand, the trade unions were now so strong, and their membership had so vastly increased, that it seemed as if they ought to be able to enforce their demands. Meanwhile, the preaching of extreme and destructive forms of Socialist doctrine was growing very rapidly. Karl Marx's doctrine of the Class War, in its crudest form, and the French doctrine of Syndicalism, which taught that the workers in each industry ought to control it and take

its proceeds, and that they could obtain this control by "direct action" through the strike weapon, were both being more widely disseminated than ever before, and had not yet been subjected to effective criticism. They had very little influence among the great mass of workmen, and the leaders of the greater trade unions were seldom affected by them. But they influenced the younger, more energetic and more vocal among the workers.

Diminished Respect for Law.—Even this was not the end of the perturbing features in the condition of Britain. There seemed to be a general diminution of that law-abidingness which was supposed to be a British quality, and of that readiness to accept the decision of the majority until it could be altered which is the first condition of the successful working of democracy. The opponents of the Education Act of 1902 were still offering "passive resistance" to its provisions, and refusing to pay their rates because they disapproved of the purposes for which they were to be spent. The opponents of Home Rule were ready to resist it by arms. The advocates of women's suffrage, who were immensely active throughout the period, were not content with the ordinary methods of persuasion, but strove to prove their fitness for government by interrupting meetings, smashing shop windows, chaining themselves to railings, burning down churches and houses, slashing knives through pictures, and refusing food when imprisoned for disorderly conduct. To many it seemed that the foundations of society were being loosened.

But the moment the tocsin of war clanged, these discords almost wholly ceased. The nation, and the whole British Empire, forgot their disputes and sprang to attention. The truth was that in these years a profound and searching examination of the very foundations of the social and political order had begun. It was bound to arouse deep feeling. It was prematurely interrupted by the call to war. But when that call came, it was seen that the mettle of the people was unimpaired. We have next to see how and why that call came.

CHAPTER LII

THE COMING OF THE FIRST WORLD WAR (1904—1914)

1. Balance of Power

Danger-points.—Europe and the world were in a very unhealthy condition at the beginning of the twentieth century.* There were many danger-points where war might at any moment break out. France was still sore about the loss of Alsace and Lorraine. The Balkan Peninsula was in a state of constant unrest. The discordant peoples of the Austrian Empire were on bad terms with one another, and that composite empire was only held together by the unwelcome control which the ruling races of Germans and Magyars enforced upon the subject peoples—Czechs, Croats, Serbs, Poles, and

* For Europe in 1914, see School Atlas, Plate 20.

Rumanians. The tyranny of the Russian depotism was becoming intolerable. The world had been rapidly partitioned among the Great Powers, whose interests clashed with one another in every part of the earth. But what made all these things doubly dangerous was that the Great Powers of Europe were divided into two rival alliances, armed to the teeth, and watching one another. This meant that if any dispute broke out which involved any of them, a world-war must follow.

Germany.—This division into two groups was a recent thing, to which there had been no parallel in earlier history. It was due to the swift rise of the power of Germany. Since the middle of the nineteenth century Germany had become indubitably the greatest power in Europe. Her army was the most perfect military machine that had ever existed. Her people were formidable by reason of their industry, knowledge and skill. With rapid strides she had made herself one of the greatest manufacturing and trading Powers in the world. She aimed at creating for herself an empire corresponding with the greatness of her European position. But, starting late, she had not got her fair share of world dominion, and she was eager to seize every opportunity of increasing it. She was ruled by a military caste whose traditions bade them trust to force for the achievement of their ends,and the saner commercial interests had not yet won great influence in her government. She was always conscious of her dangerous position, with long frontiers in the heart of Europe, faced by formidable powers on either side. She had striven to make herself secure by creating an alliance with Austria and Italy. But this involved her in the obligation of defending the precarious power of the Austrian Empire, which was threatened by nationalist movements. She had also buttressed her power by building up a strong influence over Turkey, and over three of the four main Balkan States: Rumania and Bulgaria both had German kings, and the king of Greece had married the Kaiser's sister; only Serbia was not brouht into this group of alliances, and Serbia was bitterly anti-Austrian. But the power of Germany in Turkey and the Balkans aroused the jealousy of Russia, with whom Bismarck had always been careful to maintain friendly relations.

The Triple Entente.—It was the masterful policy which Germany was pursuing which led to the formation, in the 'nineties, of an alliance between France and Russia. Both powers felt themselves endangered. But as soon as they came together, the nightmare of "encirclement" began to prey upon the mind of Germany. It was used by her military caste as a reason for further armaments; and these were promptly answered by armaments on the other side. Finally, Germany had resolved that if she was to have a position as a great world-power, she must possess not only a great army but a great fleet to secure her interests in all parts of the world. She must "wield the trident." From 1900 onwards she was building up a powerful fleet with determined energy. This aroused the fears of Britain, who had to build against her; and it led to the entente with France in 1904. During the next ten years the restless eagerness of Germany and her allies to strengthen their position

in the world kept the other powers in a state of alarm. They were drawn into closer relations with one another. And the more they acted together, the deeper grew Germany's fears of "encirclement." The vicious circle could not be taken Europe moved from crisis to crisis, and with each crisis the menace became graver. As the motion of a river seems to become swifter and fiercer when it draws near to a cataract, so, year by year, the situation became more critical as the cataclysm drew nearer.

British Policy.—British statesmanship was aware of the danger. Its supreme aim was the maintenance of peace ; but it also had to think of the security of the British Empire should war come. To reconcile these needs was not easy ; it was like walking the tight-rope ; and Sir Edward Grey, who was Foreign Secretary during these difficult years, had a terrible hard task. As German policy seemed to be the chief disturbing factor, Britain found herself steadily drawn into closer association with France and Russia in the difficult diplomacy of these years, and this involved her in moral obligation towards them. On the other hand, she carefully abstained from anything in the nature of a formal alliance with France and Russia ; she tried, with increasing difficulty, to stand aloof ; she strove to conjure away any fears which Germany might feel, and to reach if possible an agreement with Germany like those she had reached with France and Russia. The best way to realise the difficulty of the period is to follow the development of the crisis year by year, beginning with the Franco-British entente of 1904.

2. The Successive Crises of 1905—1913

The Disablement of Russia.—No sooner had Britain and France removed their outstanding differences than war broke out between Russia and Japan. The Anglo-Japanese alliance prevented any European intervention ; and Japan astonished the world by inflicting a crushing defeat upon Russia, both on land and sea. Next year, 1905, a dangerous revolution broke out in Russia. The legend of Russian invincibility was broken. For some years Russia could almost be counted out of European politics, and this fact profoundly affected the whole course of events.

First Morocco Crisis.—In 1905 Germany suddenly interfered in Morocco. That kingdom was in a state of anarchy. It lay next to the French colony of Algeria. France had for some years been engaged in a process of "peaceful penetration." In the entente of 1904 Britain had recognised France's prior right to intervene in Morocco. The Kaiser, knowing that France's ally Russia was disabled, suddenly landed at Tangier and asserted the independence of Morocco. There was a momentary danger of war, and French military representatives consulted with British officers as to the steps that should be taken if war came and Britain was involved. They discovered that the British army could not be mobilised in time to be of use ; and this directly influenced the army-reform policy of Haldane. Eventually the question was referred to a European

conference, which met at Algeciras in Spain (1906). It declared Morocco independent, but recognised the position of France in that country. This was regarded as a diplomatic defeat for Germany. This first crisis had been staved off.

The Anglo-Russian Entente.—In 1907, largely through the mediation of France, Britain came to an agreement with Russia. Like the entente of 1904, this agreement was in no sense an alliance, but a clearing up of outstanding difficulties, notably in Persia and in Tibet. But it rendered diplomatic co-operation easier. It also alarmed Germany, who saw herself being "encircled"; and when King Edward VII visited the Tsar at Reval, he was regarded as the villain of the plot. In the same year the second Hague Conference was held, in the hope of persuading the Great Powers to stop the race of armaments. All the world wanted peace. Since 1904 scores of arbitration treaties had been signed between various nations. The Hague Conference tried to extend the system of arbitration. It failed, largely because of the obstinate opposition of Germany. Meanwhile, Britain had made an honest attempt to dissipate German fears, and to persuade Germany to slow down the rate of naval construction. As a guarantee of good faith, Britain herself slowed down her rate of construction, and the Government was denounced for endangering her naval strength. But Germany made no response; she rather intensified her naval energy.

Austria and Serbia.—In 1908 a revolution broke out in Turkey. For a time the German influence at Constantinople was shaken; but it was soon restored. Austria seized the occasion to annex Bosnia and Herzegovina, which she had administered since 1878. These provinces were inhabited by Serbs, and Serbia, who had hoped to incorporate them, was stirred by a passion of anti-Austrian feeling, and appealed to Russia for aid. Germany declared strongly on the side of Austria. War was very near; but Russia had not recovered from her troubles, and when Sir Edward Grey made it clear that Britain would take no part in a war on such an issue, Russia and Serbia had to submit to humiliation. Austria, thinking that the time had come to crush Serbia, invented forged evidence to justify a war. But Germany made her hold her hand—as she failed to do in 1914, when a similar quarrel between Austria and Serbia precipitated the World War. In this episode the Central Powers unquestionably scored a victory, and strengthened their influence in the Balkan States.

The Dreadnought.—In 1909 a strong agitation arose in Britain regarding the naval situation, and the Government was fiercely attacked by the Conservative opposition. Recognising that the overtures to Germany had failed, the Government undertook an enlarged programme of naval construction. But the situation had meanwhile been affected by a new factor. A new type of battle-ship, the *Dreadnought*, had been launched. This type was too large to pass through the Kiel Canal, whereby Germany planned to pass her warships to and fro between the North Sea and the Baltic Germany began to widen the Kiel Canal. It was probable that she

would, if possible, avoid a general war before this work was finished. It was finished in June 1914.

Italo-Turkish War:—1910 was a year of uneasy quiet. But in 1911 a double crisis came. Italy seized Tripoli, which was part of the Turkish Empire, and was involved in war with Turkey. This for a time weakened German influence at Constantinople, because Italy was a member of the Triple Alliance. It also strained the Triple Alliance itself. Germany began to fear, what actually came about, that she would not be able to count upon the support of Italy if war should come.

Second Morocco Crisis.—More dangerous was the outbreak of a new phase of the Morocco problem. France had taken military action in Morocco, and was obviously working towards control of the country. Germany asserted that this was a breach of the Algeciras agreement. Whether it was or not does not here concern us. Germany did not appeal to the Powers concerned in the agreement. She sent a warship to Agadir, and made it plain that the matter must be settled between her and France. Britain thereupon announced, through a speech delivered by Mr. Llyod George, that she intended to be consulted. For a time war was very near. But it was averted by an agreement between France and Germany, whereby France bought Germany's acquiescence in her action in Morocco by ceding some territory in Central Africa. Germany regarded herself, however, as having suffered a diplomatic defeat.

Military Consultations —During the crisis of 1911 British and French military experts again took counsel as to the policy to be adopted if the two Powers were involved in war. Lest this should be regarded as committing Britain, formal letters were exchanged between Sir Edward Grey and the French ambassador which made it clear that Britain retained full freedom of action. While she was anxious to be ready if war should come, she was detrmined not to be dragged into the war at the heels of France or Russia.

Military Preparations.—From 1911, onwards until the war, there was feverish military preparation on both sides. Germany passed an Army Act to enlarge her forces in 1911 ; a second Army Act followed in 1912, and a third in 1913, and a levy on capital was raised to meet the costs involved. France imposed an extra year of military service upon all her manhood. Russia built military railways to transport her troops to the frontier. Even Belgium, whose neutrality was guaranteed, adopted compulsory military service in a secret session of Parliament in 1913. In 1912 Britain made a naval arrangement with France under which the main strength of the British fleet was concentrated in the North Sea, while the French fleet was concentrated in the Mediterranean. This imposed upon Britain an honourable obligation to defend the Channel coast of France if it should be attacked.

British Efforts for Peace.—Evidently war was expected and was being prepared, as early as 1912. But Britain did not abandon hope of reaching some understanding with Germany. In 1912 Lord Haldane was sent to Berlin to convey a formal assurance

from the Cabinet that Britain had not made, and would not make, any agreement with any other Power for action against Germany; and to urge that, in view of this, an agreement for mutul reduction of naval armaments should be made. In reply, Germany suggested that Britain should pledge herself to neutrality in the event of a European war. Such a pledge could not, of course, possibly be given. Even so, Britain did not give up the endeavour to ease the strain. Sir Edward Grey tried to reach an agreement with the German ambassador on colonial questions, similar to the earlier agreements with France and Russia. An agreement was reached, and a treaty was drafted. According to one of the greatest colonial enthusiasts in Germany, it gave to her everything she could reasonably expect. It was ready for signature in the summer of 1914. But it was held up, because the German Chancellor insisted that it must not be made public, while Sir Edward Grey explained that it must be submitted to Parliament before ratification.

The Balkan Wars—Meanwhile, in 1912, the centre of interest was transferred to the Balkans. Three of the Balkan States—Bulgaria, Serbia, and Greece—formed a League against Turkey, completely defeated her, and threatened Constantinople. The Balkan League had agreed as to the way in which the conquered territories should be divided. The maintenance of their alliance would have meant peace in the Balkans, and the disappearance of the Turk from Europe. But Austria refused to allow Serbia to have the territories which had been assigned to her, and threatened war. A conference was held in London, under the presidency of Sir Edward Grey, and the crisis was averted. But Serbia was recompensed for the lands which Austria would not let her take by lands taken from Bulgaria's share. Bulgaria, perhaps stimulated by Austria, refused to accept this settlement. A second Balkan war was waged in 1913, when Bulgaria was beaten by Serbia, Greece and Rumania. Once more Austria threatened to attack Serbia; once more Germany held her back. But the result of this miserable strife was that the promising Balkan League was broken. Bulgaria, deeply angered, made friends with Turkey. This situation had a profound influence upon the course of the World War.

3. THE OUTBREAK OF THE FIRST WORLD WAR

The Murder of Sarajevo.—In the spring of 1914 the international horizon seemed to be clear than it had been for some time. Peace had been restored in the Balkans, and the colonial agreement between Germany and Britain was nearly complete. Suddenly, in June, came terrible news. The Archduke Francis Ferdinand, heir to the throne of the Austrian Empire, was murdered at Sarajevo, the capital of Bosnia. The murderer was an Austrian subject, but of Serb race. Austria had threatened, three times within the previous five years, to attack Serbia, because Serbia was the source of nationalist movements among Austria's Slav subjects. She assumed, rightly or wrongly, but without giving Serbia any opportunity of being heard, that Serbia

was concerned in the murder ; and after a month's delay launched a terrific ultimatum which Serbia could not accept without abandoning all pretence to be an independent State.

Fevered Negotiations.—The crisis had come. If Austria attacked Serbia, Russia would be bound to come to her aid ; Germany was bound to aid Austria ; France was bound to aid Russia. But this crisis, like its predecessors, could have been averted if all the Powers had sincerely desired to avert it. During twelve days of hourly and feverish negotiation, Sir Edward Grey strove to avert it. He was backed by France, Italy, and Russia. Serbia was persuaded to submit to all the terms of the ultimatum save two ; and these she asked to have referred to the Hague Tribunal. Austria took this as a rejection of the ultimatum, declared war, and began to bombard Belgrade. Still the efforts for peace continued. Grey urged that the matter should be referred to a European conference ; this was rejected by Germany as being wounding to the dignity of Austria. He implored Germany to bring pressure to bear upon Austria in the interests of peace, as she had earlier done ; there was no response, though at the last moment Germany does seem to have made some representations to Austria. He asked Germany to make any suggestion that would make for peace, promising his support, and undertaking to have nothing to do with France or Russia if they did not fall in. Still there was no response. Austria and Russia both mobilised. Thereupon Germany issued an ultimatum to Russia demanding her immediate demobilisation ; and on August 1st Germany and Russia were at war. War between Germany and France automatically followed.

The British Attitude.—What was Britain to do ? Up to the last moment her action was uncertain. Both France and Russia had implored Grey to declare definitely on their side. It has been argued that if he had done so before it was too late, Germany would have hesitated, and the war would have been averted He could not do so without the authority of Parliament ; but he did warn the German ambassador that if Germany went to war with France and Russia, Britain would inevitably be drawn in. In Grey's own view, and in that of most people, Britain was bound in honour to intervene, not because she was in any way formally committed, but because France and Russia had, so far as it was possible to judge, loyally striven to keep the peace during a series of years, and in this last crisis ; and to leave them to be ruined would have been disastrous for Europe and for Britain. But there was a considerable body of opinion in Britain which thought it possible to keep out of the inferno, and it had influential spokesmen in the Cabinet.

German Invasion of Belgium.—It is probable that Parliament and the country would have resolved to go into war in any case, but there might have been divisions and uncertainties All uncertainty was brought to an end when Germany invaded Belgium. The neutrality of Belgium was guaranteed by the Great Powers, including Germany. When war seemed to be inevitable, Sir Edward Grey, following the precedent set by Gladstone in 1870,

sent identical notes to France and Germany asking for assurances that the neutrality of Belgium would be respected. France immediately replied in the affirmative. Germany answered that she could not reply without disclosing her plan of campaign. Three days later (August 3rd) German forces crossed the Belgian frontier, without a shadow of justification or a declaration of war. The King of the Belgians sent a moving appeal to Britain for protection. At once a British ultimatum, with twenty-four hours' grace, was sent to Berlin. When this ultimatum was presented to the German Chancellor—who seems to have hoped to the last that Britain would keep out of the war—he exclaimed against going to war "for a scrap of paper." At 11 p.m. on August 4th, 1914, Britain, and all the British peoples throughout the world, were at war ; and a cruel and terrible ordeal in their long history began.

A War of the Empire.—It was Britain who declared war ; and legally her action involved the whole British Empire in the struggle. But if they had seen fit to do so, the great Dominions could have stood aloof, either throwing off their allegiance, or simply offering no help. They might reasonably say, as the United States said, that they were not concerned in the quarrels of Europe. As for India, full as she was of political unrest, if she had desired to do so she could have thrown off the British yoke, and there would have been no means of preventing her. So, also, could all the subject peoples of the newly annexed territories. But the whole British Empire went into the grim conflict with equal determination. On that terrible August day when the old world came to an end, the wires were blocked with messages of loyalty. "When England is at war, Canada is at war" "To the last man and the last shilling Australia will support the cause of the Empire." These messages were typical of the assurances of loyal comradeship that came from every part of the Empire. They were not mere words. They were gloriously fulfilled in the years of battle. The voluntary discipline of freedom was as strong as, and more lasting than, the strength that came from authority. In the ordeal of the war that great process of change which had turned Britain into a democracy, and the British Empire into the British Commonwealth, was nobly justfied.

Supplementary Reading on Book IX

The subject-matter of this Book is covered by Book XI and the first three chapters of Book XII of the *Short History of the British Commonwealth* (Vol. II, pp. 600—774). There is a good short book on the period in the Home University Library, by G. P. Gooch. Book VII of the *Piers Plowman Social and Economic Histories* covers this period. For the foreign history of the period, reference may be made to Holland Rose's *Development of the European Nations* (since 1878). Sir Sidney Lee's *Life of King Edward VII* provides a detailed history of the period 1902—1910, as well as useful sidelights on the earlier part of the period. R.H. Gretton's *Modern England* (2 Vols.), which begins in 1880, contains much entertaining matter. But the history of this period, in England, has not yet been systematically presented. For India and the Dominions, see the works named under Book VIII. For Egypt, Lord Milner's *England in Egypt*. Lord Cromer's *Modern Egypt* (2 Vols.) is an almost unique example of a detailed study of a great piece of work written by the principal actor.

BOOK X

THE FIRST WORLD WAR AND ITS CONSEQUENCES
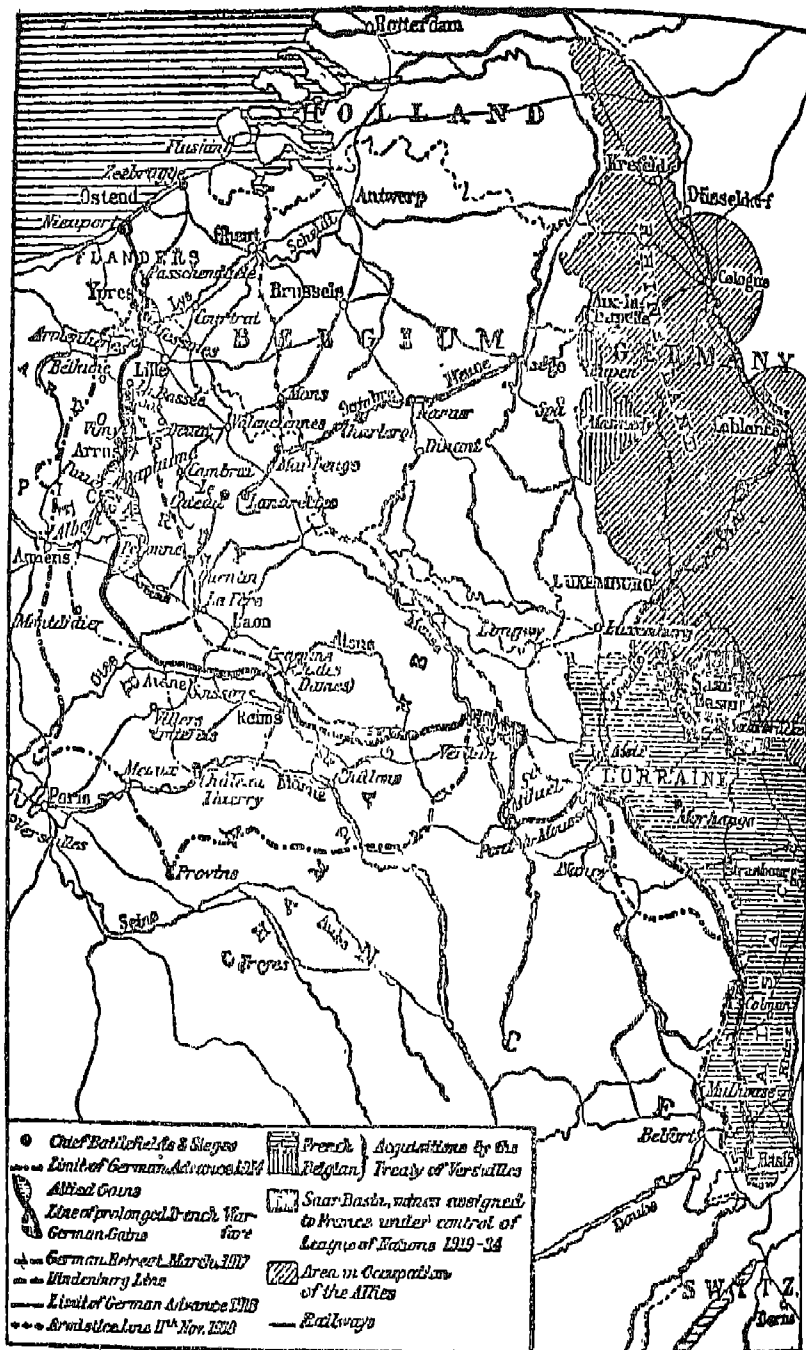
FIG 47.—The Western Front of the First World War.

BOOK X

THE FIRST WORLD WAR AND ITS CONSEQUENCES

We are still too near the World War of 1914-1918 to form an assured judgment about its significance. But beyond question it was one of the great turning-points in human history. It was the first event in history in which all the races and peoples of the world were concerned, and knew that they were concerned. It led to the establishment of the first organisation ever devised for the purpose of dealing with the common concerns of the whole world—the League of Nations. It brought about a great change in the relations between Europe and the non-European world. It caused more drastic changes in the political geography of Europe than any previous war since the Barbarian Invasions. It produced profound changes in the character and organisation of the British Empire. It transformed the situation of Britain. Throughout the course of modern history her insular position has given her a greater security than any other European country has enjoyed. Now, unless war could be abolished, she was more insecure than any other country, because the sea-going trade by which she lived could be interrupted by submarines, and her teeming cities could be destroyed from the air. Her trade itself had been seriously impaired by the rise of competing industries in other countries, and by the introduction of new sources of power (oil and electricity) in which she was less richly provided than other countries The strain of war, and the new and large demands upon government made both by the war and by the work of reconstruction which had to follow it, severely tested the working of the democratic system in all countries. It was impossible to foretell what the results of these great changes would be. But it was quite clear that when the war ended, the British peoples and the world as a whole had entered upon a new era in human history—an era which might be extremely dangerous unless the democracy which controlled our fortunes was wisely guided.

CHAPTER LIII

THE FIRST WORLD WAR (1914-1918)

1. The British Part in the War

In previous European wars in which Britain had played a part, her contribution had been, in the main, threefold. She had held the seas and exercised the pressure of naval power ; she had subsidised her allies with grants of money ; and she had sent small armies to

play a minor part in the land-fighting in regions where they could easily be withdrawn by sea if need be, as in the Peninsular and the Crimean Wars. In the greatest of all wars the part which fell to her was far greater and more difficult.

The Role of the Navy—From the first hour of the war to the last, the British Navy held command of the seas, with the aid of the fleets of France and later of Italy and the United States. It was endangered by the terrible menace of the submarine; but it never failed. If it had failed, the war on land could not have been carried on, not merely by Britain herself, but by her allies. The strangle-hold which the Navy obtained upon the commerce of the enemy was one of the main causes of his ultimate collapse. It denied to the enemy countries and it secured to the allies, supplies from all the world.

The Function of Supply.—Upon Britain also fell the main burden of supplying the allied countries with food, and with munitions of war; and in the carriage of these goods her mercantile marine was exposed to perils such as it had never had to face before, and suffered gigantic losses. Her manufacturing resources were strained to equip her own armies and those of her allies with munitions. In order to concentrate upon these tasks she had to sacrifice, for the time being, the bulk of the foreign trade by which she lived: much of it fell into other hands, and could not be regained when peace came. She had not merely to supply grants of money to the weaker among the allies, she had in a large degree to finance their foreign purchases of food-stuffs and munitions, and for this purpose she had to sacrifice a large proportion of her accumulated foreign investments, which passed largely into the possession of the United States. At the end of the war she was burdened with a colossal debt, mainly owed to her own citizens, but a substantial part of it to the United States. If she had paid only for her own part in the war, the burden would have been relatively easy to bear: it was the debts which she had incurred on behalf of her allies which made the burden a crippling one, and made her recovery difficult.

British Effort on Land.—But in addition to all this, she and her daughter nations had to place armies in the field on a scale never before known, and never anticipated. She had to conduct campaigns simultaneously in many different parts of the world. Besides the huge forces which had to be maintained throughout the war on the long defensive line in France, large British and Dominion forces—in some cases greater than any British armies that had ever been put in the field before—had to be maintained, at various periods of the war, in Italy, in Macedonia, at Gallipoli, in Egypt and Palestine, in Mesopotamia, in India, in China, in East Africa, in South Africa, and in West Africa. To maintain these vast armies, besides manning the fleet and the mercantile marine, she had to call out her whole manhood, as fully as the countries which had long been habituated to compulsory military service. Canada and New Zealand offered their manhood as completely as the mother-country, and Australia,

though she did not adopt conscription, sent almost as high a proportion , India and South Africa also sent very large contingents, though in their cases universal service was impracticable.

Training the Armies—It had never been anticipated as possible, either in Britain or in the Dominions, that a military effort on this scale would ever be required. Even those who before the war had advocated compulsory military training had demanded it only for home defence—for which, thanks to the Navy, no armies were needed. Hence almost the whole of these vast armies had to be enrolled, trained, and equipped after the war began, while women, boys, and old men took part in the labour of the munitions factories; and this made the effort all the more remarkable. For this reason, the British share in the land-war did not reach its full dimensions until the third year of struggle ; but from that time onwards the British peoples bore as large a part of the shock as any of the allies.

Voluntary Recruitment.—During the first two years men were still recruited on a voluntary basis. It was only in 1916 that compulsory service was enacted. Perhaps the most remarkable fact of all is that, until a late stage, there were more volunteers than could be equipped and trained. They came from the ends of the earth, sacrificing their careers to offer their lives : they poured into the recruiting stations from the mine, the factory, the classroom, the office, the sum doss-house, and the country mansion. In all the long history of Britain there has been nothing more noble than the spectacle of these myriads of young men, torn from their normal lives, and undergoing voluntarily the tedium of drill and the discomfort of the camp in order to fit themselves for the misery and agony of the trenches In Britain alone not less than five million men voluntarily offered themselves. A terribly high proportion of them had to be rejected as physically unfit. This was the legacy of a century of industrialism and of city slums. The best, under this system, were the first to go, and had to face the worst ordeal for the longest time. For that reason Britain probably lost a higher proportion of her finest manhood than other countries. A million of them were killed or crippled. That loss threw a double burden of responsibility upon those who followed them.

A War of Nations.—The First World War was unlike any other war that had ever been fought in history. It was a war not of armies and fleets but of whole nations Millions of men—from beginning to end, something like fifty millions—were engaged, and the battle fronts extended for hundreds of mi es. The slaughter was on a scale never before known or imagined. Behind the lines, the whole energy of the combatant nations was enlisted in the service of the war. New methods of warfare added new horrors. The lurking submarine made every sea-voyage perilous ; airships and airplanes not only extended the battle into the upper air, but rained death upon cities ; myriads of guns belched forth explosive shells on a scale never anticipated, using in a day a supply of munitions that would have served for whole campaigns in any earlier war ; and

clouds of poison-gas completed the inferno. It seemed as if the civilised world had sunk back into savagery, but it was a savagery that was armed with all the weapons of science. Yet millions of men endured those horrors steadfastly for more than four years. The world must never forget their agonies.

2. The First Campaign : 1914

Serbia. The War began with Austria's attack upon Serbia. Against overwhelming odds, Serbia repelled two attacks, and was still holding on among her mountains when winter came to put an end to the campaign. But the struggle in Serbia, heroic as it was, was dwarfed by the clash of gigantic armies in the West and in the East

The German Plan.—Germany, whose General Staff had prepared the plan of campaign long beforehand, calculated that Russia would be slow to get her huge armies into motion, and therefore planned to throw four-fifths of her forces into a sudden attack upon France, confidently expecting to crush her in a few weeks and then be free to deal with the Eastern campaign. But, being unwilling to attack the highly fortified frontier between France and Germany, she had long since planned to send her strongest forces sweeping through the neutral territory of Belgium, and thence down upon Paris France, on her side, massed her strongest forces in Lorraine, intending to attack the Germans in that region : if this plan had been successful, the German attack on Belgium might have failed.

Belgium Overrun.—But the French attack in Lorraine was a disastrous failure. And the Germans, sweeping down upon Belgium, captured the great fortress of Liége after a twelve days' siege ; swept before them the small Belgian army, which took refuge behind the forts of Antwerp ; and within three weeks of the opening of the war had the greater part of Belgium at their mercy. They secured their position by a reign of terror. Crowds of Belgian refugees poured across the Channel to Britain, where they remained throughout the war.

The Retreat from Mons—A line of French armies lay along the Franco-Belgian frontier. On their extreme left, at *Mons*, was the British Expeditionary Force of 80,000 men, under Sir John French, which had been swiftly and silently moved into France in the first days of the war.* The German avalanche burst upon them on August 23rd, when there was fierce fighting at Mons. On their right the French had been forced to fall back, for the Germans had swiftly captured the fortress of *Namur*, which was to have been the pivot of the line of defence, and beaten the French at *Charleroi*. On the left also the British army was in danger of being outflanked by

* For the Western Front, see School Atlas, Plate 46.

overwhelming German forces. There was nothing for it but retreat. A retreat in face of a superior enemy flushed with victory is an extremely difficult operation. It was only made possible by a gallant rear-guard action fought at *Le Cateau*, by the corps commanded by Sir Horace Smith-Dorrien. Then followed a terrible week, during which it seemed that the finest army ever sent out by Britain was shattered and useless. The French also were retreating, and it was extremely difficult to maintain contact. It was the aim of the German either to destroy the British army, or to drive it into a fortress, where it could be overwhelmed at leisure. The army escaped from this trap; and falling back behind the River Grand Morin, was quickly reorganised and made ready for fresh fighting.

Battle of the Marne.—Meanwhile, the Germans were sweeping down upon Paris; on September 2nd the French Government had to evacuate the city, and take refuge in Bordeaux. Then came one of the critical moments in history. General von Kluck, commanding the westernmost of the German armies, began to swing round towards the south-east, evidently meaning to encircle the French. Thereupon the French generalissimo, Joffre, launched a fierce attack upon von Kluck's exposed flank, sending out every available man from Paris in taxis, omnibuses, and every other means of transport. Kluck wavered and stopped. The long line of French armies, and the reorganised British army, turned upon the German lines, forced open a gap in them, and in the five-day battle of the Marne compelled them to fall back.

Deadlock on the Aisne.—This was the first turning-point of the war. Paris was never again seriously threatened. The Germans took up a position on the line of the *Aisne*, from which hard hammering failed to dislodge them. A long line of trenches came into being, and the stationary trench war, which lasted until 1918 began. The greater part of this line, from Switzerland to Laon, remained almost unaltered for nearly four years, and hundreds of thousands of men held grimly on to the line on both sides amid the mud, the blood, and the constant alarms of the trenches.

Fall of Antwerp.—By the beginning of October, the Germans had been immobilised on the line of the Aisne. They next turned northwards. Bringing up fresh reserves from Lorraine and elsewhere, they directed a fierce attack on *Antwerp*, where the remnants of the Belgian army held out. Their huge siege-guns shattered the Antwerp forts. Two half-trained British naval brigades were hurriedly sent to help the Belgians, while a British force boldly advanced from France into western Belgium. But Antwerp could not be saved. It fell on October 9th, and the remnant of the Belgian army fell back along the coast, to a position behind the River Yser; the dykes were cut to help them in resisting the Germans; and here the little Belgian army clung on to a last tiny strip of Belgian territory for four years.

The Ypres Salient.—Meanwhile, the Germans had begun to make a push for the coast: if they could have captured the ports on

Fig. 48.—The Russian and Rumanian Fronts.

the Straits of Dover, they might have made British co-operation difficult. A race for the coast filled October, each side extending its line northwards and trying to outflank the other As a part of this movement, the British army was transferred northward, so as to hold the part of the line next to the Belgians and nearest to Calais and Boulogne. *Ypres* and *Armentières*— names which became dreadfully familiar to all British folk—were the chief points in the new British line. They were held throughout the war, and more British blood has been shed round the salient of Ypres than in any other place on the face of the earth. Here the army, after all the battering it had suffered, had to submit to a new and very fierce German on-slaught; there was no more desperate fighting during the war than in the *First Battle of Ypres* (October 19th—November 14th). The picked troops of the German army were hurled into the attack in immense numbers; and the line was only just held. After this battle, the fighting quietened for the winter; the line of trenches from the sea to Switzerland was gradually stabilised. The Germans had failed to crush France, which they had confidently hoped to do.

The Russian Campaign—Meanwhile, in the East, the Russians had come into the field, far earlier than they were expected. In a gallant endeavour to relieve the pressure upon France, they invaded East Prussia (August). But they were caught, in the confused country of the Masurian lakes, by the old German general Hindenburg, who knew the country intimately; and at *Tannenberg* (August 26th) they suffered an appalling disaster, losing 100,000 prisoners. During the autumn the Russians had hard fighting against German and Austrian armies in Poland; Warsaw was for a moment threatened; though the invaders were repelled. But in the south of the long eastern line, the Russians achieved great though temporary successes, overrunning the greater part of the Austrian province of Galicia. When winter descended, it seemed that dead-lock had come in the west; but in the east it was hoped that a great Russian advance would bring victory to the allies. Men pinned thier hopes to "the Russian steam-roller."

Turkey in the War.—While the autumn fighting was going on in the West and East, a new combatant entered the arena. At the beginning of the war, two German warships, the *Goeben* and the *Breslau*, then in the Mediterranean, had escaped from pursuing British ships and taken refuge in Constantinople. Their guns, commanding the city, perhaps helped to persuade the Turks to join the German side in the war, though Turkey had long been under German influence. On October 29th Turkey declared war. This made it impossible for the allies to send munitions or other help to Russia by the Black Sea; and the Baltic was already closed by the German fleet. It also exposed Egypt and the Suez Canal to attack, and the Suez Canal is one of the main arteries of British imperial trade; while India might be threatened by way of the Bagdad railway and the Persian Gulf. These menaces greatly affected the course of the fighting in the next year, and drew off forces that might otherwise have been employed in France.

Colonial Campaigns.—Meanwhile, there had been campaigns in distant regions of the world, several of which would have ranked as important wars at any other time. In China a Japanese army, with a contingent from India, seized the German fortress of Kiao-Chau. Forces from Australia occupied German New Guinea, and forces from New Zealand took German Samoa. In South Africa there was a rebellion among the more discontented Boers, which was suppressed by Generals Botha and Smuts, who, twelve years earlier, had led armies against Britain in South Africa. In West Africa joint French and British forces attacked Togoland and the Cameroons; while in German East Africa a long and difficult campaign began, which was not ended until 1917.

The War at Sea.—Germany could send no aid to her outlying possessions scattered over the world. But their fate must depend upon the issue of the struggle in Europe; and at the end of the first campaign, Germany had the better of the struggle in Europe; though she had failed in her main aim. On the seas, however, the supremacy of the allies seemed to be securely established. The main German fleet did not venture to come out · but in August a squadron of German cruisers was severely handled by Admiral Beatty in *Heligoland* Bight, and three of them were sunk. From its main base at Scapa Flow in the Orkneys the British Grand Fleet commanded the entrance to the North Sea. In these stormy waters many ships were engaged in an unresting vigil to cut off the trade of Germany, while squadrons based on other naval ports patrolled the North Sea. The blokade did not at first hurt Germany as much as had been hoped, partly because America resented interference with her trade, and partly because a stream of goods found access to Germany through Holland and the Scandinavian countries. German submarines caused some alarm, even from the first days of the war, especially when, in September, a single submarine sank three British cruisers. But the submarines were no more able than the main German fleet to interfere with the constant passage of troops from England to France, or with the inflow of supplies for the allies from all the world.

Coronel and the Falklands—In more distant seas, however, some German ships, were at large when the war began, notably the gallant *Emden*, did a great deal of damage, sinking many British trading ships. And in November two powerful German cruisers, isolated in the Pacific, after escaping from British and Japanese pursuers, came upon a squadron of light-armed and slow-sailing British cruisers, and, after a grim battle off *Coronel*, on the coast of Chile, sank them and their crews. Vengeance soon came. A month later, Admiral Sturdee intercepted the German cruisers off the *Falkland Islands*, and sank them both. By the end of 1914 the allies held the seas securely; and though they were later to be threatened by the menace of the submarine, the control of the seas was to prove, in the long run, the decisive factor of the war.

Drilling New Armies.—Throughout these first months of the war, and throughout the dismal winter, hundreds of thousands of men were drilling in every part of Britain and the Dominions. They were the New Armies, whom Lord Kitchener (who had been made War Secretary) was getting ready. At first there were neither arms nor uniforms for them: on these the factories were busy. A few of them, including the first drafts of Canadians, began to appear in the field in 1915, and large numbers of Australians and New Zealanders came to Egypt to complete their training, there they could help in the defence of the Suez Canal, which the Turks vainly attacked early in 1915 But it was not until 1916 that the New Armies were ready in strength. Till then the Old Army and the Territorials had to hold the line. To help them, troops were brought from India; but the Sikhs and the Gurkhas suffered terribly from the cold and the wet. Fitter fields for their valour were to be found later, in Mesopotamia and in Palestine.

3. The Campaign of 1915

Poison Gas—1915 was a year of disappointments for the allies. In the West several attempts were made to break through the German lines. In spite of a terrible expenditure of life, they all failed. The Germans, on their side, made a fierce attempt to break through, in the *Second Battle of Ypres* (April). They nearly succeeded, thanks to the use of poison-gas, which they introduced for the first time. Waves of deadly fumes rolled down upon the British lines, and reduced the troops to impotence, for no preparations had been made for dealing with this loathsome mode of attack, which all the nations had forsworn. But even against this horror the courage of the army held out; and the Canadians, who now first appeared in the fighting-line, showed great gallantry in helping to close the gap. Some ground was lost; but the terrible salient of Ypres was still held.

The Munitions Effort—It now became necessary not only to devise and manufacture masks for the troops as a safeguard against gas, but also to create appliances for carrying on chemical warfare on the allied side. Here was a new demand upon the factories at home. Moreover, the battles of the spring showed that the expenditure of shells was on a vastly greater scale than had ever been anticipated, and that the army's equipment in heavy artillery, field guns, and machine guns must be multiplied many fold. There was an outcry in Britain; the cheap Press began to cry treason; Lord Haldane, who had done more than any other man to make ready for the war, was hounded out of office; the ministry was reconstituted as a coalition of all parties, Mr. Asquith retaining the Premiership; and a new Ministry of Munitions was created, with Mr. Lloyd George at its head. With unlimited credit, it set to work to turn every factory capable of being so utilised into the service of the army: the whole manufacturing power of Britain was turned to the production of guns, shells, airplanes, and all the other innumerable engines of

war. The traditional trade union restrictions upon output were abandoned. Thousands of men and women were withdrawn from other trades. The export trade, by which Britain lives, was for the time being abandoned. More and more, as the months wore on, the whole strength of the nation and of the Empire was concentrated upon the one supreme aim of winning the war. Unlimited orders were also placed in America. To pay for them British credit was deeply pledged. But it took time for this gigantic effort to mature. It was not until late in 1916 that its results were at all fully felt. They were still growing in volume when the war ended.

Italy joins the Allies.—One great encouragement came to the allies in the West in this year. Italy, though a member of the Triple Alliance, had refused to join her allies on the outbreak of war, because she thought the war unjust. She had remained neutral. But a powerful popular movement sprang up, to demand her participation against Germany and Austria. It was inspired partly by indignation at the conduct of Germany in Belgium and at her methods of warfare, but still more by a desire to conquer from Austria the "unredeemed" Italian territories of Trent and Trieste. The entry of Italy (May 1915) aroused high hopes on the allied side. But the Italian campaign had to be conducted on extremely difficult and highly defensible ground, in the High Alps and on the plateau of Gorizia.* The Italians made slow progress. Nevertheless they kept a large Austrian force tied up during a critical period. But for the intervention of Italy, which came at a very difficult time, the issue of the war might have been different.

Russian Disasters.—The "ramshackle empire" of Austria would have been gravely imperilled by the Italian attack, if the Russians had been able to keep up the pressure which they had begun in the previous autumn. Then they had overrun a great part of Galicia, and in the early spring of 1915 they completed the conquest of Galicia and began to cross the passes of the Carpathians into Hungary. If this attack could have been pressed home, Austria would have collapsed, and Germany, alone, would have been unable to hold out. Therefore the main German campaign of this year was directed against the Russians. Thanks to their superiority in guns and munitions, the Germans were able to draw large forces from the western front; and in April and May, and on through the summer, they dealt a series of hammer blows against the Russians, first in Galicia, and then, farther north, in Poland. Ill-armed, and ill-supplied with guns, shells, and rifles, the Russians were driven back like sheep, fighting desperately but hopelessly, often without weapons. More than a million Russians were killed or captured. The captives were employed, like thousands of Belgian captives, to till the fields and man the factories of Germany. By September the Germans had conquered all Galicia, all Poland including its capital,

---

* See School Atlas, Plate 47b.

Warsaw, and all Lithuania. The Russian armies were reconstituted on a new line, far back in Russian territory, behind the line of the Pripet marshes. But they had lost irreplaceable guns and rifles. Their strength was broken, unless they could be supplied with munitions by their western allies.

The Dardanelles Campaign.—It was the urgent need of helping and saving Russia which led to the main British effort of this year, the attack on the Dardanelles. If the Dardanelles could be forced, Constantinople would have to submit ; there would be a clear passage for supplies to Russia by the Black Sea, and the Russian armies could be re-equipped. Moreover, the Balkan States, which were anxiously watching the course of events, would probably then come in on the side of the allies, and Serbia would be saved. The plan was a sound one, but it was ruined by bad execution. The military authorities insisted at first that they could not spare troops since every man was needed for the western front. Accordingly, a purely naval attack was made in March. It failed ; but it was clear that it would have succeeded had a sufficient force been avail-
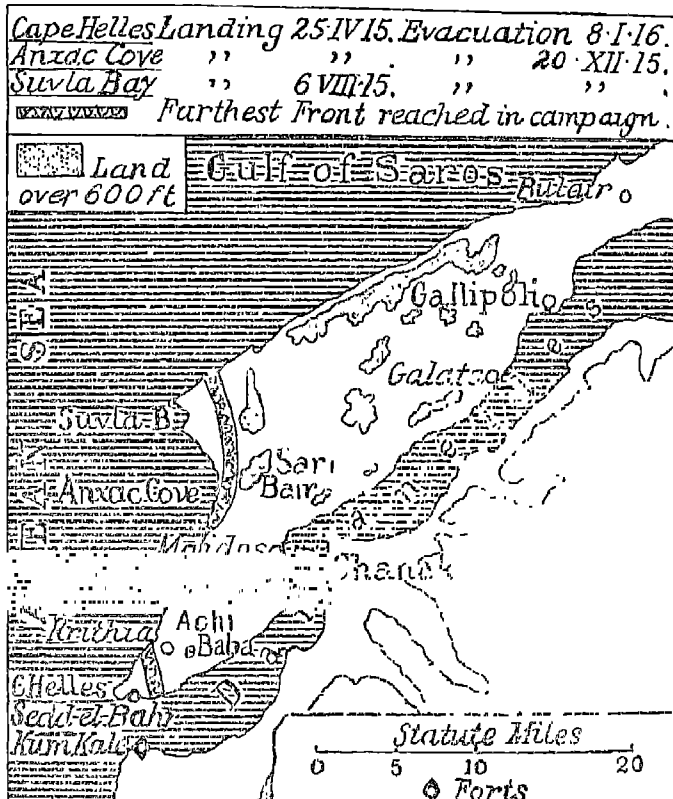
Fig. 49.—Gallipoli.

able for disembarkation. Accordingly, next month, an attack by land and sea was begun, with a magnificent force of British, Australian, and New Zealand troops, aided by a small French contingent. But the enemy was warned, and the task had now become too hard. With heroic gallantry two landings were made on the rocky coast in face of a storm of firing, one at Point Helles, at the tip of the peninsula, the other farther north, at the point which became famous as Anzac—a name derived from the initials of the Australian and New Zealand Army Corps No episode in all the war was more heroic than the way in which the troops hung on to these exposed positions, constantly under fire, tormented by heat and dust and flies, and having to draw all their food and even water from the ships—also under fire.

Its Failure.—In August a fresh landing was made at Suvla Bay, by a force mainly drawn from the New Army. A very vigorous attack was made, which came within an ace of success, as the German general in command of the Turkish defenders later admitted. Some of the troops actually reached the summit of the ridge, and looked over to the sea on the other side. But the attack just failed. After that, the gallant army still hung on to their positions, in circumstance of incredible difficulty, until the end of the year. But there was no further use in sacrificing life. It was decided to evacuate the Dardanelles The whole force was, with great skill, withdrawn without loss (December and January). All its gallantry seemed to have been wasted. Yet it had kept 300,000 Turks occupied during a critical period ; it had greatly weakened the Turkish army ; and perhaps the later victories of the allies over the Turks, which helped to bring the war to an end, were partly due to this heroic misadventure.

Serbia and Salonika.—The army of the Dardanelles was needed elsewhere. For there had been other disasters in the East. When the failure of the Dardanelles expedition was manifest (October 1915), Bulgaria, hitherto neutral, decided to throw in her lot with Germany. She attaked the gallant Serbians—already worn out by repeated Austrian attacks—while an Austrian and German
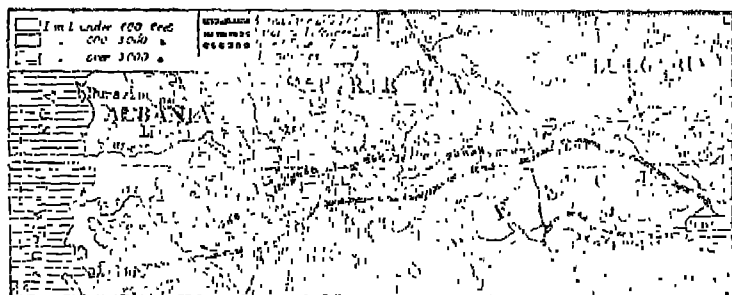
Fig. 50.—The Salonika Front, Bulgaria and Greece

army swept upon them from the north. The Serbians were overwhelmed. Their country was conquered. Only a remnant of their army could be withdrawn by way of Albania. This was a very grave alteration of the situation in the East. There was a danger lest the Germans and Austrians with their Turkish and Bulgarian allies might force Greece into their confederacy ; the Greek king had German sympathies. To guard against this danger, an allied force was sent to hold the important port of *Salonika*, so as to secure at least some foothold for future operations in the Balkans.*

Mesopotamia.—Meanwhile, another attack against the Turks had begun well but had led to disaster. At the end of 1914 a small force had been sent from India to Basra, at the head of the Persian Gulf, to guard the end of an important oil pipe-line. Finding little opposition, it had been tempted, with inadequate resources, to push up the Tigris valley and occupy Lower Mesopotamia.† All the
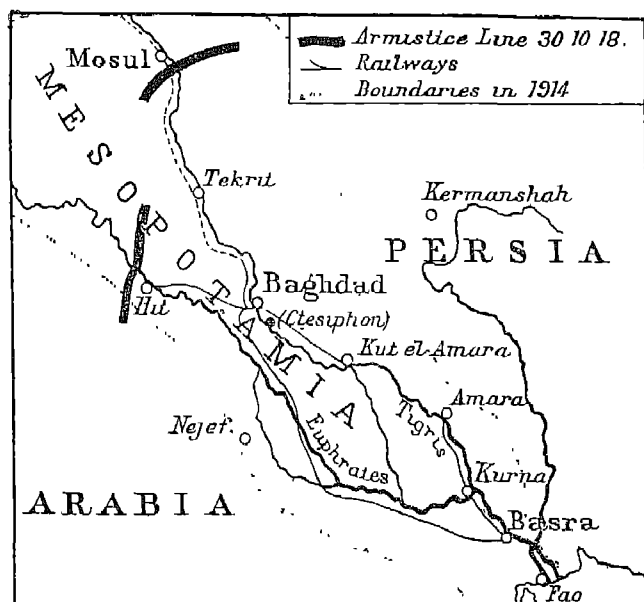
Fig. 51.—The Mesopotamian Campaign.

best Turkish forces were occupied in the Dardanelles, and so the Mesopotamian army was able to secure unexpected success, and to win several victories over the Turkish levies. In November, General Town-shend, against his better judgment, was persuaded to make a dash for Bagdad. But by that time the failure of the Dardanelles campaign was known, and Turkish reinforcements were available for Mesopotamia. At *Ctesiphon* Townshend was defeated. He had

* School Atlas, Plate 47*b*.
† School Atlas, Plate 47*c*.

to fall back upon *Kut-el-Amara* ; and there, in December, he and his army were besieged by far superior Turkish forces

The Lusitania.—Thus, in the record of 1915, there was little to encourage the allies Overseas, indeed, German South-West Africa had been conquered by Botha and Smuts, and the last of the surface raiders had been disposed of. But the submarines had become more menacing. In May 1915, the great American liner *Lusitania* was sunk off the south coast of Ireland ; and many other merchant vessels met a similar fate. Nevertheless, the strangle-hold of the Navy was still complete, and its pressure was gradually becoming more effective.

4. The Campaign of 1916

The Germans had won great victories, both in the West and in the East. But they had not yet won Victory. They were feeling the strain of the pressure by land and sea. Soon the superiority in equipment and preparation which they had enjoyed in the first stages of the war would pass from them. It was essential that they should burst through the bonds of steel that were strangling them.

Battle of Jutland.—In May 1916, their great fleet at last ventured out from its fortified harbours. Off the coast of *Jutland* it was attacked, rather recklessly, by Admiral Beatty with his squadron of battle-cruisers. Four of these great ships, in which defensive strength was sacrificed to speed, were sunk. But when the main British fleet under Jellicoe came up, the Germans avoided battle, and retreated under the cover of smoke screens, helped by a mist which had arisen. If the battle had been fought out, it is probable that the German fleet would have been destroyed. Jellicoe has been blamed for not pressing on at all risks. He preferred to avoid the risk of being led into minefield and submarine traps, and of endangering the Grand Fleet which was the main pillar of the allies' fortunes. The German fleet made good its escape, having inflicted heavier losses than it received. But it never came out again; and this was almost as good a result as the most crushing victory could have yielded.

The Attack on Verdun.—Meanwhile, the Germans had resolved on a desperate attempt to break through the allied line in France, being now able to bring back large numbers of troops from the eastern front. For their main attack they chose *Verdun* Here, in February, they began a fierce onslaught, in which almost every division of their western army was at one time or another thrown in the fray, and 4,000 guns were employed. At a colossal cost of life, they gained some territory on both sides of the Meuse, and captured the two important forts of Douaumont and Vaux. But the French stood firm. The onslaught was a failure. This had become clear by June , so much so that the German removed their chief of staff, and gave the supreme command to the heroes of the eastern front, Hindenburg and Ludendorff. It was the failure at Verdun that first gave to the Germans a chill sense of the hopelessness of their task ;

especially when, in October, the French regained Forts Douaumont and Vaux.

Italian and Russian Advances.—The allies did everything in their power to relieve the pressure on Verdun. The Italians made a great offensive against Austria : they forced the line of the Isonzo River, and captured *Gorizia*. And this success greatly helped the Russians, who in spite of their recent disasters, being now relieved from the German pressure, made a gallant attack on the Austrians in Galicia, and won some striking successes, taking 300,000 prisoners.

The New British Armies.—But the main counter-attack fell to the British armies, co-operating with the French on their right. For the New Armies, from Britain and the Dominions, were at last in the field, and were supported, at last, by unlimited artillery and munitions, and by great numbers of airplanes. They had, also, a new weapon to introduce—the steel-clad Tanks, which were expected to overcome the difficulties of trench-warfare. Although these expectations were not fully realised, the Tanks certainly surprised the enemy. In the spring the new armies took over a great part of the French line, thus materially helping the French. Even then, they held a far shorter length of line than the French ; but it was the part of the line against which the German forces were most heavily massed, and on which (apart from Verdun) the heaviest fighting took place.

Battle of the Somme.—On July 1st, 1916, Sir Douglas Haig, who had succeeded French as commander-in-chief, launched, after a terrific artillery preparation, the biggest attack which the allies had yet attempted : the *Battle of the Somme*. It went on, without cessation, until it was stopped by the mud of winter. At a colossal cost in lives, it made a great bulge in the German line ; and if it could have been followed up, there might have been a break-through. But the Germans, foreseeing this danger, were meanwhile preparing an elaborately fortified and much shorter series of defences, which came be known as the Hindenburg Line. When the time came to renew the advance, the allies found that the Germans had slipped away to these new defences, devastating the intervening country, and strewing it with mines and other obstacles to their advance.

Nevertheless, when the campaign of 1916 closed, the position of the allies, after the German failure at Verdun and the victories of the Somme and of Gorizia, was far more favourable than at any earlier date ; and for the first time the prospect of defeat began to loom before the Germans.

Collapse of Rumania.—Elsewhere, however, things had not gone so well. In August 1916, Rumania, encouraged by the victories of the Russians, entered the war on the allied side, and invaded Transylvania, thus once again threatening the Austrian Empire. The combined allied force at Salonika, now strengthened by the remnants of the Serbian army, struck northwards to assist

them and to distract the Bulgarians But German and Austrian forces were swiftly thrown into Transylvania, and beat back the Rumanian invaders, while the Bulgarians attacked Rumania from the south. Before the end of the year, Rumania had lost her capital, and was driven back to a strip of territory on the Russian border; while the Salonika force was held up in the difficult country round Monastir and Lake Doiran

Mesopotamia and Egypt.—Meanwhile, in Mesopotamia, the ill-fated little army at *Kut-el-Amara* was forced to surrender (April), despite repeated desperate attempts to relieve it. After this disaster, very vigorous efforts were made to relieve the situation Troops were poured into Mesopotamia from India, with vast supplies, which would have saved the situation a year earlier. A very able commander, Sir Stanley Maude, took command. He was to bring about a rapid reversal of fortune But he was not ready to move until the end of the year. Again, in Egypt, preparations were being made for an advance into Palestine.* A railway and a water-pipe line were quietly laid across the desert of Sinai. By the end of the year all was ready for an invasion of Palestine, and meanwhile a young Oxford don, Colonel Lawrence, was at work among the Bedouin of Arabia, stimulating a great rebellion against the Turks. The downfall of Turkey was to be brought about by the twofold attack in Mesopotamia add in Palestine.

The Outlook in 1916—These things were all known to the German High Command. Whether they looked east or west, the outlook for them was gloomy at the end of 1916. They made up their minds to resort to desperate remedies. But people at home did not know all this. To them the slow advance and the heavy carnage on the Somme (which cost 400,000 casualties), the humiliating surrender at Kut—not yet avenged—and the Rumanian disaster seemed to prove that no progress was being made There was widespread disheartenment, in the allied countries as well as in Germany. And the staying power of the nations was to be yet more severely tested in the next year.

Mr. Lloyd George.—In Britain there was a change of ministry. Mr. Asquith ceased to be Prime Minister. His place was taken by Mr Lloyd George, whose energy, vigour, and confidence did much to inspirit the nation. He now introduced an innovation in government, setting up a small War Cabinet of ministers without special departmental responsibility to devote themselves wholly to the conduct of the war. One of them was General Smuts, once the commander of a Boer army against Britain. The Prime Ministers of the Great Dominions were also called into consultation. In the last desperate paroxysm of the war, the British Empire showed a greater unity of purpose and policy than ever before.

* School Atlas, Plate 47c.

5. THE CAMPAIGN OF 1917

Unrestricted Submarine War.—The new year began with an evidence of the desperation of the German High Command. On January 31st they announced that the British Islands were in a state of blockade, and that any ship, allied or neutral, which entered these waters was liable to be sunk at sight. They had realised that unless Britain, now the mainstay of the allies, could be beaten to her knees, their defeat was inevitable. In order to defeat her, they outraged all the laws and customs of civilised warfare (which had always insisted upon mercy for non combatants) and all the rights of neutral powers. They knew that this action was likely to bring America into the fray. But they calculated that their submarines could inflict so much damage upon British and other shipping before the Americans could enter the war that it would be impossible to transport an American army, or the food and munitions necessary for carrying on the war. They calculated, also, that the terrors of this new kind of attack would frighten the sailors of all nations.

Defeat of the Submarines.—The first few months of "unrestricted" submarine war were alarming—far more alarming than the public was ever allowed to know. The monthly toll of tonnage lost rose by leaps and bounds, until it was nearly 600,000 tons in April ; and, of course, sorely needed cargoes were also lost. Yet in spite of this new terror, the courage of the mercantile marine never flinched Torpedoed sailors, rescued from the sea, promptly signed on for new ships : many of them were torpedoed half a dozen times or more. This was a new kind of peril, against which new measures had to be taken. In the first place the whole nation had to be rationed. Every household was limited as to the amount of food it might buy ; and this was done without respect to rank or wealth. The American Ambassador, Walter Page, was deeply impressed when he found the king and his guests limiting themselves to even stricter rations than the rest of the nation. Meanwhile every device was used to combat the submarines. New inventions were made for dealing with them. Swarms of fishing-trawlers and motor boats, armed with guns and depth charges, were sent out to hunt for them. Mystery-ships, known as Q-boats, lured them to rise by appearing as harmless traders, and then sank them by gun-fire. Great nets guarded important passages. Huge minefields were laid, notably one that stretched from Scotland to Scandinavia. Merchant-ships sailed in convoys under the escort of destroyers or swift cruisers. Methods of painting ships were devised to deceive the eyes of the pirates. By all these means the menace of the submarines was gradually mastered. By the end of the year they were no longer formidable. And meanwhile, both in Britain and in America, new shipping was constructed at so unprecedented a pace that new ships were launched faster than old ones were sunk. The 'unrestricted" submarine attack was a desperate gambler's device. And it failed.

America in the War.—But it brought the United States into the war, with whole-hearted zeal She declared war against Germany

in April 1917; millions of men were put into training; and the American fleet crossed the Atlantic to join hands with the allies. All difficulties about the blockade of Germany now disappeared, and the pressure became more and more severe. Above all, America was able to share the financial burden of supporting the allies, under which Britain was beginning to stagger. It was, of course, long before the American armies could take the field: they were only actively engaged in fighting during the last five months of the war. But it is significant of the completeness with which the submarine menace was overcome that the great American armies were transported to France without loss, mainly in British ships.

Revolution in Russia.—The submarine attack and its overthrow was the main event of the year, and one of the decisive events of the war. But 1917 was full of other great events, mostly unfavourable to the allies. In March a revolution broke out in Russia, and the Tsar was deposed. The Liberal Government which at first took his place, and the moderate Socialist Government under Kerensky which succeeded it, were both resolute to carry on the war; but the upheaval disorganised the armies, which soon became a mere rabble, whom the Germans easily drove before them. At the end of the year, however, the Bolshevik extremists, led by Lenin and Trotsky, seized power. Their aim was nothing less than world-revolution, and their first object was to destroy all the old elements of leadership in Russia. To be free for this purpose, they were ready to make peace with Germany on the most humiliating terms. This peace was concluded at *Brest-Litovsk* in December. It left the Germans in control of Poland and the Baltic provinces. What was more important, it left them free to withdraw all their forces from the eastern front in 1918, and to concentrate the whole of their strength upon a last desperate attack in the west. But for the outbreak of the Russian Revolution, it is possible that the war might have been brought to an end in 1917.

Champagne and Passchendaele.—Unhappily the campaign in the west was also badly handled. A new commander-in-chief, Nivelle, had been appointed for the French army. Instead of following up the Somme victory, as Joffre and Haig had meant to do, he worked out a plan for a great French attack in Champagne, which was to be the decisive victory, leaving to the British army only subsidiary attacks. But the Champagne attack was a disastrous failure. The losses were so heavy that it was stopped in a fortnight, and alarming mutinies broke out in the French army. The British army had meanwhile made a successful advance at *Vimy* But in order to draw off the German attacks from the disorganised French line, it became necessary to start a very vigorous onslaught in the north, from the Ypres salient. The object of this attack was, if possible, to reach Ostend and the Belgian coast, so as to check the submarines. But it only reached the *Passchendaele* ridge. In dismal weather, which turned the fields of Belgium into swamps, it had to be carried on, month after month, with terrible loss of life,

until finally it came to an end in the rains of October. In the next month a brilliant success was won, by new methods of attack (in which tanks were freely used) near *Cambrai*. But the first success was not followed up, and much of the ground won was regained by German counter-attacks. Thus 1917, which was to have been the year of victory, turned out to be, on the western front, a year of disillusionment and demoralisation.

Italian Disaster.—And this was not the worst. In October a sudden onslaught by the Austrians, stiffened by six German divisions, broke through the Italian at *Caporetto*. All that had been gained in two years was lost; the rout was only stayed, far into Italy, on the line of the Piave River; and British and French divisions had to be hurriedly despatched from the hard-pressed French front to restore the Italian situation. What with the submarine menace, the Russian Revolution, the fruitless campaigns in France, and the disaster in Italy, the year ended in the deepest gloom for the Allies.

Mesopotamia and Palestine.—From the East, however, came better news. The downfall of Turkey was beginning. In Mesopotamia Maude's skilful advance had begun at the close of the previous year. Kut was recaptured after sharp fighting in February.
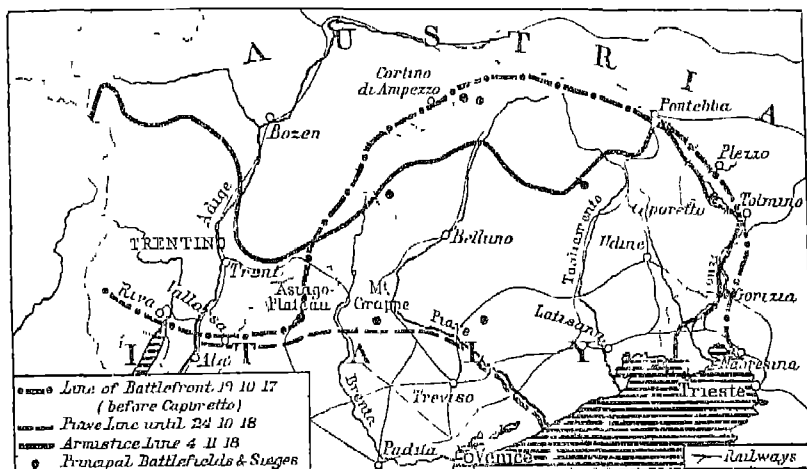
Fig. 52 —The Italian Front.

In March, Maude was once more on the field of *Ctesiphon*, where Townshend had suffered defeat; there was a three days' battle, and the great historic city of *Bagdad* fell into British hands. The Turks were driven far to the north. Their power in Mesopotamia was broken. Then, in Palestine, Allenby, now in command, took up the running. He captured Beersheba (October) He cut the communications of the Turkish army that held Gaza and the cities of Philistia. He took Hebron, while in the desert on his right Lawrence and his wild Bedouins threatened the enemy's communications.

Finally, just before Christmas, he entered *Jerusalem*—the first Christian general to be master of that sacred city since the Crusaders lost it in the twelfth century. When the gloomy year 1917 came to an end, the Turkish Empire was manifestly on the verge of collapse.

6. The Campaign of 1918

Counsels of Despair.—When 1918 opened, the German High Command knew that, in spite of their brilliant successes in the previous year, their doom was certain unless they could quickly win a crowning victory. The submarine war had failed. The Americans were already pouring into France, and although they still needed many months of training, their numbers were bound to go on growing. The Turkish Empire was visibly breaking up. The Austrian Empire was terribly overstrained, and its heterogeneous peoples were ready for revolt. Even in Germany there was an alarming growth
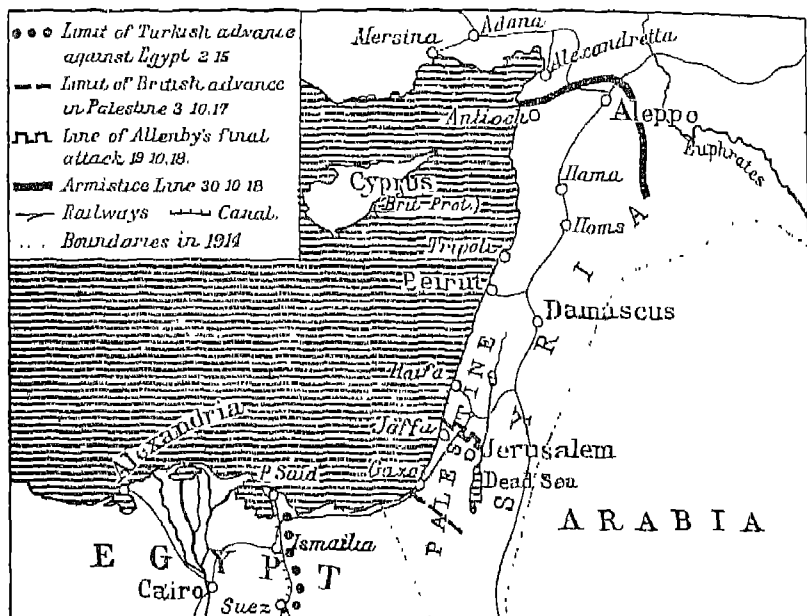
Fig. 53.—The Egyptian and Palestinoan Campaign.

of discontent: the blockade was causing very severe suffering; and there had been a mutiny in the idle navy at the end of 1917. Unless the British and French armies could be shattered by swift and crushing blows, the end was inevitable. For this final, desperate venture the complete breakdown of resistance on the eastern front gave an opportunity. The whole strength of Germany could be, and must be, used for one final onslaught.

St. Quentin.—It came, in the spring of 1918, in three successive hammer blows, into which every available ounce of strength was

thrown. The first attack was directed, on March 21st, against the southern end of the British line near *St. Quentin*—a part of the line which had recently been taken over from the French, and which was too lightly held. The line was broken ; in a few terrible days all that had been gained in the hard fighting of Somme, and more, was lost ; the losses in men, guns, and material of all kinds were terrific. The great railway junction of Amiens was threatened : if it had been lost the French and the British armies would have been separated. But the German effort spent itself just before this crucial point was reached. Fresh troops, including even half-trained boys, and unlimited supplies of guns and munitions, were rushed across from Britain ; and by heroic efforts the line was reconstituted. But the terrible days of March were the darkest of the whole war. The stone seemed to have rolled down once more from the top of the hill!

Ypres —The second attack was directed in April against the northern end of the British line, before the historic salient of Ypres : it is known as the *Battle of the Lys*. All that had been won by the grim fighting of 1917 was lost, and for a moment it seemed as if even the Channel ports would be threatened. But the line, though badly bent, did not break ; and the Ypres salient, though made more acute, still remained in British hands.

Chateau Thierry.—The third onslaught was delivered against the French line between Rheims and Soissons, in May. This line, which had been held ever since the autumn of 1914, was broken ; the Aisne was crossed ; and the invaders penetrated deep into French territory; reaching the Marne once more, at *Chateau Thierry*. They were now within forty miles of Paris, which suffered bombardment from the giant gun, Big Bertha.

Turn of the Tide.—These three successive and terrific blows had all achieved remarkable success, but not decisive success. They had nearly, but not quite, reached vital points—Amiens, the Channel ports, Paris. But in delivering them the Germans had spent their force. They had no more strength in reserve. And now the Allies' turn had come. They had at last learnt wisdom from adversity, and had agreed to unity of command, under the great French soldier, Marshal Foch. In the four months from July to November the situation was reversed by an extraordinary series of successive blows, not only in France, but all along the allied lines—in Italy, in Macedonia, in Palestine and Mesopotamia. Never, in all history, has there been a more sudden or a more dramatic reversal of fortune

Zeebrugge.—The undaunted spirit of the Allies had already been shown, even at the darkest moment, by a marvellous piece of naval heroism, which a French admiral described as "the finest feat of arms in all naval history of all times and all countries " On St. George's Day (April 23rd) the Dover Patrol set out to seal up

the most dangerous nests of submarines, at Zeebrugge and Ostend. Under cover of a screen of smoke, a group of out-of-date cruisers, ferry-boats and submarines boldly entered the harbour of Zeebrugge two of them were sunk to block the channel ; and the Mole was badly damaged. A few nights later the harbour of Ostend was also partly blocked.

The French Advance—In July the great counter attack began, when French and American forces broke into the salient created by the recent German advance to Chateau Thierry, and regained all the lost land. A little later an American army wiped out the salient of *St. Mihiel* on the Meuse, which had been held by the Germans since 1914 , and began a dogged advance through the wooded country of the Argonne.

The British Advance.—But the main attacks were left to the British armies in co-operation with the French on their immediate right. There had been some doubt whether any army could venture upon a great offensive so soon after it had endured such staggering blows as those of March and April. But Haig knew the stuff of which his men were made The advance began on August 8th, near Amiens. Soon the lost ground was regained. Stage by stage the attack was extended northward. By the end of August the advancing forces were up against the "Hindenburg line," which had baffled them in 1917. On September 2nd the Hindenburg defences were broken. Then the line began to move forward in the far north, Belgian and British troops moving together into Belgian territory that had been under German control since August 1914. In September and October the whole line was in movement, from Soissons to the sea. The old trench systems were crossed for the last time. The whole German line was yielding, cracking. It was, on a gigantic scale, like that final charge at Waterloo which followed the last attack of the Imperial Guards.

Bulgaria Yields.—And while the iron lines in the west bent and broke, everywhere else the defences of the Central Powers gave way In Macedonia, after long waiting, the combined forces of Serbians, Greeks, French, and British moved up against the entrenched armies of Bulgaria. A fortnight of hard fighting, and the Bulgarian resistance broke. By the end of September Bulgaria had asked for an armistice : she was the first of the enemy Powers to yield and her surrender isolated Turkey. The hard-tried Serbians, who had faced the first shock of the war, were the first to taste the triumph of victory.

Turkey Yields.—Meanwhile, in Palestine, Allenby had with brilliant strategy pushed home his successes of the previous year. He was delayed by having to send his best troops to the West to make good the disasters of the spring, but reinforcements came to him from India, while Lawrence and his Bedouins swept round to harass the Turks from the desert on the east. In September the crucial attack was launched against the Turkish army. The Turks

were completely routed. Damascus was captured on October 1st. Beirut and the other ports of the Syrian coast were occupied in turn ; Aleppo fell on October 26th. Meanwhile, the army of Mesopotamia, pressing northward, was at the gates of Mosul. On October 30th the Turks also asked for an armistice. They had collapsed as suddenly as the Bulgarians.

Austria Yields.—A still more dramatic break had also taken place in Italy. On the anniversary of Caporetto, the Italian army, with its British and French allies, once more took the offensive. It was a British contingent that led the way, crossing the Piave under Lord Cavan. At first the Austrians fought hard But their resistance weakened at every step. Their line was broken. Their discontented subjects were in revolt. On November 4th Austria in her turn sued for peace.

German Collapse.—Germany was now left alone. But despair had at last taken possession of her people and her leaders. While the army was forced back fighting towards the Rhine, revolution broke out, first in the navy, then in the cities. The Kaiser deserted the nation whose trust he had abused, and fled to Holland. The possibility of German resistance was at an end.

The Armistice.—At dawn on November 11th the British army, in its advance, had reached Mons, where the long agony began more than four years earlier. At eleven o'clock on that day the order to cease fire was given. The Germans had signed an armistice. The war was at an end ; and all along the hundreds of miles of the fighting lines, and in every town and village of the belligerent countries, half incredulous cheers and tears and prayers welcomed the lifting of the nightmare that had overhung the world.

CHAPTER LIV

THE ORGANISATION OF PEACE

1. Versailles and the League of Nations

The Task of Pacification.—The War was over, but the difficult task of making peace remained. It was all the more difficult because too many people were thinking only of exacting vengeance for the sufferings they had endured, and the ignorant imagined that nothing remained to be done but to hang the Kaiser and to force Germany to pay the whole cost of the war. In reality, Europe had to be reconstructed , the foundations of lasting peace had to be laid ; and the grave and real danger of a huge revolutionary upheaval had to be faced. The madness of revolution was already raging in Russia, with results more horrible than those of war. In the loosening of all bonds which followed the war, there was real danger that the madness might spread, especially if the defeated peoples were reduced to despair.

The Congress of Versailles.—To deal with these problems a great Congress of the Nations gathered at Paris and Versailles early in 1919. It was a congress of the victors: the spokesmen of the defeated States were only invited to hear and submit to their fate. But as nearly all the peoples of the world had joined in the war, at any rate in form, during its last stages—including China, Siam, the republics of Central and South America, and even the negro republics of Hayti and Liberia—the Congress of Versailles was the nearest approach to a gathering of all the nations of the earth that history had yet seen. India and the British Dominions were all directly represented. Three personalities dominated the discussions and made all the main decisions: President Wilson of America; M. Clemenceau, the old "Tiger" Prime Minister of France; and Mr. Lloyd George, Prime Minister of Britain. As all the allies owed vast sums of money to America, American influence was very strong; and Wilson, who had made himself the spokesman of the demand for the permanent banishment of war, and had in a series of great speeches defined the ideals that ought to be pursued in the settlement, enjoyed an immense prestige. Unfortunately he had brought with him only members of his own party; with the consequence that the terms which were fixed by his influence became subjects of party controversy in America, and were ultimately repudiated by the American Senate.

The League of Nations.—Thanks to Wilson's insistence, it was agreed that the establishment of a League of Nations to prevent future wars should be in the forefront of the settlement, and should be embodied in all the treaties of peace. The Covenant of the League was drawn up and accepted. It pledged its members (and all the nations of the world were invited to join it) never to go to war until they had submitted the subjects in dispute either to some form of arbitral settlement, or to inquiry by the Council of the League. These pledges did not prevent war altogether. But if war was undertaken before these conditions had been fulfilled, all the member-States were to be bound to take action, if need be, against any Power which failed to observe them. The Covenant set up two governing bodies—the Assembly of the League, in which every member-State was to be represented; and the Council, in which the Great Powers were to be permanently represented, and the lesser Powers by election.

Tasks of the League.—One of the first tasks of the League was to be disarmament by agreement. Another was to be the establishment of a world-court. A third was to be the improvement of labour conditions by international agreement. A fourth was to be the supervision of the government of backward peoples by States to which mandates had been given by the League. A multitude of undefined duties in regard to international co-operation were also imposed upon it. The first session of the League took place in 1920, after the treaties of peace were concluded. We shall trace the growth of its influence later in this chapter But the important thing is that, at the end of the War, for the first time in human history, an organisation was established to deal with the common concerns of the whole world, and to prevent, if possible, future wars.

2. The Peace Treaties

The resettlement of Europe* and of the world† was embodied in a series of treaties with Germany, Austria, Hungary, Bulgaria, and Turkey, the last of which was not completed until May 1920. The most important of the series was the Treaty of *Versailles*, imposed upon Germany in June 1919. It will be most convenient to treat the series as a whole, and to take, first, measures of disarmament and reparation; secondly, territorial changes in Europe; and, thirdly, changes outside Europe.

Disarmament.—All the enemy Powers, but especially Germany, were compelled to submit to a drastic reduction of their armaments. Germany had to surrender her fleet: the battleships had to go to Scapa Flow for the humiliation of surrender; they were sunk by their crews in those deep waters, and the Great Fleet lay rusting at the bottom of the sea. More significant, Germany was compelled to abandon the system of compulsory military service, whereby she had trained her whole manhood to war; and was limited to a small army of 100,000 men. Similar restrictions were imposed upon the other enemy Powers. The victors pledged themselves in the treaties that this should only be the beginning of a general disarmament, which has not yet (1935) been effected. The whole of Germany west of the Rhine, together with three semi-circles of territory on its eastern bank, were occupied by French, British, and Belgian troops to ensure the fulfilment of these and other conditions of the treaty.

Reparations.—Germany and, in a less degree, the other enemy Powers were compelled to make reparation for the losses caused by the War. Germany's merchant shipping was confiscated, and divided among the Allies in proportion to their losses. Germany was required to supply large quantities of coal to France, Belgium, and Italy, and the valuable coalfield of the Saar valley was cut off from Germany for fifteen years, to make up for the damage done to the French and Belgian coalfields. In addition to all this, a collossal bill of costs was drawn up by the Allies, which Germany was required to pay. The amount was indefinite, and a Reparations Commission was appointed to decide how much should actually be exacted. This was a penalty of an altogether different order from the indemnities which had been demanded from France in 1815 or in 1870. The latter sums could be and were paid off in a limited time, but the sum demanded from Germany was so vast and indefinite that nobody could tell whether it could ever be paid.

Territorial Changes.—The territorial changes made by these treaties were of the most sweeping kind. In Europe, the treaty-makers had at their disposal (1) all the vast lands which Russia had ceded to Germany in 1917; (2) the whole of the composite Austrian Empire, which was broken into fragments and, as an empire, disappeared from the map; (3) certain territories taken from Germany, Bulgaria, and Turkey. They proceeded to recon-

* School Atlas, Plate 21.
† School Atlas, Plate 47.

struct the geography especially of Eastern and South-Eastern Europe on the basis of nationality, interpreted in terms of language, but without much reference to economic conditions.*

(1) The old dismembered State of *Poland* was restored, partly from Russian Poland, partly from Austrian Galicia, and partly from the Polish lands of Prussia—the province of Posen and the greater part of the province of West Prussia. The latter was taken largely in order to give Poland access to the sea by way of the Vistula; and Danzig, a predominantly German town at the mouth of that river, was turned into a Free City under the control of the League of Nations. As there were many Poles in the rich province of Silesia, a plebiscite was decreed in a part of that province: it was later carried out under the direction of the League of Nations, and part of the rich Silesian coalfield was assigned to Poland.

(2) Three new States, two of which had never had separate existence in history, were created out of what had been the Baltic provinces of Russia—*Esthonia*, *Latvia*, and *Lithuania*. *Finland* also became, for the first time, an independent republic.

(3) Bohemia, with Moravia and the country of the Slovaks (formerly part of Hungary), was turned into the new State of *Czechoslovakia*—a Slavonick State.

(4) *Rumania* was more than doubled in size by the addition of Transylvania (taken from Hungary), Bukovina, and Bessarabia. It became, in area, one of the greater States of Europe.

(5) Serbia, with which Montenegro was incorporated, was turned into a major state, by the addition of Bosnia, Herzegovina, Dalmatia, Croatia, and Slavonia, all formerly parts of the Austrian Empire: this new State took the name of *Yugoslavia.*

(6) *Austria* and *Hungary*, the traditional ruling peoples of all that area, were reduced to tiny States, surrounded by their former subjects, now far more powerful than themselves.

No attempt was made to limit the armaments of these new States, except Austria and Hungary. They all preserved the system of compulsory military service, which made huge armies possible. Nor was any attempt made to prevent them from setting up high customs-barriers, and thus increasing the difficulties in the way of European trade.

(7) *Greece* was greatly expanded at the expense of Turkey and Bulgaria. She was also promised large territories on the coast of Asia Minor. But these gains were only temporary; they led to troubles to which we shall have to refer later, and which made a new settlement with Turkey necessary.

(8) In western Europe the changes were less drastic than in the east. But *France* regained Alsace and Lorraine from Germany; *Italy* acquired Trieste, with the peninsula of Istria, and the valley of Trent, including a considerable German population; while the

* School Atlas, Plate 21; larger Atlas, Plates 94-95.

results of the old Danish war of 1864 were partially reversed by a provision which decreed a plebiscite in the province of *Schleswig*, the north of which voted in favour of annexation to Denmark.

Settlement outside Europe.—Turning next to the lands outside Europe, the chief results of the treaties were that Germany was deprived of the whole of her colonies, and that Turkey lost almost all her empire outside Asia Minor. With the exception of the German islands in the North Pacific, which were given to Japan, all these territories were taken byFrance by Britain, and by Australia, New Zealand, and South Africa.* In Africa *France* got the bulk of the Cameroons and part of Togoland ; *Britain* got German East Africa (aTnganyika), together with strips of Togoland and the Cameroons ; *South Africa* got German South-West Africa. In the Pacific, *Australia* got German New Guinea, and *New Zealand* Samoa. From the Turkish Empire France took *Syria*, while Britain obtained a protectorate over *Palestine* (now declared to be a Jewish National Home), over *Mesopotamia*, and over the partially desert region known as *Trans-Jordan*. *Arabia* became independent.

Mandates.—In regard to all these extra-European annexations, however, a new principle was established. Although the League of nations had nothing to do with their apportionment, these lands were all declared to be held under "mandates" from the League ; and their new rulers were required to observe certain principles laid down in the Mandates Clauses of the League Covenant, and to make regular reports to the League as to the administration of these lands. Thus the organised community of civilisation accepted some sort of vague responsibility for the Government of backward peoples. There was, however, no suggestion that the colonising Powers should place their existing territories in backward areas under League Mandates.

A Drastic Settlement.—In the whole course of modern history, no defeated States have ever been so severely dealt with as Germany, Austria, Hungary and Turkey were by this series of treaties ; and no conference that has ever been held has made more drastic rearrangements. Two features of the settlement marked a new departure in international politics. One was the establishment of the League of Nations, which marked the beginning of a new era. The other was the attempt to apply in a logical way the national principle as the basis of political geography. These, it was hoped, would provide foundations for an era of permanent peace so far as Europe was concerned. But the settlement left many problems unsolved, and the years since the end of the War were years of incessant difficulty. Peace was not made secure in 1919.

3. International Relations Since the War

The troubled post-war years fall into three sections. In the first, 1919 to 1924, the world, and especially Europe, was still floundering in confusion In the second, 1924 to 1929, things seemed to be

* School Atlas, Plate 47.

steadily improving, and a new order seemed to be taking shape. But in 1929 a world-wide economic crisis began, which was accompanied by growing political difficulties, and the outlook once again became very black. We are here chiefly concerned with the first two periods. Something will be said about the third on a later page.

Work of the League of Nations.—Many people hoped and even expected that the institution of the League of Nations would of itself suffice to establish secure peace. They were disappointed. The League was not, for some years, allowed to deal with questions of real difficulty. The execution of the peace treaties was kept by the leading allied Powers in their own hands ; they acted through a Council of Ambassadors, sitting in Paris. Moreover, the League was seriously weakened by the fact that it did not include three of the greatest Powers in the world—the United States, which (having rejected Wilson and his party) refused to have anything to do with it ; Germany, which was not admitted a member until 1926 : and Russia, which, under its Bolshevik government, had in effect declared war against Western civilisation as a whole. Nevertheless it achieved much good work. It helped to solve several minor questions which might have led to war. It set up a *Permanent Court of International Justice* at the Hague, which began to be used for the settlement of international disputes capable of being decided by lawyers. It established an *International Labour Office* which drew up conventions about hours and conditions of labour that were submitted to the various governments for acceptance. It dealt successfully with several very difficult problems due to the war, such as the financial disorganisation of Austria and Hungary, and the repatriation of people exiled from lands that had changed hands. Year by year its annual Assemblies rose in importance. The minor Powers valued the voice in international affairs which it gave to them , and from 1924 onwards the ministers of the major Powers found it essential to take its proceedings seriously. It was shaping a world public opinion which even the greatest Powers dared not disregard.

Disarmament.—But on one vital issue the League did not succeed in making any real progress. This was the question of disarmament. None of the victor-Powers save Britain, and none of the new States, was prepared to abandon compulsory military service. Though all agreed that there ought to be disarmament, nobody would move first, and there was no agreement as to the scale on which disarmament should take place. The only successful move was made not by the League, but by a conference at Washington summoned by, the United States (1921), in which the leading naval Powers agreed to cut down their biggest battleships and cruisers in agreed proportions. But no agreement could be obtained, either then or in a later conference in 1928, as to the reduction of smaller types of warships, such as cruisers and submarines ; and no scheme for the reduction of land forces was even discussed. Thus the pledge given to the disarmed enemy Powers that the compulsory reduction of their forces should be followed by an all-round reduction was not kept ; and ten years after the end of the War, the armed forces of Europe were practically as great as they had been on the eve of the War. The nationso wuld

not disarm until they felt secure. Various plans to give a sense of security were worked out—a Treaty of Mutual Assistance in 1923, and an elaborate document known as the Protocol in 1924 ; but they came to nothing. At length, after long and careful preparation, a Disarmament Conference assembled in February 1932. Everybody agreed that it *must* succeed, if the world was to be saved from ruin. But, after three sessions, it guttered out, having accomplished nothing. This failure to fulfil the pledges of disarmament given in the Treaties strained the patience of the disarmed Powers, and was one of the principal causes of the Nazi revolution in Germany in 1933.

4. Post-War Problems

The Russian Revolution.—There were several questions which kept Europe, or parts of Europe, in a state of alarm and uncertainty. The first was the revolution in Russia. The revolutionary Socialists (or Bolsheviks) who had seized power in 1917, were a small minority of the people. But they had suppressed all freedom of speech, and were engaged in ruthlessly destroying the old ruling and educated classes. They had abolished private property, confiscated all capital, whether it belonged to Russians or to foreigners, and repudiated all debts due to foreign governments. For a time the Western governments, and especially Britain, gave aid to the conservative forces which were trying to resist the Bolsheviks. The only results of this were, firstly, to enlist Russian patriotism on the side of the Revolution, so that Trotsky's Red Army was able to crush all opposition ; and, secondly, to convince those who were favourable to the Bolshevik ideas in other countries that the misery from which Russia was suffering was not due to the methods of the revolution but to the action of "capitalist" governments.

External Influence of Bolshevism.—For a time it seemed likely that the Bolshevik movement would spread to other countries. There were temporary outbreaks in Hungary and in Bulgaria ; there was an upheaval in Italy, where some factories were seized by the workpeople, and this provided the occasion for the establishment of a reactionary Fascist government under Mussolini ; and there were some fears of similar movements in Germany, where for a time economic distress was acute. The Bolshevik government, which desired to bring about a world-revolution, was, moreover, aggressive. In 1919 it created trouble in Finland, and in 1920 it attacked Poland, and French aid had to be sent to repel the attack. It also strove to stir up revolts in various parts of Asia, notably in China. There were frequent rumours of an alliance between Russia and Germany. When the Bolsheviks were left to themselves, the inherent weakness of their system was displayed, and the chance of an extension of their methods diminished. But their underground activity in all countries continued, and helped to create a feeling of insecurity and unrest which made it difficult for Europe to settle down

Turkish Nationalism.—A second cause of disturbance was the growth of a nationalist movement among the Turks, fed by anger at the way in which the Turkish Empire had been partitioned. I

1922 the Greeks, who had tried to secure the territories promised them in Asia Minor, were driven into the sea ; and the Turkish nationalist government, under Mustapha Kemal, showed so much energy that for a time a renewal of war seemed inevitable. The Treaty of Sèvres had to be abandoned ; and a new treaty, which gave back to Turkey much of the European territory she had lost, had to be concluded at Lausanne in 1923.

Reaction and Nationalism.—A third cause of unrest was the breakdown of democracy in several countries, and the rise, in its place, of military dictatorships. The most remarkable of these was the Fascist Dictatorship of Mussolini, established in 1922 ; Poland was under a practical dictatorship ; in Yugoslavia the king established autocratic rule in 1928 ; there were temporary dictatorships in Greece and in Spain. In short, a reaction against democracy seemed to be spreading over Europe, and this movement reached its culmination when the Nazi (National Socialist) party established its power in Germany in 1933. These governments suppressed freedom of speech, and freedom of the press. They were all militarist in spirit, and very self-assertive ; they therefore caused great nervousness among their neighbours. All over Europe, indeed, the nationalist spirit was rampant, more especially in the new States. It showed itself not only in large armaments, but in high tariffs, which greatly imposed economic recovery. Determined to manufacture within their own boundaries as much as possible of their needs, governments made their people pay higher prices for home-made products in order to keep out foreign goods ; and therefore impoverished them, and left them less to spend. The tariff barriers of Europe were far more serious after the War than before it. This was bad for all the trading countries ; but Britain, which exists by export trade, was hardest hit.

Uncertainty in Germany.—A fourth cause of insecurity was the uncertainty as to what was likely to happen in Germany. After the Revolution of 1918, Germany had set up a democratic Republic. But it was threatened from two sides throughout the period of unsettlement : there was a danger of Bolshevik revolution, and there was a still greater danger of reaction against the democratic and pacific system, such as actually triumphed in 1933.

5. Reparations and Debts

Reparations—The chief cause of unsettlement was the question of Reparations. There were repeated conferences to consider how much Germany could be made to pay, but they were inconclusive, and the demand remained vast and indefinite. The Allies expected colossal payments. These payments could only be made in German goods. But the Allies did not want to have their markets flooded with German goods. For example, when vast quantities of German coal had to be sent free into France and Italy, this was very bad for the coal-trade everywhere, especially in Britain. To pay for the coal, and to get hold of the vast quantities of English, French, and American money which were required by the Reparations

Commission, the German Government had to issue immense quantities of paper money. German money consequently declined in value, and the more it declined, the more had to be printed, until in the end a *mark* (once worth a shilling) came to be worth perhaps a millionth part of a penny. Trade became impossible under such conditions; but it was only from the profits of trade that the means could be got to meet the demands.

France in the Ruhr.—In 1923 a crisis came. Failing to receive payment in full, the French Government sent an army to occupy the great industrial district of the Ruhr. But you can't make a bankrupt pay by prodding him with bayonets. The only result was to make things worse, by stopping production in Germany's richest industrial area, and by arousing an intense bitterness which would have led to war if Germany had not been disarmed and defenceless. Complete chaos came in the finances of Germany The paper mark became valueless. One result of this was that the German national debt was wiped out; people who had lent (say) 20,000 marks to the Government found that their 20,000 marks were reduced to the value of a fraction of a farthing; and all those who lived on invested money were reduced to beggary.

The End of Reparations—These events brought a return to sanity. An International Commission of experts (the Dawes Commission) was set up to determine how much it was physically possible for Germany to pay. The greatly reduced figure which they arrived at was agreed upon in 1924. Elaborate arrangements were made to secure regular payment The ruined German currency was cancelled, and a new currency was started, based upon the value of gold. But it soon became apparent that even the scale of payments fixed by the Dawes Commission could not be maintained. A new enquiry was held in 1929, and a new scheme of payments was devised. It had scarcely been set on foot when, in 1931, a terrible financial crisis struck the world, and threatened to reduce Germany to bankruptcy. In June of that year, on the proposal of the American President Hoover, the payment not only of German reparations but of all debts between government was suspended for a year; and at the end of the year the European Powers found themselves compelled to bring the whole business of Reparations to an end, in order to save, not Germany only, but Europe, from financial collapse. Germany was to make one final payment of a relatively modest amount; and even this was not to be paid until her finances were restored, and it was not to be paid to the allies, but into a central fund for the restoration of Europe. If this decision had been reached ten, or even five, years earlier, the settlement of the world would have been greatly eased. As things were, it came too late.

Allied Debts.—Meanwhile, another cause of dislocation was at work in the Allied Debts. All the allies on the Continent (including Russia) owed vast sums to Britain and America, mainly for the goods supplied during the War; Britain also owed a large debt to America, which would not have been incurred but that she had had to finance the other allies. The Bolshevik Government of

Russia had already repudiated its obligations and there was no possible means of forcing it to pay. Britain took the view that all these debts should be cancelled, regarding them as being simply a part of the contribution which the wealthier allies had made to the common cause. America refused to accept this view, and insisted upon being paid. Thereupon, Britain announced (in what was known as the Balfour note) that she would only ask France, Italy, and the rest for as much as (when added to her share of German reparations) would enable her to pay her debt to America; she was thus willing to forgo all monetary compensation for her war sacrifices. In 1923 she made an agreement with America as to the terms on which her debt should be repaid, over a period of sixty-two years. America then made similar agreements with the other allies, to whom she granted much more favourable terms than to Britain. Britain then made agreements with the other allies (except Russia), whereby their payments to her were fixed at just sufficient to cover, with Germany's contribution, the British payment to America. These payments continued to be made for some years, but, as all the creditor countries except Britain, by means of high tariffs, made it impossible for payment to be made in goods, this caused a strain upon the gold supplies of the world, which helped to cause the financial crisis of 1931. In that year all payments of debts from one government to another had to be suspended. In 1932, as we have seen above, the payment of German reparations came to an end. At the same time Britain excused the European allies from paying their debts to her. But if Britain was receiving nothing from Germany or the allies, and if the allies were receiving nothing from Germany, how were they to pay America, at a time of acute financial distress? France refused to pay anything. Britain paid one instalment pending a final settlement, then fell back upon making small "token" payments; but when America refused to accept "token" payments, Britain also refused to pay anything (1934). Thus the payment of inter-allied debts came to an end, like the payment of reparations. If this had happened ten years earlier the economic collapse of 1929 and the following years might have been averted. But always wisdom was too late.

An Interval of Settlement.—In spite of these difficulties and the failure to find a solution for them, Europe seemed to be settling down during the years after 1924. Trade was reviving. Prosperity seemed to be returning. The influence of the League of Nations grew year by year, and it might be hoped that the League would make peace safe. These hopes were highest in 1926 and the following years, when France and Germany, in the Locarno Treaties, pledged themselves never to go to war over their common frontier, and Britain and Italy guaranteed the maintenance of this treaty Germany was admitted to the League; and the German Liberal, Stresemann, with the Frenchman, Briand, and the British Foreign Secretary, Sir Austen Chamberlain, formed a triumvirate of "good Europeans" whose co-operation promised peace to the world. Every European country had brought back its money on to the gold standard, and this created a monetary stability which greatly helped the growth of trade. But the apparent improvement rested upon insecure foundations.

Trade could not develop as it might have done because of the bristling tariff walls that divided Europe into watertight compartments. The long delay in making any advance towards disarmament left most of the nations of Europe armed to the teeth, watching one another with fear and suspicion. In one country after another, the democratic system was breaking down under the strain, and people were getting ready to resort to force instead of persuation. In Germany—disarmed amid armed neighbours—the long delay in carrying out the promises of 1919, the continued occupation of German territory by foreign troops (which lasted until 1931), the intolerable burden of reparations (which also lasted until 1931) and the acute distress which had been caused by the years of inflation, were reducing the people to despair, undermining their belief in pacific and democratic methods, and preparing the way for the violent Nazi reaction triumphed in 1933. In truth, the apparent improvement of the years 1924-29 was mainly due to the fact that America, flushed with prosperity, was lending money on a reckless scale to Germany and other European countries, thus indirectly providing the funds with which reparations and debts were paid. The whole condition of things was artificial; and in 1929 the gigantic bubble burst.

The Economic Crisis.—The collapse began in Australia in the autumn of 1929. America was so prosperous that her people imagined her prosperity would last for ever, unaffected by the condition of the rest of the world. This led to a mania for stock-gambling, which brought a crash; confidence collapsed; banks failed by hundreds; factories were closed; the number of unemployed workers rose to ten, twelve, fourteen millions; and the depression went on deepening for three years. The result was that America ceased to lend money to Europe and the false prosperity of the last few years collapsed like a house of cards. A complete breakdown of credit in Austria and Germany was only averted by drastic measures: the payment of reparations had to be suspended, and the banks in other countries that had lent money to Germany had to undertake not to call it in, to avoid a crash. Then the panic spread to Britain, whose credit seemed to be shaken: we shall see the results in a later chapter. First Britain, and then many other countries, were either driven off the gold standard, or voluntarily abandoned it, and the monetary system of the world once more fell into confusion. Fearing ruin, every country strove to shut out the goods of other countries by tariffs, quotas and other restrictions, with the result that in three years the trade of the world was reduced to one-third of what it had been in 1929. Deprived of their markets by these restrictions, the producers of goods for export, and especially of foodstuffs and raw materials, had to sell their goods at cut-throat prices, and were therefore unable to buy other goods. Prices slumped down, and people refused to buy lest the prices should be lower next week or next month. Vast quantities of valuable goods were burnt, for want of buyers. There were tens of millions of unemployed workers. These are the conditions that produce revolutionary outbreaks. The world seemed to be rushing to ruin, because it would not realise that all its

members were mutually dependent, and could not all enrich themselves at one another's expense. It was realised that this dreadful state of things could only be met by agreement and common effort among the nations. In 1933 a World Economic Conference was summoned in London under the auspices of the League of Nations. But it led to no useful results and the crisis continued. The nations had not yet learnt their lesson. They would not realise that the well-being of each depended upon the well-being of all.

Political Alarums.—The acute economic distress from which the world was suffering during the years following 1929 helped to create political difficulties also ; and just as the nations refused to co-operate to deal with their economic troubles because they were jealous and afraid of one another, so for the same reason, they failed to co-operate to maintain the system of the League of Nations and to make peace secure. In four of the Great Powers events took place which showed the seriousness of the upheaval, and the necessity of international co-operation.

Japan and China—During the war Japan had obtained a stranglehold upon the life of China. At the Washington Conference in 1922 she had consented to withdraw from this position, and had signed a Nine-Power Treaty guaranteeing the territorial integrity of China. For ten years she loyally observed these undertakings. In the autumn of 1931, seeing the powers all engrossed by their economic troubles, while China was in a state of confusion, the militarists of Japan took the bit between their teeth and seized the rich Chinese provinces of Manchuria. Later they overthrew two successive governments, and seized the reins of power for themselves. The seizure of Manchuria was a breach of the Nine-Power Treaty, of the League Covenant, and of the Pact of Paris, by all of which Japan was bound. If the League should fail to check this defiance its influence would be destroyed. The whole world agreed in condemning Japan's action, and the circumstances were very favourable for checking it, since America and Russia, the two Great Powers outside the League, were both anxious to stop Japan's aggression. In January 1932, America told Japan that she could not recognise changes made by force in defiance of formal obligations, and invited Britain and other countries to join with her. The British Government refused to concur in this action. The League sent out a Commission of Enquiry to Manchuria, which unanimously condemned the action of Japan, and in October 1932, the Assembly of the League endorsed the report. But no further action was taken. Even the fact that Japan attacked the Chinese from the international settlement of Shanghai and committed many atrocities did not arouse the lamb-like Powers. They turned the other cheek—China's other cheek. Japan cotemptuously announced her withdrawal from the League ; and that institution, upon which the hopes of mankind had been pinned, was gravely discredited.

Disarmament and Germany.—The failure to meet the first serious challenge that had been addressed to the League system naturally reacted unfavourably upon the prospects of disarmament.

The Disarmament Conference, long in preparation, met in February 1932. It had three sessions, but did not achieve any practical results, except a recognition of Germany's right to equality of status in armaments—which meant that if the other countries did not disarm, Germany would rearm. But this recognition only came after a formidable revolution in Germany: what had been refused to moderation seemed to be conceded to violence. The German people were in truth losing patience with the democratic and pacific policy which they had pursued since 1919. They could not endure to continue disarmed and helpless in the midst of heavily armed states, while the Great Powers refused to fulfil the pledges given in 1919 They turned more and more to the Nazi (National Socialist) party, led by Adolf Hitler, who maintained that Germany must trust to her own strong arm, and that she would get justice in no other way. In the autumn of 1932 the last Liberal government in Germany fell, and Hitler became Chancellor. In February 1933, a new election gave him an overwhelming majority, and an unqualified Nazi dictatorship was established. Freedom of speech and of the press were suppressed; a ferocious persecution of all Communists, Socialists, Liberals, Pacifists, and Internationalists, and in particular of all Jews, was set on foot; and critics or enemies of the government were arbitrarily imprisoned, beaten or murdered. This was the regime to which the Powers conceded what they had refused to concede to moderation. In spite of her economic distress and her embarrassed finances, Germany set to work to rearm, especially in the air; and this, of course, alarmed all her neighbours. When the Disarmament Conference proposed that there should be a period of probation before they disarmed, Germany announced her resignation from the League. Her agents, meanwhile, were working to bring about the union of Austria and Germany, which the European Powers would never permit. They were resisted by the Austrian Chancellor, Dollfuss, who had established a sort of dictatorship of his own, and waged ruthless war against the Austrian Socialists. Dollfuss was murdered by Nazi conspirators, and this for a moment brought the peril of war very near (1934). The danger was staved off, but peace remained very precarious in Central Europe.

Such were the results of refusing to recognise the necessity of international co-operation in an interdependent world. The world had been brought almost to wreck, both economically and politically. It was a bankrupt statesmanship that led to these results.

CHAPTER LV

THE BRITISH EMPIRE AFTER THE WAR

1. The Tropical Empire

Mandated Territories.—The first and most obvious effect of the War upon the British Empire was that substantial additions were made to its already enormous extent. In form, indeed, these lands

are "mandated territories," and are therefore not strictly British lands, but League of Nations lands administered by Britain. In fact, however, most of these territories are treated exactly like other possessions, except that an annual report concerning them is laid before the League.

East Africa.—The addition of German East Africa (Tanganyika) to the earlier British possessions of Uganda, Kenya, and Nyasaland created a continuous group of colonial possessions in the uplands of East Africa which formed a mighty empire in themselves, and which may ultimately be grouped together in a new federation. In these lands, and especially in Kenya, very difficult racial problems arise from the fact that a substantial number of white settlers have made their homes in the highlands, while there is also a large population of Indian immigrants alongside of the native population. The difficulty of adjusting the rights and claims of these varied elements has led to a great deal of discussion and controversy since the War, and it cannot be said that a satisfactory solution has yet been found.

Dominion Dependencies.—South-West Africa, New Guinea and Samoa are respectively administered by the governments of South Africa, Australia, and New Zealand, subject to the League of Nations. These Dominions have therefore become *imperia in imperio*, and this has involved a change in the character of the Empire. The policy to be pursued in regard to subject peoples is no longer a matter wholly regulated by the imperial government ; yet no method of consultation on these matters between the mother-country and the Dominions has yet been devised.

Palestine.—The two chief territories taken from the Turkish Empire—Palestine and Mesopotamia—stand in a peculiar position. In the case of Palestine, the Governor was appointed by the British Crown But he was charged with the special duty of administering Palestine in such a way that it might become a "Jewish National Home," and there has been a considerable immigration of Jews, whose work has begun to restore prosperity to the country. In the normal course of events it might have been expected that Palestine would have become a self-governing community, and that the British protectorate would soon be unnecessary But the position was complicated by the presence of a large native population of Arabs, who resented the coming of the Jews ; and the relations between the two peoples were apt to be so strained that the British administration had a very difficult and delicate task of mediation between them.

Iraq.—Mesopotamia (Iraq) stood upon a different footing Here, after a troublesome revolt among the Arabs, a native Arab administration, with an Arab royal line and a representative parliament, was set up. In 1922 a treaty between Britain and Iraq was concluded, whereby the British Government undertook to withdraw from the country as soon as Iraq was strong enough to stand on her own feet, and in 1924 a parliamentary constitution came into force in the land of the Garden of Eden. In the meanwhile, however, it was necessary to protect Iraq against a possible attack from the Turks on the one hand, who claimed the Northern Province of

Mosul with its oilfields, and on the other from the Arabs of Inner Arabia, who were showing themselves very aggressive. Against both of these dangers British protection was necessary. The Arab danger was averted by a treaty negotiated by Britain in 1925. The Turkish problem was referred to the League of Nations, which sent out a Commission of Enquiry. The Commission reported that Mosul ought to go to Iraq, but that Britain ought to retain responsibility for Iraq for twenty-five years. Turkey reluctantly accepted this award in 1927. In 1932 Iraq was, on the motion of Britain, admitted to the League of Nations and the British Mandate came to an end.

2. New Relations with the Dominions

Foreign Policy and Defence.—The War necessarily brought about a change in the relations between the Dominions and the mother-country, which was made clear in the years following the peace. Throughout their history the Dominions had been content to leave questions of foreign policy and defence to be settled at Westminster, because the affairs of Europe seemed remote to them, and the risks of war appeared to be negligible. They had sent contingents to the South African War, without demanding to be consulted about the events that led up to it, or the settlement which followed it; but that was an intra-imperial affair. They had been admitted to a gradually increasing degree of consultation in the years preceding the War; and, but for the fullness with which foreign policy and defence questions were discussed at the Imperial and Defence Conferences before the War, it is doubtful whether the participation of the Dominions would have been as whole-hearted as it actually was. But then they had been called upon to throw their whole strength into a gigantic struggle, and they had nobly answered the call, making immense sacrifices of life and money. It was impossible that they should ever again regard foreign affairs as indifferent to them, or consent permanently to a system which excluded them from any effective share in discussing matters of policy which might involve them in war.

The Dominions and the League.—During the course of the War the Dominion Prime Ministers and representatives of India were added to the War Cabinet, and played their part in determining war policy. When the Peace Conference was summoned, all the Dominions and India were separately represented as individual States; and some thought that this implied the break-up of the British Empire. When the League of Nations was formed, they became individual members of the Assembly; but on the Council it was the British Empire, not Britain alone, that was represented, and Dominion members might, under certain circumstances, take part in the Council's proceedings.

Causes of Difficulty.—If the League of Nations had been the arena for all discussions on international relations, the Dominions might have felt that this arrangement met their needs. But many of the most important questions were settled outside the League, and this led to difficulties. On at least three occasions the necessity of

finding some solution for this problem presented itself. In 1922, when Britain was almost involved in a new war with Turkey, the Dominions took alarm; but the crisis passed off. In 1923—24, when the Treaty of Lausanne was concluded with Turkey, the Dominions were not consulted, though some of them had played a very great part in the war with the Turks They felt, not without reason, that some of the terms of the Treaty might in the future involve them in war, and they resented their exclusion from the discussions which led up to it. Again, in 1926, when the Treaty of Locarno was negotiated, Britain alone became a guarantor of the Treaty, and the Dominions were expressly excluded. Evidently some readjustment of the relations between the Mother Country and the Dominions was necessary.

Statute of Westminster.—This question was discussed in three Imperial Conferences after the War It was evident that the national spirit was rising high in all the Dominions. They were beginning to appoint diplomatic representatives of their own in foreign countries, and, while valuing imperial unity, they resented every suggestion of subordination to the Mother Country. In the Conference of 1926 it was agreed that the Dominions enjoyed complete equality of status with the Mother Country—a position which was already implied in their equal membership of the League of Nations. This agreement was embodied in the *Statute of Westminister*, adopted by the British Parliament in 1931. So far as the Dominions were concerned, the British Empire had now become an informal but very intimate alliance of equal states, linked together under a single crown. The terms of the alliance were not embodied in any treaty or constitution, and its members undertook no such specific obligations as they assumed in joining the League of Nations.

The Ottawa Conference—The profound economic depression which began in 1929 deeply affected all the Dominions: Australia, in particular, was brought to the verge of bankruptcy Like other countries, the Dominions tried to meet the distress by imposing very high tariffs, against the trade of Britain as well as of foreign countries The very severe tariffs of 1931 threatened to destroy British trade with Canada and Australia. There were some who hoped that the Empire countries might help one another to escape from their difficulties by establishing free trade within the Empire, and tariffs against the rest of the world. But the Dominions, bent upon building up their industries, would not consider any such proposal. Short of this, however, it was hoped that some co-operation might be possible, and a Conference was summoned at Ottawa in 1932 to discuss the question. At this Conference the Dominions obtained free admission for all their products to Britain, which had now become a protectionist country. They also demanded that Britain should impose tariffs against certain foreign goods higher than her own Parliament thought nec. ssary, in order to increase the Dominions' advantage, and that she should pledge herself not to reduce these duties without the Dominions' consent. In return for these concessions, the Dominions made slight concessions in some of their tariffs, or raised their tariffs to still higher levels against foreign

countries while keeping them high enough to exclude British goods; but in no case was British trade given conditions as favourable as it had enjoyed in 1929. It was also agreed that the dependent colonies under the control of Britain, in which the traders of all nations had been admitted on equal terms, should be made to give a preference to goods coming from Britain and the Dominions This was an important departure from the colonial policy which Britain had hitherto pursued, and which had averted the hostility that might have been caused by the immense extension of her possessions.

3. The Problem of India

India and the War.—In India the War brought to a crisis the nationalist movement which had been growing steadily in strength for a generation. The first result of the outbreak of war was to still all the vehement controversies which had been raging during the preceding years. There was a remarkable outburst of loyalty to the Empire, so strong that it was possible to withdraw most of the British troops maintained in India, for service in one field of war or another. Splendid offers of help came from the princes; and immense forces were recruited, especially in the warlike province of the Punjab. For the first time in the long history of India, Indian troops saw service in many parts of the world.

The Nationalist Movement—But as the War wore on, the demand for an expansion of self-government rose again It was strengthened by the fact that the Allies claimed to be fighting for democracy, and by the feeling that if Indians were capable of fighting for the Empire, they were capable of undertaking the full rights of citizenship. In various forms the demand became louder. At length, in 1917, it was announced in the British Parliament that the time had come for a great step forward towards Indian self-government The Secretary of State, Mr. E. S. Montagu, went out to India, and in conjunction with the Viceroy held a series of conferences with Indians in all the provinces. The result was a new scheme of government, which was embodied in the India Act of 1919.

The Scheme of Dyarchy.—Under this plan, there was to be a large elected majority in each of the provincial legislatures—(the Indian provinces are as big as European States). Certain subjects were to be "transferred" to the control of Indian ministers responsible to the legislature, the "reserved" subjects being retained in the control of the Governor and the Civil Service. In the event of deadlock, large powers were given to the Governor, and, in the last resort, the system could be suspended. The system was known as "Dyarchy." It formed an experiment, to which there had hitherto been no parallel, in the direction of blending "responsible" and non-responsible government. At the same time the powers of the legislative body in the supreme government of India as a whole were substantially increased; but in this sphere "responsibility" was not introduced, among other reasons, because the Government of India has to deal not only with the British provinces but with the native States

A Period of Trouble.—The new system had an unfortunate beginning. Before it was initiated, serious troubles broke out, in the spring of 1919, largely over the proposals included in what were known as the "Rowlatt Acts," which made special provisions for dealing with seditious cases. A violent agitation led to an outbreak of riots and even rebellion in the Punjab, in which a number of lives were lost. These disturbances were put down, but the way in which the situation was handled in the turbulent city of Amritsar (Punjab), where machine guns were turned upon a prohibited meeting, aroused fierce resentment, and stimulated the growth of a strong anti-British movement. The centre of this movement was Gandhi, a saintly Hindu who dreamed of a return to the pristine simplicity of primitive India, and preached "non-violent non-co-operation" with the British Government, or, in other words, a peaceful boycott of the British and all their works, including the new scheme of government. For some years Gandhi exercised an extraordinary influence over the Indian people, and under him the political movement spread even to the mass of the peasantry, hitherto unaffected by it. At the same time there was profound unrest among the Mohammedans, who deeply resented the downfall of the power of the Turks, for which they held the British Government responsible. The two movements to some extent coalesced, and an extremely difficult situation was created. To add to all these troubles, the new Amir of Afghanistan, stirred by the excitement that was spreading through the Moslem world, attacked the North-West Frontier. If he had been successful he might have been joined by the discontented Moslems of the Punjab. But his attack was swiftly and easily repelled. Although victorious, the Government of India, in the treaty that ended the war, abandoned the control over Afghan foreign policy which it had hitherto claimed and left Afghanistan in complete independence.

The New System at Work.—It was in these conditions that the new system of Indian government had to be set on foot. It would in any case have been difficult to work a sytem so novel. It could not work well in the midst of all this seething unrest. The majority of Indians held aloof from it for several years, and although this perhaps made things easier for the moment, it meant that the system could not take root. From the first there were loud demands, even from the most moderate of the Indian parties, that the system should be enlarged in the direction of complete responsible government. The Act had provided that the scheme should be revised at intervals of ten years ; but few Indians were content to wait so long.

Gradual Appeasement.—Gradually, however, the excitement died down, especially under the patient and tactful administration of Lord Reading as Viceroy (1921—1926). Gandhi was arrested, and the non-co-operation movement which he had started broke down. Sharp differences of opinion emerged among various groups of Indians as to the way in which the constitution should be revised, the Mohammedans and the lower castes being afraid lest they should be left under the control of a Hindu majority, while the Princes regarded with distaste the growth of a democratic movement which threatened their authority.

A New Scheme of Government.—In 1927 a Commission under Sir John Simon was sent to India to make enquiries in preparation for the revision that had been promised in 1929. But because it consisted only of members of the British Parliament, and included no Indians, it was boycotted in India. There was a fresh outburst of anti-British feeling; the Indian National Congress declared for complete independence; and Gandhi once more had to be placed under arrest (1930). When the report of the Commission—an admirable document—was published, Indian opinion refused even to consider it. The British Government thereupon summoned a Round Table Conference, of representative Indians and members of all the British political parties (1930). The situation was transformed when the Indian princes announced that, subject to certain conditions, they were willing to come into a federal system for all India. But there were still many problems to solve, and the Indian representatives were by no means agreed as to the way in which they should be solved. After three years of discussion, they left it to the British Government to suggest a scheme. This was embodied in a *White Paper*, which was then thoroughly discussed, amid hot controversy. Legislation to carry somewhat similar proposals into effect has now been enacted.

Economic Changes.—Meanwhile, Indian nationalist opinion had found another expression in a movement for economic independence. Indian industry had been greatly stimulated during the War, when Britain was unable to send her usual volume of manufactured exports. The cotton, coal, and iron and steel industries in particular had made great advances. They were encouraged by the gradual development of a protective system which especially struck at British imports. Throughout the nineteenth century Britain had used her power over India to maintain a system of free imports, and, in particular, she had insisted that when duties were imposed for revenue purposes upon British cotton goods, there should be a countervailing excise duty on Indian cotton goods. This had to be definitely abandoned during the War; and in the following years there was a gradual increase in the number of duties levied on foreign imports. India, like other countries in which the nationalist spirit was strong, aimed at being self-sufficing.

4. Troubles in Egypt

The same nationalist spirit which was at work all over the world, showed itself in a very difficult form in Egypt. Egypt was, of course, not a part of the British Empire before the War, though her government was under British control; she was nominally a vassal of Turkey; her finances and her trade were largely controlled by foreign financial interests; and separate courts were maintained for the trial of Europeans, who enjoyed certain privileges.

Egyptian Nationalism—When the War broke out, and Turkey joined the German side, it was impossible that the legal position created by the Turkish suzerainty should survive, since it made every Egyptian legally an enemy. Accordingly a British

protectorate was declared, and the Khedive took the title of King. During the War Egypt was, in effect, under military government, and there were always large British and Indian forces in the country, at first for the protection of the Suez Canal, and later because Egypt was the base for the invasion of Palestine. But throughout this period a nationalist movement was growing in strength, and as soon as the War came to an end, it broke out into a furious agitation, led by an able but impracticable enthusiast, Zaghlul Pasha The Egyptians would not be content with self-government under a British protectorate. They would be content with nothing short of complete independence ; and violent disturbances broke out in 1919. A special Commission, under the presidency of Lord Milner, was sent out to study the problem (December 1919). It was favourable to the aspirations of the Egyptians, and was anxious to reach any practicable accommodation, but the Egyptians would listen to no proposals of compromise.

Causes of Difficulty.—There were three things which the British Government held to be essential. The first was adequate protection for the Suez Canal, which could not safely be left to a new, unstable, and possibly irresponsible government. The second was the need for safeguards for the rights and property of European residents in Egypt. The third was the maintenance of efficient government in the Sudan, which had been conquered mainly by British arms, and brought to prosperity by British officials. But all these requirements seemed to the Egyptian leaders to the restrictions on their national freedom ; and the Nile, by which Egypt lived, draws its waters from the Sudan, so that the very existence of the country depends upon the wise control of the Nile-flow in that region. Eventually, in 1922, the independence of Egypt was recognised, subject to these three conditions, and the treaty signed between the two countries went some way to mollifying the rising temper of Egyptian nationalism.

Continued Troubles.—The settlement of 1922, however, did not bring peace. In 1924 the election of the Egyptian parliament gave a sweeping majority to Zaghlul and the Nationalist extremists. They resented the powers which the British Government still claimed, and, in particular, damanded that the Sudan should be recognised as part of the Egyptian empire, under the absolute control of the Egyptian Government. There were disturbances among the Egyptian troops in the Sudan. In Egypt there were a number of outrages against British subjects, culminating in the murder of the Sirdar, Sir Lee Stack (1925). Thereupon the British Government took firm action. It demanded the trial and punishment of the murderers, who were eventually executed. It flatly refused the Egyptian demand of sovereignty over the Sudan ; Egyptian officials and Egyptian troops were ordered out of that province, and a separate Sudanese Defence Force was organised

The troubles in India and Egypt have afforded evidence of the difficulty of adapting Western ideas and methods of government to the needs of oriental peoples. It cannot be said that in either country

a working solution of the problem has yet been found ; and the relations between the government of the West and the peoples of the East, among whom the nationalist aspiration is stirring, remain among the most difficult problems not only of the British Empire but of the world.

CHAPTER LVI

BRITAIN SINCE THE WAR

1. British Politics at the End of the War

Post-War Hopes.—During the last stages of the War, and especially when victory came in sight, a large part of the British people began to form glowing anticipations of the happiness that was to come with peace The Germans were to be made to pay the whole cost of the war. War was to be banished for ever from the face of the earth. The brotherhood which war had created was to continue in peace-time, and the gignatic efforts of which the nation had been shown to be capable, when turned to the tasks of peace, were to banish slums and poverty and to bring about an era of universal prosperity. Britain was to be made, in the words of the Prime Minister, "a land fit for heroes to live in." It was a noble aspiration. But it did not sufficiently take account of the immense difficulties which the War had created, or of the impossibility of maintaining in peace that single-minded unity of purpose and opinion which had made the colossal war-effort possible. The greatness of these expectations, and the inevitable disillusionment which followed, added to the difficulty of the first trying years that followed the cessation of the War.

The Situation in 1918.—The Parliament which was sitting in 1918 had been elected in 1910 ; there ought to have been a new election in 1915, but this was impossible while war was raging, and the existence of Parliament was therefore polonged until the end of the War. In this Parliament Conservatives and Liberals were evenly balanced, and there were also substantial bodies of Irish Nationalist and Labour members. The Government was a coalition of all parties, under the Premiership of Mr. Lloyd George But a large section of Liberals, following Mr. Asquith, stood aloof and critical. At the end of the war the Labour members of the Cabinet withdrew. The Coalition therefore became predominantly Conservative, though the Prime Minister and some of his leading colleagues were Liberals.

Legislative Work.—During the last two years of this Parliament a good deal of legislation preparatory for the post-war era was carried. The most important of these Acts was a *Franchise Act*, which for the first time gave the vote to many women over thirty ; it also widened the franchise for men so as to include all over twenty-one ; and a redistribution of seats was carried out. The number of new voters added by the Act was much larger than had been added by any previous Act : the fortunes of Britain were in the future to

rest with democracy more fully than ever before. A second important Act was the *Education Act* introduced by Mr. H. A. L. Fisher. Its aim was to give to the democracy a fuller training, especially by providing continuation schools for adolescents; though this was only a part of a far-reaching scheme of reform.

The Labour Party.—In 1918 the Labour Party adopted a new constitution, and came forward as a serious competitor for the control of power. The strength of the trade unions had grown by leaps and bounds during the War—it more than doubled between 1914 and 1918, and the numbers went on growing until 1920, when they reached a total of over 8,000,000. Nearly all the trade unions were affiliated to the Labour Party, and subscribed to its funds. By its new constitution the party definitely adopted Socialism, and defined the nationalisation of all the means of production as its supreme aim. The Labour Party believed in the possibility of a sweeping reconstruction of society; and a manifesto, full of glowing aspirations, which it issued under the title of "Labour and the New Social Order," drew to it the support of myriads of eager and hopeful people.

The Election of 1918—As soon as the War was over, a General Election took place on the new franchise. The Coalition appealed to the country to support the men who had won the War, and obtained an overwhelming majority; the Labour Party came back with sixty-two members; but the independent section of the Liberal Party was reduced to twenty-six, and the Nationalist Party was almost wiped out of existence. For the next four years the Government was omnipotent.

2. The Problems of Peace

The Transition to Peace.—It had been anticipated that there would be great difficulty in bringing about the transition to peace conditions, since millions of fighting men would have to be reabsorbed into industry, the old channels of trade had been diverted for four years, and the pledge to restore trade union customs would have to be honoured. The difficulties turned out to be less than had been feared. Gratuities to the troops on demobilisation helped them to find new niches; and a sudden and immense boom in trade, due to the fact that the whole world was short of goods, eased the situation for the first two years. This sudden boom came to an end in the autumn of 1920, and was succeeded by an equally sudden and profound depression While the boom lasted, prices soared up, and wages followed them; everybody enjoyed an unreal prosperity; and in some industries, notably in cotton, factories were sold at wildly enhanced values, and reorganised under the load of heavy capital charges which later crippled them.

Reconstructive Work—The Government did not allow itself to be wholly absorbed in the difficult task of negotiating peace abroad. It set itself to tackle the work of reconstruction. New ministries—of Health, of Labour, of Transport, of Mines—were

instituted. A great conference of employers and workers, representing the whole range of industry, was summoned to discuss the methods of attaining co-operation, efficiency and justice (1919). The Ministry of Labour set to work to persuade all the chief industries to organise themselves under Joint Industrial Councils, on the lines laid down by the Whitley Committee on Industrial Relations which had been set up during the War ; while in the unorganised and low-paid industries, Trade Boards were instituted in large numbers to bring about improvements in wages and conditions. The Ministry of Health set on foot gigantic schemes for the rehousing of the working classes, and for making good the deficiency of houses which had been caused by the cessation of building during the War. But these activities were soon to be impeded by the deep depression of trade which struck the country in 1920.

Old Controversies.—Parliament had also to decide what was to be done about two great controversial measures which had been carried under the Parliament Act before the War, but had been suspended when hostilities began. These were the disestablishment of the Welsh Church, and Irish Home Rule. Both had been bitterly resisted by the Conservatives. Now that the Conservatives formed the predominant element in the Coalition, there had to be some compromise.

The Irish Problem.—The Welsh Church was disestablished, but it got somewhat more favourable terms. The Irish problem was more difficult, because the views of Ulster and the South of Ireland were irreconcilable. Moreover, during the War, the extremist Sinn Fein party had grown to great strength in Ireland. In 1916, at a critical period of the War, there had actually been an open rebellion in Dublin ; and although it was suppressed, it had given a great stimulus to the Sinn Fein movement, which rapidly reduced the older Nationalist Party to insignificance. The Nationalists almost disappeared in the election of 1918 ; but the seventy-three Sinn Feiners who were elected in their place refused to attend, or to recognise in any way the authority of the British Parliament.

Civil War.—The situation thus created was an extraordinarily difficult one. In 1920 the Government tried to meet it by setting up two parliaments, one for the six Protestant counties of north-eastern Ireland, the other for the rest of Ireland ; there were provisions for common action, and for ultimate combination. But while Northern Ireland set up its Parliament under the Act, Southern Ireland, led by the Sinn Fein party, refused to have anything to do with the scheme, but broke into open rebellion, declared Ireland independent, and elected a President of the Irish Republic, and a representative body called Dail Eireann. For two years a hideous civil war raged in the unhappy island ; loyalists were killed, or their houses burned ; anarchy seemed to have come. The Government tried to deal with this situation by measures of reprisal, and a special force of ex-soldiers was raised for the purpose, known from their uniforms as the Black-and-Tans. But this only made things worse, and brought feeling on both sides to an intensity of bitterness.

The Irish Free State.—At length, in 1921, the Prime minister intervened, and persuaded the Sinn Fein leaders to negotiate with him. After difficult negotiations, a Treaty was signed, whereby Southern Ireland, under the name of the Irish Free State, was recognised as having "dominion status" under the British Crown, and proceeded to draw up its own constitution.* The more extreme Sinn Feiners, led by Eamon de Valera, the "President of the Irish Republic," refused to accept even this solution, or to agree to the maintenance of any connection with Britain. For a time civil war continued to rage in Ireland, between those who accepted and those who repudiated the treaty; but gradually the country settled down under the new regime. Thus, thirty-five years after Gladstone introduced his first Home Rule Bill, self-government was granted to Ireland in a form far more sweeping than Ireland would gratefully have accepted in 1886. Naturally British Conservatives, who had fiercely opposed Home Rule for all these years, were shocked by this conclusion; and their satisfaction with the Coalition Government waned rapidly

3. Industrial Unrest

Strike Fever—Meanwhile, there were acute labour troubles in England and Scotland. From 1919 to 1926 strikes, in many industries, were more frequent and more prolonged than ever before. This was partly due to the great expectations which were widely held; partly to the consciousness of power which filled the trade unions, in view of their vast growth and large funds. The chief centres of unrest were the railwaymen, the transport workers, and the coal-miners, all of whom could hold up the nation's economic life, and by using this power felt they could achieve great things. A Triple Alliance of these powerful unions was formed (1919). They even tried to dictate to the Government, setting up a Council of Action (1920), to threaten a general strike if the supposed policy of the Government in regard to Russia was not altered; and, although this came to nothing, the meance of a general strike continued to be a bugbear for some years

The Railways and the Mines.—In 1919 there was a strike on all the railways, and for some days the ordinary methods of transport were completely dislocated. It was brought to an end by a settlement negotiated by the Prime Minister, one important element in which was the establishment of an elaborate system of negotiation and conciliation on the railways, embodied in an Act of Parliament. In the same year (1919) the miners put forward large demands, including the reduction of their working-day to seven hours, an increase of wages, and, in the background, the nationalisation of the mines. A Commission, presided over by Justice Sankey, was set up to inquire into these matters. On the recommendation of a majority of its members, a Seven Hours' Act was passed, and the miners' wages were increased, On the wider issue the Commission presented four

---

* See School Atlas, Plate 37*b*.

reports, two of which (whose combined supporters had a majority of one) recommended Nationalisation. The Government declined to act on this, but passed a Mines Act (1920) establishing an elaborate system of representation and conciliation, which first the miners and then the mine-owners refused to work. In the autumn of 1920 there was a short strike, and in the next year (1921) a very prolonged stoppage in the mines, which for some months gravely interfered with every industry that depended upon coal. The dispute was terminated by the adoption of a new mode of fixing wages, based upon a division of the proceeds in agreed proportions between labour and capital.

Industrial Depression.—While these controversies were raging, a wave of industrial depression struck the country (1920), and the number of unemployed men suddenly leaped up to unheard-of figures, which were, of course, gravely increased by the coal stoppage. It was generally believed that this depression would be only temporary, and that it was mainly due to the confusion of foreign currencies, and to the adverse influence of unrest in the great Eastern markets of India and China. These were unquestionably important factors, though (as we shall see later) there were deeper causes at work. The Government had to face this emergency. It cut down its expenditure drastically, and some of its reform schemes (notably education and housing) were suddenly abridged. It extended the unemployment insurance scheme to cover practically the whole range of industry, and made special provision for giving benefits to workers who had not paid the required number of premiums. It started a scheme of giving government credits to exporters, to help them in overcoming the difficulties of foreign trade. It made grants to public bodies and advances to private firms to enable them to undertake useful work. It also passed a Safeguarding of Industries Act to protect industries that were seriously threatened by the competition of countries with a falling currency; but this device was found to be of very little avail for meeting that particular difficulty.

4. Ministerial Changes and Party Vicissitudes

The Election of 1922.—In 1922 the Conservatives decided to terminate their alliance with Mr. Lloyd George and his Liberal colleagues, and the Coalition came to an end. At the subsequent election, the Conservatives obtained a majority over all parties; and Labour Party increased its strength to 138; and the two sections of Liberals mustered between them 117 seats, though their relations were strained. Mr. Bonar Law, who had led the Conservative wing of the Coalition during the War, had appealed to the country with a promise of tranquillity. His hope was that if there was a cessation of meddling both by Government and by organised labour, things would come right of themselves. The two chief events of Mr. Bonar Law's brief tenure of power were, first, the conclusion of an agreement with America whereby Britain undertook to pay her debt without regard to the payments made to her by the other allies; and, secondly, the occupation of the Ruhr by France, which delayed the recovery of European trade, but was, for the moment, good for the British coal

trade, because the production of coal in the Ruhr almost ceased. Unhappily, Mr. Bonar Law was compelled to resign by the illness from which he soon afterwards died.

The Election of 1923.—His place as Prime Minister was taken (1923) by Mr. Stanley Baldwin, who had risen very rapidly to the front rank in politics. Obsessed by the continuance of unemployment at high level—the figures had not sunk below 1,000,000 for more than three years.—Mr. Baldwin announced that in his view the only cure lay in Protection, and declined to bear the responsibility for government unless he could be released from the pledge given by Mr. Bonar Law not to introduce protective measures. He therefore asked for a dissolution. The election put the Conservatives in a minority, though they were more numerous (258) than either of the other parties, who numbered, respectively, the Labour Party 191, and the Liberal Party 158. Defeated on a vote of no confidence, Mr. Baldwin resigned (February 1924); and Mr. Ramsay MacDonald, as, leader to the larger of the opposition parties, was called upon to form a ministry.

The Labour Government.—The Labour Party thus for the first time assumed office. But it had no majority; and although it held its position in virtue of Liberal votes, it made no attempt to come to any agreement or working arrangement with the Liberal Party. Its position was therefore very precarious. It had appealed to the country largely on the ground that it had a "positive remedy" for unemployment, but it did not, during its term of office, make any proposals on this head. Its only important legislative achievement was a Housing Act, to increase the subsidies offered for the erection of working-class houses. In foreign affairs, Mr. MacDonald was able to contribute to the settlement of the reparations question by obtaining an agreement on the Dawes Report .He also proposed to make a large loan to the Bolshevik government of Russia. This proposal was opposed by both Conservatives and Liberals and was the real cause of the fall of the first Labour government, though the actual division which led to its resignation was on a minor issue. Mr. MacDonald claimed a dissolution; and the third general election in two years took place.

The Election of 1924.—The country was tried of these constant changes. Moreover, during the course of the election, a sensation was caused by the publication of a letter of instructions from the Bolshevik leader Zinovieff to his supporters in England. The result was that the Conservatives, though they obtained a minority of votes, won an overwhelming majority of seats (413). The Labour Party did not lose heavily, returing 151 members; but the Liberal Party, blamed on the one side for having put Labour into office, and on the other for having turned it out, was almost wiped out, returning only 40 members to Parliament.

5. The Baldwin Government and the "General Strike"

Trade Depression.—The new Government, secure in the control of both Houses of Parliament, had a clear field for the development

of its policy, and was assured of a full period of office. In the first session of Parliament it passed an important measure granting pensions to widows and orphans, and contributory old-age pensions at the age of sixty-five. But the main question by which it was faced was the problem of trade and employment. The unemployment figures still remained high, in spite of the fact that foreign currencies were now largely stabilised. No other country was suffering in the same way. It was becoming plain that something was seriously wrong with British trade. Exports, which are necessary to Britain's existence, had never risen, in any year since the War, to more than four-fifths of what they were before the War. The loss was mainly in the great staple trades—cotton, which had lost one-third of its export trade, woollen, iron and steel, shipbuilding, and, above all, coal, which had been the main foundation of British prosperity during the nineteenth century.

The Problem of Coal.—In the coal trade the situation was becoming increasingly serious : many mines were being closed down, the unemployment figures had reached appalling dimensions, and the rates of wages—fixed since 1921 on the basis of total earnings district by district—were in many cases too low to support life. The miners demanded redress. The Trades Union Congress took up their cause, and there was a threat of a general strike. A crisis was reached in the summer of 1925, when, to avoid a deadlock, Mr. Baldwin promised a subsidy on coal to give time for an inquiry. The subsidy cost £23,000,000 in nine months. During that period a Royal Commission, under Sir Herbert Samuel, investigated the situation in the coal trade, analysed the causes of its decline, and suggested a series of remedies, to be carried out partly by legislation and partly by agreement in the industry. Neither the miners nor the mine-owners would accept the scheme, and the Government refused to do anything unless they agreed. Eventually it passed an Act by which the working day was extended from seven to a possible eight hours ; but this was interpreted by the miners as a proof that the Government had taken sides against them.

The General Strike.—Once again the Executive of the Trades Union Congress took up the issue on behalf of the miners. After fevered discussions, it threatened to call a General Strike unless a solution satisfactory to the miners were found ; though it had no clear ideas as to what the solution should be, other than a renewal of the subsidy. The Government refused to yield to this threat , and on Monday, May 3rd, the long-threatened General Strike began. Strictly speaking, it was not a General Strike at all, for many trades were not called out. But the railways, tramways, and omnibuses, the electricians, the dock workers, and all the newspaper printers, in addition to the miners, stopped work with few exceptions The Government had, however, long since made preparations for carrying on necessay services in the event of such a stoppage ; tens of thousands of volunteers offered themselves for all sorts of work ; and although, for a few days, the normal life of the nation was very gravely impeded, the strike was a failure. After nine days the strike-leaders surrendered, and the strike was "called off," having

sorely depleted the resources of all the trade unions which took part in it, and seriously impeded the recovery of trade.

Continued Trade Distress.—The coal stoppage, however, continued for seven months. This brought to a stop many iron-works and other great productive concerns. Large quantities of coal had to be imported from abroad, at very high prices. In the end, the miners were completely defeated; their union funds were exhausted; the wage-levels which they had to accept remained terribly low; and some 200,000 of them (out of a total of 1,200,000) found that no work was obtainable. During the next two years the condition of the mining industry grew rapidly worse. In spite of low pay and increased hours, the majority of mines were run at a loss. The distress in the mining areas became intense, and the necessity of maintaining the families of so many unemployed workers raised the poor rates to unprecedented levels. Evidently the coal industry was in a very serious plight, and could no longer maintain the population which had hitherto subsisted upon it. Nor did the coal industry stand alone. All the major industries which had formed the strength of Britain during the nineteenth century were in a serious state of depression; and the figures for unemployment, after an improvement in 1927, became worse again in 1928. This distress was, however, mainly concentrated in the north and west, the home of the Industrial Revolution. In the south and east new trades—mainly luxury trades, depending chiefly on the home market—were enjoying a considerable degree of prosperity. The movement of the nineteenth century was being reversed, and wealth, industrial activity, and prosperity seemed to be drifting from the north to the south.

Rating Reform.—In the hope of giving relief to industry, the Government put forward a large scheme for transferring the major part of the burden of rates on productive industries to the Exchequer, at a cost to the taxpayer of over £30,000.000 per annum; and, in connection with this, they proposed far-reaching changes in the organisation and finance of local government. These proposals, which caused much controversy, were before the nation when the time came (1929) for a new general election. It was the first election decided by complete democracy, for in 1928 a fifth Reform Act was passed whereby the franchise was conferred upon women on the same terms as men. Thus the decision of momentous issues rested with the whole population of the nation over the age of twenty-one.

6. The Second Labour Government and the Financial Crisis

The Election of 1929.—The result of the election was that the Labour Party was for the first time returned as the largest single party in the House of Commons, and was therefore for the second time called upon to form a Government, with Mr. Ramsay MacDonald as Prime Minister. But it had not a clear majority; and the Liberal Party, though only fifty-one strong, held the balance. It was ready to give general support to the Government, if vigorous action was taken to deal with unemployment. This had become the supreme issue because the number of unemployed was rapidly increasing. But the Government could not agree upon any bold policy for

the relief of unemployment. During its two years of office, indeed, this government passed no measures of any importance, except an Act for reorganising the coal industry, which was very severely criticised. Its excuse was that it had not a clear majority, and that the economic situation was becoming more and more difficult.

The Financial Crisis.—This government had the misfortune to be involved in the world-wide economic crisis, which began in 1929. The rapid collapse of world trade caused a rapid increase of unemployment; and the cost of unemployment pay had to be met by borrowing. This was no new thing; the previous Government had done it. While in this way expenditure went up, revenue was going down. Exports were shrinking more rapidly than imports, shipping was doing badly, and the interest paid on foreign investments was declining: a fear grew that Britain was not paying her way, and that the "balance of trade" was becoming unfavourable. The Government seemed to be quite unconscious of these growing difficulties, until they came to a height in 1931. In that year the monthly trade returns seemed to show that the "balance of trade" was steadily becoming worse. In that year also a Committee which had been appointed to examine the national balance-sheet (of Government revenue and expenditure) presented a very alarming report, in which is showed that there would be an enormous deficit in the next year's budget unless drastic steps were taken to reduce expenditure. The suspicion grew in other countries that British credit was not safe. At this moment came the financial crisis in Germany, referred to above (p. 607). Very large amounts of British money had been lent, for short terms, to German concerns; but to save Germany from bankruptcy her creditors had to agree not to insist upon repayment being made when it was due, and this meant that great sums of British money were locked up in Germany. There were always very great amounts of foreign money deposited in London, because London was the centre of the world's financial system. When the owners of these funds realised that the British Government could not balance its budget, that British trade was seemingly not paying its way, and that these huge amounts of British money were locked up in Germany, they took panic and began to withdraw their money. They would not, of course, take British money in payment; they had to be repaid, either in the money of their own countries, or in gold, or in French or American money; for France and America had such immense stocks of gold that their money was supposed to be safe. An immense "run" on the Bank of England developed. The Bank's stock of gold would soon have been exhausted, and it would have had to refuse to pay in gold, and pay only in British money, the value of which would then have quickly declined. To prevent this, the Bank of England borrowed £50,000,000 from the French and American banks. But the drain continued, and this borrowed money would be exhausted in a few days. The French and American bankers were not prepared to lend any more unless they could be sure that British credit would be restored, and the budget balanced. In particular they objected to the practice of paying unemployment relief with borrowed money.

Fall of the Labour Government.—This critical situation, which developed very swiftly in August 1931, had to be dealt with by the Government. The heads of the Government called into consultation the leaders of the other parties, who insisted that, at whatever sacrifice, the budget must be balanced, and promised their support in carrying out whatever measures might be necessary. The Government, bewildered and unhappy, agreed to drastic economies; but, rather than agree to any reduction in unemployment pay, the majority resigned, and the second Labour Government came to an end. In the controversy which followed the Labour Party was blamed for having caused the crisis. This was grossly unjust. The Government had, indeed, failed to foresee it or to prepare for it, though it had been maturing throughout their period of office. But nobody else had foreseen it.

The First National Government.—To deal with this crisis, a National Government was formed, with Mr. Ramsay MacDonald as Prime Minister, and a small cabinet of ten members, drawn from the three parties. It was announced that this exceptional type of government had been formed purely to deal with an emergency, that it would be wound up as soon as the emergency had been met, and that it would not appeal to the country as a National Government. An Economy Act, which made sharp reductions in the pay of all Government employees, from the Prime Minister and the judges to the teachers, the police, the soldiers and sailors, and the unemployed, was rapidly passed, and heavy new taxes were imposed. On the strength of this the Bank of England got a further loan of £80,000,000.

Britain Driven off the Gold Standard.—But the drain on the Bank still continued. The £80,000,000 was soon exhausted; and, on September 20th, 1931, the Bank of England had to announce that it would no longer give gold in exchange for its notes. Britain had been driven off the gold standard. The most dreadful pictures had been drawn of what would follow if this should happen; but these gloomy anticipations were completely disappointed. The value of the pound sterling rapidly fell, in other countries, to the equivalent of 13*s*. or 14*s*. But prices at home were not affected. What the change meant was that, since British buyers had to pay £1 for 14*s*. worth of foreign goods, they bought less, and imports went down; but since foreign buyers got £1 worth of British goods for 14*s* of their money, they bought more, and exports went up. In this way the "balance of trade" would be automatically rectified. In other words, the harm done in fixing the value of the pound too high in 1925, which had seriously damaged British trade, was undone.

7. The Second National Government and its Work

The Election of 1931.—The First National Government was no sooner formed than there were loud demands, especially from Conservatives, for a General Election to test the feeling of the country. The election was held in October 1931. The Government put forward no definite policy, but asked for a "doctor's mandate"

to deal with the crisis as it thought fit; but most of the Conservative candidates strongly urged the need for a policy of protection, to shut out foreign goods. The election gave a majority to the Conservatives of 4 to 1 over all other parties. The Liberals, numbering 75, were divided into two almost equal sections, one favouring protection, the other opposed to it, but both supporting the Government. The Labour Party, owing to the working of the electoral system, obtained only 51 seats, and lost nearly all its leaders, though in proportion to its votes it ought to have had over 200 members. The Ministry was reconstructed, in order to give a preponderance to the Conservatives. But it was clear from the first that the main work of this Government would be the establishment of a system of protection, and the abandonment of free trade.

Britain Adopts Protection.—The full policy of protection was adopted in February 1932, when a general tariff of 10 per cent. was imposed on nearly all imports, and a small Tariff Commission was appointed with power to impose higher duties on specific commodities, subject to subsequent parliamentary sanction. The range of protection was further increased as a result of the Ottawa Conference. Later, in 1933 and 1934, a series of elaborate schemes for the revival of British agriculture were worked out. Tariffs could not be used for this purpose, because free admission had been promised for the products of the Dominions, the chief competitors of the British farmers. Three other methods were therefore employed. In some cases subsidies were granted to the farmers, at the expense of the tax-payer or the consumer. In other cases the amount of various commodities which might be imported from various countries was definitely restricted by edicts of the Government: this was the method of "Quotas." In yet other cases the prices at which farm produce might be sold were fixed by edict, and it was made a penal offence to sell them at a lower price; this was the method of controlled marketing. All this involved a high degree of government control. Its object was to guarantee to the farmer a higher price, but it also had the effect of reducing the amount of milk, bacon, etc., that the people bought; and neither the numbers nor the wages of agricultural workers showed any improvement.

Restoration of Credit.—The work of the National Government had the effect of restoring Britain's financial credit, once the budget was balanced. In 1932 a remarkable operation brought about the reduction of the rate of interest on £2,000,000,000 of War Loan from 5 per cent. to 3½ per cent., and this was followed by a general lowering of the rate of interest on borrowed money, to the great advantage of industry. Taken together, the departure from the gold standard and the reduction of the rate of interest might have been expected to bring about a revival of trade, quite apart from the effects of protection. In 1932, indeed, foreign trade and unemployment at home were worse than they had been, even in 1931; but in 1933 and 1934 there was some improvement, though the level of foreign trade was lower, and unemployment was higher, than before 1931. The improvement was general almost all over the world, and was due to the fact that prices were not going down as they

had been, and therefore people were not putting off buying in the hope of a lower price.

Foreign Affairs.—The National Government had to deal with very difficult problems in international affairs. It was at the beginning of its period of office that Japan defied the obligations she had undertaken, and that the Powers failed to take any effective action to check her aggression, with the consequence that the prestige and influence of the League of Nations gravely declined. During its period of office the Nazi Revolution took place in Germany, and Germany, like Japan, withdrew from the League and began to rearm. During its period of office the Disarmament Conference held three sessions, and failed to reach any agreement, though most of the Great Powers and all the lesser ones proclaimed their desire for advance in this direction. During its period of office the World Economic Conference was held in London, to consider what could be done to avert economic disaster. The Conference was faced with a warning from the world's experts that unless prices were steadied, monetary stability restored, and the obstacles to trade reduced, there might be a general economic collapse. But it disbanded without doing anything. The critics of the Government laid upon it a large part of the blame for these failures. History must judge as to the justice or injustice of this criticism.

Problems of the New Era.—This narrative has to break off at a critical point. But it is very plain, from what has been narrated in this and the preceding chapters, that in the years following the First World War the British peoples were called upon to decide questions of immense difficulty and importance; and that they had not yet found satisfactory answers for them. There was first of all the great issue of peace and war: the question whether any assured system of peace could be established which would give a security such as armaments seemed no longer able to provide. There was, secondly, the question of the future organisation of the British Empire: the question whether effective methods of common action in foreign policy and defence could be devised; the question whether workable systems of self-government could be wrought out suitable to the needs of vast oriental populations in India, Burma, Ceylon, and Egypt. There was, thirdly, the question of the future of British industry: the question whether the great staple industries could recover their old vigour; the question whether Britain should imitate the rest of the world in pursuing a policy of exclusion and economic nationalism, and whether in such circumstances she could maintain her crowded population; the question whether self-respecting means of livelihood could be found for a million and more idle workers. There was, fourthly, the question whether the great hopes of a finer social life which had been aroused after the War could be fulfilled—whether slums could be swept away, destitution abolished, and new opportunities opened to men and women of all classes—in the difficult circumstances of the new era. And behind all these, there was the question whether complete democracy, now for the first time fully established, would work well, would find solutions for these difficult problems, and would perform the functions by which alone democracy

can be justified—that of picking out the noblest men for the duties of leadership, and that of diffusing throughout the whole community a sense of common responsibility.

These momentous questions cannot be answered in a day or in a year. They will still be undecided when the boys and girls of to-day take up the duties of active citizenship. And upon the right decision of them depends the whole future of that ancient and revered nation, or family of nations, whose history we have been studying.

Supplementary Reading on Book X

A much fuller account of the events dealt with in this book is given in Book XII of *A Short History of the British Commonwealth*, and is also included in Muir's *Brief History of our Own Times*. J. A. Spender's *Short History of our Times* is also valuable. Of bigger books dealing with the War and its consequences there is no end: every leading statesman and soldier has published his account. The best short history of the war is by Liddell Hart. For post-war conditions and events see *The Political Consequences of the Great War*, and *The Economic Consequences of the Great War*, both included in the Home University Library. A new edition of Muir's *Expansion of Europe* deals fairly fully with the effects of the war in the non-European world.

EPILOGUE 1933-1939

I

The last edition of this book ended at a depressing moment. In 1933 the trade depression was at its worst : the World Economic Conference had failed to take any steps to relieve it ; the Disarmament Conference had broken down ; and Hitler and his Nazis had established their power in Germany. The New Order initiated in 1919 had evidently failed to bring either secure peace or prosperity to the World.

During the following six years the situation became steadily worse. It became more and more evident that a formidable challenge was being directed against democracy and all the liberties which it embodies. The reign of law, freedom of discussion, the control of peoples over their Governments, toleration of religious and political differences, the growing kindliness of man towards man, and the growing recognition of the rights and claims of the mass of working people--all these things, which had been the greatest achievements in the progress of civilisation during the modern age, were repudiated by the 'totalitarian' forms of despotic government which had already been established in Russia and in Italy, and which had now been established in Germany also. At the same time, the sanctity of treaties and agreements between nations, which is the only foundation of security in international relations, was cynically disregarded by the totalitarian States. If this ugly reaction towards mere barbarism were allowed to triumph, the essentials of a civilised way of life would be destroyed ; the slow advance of centuries would be undone ; and the world would relapse into the conditions of the jungle.

It was in Nazi Germany that this ugly reaction was seen at its worst : and this was the more serious because Germany is, and must be, the pivotal State of Europe. There is something in the character of the German people, as it has been moulded by history, which seems to make them peculiarly liable to be carried away by a strange ferocity, and to condone brutal and uncivilised conduct if it seems to bring them material success. To go on further back than the last forty years of the nineteenth century, Bismarck had created German unity by the methods of 'blood and iron,' and by waging three successive wars of naked aggression ; and the German people had eagerly acclaimed his success. In the Great War of 1914-1918, Imperial Germany had displayed a callous disregard of civilised usage which was with difficulty resisted by the more civilised peoples ; and the German people had accepted these methods without question. And now this worship of brute force, this unrestrained cruelty, this repudiation of all restraints in the imposition of their power, had once again taken control of the German people, in a more violent and dangerous form than ever,

so that it threatened not only the peace of the world but the very survival of civilisation.

The unflinching barbarity of the Nazi regime aroused the horror of the world even in its early manifestations within Germany itself. But the civilised peoples were very slow to realise the danger which this evil spirit threatened to themselves and to civilisation. Even in the democratic countries there were many who rejoiced to see the establishment of 'firm government' in a disordered country, and who strove to convince themselves that German Nazism would be a bulwark against what they regarded as the worse horror of Russian Bolshevism. Instead of checking the evil at the outset, as they might easily have done, they allowed it to grow; and, in their dread of being drawn into another war, looked on while Nazism won one easy triumph after another, and even helped it to win its successes. It was not until the insatiable ambitions of the ruthless masters of Germany were fully revealed in 1939, not until Germany had almost won the domination of Europe, that Britain and France realised the danger, and plucked up their courage to resist.

The rapid development of the German menace was the outstanding fact of the years from 1933 to 1939. Although many other great events were taking place in these years—in India, in Palestine, in China, as well as in the development of British social and political institutions at home—they were all dwarfed by this supreme menace. We make, therefore, no excuse for concentrating attention upon it.

Yet the statesmen of the world had little excuse for their blindness. Their own errors of policy had made the rise of Hitler possible. They ought to have realised that Germany had reached a stage in which she was ripe for revolution. Her government was discredited. She had 6,000,000 unemployed. Her middle class, the most stable element in the country, had been ruined by the great inflation. The young men of that class, hopeless about the future, were enrolling themselves in the Nazi gangs by thousands, and were ready for any violence. The great German industrialists, fearful of democracy, were ready to finance an attempt to overthrow it. And the German tradition favoured violence. All these factors provided materials for reckless fanaticism of Hitler.

What is more, Hitler himself had defined his ideas and aims, even before he came to power, with a fulness never paralleled by any revolutionary leader, in a book which became the Nazi Bible—*Mein Kampf*. Strangely enough, the statesmen of the democracies paid no attention to this illuminating revelation: perhaps they regarded it as the indiscretion of a politician out of power, which would be forgotten when he reached office. But even Hitler's first acts were so much in accord with the spirit of *Mein Kampf* that it ought to have been studied.

This book, the first part of which was written during Hitler's imprisonment after the humiliating failure of his first attempt to seize power in 1923, still forms the fullest exposition of the aims of the Nazi system. Hitler has been distinguished by his faithlessness

to all the most solemn pledges and undertakings he has given, for he regards such pledges as merely temporary devices to throw dust in the eyes of his intended victims. But he has never wavered in his adherence to the main ideas embodied in *Mein Kampf*. If we would understand the real nature of the crisis of civilisation into which we have been plunged, we must first attempt to grasp the governing ideas of the Nazi creed, as they have been expounded in *Mein Kampf*, and subsequently developed in action.

II

Hitler's dominating idea, the inspiration of all his thinking, was a belief in the purity and greatness of the German race, and in its divinely appointed destiny to rule the world. This was, of course, unscientific nonsense, for the German people, like all others, are of very mixed stock. But it was an idea which was readily welcomed among a people suffering from the humiliation of defeat. Hitler assured his hearers (and he was a demagogue of genius) that the German were invincible, and that their apparent defeat in 1918 had been due to treason from within ; Jews, Communists, Socialists, Liberals and other contemptible people had stabbed her in the back in the moment of her trial. If she was to regain her rightful position in the world, she must get rid of these dangerous elements without pity ; and trust, not to Leagues of Nations and other sentimental notions, but to her own strong right arm. Nor must any lesser race be allowed to stand in the way of the fulfilment of her destiny. Other races had no rights at all, if they impeded the victory of the Germans, who must harden their hearts and be merciless in dealing with them. The immediate need of the Germans was more *lebensraum*, living-space, which must be got at the expense of neighbouring but inferior peoples ; and no sentiment of pity must prevent their being cleared out to make room for the noble Germans.

The vast majority even of the Germans were, in Hitler's view, quite incapable of ruling themselves. They were mere sheep, whose minds were being poisoned by the ideas of democracy. They must be led, or driven, to the fulfilment of their destiny by a Fuhrer who could control not only their actions but their very thoughts ; and a lordly class of *Herren*, chosen without regard to descent or wealth, must be trained to be hard and merciless so that they might be fitting instruments for the Fuhrer's will, fitting masters for the sheep-like people.

To bring the people into the right attitude of submissiveness, all instruments were legitimate. The people must be preserved from the infection of other ideas by being shut off from every influence coming from the rest of the world ; their ears must be closed to the wireless news, and their eyes to the newspapers, of other countries. The whole of their own press must be turned into a mere echo of their Fuhrer's ideas.

No political writer has ever shown a more profound belief in the efficacy of propaganda than Hitler. The object of propaganda for him was, not to diffuse a knowledge of the truth, but to hammer

into men's minds by constant repetition (without any possibility of contradiction) the ideas which their Fuhrer wanted them to hold; and if lies served the purpose lies must be used—the bigger the lie, the more effective it might be, provided that it was unflaggingly asserted and no contradiction was permitted. In Goebbels Hitler found a very efficient instrument for the execution of this plan, which he cynically confesses in *Mein Kampf*. The greatness and prevailing power of truth is to Hitler as much a figment as justice, honour or faithfulness to obligations.

But propaganda, however skilful, was not enough: it had to be reinforced by terror. A gigantic force of secret police, the Gestapo, using the horrors of concentration camps, and backed by armies of young bravoes who had learnt to identify brutality with manliness, must bring the powerful influence of fear to work upon the minds of the people, to make them abject; children must be made to act as informers against their parents, so that all might learn to avoid even whispered criticism of their masters. In Himmler Hitler found a police chief more ingenious and more pitiless than Fouché, Napoleon's terrible secret service chief.

Finally the whole system of education, and the whole machinery of compulsory service not only in the army but in labour battalions and in other ways, must be employed to indoctrinate the whole nation, and especially its youth, with the same body of ideas. All must learn to think alike, to accept the duty of utter submission, to recognise that the individual has no rights at all against the State. The worship of the State has never been carried to so high a point as under the Nazi regime. And, since religion has always been the most potent influence against this kind of idolatry, both the Roman Cotholic aad the Protestant communions must be forced to make themselves the instruments of State-idolatry, or suffer persecution. There was even talk about the creation of a new nationalist religion, drawing its inspiration from the old pagan gods. Race-idolatry and State-idolatry must become the real religion of the Germans.

Thus tamed and enslaved, the great German people were to be turned into a mighty army, with all its powers and all its resources concentrated upon a single end, the subjugation first of Europe and ultimately of the world. It took some time to convert the German people to this point of view; but terrorism and propaganda, ruthlessly and scientifically directed, had an amazing effect; and every success that Hitler won increased his hold upon the minds and the imaginations of the subjects whose very souls he was poisoning.

It was difficult for the statesmen and peoples of civilised countries to believe that designs so vast, destructive and malign could be harboured by the rulers and people of a great country. It was all the more difficult because, from the moment of his advent to power, Hitler constantly posed as a lover of peace. The sincerity of this pose may be measured by his statement, in *Mein Kampf* that those who desire peace should strive for a German victory; for this means, if it means anything, that there would be no hope of peace until Germany had conquered the world.

Yet there is a sense in which Hitler did desire peace. He desired, and hoped, to win his victories without having to fight for them. This expectation, which was for several years amazingly fulfilled, was based upon a shrewd estimation of the European situation.

In the first place he saw that there were many small States in Europe—mostly neighbours of Germany—which were individually too weak to resist pressure from a great Power. In most of them there were groups of German-speaking citizens, who could be used to create disorders and represented as the victims of oppression. These small States, whose independence had been loyally respected during the nineteenth century (until Germany invaded Belgium in 1914), had hoped to be protected by the system of collective security envisaged by the League of Nations. Once they lost this hope, they could have no refuge but a declaration of neutrality, which could be as easily broken as the neutrality of Belgium The existence of these little States offered, indeed, a positive temptation to aggressors.

For dealing with small States Hitler worked out a skilful technique of treachery. First he would lull them into a false confidence by giving them the most positive assurances of his peaceful intentions, or even (as in the case of Poland) by signing a treaty of non-aggression for a long period of years. Then, at a convenient moment, he would stir up unrest among the German-speaking inhabitants of the doomed country, and let loose the controlled German press in a campaign of virulent abuse and protest against the imaginary oppression of Germans. Meanwhile he would have armies secretly mobilised ; and when the right moment came, without warning, but with loud assertions that his patience was exhausted, he would overrun the territory of his victim.

This method, he believed, would be successful, because he was convinced that the great democracies hated the idea of war, and were utterly decadent. Some of the dominant elements in them even sympathised with him. They would not attempt to fulfil their obligations under the Covenant of the League ; in any case, they would not be able to act in time ; and, when presented with an accomplished fact, they would submit to it with feeble protests. Every time this happened, the prestige of the democracies would decline, the small nations would be more unready to trust to their protection, and the power of Germany would grow, until finally no resistance would be possible. Maps were even allowed to be printed and circulated in Germany showing the dated stages in which Furope was to be conquered.

These Machiavellian plans were not, indeed, openly displayed in *Mein Kampf* They were revealed gradually in the course of events ; but they were entirely in accord with the programme of *Mein Kampf*. They won for Hitler a succession of easy triumphs, which secured the hold he had established over the German people by means of propaganda and terrorism He seems to have persuaded himself that victory would always be as easy, and was driven to paroxysms of fury when at length, in 1939, Britain and France resolved that a stand must be made, and showed themselves inflexible.

It is necessary to trace the stages in the growth of this ugly and threatening power, which menaced the survival of all the advances that civilisation had made during the modern age.

III

The accession of the Nazis to power at the beginning of 1933 was almost accidental. The influence of the party was rapidly declining in 1932, as was shown in the results of the elections in that year. The party was almost bankrupt, and a great deal of money was required to support the huge gangs of bravoes upon which its strength depended. The President of Republic, old Hindenburg, now almost senile, distrusted them. He was a Conservative Junker of the old school, who wanted to see the government of Germany in the hands of the Junkers. But the Conservative elements could not carry on, being in a small minority in the Reichstag. Their leader, von Papen, thought he could use the Nazis as tools; and, as Hitler would accept no office less than that of Chancellor, von Papen persuaded Hindenburg to confer that office upon him, surrounding him with a Cabinet in which the Conservative elements predominated.

Hitler had no intention of being a tool. He demanded a new election, in which all the resources of the Nazis and the terror of their gangs were to be used to secure a clear majority. In preparation for the election the Reichstag building was burnt down, and the blame was laid upon the Communists, who were the second largest party in the State. On this plea, all Communist members were excluded from the new Reichstag, and this ensured to the Nazis a fictitious majority. The majority was used to pass an Enabling Act, which empowered the Government to act upon its own authority, without consulting the Reichstag.

Thus entrenched in power, Hitler proceeded to employ the immense powers of a modern government with unflinching vigour. One by one all the other parties were forcibly dissolved, leaving the Nazis as the only legal party; and the Reichstag became a body of yes-men, summoned only to hear the dictates of their master. All the private armies which had been reducing Germany to chaos were suppressed—except the Nazi gangs, who became petty tyrants, carrying out the system of terrorism in every part of the country, without semblance of law. Huge concentration camps were constructed, in which Jews, Communists and all critics and opponents of the new regime were imprisoned, tortured, and often slain, without trial. The Reign of Terror had begun.

Even now, Hitler was not quite secure. Old Hindenburg was still President, and had to be consulted The Conservatives, who had fondly hoped that Hitler would be their tool, were restless and discontented. Even in the Nazi Party itself there was a strong opposition element, headed by Ernst Roehm, Hitler's earliest friend, and the chief organiser of his gangs, and Gregor Strasser, who had been thought of as Chancellor. In 1934, Hitler overcame these limitations upon his absolutism. Hindenburg died, and Hitler had himself elected as his successor, combining the offices of President

and Chancellor ; but he preferred to be known as the Fuhrer or Leader. The other obstacles he got rid of by wholesale murders, in June, 1934 ; the hundreds of victims included some of his earliest friends, as well as some of the Conservative leaders, such as Schleicher, who had been Chancellor. All the leading personalities who could do so escaped from the country ; and the possible leaders of an opposition, the possible organisers of an alternative government, were now either dead, or in exile, or undergoing the tortures of a concentration camp.

The German people found themselves the subjects of an unlimited and ruthless despotism, the vilest that had ever existed in any European country Many of them submitted willingly, especially as they were not allowed to know that went on in the concentration camps. Many others, perhaps a majority until they were dazzled by Hitler's brilliant successes in the realm of foreign conquest, waited for an opportunity of revolt. But revolt is not easy against the power that controls the machine-guns, and the system of terror was extremely efficient. The Trade Unions were suppressed, and all workers were brought under severe discipline. The Clergy were whipped into submission, with a few exceptions such as Pastor Niemollor on the Protestant side, and some of the more courageous Catholic leaders like Cardinal Faulhaber. Every element of opposition was forcibly subdued ; and when the German people were called upon to cast their votes for the election of a Reichstag or in a plebiscite, they gave nearly a hundred per cent of their votes in support of the regime : it demanded heroism to give a negative vote under the eyes of the Gestapo. Hitler was able to demonstrate to the world that he had the whole German nation behind him—or under his heel.

IV

Meanwhile Hitler had begun to demonstrate his daring plans for the restoration of German strength, and this (together with the discipline of the schools) won for him the almost idolatrous devotion of youth. With a contemptuous gesture, he withdrew from the League of Nations. Defying the Treaty of Versailles, which he lost no opportunity of denouncing, he re-established universal compulsory military service, which won for him the support of the army chiefs, and set on foot gigantic schemes of rearmament ; even earlier he had begun the creation of a colossal air-force, which was calculated to give pause to any powers that objected to his proceedings. Rearmament, combined with vast road-making schemes and other public works, brought unemployment to an end, and reconciled many of the workers to the loss of their liberties and the reduction of their standards of living. Complaints about the shortage of foodstuffs were met by the assertion that 'guns are more important than butter.' The German people were being disciplined to endure hardship, and to throw all their strength into preparation for the far-reaching plans of conquest which Hitler envisaged.

Hitlers' first objective was the incorporation of Austria in the German Reich. A few years earlier Austria might have welcomed an economic, though scarcely a political, union ; but the spectacle

of the Nazi tyranny was deterrent, and, on a free vote, a majority of the Austrians (especially the very numerous Jews) would have rejected union with Germany. The Austrian Chancellor, Dollfuss, strongly took this line, and made friends with Fascist Italy, which had no desire to have Germany as its immediate neighbour. Unhappily Dollfuss engaged in a fierce struggle with the Austrian Socialists, who were as much opposed to Nazism as Dollfuss himself; and the forces of resistance were divided. There was a small but noisy Nazi party in Austria. It was encouraged from Germany to create disorder; and finally attempted to seize the Government, and murdered Dollfuss (1934). At once Italian troops were massed on the Austrian frontier; and as the new German army was only in process of formation, and as yet unable to face a srtuggle with a first-class power, Hitler disowned the assassins, whom he later acclaimed as heroes and martyrs. For the moment Austria was safe; Hitler's first enterprise had failed.

V

But now a new distraction changed the European situation. In 1935 Mussolini, eager for the glory which would reconcile his subjects to the loss of their liberty, undertook the conquest of Abyssinia. This was a highly dishonourable enterprise, for Italy had sponsored the introduction of Abyssinia into the League of Nations, had concluded a treaty of arbitration with her, and had no real ground of complaint against her. It was also a very risky enterprise, for it involved the locking up of Italian armies in the Red Sea, where it would be very difficult to supply them, and where they could easily be cut off.

This was a supreme test of the efficacy of the League of Nations. If Italy had been warned beforehand that the machinery of the League would be brought into operation, and in particular that Britain and her navy would play their part, it is probable that she would have abandoned her scheme. She had doubtless calculated that Britain and France, who wanted her support against Germany, would not interfere.

But when the campaign was about to begin, and it was too late for Mussolini to withdraw without a ruinous loss of prestige, the League of Nations, led by Britain, resolved to take action against Italy. The decision was received with enthusiasm, and fifty nations agreed to join in imposing "economic sanctions" against the aggressor. Nowhere was the enthusiasm greater than in Britain, where belief in the League of Nations was stronger than in any other country. The Government made use of this enthusiasm to precipitate a General Election, in which they obtained a hu[illegible] majority for the policy of upholding the League, and for rearma[illegible] to make this policy effective.

Within a month of the election, the British and French [illegible] secretaries were planning to buy off Mussolini with half of A[illegible] There was an outcry, and the British foreign minister ha[illegible] But this projected betrayal had killed enthusiasm. Th[illegible]

'sanction' which might have ensured the defeat of Italy. If she had been deprived of oil, she could not have used fully the aeroplanes and tanks with which she overwhelmed the almost unarmed Abyssinians. But this 'sanction' was not imposed, because Britain and France did not want to press Mussolini too hard. It was largely with oil supplied by British concerns that Abyssinia was overrun—though not subjugated.

In a few months, the League, once again led by Britain, acknowledged defeat and withdrew the sanctions. As a means of preventing aggression, the League seemed to be impotent. Mussolini trumpeted his triumph. He had learnt to despise Britain and France. He turned towards Germany, and the anti-German combination, for whose sake the League had been sacrificed, was broken up. These were the results of vacillating policy.

VI

Meanwhile Hitler had taken advantage of the opportunity afforded by the Abyssinian controversy. Under the Treaty of Versailles, the German Rhineland had been 'demilitarised,' that is to say, the Germans had been forbidden to raise fortifications or maintain troops in that region, as a safeguard against a new German attack upon France. This provision had been confirmed, and voluntarily accepted by Germany, in the Locarno Treaties; and Hitler had spontaneously given a pledge that he would observe the Locarno Treaties 'with his whole heart.' This was an example of his technique of giving pledges in order to throw dust in the eyes of his opponents.

He now resolved upon a sudden military occupation of the Rhineland. The German generals warned him that this would be very dangerous. The new German army was not ready, and (it was estimated) would not be ready until 1940; it was short of officers, arms and munitions; and if Britain and France, or even France alone, should move, resistance would be impossible. Trusting to the reluctance of the democracies to engage in war, Hitler nevertheless took the risk of sending his ill-equipped armies into the Rhineland.

France and Britain took no action, save verbal protests against the one-sided repudiation of a solemn treaty. If they had acted, it is probable that the Hitler régime would have collapsed; for propaganda and terrorism had not yet done their work in Germany, and there were powerful elements of opposition. It was this first bloodless victory which later made it possible for Hitler to construct the Siegfried Line, to keep the western powers at bay while he worked his will in the East.

VII

An opportunity soon arrived to test the new friendship between Germany and Italy. Early in 1936 a general election in Spain gave power to a left-wing Government. The Liberals were the largest

element among the supporters of the Government; there was also a substantial element of Socialists, and a handful of Communists. At first a coalition, the Government soon became Liberal. It was merely absurd to represent this regime as Communist or Bolshevik. Spain had suffered for a century from the oppressions of a reactionary landowning class, and an over-powerful obscurantist Church, which controlled the educational system. The new Government set to work to turn Spain into a modern, efficient democracy. But the old ruling class, and the army whose officers belonged to that class, broke into revolt, with the secret encouragement of Germany and Italy, and set up a dictatorial government. A civil war, marked by ferocity on both sides, began; but the rebels did not win the early success that was anticipated.

Britain and France, acting together, urged that all the powers should agree upon a policy of non-intervention, and leave the Spaniards to settle their own concerns. Both Germany and Italy joined in this agreement. But while France and Britain refused to sell arms to either side (though the Spanish Government was entitled under international law to buy arms for its own defence), Italy and Germany from the first flouted the non-intervention agreement, and poured tanks and aeroplanes and technicians and even divisions of regular troops into Spain to help the rebels. The justification which they gave for this action was that they were fighting against Bolshevism. But their real aim was to extend the system of dictatorship, and, in preparation for a coming war against the democracies, to ensure that Spain, under a friendly government, should be in a position to close the Mediterranean to British and French ships, and to cut the communications between Britain and France and their oversea-empires.

Britain and France, in face of this brazen violation of the non-intervention agreement, might justly have repudiated the agreement, and, without sending troops to the aid of the Spanish Government, might have sold it the munitions which it despartely needed. If they had done so, the Spanish Government might very well have been victorious. But the British and French governments were so terrified of being drawn into war that they pretended to be unaware of what was happening, and even looked on idly while British ships, carrying not munitions but food to Spain, were bombed and sunk by Italian aeroplanes. The only power which sent any effectual aid to Spain was Russia; and even this help came to an end when the Spanish Government made it clear that it did not intend to pursue a Communist policy.

The British Government had come to the conclusion that the best way of averting a general war was to "appease" the dictators; and the policy of "appeasement" apparently required that they should be left free to work their will in Spain. So, after more than two years of desperate fighting, the Spanish Government was overwhelmed; and Spain fell under the rule of a dictatorship, closely linked to Italy and Germany.

VIII

Italy had played the chief part in the conquest of Spain. Germany had meanwhile been otherwise occupied. For, now that Italy was his friend, there was no reason why Hitler should not proceed with his interrupted designs against Austria. He pursued with great success the technique he had already worked out. He gave solemn pledges to respect the independence of Austria. He encouraged the Austrian Nazies to create disturbances, which made peaceful government very difficult. He demanded that the Austrian Chancellor, Schuschnigg, who had succeeded Dollfuss, should admit Nazies to key-positions in his Government, as a means of cultivating friendly relations; these men were in constant communication with Hitler. The German Press was used to suggest that the Austrian Nazis were being cruelly oppressed. Then Schuschnigg was persuaded to visit Hitler in his mountain fastness at Berchtesgaden, in order to talk things over in a friendly way. Hitler raved and stormed at him until the unhappy man completely lost his nerve; realising that the destruction of Austria was planned, and that no help could be expected from Italy. In order to show that the Austrian people did not wish to be absorbed in Germany, Schuschnigg announced a plebiscite. At once orders came from Hitler that the plebiscite must be abandoned, and threats that there would be an immediate invasion unless Schuschnigg resigned.

Meanwhile German troops, tanks and aeroplanes had been massed on the Austrian frontiers, and Italy had been persuaded to abandon her opposition. Once more the German generals protested that this was a very dangerous adventure, since France and Britain would certainly resist. But Hitler had taken the measure of the French and British Governments, both in the Rhineland and in Spain. He persisted in his course; the armies poured in (March 1938) under skies black with aeroplanes; resistance would have been futile and Austria was annexed to Germany. The armies were followed by the secret police, and by hordes of Nazi gangsters; the reign of terror was established in Austria in an even more horrible form than in Germany; and the numerous Jews of Vienna were subjected to nameless cruelties and humiliations. France and Britain, as before, contented themselves with verbal protests. This was Hitler's first important addition to the territory of Germany, and his second bloodless victory. The ease with which it was achieved greatly strengthened his hold upon the German people, who began to think that their Fuhrer was always right.

IX

The conquest of Austria exposed Czechoslovakia to attack, and Czechoslovakia was Hitler's next objective: it was now surrounded by Germany on three sides. But Czechoslovakia looked like being a much harder nut to crack than Austria. It had an admirable army, and some of the finest munition factories in Europe. It had a superb defensive frontier in the mountains of Bohemia, which had been elaborately fortified. This mountain-frontier was what Hitler especially coveted; for it was not only the defence of Czechoslovakia,

but the principal barrier in the way of a German advance into south-eastern Europe, which Hitler intended to dominate. Czechoslovakia also had defensive alliances with both France and Russia; an attack upon it might involve Hitler in war on both his eastern and his western fronts, which he was determined to avoid.

Another reason why Hitler desired to overthrow Czechoslovakia was that it was a highly successful democracy, the only true democracy east of the Rhine; and had become a place of refuge for fugitives from Germany. Like the other States of South-eastern Europe, it was inhabited by mixed races, whom it was striving to weld into a single State by the methods of democratic freedom rather than by those of oppression. The most important of the minority peoples were the so-called 'Sudeten Germans'—German-speaking people of mixed race, who dwelt mainly along the mountain frontiers of Bohemia They had never been German subjects, but had dwelt alongside of the Czechs for a thousand years. During the three centuries when Austria dominated the Czechs, they had been the instruments of Austrian supremacy, and they resented their subordination when the Czechs won their freedom in 1919. Perhaps the Czechs might have treated them more generously. But they had complete freedom of speech and of the press; they controlled the government of their own towns; they had schools in which their children were taught in their own language; and they were fully represented in the Czechoslovak parliament. In short, they were far better off than the Germans over the border, and there is no evidence that they had any wish to be incorporated in Germany, though they would have liked to have been associated with Austria.

Hitler's plan for mastering Czechoslovakia was to stir up the 'Sudeten Germans', and to represent them as cruelly oppressed. He could not attack the fortified frontier without having to face very heavy losses, which might alienate the German people; and he could not face also a war with France and Russia if these countries were true to their alliances. But he still believed that the democracies would go to any lengths to avoid war, and he knew that Russia, for geographical reasons, would find it difficult to give direct help to Czechoslovakia.

There were, of course, among the Sudeten Germans, excitable young bravoes who were captivated by the idea of being citizens of a conquering Germany, and they, supported by imported agitators from Germany, could be used to stir up trouble. But the majority of the Sudetens were so far from desiring to be subjects of Nazi Germany that Hitler's own agent, Henlein, in order to keep his hold over them, had to make speeches asserting their loyalty to the democracy of Czechoslovakia. Nevertheless the controlled German press was unleashed in a campaign of virulent abuse of the Czechoslovak Government, and unfounded assertions about the oppression from which the Sudeten Germans were alleged to be suffering.

In May, 1938, only three months after the subjugation of Austria, Hitler evidently thought that it was worth while to make an attempt. Huge forces were massed on the Czechoslovak borders.

But the Czechs were prompt to mobilise their forces and to man their defences. France, Britain and Russia all made strong representations, and it was evident that Italy was unlikely to join in the fray on Germany's side.

Hitler therefore recoiled for the moment. He hurriedly began to construct fortified lines on his western front, in case France should be true to her obligations. But he still went on with his plan.

If Britain and France had realised the gravity of the issue, and had resolved to resist this iniquitous attack, they could probably, in conjunction with Russia, have built up a formidable combination of the Balkan powers and Poland, which knew very well that if Czechoslovakia fell their turn would come next. The result might have been that the war against Germany would have been precipitated a year earlier; but it would have been fought in far more favourable conditions than in 1939, with the Siegfried line still only in embryo, with the fine army and fortifications of Czechoslovakia enlisted on the Allied side, and perhaps with the aid of other States including Russia. But they made no attempt to build up such a combination. They trusted rather to 'appeasement,' and strove to persuade themselves that Sudetenland really ought to be German territory.

Hitler mouthed threats, and seemed to be ready to face a general war. Whether he would have done so in fact is, and must remain, uncertain. But the democracies trembled at the thought, and strove, through Lord Runciman who had been sent to Czechoslovakia as a pacificator, to persuade the Czechoslovak Government to make concessions. They made concession after consession; every concession was followed by new demands, and meanwhile the German press rose to hysteria in its dictated denunciations. Hitler was convinced that his opponents were on the run.

Finally Hitler made it known that if his demands were not conceded before the end of September, he would attack, his patience being exhausted Thereupon the British Prime Minister flew to Berchtesgaden to interview the tyrant. He returned with a demand that Sudetenland should be ceded by Czechoslovakia to Germany. The British and French leaders met, and agreed that Czechoslovakia must give way, in order to preserve the peace of Europe. At a terrible midnight interview, the British and French ambassadors in Prague insisted that Czechoslovakia must yield up her fortified frontiers, and leave herself defenceless at the mercy of Germany—making it clear that, unless she did so, she would get no help from the democratic powers; but that if she yielded, her remaining territories would be guaranteed. Czechoslovakia mournfully yielded.

Armed with this surrender, the British Prime Minister flew again to meet the tyrant, this time at Godesberg. He found that Hitler's demands had risen again, and was presented with a map showing the new demands, which included a good deal of pure Czech territory. These claims were so outrageous that even the chief

apostle of appeasement could not accept them. War was very near, a war which would probably engulf the whole of Europe. But Hitler seems to have thought that he had carried his bluff too far. At the last moment it was announced that, on the mediation of his friend Mussolini, Hitler had agreed to yet another conference, in which the Prime Ministers of Britain and France should meet the Dictators of Germany and Italy

The Conference was held at Munich. The Czechs, whose very existence was at stake, were not allowed to be present. Russia also was pointedly excluded. Under the guidance of her foreign minister, Litvinoff, she had for some years been making advances to the democracies. She had joined the League of Nations; she had made a defensive alliance with France; she had framed a democratic-seeming constitution, though it did not seriously qualify the power of her dictator, Stalin; and, both in the previous May and in the immediate crisis, she had shown readiness to join in the defence of Czechoslovakia. Now she was offered the cold shoulder; and she did not forget.

The Munich Conference came to an agreement which very closely resembled the unacceptable terms offered at Godesberg It was agreed that a Commission of the four powers should settle all doubtful points; it settled them all in favour of Germany. The powers agreed to guarantee the independence of what remained of the Czechoslovak State. Hitler and the British Prime Minister signed a paper in which they promised future friendly relations. The British Prime Minister flew back to London, and, waving Hitler's worthless 'scrap of paper' in the air, proudly proclaimed that he had secured 'peace for our time.'

Hitler had won another bloodless victory; a victory so great that it almost made him the master of Europe. His belief seemed to be justified that the Western democracies would stand anything rather than go to war. This dazzling success, in which the democracies, instead of opposing him, had actually made his path to victory easy, reduced to silence the grumblings and questions of the German people, and convinced them that their Fuhrer was infallible.

X

The peace for which so terrible a price had been paid did not last long. Less than six months after its conclusion, Hitler's armies marched into defenceless Czechoslovakia, whose independence he and the democracies had guaranteed, and declared it a protectorate of Germany. The democracies did not even think of trying to fulfil their guarantee. The familiar system of terrorism and concentration camps, the familiar régime of the Gestapo, or secret police, and of the Nazi gangs of bullies, was instituted; and the country was plundered of all its removable resources.

A little later Hitler occupied the territory of Memel, which had been given to Lithuania by the Treaty of Versailles; while Mussolini,

who felt that he was not getting a fair share of the plunder, invaded and occupied the little State of Albania, from which he could threaten both Greece and Yugoslavia.

These events at last opened the eyes of Britain and France. They had tolerated Hitler's breaches of good faith, so long as they were directed against little States But now there was a shameless breach of solemn engagements with *them*. They had persuaded themselves that Hitler aimed only at the inclusion within his *Reich* of purely German territories, and on this assumption it was possible to argue that the annexation of Austria and Sudetenland was defensible. Hitler had, indeed, proclaimed that he did not want foreigners, and Czechs in particular, in his *Reich*. The conquest of defenceless Czechoslovakia—which France and Britain had persuaded to strip herself of her defences—proved that Hitler's word could never be relied upon, and that the talk about not wishing to include foreigners was no more than a pretence.

They realised, now, the full horror of the régime of merciless persecution which they had helped to bring upon the Czechs, and which they had done nothing to prevent in Austria. They perceived, at last, that the ambitions of this brutal tyrant were unlimited; that he aimed at nothing less than the conquest of Europe, which (with their connivence) he had come near to achieving, and ultimately at the domination of the world. They saw that the very foundations of western civilisation were imperilled—good faith among nations, the rule of law, the rights of the individual, freedom of speech and of the press—indeed all the liberties which Europe had slowly attained through centuries of struggle. They realised that if the career of conquest of this pitiless tyrant could not be checked, all Europe would be subject to a reign of terror and injustice such as history had never seen. They saw, at last, that every concession to Hitler had added to his strength, and weakened the prestige and the power of the democracies. Tardily, but perhaps not too late, they determined to resist, and to bring to an end this nightmare of horror.

They set to work to re-create the system of collective security which had been destroyed in 1935; and to form a combination of States that would be able to check the ambitions of Germany. But it was too late. The nations had lost confidence in the steadfastness of the great democracies. Poland, indeed, gladly accepted a defensive alliance with Britain and France, because she knew that she was the next indicated victim, and had no confidence in the treaty of non-aggression for ten years which Hitler had concluded with her in 1934. Turkey also—far from the probable scene of strife—accepted a defensive alliance, with the condition that she should not be involved in war with Russia. Greece and Rumania were willing to accept guarantees, but not to assume any definite obligations on their own parts. They, and other nations, were by this time all trembling before the ruthless might of Germany, now almost at the peak of her reorganised military strength If Czechoslovakia had been still erect, these States might have been ready

to unit behind her fortified barrier ; but Czechoslovakia was ruined.

Most important of all, Russia appeared strangely reluctant to make any close agreement. She remembered how she had been cold-shouldered at (and before) Munich. She feared that the Western Powers meant to involve her in war with Germany, and then leave her in the lurch. Britain and France engaged in long negotiations with her. She made all sorts of difficulties. Meanwhile Litvinoff, the advocate of friendship with the democracies, had been ousted from the Foreign Secretaryship.

Suddenly, when it was already clear that Germany was about to attack Poland, the staggering announcement was made that Germany and Russia had concluded a non-aggression agreement, which meant that Russia would not go to the aid of Poland. How much more it meant, the course of events alone could reveal.

XI

Safe from attack on his eastern front, Hitler felt that he could now carry out with impunity his onslaught upon Poland, for which he had made the usual preparations with a lying campaign about the oppression of Germans in Poland. The doomed country had no strong lines of defence. Attacked suddenly by masses of aeroplanes, which destroyed its railway junctions, and by immense numbers of tanks, the Poles were rapidly forced back to the line of the Vistula, where they could have held out. But at this moment large Russian forces invaded in their rear, and overran the eastern part of the country. The position was hopeless, and Poland succumbed. Germany and Russia divided her whole territory between them ; and a reign of terror began which outdid all the horrors of Austria and Czechoslovakia Poland was "crucified between two thieves."

It was on September 1, 1939, that the German attack upon Poland began. On September 3rd Britain and France declared war upon Germany, and the Second German war began. But they could do nothing to help Poland, whose downfall was ensured before the end of the month. The French, indeed, started an attack upon the outposts of the German Siegfried line, but this did nothing to check the murderous advance of Germany in Poland. The British and French navies at once instituted a close blockade of Germany ; but this could only have a gradual effect. Once again Hitler had won an easy victory, and the Allies had done nothing to stop him. The remaining small powers, in the Danube valley and in Scandinavia, trembled more than ever, and clung to the frail defence of neutrality.

Hitler hoped that, as before, the Allies would accept the accomplished fact, and would recognise that they could do nothing to rescue either Poland or Czechoslovakia. In October he made an insolent offer of peace, on the basis of his retaining all his conquests. But the eyes of Britain and France were at last open. They saw that peace with this merciless and treacherous tyrant would be no more than a truce ; and that the survival of freedom in Europe was at stake. The proffered peace terms were rejected ; and it was

plainly declared that no peace was possible so long as the Nazi régime continued in Germany. Hitler was forced to realise that he was committed to a struggle of life and death.

XII

He realised also that his cynical pact with Russia had weakened his position. For six years he had been declaring his fundamental antipathy to Bolshevism ; he had even said, in *Mein Kampf*, that any agreement between Germany and Russia would spell the ruin of Germany. It was on this basis that he had concluded his alliance with Italy, with the recently established dictatorship in Spain, and with Japan. All these States, on whose aid he had counted when the conflict with the western democracies began, were outraged by his sudden *volte face*. The Pope, also, was indignant not only with the Bolshevik agreement, but even more with the cruel treatment of the Catholics of Poland ; and this fortified Mussolini's attitude. Italy remained, not neutral, for she maintained her friendship with Germany, but 'non-belligerent'—watchful to guard against any Russo-German attack upon the Balkans ; and Spain took the same line. Hitler, therefore, was isolated, having no friend but Russia, which deeply distrusted him.

The price which Germany had paid for Russia's attitude was soon revealed. The little Baltic States, Estonia, Latvia and Lithuania, whose upper classes were largely German, were compelled to submit to a sort of vassalage to Russia, and Hitler undertook to remove all the Germans, who had been settled in these countries for centuries, to new homes in Poland.

Then Russia made intolerable demands on Finland. The Finns resisted : they were the first of the small nations, except Poland, to offer resistance to the dictators. With an utter disregard for every obligation, Russia proceeded to attack Finland, expecting as easy a victory as Germany had obtained in Poland. But the Finns, though vastly outnumbered, and ill-equipped with the munitions of war, held out with such heroism that, if they had received adequate help, they might have driven back the invaders. The League of Nations called upon all its members to help her, and some of them did so. But Sweden and Norway, her natural helpers, were so terrified by the prospect of German intervention, that they not only gave no effective aid, but refused permission to Britain and France to send troops (as they were ready to do) to the aid of Finland, across their territory, which was the only possible means of access. After three months' heroic resistance, the Finns were compelled to accept hard terms of peace.

This was the fourth small state to succumb to the attacks of the dictators, without receiving any effective aid from Britain and France, the champions of liberty in Europe.

Thus began a conflict of momentous importance for the fortunes of the civilised world. The successes of Hitler had been so unbroken, his power seemed so irresistible, especially now that he had the backing of Russia, that all the lesser States of Europe trembled

before him, while his own people were held in abject submission by terror and by the unending iteration of his lying propaganda. With the exception of Turkey, and the peoples of south-western Asia, the western world lay numb before him, and dared do nothing to offend him—dared do nothing except make feeble protests when his submarines sank their ships and murdered their sailors. So completely had the scheme of collective security broken down that Britain and France were left alone to resist him. This was the consequence of their failure to check the growth of this dreadful power when it was still possible.

XIII

Outside Europe, the opinion of the whole civilised world was almost unanimous in condemnation of Hitler's methods, and of the dreadful cruelties perpetrated under his régime. In the United States, where the tardiness of Britain and France in taking arms against his tyranny had been vigorously condemned, there was an almost universal belief that, unless Hitlerism could be destroyed, the outlook for the whole world was grim indeed, and a universal hope that the Allies would be victorious. But America did not feel that she had any share of responsibility for the salvaging of civilisation. She had intervened in the previous war, and in the framing of the settlement which ended it. The results had been unsatisfactory, and she had not been repaid the moneys she had expended. Safe beyond the Atlantic, she was determined not to be again involved in a European war. She preserved a strict neutrality, an anxious impartiality between what most of her citizens believed to be right and what they believed to be wrong. At first she even forbade the sale of warlike supplies to any of the belligerents ; but this was modified by the permission to sell supplies to any power which paid for them "on the nail," and took them away in their own ships—no American ships were to be allowed to enter the war-zone lest they should become victims. An attempt was made to extend the limit of territorial waters round the American coasts from three miles to three hundred miles. This one-sided alteration in international law could not, however, be upheld.

XIV

There was a marked contrast between the attitude of the United States, and the attitude of the British Dominions. They were as far removed from the scene of strife as the United States, and, under the Statute of Westminster, they were free to stand aloof if they chose to do so. But, unlike the United States, they realised from the first the magnitude and the world-wide significance of the issues of this war. In South Africa, indeed, the Prime Minister, General Hertzog, was in favour of a declaration of neutrality, but he was defeated in the Parliament that had been elected to support him ; and, under his successor, General Smuts, South Africa threw herself into the war on the side of the Allies. Without any shadow

of hesitation, Canada, Australia and New Zealand had already adopted the same course; armies were raised and transported either to France or to Egypt, Palestine, and other parts of south-western Asia, to which it was expected that the war might extend. The only Dominion which stood aloof was Eire (Irish Free State), which refused to make friends with Britain until Northern Ireland should have been forced to accept a union with Eire, which she disliked as much as Eire disliked union with Britain.

The dependent colonies were as loyal, as they had been in the last war: they had reason to dread the German menace, for they knew how Germany had treated her colonies when she possessed them; they knew also the attitude of the Nazis towards the rights of what they regarded as inferior races—the Negroe, said Hitler in *Mein Kampf*, was a sort of ape; they knew the spirit in which the Nazis treated peoples who had the misfortune to fall under their dominion.

The most remarkable result of the declaration of war was its effect in Palestine. That country had been kept in turmoil for years by strife between the Jews, who had been brought in to help in building up a Jewish National Home, and the Arab population, which had resented the coming of the Jews, even though they brought a new prosperity to the country. There had been a state of guerilla war in Palestine for two years or more before the outbreak of the European war. But the moment war began, these troubles ceased: and soon mixed forces, in which Jews and Arabs were enrolled and trained side by side, were being raised. It is not impossible that their common effort in the defence of liberty may lead to better relations between the two peoples, and the war in Europe may bring peace in Palestine.

It was not surprising that the Jews should be fiercely anti-German, in view of the way in which their race-fellows had been treated in Germany itself, and in all the German conquests. The readiness of the Arabs to throw themselves into the struggle was more remarkable. But it extended over the whole Moslem world, to Syria, to Iraq, to Egypt. The Arabs knew that they could expect from Britain and France far juster treatment than Nazi Germany would ever give them. One of Dr. Goebbels' favourite propaganda subjects, the supposed tyranny exercised by Britain over the Arabs, was taken out of his mouth.

XV

The only part of the British Empire in which there was any hesitation about supporting the allied cause was India, and here the hesitation was due, not to any sympathy with Nazi Germany, but to the eagerness of the Indian Nationalist party to use the opportunity to force Britain to consent to the concession either of complete independence, or of that qualified form of independence which is called Dominion Status.

Since the India Act of 1935, full powers of self-government have

been enjoyed by representative bodies (elected on a very narrow franchise) in eleven Indian provinces. In eight of these provinces governments had been formed by members of the 'Congress Party', who accept the policy laid down by the Indian National Congress. The Indian National Congress cannot be said to represent the peoples of India. It represents mainly the educated classes of the upper Hindu castes. Its aim is to secure for India complete independence, or, at the least, Dominion Status, under a system which would give a large majority to the Hindus, who under the caste system are dominated by the upper castes. But most of the Mohammedans, though they want independence, will not accept the Congress System. They have even proposed that an independent Moslem State should be made out of the provinces in which they have a majority. The Depressed Classes, who form a very large element of the population and are just beginning to be vocal, do not want the Congress system. The warlike races, from whom the army is recruited, are inclined to look down upon the Congressmen. And the Indian Princes, whose position depends upon their treaties with the British Crown, distrust and fear Congress domination

The British Government has declared, through the Viceroy, that it is prepared to agree to Dominion Status (which would practically mean British withdrawal from India); but not until the various sections of Indian opinion have agreed as to the way in which it should be organised In the absence of such an agreement, the result might be chaos in India.

Many foreigners, in neutral countries, are inclined to think that Britain is behaving in a high-handed way; and that the denial of Dominion Status stultifies Britain's claim to be defending the democratic ideal. They seldom understand the complexity of the subject, and the difficulty of establishing a complete system of democratic self-government in India.

India is a country as big as all Europe, leaving out Russia, and its inhabitants form about one-sixth of the total population of the world. Democracy has never been attempted on any such scale, except in China, where its theoretical establishment produced chaos.

This vast land is inhabited by an extraordinary variety of races, from the most primitive to the most advanced; and, while in other countries the mixed races of which all nations are formed have more or less completely blended, in India the races remain distinct, kept apart by the institution of caste. Twice as many languages are spoken in India as in the whole of Europe, and they have no common medium of communication, except English, which is spoken by the small educated classes, whom it enables to act together. Differences of language have always been an obstacle to unity.

Differences of religion are still more serious They go far deeper than the distinctions between Christian sects which have often stood in the way of unity in European countries. Disregarding the minor religions (which are numerous and sharply differentiated), the conflict between the two main religions, Hinduism and

Mohammedanism, is sharper than between any other religions the world. Mohammedanism is strictly monotheist, and abh images and idols ; Hinduism recognises an unaccountable number gods, and represents them by images Mohammedanism is proselytising religion ; nobody can be converted to Hinduism, must be born into it. Mohammedanism has a clear and defin creed ; not so Hinduism—a man may believe almost anything, nothing, and still be a Hindu, if he was born a Hindu. Moha medanism is a democratic faith, in as much as it teaches t equality of all believers ; the essence of Hinduism is the cast system, which keeps men, from birth to death, in a position unalterable inferiority or superiority to their neighbours ; for man can rise, or fall, out of the caste into which he is born : th is the difference between caste and class.

The caste-system is, indeed, the essence of Hinduism, which far more a social system than a body of religious belief. sentences 50,000,000 Indians to the degradation of being 'untouc able,' which means that if their very shadow falls upon the fo of a high-cast man, he will starve rather than eat it. It is n possible to imagine a more fundamental incompatibility than th between democracy and the caste-system. If they are to exist si by side, there must be a conflict to the death between the Already the low-caste and out-caste (or 'untouchable') Hindus a beginning to awaken to a sense of the injustice of the system. W can predict the results if this spreads ?

These are the reasons why many lovers of India fear that sudden plunge into complete democracy might easily bring abo chaos in India, with conflict between the Princes and the Congr leaders, between the Hindus and the Mohammedans (who can forget that for centuries they were the rulers of the greater part India), between the warlike peoples and the unwarlike, between t degraded castes and those who have hitherto dominated them. O of the main functions of the British Government has been to act impartial arbiter between the rival races, creeds and castes of t vast land. Until the wide differences that keep the Indian peop in a frozen disunity have somehow been overcome—which will n time and patience—some arbitral authority is surely necessary.

The period of British rule has brought great boons to India. has given her political unity, for the first time in her history. has given her a surcease of internal strife, which has been unend for centuries, and freedom from external attack. It has given equal and impartial laws, based upon Indian usages, in place of arbitrary awards of despots and their agents. It has given he common medium of communication, for all her educated clas It has given her freedom of speech and of the press—freedom criticise the Government, which has been largely used. It has gi her the aspiration after political liberty, which her peoples never entertained during the long centuries of their history. It introduced her to western knowledge, and the material convenie of western civilisation.

It is natural that educated Indians should resent alien rule, and esire to get rid of it. But it is equally natural that the British hould fear lest the boons already conferred might be sacrificed by o sudden a change. British Governments have long made the radual extension of self-governing institutions a principal aim of heir policy in India. But, realising, as Indians themselves cannot asily do, the magnitude of the difficulties in the way, and the efencelessness of India against foreign conquest should she fall into haos, Englishmen feel deeply the necessity for a gradual and careful dvance. Democracy means more than the universal diffusion of the right of marking crosses on ballot-papers. It can only work well among peoples who are not divided by fundamental disunity of purpose, and who have been trained in the habits of self-government. The problem of Indian government will continue to be one of the most difficult problems in the world even when the present mortal combat between liberty and tyranny has reached its appointed end.

In this epilogue, we have concentrated all our attention upon the gigantic conflict in which the British Commonwealth is involved. This conflict dwarfs all other issues, and the events that have led up to it have filled the minds of men for seven years, to the exclusion of all else. It is right that this should be so; for upon the issue of this conflict depends the future, nay the very existence, of the British Commonwealth. Upon it depend also the continuance and expansion of freedom and justice in the world, and the hope of an era in which peace and justice may reign. We have the privilege of living in one of the most momentous and decisive eras in the history of humanity. May we be worthy of that privilege!

A. TABLE OF THE KINGS OF ENGLAND FROM EGBERT TO EDWARD I.

The names of reigning kings are given in black type.
The strong black line shows the line of continuous descent. The numbers indicate generations—sixteen generations in five hundred years.

(1) **Egbert**, 802-839
(2) **Ethelwulf**, 839-858

Ethelbald 858-860 | **Ethelbert** 860-866 | **Ethelred** 866-871 | (3) **Alfred**, 871-901
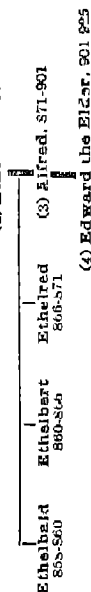
(4) **Edward the Elder**, 901-925

Athelstan 925-940 | (5) **Edmund** 940-946 | **Edred** 946-955

Edwy 955-959 | (6) **Edgar** 959-975
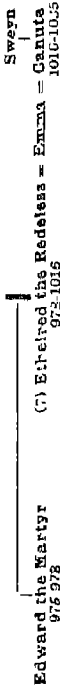
Edward the Martyr 975-978 | (7) Ethelred the **Redeless** = Emma = **Canute** 1016-1035 (son of Sweyn)
978-1016

(8) **Edmund Ironside** 1016 | **Edward the Confessor** 1042-1066 | **Harold** 1035-1040 | **Hardicanute** 1040-1042

(9) Edward
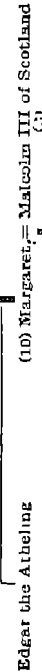
Edgar the Atheling | (10) Margaret = Malcolm III of Scotland

William I, 1066-1087
(1) **Robert of Normandy** — William Clito
(2) **William** 1087-1100
(3) **Henry I** 1100-1135
Adela — **Stephen** 1135-1154 — **Eustace**, died 1152

(11) Matilda = **Henry I** 1100-1135

Henry V (Emperor) = (12) Matilda = Geoffrey of Anjou, died 1151

(13) **Henry II**, 1154-1189

Henry, crowned 1170, died 1183 | **Richard I** 1189-1199 | Geoffrey, Count of Brittany — **Arthur**, died 1203 | (14) **John** 1199-1216

(15) **Henry III** 1216-1272 | **Richard**, Earl of Cornwall, King of the Romans

(16) **Edward I**, 1272-1307

B. TABLE OF THE KINGS OF ENGLAND FROM HENRY III TO JAMES I AND OF THE HOUSES OF LANCASTER AND YORK.

The names of reigning monarchs are printed in black type. The strong black line shows the line of succession
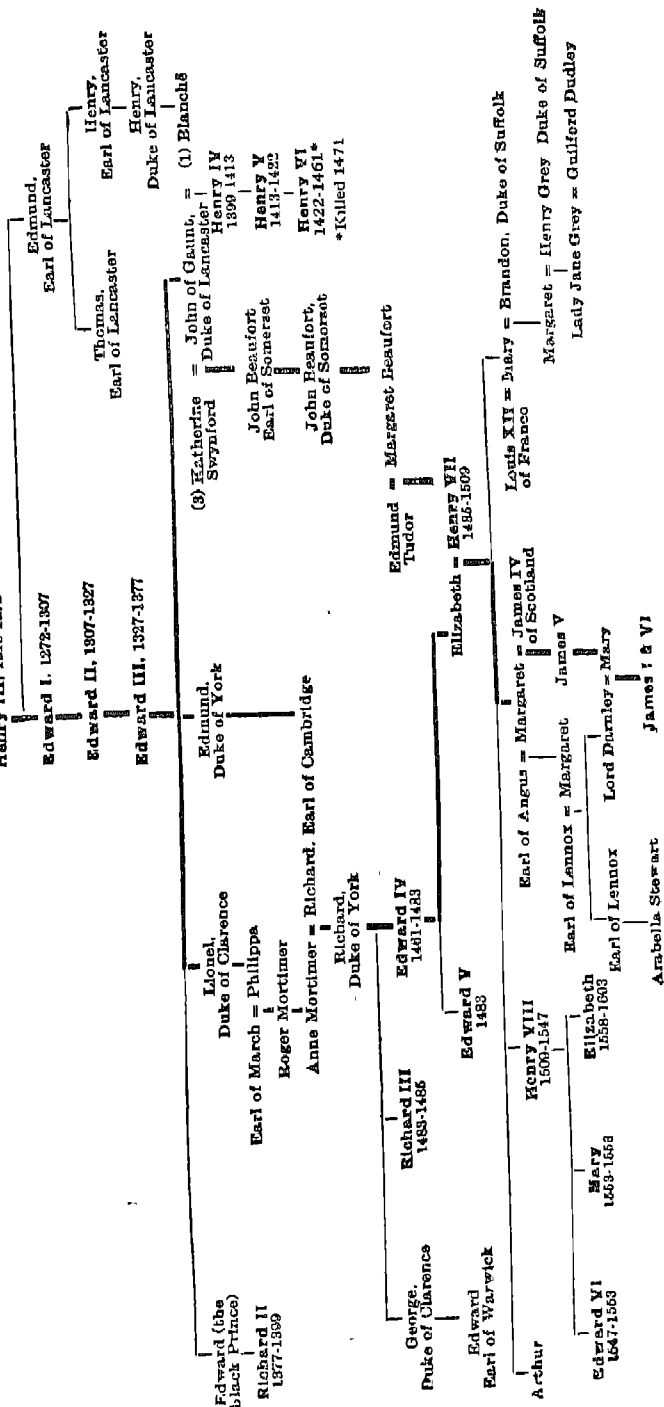
C. TABLE OF THE KINGS OF GREAT BRITAIN FROM JAMES I TO GEORGE VI

Names of reigning kings and queens of Great Britain are printed in **black type.**
The strong black line shows the line of succession from James I to George VI—eleven generations in 300 years
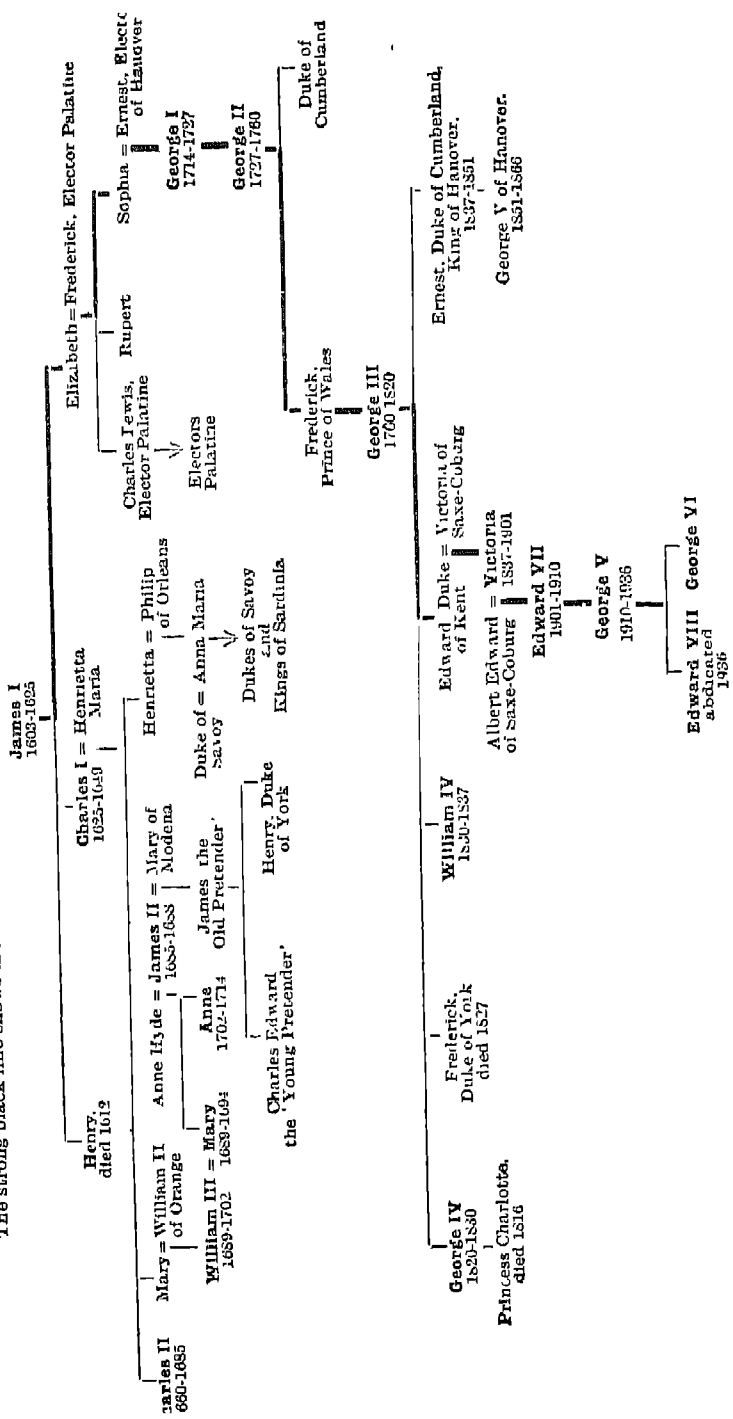
D. TABLE OF THE KINGS OF SCOTLAND FROM MALCOLM CANMORE TO JAMES VI (and I)

Reigning sovereigns are printed in **black type**. The strong black line shows the line of succession from Malcolm Canmore to James VI (and I).
The arabic figures show the generations—eighteen generations in 600 years

(1) **Malcolm III** (Canmore) = Margaret of England
1058-1093

- **Edgar** 1093-1108
- **Alexander I** 1108-1124
- (2) **David I** 1124-1153
  - (3) Henry, Earl of Huntingdon
    - **Malcolm IV** (the Maiden) 1153-1165
    - **William the Lion** 1165-1214
      - **Alexander II** 1214-1249
        - **Alexander III** 1249-1286
          - Eric of Norway = Margaret
            - **Margaret** The Maid of Norway 1286-1290
    - (4) David, Earl of Huntingdon
      - Alan of Galloway = Margaret
        - Dervorguilla = John Balliol
          - **John Balliol** 1292-1296
            - **Edward Balliol**
      - (5) Isabella = Robert Bruce (I)
        - (6) Robert Bruce (II)
          - (7) Robert Bruce (III)
            - (8) **Robert I** (Bruce) 1306-1329
              - **David II** 1329-1371
              - (9) Margaret = Walter Stewart
                - (10) **Robert II**, 1371-1390
                  - (11) **Robert III**, 1390-1406
                    - (12) **James I**, 1406-1437
                      - (13) **James II**, 1437-1460
                        - (14) **James III**, 1460-1488
                          - (15) **James IV**, 1488-1513 = Margaret (daughter of Henry VII of England)
                            - (16) **James V**, 1513-1542
                              - (17) **Mary**, 1542-1567 = Henry Darnley
                                - (18) **James VI**, 1567-1625
- Matilda = Henry I of England

Henry VII of England
- Earl of Angus = Margaret = (15) James IV
  - Earl of Lennox = Margaret
    - Henry Darnley = (17) Mary
      - (18) James VI

E. TABLE OF THE KINGS OF FRANCE FROM HUGH CAPET TO FRANCIS I

Showing the claims of Edward III and Henry V to the French crown, also the ducal line of Burgundy to Charles V

Reigning kings of France are printed in black type; reigning dukes of Burgundy in *italics*.

Note that Henry VIII, Francis I and Charles V were all descended from Philip III of France; the first in the 9th generation, the second in the 8th, the third in the 10th.

Hugh Capet, 987-996
Robert, 996-1031
Henry I 1031-1060
Philip I, 1060-1108
Louis VI, 1108-1137
Louis VII, 1137-1180
Philip II, Augustus, 1180-1223
Louis VIII, 1223-1226
(St.) Louis IX, 1226-1270
Philip III, 1270-1285
Philip IV, 1285-1314 (The Fair)

Louis X 1314-1316
Philip V 1316-1322
Charles IV 1322-1328
Isabella = Edward II of England
Edward III
John of Gaunt
John Beaufort, Earl of Somerset
John Beaufort, Duke of Somerset
Edmund Tudor = Margaret Beaufort
Henry VII
Henry IV
Henry V = Catherine
Henry VI

HOUSE OF VALOIS
Charles of Valois
Philip VI 1328-1350
John 1350-1364
Charles V 1364-1380
Charles VI 1380-1422
Charles VII 1422-1461
Louis XI 1461-1483
Louis, Duke of Orleans
Charles, Duke of Orleans
John, Count of Angoulême

DUCAL HOUSE OF BURGUNDY
Philip the Bold 1361-1404
John the Fearless 1404-1419
Philip the Good 1419-1467
Charles the Rash 1467-1477
Mary = (1477) Maximilian of Austria